श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

ज्ञानार्णव प्रवचन

६, ७, ८, ९, १०, ११ भाग

प्रवक्ता —
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:—
खेमचन्द जैन, सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
(उत्तर प्रदेश)

प्रथम संस्करण
१०००]

सन् १९७०

[मूल्य १२)

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ।

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

(३) वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, कानपुर।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली —

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
२	,,	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन,	प्रेमपुरी, मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	जगाधरी
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	ज्वालापुर
१३	,,	सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी,	नई मंडी, मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन,	सदर मेरठ
१७	,,	मंत्री जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसादजी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलालजी जैन, संघी,	जयपुर
२२	,,	मंत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी जैन	गिरिडीह
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	गिरिडीह
२६	,,	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	,,	सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत

२८	श्रीमान् गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा,	लालगोला
२९	„ दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर,	कानपुर
३०	„ मंत्री, दि० जैनसमाज,	नाई की मंडी, आगरा
३१	„ संचालिका, दि० जैन महिलामंडल,	नमककी मंडी, आगरा
३२	„ नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,	रुड़की
३३	„ मक्खनलाल शिवप्रसादजी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	„ रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	„ मोलहड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन	वेस्ट सहारनपुर
३६	„ बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	„ सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	„ दिगम्बर जैनसमाज	गोटे गाँव
३९	„ माता जी धनवंतीदेवी जैन	राजागंज इटावा
४०	„ ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन,	"नित्यानन्द" रुड़की
४१	„ ❀ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
४२	„ ❀ बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा,	झूमरीतिलैया
४३	„ ❀ इन्द्रजीत जी जैन, वकील,	स्वरूपनगर, कानपुर
४४	„ ❀ सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बढजात्या,	जयपुर
४५	„ ❀ बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ.	सदर मेरठ
४६	„ ❀ ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४७	„ × ब्र० शकुन्तला देवी जैन,	दरियागंज देहली
४८	„ × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
४९	„ × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोट:—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

आत्म-कीर्तन

[शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित]

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम।

मैं वह हू जो हैं भगवान, जो मैं हू वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ विराग वितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥ ५॥

[धर्मप्रेमी बधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नाकित अवसरो पर निम्नाकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोताओ द्वारा सामूहिक रूपमें।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा।

४—सूर्योदयसे एक घटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक बालिका महिला पुरुषों द्वारा।

५—किसी विपत्तिके भी समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ, स्वरुचि के अनुसार किसी अर्थ, चौथाई या पूर्ण छदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा।

ज्ञानार्णव प्रवचन षष्ठ भाग

[प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराज]

अथ निर्णीततत्त्वार्था धन्या संविग्नमानसा ।
कीर्त्यन्ते यमिनो जन्मसंभूतसुखनिःस्पृहा ॥३५१॥

ज्ञानी मुनियोंके ध्यानकी प्रशंसा—अब ध्याता योगीश्वरोंकी विशेषतायें कही जा रही हैं। जो संयमी मुनि तत्त्वार्थका निर्णय कर चुके है तथा सम्वेगरूप हैं, मोक्ष अथवा मोक्षके मार्गमे अनुरागी है, संसारजन्य सुखोमे वाञ्छारहित हैं ऐसे मुनि धन्य है। ध्यान सिद्धिके पात्र ऐसे साधु ही होते है जिनको केवल एक आत्मदर्शन, आत्मध्यानकी ही लगन है और यह लगन इतनी दृढ और प्रबल है कि सर्वपरिग्रह तो छूट ही गए थे, देहकी भी सुध नही रहती, इस ओर भी दृष्टि नही रहती ऐसी अधिक लगनके साथ जो मुनि अन्तर्दृष्टिमें वर्तते है उनके ही ध्यानकी उत्तम सिद्धि होती है। जिसका ध्यान करते है, जिसे चाहा है उसकी ओरकी उत्कृष्ट भावना तो होनी ही चाहिए। अन्यथा विशिष्ट ध्यान नही बन सकता। ध्यानके लिए प्रथम बात तो यह दर्शाया है कि तत्त्वार्थका निर्णय होना चाहिए।

अन्तरङ्ग विधिसे ही बाह्यविधिकी पूरकता- कई संन्यासी ऐसे भी होते है कि वे ध्यान की बाह्य विधिमें प्रवीण होते है ? किसी शून्यपर किसी चिह्नपर बहुत देर तक दृष्टि लगाये रहना, पूरक, कुम्भक, रेचक प्राणायामकी साधना रखना और यहां तक भी प्राणायामकी साधनाका अभ्यास हो जाता है कि कई घंटा श्वांसको रोक सके, जैसे लौकिक चमत्काररूप के अब भी यत्र तत्र लोग सुने जाते है। लेकिन, सर्वसार क्या है, हितरूप लक्ष्य क्या है, इसका परिचय न हो तो ऐसे उपयोगसे भले ही देहसाधना हुई, मनकी साधना हुई, पर उत्तम ध्यानकी साधना नही बनती। यों समझ लीजिए कि यह उपयोग अपने स्वभावसे भ्रष्ट होकर परकी ओर विकल्पोमें रम रहा है, यही तो बन्धन है और यही सर्व विपदाओका मूल है। इस विपदासे छुटकारा तब ही तो सम्भव है जब सर्व परभावोसे परपदार्थोसे पर तत्त्वो से न्यारा यह ज्ञानप्रकाशमात्र मैं हू ऐसा दृढ निर्णय करके अपनेको निर्भार अनुभव करे। ऐसे स्वानुभवीको ही तो अपने आपमे मग्नताकी बात आ सकेगी। अतएव सर्वप्रथम कहा गया है कि तत्त्वार्थका सही निर्णय होना चाहिए।

ज्ञानयोगसे ध्याताकी उत्कृष्टता—देखिये भैया! विज्ञानमे यद्यपि सभी बातें हैं लेकिन वस्तुस्वरूपका परिचय पाये बिना और वस्तुस्वातंत्र्यकी पद्धतिसे पदार्थोंको देखनेकी

भवभ्रमण निर्विण्णा भावशुद्धि समाश्रिता ।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे योगिन पुण्यचेष्टिता ।।३५२।।

धुन बिना हितकारी ध्यानकी साधना नही बन सकती । इन समस्त सम्बन्धोका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धोका ज्ञान कर लिया, एक बार हो गया, दो, चार बार समझ लिया, बोल लिया, पर इतने मात्रसे संतोष मत करो । हमे निरन्तर दृष्टि वस्तुके एकत्वस्वरूपपर रखने का यत्न करना चाहिए । एक आत्महितके लिए अपने आपमे अपने आपपर ही दया करके सोचनेकी बात कही जा रही है । जिन पुरुषोने तत्त्वार्थका सही निर्णय किया है अतएव परसे उपेक्षित होकर मोक्ष और मोक्षमार्गमे जिनके अनुराग जगा है और इस ही कारण ससार जनित सुखोमे जिनकी वाञ्छा नही रही ऐसे सयमी मुनि प्रशसनीय ध्याता हैं ।

पुण्यचेष्टित योगियोंकी विरलता तथा इस कालमें भी संभवता—इस पृथ्वीतल पर अनेक योगीश्वर संसार चक्रसे विरक्त हैं, शुद्ध भावोसे परिपूर्ण है, पवित्र चेष्टा वाले हैं, ऐसे सयमी सतजन प्रशसनीय ध्याता होते है । यद्यपि कुछ ऐसा जचता होगा कि जैसे योगीश्वरो की प्रशसाकी जा रही है ऐसे योगीश्वर इस कालमे तो दिख नही पडते, जो ससारचक्रसे अति विरक्त हैं. निरन्तर एक शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र अतस्तत्त्वमे अनुरक्त ऐसे पवित्र चेष्टावान निष्पृह योगीश्वर इस कालमे तो यहाँ नजर नही आते, तो क्या यह केवल ग्रन्थकी लिखी हुई बात है ? समाधानमे यो समझिये कि ऐसे योगीश्वर हुए थे और आज कल भी जहाँ कही होगे, अभाव तो अभी नही है, किन्तु जो योगीश्वर केवल एक आत्मस्वरूपके दर्शनके यत्नमे रहते है, जैसे धनिक लोग इतना धनसचय हो, इतना और हो, जैसे उस उस ओर ही भाव रखा करते है ऐसे ही योगी अब आत्मानुभव हुआ, आत्मदर्शन हुआ, अब यही और देर तक रहे ऐसी एक आत्मानुभवके लिए ही की धुन रखा करते हैं । ऐसे योगी ही विशुद्ध आनन्दका अनुभव करते है, और कर्मोंकी निर्जरा करते हुए मोक्षमार्गमे बढते हैं ।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
यस्य चित्त स्थिरीभूत स हि ध्याता प्रशस्यते।।३५३।।

निःस्पृह स्थिरचित्त योगियोंका प्रशंसनीय ध्यातृत्व—जिसका चित्त काम और भोगो से विरक्त होकर शरीरमे स्पृहाको त्यागकर स्थिरीभूत हुआ है वही ध्याता प्रशसनीय हैं । काम और भोग ये दो चीजे क्या हैं अलग-अलग । एक ही चीज है, तो यो अर्थ लगाये काम का भोग अथवा कामसहित भोग, इच्छासहित विषयोका सेवन, और यदि दो चीजें समझना हो तो काम शब्दसे यो समझ लो स्पर्शनइन्द्रिय और रसनाइन्द्रियके विषय तथा भोग शब्दसे समझ लो घ्राण, चक्षु और कर्णोंका विषय । ऐसा समझनेकी कुछ गुंजाइश तो है । भोग शब्दकी रुढि उन पदार्थोंके भोगनेमे हुई है कि जिनके भोगनेपर पदार्थमे बिगाड अथवा

विनाश विघात नहीं होता है। जैसे कि बहुत कुछ देखा जाता है, आँखसे देख लिया तो उस पदार्थका मंथन नही हुआ, लेकिन स्पर्शन और रसनाइन्द्रियसे जो विषय सेया जाना उसमे पदार्थका स्पर्श, मंथन बिगाड होता है और यह तो स्पष्ट ही है कि भोजनका तो पूरा ही बिगाड हो जाता है। भोजनके विषयमे कुछ लोग अधिक आशक्ति रखते है अन्यइन्द्रियकी अपेक्षा लेकिन यह तो देखिये कि जिस समय भोजनका स्वाद आ रहा है उस समय किस तरहके भोजनका स्वाद आ रहा है। थालीमे लड्डू रखे है तो कितने अच्छे आकारके चमकदार है, वे पूर्ण हैं, बढिया रखे है। और जिस लड्डूका मुखमे स्वाद लिये जा रहा है उसकी क्या दशा है। वह हमे अपनी आँखो तो नही दिखता क्योकि वह मुखमे है। अगर वह आँखो दिख जाय तो खाया न जाय, ऐसी स्थिति हो जाती है। तो काममे वस्तुका मंथन बिगाड, विघात, क्लेश ये बाते होती है इस दृष्टिसे काम शब्दसे अर्थ लगा लो स्पर्शन और रसनाइन्द्रिय और भोग शब्दका अर्थ लगा लो घ्राण, चक्षु और स्रोत्रके विषय। इस प्रकरणमे हमारा बिगाड हुआ इसकी प्रधानतासे नही कहा जा रहा है क्योकि हमारा बिगाड तो पाचो विषयोमे है, किन्तु जो पदार्थ भोगे जा रहे है वे पदार्थ बिगड जायें इस दृष्टिसे कहा जा रहा है इस कथनका मतलब यह है कि पञ्चेन्द्रियके विषयोसे विरक्त होकर जो इस अशुद्ध शरीरमे स्पृहाको त्याग देते हैं, अतएव जिनका चित्त स्थिरीभूत है वे ध्याता प्रशंसनीय हैं।

पापभावसे चित्तकी अस्थिरता—पापकार्योसे चित्तकी अस्थिरता होती है। कोई सुभट ऐसे भी होते है कि पापकार्य भी करते जाये और चित्त भी लोगोको अस्थिर न दिखे, लेकिन पापकार्योसे उत्पन्न हुई निर्बलता जुडते-जुडते एकदम किसी भी समय उनका अस्थिरीकरण हो जाना है। जो बात जिस प्रसगमे जिस योग्यतामे होनी होती है वह हुआ ही करती है। जैसे पुण्यका उदय प्रबल हो तो वर्तमानमे किए जाने वाले पापकार्योंका तुरन्त असर नही होता, न लोगोमे इज्जत कम होती, न लोगोके द्वारा किया जाने वाला आदर कम होता और न शरीरमे, मनमे, वचनमे कोई बलकी कमी होती, लेकिन पापकार्योंमे रत पुरुषकी यह गाडी चल कब तक सकती है। देर तो हो जाय पर अन्धेर नही है। तो पापकार्योसेचित्तको अस्थिरता होती है। और, अस्थिर चित्तमे ध्यानकी साधना नही है।

अविकारस्वरूपके अवलम्बनकी शुद्ध प्रयोजकता----वह साधु प्रशसनीय है जिसका मन कामसे विरक्त होकर शरीरमे वाञ्छा न होने से स्थिर हो गया है। लोग दूसरोकी भक्ति एक तो करते ही नही है। करें तो उसमे निजका कुछ करनेका ही संबध है। कोई पुरुष प्रभुकी भक्ति कर रहा है तो वह वस्तुत प्रभुकी क्या भक्ति कर रहा है? प्रभुके गुण सुहाये तो उस ओर अपने आपमे अपने गुणोंका अनुभवन जगा, बस उन गुणोको बढ़ानेरूप अपनी अपनी भक्ति हो रही है। तो इस प्रकार कोई पुरुष भी जिस किसी दूसरेका आदर करता है

तो उसे अपने आपमे गुण सुहानेरूप गुणकीर्तनरूप जो भाव धर्म है जो इसके गुणोका विकास-रूप है, वह अपने ही गुणविकासका मानो मौन स्तवन कर रहा है। कोई जीव किसीका कुछ नही करता। यदि कोई किसी दूसरेके दोषोका ग्रहण कर रहा है तो दोषोके ग्रहण करनेरूप जो विकारका परिणमन हुआ है वह परिणमन हुआ है वह परिणमन एक अपने आपमे दोषके ग्रहणरूप है। सो अब उपयोग ऐसा स्वयं दोषरूप बननेपर हुआ है ना, अतएव उसने अपना ही दोष प्रकट किया है। यो समझिये कि सर्वस्थितियोमें हम जो कुछ करते है अपने आपका ही किया करते है, दूसरेका कुछ नही करते। यह प्रशसनीय ध्याता पुरुष काम भोगोंसे विरक्त होकर शरीरमे स्पृहाको छोड़कर जो स्थिरपरिणमनसे रह रहा है वह इसने स्व कार्य किया। ऐसा ध्याता प्रशंसनीय ध्याता प्रशसनीय ध्याता है और हम अपनी ही शुद्धिके लिए ऐसे योगीश्वरोकी शरण गहते है, इनके उपदेशको सुनते है, ग्रहण करते है।

सत्संयमधुरा धीरैर्न हि प्राणात्ययेऽपि यैः ।
त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यानधनेश्वरा ॥३५४॥

आत्मसंयमी योगियोंकी ध्यानधनेश्वरता—जिन साधुजनोंने महान् साधुत्वको ग्रहण करके प्राणोंका अत्यय होनेपर भी जो संयमकी धुराको नही छोडते है वे ही ध्यान-रूपी धनके अधिपति होते है। जिन पुरुषोंने अपने आपमे अमृतस्वरूपका परिचय पाया है यह मैं कदाचित् भी नष्ट होने वाला नही हू, मेरा जो सहजचैतन्यस्वरूप है उतना ही मात्र मैं हू। मेरा रिश्ता, मेरा सम्बन्ध मात्र मेरेसे है, और यह मैं कभी मिटता नही, ऐसे निर्णय वाले पुरुषसे यदि कहा जाय कि तुम यहाँ न बैठो वहाँ बैठ जावो तो उसे क्या अडचन होगी ? यहाँ न बैठा वहा बैठ गया। यह मैं पूराका पूरा ही हटकर यहाँ बैठा हू। कुछ मुझ मे से टूट गया हो और अब टूटकर यहाँ आ पाया होऊँ ऐसा तो नही है। ऐसे ही समझिये कि केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने अपने आपका अनुभव और स्वपरिचय रखनेवाले इन योगियो से कोई कहे—तुम इस भवसे हटो, दूसरे भवमे चलो। अच्छा भाई चलो। उसे कुछ अड चन होगी क्या ? अड़चन मोही पुरुष मानते हैं कि बडा उद्यम करके इतना तो वैभव कमाया, घर बनाया और सबका सब यही छूटा जा रहा है, क्लेश तो उनके होता है। जो केवल अपने अमृतस्वरूपसे ही नाता लगाये हो अर्थात् मैं यह अविनाशी ज्ञानस्वरूपमात्र हू ऐसा जो अपना उपयोग रखा करते हो उनको ऐसी भी स्थिति आये कि प्राण नष्ट होते हैं, इस भवको छोड़कर आगे जा रहे हैं तो उन्हें अटक नही होती। चाहे इस भवमे रहें, चाहे मरण हो रहा हो। हाँ, अपने आपके स्वरूपसे भ्रष्ट होनेका उन्हे खटका होता है। यो प्राणोका अत्यय होनेपर भी जो पुरुष साधुत्वको अङ्गीकार करके उस सयमकी धुराको नही छोडते वे ही ध्यानरूपी धनके ईश्वर होते हैं।

संयमसे डिगनेके व्यसनी जनोपर व्यसनसंपात----भैया ! ग्रहण की हुई प्रतिज्ञासे, संयमसे थोडासा डिगनेकी घटना उतना अनर्थ नही करती जितना कि उस डिगनेकी घटनासे जो भावोमे ऐसी शिथिलता आती है कि डिगने-डिगने की ही नौबत आती रहती है वह भयकर होती है। जैसे लोकमे दो बाते होती है ना—पाप करना और व्यसन करना। पाप जो हो गया वह तो पाप है और उस पापकी आदत बन जाय उसका नाम व्यसन है। तो पाप से बढकर व्यसनको खराब कहा गया है। ऐसे ही डिगते रहनेकी जो एक प्रकृति बन जाती है वह भयकर होती है, अतएव जो विवेकी सतपुरुष है वे प्रथम बार भी डिगनेकी नौबत नही आने देते है। इस प्रकार जो अपने संयमकी धुरीको नही छोडते वे पुरुष ध्यानरूपी धन के स्वामी होते हैं। ध्यानसिद्धिमे आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और उस ही रूप आचरणरूप रत्नत्रयकी बात बनती है। और इस रत्नत्रयकी साधनासे ध्यानकी साधना बनती है। यो जो दृढतासे आत्मध्यानमे रमण करते है वे ध्याता योगीश्वर प्रशसनीय ध्याता हैं। उनका गुणस्मरण हमारे सतत बर्तो, जिससे ध्यानके लिए अपना उत्साह बराबर नवीन-सा बना रहा करे। यो ध्याताकी प्रशंसाके प्रकरणमे साधुसतो की स्तुति की गई है।

परीषहमहाव्यालैर्ग्राम्यैर्वा कण्टकैर्दृढै ।
मनागपि मनो येषा न स्वरूपात्परिच्युतम् ॥३५५॥

जितपरीषहोंकी ध्यानकुशलता ---जिन साधुवोका चित्त परिषहरूपी महान् सर्पोसे तथा ग्रामीण मनुष्योके कटकोसे अर्थात् वचनरूपी काँटोसे किञ्चिन्मात्र भी अपने स्वरूपसे च्युत न हो वे पुरुष प्रशंसनीय ध्याता होते हैं। जैसे कोई तृष्णा वाला काम हो और जल्दी-जल्दी आप उस कमरेके भीतर आयें जायें तो उस कामकी धुनमे रहनेके कारण यदि कुछ किवाड़ लग जाय या सिरमे कुछ लकड़ी वगैरा लग जाय तो आपको कुछ पता नही पडता और न उसकी कुछ बेचैनी आपको होती, क्योकि उपयोगमें कुछ दूसरी ही बात समाई हुई है। इसी तरहसे जिन साधनोके उपयोगमे एक निजसहजज्ञानस्वरूप ही समाया रहता है और उसके ध्यानमे उसके उपयोगमे ही जो बसे रहा करते है वे ही परिषहो को भली-भाँति सह सकते है।

ज्ञानबली योगियोंका जितपरीषहत्व—एक तो वे साधु जिनको यह भान ही नही है कि मुझपर कुछ उपसर्ग है वे तो उच्च है और दूसरी श्रेणीमे वे साधु है जिनके चित्तमे बात आयी है कि ये उपसर्ग किए जा रहे है और फिर उन उपसर्गोको शान्तिसे समतासे सहन करे, दूसरेपर शत्रुताका भाव न लाये, और फिर तीसरी श्रेणीमे उन साधुवोको समझिये कि जो परिषह उपसर्ग सहते तो है, शान्ति समता रखनेका यत्न करते तो है, पर मेरे पाप कर्मोका बध न हो आदिक विकल्पोसहित उन परिषहोंको समतासे सहते है। और, फिर इसमें

चौथी श्रेणीमे अन्य परिषह सहने वाले साधु है, पर परिषह सहन करना उनका उत्कृष्ट प्रशंसनीय है जिनका परिषहसहन आत्माके सहजस्वरूपकी ओर उपयोग बना रहने के कारण होता रहता है। जिन साधुवोका चित्त परिषहोंके कारण मलिन नही होता और ग्रामीण पुरुषोके दुर्वचनरूपी काँटोसे भी जिनका चित्त अन्ध नही होता वे ध्याता योगीश्वर प्रशसनीय हैं।

योगियोंका दुर्वचनपरीषहविजय—साधुवोको ग्रामीण पुरुषोका समागम अथवा उनके निकटसे आना जाना यह उनके निकट शहरी लोगोंके आने जानेके मुकाबिले बहुत रहता है, उसका कारण यह है कि साधु एकान्तवासी होते है वन उपवनोंमे रहा करते हैं तो वहाँ आस-पासके निकटके ग्रामीण लोगोका उनका अपने ही मार्गसे आना जाना रहता है। और इन साधुवोमे यह बहुत सम्भावना है कि कोई ग्रामीण कुछ कह रहा है कोई कैसा ही कह रहा है, पर दुर्वचनोके कारण जो स्वरूपसे भ्रष्ट नही होते वे साधुजन प्रशस्त ध्याता हैं। बात बहुत सुगम है और बहुत कठिन है। कोई पुरुष जैसी भी बात कहे उस बातको सुन ले उसके कारण चित्तमे विकल्प न बनाये, क्षोभ न करे, यह सरल तो इसलिए है कि जो कोई जो कुछ कहता है वह अपने कषायकी चेष्टा करता है, दूसरेमे क्या करता है, या जैसे लोकव्यवहारमे कहते है कि अपने ही गाल बजाते हैं, दूसरेका क्या करते है। तो जब प्रतिव्यक्तिगत अस्तित्व ध्यानमे है तब तो ये सब बाते बडी सुगम हो जाती है, और जब न अपनेका ही सही पता न दूसरेका ही सही पता, किन्तु यह मैं हू, इसने मुझे यों कहा, इस तरह पर्यायोंमे ही स्व और परकी बुद्धि रखकर जो ज्ञान होता है, जो कल्पनाएँ बनती है उन कल्पनाओंके होते सन्ते किसीके कोई वचन सहन कर लेना, खोटे, गालीगलौजके, निन्दा के वचन सहन कर लेना बहुत कठिन है।

विदितसहजानन्द योगियोंके ध्यानकी प्रशंसनीयता—आनन्दका सम्बन्ध प्रत्यक्षज्ञानसे है। यो तो आनन्दका परिणमन किसी-किसी रूपमे सदैव चलता है और ज्ञान भी सदैव रहता है किन्तु विशुद्ध आनन्द प्रत्यक्ष ज्ञानका अविनाभावी है, चाहे वह किसीके आत्मप्रत्यक्ष के रूपमे हो, स्वानुभव प्रत्यक्षरूपमे हो, तात्पर्य यह है कि परपदार्थोंका आलम्बन करके जो ज्ञान जगता है उस ज्ञानके साथ आनन्द प्रकट होता है, जैसे जिसे बहुत विशिष्ट आनन्द आ रहा हो वह छोटी-छोटी बातोपर चित्त नही देता, लोकमे भी ऐसा ही देखा जाता है। तो जिन साधुवोको स्वभावका आलम्बन लेनेके कारण एक विशुद्ध आनन्द जग रहा है वे साधु ग्रामीणजनोके या किसीके दुर्वचनोपर चित्तमे क्षोभ नही लाते, ऐसे ही साधुजन प्रशंसनीय ध्याता होते हैं।

क्रोधादिभीमभोगीन्द्रै रागादिरजनीचरैः ।
अजय्यैरपि विध्वस्तं न येषां यमजीवितम् ॥३५६॥

विकारोंसे अविध्वस्त संयम वाले योगियोंके ध्यातृत्वकी प्रशंसा—जिन मुनिराजोका संयमरूपी जीवन क्रोधादिक कषाय रूपी भयकर सर्पोसे और रागादिकरूपी पिशाचोसे नष्ट नही होता ऐसे योगीश्वर प्रशसनीय ध्याता होते है। धर्मपालनके लिए बहुत-बहुत सामग्रीमें यदि व्यग्र नही होना चाहते और सीधा एक रूपमे ही एक आश्रय लेना चाहते, कि हम क्या करने लगें कि हमारेमे धर्मभाव प्रकट हो, और जो कुछ भी श्रेय है, कल्याण है, सब कुछ मगल हमे प्राप्त हो, तो एकमात्र यह दृष्टि रख लीजिए कि मेरा जो सहजस्वरूप है, परकी अपेक्षा किए बिना अपने आप अपने सत्त्वके कारण मेरा जो सहजस्वरूप है तन्मात्र मैं अपने आपको निहारता रहू, बस एक इस कामको पकड लीजिए। फिर परिस्थितिवश इस एक शुद्ध दृष्टिके जगनेपर मन, वचन, कायकी जो प्रवृत्तियाँ उचित होनी चाहिये वे सब अनायास थोडेसे ही साधनोमे अनायास होती रहेगी। पर, लक्ष्यमे हम कौन-सी एक बात पकड़ ले कि जिसके सहारे हमारा उद्धार हो सके? यत्न करे अपने आपके सहजस्वरूपके दर्शनका, और इस पावन कर्तव्यके लिए हम वस्तुस्वातत्र्यके निरखनेके प्रेमी बने।

आश्रेय तत्त्व--विज्ञानमे सब बातें आती है निर्णय रखकर समझ लीजिए, पर हम किस दृष्टिकी शरण जायें, किस भावनाकी शरण जाये, उसकी बात कही जा रही है कि शरण जाने योग्य तो केवल यह सहजस्वरूप है। सहजस्वरूपका आवलम्बन ही हमारा शरण है। चूँकि यह निर्विकल्प एकत्वस्वरूप है इस कारण निर्विकल्प एकत्वस्वरूप निजभावके दर्शन और उपयोग बनाये रहनेके लिए हमें अपनी दृष्टि अधिकाधिक समयोमे इस सहजस्वरूपकी ओर लगानी चाहिए। बहुत-बहुत विभिन्न पदार्थोंका आश्रय करने मे बुद्धि डोलती ही रहती है और अपने आपके स्वरूपमे प्रतिष्ठित नही हो पाती। नानाप्रकारके धार्मिक ज्ञानोका प्रयोजन भी एक इस निर्विकल्प आत्मस्वभावमे प्रतिष्ठित होनेका है, तो हम बहुत समय बहुत उपयोगके साथ इस अध्यात्मतत्त्वके दर्शनका यत्न रखे तो हमे कुछ इस सम्बन्धमे दृष्टि जग सकती है।

अलब्ध परमलभ्य तत्त्वकी उपलब्धिके लिये पुरुषार्थका अनुरोध--भैया! व्यवहार और विविध अनेक प्रसंगोमे तो इस जीवका अनन्तकाल व्यतीत हुआ किन्तु इसे अपने आपके सहजस्वरूपकी दृष्टि प्राप्त नही हुई। जो बात अब तक प्राप्त नही हुई उस हितरूपतत्वकी प्राप्तिके लिए हमे कितना अधिक उपयोग इस निर्विकल्पस्वरूपकी ओर लगाना चाहिए? उत्तर तो साधारणरूपसे यह आयगा कि सारा समय लगाये, पर थोड़ा भी लगता कहाँ, यह कोशिश करे कि हम इस द्रव्यदृष्टिका, अपने आपके अविनाशी निर्विकल्प-

ज्ञानमात्रस्वरूपका अधिकाधिक उपयोग किया करें। इसके लिए हम किसी भी वस्तुको जाने, केवल उस एकको जाननेका, निहारनेका पुरुषार्थ रखा करें। यह भावना, सहजस्वरूपका अवलम्बन किया जाने से ये क्रोधादिक कषाये शीघ्र शान्त हो जाती हैं। तो जिन साधुजनो के ये कषायें नही है अथवा इन क्रोधादिक कषायोसे जिनका सयम नष्ट नही हुआ, अथवा इन रागादिक निशाचरोसे जिनका सयमन नष्ट नही हो सकता वे ध्याता योगीश्वर प्रशसनीय है।

मन प्रीणयितु येषां क्षमास्ता दिव्ययोषित ।
मैत्र्यादय सता सेव्या ब्रह्मचर्येप्यनिन्दिते ॥३५७॥

परमब्रह्मचारियोंकी मैत्र्यादिककी उपासनामें समताका उत्कर्ष—जिन मुनियोके अनिन्दित ब्रह्मचर्य है, प्रशंसनीय ब्रह्मचर्यकी साधना है, उन मुनियोके इससे आगे की कुछ ये विशेषताएं बने—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ। ये चार भावनाएँ बनें तो उनकी कषायें शीघ्र नष्ट होती हैं। ये चार प्रकारकी भावनाएँ समताकी प्राप्तिके लिए हैं। सब प्राणियोमे मैत्रीभाव रखना। सब प्राणियोमे मित्रता कब रह सकती है ? लोकव्यवहारमे भी किसी मित्रसे मित्रता कब रहा करती है ? जब मित्रके प्रति समान बुद्धि रखें। यदि दूसरेको अपने से छोटा वा बड़ा मानते है तो मित्रता नही निभती। सबको समान देखें, ऐसे योगी ही सब जीवोके प्रति मित्रता वर्त सकते है। तो मैत्रीभावमे समताकी ही बात आयी। और फिर दूसरी बात यो देखिये कि मैत्री कहते हैं कि प्राणियोके आत्माको दु ख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषा रखना। जो मित्र होता है वह अपने मित्रके प्रति यह हृदय रखता है कि इसे कभी दु ख न हो। किसी दूसरे के दु खके अभावकी वाञ्छा उसके ही जग सकती है जिसने अपने समान दूसरेको भी समझा है।

कारुण्यमें समताका स्थान—जब कभी किसी प्राणीके प्रति उसका दु ख निरख कर चित्तमे ऐसी इच्छा होती है कि इसे दु ख यह न रहे उस कालमे अन्दर ही अन्दर गुप्तरूपसे एक उस जीवसे बेतार का तार मिला लेना है, तब यह इच्छा जगती है अर्थात् उसके स्वरूपके समान अपने आपको समझा है तब चित्तमे बात उत्पन्न होती कि इसे दु ख न हो। एक मोटीसी ही बात देखो—कोई पुरुष किसी भीतको पीट रहा है, कुदालिया मार रहा है ऐसा निरखकर तो किसीके चित्तमे यह बात नही आती कि अरे यह पिटे नही, और कोई किसी कुत्तेको ही पीट रहा हो तो उसे निरखकर चित्तमे करुणा उत्पन्न होती है और अभिलाषा होती है कि इसे पीड़ा न हो। इससे साफ बात है कि भीतमे समान बुद्धि नही है और उस कुत्तेमे मेरा जैसा ही जीवस्वरूप है यह बात भीतरमे निर्णीत है तब यह दु.खानुत्पत्तिकी अभिलाषा जगती है, फिर यहां तो परममित्रताकी बात है कि सब जीवोमे मित्रताका परिणाम हो।

मोहमें परमार्थ मैत्र्यभावका अभाव—लोग समझते है कि घर-घरमे तो मित्रता रहती है और मैत्री भावसे कल्याण होता है, कर्म कटते हैं, सो देखो ना, परिजनोंमे कैसी मित्रता है। स्त्रीसे मित्रता, पुत्रसे मित्रता, कुछ जरासा कष्ट हो जाय तो बडी बेचैनी हो जाती है। रात दिन यह भावना करते कि इनको दु ख न हो, इनका दु ख कब मिटे। तो परिजनसे, कुटुम्बसे जो इतनी मित्रता रखी है तो इससे तो मोक्षमार्ग निभ रहा होगा ? सब जीवोमे से दो चार जीवोको छाँटकर उनमे मित्रता रखे, उनकी सेवा करे, इसे मोहका चिह्न बताया है। यह मित्रता नही है। सब जीवोके प्रति मित्रता जगे यह भाव एक विशुद्ध ज्ञान मे ही सम्भव है। किसीकी कषायसे कषाय मिल गयी और मित्रता बन गयी तो उसका व्यापक विषय तो नही रहा। किसीका विरोध कोई रख रहा हो और उसीसे विरोध कोई दूसरा रखता हो तो वे दोनो फिर यार बन जाते है। यही बात देशोकी है, यही बात व्यक्तियोकी है। तो विशुद्ध मित्रताके परिणामको जो धारण करते है वे ध्याता योगीश्वर प्रशंनीय हैं।

गुणिप्रमोदमें समताका उत्कर्ष—दूसरी भावना है प्रमोद। गुणियोको देखकर चित्त में उल्लास उत्पन्न हो जाना, यह भी समताके लिए है। गुणियोको देखकर उल्लास उनके ही हो सकता है जिनको गुणोमे प्रेम है। और गुणोके यथार्थ स्वरूके अवगमके समय कोई सीमित व्यक्ति आधार विदित नही होता है अर्थात् गुणपूजामे भले ही किसी व्यक्तिका लक्ष्य करके गुणोंकी उपासना है पर गुण तो गुणीमे रहकर भी 'गुणीमें रहने वाले गुण" इस दृष्टिसे देखनेपर गुणका सही स्वरूप अनुभवमे नही आता। जैसे चैतन्यस्वरूप। कोई पुरुष चैतन्यस्वरूपकी भावना करे और इस तरह भावना करे कि हम तो इसके चैतन्यस्वरूपकी भावना करते है तो चैतन्यस्वरूपकी भावना न बनेगी। इस ही दृष्टिके एकान्तमें ज्ञानाद्वैत ब्रह्माद्वैत निकल आये और वे एकान्त यों बन गए कि इस दृष्टिके करने से लाभ लेने का भाव तो छूट गया, पर एक हठ बन गयी कि केवल ज्ञान अथवा चित्स्वरूप यह निर्गुण वही एक तत्त्व है और ये सब मिथ्या है, व्यक्तिरूप सत् नही माना।

द्रव्यदृष्टिसे निरखनेमें समताकी परमार्थ साधारता—द्रव्यदृष्टिमें जैनशासन भी पूर्णस्वरूप कहता है। और उन एकान्तियों ने तो एक ब्रह्म है यो माना, पर जिनशासित दृष्टि वाले ध्यातावोंने वह एक है इसका भी खण्डन किया, वह एक भी नही है। तो अनेक है क्या ? अनेक भी नही है किन्तु वह तो वही है। केवल एक स्वरूपकी उपासना है। एक और अनेक तो व्यक्तित्वको प्रसिद्ध करता है तो गुणोके गुणियोंके प्रसंगमे जो गुणोमे प्रमोद जगता है वह अपने आपके गुणोको छूता हुआ और गुणोसे गुणोंका अन्त मिलान करता

हुआ वह प्रमोद उत्पन्न होता है उसमे भी समतापरिणाम ही आया। यो ही दयामे समता मूल निबंधन है और मध्यस्थभावमें तो समता शब्दसे ही प्रकट है। इस प्रकार समताकी भावनामे रहने वाले योगीश्वर प्रशसनीय ध्याता होते हैं।

तपस्तरलतीव्रार्चि प्रचये पातित स्मर ।
यै रागरिपुभि. सार्द्धं पतङ्गप्रतिमीकृत ॥३५८॥

निष्काम योगियोंकी ध्यातृताका आदर्श--जिन साधुवोंने तपश्चरण रूपी तीव्र अग्निकी ज्वालामे रागादिक शत्रुवोंके साथ कामको भी भस्म कर दिया ऐसे योगीश्वर ही प्रशंसनीय ध्याता होते हैं। जैसे अग्निकी ज्वालावोमे पतगे भस्म हो जाते है, एक यह लौकिक दृष्टान्त दिया है। ऐसे ही साधुवोके तपश्चरणरूपी अग्निकी ज्वालामे रागादिक विकार और काम ये सब भस्म हो जाया करते है। शान्ति और आनन्द ज्ञानकी उज्वलता के साथी हैं। मलिन ज्ञानके साथ आनन्द नही निभाता। जहा आत्मसमृद्धि उत्पन्न हुई हो वहां ही आनन्दका टिकाव रह सकता है। आत्मसमृद्धि मौज और सांसारिक पद्धतियोसे नही मिलती। किन्तु, अपने इस ज्ञायकस्वरूपकी प्राप्तिके उपायमे बडे-बडे परिषह उपसर्ग उपद्रव आयें और उन्हे सहन कर सके, जिसकी अन्तर्ध्वनि यह उठती है कि विपदावो तुम प्रिय हो, हितकारिणी हो, आत्मविशुद्धि तुम्हारे प्रसादसे प्रकट हो सकती है, ऐसी जिसके विपदावोंके प्रति सम्पदावोसे अधिक आस्था है ऐसे ज्ञानी योगीश्वर ही इन समस्त क्लेशोको दूर कर सकते हैं। एक बात अपने जीवनमे यह सीख लेनी चाहिए कि इन सासारिक सुखोंसे मेरा हित नही है। जितना यह शिक्षण ध्यानमे रहेगा उतनी ही विशुद्धि बढेगी।

यथा तथा जीवन बितानेका अन्तिम परिणाम--भैया! जीवन है चलेगा, चाहे सम्पदावोमे मौजमे रखकर चलावो तो चलेगा और विपदा संकटोका सामना खुशी खुशी कर करके चलावो तो चलेगा। अब जो अपनी सच्चाईके लिए अपनी भाव भासनासहित विपदावोको समतासे सहनकर अपना जीवन चलायें उन्हे विशुद्ध आनन्द प्रकट हो सकता है और जो कुछ कालके लिए मौज-मौजके ही साथी बने हैं, मौजका ही मनमे आह्वान किया करते है ऐसे कायर मोही व्यामोही पुरुषोको आत्मोपलब्धिकी साधना नही बन सकती है। जैसे यह मनुष्यजीवन व्यतीत हो रहा है, चाहे कोई खुदगर्ज़ रहकर अपनी जिन्दगी बिताले और चाहे कोई परोपकार करके अपनी जिन्दगी बिता ले, जीवन बीतनेके बाद अर्थात् बडी उम्र मे, वृद्धावस्थामे कही यह अन्तर न आ जायगा कि परोपकारमे जीवन बिताने वाले तो निर्बल हो गए, अधिक बूढे हो गए, और आराममे, खुदगर्जीमे, प्रमादमें रह रहकर जीवन बिताने वालोके शरीरमे कुछ खासियत पैदा हो गयी। लेकिन मनकी प्रसन्नतामें अवश्य अन्तर है। परोपकार करके, मोह, छल, कपटसे दूर रहकर जिसका जीवन व्यतीत हुआ है

उसके अन्तरमें बल है और प्रसन्नता है।

ससदाचार जीवनका महत्त्व—कोई पुरुष बड़े हृष्ट पुष्ट भी देखे जाते है और उनके शरीरमे कान्ति चमक-दमक भी है, बड़ी अच्छी सुकुमारतासे बडे भोगोसे जिनका जीवन व्यतीत हो रहा है ऐसे भी बड़े धनिक पुरुषोके जो शरीरसे बलिष्ट दिखते है उनके दिलमे कमजोरी ऐसी विशेष भी पायी जा सकती है कि जिससे एक स्थूलकाय बलिष्टसं होकर भी अन्तरमे कायरता और अति दुर्बलताका अनुभव करते है और निरन्तर मरनेका संदेह भी बनाये रहते हैं। वह किस बातका अन्तर है ? जिसका मन परसेवा, दया, दान, तपश्चरण, परमार्थ, प्रीति आदिक उपायोसे बलिष्ट नही बन सका वह मन नाना खुदगर्जियोमे स्वार्थ भरे विषय सम्बन्धी कल्पनाओके भारसे शीर्ण हो रहा है और ऐसे शीर्ण गले मनमे वह बल उत्पन्न नही हो पाता, यह सब अन्तर किस बातका है ? सदाचारका, सच ज्ञानका, सम्यक्त्वका जिनके पालन है ऐसे पुरुष शरीरसे वृद्ध निर्बल क्षीणकाय होकर भी उनके मनोबल, वचनबल और कायबल भी सही रहा करता है। अत सुखमे फूले नही, समागममे विश्वास करें नही, वर्तमान पुण्यकी परिस्थितिमे मौज माने नही इन सबको मायारूप जानकर इनसे उपेक्षाभाव करके अपने आपके अन्दर ज्ञान और आनन्दके लिए उत्सुक रहना चाहिए।

निःसङ्गत्वं समासाद्य ज्ञानराज्य समीप्सितम्।
जगत्त्रयचमत्कारि चित्रभूतं विचेष्टितम् ॥३८९॥

निःसङ्ग ज्ञानयोगियोंका ध्यातृत्व—जिन्होने निष्परिग्रहताको अंगीकार करके जगत्त्रयमे चमत्कार करने वाले विलक्षण अद्भुत चेष्टायुक्त ज्ञानसाम्राज्यकी वाञ्छाकी है वे ध्याता योगीश्वर प्रशसाके योग्य हैं। जिसके केवल एक यही अभिलाषा है—मेरा स्वरूप सहजज्ञान है और इस सहजज्ञानका मैं उपयोगी ही रहा करूँ व्यर्थकी परवस्तुवोमे जो मेरे तेरेकी कल्पनाएँ हो जाती है, जिनमे सारका नाम नही है, सभी अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ हैं उनमें जो व्यर्थकी कल्पनाए जगती है वे विपदा हैं, और उस विपदासे हमारा छुटकारा हो, ज्ञानसुधा रसका हमारा पान रहा करे ऐसी जिनके अभिलाषा जगती है और केवल अपने आपके ज्ञानसाम्राज्यको ही, ज्ञानविकासको ही चाहते हैं, अपनेसे बाहर किसी भी जगह अन्य कुछ भी वाञ्छा नही रखते हैं ऐसे योगीश्वर ध्याता प्रशंसाके योग्य हैं।

तत्त्वरुचिमें तत्सम्बन्धित अर्थका अनुराग—जिसे जिस तत्त्वकी रुचि होती है उस तत्त्वसे सम्बंध रखने वाले अन्य-अन्य भी पदार्थोंकी प्रशंसास्तुति किया करते है ऐसे भी लोग जिनसे कुछ समानता भी नही उनका भी आदर अभिलषित वस्तुकी वजहसे लोग किया करते है। जैसे आपका किसी ग्राममे कोई अतीत इष्टमित्र रहता हो, मानो किसीकी स्वसुराल ही हो, उस गाँवसे, कोई अन्य जातिका भी पुरुष निकले तो उस स्त्रीकी प्रीतिके

कारण उन गाव वालोकी भी बडी सेवा करके घरमे रखते है, और बात करते है तो बीच बीचमें उस घरकी कुशल क्षेममगलकी बात भी पूछा करते हैं, रुचिमे ऐसा हुआ ही करता है। ऐसे ही समझिये कि जिन योगीश्वरोको, सम्यग्दृष्टिजनोको ज्ञायकस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी रुचि जगी है वे पुरुष इस अंतस्तत्त्वका सम्बन्ध रखने वाले सम्यग्दृष्टिजन हो, साधुजन हो, प्रभु हो उन सबमे आस्था करते है और अपनी शक्तिभर उनकी सेवामे, उपासनामे समय विताते है। यो ही इस ही न्यायसे इस अधिकारमे ध्याता योगीश्वरोकी प्रशसा की जा रही है धन्य है वे ध्याता। जैसे जिनको ईर्ष्या नही है ज्ञानसे, विद्वेष नही है, आत्महितके अभिलाषी है ऐसे पुरुष किसी ज्ञानी आदर्श पुरुषको निहारकर उसके गुणानुवादमे ही अपने उपयोगको सफल करते हैं, उनके हिचक नही होती है क्योकि उनका ध्यान, उनकी रुचि उस तत्त्वपर है जिस तत्त्वकी प्राप्ति किसी अन्य ज्ञानी संतने की हो, तो उससे गुणानुवाद विना वह रह नही सकता और ऐसा गुणानुवाद अपने आपके गुणरुचिका द्योतक है ऐसे ही ये आचार्यदेव इस प्रकरणमे ध्यानकी विधियोको वतानेसे ही पहिले ध्याता योगीश्वरोकी प्रशंसा कर रहे हैं, धन्य हैं वे योगीश्वर, धन्य है वे ध्याता कि एक सहजज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्वकी सिद्धिके लिए नि संगताको निष्परिग्रहताको अगीकार किया और केवल एक ज्ञानसाम्राज्यकी ही वाञ्छा रखे, अन्य समस्त वाञ्छाओ और विकल्पोका परिहार कर दें वे योगीश्वर ध्याता प्रशंसनीय हैं, ध्यानकी सिद्धिके पात्र है।

अत्युग्रतपसात्मानं पीड्यन्तोऽपि निर्दयम्।
जगद्विध्यापयन्त्युच्चैर्ये मोहदहनक्षतम् ॥३६०॥

तपश्चरणमें शान्तिका लाभ—जो मुनि अपनेको अति तीव्र तपसे निर्दयीके समान पीडा किया करते हैं अर्थात् शरीरसे रत्र भी राग नही है, मोह नही है इसलिए कितना ही शरीरसे कायक्लेश उठाते हो उन सब तपश्चरणोमे जो रुचिपूर्वक रहा करते हैं, तो देखनेमे तो यो लगता है कि ये साधुजन अपनी आत्माको बहुत पीडित कर रहे हैं लेकिन वे अपने आपमे भी शान्तिका अनुभव करते और इस मोहरूपी अग्निसे जलते हुए जगतको भी शान्ति प्रदान करते हैं। सब कुछ बात एक दृष्टिपर निर्भर है। जिनकी दृष्टि विशुद्ध हो गयी, समस्त जगतसे निर्लेप, निर्मल अपने आपका निर्णय करके अपनेको केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने देनेके ही पक्षपाती बनते हैं, अन्य और कुछ धुन नही है ऐसे पुरुष अपने आपमे भी शान्तिका विस्तार करते हैं और दूसरे जीव भी उन संतोके प्रसंग संगमे बसकर शान्तिका अनुभव किया करते हैं। तपश्चरणसे इस आत्माको कुछ हानि नहीं है, लाभ ही लाभ है, किन्तु जो शरीरके व्यामोही पुरुष है वे तो इस शरीरके पुष्ट करने वाले विषयोमे ही अनुराग रखते है, उन्हे तपश्चरणसे प्रीति नही जगती, किन्तु प्रसन्नता तो एक सच्चाई और शुद्धाशयके साथ रहने

मे हुआ करती है।

स्वभावजनिरातङ्कनिर्भरानन्दनन्दिता
तृष्णार्चि शान्तये धन्या येऽकालजलदोद्गमा. ॥३६१॥

तृष्णाग्निकी शान्तिमें समर्थ ज्ञानमेघमालाके उद्गम ध्याता—वे मुनीश्वर धन्य हैं जो रत्नत्रयरूप अग्निकी ज्वालाको शान्त करनेके लिए मेघके उदयके समान है। जैसे कही बडी तेज अग्नि जल रही हो तो उसे शान्त करनेके लिए मेघ बरष जायें, इससे बढिया और कोई उपाय नही है, ऐसे ही यह ज्ञानरूपी मेघमाला अग्निको शान्त करनेमे पूर्ण समर्थ है। सम्यग्ज्ञान ही एक ऐसा विलक्षण मेघ है कि तृष्णाकी महिती ज्वालावोको भी बुझा देता है। जैसे जो आग घरमे छिपी हुई जल रही है उसका बुझना तो दूर रहा, मेघोका सामना भी नही हो सकता ऐसे ही मायाचारके घरमे छिपाकर रखी हुई कषाय हो तो उसे सम्यग्ज्ञानका सामना ही नही मिल सकता, बुझानेकी तो चर्चा ही क्या हो। वे मुनीश्वर धन्य है, उनका आनन्द अकेलेमे भी उत्पन्न हो रहा। जैसे कि बैसाख जेठकी तीव्र गर्मी हो और कहीं लग जाय आग और तेजीसे मेघ बरष जायें तो इसे लोग कहने लगते कि सब कुछ भगवानने ही भेजा है, अवसर तो कुछ था ही नही, असम्भव बात बन गयी। उसे लोग एक भगवानका भेजा हुआ, भगवती शक्तिका चमत्कार कहने लगते है यो ही समझिये कि अकालमे ही जहाँ चाहे जैसे चाहे प्रसंगमे किसी भी घटनामे यह स्वानुभव विवेकी जल का उदय हो जाया करता है ज्ञानीसंतोके और उससे कषायोकी दाह शान्त हो जाती है, स्वयकी भी और उनके निकट रहने वाले अन्य पुरुषोकी भी। बात असल यह है कि जिनको सासारिक मायारूप विभूतिसे प्रीति नही है किन्तु एक अपनी सहज ज्ञानकलामे ही प्रीति है जिसमे न कोई दिखावट, न बनावट न सजावट है, गुप्त ही गुप्त अपने ही आपमें भीतर ही भीतर सरककर मग्न होनेकी ही जहां धुन है ऐसे शुद्ध आशय वाले योगीश्वरोके आनन्दमेघका उदय चलता ही है जिससे उनके कषायोकी दाह उत्पन्न नही होती, ऐसे योगीश्वर प्रशसनीय ध्याता हैं।

अशेषसङ्गसन्न्यासवशाज्जितमनोद्विजा।
विषयोद्दाममातङ्गघटासंघट्टघातका ॥३६२॥

सकलसङ्गसन्न्यासियोंका ध्यातृत्व—जो मुनीश्वर सर्वपरिग्रहोके त्यागके कारण मन-रूपी पक्षीको जीत लेते हैं—जैसे पक्षी अति चंचल है, बन्दर भी अति चंचल है, न पक्षी शान्त रहकर किसी जगह बैठा रह सकता है, फुदकेगा, आगे जायगा, पीछे जायगा, पंख चलायेगा, उड़ेगा, यों कुछ न कुछ हरकत करता ही रहता है ऐसे बदर भी अति चंचल है। कही हाथ पैर हिलायेगा, कही सिर हिलायेगा, कही आँख मटकायेगा, उनसे भी चंचल है

मन। मकानमे ही बैठे बैठे न जाने मन कहाँ-कहाँ दौड जाता है, न जाने क्या-क्या सोच डालता है, कुछ रुकावटकी भी बात नही है, ऐसा अति चचल मन जिन्होने नि सगता निष्परिग्रहताके उपायोंसे जीत लिया है और जिन्होने मदोन्मत्त गर्वोको नष्ट कर लिया, उनका विनाश कर दिया है ऐसे योगीश्वरोके ध्यानकी सुगम सिद्धि होती है। यों कह लीजिए कि अधिकसे अधिक गरीब बन जाय तो ध्यानकी सिद्धि होगी। दुनियामे जैसे ऐसा कोई पुरुष नही मिलता कि अच्छी तरहसे धनी हो तो ऐसे ही ऐसा भी कोई पुरुष न मिलेगा जो पूरी तरहसे गरीब भी हो। गरीबोसे भी गरीब देखोगे तो भी उसके पास कुछ मिलेगा, और धनीसे धनीको भी देखोगे तो वहाँ भी कुछ कमी मिलेगी। पर ऐसा गरीब हो कोई, अत्यन्त अकिञ्चन, कि देह तकको भी ग्रहण न करे उपयोगमे, अपने आपके एकत्वकी ओर ही जिसका उपयोग रहे, सबका परिहार है, कुछ भी साथ नही है, यहाँ तक कि रागद्वेषादिक विकारोका भी ग्रहण नही है, सब कुछ हट गया है, केवल निजसहजस्वरूप ही जिसके स्वरूपगृहमे पडा है ऐसा अकिञ्चन पुरुष ही उस परमआनन्दकी सिद्धिका पात्र है जो आनन्द स्वाधीन है, सदाकाल रहा करता है, ऐसे नि सङ्ग, निष्परिग्रह, अकिञ्चन केवल ज्ञानस्वभावकी ही रुचि करने वाले योगीश्वर प्रशसाके योग्य हैं। उनके गुणस्तवनसे, गुणध्यान से हम अपने आपमे भी उस ही प्रकार ध्यानसाधनाका यत्न करें जिस मार्गसे चलकर वे ज्ञानी ध्यानी पुरुष आनन्दमग्न हुए है।

वाक्पथातीतमाहात्म्या विश्वविद्याविशारदा ।
शरीराहारसंसारकामभोगेषु नि स्पृहा ॥३६३॥

ध्यानसिद्धिके पात्र—जिनका माहात्म्य वचनपथसे अतीत है अर्थात् जिनका महत्व वचनोसे प्रकट नही किया जा सकता है, जो समस्त विद्याओमे समर्थ हैं और शरीर आहार संसार कर्म भोग इससे निष्पृह है वे पुरुष ध्यान सिद्धिके पात्र कहे गये है। जो संत सम्यग्ज्ञानी है और सम्यग्ज्ञानसे सम्बन्ध रखकर फिर समस्त विद्याओके पारगामी हैं वे ही ध्यानसिद्धिके पात्र है, क्योकि ध्यानमे मुख्यता है सम्यग्ज्ञानकी। किस पर लक्ष्य रखना है, किसके ध्यानसे सिद्धि होगी ऐसा जिसे परिचय ही नही है वह ध्यान किसका करेगा? अतएव ध्याताको सर्वप्रथम यथार्थवेत्ता होना ही चाहिए। और फिर यदि कुछ विरक्ति नही है तो भी ध्यानसिद्धि नही बन सकती। बाह्य पदार्थ जो जहाँ हैं वही है, हम यहा अपने आप मे है, हमारे कुछ सोचनेके कारण बाह्य पदार्थोमे कुछ बन बिगड नही जाता। हम अपने आपमे ही अपनी कल्पनाओसे अपना सोच विचार किया करते है। बाह्यपदार्थोंका मुझमे अत्यन्ताभाव है, फिर उनमे राग क्यो? ऐसा यथार्थ ज्ञान करके जो पुरुष बाह्य विषयोंसे निष्पृह हो जाते हैं उनके ध्यानकी साधना बनती है।

शरीरकी अरम्यता—यह शरीर भी रागके योग्य नही है। यह भी भिन्न पदार्थ है और जो साथ लगा हुआ है यह आनन्द देनेके लिए नही है किन्तु संसारमे भटकनेके लिए और क्लेशयुक्त बनानेके लिए यह साथ लगा हुआ है। इसके रागसे आत्माका कुछ हित नही सिद्ध होता है। रागके योग्य है भी क्या शरीरमे ? भीतरसे बाहर तक सब दुर्गन्धित मलसे भरपूर है। इसमे कुछ भी तो सारभूत बात नही है। यहा राग करना योग्य है ही नही। आहारकी एक वेदना होती है, क्षुधा हुई है, भूख हुई है, उसका इलाज है आहार। आहार कोई सुखका साधन नही है, आहार कोई हितरूप नही है, एक किसी स्थितिमे वेदनाका प्रतीकार है। सो केवल एक भूख मिटानेके लिए आहार किया जाय उसमे तो फिर भी कुछ ईमानदारी है, लेकिन अपने रसीले स्वादका शौक पूरा करने के लिए जो नाना तरहके व्यञ्जन बनाते बडे श्रमसे और उनका उपयोग करते है और उनके लिए ही चिन्तातुर रहते है, बडे बडे साधन जोडने पडते है, ये तो सब अनर्थ और व्यर्थकी बातें है।

विषयसाधनोंसे आत्माका अलाभ—एक थोडा ऐसा भी ख्याल लायें कि बहुत-बहुत अपने आरामके साधनोमे, आहारमे, खानपानमे कितना खर्च किया होगा अब तक। जिनको पान, बीडी, सिगरेट आदिकका शौक है, बडे जेब-खर्च बढे हुए है उनकी ये सब व्यर्थकी बाते हैं। सनीमा देखनेमे २) खर्च कर दिया तो उससे क्या लाभ हुआ ? अरे २) से तो तीन चार आदमियोका पेट भी भर सकता है। कितना भी खर्च किया पर उस खर्चके बावजूद भी आज इसके पास है क्या, जिससे यह जाना जाय कि बहुत साधन जुटाया तो आज कुछ भरे पूरे है। सो भरे पूरेकी भी बात क्या है ? कल्पना करो कि बडे सादे जीवन से रहे होते तो जो व्यय किया गया उसका एक चौथाई व्यय हुआ होता। तीन गुना जो व्यय होता है वह परोपकारमे, दानमे, सेवामे, धर्मकार्यमे किसीमे लगाया होता तो उसका आज सन्तोष होता, लोग आभार मानते, स्वयके पुण्यवृद्धि होती। इस लोकके हिसाबसे और परलोकके हिसाबसे भी नफा ही रहता। लेकिन क्या कर डाला ? स्वादके लोभमे आकर आहारमे जो रागबुद्धि और रागप्रवृत्ति की उससे जीवको लाभ कुछ नही होता। ज्ञानी सत आहारकी तृष्णासे विरक्त है, आहारसे विरक्त है। उन्हे तो यह विवेक समझाता है—उठ लो आहारको, नही तो अपने तप और सयमकी साधनाके योग्य भी देहबल न रह सकेगा। तो विवेक जबरदस्ती साधुवोको आहार करवानेको उठाता है, पर जो साधु है, आत्मसाधनामे ही जिनका चित्त बसा है वे तो आहारसे विरक्त है।

विरक्तिसे ध्यानकी पात्रता—भैया ! अनेक व्यर्थ सासारिक बाते है बातचीत, नाम, प्रतिष्ठा आदि, इनसे विरक्ति हो, काम भोगोसे विरक्ति हो तो ऐसे निष्पृह साधु ध्यान साधना के पात्र होते है, ध्यानकी साधना सबको चाहिए। उत्तम ध्यान, शान्ति दिलाने वाला ध्यान

गृहस्थोको भी चाहिए। तो जो उपदेश मुनियोंको दिया गया है वही उपदेश सबको है। मुनि उसे बहुत निभा सकते हैं, गृहस्थ उसे कम निभा सकते है। कही ऐसा तो नहीं है कि मुनि आहार शरीर आदिकसे विरक्त हो तो ध्यान कर सकते हैं और गृहस्थ आहार शरीरादिकमे खूब अपनी विशेषता बनायें तो ध्यान कर सकते है ऐसा तो नही है। ज्ञान और वैराग्य ये दो ध्यानके जड़ है, जो जितना बना सके वह उतना ध्यानका पात्र है, ऐसे ये ज्ञानी विरक्त योगीश्वर प्रशसनीय ध्याता कहे गए है।

विशुद्धबोधपीयूषपानपुण्यीकृताशया ।
स्थिरेतरजगज्जन्तुकरुणावारिवार्द्धय ॥३६४॥

ज्ञानपवित्रित करुणापूरित योगियोंकी ध्यानपात्रता—जिनका चित्त निर्मल ज्ञानरूप अमृतके पानसे पवित्र है और जो स्थावर त्रस, जगतके सभी जीवोके प्रति करुणारूपी जल के समुद्र है, अर्थात् जो ज्ञानामृतका निरन्तर पान किया करते है, मैं ज्ञानमात्र हू ऐसे ज्ञान-मात्र निज तत्त्वकी भावना बनाये रहते है और जो किसी भी जीवकी हिंसा नही करते, सब जीवोके स्वरूपकी आस्था रखते है अतएव सर्वजीवोंके प्रति जिनका परम करुणाभाव उमडा है ऐसे योगीश्वर ध्यानकी सिद्धिके पात्र होते है। कमसे कम इतना तो निर्णय रखना ही चाहिए कि घर बनाकर, दुकान बनाकर, धन सचय करके, वैभव जोडकर मुझे कुछ न मिल पायेगा। मेरेको लाभ तो उतना ही है जितना हमारे अपने स्वरूपका ज्ञान हो और उस स्वरूपमे ही रमण किया जा सके। क्योकि, आज यहां हैं तो यहा के इन चार जीवो से परिचय है, जीवोसे क्या—इन मायारूप पर्यायोसे परिचय है, और यह भव छोडकर किसी दूसरी जगह जन्मे तो वहाँ दूसरे ढगकी पर्यायोसे प्राणियोंसे परिचय बन जायेगा। यह जीव मुफ्त ही यहाँ ठगाया गया, आगे ठगाया जायेगा, और ठगाये जानेका ही इसका अनादिसे सिलसिला चला जा रहा है। इस भवमे इन जीवोको ये मेरे है ऐसा माना, मरकर यदि गाय बन गए तो बछडोको मानेंगे कि ये मेरे हैं। कुत्ता, सूकर बन गए तो वहाँ उन बच्चो को मानेंगे कि ये मेरे हैं। यह जीव मोहवश ऐसी ही ठगोईमे चला जा रहा है। जितना अपने आपको ज्ञान और वैराग्यमे बसा लें उतना तो आत्माका हित है, शेष तो सब अहित है क्लेश है, भूल है, भ्रम है। जो योगीश्वर अपने निर्मल ज्ञानस्वभावमे चित्त बनाये रहते है, जो त्रस स्थावर सर्व जीवोकी करुणामे बसे रहते हैं वे योगीश्वर प्रशंसनीय ध्याता होते है।

स्वर्णाचल इवाकम्पा ज्योतिःपथ इवामला ।
समीर इव निःसङ्गा निर्ममत्वं समाश्रिता ॥३६५॥

स्थिरचित्ततामें ध्यानकी पात्रता—जो योगीश्वर मेरु पर्वतके समान अचल है, आकाश

की तरह निमल है, वायुके समान नि:संग है, जिन्होने निर्ममताको आश्रय दिया है ऐसे योगीश्वर ध्यानकी सिद्धिके पात्र कहे गये है। जैसे मेरु पर्वतमे प्रलयकालकी वायु भी चले तो वह नही टूटता है। ऐसी प्रचंड वायु जिसमे ये सब पहाड़ जमीनमे लेट जायें, ध्वस्त हो जायें, पहाडकी जगह जल हो जाय, ऐसी भी उथल पुथल मचा देनेमे समर्थ प्रलयकालकी प्रचड वायु चले, लेकिन उससे क्या कभी मेरुपर्वत चलायमान हो जायेगा। इसी प्रकारके कितने ही परीषह आये, राग उत्पन्न करने के साधन आये, अथवा द्वेष उत्पन्न होनेके साधन जुटें, समस्त स्थितियोमे ये ज्ञानी सत, साधु पुरुष अचल रहते हैं। अपने स्वरूपसे, श्रद्धासे भ्रष्ट नही होते है। यो जो मेरु पर्वत जैसे कि अचल है उस तरह जो अपनी स्वरूप दृष्टिमें अचल है वे पुरुष ध्यानसिद्धिके पात्र है। चित्त चल गया वहाँ ध्यानकी सिद्धि नही होती। लौकिक ध्यानोको कोई करता है उसमे भी चित्तकी स्थिरताकी आवश्यकता है। और ऐसा सुना गया कि कभी कोई मन्त्रसाधना करते हुए मे डिग जाय, घबड़ा जाय या राग और तृष्णाकी बात मनमे समा जाय तो ध्यानसिद्धि तो दूर रही, बताते है कि वह पागल सा हो जाता है। चित्तकी स्थिरता होना तो सब जगह श्रेयस्कर है। कितने ही लोग तो चित्तकी अस्थिरतासे बीमारी बुलाते हैं, बढाते हैं और मरण भी कर जाते है। चित्तमें बल हो तो बहुत सी विपदाओसे यह अलग रह सकता है। बलकी ही तो बात है। जो गृहस्थ, जो प्राणी सुखी है वह एक इस मनोबलके कारण सुखी है। तो जिनका चित्त, उपयोग इतना निष्कम्प है जैसे कि मेरु पर्वत, ऐसे विशुद्ध ज्ञान वाले और अपने स्वरूपमे दृढतासे लगन करने वाले ही योगीश्वर प्रशंसनीय ध्याता हैं।

निर्मल निःसंग योगियोंकी ध्यानपात्रता—देखिये आकाश कितना निर्मल है। कभी आकाशमें मैल भी लग सकता है क्या? लोग कहते हैं कि आज तो आकाश धुंधला सा है, तो क्या आकाश कभी धुंधला होता है? आकाश तो जो है सो है, अमूर्त है, उसमे मैल आता ही नही है। जो धुधले हैं वे जलके कण है। उस रूपमे फैल गए हैं या अन्य कुछ है। आकाश तो निर्लेप है, निर्मल है। तो जैसे आकाश निर्मल है इस ही प्रकार जिसका चित्त निर्मल है वह पुरुष प्रशंसनीय ध्याता है। जैसे वायु, उसके साथ कुछ लगा है क्या, उसमे कुछ लिपटा है क्या? वह तो चलती है बहती है। वह नि:संग है, निष्परिग्रह है। इसी प्रकार जो योगीश्वर नि:संगतामे बढे चढे हैं, जिनके केवल एक अपने आत्माके अन्तस्तत्त्वका ही लगाव है, समस्त पर परिग्रहोंसे विरक्त हैं ऐसे नि.संग ज्ञानी पुरुष ही ध्यानसिद्धिके पात्र हैं। सबसे मुख्य बात तो यह है कि जिनके चित्तमे प्रमादका परिणाम रहता है वे ध्यान-सिद्धिके पात्र नही, किन्तु ममतारहित परिणाम रहे, केवल ज्ञानस्वरूप जाननहार मात्र रहे तो वहाँ ध्यानकी सिद्धि होती है।

हितोपदेशपर्जन्यैर्भव्यसारङ्गतर्पका ।
निरपेक्षा शरीरेऽपि सापेक्षा सिद्धिसङ्गमे ॥३६६॥

जो मुनीश्वर हितोपदेशरूप मेघोसे भव्य जीवरूपी चातकोंको तृप्त करने वाले हैं और जो स्वयं शरीरमे निरपेक्ष है किन्तु मुक्तिका सग पानेमे सापेक्ष हैं, अर्थात् मुक्तिकी अभिलाषा रखते है वे पुरुष ध्यानसिद्धिके पात्र है। जो अपने भीतरी वचनोसे अपने आपको समझा सकता है उसी पुरुषमे ऐसी भी योग्यता है कि उन्ही वचनोका बाह्यरूप देकर अर्थात् वचनोपदेश करके दूसरोको भी समझा सकता है। तो जो हितोपदेश वचनोंसे खुदको और दूसरोको समझानेका यत्न करता है और ऐसे ज्ञानस्वभावके जो रुचिया हैं, जिन्हे अपने शरीरमे एक अपेक्षा नही रही, मुक्तिके सगके लिए जिनकी उत्सुकता जगी है वे ही पुरुष ध्यानसिद्धिके पात्र होते हैं।

इत्यादिपरमोदारपुण्याचरणलक्षिता ।
ध्यानसिद्धे समाख्याता पात्रं मुनिमहेश्वरा ॥३६७॥

पुण्याचरण योगियोंकी ध्यानपात्रता—अनेक उदार पुण्याचरणोंसे युक्त जो मुनि महेश्वर हैं वे ध्यानसिद्धिके पात्र कहे गये हैं। जिन्हे शान्ति चाहिए, विश्राम चाहिए, ध्यान चाहिए उनका यह कर्तव्य है कि शुद्ध आचरणोंसे अपना जीवन वितायें। जिनका आचरण पवित्र नही है उनके ध्यानमे स्थिरता नही हो सकती। ऐसे मुनि प्रधान योगीश्वर ध्यानसिद्धि के पात्र है। जो बात योगियोके लिए कही गई है वही बात श्रावकोंके लिए भी समझनी चाहिए। सुख दुःख आनद जीवन मरण ये सब जीवोको एक ही विधिसे होते हैं। जैसी जिसमे कषाय हैं, जैसा जिसके आशय है वह अपने आशय और कषायके अनुसार फल पाता है। हम अपना आशय निर्मल रखें, कषायोको ढीला करें, किसी कषायमे न बहे, उचित अनुचितका सब विवेक बनाये, इन शुद्धाचरणोसे ध्यानसिद्धिकी पात्रता रहती है। इस ही से मन स्थिर रह सकता है। इस प्रकरणमे ध्याता योगीश्वरोकी प्रशसा करते हुएमे अपने आपमे उन गुणोको प्रकट करने की भावना कही गई है।

तदारोढु प्रवृत्तस्य मुक्तेर्भवनमुन्नतम् ।
सोपानराजिकाऽमीषा पादच्छाया भविष्यति ॥३६८॥

संतोंकी पादच्छायामें उन्नतिकी सोपानरूपता—हे आत्मन्! मुक्तिरूपी मदिर पर चढनेकी प्रवृत्ति करते हुए तुझे सही सोपान बताया गया है। ऐसे साधुसतोके चरणोंकी छाया ही तेरे उन्नतिरूप महलमे पहुंचानेकी सीढियां हैं। जिन्हे ध्यानकी सिद्धि करना हो उन्हें ऐसे निर्दोष योगीश्वरोकी, मुनियोंकी सेवा करनी चाहिए। ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषो का रास्ता अलग-अलग है। अज्ञानी जनोको मोह ममता, विषय कषाय ये सब सूझते रहते

हैं और ज्ञानीजनोको केवल निज चैतन्यस्वभाव ही सूझता रहता है, मैं तो यह हूँ। ज्ञानियों का पंथ जुदा है और अज्ञानियोका पंथ जुदा है। जिन्हे ज्ञान ध्यानकी सिद्धि करना है उनका यही तो कर्तव्य है कि ज्ञानी ध्यानी महापुरुषोंके संगमे रहे। कितनी ही बातें सज्जन पुरुषों के संगमें रहकर प्रेक्टिकल सीख ली जाती हैं जिन बातोको अनेक ग्रन्थोका स्वाध्याय करने से और बहुत-बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेने से भी वह बात नही बनती। तो सज्जन पुरुषोंके संगकी जो छाया है यह ससार सतापको बुझानेमे समर्थ है, इस कारण जो ध्यानकी सिद्धि चाहते हैं, कल्याण चाहते है उनका कर्तव्य है कि ध्यानमार्गमे सफल हो रहे साधुजनोका सत्संग करें। अपने जीवनमे कुछ अन्दाज तो लगावो कि मोही पुरुषोकी संगतिमे हमारा कितना समय गुजरता है और ज्ञानी, साधु, व्रती संत पुरुषोके समागममे कितना समय गुजरता है। ज्ञानी संत पुरुषोके संगमे अनेक बातें प्रयोगरूपसे सीखली जाती हैं। अत. जिनको ध्यानकी अभिलाषा है उनका कर्तव्य है कि संसार शरीर भोगोसे विरक्त केवल ज्ञानस्वभावके विकासके लिए ही सहज विश्राम करने वाले पुरुषोकी संगतिसे ध्यानकी सिद्धि का उपाय प्राप्त होता है।

ध्यानसिद्धिर्मता सूत्रे मुनीनामेव केवलम्।
इत्याद्यमलविख्यातगुणलीलावलम्बिनाम् ॥३६१॥

अमलगुणलीलावलम्बी योगियोंके ध्यानकी सिद्धि—सिद्धान्तमे जैसा कि अभी उपरोक्त श्लोकोमें कहा है ऐसे गुणोसे विख्यात अथवा गुणोमें प्रवृत्ति करने वाले मनुष्योके ही ध्यानकी सिद्धि मानी है। जैसे–विशेषण दिया था कि वे निष्परिग्रही हो, समस्त विद्याओं मे विशारद हों, मंद कषायी हों, निर्मल हों आदिक गुणों करके युक्त मुनियोके ही ध्यानकी सिद्धि होती है। ध्यानमें ज्ञान और चारित्र दोनोका समन्वय है और सम्यग्दर्शन तो है ही। ध्यान नाम है एक ओर चित्तके रुक जानेका। उत्तम ध्यानमे उपयोग आत्माके सहज स्वभावकी ओर ठहर जाता है, तो ज्ञान बिना तो ध्यान होता ही नही है। और, उस जानन क्रियाका जो ठहरना है वह चारित्र है। ध्यान किसकी पर्याय है, यह यदि पूछा जाय तो जिस दृष्टिसे उत्तर दें उस दृष्टिसे समाधान मिलता है। ध्यान ज्ञानका परिणमन है, यों कह लीजिए अथवा चारित्रका परिणमन है यो कह लीजिए। फिर भी मुख्यतासे ध्यानको चारित्र का परिणमन कहा है। जो ज्ञानी हैं, सदाचारी है, स्वरूपाचरण वाले हैं ऐसे साधु संतोके ध्यानकी सिद्धि कही गयी है।

निष्पन्दीकृतचित्तचण्डविहगा पञ्चाक्षकक्षान्तका,
ध्यानध्वस्तसमस्तकल्मषविषा विद्याम्बुधे पारगा.।
लीलोन्मूलितकर्मकन्दनिचया. कारुण्यपुण्याशया,

योगीन्द्रा भवभीमदैत्यदलना कुर्वन्तिते निर्वृतिम् ॥३७०॥

योगीन्द्रोंसे निजके आशीषकी वाञ्छा--ऐसे गुणवान योगीन्द्र हमारेऔर भव्य पुरुषोके आनन्दरूपी मोक्षको करें। कैसे है वे योगीन्द्र जिनके प्रति ध्या... एक मोक्ष सुखकी प्रार्थना की गयी हैं ? वे है निश्चल। जिन्होने चित्तरूपी पक्षीको वश किया है, अचलित किया है ऐसे निश्चल है। इस मनको पक्षीकी उपमा दी है। जैसे पक्षी किसी एक जगह शान्त होकर नही बैठ पाता, इधर उधर फुदकता अथवा पंख हिलाता रहता है, अभी कही बैठा है, थोडी ही देरमे कही पहुंच जाता है। यो पक्षीको चंचल बताया है। तो जैसे पक्षी चंचल है ऐसे ही यह मन राग और द्वेषके कारण चचल रहा करता है। ऐसे चित्तको जिन्होने निश्चल किया है वे योगीन्द्र हमारे और भव्य जीवोके मोक्षरूप आनन्दको करे। यद्यपि इस प्रार्थना करने वाले गुणाभिलाषी पुरुषकी यह पूर्ण श्रद्धा है, कोई भी जीव किसी अन्य जीव के सुख दु ख ससार मोक्ष किसी भी परिणमनका कर्ता नही होता। लेकिन एक निमित्त दृष्टिसे अथवा भक्तिके प्रसगमे यह कथन युक्त जचता है कि जिस प्रभुके गुणोंके स्मरणके माध्यमसे हम तत्त्वचिन्तना करके एक अपनेमे विविक्तताका अनुभव करते हैं और जिसके प्रसादसे मुक्ति निकट होती है तो उस प्रभुकी भक्तिमे यह कहना ठीक है कि वह हमे आनन्द प्रदान करे, मुक्ति प्रदान करे। यह सब भक्तिका स्तवन है। क्या कोई इस तरह भी स्तवन करेगा किसीके सामने कि हे प्रभो ! तुम हमारा कुछ भी करनेमे समर्थ नही हो, तुम भिन्न हो, परद्रव्य हो ? ये कोई स्तवनके वचन हैं क्या ? यद्यपि बात ऐसी ही है कि प्रभु हमारा कुछ नही करते, पर इस तरहसे कहना कोई गुणानुरागकी बात नही है। गुणानुरागमे आभार प्रकट किया ही जाता है।

योगीन्द्रोंकी उत्कट विषयनिवृत्तता--ये योगीन्द्र पञ्चेन्द्रिय रूप बनके दग्ध करने वाले हैं अर्थात् इन्द्रियके विषयोको जीतने वाले हैं। आत्मबलका प्रयोग विषयोके जीतनेसे होता है। जो जितना इन्द्रियविजयी है उसे उतना ही आत्मबली समझना चाहिए। ये योगीन्द्र ध्यानसे समस्त पापोका नाश करने वाले है। पाप तब उत्पन्न होते हैं जब कोई दुर्ध्यान हो। खोटे विषयोमे चित्त लगता हो तो पाप उत्पन्न होते है किन्तु जहाँ निष्पाप, निष्कर्म शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका ध्यान बन रहा हो ऐसे उत्तम ध्यानमे पापोका बध नही है और पूर्वबद्ध पापकर्मोंका विनाश होता है। यो ध्यानसे जो पापोको नाश करने वाले हैं वे योगीन्द्र हमारे और अन्य भव्य जीवोके मोक्षसुखके प्रदान करने वाले हो।

योगीन्द्रोंकी विद्याम्बुधिपारगता--ये योगीन्द्र विद्यारूपी समुद्रके पारगामी हैं अर्थात् सर्वप्रकारकी विद्याओके अधिपति है। जो सभी प्रकारकी विद्याओके अधिपति होते हैं, अनेक कलाओंमे कुशल होते हैं ऐसे पुरुषोंमे ध्यानकी समुचित योग्यता होती है। जैसे लोकमे भी

देखा जाता है कि जिनकी बुद्धि हर दिशामे चलती है उनका धर्ममे भी बहुत विधिपूर्वक गमन होता है। तो कोई राजा थे, कोई मंत्री थे, कोई विद्वान थे, ऐसे ही लोग विरक्त होकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर हुए है और उन्होने उन कला कुशलताओंका प्रयोग अब आत्मध्यान के लिए किया है तो ऐसे कुशल पुरुषोके आत्मध्यान होना बहुत सुगम सिद्ध है। ऐसे योगीन्द्र जो समस्त विद्याओके अधिपति है हमारे और भव्य प्राणियोके सुखरूप मुक्ति को करो।

योगीन्द्रोंकी कर्मध्वंसकुशलता—वे योगीन्द्र जरा सी लीला मात्रमे कर्मोंकी जडको उखाडनेमे समर्थ है। जिनकी जिस विषयमे गति होती है वे उस विषयको लीला मात्रमे सिद्ध कर लेते हैं। जैसे जो लिखनेमे बडे चतुर होते है वे थोडेसे ही श्रमसे जैसा चाहे बैठे हुए भी लिखनेमे समर्थ हो जाते हैं और जो कुशल नही हैं वे बडा उपयोग लगायेंगे, बहुत हाथको सम्हालेंगे, बडे श्रमसे लिख सकेंगे। जो किसी खेलमे निपुण है वे दौडते हुए, चलते हुए, झुकते हुए, अनेक स्थितियोंमे उस क्रीडामे विजय प्राप्त कर लेते है। तो जिन महापुरुषोने अपनी आत्माके सहजस्वरूपका अनेक बार अवलोकन किया और इस अवलोकनमें वे दृढतासे समर्थ हुए ऐसे पुरुष क्रीडा मात्रमे अर्थात् जरासे ही अभ्याससे समस्त कर्मोंके मूल को उखाड फेंकते है। उपयोग की ही तो बात है। उपयोग जहाँ निष्कलंक अन्तस्तत्त्वकी ओर लगा वहाँ समस्त कर्म क्षीण हो जाते है। तो ये योगीन्द्र जो अपने ज्ञानकी लीलासे कर्मोको मूलसे उखाडने मे समर्थ हैं वे हम सबको मोक्षसुख प्रदान करें।

कारुण्यपवित्रित योगियोंकी उपासन—इन योगीन्द्रोमे अपार करुणा होती है। और, उनकी करुणा अकारण होती है, बिना स्वार्थके होती है। करुणा भी कैसी अपूर्व है कि संसारके संकटोसे छुटानेका यह सुगम उपाय हैं। इस उपायको बहुत जल्दी समझले और उस उपाय पर चलने लगें ऐसी उनके आन्तरिक भावना होती है, और यह भी बिना किसी खुदगर्जीके। लोकमे बन्धु और मित्र बहुत होते है पर वे किसी न किसी खुदगर्जीको लेकर होते हैं। ये ज्ञानी संत जिन्हे संसार और मुक्तिका सब रहस्य विदित हो गया है वे बिना ही खुदगर्जीके ससारके समस्त जीवोंका भला चाहने वाले होते है। तो जो सत्य करुणा भावरूप पुण्यसे पवित्र मन वाले है वे योगीन्द्र हमें और भव्य जीवोको मुक्तिसुख प्रदान करें। ये योगीन्द्र ससाररूप भयानक दैत्यको चूर्ण कर जाने वाले है अर्थात् संसरण परिणाम और द्रव्य संसरण ये सब जिनके समाप्त हो जाने वाले है वे योगीन्द्र हम सबका कल्याण करे। जो स्वयं कल्याण पथ पर लगे हैं वे ही दूसरोंके कल्याणके निमित्त बन सकते है।

रागकी विकट शत्रुरूपता—जगतमे बहुतसे मित्र बन्धु है, मोहीजन है, वे कल्याणके

मार्ग तो क्या, अकल्याणके निमित्त बन जाते है। जिन्हें लोग मानते है कि ये मेरे खा बन्धु है, मित्र है, उनका राग करके उनसे मोह करके यह जीव ससारकी कुगतियोको प्राप करता है। जिन्हे लोग गैर मानते है वे गैर भले है जि के कारण हमे कोई विपदा नहं आती। विपदा केवल द्वेषसे द्वेषकी नही होती, किन्तु राग भी महाविपदा है। कभी किसीक कोई कषाय जगे, क्रोध उत्पन्न हो तो लोग उसका और-और प्रकारसे बिगाड करना चाहते है, उसे धन हानि करके या उसकी किसी उन्नतिमे हानि करके उसका बिगाड चाहते हैं, लेकिन सबसे अधिक बिगाड करनेका तरीका तो यह नही है। यह तरीका है कि उसे कुछ विषय—साधन जुटा दिये जायें ताकि वह भव-भवमे सकट सहता रहे। यह उपाय उसे दुःखी करनेका उस द्वेषके साधन मिलाने से अधिक दुर्विपाक है। कोई घरका पडौसी गरीब हो लेकिन जो कुछ भी दो एक रुपया कमा पाता है, दो एक प्राणी है, साराका सारा खर्च करके खूब आरामसे अपने दिन गुजारता है। कोई पडौसी हो उसका धनी और सेठानी उससे रोज लडे कि तुम तो इतने बडे सेठ हो फिर भी साधारण ही भोजन बनवाकर खाते हो, देखो यह पडौसी जो गरीब है, २) ही रोज कमाता है वह कितना अच्छा खाता है और कितना ठाठ से रहता है। सेठको उस पडौसीके प्रवर्तनके कारण कष्ट होगा और उसका वह बदला चुकाना चाहेगा, उसे मिटा दें, भगा दें, क्योंकि इसके कारण सेठानी हमसे रोज लडती है। यदि सेठ हो होशियार तो उसे भगानेकी तथा मिटानेकी अपेक्षा यह करेगा कि उसे ९९ के चक्करमे डाल देगा। वह तृष्णामे आकर खुद बरबाद हो जायगा। कभी रातको ९९ रु० की थैली उसके घरके आगनमे फेंक दे, ९९ रु० पाकर वह तो यह सोचेगा कि १) कम है, नहीं तो मैं शतपति कहलाता। ठीक है, कल १) बचा लेंगे और १) ही खर्च करेंगे। पर जब १००) हो गए तो हजारकी तृष्णा हो गई। यो चवन्नी रोजमे ही गुजारा करने लगा। अब तो उसका सारा जीवन दुःखमय हो गया। तो लोग समझते है कि द्वेष और विरोध यह बडी विपदा है, पर इससे भी बडी विपदा राग और मोह है। अपने लिए वे गैर भले है जिनके कारण हमे नरक निगोद जैसी यातनाओंके पाप तो नही बनते, पर जिनमे तीव्र मोह है वे तो हमारी कुगतिके कारण बनते है। पर कैसी बुद्धि है संसारी जीवोकी कि यह बात चित्तसे नही जाती कि ये मेरे हैं, इन स्त्री, पुत्रादिकके लिए ही मेरे तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर हैं और बाकी लोगोके लिए एक पैसा भी खर्च हो तो उसे समझ लेते कि यह मुफ्त गया, इतना तीव्र तृष्णा रग चढा हुआ है कुबुद्धि का। जो ही विपदाके कारण हैं उन ही मे हम अधिक राग किया करते हैं।

स्वरूपपरिचय बिना धर्मभावकी अनुद्भूति—हम भगवानकी पूजा करें, दर्शन करे, सब कुछ करें और इन बातोमे अन्तर न डालें तो वह प्रभुकी भक्ति क्या हुई? हम प्रभुकी

भक्ति, पूजन, वन्दन सब कुछ करे और परिजनसे तथा अन्य पर पदार्थोसे मोह न छूटे तो क्या यह कोई भली बात है ? मोह नही छूटा इसका चिह्न यही है कि आप अपना सब कुछ सर्वस्व तन, मन, धन, वचन उनके ही लिए न्योछावर करने को तत्पर रहते है। यो तो जब कोई धर्मके भेषमे आता है, पूजन स्तवन आदिकमे आता है अथवा चर्चामे बैठता है, स्वाध्याय करता है, अथवा दूसरोको सुनाता है तो वहाँ तो बातें लम्बी चौडी झोकनी ही पड़ती है, उसका ही तो नाम आजकलका धर्म है। और, अब स्वाध्याय करने बैठे तो क्या यह बोलना चाहिए कि मोह करनेसे जीवको सुख होता है ? वहाँ तो यह ही बोला जाता है कि ऐ जगत के मोही प्राणियो ! तुम मोहसे अपनी बरबादी कर रहे हो। हम क्या है इस पर कुछ दृष्टि नही है। वहाँ तो ये ही गप्पे झोकी जायेगी। प्रभुकी भक्ति वन्दना बडे गान तानसे करेंगे, बोलेंगे सही सही, पर मोह जरा भी शिथिल न हो, चित्तमे थोडी भी यह बात न समाये कि आखिर जल्दी ही एक दिन सब छूट जायेंगे, तो इनके पीछे माथा रगडनेसे क्या हित होगा। ऐसे दुर्लभ नर जीवनमे कुछ निर्मलताकी स्थिति क्यों न बना ले। समझ लो कि हम १०-५ साल पहिले ही मर गए थे। वर्तमान जीवनमे स्वहितकी बात अगर चित्तमे न आयें तो ऐसे जीने से क्या लाभ ? यदि ऐसी बाते चित्तमे समाती है तो यह भी एक निर्मोहताकी निशानी है। तो जो योगीन्द्र निर्मोह है और निर्मोहताके कारण संसाररूप भयानक दैत्यको चूर्ण कर देते है ऐसे योगीन्द्रोका हमारा गुणस्मरण रहे।

विन्ध्याद्रिर्नगर गुहा वसतिका शय्या शिला पार्वती।
दीपाश्चन्द्रकरा मृगा सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना॥
विज्ञानं सलिल तथा सदशनं येषां प्रशान्तात्मनाम्।
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोद्देशका सन्तु न ॥३७१॥

साधुओंका नगर---जिन साधु मुनि महाराजोंका नगर क्या है—विन्ध्याचल आदिक पर्वत। जैसे गृहस्थोसे पूछा जाय कि आपका नगर कौन-सा है तो उत्तर देगे—मेरठ, मुजफ्फरनगर, हापुड इत्यादि तो उन महाराजोका, मुनीश्वरोंका कोई पूछे कि नगर कौन है, तो भक्त लोग यही उत्तर देगे कि उनका नगर है वन उपवन इत्यादि। जहाँ ठहरकर, विचर कर नि शङ्क रहा जाता है उसे नगर कहते हैं। लोकव्यवहारमें अज्ञानी रागीजनोंका विश्राम नगर यहाँके नगर आदि है। यहाँ भी व्यवहारसे यह कहा जा रहा है कि विरक्त ज्ञानी साधु संत पुरुषोका विश्रामस्थान वन उपवन आदि है, ये ही साधुओके नगर है। ऐसा एकान्त भयावह स्थानो पर निवास करना भी साधारणजनोंसे शक्य नही है सो यह वन निवास आदि भी उत्तमजनो द्वारा किये जा सकते है। लेकिन अन्त तो देखिये साधुजनोका नगर क्या है ? उनका अपना आत्मक्षेत्र, आत्मस्वरूप ही उनका नगर है, जहाँ उनका पर-

मार्थत निवास रहता है। इस परमार्थ नगरमे निवास करने वाले ज्ञानी साधु सत परमार्थ आनन्दका अनुभव करते है और इसी आनन्दानुभवके कारण वा निवास उन्हें सुखद प्रतीत होता है।

साधुवोंका गृह—साधुवोका घर क्या है, कितनी मजिलका है ? अरे पर्वतोकी गुफायें ही उनके घर है जो प्रकृत्या बनी हुई है। कही पोल सा है ऐसा कोई स्थान है तो वह ही उन मुनियोका घर है। जहाँ ठहर कर विश्राम किया जाता हैं वह घर कहलाता है। गृहस्थो को तो झरोखे वाले एयरकन्डीशन वाले, महलोमें विश्राम मिलना प्रतीत होता है, किन्तु साधुजनोको अपने आत्मस्वरूपमे विश्राम मिलता है, यह आत्मस्वरूप रमण विविक्त स्थानोमे सुगमतया होता है और संसारसे प्रयोजन न रखने वाले सतजनोका प्रकृत्या निर्जन गुफादिक एकान्तस्थानोमें निवास होता है, सो उन्हे ऐसे विविक्त स्थानोमे ही विश्राम मिलता है। जहाँ रहकर जिसे विश्राम मिले, नि शंकता रहे, निर्बाधता रहे वही उसका घर है। साधु सतोका घर पर्वतोकी गुफायें आदिक स्थान है।

साधुवोंकी शय्या—साधुवोकी शय्या क्या है, वे सोते किस पर है ? आखिर सभी लोग जानते हैं कि दिन भर श्रम करनेके बाद कुछ कोमल गद्दा आदिक तो होना ही चाहिए तब तो सोये। तो मुनियोकी शय्या क्या है ? बताया है कि जो पर्वतोकी शिलायें हैं वे ही शय्या है। लोग जब कुछ विषयसाधन वैभवके समागममे रहते हैं तो काल्पनिक मौज मानते हुए कोमल शय्यापर शयन कर आरामका प्रतिकल्पन करते हैं, किन्तु सत्य आराम तो निर्विकल्प ज्ञानोपयोगमे होता है। जो लोग आरामके लिए पर पदार्थोंका आश्रय लेते हैं और चूँकि मायामय परका आश्रय लिया है उन्होने सो उन्हे यथार्थ आराम हो ही नही सकता। साधुवोने स्वब्रह्मका ही अवलम्बन लिया है सो उन्हे सत्य आराम प्राप्त होता है। ऐसे साधुजन शारीरिक श्रमके खेदको दूर करनेके लिये आयासप्राप्य शय्याकी चाह नही करते, उनकी शय्या तो पर्वतीय शिला है।

साधुक्षेत्रका दीपक—उनके पास कुछ बिजली दिया वगैरह भी रहता होगा ? कहते है कि हाँ रहता है। जो चन्द्रका प्रकाश है, नक्षत्रोका उजाला है, वह चाहे उन गुफावोंके अन्दर पहुचे अथवा न पहुचे, ऊपर ही दृष्टिगत रहे, वही उनकी दीपक है। ये तो बडी विलक्षण बातें कही जा रही हैं, जो गृहवासीके लिये कठिन हैं। दीपक या किसी प्रकारका पौद्गलिक प्रकाश न होने पर गृहस्थ घबडा जाते हैं, किन्तु तत्त्ववेत्ता साधुजन निज अन्त प्रकाशमे ही प्रसन्न रहा करते है। ऐसे साधुजन बाह्य दीपकारिकके लिये क्या श्रम करेंगे, वे तो इस आरम्भसे दूर है, तब साधुओके निवासस्थल पर जो प्रकृतिकी दैन है वही उस स्थल पर बाह्य प्रकाश है। मुनिजन निर्जन पर्वत, बन, गुफा आदि एकान्त स्थानोमे रहते हैं

अत: उनके लिये चन्द्रकिरण आदि ही बाह्यमें दीपक है।

साधुवोंके क्षेत्रमें सहचर–आखिर उन ध्याता योगीश्वरोके कोई दोस्त तो होंगे, सहचर तो होंगे, उनके साथ रहने वाला और कोई भी तो होगा? कहते है–अरे हिरण है, खरगोश हैं, और और भी अनेक प्रकारके जानवर हैं जो उनके पास आते जाते रहते है, वे बड़े नि:शंक रहा करते है, वे उनके सहचर हैं। आत्मसाधनाकी धुनमें आत्मसाधनाके विराधक निमित्त परिजनका परित्यागकर एकान्त वनमे विचरने वाले, ध्यान करने वाले योगीश्वरोके निकट योगीश्वरोंकी शान्तमुद्रासे आकर्षित अनेक बनचर जीव ठहर कर अहिंसाकी प्रतिष्ठाको बढ़ाते है। उस वातावरणमे योगीश्वर कितने समृद्ध कहे जाँय, यह आप अपनी बुद्धिसे निश्चय कर लीजिये। इन ध्याता योगीश्वरोके सहचर ये हिरण आदिक है। देखिये कैसी निरालम्बता इन ध्याता योगीश्वरोंकी है।

साधुवोंकी परमार्थ रमणी—साधुवोके कुछ घर बार तो होगा, रमणी तो होगी? कहते है कि हाँ उनके रमणी भी है जो सदा उनके साथ रहा करती है। सर्वप्राणियोकी परमार्थभूत दया ही उनकी रमणी है। जो मनको रमा दे उसे रमणी कहते है। गृहवासियोका मन स्त्रीसे रमता है, किन्तु तत्त्ववेत्ता ज्ञानी संत जनोका मन स्वपरदयामे रमता है। श्रमरहित, कषायरहित अपने उपयोगको प्रवर्तानेमे साधुओका मन रमता है और ऐसे ही सर्वप्राणियों को नि संकट देखनेके लिये उनके उद्धारकी जो परमकरुणा होती है उसकी चेष्टामें मन रमता है। इसी शुद्ध भावनामे रमण करके साधुजन निर्जन वन गुफादिक स्थानों मे रहकर प्रसन्न रहा करते है। साधुवोकी रमणी स्वपरदया है।

साधुवोंका ज्ञानपात्र—किसीके भी घरमे देखो तो पानी पीनेके लिए अनेक बर्तन होते है घडा अथवा सुराही वगैरह। तो उन मुनि महाराजोके पास पीनेका पानी तो होगा? कहते है–हाँ है, विज्ञान ज्ञान ही उनका पीनेका पानी है। जैसे जब आप विश्रामसे बैठे हो, शुद्ध ध्यान हो तो अपने आप ही गले से पानी उतर आता है। यह आपको विशुद्ध आनन्दकी सूचना देता है ना। इससे भी अधिक विश्राम व शान्तिमें बसने वाले साधुजन, वस्तुस्वातन्त्र्यके उपयोगसे विकल्मष ज्ञानज्योतिका अनुभव करते हैं, उन्हे उस शुद्धज्ञानसुधारसपानमे अनुपम तृप्ति उत्पन्न होती है। इस ज्ञानसुधारसपानसे ये ज्ञानी संत ग्रीष्मकालकी कठिन तपस्याओंके बीच भी तृप्त और प्रसन्न रहा करते है।

बेपढ़ा है साधुवोंका परमार्थ भोजन--साधुवोंका उनका भोजन क्या है? कहते है कि ज्ञान विज्ञान जलसे सने हुए ध्यान, तप, व्रत, नियम आदि कर्तव्योका पालन उनका भोजन है। जिससे बुभुक्षा शान्त हो उसे लोग भोजन कहा करते हैं। बुभुक्षा नाम पदार्थोंके भोगने की इच्छाका है। ज्ञानपूर्वक ध्यान तप व्रत नियमके आचरणसे साधु संतोका समय विशुद्ध

विश्राममे व्यतीत हो जाता है, उनके पदार्थोंके भोगनेकी इच्छा शान्त हो जाती है। साधु संतोंका यह भोजन अनुपम है। इस भोजनको वे ही बनाते हैं, अपने ही अभिन्न साधनसे बनता है और वे ही स्वयं खाते है और ऐसा ही खाते रहते है इस कारण यह भी कहना युक्त है कि खाते हुए अघाते भी नही है अथवा इस भोजनसे वे पूर्ण तृप्त रहते हैं। ऐसे मुनिराजका जिनका अनूठा परिवार है वे ससाररूपी कीचडसे निकलनेका हम सब लोगोको मार्ग बतायें, उपदेश करते रहे, ऐसा ध्यानी योगीश्वरोंकी प्रशसामे उनका गुणगान किया गया है। योगीश्वर समस्त प्राणियोके निरपेक्ष बन्धु है, अत. समस्त जगतको उनका परिवार कहा जा सकता है। उनके उपदेशसे अनेको भव्य जीव अज्ञानान्धकारको दूर करके ज्ञान-प्रकाशको पाकरके शान्तिपथमे विहार करके उत्कृष्ट शान्तिपदको प्राप्त करते हैं। योगीश्वरो का जितना आभार माना जाय, वह सब थोडा है। ऐसे योगीश्वरोको मन वचन कायसे मेरा प्रणाम हो।

रुद्धे प्राणप्रचारे वपुषि नियमिते संवृतेऽक्षप्रपञ्चे।
नेत्रस्पन्दे निरस्ते प्रलयमुपगतेऽन्तर्विकल्पेन्द्रजाले॥
भिन्ने मोहान्धकारे प्रसरति महसि क्वापि विश्वप्रदीपे।
धन्यो ध्यानावलम्बी कलयति परमानन्दसिन्धुप्रवेशम् ॥३७२॥

श्वास, काय, इन्द्रिय, नेत्रके संवरणपूर्वक ज्ञानबलसे आत्मप्रकाशका विकास—जो पुरुष ध्यानकी अनेक साधना करके निज तेजपुञ्जको अपने हृदयमें धारण करते हैं वे ही पुरुष प्रशस्त ध्याता हैं। ध्यानकी क्रियामे सर्वप्रथम श्वासोच्छ्वासके रोकनेकी क्रियाकी जाती है। जो पुरुष ध्यानसाधनामे अपनी वृत्ति बनाना चाहते हैं वे प्राणायामका अभ्यास करते हैं जिस प्राणायामका वर्णन इसी ग्रन्थमे किसी प्रकरणमे आयगा। तो प्रथम तो श्वासोच्छ्वास के निरोध की क्रिया, दूसरे—शरीरको निश्चल रखनेकी क्रिया। शरीर हिले-डुले नही, स्थिर आसनसे और सुगम सीधा अपनी काय रखकर शरीरको निश्चल करे, दूसरी बात इन्द्रियके प्रचारका सम्वरण करे। इन इन्द्रियोसे देखनेका सुननेका किसी भी प्रकारका ख्याल न लायें, न इन्द्रियकी प्रवृत्तिको रखें, जिसमे नेत्रोका स्पन्द रुक जाय। नेत्र भी चलनक्रियासे रहित हो जायें, फिर मनको भी रोके अर्थात् विकल्पजाल, इन्द्रजालका प्रलय हो जाय, कोई विकल्प चित्तमे न आने दें, ऐसी स्थितिमे मोहान्धकार दूर होता है, और जब जो साधु स्व-परप्रकाशक इस तेजपुञ्जको हृदयमे धारण करता है, वह मुनि ध्यानावस्थी होता है और यह मुनि आत्मध्यान समुद्रमे प्रवेश करता है, उत्कृष्ट आनन्दका अनुभव करता है।

आत्मध्यानकी शरणरूपता—हम आप सबके लिए एक आत्मध्यान ही शरण है, जिसके प्रतापसे संकल्प विकल्प दूर हो जायें और केवलज्ञानमे ज्ञानका ही अनुभव रहे उसकी

महिमाका कौन वर्णन कर सकता है। हम सबका ऐसा आत्मध्यान ही वास्तविक शरण है। व्यर्थका मोह जाल, जिसमे कुछ मिलनेकी आशा भी नही है और बरबाद होने के ही सारे ढंग हैं, ऐसे मोह जालसे हित नही है। अच्छा बतावो अपने आपकी दृष्टिसे अपने आत्मापर दया करके सोचिये कि जो कुछ राग मोहका प्रवर्तन किया जा रहा, कुछ ही लोगोको अपना सब कुछ समझकर उनका ही राग, उनकी ही व्यवस्थामे जो विकल्पजाल किया जा रहा इसके फलमे इस आत्माकी आबादी क्या होगी, कौनसा लाभ होगा, क्या शान्ति मिलेगी, समृद्धि होगी, अनाकुलता जगेगी, कर्मोकी निर्जरा होगी ? कुछ भी तो नजर न आयेगा। बरबादीकी दृष्टिसे देखो तो संसारमे ही रुलेगा। यह बरबादी तो स्पष्ट ही है। अपने ज्ञानका आवरण रहेगा, कुयोनियोमे जन्म होगा। और फिर जिनको अपना इष्ट जान कर इतना राग रागमें तृष्णामें धसे-फसे हुए है ये कोई जीव साथ नही निभा सकते। क्यों निभायेंगे। तो इन सब परकीय ध्यानोमे, लगावोमे हित कुछ नही है। हित तो एक अपने आत्माके विचारोंमे, ध्यानमे, अपने आपको विशुद्ध आचरणमे रखनेमे है। इस जीवका कोई दूसरा साथी नही है। अपने आपका सही श्रद्धान हो और विशुद्ध आचरण हो। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा, मूर्छा इन पापोसे अपनेको निवृत्त रखें। गृहस्थ है तो गृहस्थधर्म मे जो योग्य आचरण बताया उसे निभायें, साधु है कोई तो साधु धर्ममे जो निवृत्ति बताया उसे निभाये, इसमे ही हित है। अपने आपको पाप परिणाममे रखनेसे आत्मामे कुछ समृद्धि नही जगती, न आत्मबल बढता। जिनको भी ऋद्धि और सिद्धि उत्पन्न हुई है उन्हे शुद्ध आचरणके प्रतापसे हुई है। आचरण जिनका भ्रष्ट है उनको कोई ऋद्धि सिद्धि समृद्धि सन्तोष ये कुछ भी प्राप्त नही होते। तो ध्यानकी समस्त क्रियावों को करते हुए जो अपने इस धर्ममूर्ति भगवान आत्माका ध्यान रखते है वे उत्कृष्ट आनन्दका अनुभव करते है।

अहेयोपादेयं त्रिभुवनमपीदं व्यवसितं।
शुभं वा पापं वा द्वयमपि दहत् कर्म महसा।
निजानन्दस्वादव्यवधिविधुरीभूतविषयः।
प्रतीत्योच्चैः कश्चिद्विगलितविकल्पं विहरति ॥३७३॥

ज्ञानियोंका ज्ञानविहार—जो पुरुष आत्मध्यानमे स्थित होते है, जिनके ध्यानकी प्रगति हुई है उनके ध्यानमे तो निश्चलता है ही। ध्यानमे अभ्यस्त साधु संत विहार करते हुए भी निश्चलके समान रहते हैं वे शुभ और अशुभ समस्त कर्मोको जलाते हुए इस त्रिभुवनमें जो न हेय है न उपादेय है, उस विशुद्ध तत्त्वमे निर्विकल्परूपसे भ्रमण करते है, अथवा यों समझिये कि आत्माका विहार है ज्ञानके द्वारा। ध्यानमे अभ्यस्त पुरुष अपने इस ज्ञानके द्वारा तीनो लोकमे एक साथ सर्वत्र विहार कर रहे है अर्थात् सबको जानते है। और व्यवहारमे

कहीं भी जायें, आयें रहें। जिसकी जो लगन उसको वही रुचता है, उसका ही ध्यान रहता है। एक बात यह भर मालूम पड़ जाये, दृढ़तासे निर्णयमें आ जाय कि अपने आपके आत्मप्रभुसे लगाव लगाये रहनेमें तो सब कुछ मिल सकेगा—शान्ति, मुक्ति, निराकुलता। उद्धार हो जायगा, और एक इस अतस्तत्त्व प्रभुको धोखा दिया जाय अर्थात् किसी असदाचारमें, दुराचारमे लगाया जाय, श्रद्धान बिगाड़ लिया जाय तो उसमें किसी भी प्रकारकी सिद्धि नही हो सकती। अतएव जिन्हे शान्ति चाहिए, सम्पन्नता चाहिए, प्रसन्नता चाहिए उनका कर्तव्य है कि अपने आपको आत्माके विरुद्ध आचरणोसे दूर रखें। शुद्ध आचरणमें अपना जीवन बितायें। जिन्होंने आत्मीय आनन्दके प्रतापसे शुद्ध स्वाभाविक परमआल्हादरूप आनन्दके अनुभवसे इन्द्रियविषयोको दूर कर दिया है ऐसे पुरुष निष्कषाय, निर्विकल्प, क्लेशरहित विशुद्ध ज्ञायकस्वभाव अपने आत्मप्रभुके ध्यानमे लगते हैं और कर्मोंकी निर्जरा करते हुए यथेष्ट विहार करते हैं।

स्वरूपाचरणसे संकटपारगता—रागद्वेष मोहसे, पापविषयोकी प्रवृत्तिसे इस जीवका अहित ही है। जो शुद्ध ज्ञानी भव्य पुरुष होते हैं वे किसी भी परिस्थितिमे अन्याय करना पसंद नही करते। अन्याय करके, धोका देकर यदि कुछ सांसारिक लाभ भी मिला तो क्या उससे निस्तारा होगा। यद्यपि अन्याय और धोखासे सासारिक लाभ भी नही मिलते लेकिन ऐसा काकतालीय न्याय मिल जाय कि पुण्यका उदय भी आने वाला हो और उसी समय कोई इसके कुबुद्धि जग जाय तो जितना आने को है उससे बहुत कम आता रहेगा लेकिन यह जीव उस ही कम आनेको अपनी चतुराईसे आया है ऐसा मान ले तो यह उसके अज्ञान की बात है। भ्रष्टाचारसे आत्माको लाभ कुछ नही है, और मान लो दुनियावी लाभ मिल भी गया तो आत्माका पतन कितना कर लिया। किसी पुरुषका धन नष्ट हो जाय तो यह कहना चाहिए कि मेरा कुछ नहीं गया है। बाहरी चीजें थी, विकल्पोसे अपना माना था, अब नही रहा। किसीका स्वास्थ्य बिगड़ जाय, कोई राजरोग लग जाय तो कहना चाहिए कि इसका कुछ कुछ गया। और, कोई पापमे लग जाय, आचारसे भ्रष्ट हो जाय तो कहना चाहिए कि इसका सर्व कुछ गया। जिन महापुरुषोके हम आज भी गुण गाते है उन्होने क्या किया ? प्रत्येक परिस्थितियों मे चाहे उन पर कुछ बीती हो, अपने धर्मको अपने विशुद्ध आचरणको नही छोडा। इस ही दृढ़ताके प्रसादसे वे महापुरुष हुए और संसार संकटोसे छूटकर उन्होने निर्वाण प्राप्त किया। तो यह सही निर्णय बनाएं कि अपने को संसारके संकटोसे छूटकर निराकुल अवस्थाका अनुभव कर लेनेका काम पड़ा है। जिन्होने आत्मीय स्वाभाविक आनन्द प्रकट किया है अतएव इन्द्रियविषय जिनके दूर हो गए हैं, जिन्होंने अपने तेजसे पुण्य पाप सभी कर्मोंको जला दिया है, जो जला रहे है और अपने आपके शुद्धस्वभाव

का विश्वास करके जो सब कुछ जान रहे है वे निर्विकल्प रहकर यथेष्ट विहार करते है।

स्वच्छ उपयोगमें ध्यानकी पात्रता—ध्यानकी पात्रता उनके है जो अपने हृदयको स्वच्छ बना सके। स्वच्छ बनानेकी बात यह है कि प्रथम तो यथार्थज्ञान होना चाहिए। यथार्थज्ञान उसे ही कहते है जिस ज्ञानमे ये समस्त पदार्थ स्वयं अपने आपके द्रव्य, क्षेत्र, काल भावमें रत रहा करते है। प्रत्येक पदार्थ परस्पर एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न है। तीनकालमे भी किसी पदार्थका किसी पदार्थमे न द्रव्य, न गुण, न पर्याय कुछ भी नही जाता है। यो समस्त पदार्थोको स्वतन्त्र निहारनेसे हृदयमे एक स्वच्छता है जगती, क्योकि अज्ञान मिटा, मोह दूर हुआ। इसके पश्चात् क्रोध, मान, माया, लोभ पञ्चेन्द्रियके विषयोमे प्रवृत्ति आदि सबसे अपनेको दूर करनेका यत्न किया। जिसे मुक्ति रुच गई है, जिसके चित्तमे यह समा गया है कि मेरेको तो मुक्तिपथपर चलनेका काम पड़ा है। तो वे कर्मोको काटकर शिवमार्गका लाभ लेनेके लिए उद्यत होते है। यह बात चित्तमे समाये तो हम संसार, शरीर, भोगोसे विरक्त होकर आत्मोद्धारके काममे सफल हो सकते है।

दु प्रज्ञा बललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया:,
विद्यन्ते प्रतिमन्दिर निजनिजस्वार्थोद्यता देहिन.।
आनन्दामृतसिन्धुसीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मज्वरम्,
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्रा यदि॥३७४॥

मोक्षोन्मुख ज्ञानियोंकी विरलता—ऐसे दुष्प्रज्ञ लोग जिनके कुमति जगी है वे तो घर घरमे मिलेगे। किन्तु जो एक मुक्तिके, कैवल्यके आनन्दका अनुभव करनेकी ही धुन बनाये हो ऐसे पुरुष दो तीन ही मिलेगे अर्थात् विरले ही मिलेगे। मूढजनोमें अपनी बुद्धिका प्रयोग करके कुछ भी लाभ न मिल पायगा। ये जो कुछ भी दिखने वाले पदार्थ हैं इनके जोड़नेसे जो एक चित्तभ्रान्ति उत्पन्न हुई है, तुम भोगनेकी इच्छा जगी है इनमे कुछ भी सार नही है। जो केवल दृश्यमान पदार्थोको ही सारभूत मानते हैं वे नास्तिक है, अन्तस्तत्त्व का लोप करने वाले हैं, ऐसे मनुष्य तो घर-घर मिलेगे। कोई धर्मकी भी बाते करता हो, वैराग्यकी भी बाते बोलता हो तो भी उसके आशयमे क्या है इसका क्या पता। क्या सच-मुच ज्ञानज्योति प्रकट है अथवा विरक्तिका परिणाम बन गया है। तो अनेक ऐसे मिलेगे जो धर्मके नामपर कुछ अपनी शान बनाये, पोजीशन बनायें, लोगोमे अपनेको भला जचवा ले ऐसे भी बहुतसे लोग मिल सकते हैं। किन्तु, यथार्थ परिणामसे यथार्थ प्रवृत्तिसे अपने आपके अतस्तत्त्वकी रुचि रखने वाले लोकमें विरले है। जिनके सत्यार्थका कुछ ज्ञान नही है, विषयोके प्रयोजनमे जो अपना उद्यम रखते है ऐसे प्राणी तो घर-घरमे विद्यमान हैं, परन्तु ऐसे ज्ञानी सत जो शाश्वत सहज आत्मीय परम आनन्दरूपी अमृतके समुद्रकी किरणोसे संसारकी दाहको जला सकते है और कैवल्य अवस्थाका आनन्द प्राप्त कर सकते है ऐसे

पुरुष इस लोकमे अति बिरले है।

ज्ञानियोंकी विरलताकी बातपर शिवपथमें अनुत्साह न लानेका अनुरोध—इस बिरलेपन को सुनकर कही चित्तमें यह हिम्मत न हारना चाहिए कि ऐसे पुरुष बिरले ही हैं तो हमारा नम्बर क्या आयेगा। मनुष्योकी संख्याको निहारकर यदि यह कह दिया जाय कि १०-५ हजार पुरुष तो सम्यग्दृष्टि होगे, यथार्थ वैराग्य भावना वाले होगे तो यह झूठ भी नही है। अरबो खरबो मनुष्योकी तुलनामे १०-५ हजार बिरले ही कहलाते हैं। जैसे आज यह कहा जाय कि हिन्दुस्तानमे ऐसे पुरुष बिरले ही मिलेंगे जो मास नही खाते हैं। शायद १ प्रतिशत ही लोग ऐसे होगे। तो जरा जल्दी सुनकर कुछ विश्वास नही होता कि १०० मे दो चार ही लोग खाते हैं। लेकिन जरा अपने देशके ही सभी जिलोमे दृष्टि डाल कर देखलो तो यह समझमे आ जायेगा कि १ प्रतिशत तो बहुत कहा, पाव प्रतिशत भी न बैठेगा। हजारमे एक ऐसा मिलेगा जो मासभक्षी न हो। तो एक व्यापक दृष्टिको देखकर यदि कुछ जन यथार्थ पथ पर चलने वाले होमे तो वे भी बिरले ही तो है।

सकल जनोंकी सम्मतिसे हित निर्णयकी अशक्यता—लोगोको तो बहु सम्मति पसंद होती है जो अधिक राय हो उस पर चलना चाहते हैं। तो अब बतलावो अधिक राय ज्ञानियोकी मिलेगी या अज्ञानियोंकी? वोट लेकर देखलो। आप कोई काम करना चाहते हों, भाई हमारा तो प्रोग्राम है कि साधु दीक्षा लें और आत्मध्यानमे रत रहे। जरा वोट ले लो अपने रिस्तेदारोकी। दूसरोको तो पडी क्या है, वोट दें या न दें। वे तो मजाक करके यही कहेंगे बन जावो साधु। उनकी कोई वोट नही है। वोट तो हृदयको कहते हैं। पहिले रिस्तेदारोंसे पूछ लो-कितने लोग इसके लिए राजी होते है। अपने घर वालोसे पूछ लों। तो कुछ अपने उद्धारके लिए दुनियाके लोगोकी प्रवृत्तिको निरखकर हम क्यो अपना निर्णय कुछ बनायें, क्योकि खोटी सम्मति देने वाले प्रायः सब हैं, पर आत्महितकी सम्मति देने वाले बिरले ही हैं। हम ज्ञानियोके सम्पर्कसे और ज्ञानी संतोके इन वचनोंसे अपने आपका अपने विचारसे निर्णय बनाये और जो आत्महितकारी विशुद्ध पथ है, ज्ञान और वैराग्यका उत्पादक है उस पथपर चलें और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन मोटे पापोंसे दूर रहनेका तो जीवन बनाये, इससे ही हम आत्मध्यानके पात्र हो सकते हैं।

यै सुप्तं हिमशैलशृङ्गसुभगप्रासादगर्भान्तरे,
पल्यङ्के परमोप धानरचिते दिव्याङ्गनाभि सह।
तैरेवाद्य निरस्तविश्वविषयैरन्त स्फुरज्ज्योतिषि।
क्षोणीरन्ध्रशिलादिकोटरगतैर्धन्यैर्निशा नीयते ॥३७५॥

ध्याता योगीश्वरोंकी ज्ञानसे अपूर्व लगन—ध्याता योगीश्वर मुनि अवस्थासे पहिले

कैसी सुकुमारता और विषयसाधनोंमें रहते थे उसका वर्णन इस छन्दमे इसलिए किया जा रहा है कि यह विदित हो जाय कि आत्मध्यान कितनी उत्कृष्ट साधना है कि ऐसे-ऐसे सासारिक सुखोका भी परित्याग करके आत्मध्यानके लिए इतने बाहरी क्लेश सहे जा रहे हैं। जिन्होने पूर्व अवस्थामे हिमालयके शिखर समान सुन्दर महलोमे बड़े उत्कृष्ट कोमल और सुगधित रची हुई शय्यापर शयन किया था और बड़ी आज्ञाकारिणी प्रियंवदा रमणियोंके साथ जिन्होने अपना समय सुखमे बिताया था ऐसे ही पुरुष अब संसारके विषयोको दूर करके अन्तरङ्गकी ज्ञानज्योति स्फुरित हो जानेसे पृथ्वीमे, पर्वतोंमें, गुफावोमें, शिलावोंपर, वृक्षोकी कोटरोमे निवास करके रात बिताया करते है। धन्य है उनकी आत्मसाधनाकी धुन कि ऐसे आरामको तजकर ऐसी जगह निवास करके आत्मध्यान करते हैं जहां साधारण पुरुषोसे रहा भी नही जा सकता। आत्मध्यान कोई ऐसी उत्कृष्ट विभूति है कि बड़े पुण्यवंत पुरुषोको, बडे भाग्यशाली महापुरुषोको, बड़े बडे विषयोके साधनोंमें भी इस आनन्दकी धुन के कारण चित्त नही लगा, और सब कुछ परित्याग करके ऐसे निर्जन स्थानमे रहकर धर्म-साधना किया करते हैं, पर्वतोकी गुफावोमे जहाँ शेर, रीछ, चीता आदिक अनेक हिंसक जानवरोका आवागमन रह सकता है, जिस चाहे जगहसे भयंकर विशैले सर्प निकल सकते हैं ऐसी जगहमे ध्यान करके कोई विलक्षण आनन्द ही तो लूटा जा रहा है जिसके कारण अब ये ध्याता योगीश्वर ऐसे विषम संकटपन स्थानमे आत्मध्यान कर रहे है। भला वृक्षो की कोटरोमे जहाँ सर्प गुहा आदिक विषैले जानवरोका निवास रहा करता है वहाँ ही ये ध्याता योगीश्वर विलक्षण आत्मीय आनन्द पा रहे है। तो कोई आत्मध्यान उत्कृष्ट तत्त्व ही तो है कि सुन्दर महलोके निवासको तजकर और राजपाटकी विभूतिको छोडकर एक आत्मध्यानके लिए इस प्रकार वृक्षकी खोह आदिकमे निवास करके अपनेको निर्मल बना रहे है, उन योगीश्वरोको धन्य है।

चित्ते निश्चलतां गते प्रशमिते रागाद्यविद्यामये,
विद्राणेऽक्षकदम्बके विघटिते ध्वान्ते भ्रमारम्भके।
आनन्दे प्रविजम्भिते पुरपतेर्ज्ञाने समुन्मीलिते,
त्वा द्रक्ष्यन्ति कदा वनस्थमभित. पुस्तेच्छया श्वापदा ॥३७६॥

कल्याणस्वरूपकी प्रतीक्षा—हे आत्मन्! अपने लिए यह सोच कि ऐसा वह कौन-सा समय आयगा जिस समय मेरे मनमें निश्चलता उत्पन्न होगी और रागादिक अज्ञान रोगोमे शान्तता आ जायगी। वह क्षण धन्य है जिस क्षण मेरे मनमे ऐसी संतुलित वृत्ति बनेगी कि मन तो निश्चल रहेगा और रागद्वेष अज्ञान, मोह ये सब रोग उपशान्त हो जायेगे। ऐसे क्षण प्राप्त हों तो वे क्षण धन्य हैं। मोही जीव मन चाही विभूतिके मिलने

पर, स्त्री पुत्रादिकके मिलनेपर बडी खुशी मनाते है। अरे वे तो और भी संसारमे फसानेके साधन हुए। धन्य समय तो वह है जहाँ सबसे विविक्त ज्ञानमात्र अपने आपके आत्मस्वरूप का ध्यान बना रहे। वह क्षण धन्य होगा, जिस क्षण ये इन्द्रियोके समूह विषयोमे प्रवृत्ति न करेगे और धर्मको उत्पन्न करने वाला यह अज्ञान अधकार नष्ट होगा। भ्रम दूर हो, अज्ञान दूर हो, इन्द्रियोके विषयोमे आशक्ति न हो। ऐसी शुद्ध वृत्ति जिस क्षण जगे वह क्षण धन्य है। क्षण तो अनन्त व्यतीत हुए, अनन्त व्यतीत होगे। अब तकके व्यतीत हुए समयोमे हमने कोई भी समय ऐसा तो नही पाया जिस क्षणको पाकर संसारकी समाप्तिका फैसला हो जाय, अथवा पाया भी होगा तो फिर कुछ जाल ऐसा लग जाता है कि सम्यक्त्वका भी घात हो गया लेकिन एक बार सम्यक्त्वके प्रकट होनेपर यह तो निश्चित ही है कि निकट कालमें ही समस्त सकटोसे दूर होकर कैवल्यका आनन्द प्राप्त करेगे। वह क्षण धन्य है जिस क्षण इन्द्रियके समस्त विषयोमे प्रवृत्ति न करे और अज्ञानका अधकार दूर हो जाय। उस क्षणकी प्रतीक्षा करें और उस क्षणके आभारी बनें जिस क्षण ऐसा आत्मज्ञान प्रकट हो जो आनन्दका विस्तार करता हुआ बने।

आत्मज्ञान और शुद्ध आनन्दके विस्तारमें अभिन्न सम्बन्ध—आत्मज्ञान और शुद्ध आनन्दके विस्तारमे परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। निर्विल्प आत्मतत्त्वका उपयोग चल रहा है। निर्विकल्प आत्मतत्त्वका उपयोग चल रहा है और वहाँ आनन्द प्रकट न हो, सकट रहे यह कभी हो नही सकता। यह शुद्ध ज्ञानस्वरूप, यह शुद्ध ज्ञानविकास शुद्ध आनन्दस्वरूप को लिए हुए है। जिस क्षण ऐसा उज्ज्वल ज्ञान चमके और आनन्दका अनुभव बने, ऐसा क्षण धन्य है। कब ऐसी स्थिरता बने कि अपने आपको अपने देह तकका भी भान न रहे, ज्ञानमात्र अनुभव करते हुए निर्भार शुद्ध प्रकाशमय अपनेको लखते रहे, और इस स्थिरता के कारण वनमे चारो ओरसे हिरण आदिक जानवर इस मुझ मूर्तिकी कायको ऐसा निश्चल देखकर ऐसा समझ ले कि यह तो कोई ठूठ खडा है अथवा कोई चित्र लिखित मूर्ति है या कोई पाषाणखण्ड है ऐसा समझकर इस मुझको देखे और अति निकट आकर अपने शरीरकी खाज खुजालें। इस पर्यायको दृष्टिमे रखकर कहा जा रहा है कि इस देहको दृढ समझकर खाज खुजाने लगें। ऐसा समय आये तो वह समय धन्य है। वह क्षण धन्य है जिस क्षण इस निश्चल मूर्तिमे ध्यानस्थ होगे। और समझिये कि वही वास्तविक हमारा जीवन है और उद्धारका समय है। यो तो विषयोकी और विषयोके अनेक साधनोकी खबर रखते हुए, उपभोग करते हुए अनन्तकाल व्यतीत हो गया, अब नवीन जीवन नवीन क्षणकी प्रतीक्षा कीजिए। कब वह समय आये कि मेरा उपयोग एकदम पल्टा खाये और संसारकी ओर पीठ करके इस मुक्त स्वरूपकी ओर अपनी दृष्टि बने, वह समय धन्य है। वही समय

संकटोंसे छुटाने वाला है।

> आत्मन्यात्मप्रचारे कृतसकलवहि:संगसन्न्यासवीर्या
> दन्तर्ज्योति:प्रकाशाद्विलयगतमहामोहनिद्रातिरेकः।
> निर्णीते स्वस्वरूपे स्फुरति जगदिदं यस्य शून्यं जडं वा।
> तस्य श्रीबोधवार्धेर्दिशतु तव शिवं पादपङ्क्रेरुहश्रीः ॥३७७॥

ज्ञानलक्ष्मीका अनुपम प्रसाद—जिसके आत्मामे अपने आपके स्वरूपका प्रवर्तन है, अपनी क्रिया, दृष्टि, आकर्षण, आशक्ति कही बाह्यकी ओर नही है, किसी परपदार्थमें प्रवृत्ति नही है और बाह्यपरिग्रहोके त्यागसे एव अन्तरङ्ग ज्ञानज्योतिका प्रकाश होनेसे जिसका महा मोहरूपी निद्राका उत्कर्ष नष्ट हो गया है, जिसको स्वरूपका निश्चय होनेसे यह जगत शून्य की तरह विदित हो रहा हैं अथवा जडकी तरह प्रतिभास रहा है ऐसी ज्ञान लक्ष्मी हम सबको मुक्ति प्रदान करे। वास्तविक लक्ष्मीकी उपासनासे ही इस जीवका उद्धार है। सारे दारिद्रोको यह ज्ञानलक्ष्मी ही निवृत्त करनेमे समर्थ है। लोकमें रूढि है कि धनार्थी लोग जिस किसी भी रूपमें लक्ष्मी की कल्पना करके उसकी साधना करते है, यह जड़ वैभव क्या किसीकी साधनासे प्राप्त होता है। यह तो सब पुण्यके उदयसे प्राप्त होता है और इस वैभवकी बात तो ज्ञानियोकी दृष्टिमे दु खरूप है। इन ठाठबाटोसे आत्माका क्या पूरा पड़ सकता है। केवल रुलना, वहकना ये सब स्थितिया चलती हैं। वास्तविक लक्ष्मी तो ज्ञान लक्ष्मी है जिसका प्रसाद हो जाय अर्थात् ज्ञानमें निर्मलता बन जाय तो सदाके लिए संसारके समस्त सकटोको यह लक्ष्मी दूर कर सकती है। जड़ पदार्थोकी वाञ्छा करके अपने आपके अनन्त आनन्दकी निधिको खो देना यह कितनी बडी दरिद्रताका काम है। ऐसी दरिद्रताको यह ज्ञानलक्ष्मी नष्ट कर सकती है।

ज्ञानलक्ष्मीकी उपासनासे प्राप्तव्य शुद्धानन्दके लाभका आशीर्वाद—स्वरूपके निश्चय होने से यह जगत शून्यकी तरह मालूम होता है। जगत क्या है? कुछ नही है। जो कुछ दिख रहा है यह सब क्या है? माया है। इसमे कुछ भी वास्तविकता नही है। इसका आधार क्या है? है यधपि द्रव्यस्वभाव मूलमे किन्तु जो कुछ यह दृश्य बन गया है ये समस्त द्रव्य तो मायारूप है, विनाशीक हैं। जैसे केलाके पेडको छीलते जाइये, पत्ते अलग होते जायेंगे, सारभूत कुछ भी तना न मिलेगा। सब पत्तोका समूह है, पत्ते बिखर गए वृक्षका खात्मा हो गया। तो जैसे केलेके पत्तेमे सार कुछ नही है ऐसे ही इन सब दृश्य समागमोके पंख उखाड़ते जाइये, इनकी चिन्तना करते जाइये तो इनमे सारपना क्या है, ये सब भिन्न है, जड है, इनकी ओर दृष्टि देनेसे आकुलता ही बढती है, ऐसे ये असार

परिग्रह इस ज्ञानी जीवको न कुछ जंचते हैं। ज्ञानीकी दृष्टिमे प्रतिष्ठा ही नही पाते हैं इस कारण यह जगत ज्ञानी जीवको शून्यकी तरह मालूम होता है अथवा सब कुछ जड नजर आता है। ये जीव हाथ पैर चलाने वाले, यहाँसे वहाँ दौड़ लगाते, अनेक क्रियायें करते फिर भी जो कुछ दिख रहा है, जो कुछ बन रहा है वह सब जड़ ही तो है। एक शुद्ध चैतन्यस्वभावको दृष्टिमे लेकर उसे ही मात्र चेतना समझकर इन समस्त चीजोको केवल जडकी तरह निहारता है। ऐसी ज्ञान लक्ष्मीका जब उदय होता है तो अन्तरङ्गमे एक विशिष्ट आनन्द उत्पन्न होता है। वह आनन्द प्रकट हो ऐसा अनन्त योगीश्वरोंने जगतके प्राणियोको आशीर्वाद दिया है।

आत्मायत्तं विषयविरसं तत्त्वचिन्तावलीनं,
निर्व्यापारं स्वहितनिरतं निर्वृतानन्दपूर्णम्।
ज्ञानारूढं शमयमतपोध्यानलब्धावकाशं,
कृत्वाऽऽत्मानं कलय सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम् ॥३७८॥

आत्माको आत्माधीन करनेका स्मरण—हे आत्मन्! यदि तुझे ससारके संकटोंसे छूटकर अनन्त आनन्दका ही अनुभव करते रहनेका प्रोग्राम है तो देख प्रथम तो तू अपने आपको पराधीनतासे छुड़ाकर स्वाधीन बना। यह सबसे पहिली बात है करने की' जिसे निर्वाण चाहिए, प्रभुता चाहिए उसका कर्तव्य है कि सर्वप्रथम वह अपनेको स्वाधीन तो अनुभव करे। जब तक यह आत्मा सबसे निराले एक अपने आपके स्वरूपको नही निहार सकता है तब तक वह मुक्तिका पात्र ही नही है। तो सर्वप्रथम तू अपने आपको आत्माधीन बना। यह सब एक ज्ञानप्रकाशसे ही सम्भव है। जहाँ ही माना कि मुझे अमुक परिवारसे सुख है और इन सबकी मैं रक्षा करता हू, ऐसी ही कल्पनाए जगी कि अपने आपको पराधीन बना लिया। जगतके सभी जीव स्वतंत्र है मैं भी स्वतत्र हू, प्रत्येकका स्वरूप अपने आपके प्रदेशमे है। किसीके प्रदेश किसी अन्यमे प्रयुक्त नही होते हैं, अतएव सर्व पदार्थ स्वतत्र है, ऐसी स्वाधीनताका निर्णय करनेसे ही अपने आपको स्वाधीन बनाया जा सकता है। किसी द्रव्यको किसी द्रव्यका स्वामी, कर्ता भोक्ता निहारा तो समझो कि अभी हमारी दृष्टि शुद्ध सहज स्वाधीन सत्त्वमे नही गई। हम कैवल्य अवस्था प्राप्त कैसे कर सकते हैं? जिन्हे कैवल्य स्थितिकी अभिलाषा हो उनका प्रथम कर्तव्य है कि वे अपने आपको पराधीनतासे छुटाकर स्वाधीन बनायें।

आत्माको विषयविरक्त, तत्त्वचिन्तनलीन, निर्व्यापार, स्वहितनिरत, निर्वृतानन्दपूर्ण व ज्ञानारुढ करनेका अनुरोध—उपयोगमे स्वाधीन बननेके पश्चात् फिर दूसरा कदम होना चाहिए कि अपने को इन्द्रियके विषयोसे विरक्त करें। वस्तुविज्ञान प्राप्त करनेका फल यही

है कि इन्द्रिय विषयोमें रुचि न रहे। तो दूसरा कदम होगा ज्ञानी पुरुषका यह, कि इन्द्रियके विषयोसे विरक्त रहे। ये इन्द्रियविषय नाना प्रकारसे बहकाते है, किन्तु ज्ञानका ऐसा दृढ प्रताप बने, कि इन इन्द्रियविषयोंके बहकाये हम न बहक सकें। तीसरा कदम होना चाहिए कि तत्त्वके चिन्तनमे लीन हो जायें। ये जगतके समस्त पदार्थ कैसे है, वास्तवमे इनमें भी कौनसा स्वरूप है जो स्वरूप कभी भी मिटता नही है, ऐसी अपने आपके अन्त स्वरूपकी दृष्टि बनाये और ऐसे अन्तस्तत्त्वके चिन्तनमे अपनेको लीन करें तो यह कदम हमारे मोक्ष मार्गमे साधक होगा। चौथा कदम रखिये सांसारिक व्यापारोसे रहित होकर निश्चलता रखनेका। तत्त्वचिन्तनका वह प्रताप है कि वह तत्त्ववेदी सांसारिक वृत्तियोमे नही उलझता और उन सांसारिक व्यवसायोसे अपने आपको पृथक् करके निश्चल बना रहा। ५ वां कदम यह होना चाहिए कि स्वहितमें लग जाय। जैसे अनेक बार विषयोमें प्रवृत्तिकी उमंग रहती है ऐसी ही धुन अपने आपके हितके लिए बने। मेरा किसमे कुशल है, मेरे आत्माकी उन्नति किस प्रसंगसे है इन सब बातोंका स्पष्ट निर्णय रखें और अपने हितमें लगें। छठा कदम होना चाहिए—अपने आपको निवृत्त बना लें। जैसे निवृत्तिमे क्षोभ-रहित आनन्दकी परिपूर्णता प्रकट होती है ऐसा विशुद्ध आनन्दमय अपने आपको बनानेका यत्न करें। यह यत्न होगा अपने आपके स्वरूपको क्षोभरहित निहारने से। मेरे स्वरूपमे क्षोभ है ही नही ऐसा दृढ निर्णय होनेसे बाह्यमे भी आकुलता और प्रतिकूलतावोसे क्षोभ नही आ सकता। ७ वा कदम हो अपने आपको ज्ञानमे आरूढ करें, अपनी दृष्टि प्रवृत्ति ज्ञानमें लगी हुई रहे कोई पूछे कि तुम्हे क्या चाहिए तुमको जो चाहिए वही हम दें। तो क्या मांगें? सामने एक ओर रखदें रत्न और एक ओर रखदें खलीके टुकडे और कहा जाय कि तुम्हे क्या चाहिए, जो मांगो सो मिलेगा और मांग बैठे खलीके टुकड़े तो उसकी कैसी दयनीयस्थिति कही जाय? ऐसी ही संसारी प्राणियोकी स्थिति है कि निकट तो है अनन्त आनन्द और जो केवल ज्ञानसे ही प्राप्त होता है। जिसके प्राप्त होनेमे भी कोई श्रम नटखट नही करने होते फिर भी उस आनन्द निधिको न मांगकर केवल एक विषयसुखोकी प्रीति रखे तो उसकी यह कितनी मूढता भरी कल्पना है।

शम, यम, तप और ध्यानका आधार—हे आत्मन्! यदि मुक्तिकी अभिलाषा है तो तू ज्ञानमे आरूढ़ बन। इतनी तैयारी जब हो जाती है तब शम, यम, दम, तप और ध्यान की इसके दृढता होने लगती है, कषाये शान्त हो जाती हैं। सदैवके लिए यम उत्पन्न होता है। अर्थात् मैं इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें ही रहूं। मेरा ऐसा निर्णय है, मेरी ऐसी प्रतिज्ञा है, मेरा ऐसा हठ है, मेरे आशयमें अब कोई दूसरी बाते नही आ सकती ऐसा जिसका यम बन गया है, इन्द्रियका दमन करना जिसको अति आसान हो गया है, तपश्चरण तो यो ही

सहज चलता रहता है, ऐसी जब दृढस्थिति होती है तो फिर इस आत्माका दिव्य बोध प्रकट होता है। ज्ञान चमत्कार उत्पन्न होनेका मूल साधन इतना है कि अपने आपको निर्मल बनायें। यों दिव्यबोध अर्थात् केवलज्ञानका अधिपतित्व चाहिए तो अपने आपको इन आठ पद्धतियोमे लगा दें तो अवश्य ही निज भगवान आत्माके प्रसादसे कैवल्यकी सिद्धि हो सकती है।

दृश्यन्ते भुवि किं न ते कृतधिय सख्याव्यतीताश्चिरं।
ये लीला परमेष्ठिन प्रतिदिन तन्वन्ति वाग्भि. परम्।
त साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशि पुन–
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति पुरुषा धन्यास्तु ते दुर्लभाः ॥३७९॥

परमेष्ठिभक्तिमें अमरत्वका अनुभव—ध्याता योगीश्वरोकी प्रशंसा करने वाले इस अधिकारको पूर्ण करते हुए कहते है कि इस लोकमे परमेष्ठियोके नित्यप्रति वचनोंसे बहुत काल पर्यन्त प्रभु लीला स्तवनको बडे विस्तारसे करने वाले और स्तवन करके अपने को कृत बुद्धि मानने वाले क्या अनगिनते नहीं हैं ? है, किन्तु नित्य परम आनन्द अमृतकी राशिको साक्षात् अनुभव करके अर्थात् परमेष्ठी परमात्माके उस अनन्त ज्ञानानन्दस्वरूपका अनुभव करके जो ससारके भ्रमको दूर करते है, अपने जन्मके भ्रमको दूर करते हैं वे पुरुष दुर्लभ हैं और ऐसे ही पुरुष धन्य हैं। आत्मा तो ध्रुव है, प्रत्येक पदार्थ ध्रुव है। इस अविनाशी आत्मतत्त्वकी दृष्टिमे तो यह निश्चित है कि आत्मा नष्ट नही होता और ऐसे ही आत्माको आत्मा मानने पर यही उपयोग अमरत्वका अनुभव कहलाता है। मैं अमर हू। अपने अमर स्वरूपको अनुभवमे ले तो यह आत्मा अमर है। जैसे कोई कथनमे ऐसी वात आती है कि अमुक ने अमरफल खा लिया तो अमर हो गया। वह अमरफल क्या चीज है ? वस्तु जो आत्मस्वरूप है, स्वभाव है, अविनाशी तत्त्व है वह ज्ञानमे आये तो अमर हुआ समझिये। कोई औषधि अच्छी मिल गयी और उससे वह दुर्वल नही हो सका, बीचमे नही मर सका, बडी आयु पूर्ण करके ही मरा तो इतने मात्रसे तो अमर नही कहलाता। अपने आत्माका अमरत्वस्वरूप ध्यानमे रहे तो वह अमर है। और इस दृष्टिसे उसका फिर जन्म नहीं है। जन्मका क्रम समाप्त करने के लिए अन्तरङ्गमे बहुत ज्ञान-बल चाहिए। जो किसी भी वाह्य पदार्थसे अपना हित अथवा सुख मानता हो, उनमे ममता रखता हो तो ऐसे संस्कारमे, ऐसी दृष्टिमे आत्माके अमरस्वरूपका उपयोग नही रहता और फिर वहाँ मरणकी कोई वात चर्चामें आने पर इसे क्षोभ होने लगता है। जिन्होने मोहको मूलसे नष्ट किया, अपने आत्माके स्वतंत्रस्वरूपका जो प्रत्यय रखते हैं वे पुरुष अपने आपमे अमरत्वका अनुभव कर सकते हैं।

परमेष्ठिभक्तिमें स्वभावानुभवकी प्रेरणा—परमेष्ठीकी भक्तिका अर्थ ही यह है कि जो परमेष्ठीका स्वरूप है उस रूपमें अपने आपका स्वभाव है यह तथ्य है, ऐसे निर्णयसहित अनुभवन करना सो ही वास्तवमें परमेष्ठी भक्ति है। तो वचनोंसे बहुत-बहुत काल तक परमेष्ठीका स्तवन करने वाले, गान तान संगीतसे भक्ति प्रदर्शित करने वाले तो अनेक लोग है परन्तु परमेष्ठी तो नित्य परम आनन्दस्वरूप है और इस दृष्टिके साथ-साथ अपने भी स्वभावका स्पर्श होता रहे इस शैलीसे ध्यान करने वाले, भक्ति करने वाले पुरुष दुर्लभ हैं और ऐसे ही पुरुष धन्य है अथवा इस कालमे ऐसे ध्याता योगीश्वर नही है तो भी जो सिद्ध का स्वरूप है वह स्वरूप है, जो ध्यातावोका स्वरूप है वह स्वरूप है। उसकी चर्चा सुनने से और ऐसे ध्याता योगीश्वरोके ऐसे गुणोंपर ध्यान जाने से अपना मन पवित्र होता है और उसके विरुद्ध मिथ्यात्व आदिका विनाश होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रको धारण करके तथा कषायोंकी शान्तिमे, इन्द्रियके दमनमें और जैसे आत्मा शान्ति पथपर चल सके उस प्रकार अपनेको नियंत्रण करनेमें जो चित्त देकर ध्यान करते हैं, अपने मनको रोकते है, एक आत्मस्वभावमे मन स्थिर करते है वे मनुष्य मोक्षको प्राप्त करते हैं।

सुप्रयुक्तै स्वय साक्षात्सम्यग्दृग्बोधसंयमैः।
त्रिभिरेपावर्गश्रीर्घनाश्लेषं प्रयच्छति ॥३८०॥

सुप्रयुक्तरत्नत्रयकी साधनासे अपवर्गश्रीका आश्लेष—भली प्रकार प्रयोग किए गए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनके द्वारा अर्थात् तीनकी एकता होने से मोक्षलक्ष्मी आत्माको घनाश्लेष प्रदान करती है अर्थात् रत्नत्रयकी अभेद साधनासे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। ध्यानके सम्बन्धमे ही अब ध्यानके क्या अंग है, इस रूपसे वर्णन किया जा रहा है। ध्याता पुरुषको कौन-कौनसी संभाल करना है, किन किन अङ्गोंका साधन करना है जिससे परम ध्यान बन सके। इस प्रकरणमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की साधना बतायी जा रही है और उसमे प्रथम सम्यग्दर्शनकी साधनाका वर्णन होगा, इसके बाद सम्यग्ज्ञान की साधनाका और फिर सम्यक्चारित्रकी साधनाका वर्णन होगा। यह एक अधिकार रूप श्लोक है। ध्याताके अंग, ध्यानके अग मुख्य तो ये रत्नत्रय है। अपने सहजस्वरूपका श्रद्धान हो, निज सहज स्वरूपमे रमण हो इस शैलीसे जो आत्माका पुरुषार्थ होता है, उस पुरुषार्थसे परम ध्यानकी सिद्धि होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रकी एकता ही मोक्षका मार्ग है, यह श्लोकमे बताया है, उसका कारण कहते है।

सैरेव हि विशीर्यन्ते विचित्राणि बलीन्यपि।
दृग्बोधसंयमै कर्मनिगडानि शरीरिणाम् ॥३८१॥

रत्नत्रयके बलसे कर्मविशरण—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनके

द्वारा नाना प्रकारके बलवान कर्मरूपी बेडिया टूटा करती हैं। निश्चयसे कर्म नाम तो आत्मा के द्वारा जो क्रिया जाय, जो विभाव परिणमन किया जाय उसका नाम है और इस कर्मके होने पर जो ज्ञानावरणादिक रूपसे कार्माणवर्गणाये परिणाम जाती है उनका नाम कर्म हुआ व्यवहारसे। जब जीव अपने आत्माका शुद्ध श्रद्धान करता है, जैसा सहजस्वरूप है अपने आप परकी अपेक्षा बिना आत्मपदार्थका स्वय जो कुछ स्वभाव है, स्वरूप है उस रूपमे अपने आपकी श्रद्धा करता है और उस ही रूपमे अपने आपकी जानकारी रखता है और उसही रूप दृष्टि बनाये रहनेका पुरुषार्थ करता है, ऐसा ही ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थिरता बनाता है तो ऐसे परिणामोके समय विभाव नही होते है और फिर विभावनामक जो द्रव्य-कम बँधे हुए थे वे भी निर्जीर्ण हो जाते हैं तथा विभाव झड जाते हैं, होते ही नही। यो द्रव्यकर्म भी झड जाते हैं, तब यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि सम्यक्के दर्शनसे, सम्यक्के ज्ञानसे और सम्यक्के अनुरूप आचरणसे बलिष्ठ और विचित्र कर्मोके बन्धन टूट जाते है और इससे ही मुक्ति प्राप्त होती है। अत मुक्तिका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता ही है।

त्रिशुद्धिपूर्वक ध्यानमामनति मनीषिण।
व्यर्थ स्यात्तामनासाद्य तदेवात्र शरीरिणाम्॥३८२॥

उत्तम ध्यानकी रत्नत्रयविशुद्धिपूर्वकता—विद्वान् पुरुषोने दर्शन ज्ञानचारित्रकी शुद्धता-पूर्वक ही ध्यानको माना है। जहाँ श्रद्धान निर्मल हो, ज्ञान निर्मल हो, आचरण निर्मल हो ऐसी स्थितिमें परमध्यान बनता है। इस कारण रत्नत्रयकी शुद्धि पाये बिना जीवके ध्यानकी सिद्धि नही होती। क्योकि रत्नत्रयके विरुद्ध जो कुछ भी ध्यानादिक साधनाए हैं वे मोक्ष फलके अर्थ नही हैं। वे सासारिक सिद्धियोके लिए है। किसीने श्वास निरोधका चमत्कार लोगोको दिखा दिया तो उसका प्रयोजन या तो धनार्जनका होगा या कीर्तिका होगा। ऐसे ध्यानसे मोक्षफलकी प्राप्ति नहीं होती। जिसे मुक्त होना है उसका सही स्वरूप न जाने और यह भी श्रद्धामे न आये कि जिन चीजोसे हमे अपने को मुक्त करना है उन तत्त्वोसे छूटे रहनेका मेरा स्वभाव है तो मुक्तिका उपाय कैसे बनेगा? मैं उस स्वभावरूप नही हू। ऐसी श्रद्धा होगी तभी तो छूट सकनेका यत्न होगा और छूट सकेंगे। किसी भी प्रकार हुआ हो, यह आत्मा जो परतत्त्वोमे लगा है, परिणत है, वे समस्त परतत्त्व मेरे सत्त्वमे नही हैं, मेरे स्वरूपमें नही हैं, अतएव वे हट सकते हैं, ऐसी श्रद्धाके साथ फिर ऐसी ही धारणा बने और ऐसे ही केवल निज आत्मतत्त्वको निरखा जाय तो इस निरखमे आत्माकी उपयोग-विशुद्धि बढती है और कैवल्यका विकास होने लगता है।

रत्नत्रयकी ध्यान मुख्याङ्गता—उत्तम ध्यानके लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-

चारित्र ही मुख्य अङ्ग है। भले ही किसी सीमा तक चित्तके रोकनेके लिए अन्य उपाय किए जायें—जैसे किसी बिन्दुपर बहुत देर तक दृष्टि स्थिर करने का अभ्यास बढाना या अन्य-अन्य जो जो उपाय हो ध्यानाभ्यासके लिए किए जायें किन्तु फल तो वही होगा जैसा आशय होगा। विशुद्ध आशय है तो ध्यानाभ्यासकी साधना भी मुझे सहकारी बनेगी और विशुद्ध आशय नही है तो ध्यानाभ्यासके अनेक प्रयत्न भी मेरी शान्तिके साधन नही बन सकते है। तो रत्नत्रयकी शुद्धि हुए बिना, प्राप्ति हुए बिना ध्यान करना व्यर्थ है, अर्थात् उस ध्यानसे मुक्ति की सिद्धि नही है अतएव इस सभालमे अपने को लगाये कि मैं क्या हू, मेरा सहज स्वरूप क्या है, ऐसा ही जो एक सहजस्वरूप विदित हो, ज्ञानानन्दस्वरूप केवल ज्योतिपुञ्ज सबसे न्यारे अपने आपके स्वरूपमे जो विदित हुआ यह परिचय होगा अद्भुत आनन्दके अनुभवके साथ। जो इसही तत्त्वकी धुन बनाये उसके ध्यान साधना सुगम हो जाती है। उपाय करना चाहिए अपने आपके शुद्धस्वरूपको जाननेका।

रत्नत्रयमनासाद्य यः साक्षाद्ध्यातुमिच्छति।
खपुष्पैः कुरुते मूढः स बन्ध्यासुतशेखरम् ॥३८३॥

रत्नत्रयकी प्राप्ति बिना उत्तमध्यानकी असंभवता—जो पुरुष साक्षात् रत्नत्रयको न पाकर ध्यान करनेकी इच्छा करता है अर्थात् आत्मध्यान, आत्मसिद्धि, विशुद्ध आत्मलाभकी इच्छा करता है वह मूढ पुरुष मानो आकाशके फूलोको बंध्यास्त्रीके पुत्रके सिरपर रखनेके लिए सेहरा बनाता है। अर्थात् जैसे न तो कोई बंध्याका पुत्र है, जिसमे पुत्र होनेकी शक्ति ही न थी ऐसी बध्याके पुत्रकी बात कही जा रही है, वह तो अभावरूप है और फिर उसके लिए सेहरा बनाया जाय आकाशके फूलोंका। आकाशके फूल भी अभावरूप है अर्थात् यह बात तथ्यहीन है कि रत्नत्रयको छोडकर कोई ध्यान करे और वह आत्मलाभ पाये। रत्नत्रय से ही परम ध्यान बनता है और उससे आत्मलाभ होता है। यो कहिये कि रत्नत्रय ध्यान और मुक्तिका साधनभूत है, रत्नत्रयके पाये बिना उत्तमध्यान व मोक्ष हो ही नहीं सकता। हम अपने आपका सही निर्णय बनायें तब हमारी प्रगति शान्तिप्राप्तिके काममे चल सकती है। जिसे शान्ति देना है उसका ही पता नही और क्या देना उसका भी पता नहीं, जिसका कुछ निर्णय ही नही उसके लिए ध्यान क्या? जैसे कोई बालक किसीको देखकर हँसे, उसे हँसता देखकर दूसरा हँसे, दूसरेको हँसता देखकर तीसरा हँसे, यो हँस तो सब रहे है पर उनसे पूछा जाय कि किस बात पर हँसी आयी, तो वे उत्तर क्या देंगे, कोई उसका उत्तर उनके पास नही है। कोई ज्यादा डाट डपटकर पूछे तो कह देंगे—साहब ये हँसे सो हम हँस गए। तो जैसे वह निराधार हंसी है ऐसे ही समझिये कि अपने आपका स्वरूप जाने बिना और मुझे अपनेमे करना क्या है, पाना क्या है, यह सब कुछ जाने बिना धर्मके नाम पर

कुछ भी प्रक्रिया की जाय वह बालकोंके हँसने जैसी प्रक्रिया है। करना क्या चाहते हैं, होगा क्या, हो क्या रहा है, इसका कुछ पता ही नही, ध्यान साधनामे लग रहे है तो यह ध्यान साधना नही हुआ।

आत्मपरमार्थ प्रयोजन व सरल उद्देश्यके निर्णयके बिना मोक्षमार्गणकी अपात्रता—विवेकी पुरुष कुछ काम करते हैं तो उनका प्रयोजन कोई सुदृढ अवश्य होता है। प्रयोजनके बिना कोई लोग कार्य नही करते हैं। धर्मसाधना जैसा काम करना है तो उसका सही प्रयोजन तो बना लो। अजी बना लिया प्रयोजन। धर्म करने से स्वर्ग मिलेगा, देव होंगे, धर्म करने से घरके सब लोग सुखसे रहेंगे, कुल चलेगा, परिवार सम्पन्न रहेगा। चाहे ये सब बाते हो चाहे न हो, पर इतनी बात तो हम सामने ही देखते हैं कि इन धर्मक्रियावोंके करने से समाजमे इज्जत तो मिल ही जाती है, तो क्या यह कम बात है, ऐसा ही जिसने फल बनाया तो जितना बनाया उतना मिल भी जाय और न भी मिले दोनो बातें हैं, क्योकि न वहाँ यथार्थ धर्म रहा और न धर्मका यथार्थ प्रयोजन रहा। तो पहिले यह निर्णय होना चाहिए कि मैं क्या हू, मुझे क्या करना है, मेरा क्या स्वरूप है और किस तरहसे मेरा उद्धार है, कल्याण है, शान्तिलाभ है, सब निर्णय अपना रखना चाहिए। यदि एक शब्दमे इन सब बातोका निर्णय चाहते हैं तो यो कह लीजिए कि जहाँ पराधीनताका अश है वहाँ उद्धार नही है। इस बातको दिखावटी पराधीनताओंसे निर्णय न बनायें। जैसे कोई सम्पन्न है, विषयसाधन सामग्री बहुत विस्तृत है, खूब किराया आता है, कोई चिन्ता नही है, परिवारका भली प्रकार गुजारा होता है वहाँ कोई सोचे कि मैं स्वाधीन हूं तो वह अभी स्वाधीन नही है। किसीकी ओर तो चित्त है, किसीसे राग तो है, किसीको प्रसन्न करने की अभिलाषा तो है, किसीको कुछ अपना नाम बताने की इच्छा तो है, वे सब पराधीनताएँ है। जब अपने आपमे अपने ही द्वारा, अपने ही लिए, अपने से ही अपनी समृद्धिमे बना रहे तो ऐसी स्थितिको स्वाधीन स्थिति कह सकते है। परविषयक कुछ भी अभिलाषा जगना ऐसे स्थितिमे चाहे पुण्यप्रतापसे कुछ भी वैभव हो स्वाधीनता नही कही जा सकती है। यथार्थ स्वाधीनता सम्यक्त्व जगने पर ही परिचित होती है और प्रकट होती है। इस कारण यथार्थ शान्तिलाभ पानेके लिए हमे अपने आपके स्वरूपका यथार्थ परिचय और प्रत्यय रखना चाहिए। इसी कारण अब इस अधिकारमे सम्यक्त्वके सम्बन्धमे वर्णन चलेगा।

तत्त्वरुचि सम्यक्त्वं तत्त्वप्रख्यापकं भवेज्ज्ञानम्।
पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रमुक्तं जिनेन्द्रेण ॥३८४॥

सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्रका निर्देशन—जिनेन्द्र भगवानने तत्त्वकी रुचिको तो सम्यक्त्व कहा है और तत्त्वका यथार्थ ख्यापन करना, अपने उपयोगमे प्रसिद्ध करना यह

ज्ञान कहा है, और पाप कार्यसे निवृत्त होने को चारित्र कहा है। ध्यानके अंगोमें मुख्य तीन अग है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जैसे बाह्यरूपसे लोग ध्यानके ८ अंग कहते हैं—प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, यम आदिक यहाँ अन्तर्दृष्टिसे ध्यानके अङ्ग तीन बताये है। सम्यक्त्व न हो तो ध्यानके लिए उत्साह नही हो सकता। यदि सम्यग्ज्ञान नहीं है तो ध्यान किसका किया जाय, और उसमे स्थिरता न हो तो ध्यान कैसे बने ? आत्माकी प्रतीति होना सम्यक्त्व है आत्मस्वरूपका उपयोग होना सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्वरूपमे स्थिरता हो उसका नाम चारित्र है। तो ये तीन प्रकारकी आत्मस्थितियाँ हुईं, वहाँ उत्तम ध्यान बनता है। सर्वप्रथम तो आशय निर्मल रखनेका यत्न रखना चाहिए। जब हम मोक्ष के मार्गमे लगना चाहते है तो हमारा किसीसे लाग लपेट न होना चाहिए। जो विशुद्ध मार्ग है, जो आत्महितकी दृष्टि है जिसके अवलोकनसे अनुभवनसे हमारी कषाये ढलती है, निराकुलता प्राप्त होती है, यही हमारा कर्तव्य है। न हमारा कोई यहाँ मित्र है, न शत्रु है, न अपना है, न पराया है। मेरा तो मात्र मैं हू। ऐसा सच्चानिर्णय रहे तब उसको उत्तम ध्यानकी बात आ सकती है। तो ध्यानके अङ्गोमे जिनेन्द्रदेवने जो तीन अंग कहे हैं अर्थात् उनकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे जो आगममें बताया है वह आत्मस्वरूप है।

> यज्जीवादिपदार्थानां श्रद्धानं तद्धि दर्शनम्।
> निसर्गेणाधिगत्या वा तद्भव्यस्यैव जायते ॥३८५॥

सम्यग्दर्शनका निर्देशन—जीवादिकका श्रद्धान करना सो दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन निसर्गसे उत्पन्न होता और परोपदेशसे उत्पन्न होता है। होता है भव्य जीवके। जिन्होने पूर्वकालमे उपदेश पाया है, संस्कार बनाया है उन्हे इस भवमे भी बिना परोपदेश मिले, बिना अन्य निमित्त मिले निसर्गसे ही सम्यग्दर्शन हो जाता है। और, किन्हीको परोपदेशसे जिनबिम्बदर्शनसे या वेदनानुभवसे अनेक कारणोको पाकर सम्यक्त्व हो जाता है। सब बात एक लगनकी है। अपने आपमे आत्मकल्याणकी लगन न हो और पापक्रियावोमे ही रति मानते रहे, पापोसे विरक्ति न जगे तो कुछ उद्धार की सभावना ही नही है। सबसे ऊँची बात बस इस रत्नत्रयमे ही मिलेगी। अपने आपमे सही श्रद्धान हो और आचरण विशुद्ध हो। इस जगतका क्या है ? न हो अधिक सम्पदा तो आत्माका क्या बिगडा और हो गयी सम्पदा तो आत्माका क्या पूरा पडा। यह तो जगत है। आज ऐसी स्थिति है और कल न जानें कौनसा भव धारण करना पडे। न सम्हले तो हीनभव ही मिलेगा। तो सम्पदा प्राप्त हुई, समागम प्राप्त हुआ तो कौनसी भलेपनकी बात हो गयी। मान लो यहाँके लोगों ने बडा बडा कह दिया तो आखिर मोहियोने ही तो बड़ा बडा कहा। ज्ञानी तो धन के कारण किसी को बडा नही मानता। धन वैभव बाहरी समागमोंके कारण कोई बडा

मानता हो तो मोही, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी ये ही लोग मान सकते है।

उपसर्गमें कर्मनिर्जरणकी का वार्ता—भैया! अज्ञानियोसे यदि बडा कहलवाने की चाह हो तो धन सम्पदाकी भी वाञ्छा कीजिए। रही यह बात कि इसका दु ख लोगो को रहता है कि लोकमे हमारा अधिक सम्मान नही है। सब कुछ पैसेके बल पर सम्मान होता है, तो यह भी एक तपश्चरण है, क्या? कि अज्ञानीजनोंके द्वारा सम्मान न हो रहा हो तो उसका खेद न करना। आप समझ सकते हैं ना कि इस स्थितिमे कर्मनिर्जरा भी कर सकते हैं। और तो बात क्या, जो सधर्मीजन हैं, अपने ही धर्मके मानने वाले लोग है, सधर्मीजन यदि अपमान करें और उस अपमानको समतासे सह लें तो इसे कर्मनिर्जराका कारण कहा है। तो यह बात तो भलेके लिए है। जिनके विवेक है उनके लिए सब संयोग वियोग भलेके लिए है। जिनके विवेक नही है उनके लिए सयोग वियोग सब पतनके लिए है। मुख्य बात विवेककी चाहिए। अपने आत्मामे लगनेकी चाहिए। शुद्ध बोध होनेमे किसका लगाव रखा जाय, जो राग करने वाले, राग दिखाने वाले परिजन, बन्धुजन मित्रजन है वे क्या है? एक तरहका जैसे सनीमाके पर्देपर चित्र उकेरे जाते, खेल देखते हैं इस तरह इस आसमान पटपर यह बिल्कुल सनीमा सा दिख रहा है। कौन किसका है, सब भिन्न हैं, मायास्वरूप है, किनमे लगाव रखना। आत्मकल्याणकी धुन जब तक सही मायनेमे नहीं बनती तब तक धर्मकी बात जगती नही है। ज्ञानप्रकाश होने पर असली ऊब आ जाती है सासारिक बातो से और इस ही लगनकी जड पर सब बात बनती है।

क्षीणप्रशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात्।
तत् स्याद्द्रव्यादिसामग्र्या पुंसा सद्दर्शन त्रिधा ॥३८६॥

क्षायिक, क्षायोपशमिक व औपशमिक सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका निमित्त कारण—यह सम्यग्दर्शन तीन प्रकारका है—क्षायिकसम्यक्त्व, उपशमसम्यक्त्व, और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। मोहनीयकर्मके जो सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतिया हैं-मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, इनका क्षय होनेसे क्षयिक सम्यक्त्व होता है। इसका उपशम होनेसे, दबनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभका उदयाभावी क्षय व उपशम और एक सम्यक्प्रकृतिका उदय होनेसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अथवा वेदकसम्यक्त्व होता है। निमित्तदृष्टिसे सम्यक्त्वके ये भेद कहे गये हैं। प्रकृति मोहके उपशमसे प्रकृति दर्शनमोहका उपशम चलता है। द्रव्य दर्शन मोहकी अवस्था द्रव्यदर्शनमोहमे है। कही वह अवस्था मुझमे नही आयी, किन्तु ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जिस कालमे यह उपशम है उस कालमे यह सम्यक्त्व होता है। और उसमे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी विधि बनती है। हमारा जो कुछ भी परिणमन

है एक वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे निरखा जाय तो कुछ भी परिणमन हो औपाधिक निरुपाधि सब कुछ परिणमन उसके स्वरूपके परिणमनसे होता है।

विभावपरिणमनमें निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी स्वातन्त्र्यका सद्भाव—यह जगत इन्ही दो बातोका तो मेल है जहाँ स्वतत्रता भी पूर्ण है और अशुद्ध परिणमनके लिए निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी बन रहा है। जैसे भगवानकी दिव्यध्वनि सहजस्वभावसे होती है, दूसरेकी आधीनता बिना होती है इसके लिए दृष्टान्त दिया है समतभद्रस्वामीका कि मृदंग बजाने वालेके हाथसे पीडित हुआ मृदग उसमेसे जो आवाज निकलती है वह मृदग अपनी आवाज प्रकट करने के लिए किसी कीं अपेक्षा नहीं करता। यद्यपि स्थूल दृष्टिमे ऐसा लगता है कि बजाने वाले ने न थपथपाया होता तो आवाज कहाँसे निकलती। तो यह बात तो मान ली गयी कि बजाने वाले ने बजाया तो आवाज निकली किन्तु मृदगमे से जो शब्द परिणमन हुआ तो अब किसकी अपेक्षा करे। इसको गहरी दृष्टिसे देखना होगा। कर्मोंका उदय आया ठीक है आ गया। अब उस कालमें जो यह जीव क्रोधरूप परिणम गया सो क्रोधरूप परिणमते हुए इसने किसी की अपेक्षा नही की। यह स्वयकी परिणतिसे क्रोधरूप परिणम रहा है। वहाँ जो निमित्त हुआ, ठीक है वह घटना, उसका खण्डन नही परन्तु परिणमन जितना जो कुछ होता है चाहे उपाधिके सद्भावमे हो, उपाधिके स्वरूपको ग्रहण किए बिना ही परिणमन होता है। यह वस्तुमे उत्पाद व्यय ध्रौव्यका स्वभाव वस्तुके कारण पडा हुआ है निमित्त होने पर भी निमित्तका परिणमन ग्रहण करके निमित्तका द्रव्य गुण पर्याय लेकर उपादान परिणमन नहीं करता। प्रत्येक अवस्थामे प्रत्येक पदार्थ अपने ही परिणमनसे परिणमता है। यह एक विधि है कि इस तरहका संयोग हो तो इस तरह परिणम जाय। यह निमित्तनैमित्तिकका विधान है किन्तु परिणमन सबका अपने आपके अकेले से ही होता रहता है। दो द्रव्य मिलकर एकरूप नही परिणमा करते। जब यहाँ सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियोका उपशम है तो उसका निमित्त पाकर यह जीव अपने ही परिणमनसे औपशमिक सम्यक्त्वरूप परिणमन रहा है। जब क्षय-आदिक है तब क्षायिक आदि रूप परिणमन रहा है। तो यह निमित्त दृष्टिसे वर्णन है।

अध्यात्मदृष्टिसे आत्माकी समीचीनताकी उद्भूतिकी पद्धति—अध्यात्मदृष्टिसे यह जीव ज्ञानोपयोगसे जब एकत्वस्वरूपको जानकर उस एकत्वस्वरूपके जाननमे ही अपना उपयोग लगाता है तो निरालम्ब होनेके कारण, उपयोग मे परकी अपेक्षा न रखनेके कारण इसके एक निर्विकल्प अनुभूति जगती है। निर्विकल्प अनुभूति है उसका सम्बन्ध स्वसे रहता है, क्योंकि परका सम्बन्ध हो तो वहाँ निर्विकल्पता नही होती। यो निर्विकल्प स्वकी अनुभूतिके साथ जो एक शुद्ध प्रकाश अनुभवमें आया बस उस अनुभवके साथ सम्यग्दर्शन होता

है। स्वके अनुभव बिना किसी भी पुरुषको सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हो सकता। सम्यक्त्व उत्पन्न होनेके बाद चाहे वह कभी स्वका अनुभव न रखे, परका ज्ञानोपयोग रखे यह बात जुदी है, पर जिस क्षण सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तब सम्यक्त्व सहज आत्मतत्त्वके अनुभवके साथ ही उत्पन्न होता है। अपने आपके सहजस्वरूपकी रुचि जगना इसे सम्यक्त्व कहते है। तत्त्वकी रुचिका नाम सम्यग्दर्शन है।

भव्य पर्याप्तक संज्ञी जीव. पञ्चेन्द्रियान्वित ।
काललब्ध्यादिना युक्त सम्यक्त्व प्रतिपद्यते ॥३८७॥
सम्यक्त्वमथ तत्त्वार्थश्रद्धानं परिकीर्तितम् ।
तस्यौपशमिको भेद' क्षायिको मिश्र इत्यपि ॥३८८॥

सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके पात्र—सम्यक्त्वका कौन ग्रहण करता है जो भव्य जीव हो, पर्याप्त हो, संज्ञी हो, पञ्चेन्द्रिय हो, वह काललब्धि आदिकसे युक्त होता हुआ सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। भव्य सम्यक्त्वको प्राप्त करता है, अभव्य नहीं करता ऐसी बात सुनकर कुछ ऐसा लगने लगता होगा कि इतनी कड़ी यह व्यवस्था क्यो बनायी गयी है। भव्य ही सम्यक्त्व प्राप्त करे अभव्य न प्राप्त करे। व्यवस्था बनायी नहीं गयी, जो बात सहज जैसी है वह बतायी गई है। यह एक विशेषता है जैनदर्शनमे कि जैनदर्शन इस बातको पसद करता है कि जो बात हो उसे कहा जाय। कभी मिलजुलकर कोई बात बनायी जाय, कानून बनाया जाय, कुछ रचना बनाई जाय, ऐसा नहीं। जो हो उसे कहना चाहिए, इसको अधिक पसद किया। अधिक बल तत्त्वनिरूपणमे जैनशासनने यह दिया है कि जो जैसा हो उसका वैसा श्रद्धान करना, उसका ज्ञान करना, उसके अनुसार अपना उपयोग रखना बस यही मोक्षका मार्ग है। पदार्थमे पदार्थका जो ध्रुवस्वरूप है उसमे भी जो नवीन परिणमन होता है और पुराना परिणमन विलीन होता है यह सब पदार्थका स्वरूप है। सब कुछ दृष्टि रचना सब पदार्थोंका पदार्थोंपर ही छोडा गया है। तो जो जीव ऐसे हैं कि कभी सम्यक्त्व प्राप्त न करेगे और सम्यक्त्व प्राप्त होनेकी पात्रता भी न पा सकेंगे ऐसे भी जीव हैं। और जो सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी पात्रता रखते है, चाहे सम्यक्त्व पायें या न पायें ऐसे भी जीव होते हैं। तो जो ऐसे हो वे भव्य है, जो ऐसे नहीं हैं वे अभव्य है। भव्य जीव ही सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं। जो जीव लब्ध्यपर्याप्तक है अर्थात् जन्म लिया और शरीर भी बननेकी पूरी शक्ति नहीं आ पायी और मर गए, ऐसे छोटे-छोटे मरने वाले जीवोंके सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता। अथवा निर्वृत्त्य पर्याप्तकी स्थितिमे भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता। मन ठीक बन जाय, शरीर रचनाकी शक्ति आ जाय, कुछ इस भवको कहने सुननेका सत्त्व तो बने जिसे लोग कहे कि हाँ कुछ हुआ। ऐसी पर्याप्त अवस्थामे सम्यक्त्व होता है। जो मन

सहित जीव है वे ही सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते है।

अपनी वर्तमान योग्यताका सदुपयोग करनेका उत्साह—सम्यक्त्वकी पात्रताके वर्णन को सुनकर अपने आपका ख्याल लायें कि हमने ये सारी बाते प्राप्त की है। अब प्रमाद करते है तो हम अपने ऊपर यह बडा अपराध करते है। क्या नही मिला ? सब योग्यता तो मिल गयी। अब भी यदि हम आत्महितकी रुचि नही बढाते तो हम अपने आपपर अन्याय कर रहे हैं, अपना जन्ममरण ससार बढा रहे है। चीजे तो सब प्राप्त करली योग्यताकी, जिनका यदि उपयोग करे तो संसारके संकटोसे छूटने का हम उपाय बना सकते है। यदि कुछ सम्पदा प्राप्त हो गयी तो क्या प्राप्त हो गया। वह तो तृणवत् असार है। कुछ लोगोको दिखाने पोजीशन बनाने की बात हो तो किसका नाम पोजीशन और किसको दिखाना, यहाँ कोई हमारा प्रभु नही है, हमारी सुनाई करने वाला नही है, और पोजीशन भी क्या है ? यह तो सब विडम्बना है। ये नाक, आँख, कान आदिक सभी लग गए तो यह कोई पोजीशनकी बात है क्या ? इन सब बातोसे विरक्ति हो, अपने आपकी रुचि हो तब ही अपने हितकी बात बन सकती है। खुद जरा कमजोर हो अपने ज्ञानबलमे और संगति मिलती है मोहियोकी अधिक तो उससे विडम्बना वनती है। खुद यदि समर्थ है तो काम बने या कुछ अनायास ही चिर काल तक सत्संगति रहे तो उसके प्रतापसे अपनेमे बल बढ़े, तो भी कुछ सिद्धिकी बात चल उठे लेकिन खुद कमजोर हो ज्ञानबलमे और सगति मिले मोहियोकी तो कैसी इच्छा जगेगी ? जैसी अन्य मोहियोकी इच्छा होती है उस प्रकारकी इच्छा जगेगी और इच्छा विकारके जगनेसे आत्मामे सर्व पतन अनर्थ होने लगते हैं। बड़ी जिम्मेदारीकी बात है। कुछ बल पाया है तो जो चाहे कर लेना बडा आसान सा लगता है। कोई भी विषय भोग लेना, कुछ भी बात कर लेना, गरीबोको सता लेना, अनेक और और बातें कर लेना बडा आसान लगता है, लेकिन इसका क्या परिणाम होगा, इसकी ओर दृष्टि न दे यह भलाईकी निशानी नही है।

अपमान उपसर्गोको विरासत माननेकी ज्ञानशक्ति—ऐसा ज्ञानबल जगना चाहिए कि हे प्रभो ! यदि कुछ अपमानकी स्थितियाँ उत्पन्न हुई है तो वे भी मेरे लिए भेट हैं, उपहार हैं, इससे मेरा विगाड क्या है, बल्कि शिक्षा मिली है। एक आत्मामे वल प्रकट हुआ है। सहज शक्तिका उदय हुआ है, परवस्तुवोसे लोगोसे उपेक्षा करनेकी प्रकृति बनी है, नही तो सन्मान सन्मानमें और अनुकूल वातावरणमें रागके मारे मरे जा रहे थे। यदि अपमान मिल रहे हैं तो यह मेरे लिए एक वडे उपहारकी चीज है। हममे सहनशक्ति जग रही है। हममे उपेक्षाभाव जगने लगा है, वह सामर्थ्य प्रकट हुआ कि ऐसा साहस वन गया कि जगतमे जितने भी जीव हैं सभीके सभी मनुष्य यदि एक साथ निन्दा करे, अपमान करें

इतने पर भी उनकी चेष्टाके कारण मेरा कुछ भी विगाड नही है। न होता मैं इस मनुष्य भवमे, अन्य किसी भवमे होता तो यहाँके सव कुछ मेरे लिए क्या थे ? तो विवेकी पुरुषोके लिए सभी स्थितिया भलेके लिए है। कहाँ क्या विगाड। यदि दरिद्रता है, विशेष सम्पदा नही है तो यह भी हमारे लिए एक विरासतकी स्थिति है।

स्वहितके लिये परोपेक्षाकी अनिवार्यता— भैया ! यदि हित चाहते हो जितना जो कुछ वैभव होता उस सारेको लीपना पडेगा। उनकी व्यवस्था वनाना, चिंता करना, हिसाव लगाना और उसीके अनुपातसे ही, उसी पोजीशनके अनुसार कल्पनाएँ वनाना और जव ऊँची कल्पनाएँ वन जाती है तो जरा-जरा सी वातमे अपमान समझनेकी स्थिति वनने लगती है तो वे सव झझट है। मेरा क्या विगाड ? न कोई मुझे जानने वाला हुआ तो। ऐसे अनगिनते मुनि हुए है जिनको उनके समयमे कोई जानता भी न था, लेकिन वे भी मुक्त हुए। उनके आनन्दमे और तीर्थंकरके आनन्दमे कोई अन्तर है क्या ? उन अपरिचित मुनियोकी समृद्धिमें और परिचित मुनियोकी समृद्धिमे कुछ अन्तर है क्या ? एक विशिष्ट उपयोग जगता है विवेकी पुरुषमे और इसी कारण सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी भी परिस्थितिमे घवडाता नही है। स्वय अपने आपको निर्दोष सत्पथगामी होना चाहिए, उसको फिर कही भी क्लेश नही है। जो होता हो उसका यह ज्ञाता द्रष्टा रहे तो जो विवेकी जीव है वही सम्यक्त्वको प्राप्त कर सकता है। पञ्चेन्द्रिय तो होगा ही। पञ्चेन्द्रियके विना मन तो होता ही नही। तो ऐसा समर्थ आत्मा काललब्धि आदिक सामग्री मिलने पर सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। और, उस सम्यक्त्वमे ७ तत्त्वोका यथार्थ श्रद्धान है, और निमित्त दृष्टिसे वह सव श्रद्धान ३ प्रकारका कहा है—औपशमिक, क्षयिक और क्षायोपशमिक। यह सव योग्यता अपने आपमे है। थोडा अपने आपको अपने कल्याण की दृष्टिसे निहारना चाहिए और आशय निमल रखनेका यत्न करना चाहिए।

सप्ताना प्रशमात्सम्यक् क्षयादुभयतोऽपि च।
प्रकृतीतामिति प्राहुरतत्त्रैविध्य सुमेधस ॥३८६॥

सम्यक्त्वका स्वरूप—मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति तथा अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन ७ प्रकृतियोके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व, क्षय होने से क्षयिक सम्यक्त्व और कुछ क्षय कुछ उपशम होने से तथा सम्यक्प्रकृतिका उदय होनेसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्वकी निमित्त दृष्टिसे प्ररूपणा है। सम्यक्त्व तो विपरीत अभिप्रायरहित आत्माका स्वरूप है। जहाँ भ्रम पूर्ण आशय नही रहा, जैसा सहजस्वरूप है उस प्रकारके निर्णयकी दृढता है, रुचि है उसे सम्यक्त्व कहते हैं। यह जीव सम्यक्त्वके ही विना चतुर्गतिमे भ्रमण कर रहा है। जब जिस पर्यायमे पहुंचा उस पर्यायके

समागमको अपना सर्वस्व मान लेता है और इसी कल्पनाके कारण दु खी रहता है। आत्मा का तो आनन्दस्वरूप है, दु खका तो कोई काम ही नही है। लेकिन आनन्दस्वरूप आत्मामें न तो ऐसी रुचि है, न ऐसा प्रकाश है, न ऐसा आचरण है। अपने स्वभावसे भ्रष्ट होकर व्यर्थ ही बाह्य पदार्थोंमे जो आकर्षण चलता है बस यही दु ख का हेतु है। किसी पदार्थको अपना माने, उसका सचय करे उसमे प्रीति रहे तो क्या है ? तब भी भिन्न है उन्हे भिन्न समझें तो भिन्न है ही। ज्ञानमे भिन्न हो गया तब वहाँ कल्याण है। मोहमे अकल्याण है। कुछ तत्त्व नही निकलनेका। उस मोहका विनाश होनेसे सम्यक्त्व प्रकट होता है। जसे किसी भीतको रगड कर स्वच्छ बना दिया जाय और उस पर रगका चित्र बनाया जाय तो जिस भीतको स्वच्छ बनाया गया है उसे कहेगे—भीत समीचीन हो गयी है, निर्दोष हो गई है। इसी तरह अपने आपके मंथनसे, चिन्तनसे, अनुभवनसे विपरीत आशयसे रहित हो जाना है उसे सम्यक्त्व कहते है।

एक प्रशमसवेगदयास्तिक्यादिलक्षणम् ।
आत्मन शुद्धिमात्रं स्यादितरच्च समन्तत. ॥३९०॥

सम्यक्त्वमें प्रकटभूत चिह्न—ये सम्यक्त्वके चिह्न है-प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य, किन्तु इन रूप जो प्रकट भाव है वह सराग सम्यक्त्वमे होता है। वीतराग सम्यक्त्वमे तो एक आत्माकी शुद्धि मात्र है। वहाँ न आस्तिक्यका प्रकट विकल्प है, न प्रशम, सवेग, अनुकम्पाका प्रकट विकल्प है। इनका परिपाक है।

कोई अपराध करे उस अपराधपर क्षोभ न आना किन्तु धीरता गम्भीरतासे कुछ निर्णय करना, समतापरिणाम रखना, दूसरेको शत्रु न समझना यह सब प्रशम भावमे होता है। सम्वेग भावमें आत्मगुणोमे अनुराग और संसार शरीर भोगोसे वैराग्य, इस प्रकारका जो प्रवर्तन है यह सम्वेग भाव है। इसी प्रकार प्राणियोपर दयाका भाव होना, उन्हे उपदेश देना, उनको हितमार्गमे लगाना, उनको अज्ञानग्रस्त निरखकर या सासारिक कष्टोको देखकर चित्तमे दयाका परिणाम होना ये भी सरागसम्यक्त्वके चिह्न है। जो पदार्थ जिस तरह है उस तरहसे ही है इस प्रकारका निर्णयरूप जो एक सकल्प है वह भी सराग सम्यक्त्वका चिह्न है। विकल्प तरग कल्पनाएँ कुछ भी एक भेदरूप बात बनती है तो वहाँ वह रागका ही एक परिणाम है। वीतराग सम्यक्त्वमे आत्माकी विशुद्धि मात्र है। सबसे निराले ज्ञानमात्र निज अतस्तत्त्वका अनुभवन वीतराग सम्यक्त्वमें है। पर इसका परिच्छेदन यह वीतराग सम्यक्त्वमे नही है, यह बात किसी न किसी रागाशको लेकर ही होती है। भले ही रागाश साथ है लेकिन सम्यक्त्वको सराग कहना यह एक उपचार कथन है। सम्यक्त्व राग सहित नही होता। सम्यक्त्व तो एक आत्माकी सिद्धि है, किन्तु आत्माकी

सिद्धिके साथ कुछ रागरहित सम्यक्त्व होने पर जब तक राग रहता है ऐसे सरागी जीवके सम्यक्त्वको सराग सम्यक्त्व कहते हैं। ध्यानके अग तीन बताये गए—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। जब तक अपने आपके आत्माका सही स्वरूपमे विश्वास न होगा तब तक ध्यान किसका करे ? यहाँ वहाँके बाह्यपदार्थोका ध्यान करनेसे तो कुछ आत्माको लाभ नही मिलता। रागद्वेषका ही उदय चलता है। सही रूपमे अपने आत्माका श्रद्धान हो तो उसका ध्यान निर्मल बन सकता है। ध्यानके अङ्गोमे प्रधान प्रथम सम्यग्दर्शन अङ्गकी बात चल रही है। यह सम्यग्दर्शन पात्रके भेदसे दो प्रकारका है। एक सराग सम्यक्त्व और एक बहिरङ्ग सम्यक्त्व।

द्रव्यादिकमथासाद्य तज्जीवै प्राप्यते क्वचित्।
पञ्चविंशतिमुत्सृज्य दोषास्तच्छक्तिघातकम् ॥३९१॥

सम्यग्दर्शनमें शंकादिक दोषोंका अभाव— यह सम्यग्दर्शन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीको प्राप्त होकर तथा सम्यग्दर्शनकी शक्तिके घात करने वाले २५ दोषोको छोडनेसे यह प्राप्त होता है। योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी प्राप्ति होने पर सम्यक्त्व होता है। निर्मल सम्यक्त्वमे पच्चीसो दोष नही हुआ करते। शका आदिक ८ दोष, जिनवचनोमे शका करना, अपने स्वरूपमे सदेह होना, भय होना ये शंका एव दोष है। धर्मधारण करके भोगो की वाञ्छा करना, मुझे अमुक प्रकारके आराम भोग विजय प्राप्त हो, इनके लिए यात्रा जाप आदिक करना, इनको करके भोग वाञ्छा करना वाञ्छादोष है। साधुजनोकी भक्त पुरुषोकी सेवामे घृणा रखना ग्लानि करना यह निर्विचिकित्सा दोष है। ये सम्यग्दर्शनके दोष है। इन दोषोके रहनेपर सम्यक्त्वकी विशुद्धि नही होती। सम्यक्त्वका लाभ भी नही होता। कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुवो की देखकर, उनका ढाल चाल चमत्कार निरखकर उनमे आदर बुद्धि जगना यह मूढ दृष्टि दोष है। किसी धर्मात्माके दोषोको प्रकट करना अर्थात् धर्मकी अप्रभावना करना, धर्मका लांछन व्यक्त करना ये सब अनुपगूहन दोष हैं। इनसे खुदका भी और दूसरोका भी अनर्थ होता है। धर्मकी श्रद्धासे दूसरे भी चिग जाते है धर्म लाछनोको सुनकर। सो अनुपगूहनसे अन्य जीवोको भी हितसे वञ्चित रखा जाता है। अनुपगूहनका दूसरा नाम है अनुपबृंहण। अपने गुणोकी वृद्धिमे उत्साह न रहना ये सम्यक्त्वके दोष है। धर्मात्माजनोको निरखकर प्रेमका भाव न उमडना किन्तु ईर्ष्या द्वेषका ही आशय रखना यह सम्यक्त्वका दोष है। धर्मात्मा पुरुष किसी प्रकरणमे विचलित हो बनाये रहे हो तो उन्हे हर सम्भव उपायोंसे सहयोग देकर उन्हे धर्ममे स्थिर करना सो तो स्थितिकरण है और डिगते हुएको और डिगा देना, उनको स्थिर न करना यह दोष है। अपने दुराचारोसे अथवा अन्य विरोधी कर्तव्योसे धर्मकी अप्रभावना फैलाना यह सम्यक्त्वका दोष है।

सम्यग्दर्शनमें मद, अनायतन, मूढतादिक दोषोंका अभाव—इसी प्रकार ज्ञान, प्रतिष्ठा, कुल, जाति, बल, रूप आदिक पाकर उनका मद करना, मैं सबसे श्रेष्ठ हू यह दोष है। ऐसे भावमे सम्यक्त्व उत्पन्न नही होता। कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु और इनके सेवक इनका आदर रखना, आस्था करना ये सब अनायतन है। ये सम्यक्त्वके दोष है। लोगोमे धर्मके नामपर जो कुछ भी बात प्रचलित है उस रूढ़िमें बहना। जैसे कोई समुद्रमे, नदीमे नहानेमे धर्म मानते, कोई पर्वतसे गिरनेमे धर्म मानते, कोई ढेलोंको इकट्ठा करके या उन ढेलोके ढेरमे एक ढेला फेंक देने पर धर्म मानते, ऐसी धर्मके बारेमे जो रूढ़ियां चल रही हैं उनमे तत्त्वका निर्णय तो कुछ न करे और उसीमे ही बह जाये यह भी सम्यक्त्वमे दोष है। जो कुगुरु है, पाखण्डी हैं उनमे अपना पूजा भाव, आदर भाव करना सम्यक्त्वके दोष है। जो देव नही है, कुदेव हैं उनमे देवत्वका भाव करना सम्यक्त्वका दोष है। ऐसे इन सब दोषोसे रहित सम्यक्त्व हुआ करता है।

सम्यक्त्वकी शरणरूपता—सम्यक्त्वमे केवल अपने सहज स्वरूपका ध्यान और ऐसा ही स्वरूप जिनके प्रकट हो गया है ऐसे परमेष्ठीका भान होता है, भगवान आत्मा अरहंत परमेष्ठी इनके स्वरूपका श्रद्धान करना यह भाव जगता है और ऐसा ही भाव जगने पर जीवको निर्विकल्पताकी उत्पत्ति होती है। यह दृश्यमान संसार तो मायाजाल गोरखधधाकी तरह है। जैसे गोरखधंधेमे जितने चलें, उलझते जायेगे अथवा जैसे मायाजाल देखनेमे तो बडा सुहावना लगना है, पर वह विडम्बनाको उत्पन्न करने वाला है, ऐसे ही ये समस्त समागम जिनमे लोग भूल रहे हैं और मोहवश कुछको अपना मान रहे है बाकीको गैर मान रहे है, अपने पाये हुए पुद्गल ढेरसे बडी आस्था बना रहे है, यह सब पापभाव है और इन परिणामोसे संसारमे जन्म मरण करनेका बन्धन चलता है। सम्यक्त्वके समान इस जगतमे कोई उपकारी तत्त्व नही है, न कोई शरण है, अपना ही सम्यक्त्व भाव, अपना ही ज्ञानभाव, अपनेमे ही अपनेको लगानेका पुरुषार्थ यह तो शरण है, बाकी अन्य कोई तत्त्व शरण नही है। भले ही पुण्यके प्रभावसे यहाँ बहुत बडे-बडे लोग बडे सुखी नजर आये, लेकिन वह पुण्य मायारूप है और ये लोकके पोजीशन भी माया रूप है। सत्य आनन्द तो आत्मा जब अपने स्वभावमे रत होता है तब प्राप्त होता है।

मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषा. पञ्चविंशति ॥३९२॥

सम्यक्त्वमें निर्दोषताका बल—ये २५ सम्यग्दर्शनके दोष कहे है—३ मूढता, ८ गर्व, ६ अनायतन और शंका आदिक ८ दोष ये २५ सम्यग्दर्शनके दोष कहे हैं। जिनको अभी बताया था ये सम्यक्त्वके दोष है और इनके विपरीत अर्थात् अपने आपकी ओरका लगाव

ये सब गुण है । निःशंकता रहना, इच्छारहित, ग्लानिरहित रहना, विशुद्ध ज्ञानप्रकाशवान अपने गुणोकी वृद्धिमे उत्साह रहना, अपने गुणोमे, प्रभुके गुणोंमे वात्सल्य होना, अपनेको चलायमान न रखना और अपने आपमे अपने प्रतापको उन्नत करना, प्रभावित करना ये सब सम्यक्त्वके गुण हैं। देव, शास्त्र, गुरुमे ही भक्ति जगे और देव शास्त्र गुरुके सेवक सम्यग्दृष्टिजनोमे ही प्रीति जगे, अन्यत्र आस्था न रहे ये सम्यक्त्वके गुण हैं। जो पुरुष विपरीत अभिप्रायसे परे हो जाते हैं उसमे ये सब गुण अनायास प्राप्त हो जाते हैं।

जीवाजीवास्रवा बन्ध सवरो निर्जरा तथा ।
मोक्षश्चैतानि सप्तैव तत्त्वान्यूचुर्मनीषिण ॥३६३॥

सम्यक्त्वमें श्रद्धेय जीवादिक सात तत्त्व—सम्यक्त्वके विषयभूत ये ७ तत्त्व है–जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष । इनमे संसार, ससारका मार्ग, मोक्ष और मोक्षका मार्ग ये सब आ जाते है। ससारको भी समझना तत्त्वकी बात है। संसारमार्गको भी समझ लेना यह भी तत्त्व है। मोक्ष और मोक्षमार्गको समझ लेना यह भी तत्त्व है। ये समस्त भेद केवल एकमे नही उत्पन्न होते। कमसे कम दो होने चाहिएँ, तब वहाँ भेद विवरण सब कुछ बनता है। तो इन ७ तत्त्वोंके मूलमे २ चीजें हैं—जीव और अजीव। जब जीवमे अजीव आता है तो वह आस्रव है। जीवमें अजीव बंधता है तो वह बंध है। जीवमे अजीव न आ सके वह संवर है। जीवमे पहिले आये हुए अजीव झड जायें सो निर्जरा है और जीवमे अजीव सब अलग हो जायें, केवल जीव ही जीवस्वरूप रह जाय वह मोक्ष है। जीवका स्वरूप शुद्ध ज्ञायक है। उस ज्ञायकस्वरूप जीवके ज्ञायकस्वरूप भावसे विपरीत रागद्वेष आदिक भावोंको अपने उपयोगमे लगाना आस्रव है और उन अजीवोंमे रागादिक भावोमे अपनेको रमाना, परम्परा कायम रखना यह बंध है। जीवमे रागादिक विकार नही हैं ऐसा विशुद्ध उपयोग करके रागरहित अपनेको अवलोकन करना यह सवर है और ऐसी स्थितिमे उसके संस्कार मिटना सो निर्जरा है और जब यह जीव केवल अपने ही गुणोके विकासमे परिपूर्ण है, समस्त परतत्त्वोका अभाव होता है, अपने ही सत्त्वके कारण सहज जो अपने आपमे बात बन सकती है, वही रह जाय इसीका नाम मोक्ष है। ये जीवादिक ७ तत्त्व सम्यक्त्वके विषयभूत हैं इनके यथार्थ श्रद्धानमे सम्यक्त्व प्रकट होता है।

अनन्त सर्वदा सर्वो जीवराशिर्द्विधास्थित ।
सिद्धेतरविकल्पेन त्रैलोक्यभुवनोदरे ॥३६४॥

जीव और जीवके भेद—इस तीन लोकरूपी भुवनमे जीवराशि सदाकाल अनन्त है। यह तो प्रथक्-प्रथक् व्यक्तिगत अपने स्वरूप तत्त्वकी दृष्टिसे अनन्त जीव हैं। उन समस्त अनन्त जीवोको केवल एक जीवत्वस्वरूपकी दृष्टिसे देखा जाय तो जीव एक है और व्यवहार

नयका आश्रय करके पर्यायावलम्बन करके इन जीवो को निरखा जाय तो इसके भेद प्रभेद करते जाइये। बहुत हो जाते है। जैसे- ससारी और मुक्त ये दो प्रकारके जीव होते हैं, एक वे जो ससारी है, संसारमे भ्रमण करते है, एक वे जो मुक्त है, सांसारिक संकटोंसे छूट चुके है। सिद्ध और संसारी इन दो प्रकारके जीवोको जानकर यथार्थस्वरूपका इनका निर्णय करने पर हेय और उपादेयकी बुद्धि स्वयं जग जाती है। संसारी होना हेय है, सिद्ध होना उपादेय है। अपने ही गुणोसे समृद्धिशाली बन जाना यह उपादेय है और अपने गुणोका घात करके मलिन आशयमे बना रहना यह हेय है। एक पदार्थ उतना होता है जितने मे एक पदार्थ व्यापकर रहता है, जिससे बाहर वह नही रहता है। जो एक है उसमे स्वभाव एक है, परिणमन एक है। उस एकके परिणमनको जो कि अवक्तव्य है, हम समझने के लिए उसमे भेद करके समझते है—जो जानता है वह जीव है। जो श्रद्धान करता है वह जीव है। जो अपना आचरण रखता है वह जीव है। भेद करते जाइए, पर कोई पदार्थ जो एक है उसमें जब जो भी परिणमन होता है उस कालमे वह परिपूर्ण परिणमन है और वह एक परिणमन है, किन्तु जब अनुभव भेदसे निरखते हैं तो सब जीवोमे अपने-अपने परिणमनका ही अनुभव पाया जाता है। कोई किसी दूसरेके अनुभवको भोग नही सकता। चूँकि सबमें अपना-अपना जुदा-जुदा अनुभव है इस कारण वे सब जुदे जुदे जीव है। आपका सुख दुख आप भोगते है, हमारा सुख दुख हम भोगते है। प्रत्येक जीवमे जो भी परिणमन होता है उसका अनुभवन वही जीव करता है।

तत्त्वज्ञानकी शरण्यता—इस जीवका इस लोकमे न कोई साथी है न शरण है। अपना ही सम्यग्ज्ञान अपने आपको धैर्य देता है, संमार्ग पर लगाता है और संकटोसे बचाता है। मेरा संकटहारी मेरा तत्त्वज्ञान है, दूसरा और कोई नही है। कोई पुरुष कितना ही बडा धनिक हो, उसके ज्ञानमे चलितपना आ जाय तो वह दुखी रहता है और दूसरेके वशकी बात नही रह पाती। जो भी अनुभव है वह खुदका खुदमे अभिन्न होकर अनुभव किया करता है। यो अनुभवके भेदसे जीवके भेद पर निगाह दे तो ऐसे तो अनन्तानन्त जीव हैं, जिनमे अनन्त मोक्ष भी चले गए और अनन्त मोक्ष भी जायेंगे, फिर भी वे जीव अनन्तानन्त है और अनन्तानन्त सदा काल रहेगे। यो उनके स्वरूपास्तित्वका और सादृश्य अस्तित्वका निर्णय रखकर जीवको समझना यह सर्वप्रथम जरूरी निर्णय करना हो जाता है, जो कल्याणमार्गमे बढे हैं, वे इसी उपायसे बढे है। हम अपनेको सबसे निराला केवल ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र निरखे तो यह दृष्टि ही हमें जगतसे उद्धारके लिए हस्तावलम्बनका काम देती है, दूसरा कोई मेरेको शरण नही है।

सिद्धस्त्वे कस्वभाव स्याद्दग्बोधानन्दशक्तिमान् ।
मृत्यूत्पादादिजन्मोत्थक्लेशप्रचयविच्युत. ॥३६५॥

कैवल्यस्वभावकी श्रद्धामें सम्यक्त्वकी उद्भूति—जीव दो प्रकारके बताये गए हैं—एक तो सिद्ध और दूसरे ससारी । उनमे जो सिद्ध हैं वे व्यक्तरूपमे भी एकस्वभावी है, सब एक समान हैं और चैतन्यस्वभावका वहाँ परिपूर्ण प्रकाश है । दर्शन, ज्ञान, आनन्द, शक्ति इन चार अनन्त चतुष्टयोसे वे सम्पन्न हैं, जन्म मरण आदिक ससारके क्लेशोसे रहित हैं । यह आत्मा केवल रह जाय, सब लेपोसे पिन्डोसे छूट जाय, जैसा इसका स्वभाव है, जो अपने सत्त्वके कारण है, इतना ही मात्र प्रकट अकेला रह जाय तो इसीके मायने है सिद्ध हो गया, मुक्त हो गया, प्रभु हो गया, कैवल्य हो गया । अपने आपके प्रति ऐसी ही धारणा रखना चाहिए कि हे नाथ ! जैसे तुम एक हो । जैसा जो आपका स्वरूप है वही मात्र अब प्रकट है, इसमे कोई विकार परिणमन नही है, केवल है । ऐसा ही केवल मैं होऊँ तो समझिये कि जो कुछ करने योग्य काम हुआ करता है वह कर लिया । जब तक यह कैवल्य नही आता तब तक यह जीव संसारी है, रुलता फिरता है । अपने कैवल्यस्वरूपकी यादके बिना इस कुटेवी जीवकी बुद्धि भ्रान्त हो जाती है और जैसा जो कुछ किसी संग प्रसगसे भाव बना उस ही भावको अपनी चतुराई समझकर उसीमे ही रत रहता है । और जगतके अन्य जीवोसे हित निरखकर अनन्त प्रभुवोका निरादर करता है । केवल होनेमे ही इस जीव का कल्याण है । हे नाथ ! मेरे यह कैवल्यस्वरूप प्रकट हो, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी निकट समागम रहे उससे मेरा कुछ भी महत्त्व नही है, उससे कुछ भी पूरा नही पडता । प्रभु केवल है और इसी कारण अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्दसे सम्पन्न है, अब इनके जन्म जरा मरण आदिक सासारिक कोईसे भी क्लेश नही रहे, ऐसी श्रद्धा हो वहाँ सम्यक्त्व प्रकट होता है

चरस्थिरभवोद्भूतविकल्पै कल्पिता पृथक् ।
भवत्यनेकभेदास्ते जीवा ससारवर्तिन ॥३६६॥

संसारी जीवोंमें त्रस और स्थावरका भेद—ससारी जीव त्रस और स्थावररूप संसारसे उत्पन्न हुए भेदोसे नाना प्रकारके हैं । संसारी जीवके मूलमे २ भेद हैं- त्रस और स्थावर । जिनके त्रस नामकर्मका उदय है, जिसके कारण जीव दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जातिमे जन्म लेते हैं, वे त्रस हैं और जो एकेन्द्रिय हैं वे सब स्थावर है । त्रस और स्थावर की यह भी शब्द व्यवस्था है कि जो चलें, उद्वेग करें, क्रिया कर सकें वे त्रस है और जो वहीके वही खडे रहे वे स्थावर हैं । यद्यपि शब्दकी इस अर्थ शक्ति रूपसे और इसकी सदृश्यवृत्तिसे अर्थ जीवोंमे यह कुछ कुछ घटित होता है, फिर भी

साक्षात् रूप यह व्याख्या पूर्ण नही उतरती। जो स्थिर है, चल डुल नही सकते, गर्भस्थ है, अंडस्थ है, लेकिन कहलाते त्रस ही है और जो बहता जल है, चलती वायु है लपकती आग है ये सब स्थावर है। अर्थात् सही व्याख्या यह है कि त्रस नामकर्मका उदय जिनके हो वे त्रस है और स्थावर नामकर्मका उदय जिनके हो वे स्थावर है।

पृथिव्यादिविभेदेन स्थावराः पञ्चधा मता.।
त्रसास्त्वनेकभेदास्ते नानायोनिसमाश्रिता ॥३६७॥

स्थावरोंके भेद—स्थावर ५ तरहके माने गए है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। ये ५ प्रकारके स्थावर कोई हमे समझमे आते है, प्रकट है और कोई सूक्ष्म होने के कारण समझमे नही आ पाते। ऐसे भी स्थावर है। पत्थर, मिट्टी, कंकड़, मुरमुर मिट्टी, लोहा, चाँदी, ताँबा सोना इत्यादि जो खानोमे है वे सब पृथ्वी है, जीव है। जल, ओस आदिक ये जलजीव है। अग्नि आग बिजली आदिक ये सब अग्निकाय है और वायुकाय है हवा। जो पवन चलती है, लगती है वह हवा है। और वनस्पतिकाय मोटेरूपमे वनस्पति नाम लेनेसे वृक्ष, पौधे, घास इनका ही ग्रहण होता है, किन्तु वनस्पतिकाय दो प्रकारके कहे गए है—एक साधारण बनस्पति, दूसरे प्रत्येक वनस्पति। साधारण वनस्पति तो निगोदका नाम है। जिसे लोग निगोद कहते हैं वे साधारण वनस्पति है। साधारण वनस्पति पकडने मे खानेमे देखनेमे नही आते। जितने छूने, पकड़ने, खानेमें आते है वे प्रत्येकवनस्पति है, लेकिन प्रत्येकवनस्पतिमे जिसमे साधारण वनस्पतिके जीव भी होते उसे कहते है सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति। और जिसमे साधारण वनस्पति न हो, निगोद जीव न हो उसे कहते हैं अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति। लोकमे ऐसा कहनेकी रूढि हो गयी कि सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिको सीधा साधारणवनस्पति कह देते है। इस रूढिमे सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति न खाना चाहिए यह कहनेका प्रयोजन है। तो जिस कारणसे सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति न खाना चाहिए उसी कारणका भाव रखकर सीधा कह देते कि यह तो साधारण वनस्पति है। जैसे कोई खोटा सोना लाये जिसमे ८ आने भर पीतल ताबा वगैरह मिला हो तो उसे देखकर लोग कह देते हैं कि यह तो तुम पीतल ले आये। ऐसे ही सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिको साधारण वनस्पति कह देना उसका भी ऐसा ही प्रयोजन है। आलू अरवी लहसुन आदिक ये सब अप्रतिष्ठि प्रत्येकवनस्पति है। साग सब्जीके बाजारमे पहुंच जावो तो प्राय सभी दुकानदारोके पास डलियोमें दो हिस्से तो सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति मिलेगी और एक हिस्सा अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति मिलेगी। जब उनके खानेके प्रेमी हो गए तो उनका उत्पादन भी बढा लिया गया है। ये सब वनस्पतिकाय हैं। जो केवल साधारण वनस्पतिकाय है, प्रत्येकवनस्पतिके आधारमे भी नही हैं वे यत्र तत्र सर्वत्र भरे पड़े हैं।

यहां जो पोल दीखती है वहाँ पर भी निगोद जीव भरे पडे है।

आशयसे अहिंसाका निभाव—कोई मनुष्य ऐसा सोचे कि मेरे शरीरके निमित्तसे, मेरी चेष्टाके निमित्तसे किसी भी जीवको दु ख न हो। यह सोचना तो उसका बहुत ठीक है, ऐसा सोचना चाहिए, किन्तु कोई बाहरसे निरखकर यह बताये कि देखो इसके कारण दूसरे जीवको क्लेश हुआ है तो क्या इससे पाप बध हो जायेगा ? उसके आशयकी बात है। किसी सज्जन धर्मात्माको निरखकर धर्मका अनादर रखने वाले, मात्सर्य रखने वाले बहुतसे लोग निन्दा करते है तो क्या इससे उनकी आत्मा निंद्य हो जाती है ? स्वयके आशय मे अपवित्रता न होना चाहिए, उससे निर्णय हुआ करता है, नही तो बतावो कहाँ बैठोगे ? जहा बैठोगे वही जीव है। पाल्थी मारकर बैठोगे तो पैरके भीतर भी जीव है, जमीनपर बैठो तो वहा भी तुम्हारे शरीरसे जीवोको पीडा पहुंच गयी। कहा बैठोगे ? आशयकी विशुद्धिसे अहिंसाकी बात चलती है

त्रसोंके भेद—स्थावर जीवोंसे यह समस्त लोक भरा हुआ है और त्रस भी अनेक भेद वाले हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, इनकी जल्दी पहिचान करना हो कि ये कितने इन्द्रिय जीव है तो उसकी मोटी पहिचान यह है कि जिनके पैर न हो और सरक सके उसमे एक सापको तो छोड दो, उस जैसे जीवको, वह एक अपवादरूप है। बाकी जितने जीव ऐसे मिलेंगे कि पैर नही हैं, लम्बा रुख है, बिना पैरके जमीनमे सरकते रहते है वे जीव दो इन्द्रिय मिलेंगे। जिन जीवोके चारसे अधिक पैर हो, चलते हो वे तीनइन्द्रिय मिलेंगे, जैसे चीटा चीटी सुरसुरी, बिच्छू आदि और जिनके दो से अधिक पैर हों और उडते हो वे चार इन्द्रिय जीव है—जैसे मच्छर, ततैया, टिड्डी आदि और पञ्चेन्द्रिय जीव स्पष्ट है–जिनके कान हो–पशु, पक्षी, मनुष्य आदि। तो ये नाना भेदरूप त्रस अनेक प्रकारकी योनियोंके आश्रित है। इन सब जीवोकी पर्यायोका भी सही-सही ज्ञान करना सम्यक्त्वका कारण है। जो कुछ नजर आता है वह असलमे है क्या ? इसमे परमार्थ क्या है, बनावट क्या है, उपाधि क्या है ? सबका सही परिज्ञान हो उससे अन्त अनाकुलता निर्व्याकुलता, ज्ञानप्रकाश, समीचीनता, स्थिरता ये सब बातें बढती है, इस कारण सबका जानना आवश्यक है। परोक्षभूत तत्त्वमें साधारणतया द्रव्य गुण पर्यायोका स्वरूप जान लेना जरूरी है। यो ससारी जीव त्रस स्थावरके भेदसे दो प्रकारके कहे गए हैं।

चतुर्धा गतिभेदेन भिद्यन्ते प्राणिन परम्।
मनुष्यामरतिर्यञ्चो नारकाश्च यथायथम् ॥३६८॥

संसारी जीवोंकी चतुर्गतिकता—ससारी जीव गतिके भेदसे चार प्रकारके हैं–मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारक। जिनके मनकी उत्कृष्टता है उन्हे मनुष्य कहते है, यह शब्द

व्याख्यासे अर्थ हुआ और है भी सब जीवोंसे श्रेष्ठ मन मनुष्यका। हित, अहितका विवेक करे और हित अहितकी प्राप्ति और परिहारका उपाय करे और इतना विशिष्ट ज्ञान बनाये जो ज्ञान निर्विकल्प दशाका भी कारण बन जाय, ये सब बाते मनुष्यमे होती है इस कारण श्रेष्ठ मन मनुष्यका माना गया है। श्रुतकेवली समस्त श्रुतके वेत्ता मनुष्य ही होते है। तो श्रेष्ठ मन वाले जो हो उन्हे मनुष्य कहते है और सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यगति नामक नामकर्मका जिनके उदय हो, मनुष्य आयुका उदय हो उन्हे मनुष्य कहते है। और जो मन-चाही नाना प्रकारकी क्रीड़ा करे, रमण करे उन्हे देव कहते है। मनमाने भोग, मौज, खुशी के साधन देवोंको मिला करते हैं। सिद्धान्तके अनुसार देवगति नामक नामकर्मका जिनके उदय हो उन्हे देव कहते है। और जो ठेढ़े मेढ़े चले उन्हे तिर्यञ्च कहते हैं। जो कुटिल भाव छल, कपट करके रहे वे तिर्यञ्च कहलाते है। सिद्धान्तके अनुमार जिनके तिर्यञ्च आयु नामक कर्मका उदय हो उन्हे तिर्यञ्च कहते है। शब्द व्याख्यासे भी देख लो, तो टेढ मेढ तिर्यञ्चोंमे ज्यादा होती है। न जाने किस किस आकारके तिर्यञ्च पाये जाते है। मनुष्योकी तो एक सकल है। उसीमे ही नाना भेद हो जायें पर आकार वैसा ही होता हैं। तिर्यञ्चोमे देखो कितनी तरहके कीडे मकोडे, किस किस प्रकारके टेढे मेढे हुआ करते है, जिनका आकार बडा विचित्र होता है। देखने मे लगता है कि यह पत्ता पड़ा है, पर जरा भी चलने फिरने लगा तो मालूम होता कि यह तो कीडा है। कोई कोई कीडा देखनेमे डोरे जैसा मालूम होता है तो टेढामेढा इन तिर्यञ्चोमे ज्यादा है। नारकी जीव उन्हे कहते है जो रत न रहे अथवा जो दूसरे जीवोको दुखी करें। सिद्धान्तके अनुसार नरक आयु कर्मका जिनके उदय है वे नारकी जीव होते हैं।

मनुष्यगतिकी श्रेष्ठता और उस अध्रुव पर्यायमें ध्रुव तत्त्वका लाभ ले लेनेका अनुरोध—इन चारो गतियोंमे श्रेष्ठगति मनुष्यकी बताई गई है। वैसे जनसाधारणमे लोग जो कुछ समझते सुनते हैं थोडा बहुत वे देवगतिको अच्छा कह देगे और धर्म करके प्रार्थना भी बहुत से करते है—हे भगवान हम स्वर्गमे उत्पन्न हो, देव बने, पर श्रेष्ठता तो मनुष्य भवमे है जहाँसे विशिष्ट आत्मकल्याणकी सिद्धि हो सके। थोडी देरको बन गये बडे और पीछे बनना पडे गधा तो उस बडप्पन को कोई महत्त्व नही देता, न कोई चाहता है। इसी लिए तो जैनप्रक्रियामे किसी लडकेको भगवानका रूप सजा देना विधिमे नही बताया है। आज तो बना दिया किसी गरीबके लडकेको नेमिनाथ भगवान और नाटक पूरा होनेके बाद इधर उधर भीख मागता हुआ दिखे तो देखने वाले लोग उसे क्या कहेगे। तो जैनप्रक्रियामे किसी पुरुषको तीर्थङ्कर साधु इनका भेष रखनेकी आज्ञा नही है। कोई कल्पनामे बहुत बडा बन जाय और फिर उसमे घटती बात हो जाय तो उसमे लोग खेद मानते है। तो देव भी बन

गए जहाँ सागरोपर्यन्त सुख भोगा, किन्तु वहांसे भी गिरना होता, मरण करना पडता। तो मरण करके होगे क्या ? नीचे ही पैदा होगे स्वर्ग वाले जीव। और, कहाँ जायेंगे पैदा होकर। वे साधारण वनस्पति तो होते नही मरकर कि चलो वही स्वर्गमें ही रह जायें साधारण निगोद बनकर। जैसे कोई कहने लगते कि हम तुम्हारे नौकर बनकर ही रह जायेंगे, यही रहने दो। तो कोई जीव ऐसी प्रार्थना करे कि चलो हम स्वर्गमे रह जायें, चलो निगोद बन कर रह लें तो निगोद नही बनते हैं। और जो वहाँ बने हुए निगोद हैं उन्हे क्या आराम है ? देव लोग या तो बनेंगे ठाठके एकेन्द्रिय जीव बढिया रत्न आदिक पृथ्वी प्रत्येकवनस्पति, गुलाबके फूल या और और तरहके पेडोमे प्रत्येकवनस्पति आदि या बनेंगे पञ्चेन्द्रिय। ये देव दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय नही बनते मरकर। या तो बनेंगे मनुष्य या बनेंगे एकेन्द्रिय। तो ये चार प्रकारके जीव हैं, जिनमे श्रेष्ठता मनुष्यकी है। इससे हम आपको कुछ विशेष चिन्तन करना चाहिए कि मनुष्य भवमे आकर हमे ऐसी मनोवृत्ति बनाना चाहिए कि हम अपने उपयोगमे गुणोका ही ग्रहण करे परमात्मस्वरूप की भक्ति करे, साधु संतोकी भक्ति करें, धर्मात्मावो की सगति करें। प्रत्येक कार्यमे हमारा उपयोग गुणग्राही बने। अपने शाश्वत गुणोंकी दृष्टि रखें। अपना कल्याण करना हो तो ऐसी आदत बनाना सर्वप्रथम आवश्यक है। ये असमानजातीय द्रव्यपर्यायें हैं, चार प्रकारकी गतिकी बातें हैं। इन सबमे परमार्थभूत तो जीवत्व है, जो परमार्थ है, वह सूक्ष्म है, अव्यवहार्य है, और जो कुछ व्यवहार्य है वह सब मायारूप है। इन सबका सही-सही श्रद्धान करना सो सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व ध्यानका मुख्य अगं बताया है।

भ्रमन्ति नियत जन्मकान्तारे कल्मषाशया।
दुरन्तकर्मसम्पातप्रपञ्चवशवर्तिन ॥३९९॥

कलुषित आशयकी जन्मवनपरिभ्रमणकारणता—यहाँ पापाशययुक्त ससारी जीव इस जन्मरूपी बनमे दुष्कर्मके समूहके प्रपचके वश होकर निरन्तर भ्रमण कर रहे हैं। सबसे मुख्य पापका आशय तो मिथ्यात्व है। वस्तुस्वरूपके अनुकूल ज्ञानप्रकाश न होना, इस अंधेरे मे जो दुर्गति जीवकी होती है वह समस्त दुर्गतियोंमे प्रथम नम्बरकी दुर्गति है। भ्रममे इस जीवको अपने हित अहितकी ओर दृष्टि नही रहती। पुण्यका उदय भी आये, सासारिक समागम भी मिलें उस प्रसंगमे भी यह हर्षसे क्षोभ मचाकर आकुलित रहता है। जैसे कोई स्वप्नमे देखे हुए समागमोको सच्चा मानकर खुश हो रहा हो तो उसकी खुशी होनेका क्या मूल्य है। इसी तरह इस भ्रममे रहकर इन विनाशीक सम्पदावोके समागमका हर्ष मान रहा हो तो उसके इस हर्ष माननेका क्या मूल्य। लेकिन भ्रम मिथ्यात्वमे जो खोये हुए प्राणी हैं उन्हे यह प्रकाश नही मिल पाता। जो कुछ यहाँ दृष्ट होता है उसे ही सार सर्वस्व समझने

लगता है। और, इस मिथ्यात्वके वश होकर फिर यह जीव संसाररूप बनमें निरन्तर भ्रमण करता है। कितनी तरहके जीवोके शरीर होते है, उनकी गिनती संख्यासे बाहर है। लोकमे जितनी बडीसे बडी संख्या मानी जा सकती हो और किसी भी रूपसे संख्याकी कल्पना की जा सकती हो उससे भी अतीत है, अर्थात् गिनतीसे बाहर है। इतनी प्रकारके जीवोके शरीरभेद है। उन शरीरोमे यह जीव जन्म लेता है और मरण करता है। जिस शरीरमे पहुंचता है उसीको ही अपना एक नवीन उपभोग मानता है। इस तरह अब तक अनन्तकाल व्यतीत हो गया। इस अनन्तकालमे कैसे कैसे विषय भोगे, स्थान पाये, फिर भी जो जो मिला है इसे नया सा लगता है।

उच्छिष्ट भोगोंके परिहारके बिना आत्मप्रगतिकी असभवता— जिन्हे अनन्त बार पा चुके वे ही पुद्गल अब मिले है लेकिन वे नयेसे लगते है। उन्हे पाकर यह मोही मानता कि मुझको तो अपूर्व चीज मिली है। इसीसे ही अंदाजा लगा लो। जिसे जो भोजन प्रिय है—मानलो किसीको चावल और अरहलकी दाल प्रिय है। वह जब जब भी खावेगा तो उसे एकदम नया सा लगेगा। उसे एकदम अपूर्व स्वाद आ रहा है। कल खायेगा तो वह यह नही सोच सकता है कि यह तो कल जान चुके। जो स्वाद है वह तो समझ चुके। अब समझी हुई चीज जो कुछ मूल्य नही रखती इस तरहसे वहाँ प्रवृत्ति नही बन पाती। कोई गणित का हिसाब है, पहिली बार किया तो उसे हल करनेमे रुचि रहती है। हल कर चुके, कई लोगोको बता चुके, सबमे फैल चुका अब उस गणितके हल करने के लिए कोई देवे तो उसमे क्या रुचि है। तो जिसको अनेक बार जाना हो उस चीजकी उपेक्षा हो जाती है। इस तरहकी उपेक्षा करके कोई दाल चावल खाता है क्या? अजी इसे कल समझ लिया था, वैसा ही स्वाद है। तो जो उपभोगके समागम मिलते उनमे ही यह मोही जीव अपूर्वता का अनुभव करता है। तो यो ही समझिये कि धन मिला, घर मिला, समागम मिला उसे ही यह मोही जीव अपूर्व मान लेता है। इसी भ्रमके कारण ससारमे चतुर्गतिमे भ्रमण करता है। यदि यह इन समागमोको यो निरखे कि ये तो अनन्त बार पाये, ऐसे वैभव, घर सम्पदा इज्जत प्रतिष्ठा ये तो अनेक बार मिले और उससे कुछ सिद्धि न हो सकी, उनसे कुछ लाभ न मिला, उल्टा संसारमे रुलते रहे। पर, जैसे कहते है ना कि पचोकी आज्ञा शिर माथे, पर पनाला तो यहीसे निकलेगा ऐसे ही इन शास्त्रोकी बात शिरमाथे पर भीतर के उस अंधकारकी बात वैसी ही रहेगी, उसमे कुछ फर्क न डालेगे। सुन लेंगे सब, कुन्दकुन्दाचार्यदेव क्या कहते है, शुभचन्द्राचार्य क्या कहते हैं, सबकी सुन रहे है पर जो घर मिला है यह ही तो हमारा ठाठ है, जो दो चार जीव घर उत्पन्न हुए हैं ये ही तो मेरे सब कुछ हैं, इनके अतिरिक्त सब गैर है, इस बुद्धिमे अन्तर न देंगे। चाहे उन स्वजनोके कारण

से अनेक विपदायें पायी हैं और अनेक गालिया भी सुन लेते हैं लेकिन भ्रमकी बात जब तक दूर नही होती तब तक आत्मामे बल प्रकट नही होता जिससे शान्तिका अनुभव कर सकें। तो ये पापोदय वाले ससारी जीव दुर्निवार कर्मविपाकके वश होकर संसाररूपी बनमे निरन्तर भ्रमण करते हैं।

किन्तु तिर्यग्गतावेव स्थावरा विकलेन्द्रिया ।
असञ्ज्ञिनश्च नान्यत्र प्रभवन्त्यङ्गिन क्वचित् ॥४००॥

लोककी स्थावरोंसे असीम पूरितता—ससारी जीवकी गतियाँ ४ प्रकारकी हैं, उन गतियोमे सबसे कम जीव हैं मनुष्यगतिमे, उससे अधिक जीव हैं नरकगतिमे, उससे अधिक जीव हैं देवगतिमे और सबसे अधिक जीव है तिर्यञ्चगतिमे। तिर्यञ्चगतिमे भी ५ प्रकारके जीव हैं—एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।

इनमे सबसे अधिक जीव हैं एकेन्द्रिय। एकेन्द्रियमे भी ५ भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति। इनमे भी सर्वाधिक जीव हैं वनस्पतिकायमे। वनस्पतिकायके दो भेद है—प्रत्येकवनस्पति और साधारणवनस्पति। सबसे अधिक जीव हैं साधारणवनस्पति। साधारणवनस्पतिमे इतने जीव हैं कि जितने आज तक अनादिसे सिद्ध होते आये है वे सब सिद्ध महाराज उनके अनन्तवे भाग प्रमाण हैं और अबसे अनन्तकाल व्यतीत हो जानेके पश्चात् भी भविष्यमे जितने सिद्ध होंगे वे भी उस समयके रहे हुए साधारणवनस्पति जीवोके असंख्यातवें भाग प्रमाण रहेगे। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय तथा असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव ये सब तिर्यञ्च ही होते हैं, इनकी और गति नही होती। तो सारा लोक तिर्यञ्चोसे भरा है। कभी-कभी कोई नास्तिक मनुष्य कहने लगते हैं कि अगर सभी त्यागी बन जायें, ब्रह्मचारी बन जाये तो फिर यह ससार कैसे चलेगा? अरे ससारकी पूर्ति मनुष्योसे नही होती, ससारकी पूर्ति तो एकेन्द्रियोसे हो रही है। मनुष्य हैं कितने? और फिर मनुष्य ही क्या, यदि समस्त अनन्त जीव ब्रह्मचारी हो जायें और मुक्त हो जाये तो अच्छा ही हुआ। तुम्हे क्या फिकर पड गयी? तो यह सारा ससार एकेन्द्रिय जीवोसे भरा पडा है।

उपसहारविस्तारधर्मा दृग्बोधलाञ्छन ।
कर्ताभोक्ता स्वयं जीवस्तनुमात्रोऽप्यमूर्तिमान् ॥४०१॥

जीवविस्तारकी देहप्रमाणता—यह जीव सकोच विस्तार धर्मको लिए हुए है इस कारण यह जब जिस शरीरको ग्रहण करता है तब उस शरीरके प्रमाण हो जाता है। जैसे यहाँ जब बालक है छोटा तो शायद एक सवा फुटका होता होगा, और बढते बढते हो जाता है सवा पाँच फुट तो सवा पाँच फुट शरीरके आकार जीवके प्रदेश हो गए। सवा

पाँच फुटके प्रमाण विस्तृत हो गया है। इतना बडा मनुष्य मरकर यदि चीटीके शरीरमें उत्पन्न हो तो वहाँ शरीरग्रहणके स्थानमे पहुंचते ही चीटीके बराबर जीवका आकार रह जाता है, और वही चीटी मरकर हाथीके शरीरमे जन्म ले तो हाथीके शरीरके स्थान पर पहुंच कर वहाँ उसके प्रमाण शरीर हो जाता है। तो इसमे संकोच विस्तारका स्वभाव पडा है। इसके लिये दृष्टान्त यो दिया गया कि जैसे दियाका संकोच विस्तारका स्वभाव है। दीपक छोटे कमरेमे रख दो तो उतने मे उसका प्रकाश फैलेगा, एक डबलामे रख दो तो उतनेमे प्रकाश फैलेगा, बडे कमरेमे रख दो तो उतनेमे प्रकाश फैल जायेगा। ऐसे ही यह आत्मा जितने शरीरमे पहुंचेगा उतने शरीर प्रमाण आत्मा फैल जायगा। यह दृष्टान्त एक स्थूल दृष्टान्त है। वस्तुत दीपक तो हर जगह जितना है उतना ही रहता है। दीपकका निमित्त पाकर जितने समक्ष वहाँ पदार्थ रहते हो वे पदार्थ अधकार अवस्थाको त्यागकर प्रकाश अवस्थामे आते है। यह दीपकका प्रकाश विस्तृत हो, संकुचित हो यह बात नही है, दीपक तो जितना बडा है, जितनी लौ है वह उतनेमे ही प्रकाशमान है और वही उसका स्वरूप है। लेकिन यह दृष्टान्त लोक व्यवहारमे रूढ है और उसका यह भेदका मर्म बडी कठिनतासे जाननेमे आता है। इसलिए यह दृष्टान्त ठीक बैठता है कि जितनी जगह दीपक पाये उतनेमे प्रकाश फैले। ऐसे ही जितना शरीर पाये जीव उतनेमे फैल जाता है।

आत्माकी दृग्बोधलाञ्छनता—यह आत्मा शुद्ध ज्ञान सहित है, स्वय कर्ता है, स्वयं भोक्ता है और शरीरप्रमाण होकर भी यह अमूर्त है। आत्मा रूप रस गध स्पर्श पिण्ड यह कुछ नहीं है। आकाशवत् अमूर्त है। किन्तु, आकाशमे जो आकाशका असाधारण लक्षण है वह उसमे है और आत्माका जो असाधारण लक्षण है वह आत्मामे है। यो यह आत्मा अमूर्त है, स्वय अपने परिणमनका कर्ता है और स्वयं अपने परिणमनका भोक्ता है और सकोच विस्तार धर्मको लिए हुए है।

यो आसमानजातीय द्रव्यपर्यायका भी समाधान इस श्लोकमे आया है और असाधारण लक्षण क्या है यह दर्शन ज्ञानमय है यह भी बताया है। और, कर्ता कैसे है भोक्ता कैसे है और कितना बडा है, जीव कैसा है इन सब प्रश्नोका उत्तर उस श्लोकमे कहा गया है। जितनी देरमें इस आत्माका ज्ञान किया जाता है और इस ज्ञानमे जो कुछ जान लिया जाता है उसके वर्णनको घटो चाहिएँ। किसी भी वस्तुके जाननेमे एक सेकेण्डका भी विलम्ब नही लगता, आँखे खुली लो सारा सामनेका दृश्य जाननेमे आ गया। कोई पूछे कि जरा बतावो तो सही कि इसे देखकर क्या जाना ? तो उसे बतानेमें बहुत विलम्ब लगेगा। यो ही आत्मा की यथार्थ झांकी यथार्थदर्शन आत्मामे क्षणमात्रमे होता है। उसके बतानेके लिए बहुत समय चाहिए। और सारी जिन्दगीभर बताते रहे तो इतना समय तक भी लग सकता है, किन्तु

झलक तो क्षणमात्रमे इस समग्र आत्माकी हो सकती है। ऐसे इस आत्मामे दर्शन ज्ञानका स्वभाव पाया जाता है।

तत्र जीवत्यजीवीच्च जीविष्यति सचेतन ।
यस्मात्तस्माद्बुधै प्रोक्तो जीवस्तत्त्वविदा वरै ॥४०२॥

शब्दव्युत्पत्तिसे जीवका लक्षण—उक्त ७ तत्त्वोमे जीवतत्त्वकी प्रमुखतया जानकारी करना कर्तव्य रहता है क्योकि वह हम स्वयं हैं। स्वयके बारेमे कोई बात कहे तो लोग उसे बडी दिलचस्पीसे सुनते हैं। किसीका नाम लेकर उसकी जरासी चर्चा छेड दो तो वह उठकर चल देनेपर भी झट बैठ जाता है। तो जीवतत्त्वमे अपनी ही तो चर्चा है, लेकिन मोहमे तो ऐसा है कि परकी चर्चामे तो मन लगेगा और खुदकी चर्चा चले तो वहाँ मन नही लगता। तो ये सब जीव उल्टा चल रहे हैं। व्यवहारमे परिकल्पित अपनी चर्चा चलने लगे तो उसे सुननेमे बडा मन लगता और वास्तविक अपनी चर्चा चलने लगे तो वहाँ मन नही लगता। तो उन ७ तत्त्वोमे प्रथम तत्त्व जीवतत्त्व है, जिसका लक्षण है—जो सचेतन है, जीता है, जीता था और जीवेगा उसे जीव कहते है। जहाँ व्यवहारदृष्टिसे प्राणो करके जीवनको जीना कहते है उस दृष्टिसे यह जीव जीता था और जी रहा हैं, ये दो बातें तो तो सबमे सिद्ध होती हैं। और, जीवेगा यह बात संसारी जीवोमे तो सिद्ध होती है किन्तु मुक्त जीवोमे बात फिट नही बैठती। क्योकि, वहां प्राण है ही नही। प्राणोसे रहित केवल शुद्ध ज्ञान, शुद्ध चेतना सम्पन्न है। तो वहाँ भूत प्रज्ञापननयकी अपेक्षासे जीवन माना गया है, वहाँ जीता था अर्थ लगा लें। और, परमार्थ प्राण है ज्ञान दर्शन, उसकी दृष्टिसे तो सभी जीवोमे मुक्त हो अथवा ससारी त्रिकाल जीवन सिद्ध होता है। यो जो जीते थे, जी रहे हैं, जीते रहेगे उन्हे जीव कहा करते हैं। यो जीव मूलमे स्वरूपदृष्टिसे सभी एक प्रकारके हैं लेकिन परिणमनभेदसे और उपाधिके कारण हुए परिणमन भावोसे ये नाना प्रकारके हो गए हैं।

एको द्विधा त्रिधा जीव चतु सक्रान्तिपञ्चम ।
षट्कर्म सप्तभङ्गोऽष्टाश्रयो नवदशस्थिति ॥४०३॥

संसारी जीवोंकी नानाप्रकारता—यहा जीव एक प्रकारका है। सब जीवोका स्वरूप एक समान है। सभी चित्स्वभावी हैं। स्वरूप दृष्टिसे किसी जीवमे भी अन्तर नही है। अब अन्तरका करनेका निमित्तभूत उपाधिकी दृष्टिसे उनकी स्थितियोको देखो तो जीव दो प्रकारके है—एक मुक्त जीव, एक संसारी जीव। तो मुक्त जीवोमे तो भेदविस्तार है नही, भेदविस्तार ससारमे है। संसारी जीवोकी दृष्टिसे भेद करें तो जीव दो तरहके हैं—एक त्रस और एक स्थावर। जीव जिस प्रकार हैं, जिस प्रकार वर्तते है उनको निगाहमें रखकर

वर्णन किया जा रहा है, उन्हे किन्ही शब्दोमें कह लो, पर जो है भी उसका कथन जिन-शास्त्रोमे है। जीव तीन प्रकारके भी है उन सब भेदोको इस तरहसे बना लीजिए कि उस तीन प्रकारमे सब संसारी आ जायें। यह आपकी मर्जी है कि किस तरह भेद बना लो, छूटना न चाहिए कोई ससारी। तो संसारी जीव एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय यो तीन प्रकारके है। जीव चार प्रकारके भी किसी तरहसे दिखाये जा सकते है—एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी। हाँ तो संख्या बन जाय और कोई छूटे नही इस दृष्टिसे भेद बनाते जाइये। संसारी जीव ५ तरहके हैं—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। ससारी जीव ६ तरहके भी है। ५ स्थावर और एक त्रस। ७ भी है—५ स्थावर, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय। ८ तरहके भी है—५ स्थावर, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी। जैसा कहे जा रहे है ऐसे ही प्रकार हैं ऐसा नियम नही है। आप अपनी रुचिसे भी बना सकते है पर छूटे नही। कोई संसारीके यो भेद बनावे–५ स्थावर, ३ विकलेन्द्रिय और एक एकेन्द्रिय यो ९ प्रकार भी है। ससारी जीव १० भी है—५ स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी। यो कितने ही भेद बनाएँ। समस्त जीव असंख्यात प्रकार के होंगे। और भावकी दृष्टिसे भेद बना लें तो अनन्त प्रकारके हो जायेंगे। इस प्रकार नानाप्रकारसे जो जीवका फैलाव है वह सब एक अज्ञानसे है, भ्रमसे है, मोहसे है, और इसी मे यह जीव दुःखी होकर जन्म मरण किया करता है।

भव्याभव्यविकल्पोऽयं जीवराशिनिसर्गज।
मत पूर्वोऽपवर्गाय जन्मपङ्काय चेतर ॥४०४॥

संसारी जीवोंमें भव्य और अभव्यका भेद—यह जीवराशि स्वभावसे ही भव्य हो या अभव्य हो इस प्रकार दो विकल्पोमे विभाजित है। भव्य तो अपवर्गके लिए माना गया है और अभव्य जन्म पंकके लिए माना गया है, अर्थात् भव्य जीवका तो मोक्ष होता है और अभव्य जीवका संसारमे परिभ्रमण ही होता है। भव्य शब्दका अर्थ है जो होने योग्य हो सो भव्य और अभव्यका अर्थ है जो होने योग्य न हो सो अभव्य। इन शब्दोमे मोक्ष और ससारकी बात नही पड़ी हुई है, शब्दमे तो एक संकेत है। मोक्ष पाने योग्य हो सो भव्य और मोक्ष पानेके योग्य न हो सो अभव्य। शुद्ध होनेके योग्य हो उसे भव्य और शुद्ध होने के योग्य न हो उसे अभव्य कहते है। भव्यका नाम होनहार भी है। यह बडा होनहार पुरुष है। भव्यका अर्थ है होने योग्य। अच्छे आचरणसे सफलताकी बात जिनमे हो उन्हे भव्य कहते हैं। तो संसारी जीवोमे भव्य तो अभव्योसे अनन्तगुने हैं। जितने अभव्य हैं उन से अनन्त गुने भव्य हैं। अनन्त भव्य हैं तो एक अभव्य है, यो समझिये। अभव्योकी संख्या बहुत कम है, इतने पर भी अभव्य अनन्त है। तो स्थूल दृष्टिसे ऐसा देखनेमे आना चाहिए

इससे एक हिम्मत तो होनी चाहिए कि हम लोग अभव्य नहीं है। फिर भव्यका क्या अर्थ है, क्या लक्षण है, ये सब आगे बताये जायेंगे, पर बहुत भी सन्तोषकी बात करना हो तो इतना ध्यान ले लीजिए—जिनकी धर्ममे रुचि होती है वे भव्य और जाननेकी विशेष उत्सुकता हो तो यो समझ लीजिए कि एक सहज ज्ञायकस्वरूपके अवलोकनकी अधिक जिज्ञासा हो वह तो भव्य ही है।

क्षण भरकी गलतीमें महाबन्धकी नौबत—अहो, एक मिनटकी गलतीसे यह जीव कहीसे कही पहुचनेका बध कर सकता है। एक क्षणके मोहके परिणामसे यह जीव ७० कोडा कोडी सागरकी स्थितिका मोहनीय कर्म बाँध लेता है। इतना बन्धन हुआ एक क्षणकी गलतीमें। सागरका तो बहुत ही विशाल परिमाण है, असंख्याते वर्ष है और ऐसे ७० कोडा कोडी सागर हुए। आजकल नरकगतिमे नीचे यानी उत्कृष्ट स्थितिके नरकमे न जा सके ऐसा तो है, पर उत्कृष्ट बन्धके सम्बन्धमे निषेध नही है। उसका कारण यह है कि नरक गतिमे जाने योग्य तीव्र पाप कार्य और तीव्र चिन्तना किसी विशिष्ट संहनन वाले के हो पाती है, पर मोहकी बात तो किसी भी सहननका हो, तीव्रसे तीव्र मोह कर सकता है। अन्य पाप कार्योके करनेमे तो शक्ति चाहिए पर मोह तो एक कायरताकी बात है। उस मे किसी भी सहनन वाले संज्ञी जीव अधिकसे अधिक मोह कर सकते है।

भव्यताका प्रकाश—तो जो जीव अपने आपको मैं सदैव सम्हाले हुए रहू ऐसा अपना परिणाम बनाता है उस जीवकी भव्यता निकट है और जो स्वच्छन्द हो जाय, प्रमादी बन जाय उसका होनहार भला नही है। अपना यह ध्यान होना चाहिए कि अब कितना सा जीवन रह गया। इस थोडेसे जीवनमे हम अपने आपके सहजज्ञानस्वरूपको अपने उपयोगमे न सम्हाल सके तो ये रहे सहे थोडे जीवनके दिन जल्दी ही व्यतीत हो जायेंगे। तब एक पछतावा भर रह जायेगा। अथवा पछतावाके लिए भी बुद्धि चाहिए। कहो इतनी भी बुद्धि न मिले कि पछता सके। ये कीट पतंगे स्थावर क्या पछताते है ? तो समझ लो भैया! बडी जिम्मेदारीका यह जीवन है, पुण्यका कुछ ठाठ है, सारी बातें सरल सी लगती हैं, जैसा चाहे इन्द्रियका विषय सेवन करें, जैसा चाहे दूसरोके प्रति व्यवहार करें, बल है, सामर्थ्य है, जो मन आये सो करे लेकिन यह स्वच्छन्दता बहुत विडम्बनाका कारण बनेगी। वर्तमान शक्तिके आधार पर इन व्यावहारिक उलझनोके करनेका फैसला न करें किन्तु मुझे एक शाश्वत शान्ति चाहिए, उसके प्रकरणमे हमे अपना निजी कैसा वातावरण रखना है इस दृष्टिसे निर्णय करना चाहिएं। भव्य जीव मोक्षके लिए बताया तो है, पर सभी भव्य मोक्ष चले जाते हो ऐसा तो नही है, अनन्तानन्त भव्य ऐसे है जो कभी मोक्ष न जा पायेंगे, लेकिन भव्योमे ऐसी शक्ति है कि वे इस योग्य परिणामको व्यक्त करने की योग्यता रखते

कि हमें जितने जीव दिखते हैं इनका कोई भाग ही नही कर सकता है कि हम किसको अभव्य कह दें। जब अनन्त जीवोमे एक अभव्य है तो प्राय अभव्य तो दिखते ही नही है। हैं। यह भी बडे मर्मकी बात हैं कि अभव्यको तो मोक्ष जाना ही नही है और वे भव्य भी जो कभी मोक्ष जायेगे नही। किन्तु वे ससारमे अनन्त काल तक रहेगे और अनन्त काल तक भव्य भी चाहिए संसारमे। लेकिन फिर भी उनमे भव्यता और अभव्यताका भेद पडा है जो ऐसा लगता है कि फोकटका भेद डाल दिया। काम तो दोनो का अर्थात् दूरातिदूर भव्य व अभव्यका एक है। फिर भी जो एक आन्तरिक योग्यता है उस दृष्टिका प्रकाश किया है।

सम्यग्ज्ञानादिरूपेण ये भविष्यन्ति जन्तव.।
प्राप्य द्रव्यादिसामग्री ते भव्या मुनिभिर्मता ॥४०५॥

भव्यत्वगुणका परिपाक—जो प्राणी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीको प्राप्त करके सम्यग्ज्ञान आदिक रूपसे परिणमेगे उन प्राणियोको आचार्योने भव्य कहा है। लक्षण मे भव्यताके विपाकका उपाय भी बताया है। भव्यत्वगुणका पूर्णविपाक सिद्ध अवस्थामे है। तो सम्यग्दर्शन होना, सम्यग्ज्ञान होना, सम्यक्चारित्र होना, गुणस्थानोमे बढना ये सब भव्यत्वके आशिक विपाक है। जैसे कुछ भी चीज पकती है तो पक्व तो कहलाती बिल्कुल अन्तिम समयमे लेकिन क्या ऐसा है कि उस अन्तिम समयसे पहिले पकता न हो वह पदार्थ और ठीक अन्तिम समयमे पक जाता हो। पकना तो बहुत पहिलेसे शुरू होगा। तो यह भव्यत्वगुण पक रहा है, सम्यक्त्व हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, चारित्र हुआ, चारित्रमे वृद्धि हुई, गुणस्थान बढे यह सब भव्यत्वगुणका परिपाक है। तो जब योग्य द्रव्य, योग्य क्षेत्र, योग्य काल, योग्य भावकी सामग्री मिलती है तव वहाँ यह जीव सम्यग्ज्ञानरूपसे परिणमता है। बाह्य भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव योग्य मिले और आन्तरिक भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी योग्यता बने वहाँ ये जीव सम्यग्ज्ञान आदिक रूपसे परिणमते है। जो विशुद्ध आशय वाले है वे भव्य जीव है।

भव्यत्वगुणकी पारिणामिकता—भव्यत्वगुण एक पारिणामिक भाव है। अर्थात् यह भव्यता न कर्मोके उदयसे हैं, न उपशमसे है, न क्षयसे है, न क्षयोपशमसे है, किन्तु है एक भाव। उदय आदिककी अपेक्षा न रखकर भव्यता हुई है इस कारण भव्यत्वको पारिणामिक भाव कहते है। यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि दर्शन मोहनीयका उपशम हो, क्षयो-पशम हो, क्षय हो तो उससे ही तो भव्यता प्रकट होती है। फिर पारिणामिक कैसे कहा? उत्तर यह है कि उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे शुद्धका विकास होता है शुद्ध होनेकी योग्यता शक्ति तो निरपेक्ष है। शुद्ध होना तो सामग्री साध्य है, पर शुद्ध होनेकी ताकत जो वस्तुमे पडी है वह सापेक्ष नही है, उसे उपशम आदिककी अपेक्षा नही पड़ती। जैसे कुरडू-

मूँगमे पकनेकी शक्ति है तो क्या यह शक्ति आगकी अपेक्षा रखकर बनी है ? पकनेमे आग की अपेक्षा हो जायगी, पर पकनेकी शक्तिमे अपेक्षा नही है। ऐसे ही भव्यत्वमें कर्मोंके उपशम आदिककी अपेक्षा नही है अतएव पारिणामिक भाव है। एक पारिणामिक भाव माना गया है सासादन गुणस्थान को। मिथ्यात्व गुणस्थान तो मिथ्वात्वके उदयसे हुआ। तीसरा सम्यक्‌मिथ्यात्वगुणस्थान, सम्यक्‌मिथ्यात्वकी प्रकृतिके उदयसे हुआ, चौथे पाँचवें आदि कोई क्षयसे कोई क्षयोपशमसे यो होते है, पर दूसरे गुणस्थानकी स्थिति ऐसी है कि न तो वहाँ सम्यक्त्व है और न वहाँ मिथ्यात्व है। ऐसी स्थिति जो बनी, यद्यपि उदयादिककी अपेक्षा बिना नही बनी किन्तु एक दर्शन मोहका निमित्त लगाकर दूसरे गुणस्थानका वर्णन किया जायगा। तो दूसरे गुणस्थानको न औदयिक कहेगे, न औपशमिक, न क्षायिक, न क्षायोपशमिक कहेगे। वह केवल दर्शन मोहकी दृष्टिसे पारिणामिक है, लेकिन भव्यत्वगुण कर्मोकी दृष्टिसे पारिणामिक है।

अन्धपाषाणकल्पं स्यादभव्यत्व शरीरिणाम्।
यस्माज्जन्मशतेनाऽपि नात्मतत्त्व पृथग्भवेत् ॥४०६॥

अभव्यत्व—अब अभव्यता अधपाषाणकी तरह है। जैसे सोनेकी खानमे अनेक खण्ड निकलते हैं। छोटे-छोटे अंश, जिन्हे स्वर्णपाषाण कहते हैं। उनमेसे एक स्वर्णका अधपाषाण भी होता है जो नाम तो स्वर्णका है परन्तु कभी भी वह शुद्ध सोनेरूप नही हो सकता। यह दृष्टान्त खैर समझनेमे कठिन होगा, पर एक कुरुडू मूँग होती है, उसका दृष्टान्त ले लीजिये। उसे यदि दिनभर भी बटलोहीमे खूब पकाया जाय तो भी वह मूँग नही पकती है। कोई-कोई उस मूँगका दाना वैसा ही बिल्कुल ककडकी तरह निकल आता है। तो जैसे कुरुडू—मूँगका दाना बहुत बहुत पकानेपर भी वैसाका ही वैसा निकल आता है ऐसे ही इन जीवोमे से जो जीव अभव्य है वे नामके तो जीव है पर उनको जीवत्वगुणका जिसे शुद्ध विकास कहते है केवल ज्ञानमात्र होना, यह उनके कभी भी नही हो सकता। सैंकडो जन्म भी तपश्चरण करें, कुछ भी करे तो भी उनके आत्मतत्त्व प्रकट नही हो सकता, तो शरीर, कर्म और विभाव इन विडम्बनाओंसे पृथक् नही हो सकते। जो शुद्ध होनेके योग्य नही हैं उन्हें अभव्य कहते है।

अभव्यके सीझनेकी अशक्यता—अभव्य जीव धर्मके नामपर अपनी कल्पनाओंके अनुसार कुछ भी करता है, पर जिसे परमार्थधर्म कहते हैं उसकी रुचि नही होती है। जैसे धर्मके नामपर अनेक पुरुषोको किसीको पूजाकी रुचि है, किसीको स्वाध्यायकी रुचि है, पर उनमे से किसे कहे कि वास्तविक परमार्थभूत धर्मकी रुचि इस इसको है। विवरणमे ऐसा कहते हैं कि करोडो जन्म तप करने से जितने कर्मोकी निर्जरा अभव्य करता है उतने कर्मो

की निर्जरा ज्ञानी सम्यग्दृष्टि अन्तर्मुहूर्तमे कर लेता है। यह दृष्टान्त केवल एक कर्मवर्गणाओं की गिनतीका अनुमान करानेके लिए है। अभव्यके तो कभी भी निर्जरा नही होती, फिर यह कैसे कहा जाय कि जो निर्जरा अभव्यके करोडो वर्ष तक करके होती है वह ज्ञानीके अन्तर्मुहूर्तमे होती है, इसमें उस गिनतीका अनुमान बताया है कि इतने कर्मोका निर्जरण भव्यके क्षणमात्रमे होता है। अभव्यके निर्जरा नही है। अपने आपके सहज अन्तस्तत्त्वको शरीरसे, विभावोंसे, विकल्पोसे विविक्त निरख ले ऐसी दृष्टि जिसके हो वह निकट भव्य जीव है। ये सब दृश्यमान जीव जिनकी दृष्टिमे भव्यस्वरूप है, इस लोकके किसी भी जीवकी चेष्टासे मेरा हित अहित नही है यों अपने आपकी वृत्तिका, अपने आपके भवितव्यका अपने आपसे ही निर्णय रखना है, ऐसी विरक्तता, ऐसा वस्तुस्वरूपका सम्यग्ज्ञान जिसमे हो वह निकट भव्य जीव है।

गुप्त हितको गुप्त करके गुप्त रहनेका अनुरोध----हम लोगोको अपने आपमे गुप्त होकर गुप्त विधिसे इस गुप्तको, इस कल्याणको अपने आपमें करना है। देखिये—गुप्त शब्दका अर्थ छिपा हुआ नही है, जैसे व्यवहारमे गुप्त कहते है छुपे हुएको, यह चीज गुप्त है, छुपी हुई है। रूढिमे गुप्तका अर्थ छुपा हुआ कहते है पर गुप्तका सही अर्थ छुपा हुआ नही है किन्तु पूर्ण सुरक्षित है। गुप्तका अर्थ है पूर्ण सुरक्षित। पूर्ण सुरक्षित वही हो सकता है जो छुपा हुआ है। प्रकट हुएको तो जो चाहे विगाड दे। जैसे कोई कीमती चीज दे और कहे देखो उसे सुरक्षित रखना तो आप क्या करेंगे? तिजोरीमें अलमारीमे बडे अच्छे ढगसे आप छुपा देंगे, लो सुरक्षित हो गयी। और, ज्यादा सुरक्षित करना हो तो लो कमरेमे जमीन खोदकर गाड़ दिया, लो सुरक्षित हो गया। तो छुपा हुआ पदार्थ सुरक्षित रहता है। इस मान्यताके कारण गुप्तका अर्थ लोकमे छुपा हुआ प्रसिद्ध हो गया। गुप्तको सुरक्षित कहने की किसी की दृष्टि नही जगती। गुप्त मायने सुरक्षित। तो अपने आपमे गुप्त होकर अर्थात् सम्हलकर सुरक्षित होकर उस गुप्त कल्याणको याने जिसे कोई विगाड न सके, किसीका प्रवेश ही नही है ऐसे सुरक्षित कल्याणको अपने आपमे गुप्त करके रखना है, सम्हाल करके रखना है, सुरक्षित बनाना है।

कर्तव्यका ध्यान—देखो भैया! आत्महित करनेके लिए कितना सीधा सुहावना सुगम हितकारी आनन्ददायक ज्ञातृत्वका काम पड़ा हुआ है किन्तु एक मोहकी दृष्टि उठी कि ये सारे कल्याणके कार्य-क्रम सब समाप्त हो जाते हैं। मोहकी दृष्टि क्षणमात्र भी उठे तो कितना अनर्थ कर देती है लम्बे समय तक विकल्पोमे बहाये रहती है। एक किशोर अवस्था का ही तो मोह था, पाणिग्रहण हुआ कि उसके फलमें जिन्दगी भर कितना परतन्त्र सा रहना पडता है अनेक दृष्टियोंमे। एक मोटा दृष्टान्त दिया है कि थोडेसे मोहको न सम्हाल

सकनेके कारण सारे जीवनको अपनी विडम्बनाका शिकार बनाना पडता है। तो क्षण भरके मोहमे यह सारी संसार सृष्टिकी परम्परा बना डालते है हम आप लोग। जो चीज अहित रूप है वह हितरूप जचे और जो चीज हितरूप है वह अहितरूप जँचे ऐसी दृष्टिरूप बिगाड जिस जीवके होता है उसका परिणाम तो ससारमे भटकना ही है। हमें चाहिए कि हम अपने आपको सम्हालकर रखनेका अधिकाधिक यत्न करे। सत्संगति, स्वाध्याय, गुणप्रेम इन सब गुणोसे अपने आपको प्रसन्न निर्मल बनाये।

अभव्यानां स्वभावेन सर्वदा जन्मसक्रम।
भव्याना भाविनी मुक्तिर्नि शेषदुरितक्षयात् ॥४०७॥

अभव्योंका प्रकृत्या जन्मसंक्रमण--अभव्य जीवोको स्वभावसे ही सदा काल ससारमे जन्म मरण करते रहना है और भव्य जीवोको समस्त कर्मोके क्षय होने से भावी कालमे मुक्ति हो सकती है। यह भव्यका स्वभाव और अभव्यका स्वभाव कहा है। भव्यत्व एक पारिणामिक भाव है और अभव्यत्व भी पारिणामिक भाव है। होनी जिसे कहते है वह होनी किसी भी विधिसे हो, पर होनीके नामसे होनी सामान्यसे कोई अपेक्षा नही बतायी जा सकती है। जैसे लोग सीधे मिजाजसे यो कह देते कि भाई होना था ऐसा हो गया, होनी मे अपेक्षा नही लगायी जाती है। यद्यपि जो होना है वह अपेक्षासे होता है, पर्याय तो जिस विधिसे होती है होती है। उसमे बतावो निमित्त, सब उस योग्य उस प्रकार होता है, पर जो होनी सामान्य है, भव्यता है उसमे अपेक्षा नही होती। केवल होनी की दृष्टिमे जब मान्य रहता है, होनीके स्वरूपका दिमाग रखता है उस सम्बन्धमे वह अपेक्षामे अपनी उलझन नही रखता। ऐसा होना था सो हो गया। यह बात भव्यत्व और अभव्यत्वके सम्बन्धमे है। यद्यपि अभव्यमे जो काम होता है मोह होना, रागद्वेष होना यह सब उपादेय निमित्तके योगसे चलता है लेकिन अभव्यत्वका जब दिमाग हो, अभव्यकी दृष्टि बने तो उस अभव्यताके लिए भी अपेक्षा नही लगायी जा सकती और ऐसी अभव्यताके लिए, क्या अभव्य जीवका जन्म सक्रमण नही हो रहा? हो रहा, वे नये नये जन्म पाते जाते हैं और भव्य जीवोमे समस्त कर्मोके विनाश से मुक्तिभाविनी बतायी गई है।

भव्यताकी अधिकता--प्रथम तो सन्तोषकी यह बात है कि जगतमे अभव्यसे अनत गुणे भव्य है पर अभव्य भी अनन्त है और जिनको आत्मकल्याणमें रुचि जगी है उनके तो भव्यत्व नियमसे है। अब किसे बता रहे कि हमे आत्मकल्याणमे रुचि जगी है वह अपना दिल बतावेगे कि क्या सचमुचमे यह श्रद्धा दृढ हो गयी है कि बाह्य पदार्थोंसे इस आत्माका भला नही है। किसी भी क्षण ऐसी बात जमी हो और परकी उपेक्षा करके अपने आपके निकट रहकर अटपट आनन्द जगा हो उसे तो आत्मकल्याणकी रुचि कहा ही है। चाहे

बाह्य परिस्थितियाँ ऐसी हो कि जिनकी उलझन भी बनी रहती है, उपयोग भी भ्रमता है, किन्तु किसी भी क्षण आत्मविश्राम मिला हो तो समझिये कि आत्मकल्याणकी मेरे अवश्य रुचि है।

तीव्र प्रवृत्तिमें भी सम्यक्त की संभवता—अप्रत्याख्यानावरण कषाय प्रवृत्तिमे ऐसी भी होती है जिसमे ऐसी भी अद्भुत क्रिया हो जाती है कि जिसे लोग बडी मूढता भरी चेष्टा समझे और वह ६ माह तक रह सकता है, उसका सस्कार ६ माहसे अधिक नही चलता है, किन्तु अनन्तानुबधी कषायका संस्कार वर्षो क्या कई भवो तक चलता रहता है। एक यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मणके मृतक शरीरको लिए ६ माह तक विह्वल रहे और इस प्रसंगमे भी श्री रामचन्द्र जी को सम्यग्दृष्टि समझा है। तो अब इसमे दो तीन बातो पर अद्भुत प्रकाश आता है एक तो अप्रत्याख्यानावरण कषायके तीव्र उदयमें ऐसी चेष्टा बन जाती है कि जिसे महामूढ भी न करे। दूसरी बात परिस्थितियोंवश ऐसी बात बनकर भी यह सम्भव है कि अन्त प्रत्यय श्रद्धान मेरा सही भी हो। इसकी थाहको हर एक कोई पा नही सकता। तीसरी बात यह मिली कि ६ महीनासे अधिक यदि ऐसे संस्कार और चेष्टावोका प्रवर्तन रहे तो वहाँ सम्यक्त्व नही माना जा सकता है। ६ माह तक ही रहे कुवर्तन तो मान लिया जायेगा, सो भी सबका नही माना जा सकता। यो तो एक दिन भी कोई मोह करे तब भी सम्यक्त्व नही है, ६ माह तक अप्रत्याख्यानावरणकी चेष्टा रह सकती है सम्यक्त्वके प्रसगमे। अनन्तानुबंधीका काल है अनेक भव, अप्रत्याख्यानावरणका काल है ६ महीना तक, प्रत्याख्यानका काल है एक पक्ष तक और संज्वलनका काल है अन्तर्मुहूर्त तक। इससे अधिक इन कषायोका सस्कार नही चलता।

साधुवोंके क्रोधकी जलरेखासमता—कभी कभी साधुवोके भी ऐसा क्रोध जगेगा कि देखने वाले यही सोचेंगे कि ये तो बडा क्रोध कर रहे है ये काहेके साधु। किसी शिष्यको दण्ड विधान सुनाये—देखो तुमको यह करना होगा। ऐसा यदि कोई श्रावक देख ले तो वह कल्पनाये कर सकता है कि यह तो तीव्र क्रोध करते है, पर कैसा ही जचे—सज्वलन कषाय का सस्कार अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नही रहता। कभी किसी पर वैसे ही क्रोध आ जाय तो जैसे जलमे रेखा खीच देनेके बाद तुरन्त मिट जाती है ऐसे ही उनके कभी कषाय जगे तो शीघ्र ही शान्त हो जाती है। जैसे दुकानमे ऐसा भी हो सकता है कि कुछ आय नही हो रही, कुछ काम नहीं जम रहा, कुछ नुकसान भी हो रहा और कहो दो चार दिनमे ही जो आय सोची जा सकती हो वह हो जाय। बडे-बडे काम बिगड जाते, किसी एक काम मे ही समस्त बिगाड़की बात निकल आती है और कोई व्यापार होते भी इसी ढगके है कि रोज कुछ आय न हो और कभी २–४ दिनमे ही सारी आय हो जाती है। तो यह भी एक

बहुत विचित्र परिणमन है कि ऊपरसे अनेक आकुलताए जंचती, सन्ताप होते, व्यग्र भी होते और कहो उसने कभी सहज आत्मतत्त्वका अनुभव किया हो तो अन्त गुप्त समझिये ऐसी शान्ति और निराकुलता रहती है कि जिसके प्रतापसे किसी भी दिन, किसी भी क्षण वह आत्मसमृद्धि पा लेगा। लेकिन इन वर्णनोसे हमे ऐसे प्रमादकी ओर नही जाना है कि सम्यक्त्वका तो बडा प्रताप है। इतना राग करने पर भी, चिन्ताए करने पर भी सम्यक्त्व रहता है और वह कर्मनिर्जरा कर देता है ऐसा सोचना न चाहिए। यह तो स्वरूप बताया जा रहा है। अपने लिए तो यह सोचना चाहिए कि यदि क्षणमात्र भी प्रमाद करें तो बडी कठिनाई से पाया हुआ सम्यक्त्व रत्न भी नष्ट हो सकता है। ऐसा समझकर सावधान रहना चाहिए।

यथा धातोर्मलै सार्धं सम्बन्धोऽनादिसम्भव।
तथा कर्ममलैर्ज्ञेय सश्लेषोऽनादिदेहिनाम् ॥४०८॥

धातुका मलके साथके समान देहियोंका कर्ममलके साथ अनादिसे संश्लेष—जैसे धातुका मलके साथ अनादिसे सम्बन्ध है इसी तरह देहीका कर्ममलके साथ अनादिकालसे संश्लेष है। ताबा, सोना चाँदी ये धातुवें ऐसी खानोसे बनायी जाती है कि जो देखनेमे चाँदी सोना, ताँबा जैसी न लगें, लोहा जैसी न लगें, एक मिट्टी सी लगती है। पारखी परख लेते हैं और जानते है कि इस मिट्टीमें सोना है, कोई मन भर मिट्टीमे एक दो मासा सोना निकलता होगा पर उस पूरी मिट्टीमे वह स्वर्णत्व मौजूद है। तो जैसे उस स्वर्णत्वमे किट्ट-कालिमा मिट्टीका सम्बन्ध शुरूसे है, ऐसा तो न था कि पहिले स्वर्णत्व बिल्कुल शुद्धरूपमे था और पीछे यह मिट्टी बना, किन्तु शुरूसे ऐसे ही यह मिट्टी है। इसको साफ किया जाता है विधिपूर्वक तो उसमे से स्वर्णत्व प्रकट होता है। तो जैसे धातुका मलका सम्बन्ध प्रारम्भ से है, उपायोके द्वारा वह मल दूर हो जाता है और शुद्ध धातु प्रकट होती है ऐसे ही जीव का कर्ममलके साथ अनादिकालसे सम्बन्ध है, लेकिन आत्मदर्शन, आत्मध्यान आत्माको ही शरण मानकर अपने उपयोगको इस भगवान आत्माको ही समर्पित कर देना इन सब उपायो से कर्ममल दूर हो जाते हैं और कैवल्य प्रकट हो जाता है। इस कामके लिए बडी तीव्र धुन चाहिए। ऐसी धुन हो कि जिस धुनमे रमने वाले पुरुषको बाह्य लोगोके प्रवर्तनसे क्षोभ न उत्पन्न हो और न कही बाह्य पदार्थोंमे अपने हित अहितकी धारणा हो। एक अपनी अन्त धुनमे लगा रहे, कैवल्यस्वरूपकी भावना बनाये रहे, केवल ज्ञानपुञ्ज हू, आन द स्वरूप हू, आकाशवत् निर्लेप हू, इस मुझको पहिचानने वाला कौन है? यह मैं स्वय परिपूर्ण हू, अधूरा नही हू, मै स्वतः सिद्ध हूँ और अमर हू। ऐसी दृष्टि न होनेसे इस जीव को शान्तिलाभ होता है, चाहे बाह्यमे इसके बहुत उपद्रव रहते हो।

अध्यात्मदर्शनसे विह्वलताका विनाश—अध्यात्म दिशा और व्यवहार दिशामें बहुत अन्तर वाली परिस्थितियां होती है। बडी बड़ी व्यवस्थाएं बनायें तो सही, लेकिन किन्ही बातोमे सफल असफल होनेसे या जैसी व्यवस्था चाहते है वैसी व्यवस्था न बनने से अन्तरङ्ग में विह्वल न होना चाहिए और वह विह्वलता न हो इसका उपाय है अध्यात्मदर्शन। जैसे एक देशके सम्बन्धमें चिन्ताएं चलती है, किसी अन्यका इस पर शासन न हो, देश स्वतंत्र रहे, अपने देशका विस्तार गौरव चाहते है, व्यवहारदृष्टिमे ये सब बातें युक्त हैं और ऐसा देखनेके लिए यह मनुष्य लालायित रहता है, किन्तु कुछ अध्यात्ममें चलकर अपना अनुभव करे, उसके बाद फिर तो ऐसा जंचेगा कि क्या परतत्त्वोके लिए कल्पनाएं की ? क्या मेरा है यहाँ ? न मेरा देश है, न मेरी जाति है, न कुल है, न देह है, न परिवार है, न वैभव है और आज जिसे हम विदेश समझते हैं मरकर वहीं जन्म लें तब फिर इस देशको विदेश समझने लगेंगे। तो दोनोकी दिशायें जुदी-जुदी है, और फिर किसी कर्मयोगी पुरुषमे इन दोनो दिशावोंका भी अपनी-अपनी सीमामें मिश्रण रहता है।

मूल आशयमें बिगाड़ न आने देनेका संधारण—भैया ! हो कुछ भी किन्तु अपने मूल आशयमे बिगाड़ न आना चाहिए। यह जगत मायारूप है, इससे मेरा स्वरूप न्यारा है, मैं आकाशवत् निर्लेप चैतन्यमात्र हू ऐसी प्रतीतिमे बाधा न आये और ऐसे निर्णयमें फर्क न आये तो जीवन हितकारी है। सब भ्रमका ही खेल है। भ्रममे ही रहकर यथा तथा विषयसाधनोमे रमकर जिन्दगी व्यतीत किया, मरकर फिर कही जन्म लिया। ऐसा ही जन्म संस्करण अज्ञानी जीवोके रहा करता है। यह सब उपाधिके सम्बन्धसे हो रहा है। और यह उपाधि अनादि परम्परासे लगी है। ध्यानका वर्णन करने वाले इस ग्रन्थमे ध्यानके मुख्य अङ्गोमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहा है, उसमे से सम्यग्दर्शनका यह वर्णन है। तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान् करना सम्यग्दर्शन है। तो माया तत्त्व और कैसे विभाव बना, क्या स्वभाव है, इन सबका निर्णय हो तभी वहाँ समीचीन आशय बन सकता है। तो कर्ममलका सम्बन्ध अनादिकालसे है। तो क्या यह छूट नही सकता ? इसके उत्तरमें अगला श्लोक कह रहे है।

> द्वयोरनादिसम्बन्ध सान्त पर्यन्तवर्जित ।
> वस्तुस्वभावतो ज्ञेयो भव्याभव्याङ्गिनो क्रमात् ॥४०९॥

भव्य अभव्यका कालकृत अन्तर—कहते है कि भव्य जीव और अभव्य जीव दोनो के ही ससार अनादिकालसे लगा है लेकिन भविष्यमे अन्तर है। भव्यका संसार अन्तसहित हो सकता है और अभव्यका संसार अन्तरहित ही हो होता है। अभव्यके अनादिसे ससार है और अनन्तकाल तक रहेगा और भव्य जीवके ससार तो अनादिसे है, कही ऐसा नही है

कि पहिले शुद्ध जीव हो और फिर उपाधि लगी हो, भव्यका भी ससार अनादिसे है किन्तु उपायोंसे इसके ससारका अन्त हो सकता है।

चतुर्दशसमासेषु मार्गणासु गुरोषु च।
ज्ञात्वा ससारिणो जीवा श्रद्धेया शुद्धदृष्टिभि ॥४१०॥

नानापर्यायोंमें रहकर भी जीवकी एकत्वनिश्चयगतता—सम्यग्दर्शनके प्रकरणमे जीवादिक ७ तत्त्वोका वर्णन चल रहा है उसमें जीवतत्त्वके वर्णनका यह अन्तिम श्लोक है। कहते हैं कि जीवतत्त्वको १४ जीव समासोमे १४ मार्गणावोमें, १४ गुणस्थानोमे शुद्ध नयसे जान लेना चाहिए। १४ जीव समासोका कितना महान् विस्तार है, कितनी तरहके जीव शरीर उनकी पर्याप्त अपर्याप्त दशा, गुणकृतभेद; शरीरकृत भेद इन सब नाना रूपोमे यह जीव रह रहा है और नाना रूप बन रहा है। फिर भी उन नाना रूपोमे, मूलतत्त्व तो एक समान है इतने विचित्र परिणमन होकर भी इन सब जीवोमे जीवत्वभाव पूर्ण समान है और उस दृष्टिसे भव्य और अभव्यका भी भेद नही है। वह जीवकी विशेषता बन गयी, स्वरूप नहीं बना। जीवका स्वरूप भव्य होना या, अभव्य होना नही है किन्तु एक ज्ञायक स्वभाव है। यह जीव १४ जीव समासोमे रहकर अपने एकत्व स्वभावको नही छोडता। जैसे बहुतसे मूंगके दानो मे रहकर भी कुरडू मूंग पकायी जाने पर भी अपनी आदतको नही छोडती अथवा जैसे बहुत बडे ककडोके बीच रहकर भी हीरा मणि आदिक अपने स्वभाव को नही छोड़ते, अथवा अनेक परिणमनोमे परिणमन कर भी कोई भी पदार्थ मिट्टी आदिक अपनी प्रकृतिको नही छोडते, ऐसे ही समझिये कि अनेक जीवसमासोंमे अनेक प्रकारके आकारोमे अनेक वासनाओमे रहकर भी जीव अपने मूलस्वरूपको नही छोडता।

नवतत्त्वगत होनेपर भी जीवकी एकत्वनिश्चयगतता—नाना पर्यायोमे रहकर भी जीव अपना एकत्व नही छोडता, यह तो एक मोटी पर्यायोमे दिखाया है, पर ९ तत्त्व जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य पाप—इन ९ तत्त्वोरूप परिणमकर भी इन ९ तत्त्वोके बीचमे भी यह जीव अपने एकत्व स्वरूपको नही छोडता। जैसे कोई जीव आत्माको मानते हैं कोई जीव आत्माको मना करते है, आत्मा कुछ नही है यह भी तो एक जानकारी है ना? यह जानकारी जिसने की वह तो कुछ है? आत्माका मना कैसे हो सकता है। जो आत्माको मना करेगा वह भी आत्मा है और जो आत्माकी सिद्धि करेगा वह भी आत्मा है। शुद्ध पर्यायोमे भी प्रवर्तने वाला आत्मा है। आत्माका जो स्वरूप है वह आत्मामे सतत रहता है अन्यथा निगोद, नारकी, कीडा कैसी कैसी दशायें हुईं, कैसी पर्यायोमे एकता की, लेकिन अब तक हम आप जीव ही है, अजीव नही बने। तो संसारी जीवोंके बहुतसे भेद हैं, उन भेदोमे जीवको जानना चाहिए और साथ ही शुद्ध दृष्टि लगाकर अपने ही

अस्तित्वके कारण जो स्वरूप है उस स्वरूपमे जीवत्वको निरखना चाहिए।

धर्माधर्मनभ काला. पुद्गलै सहयोगिभि ।
द्रव्याणि षट्प्रणीतानि जीवपूर्वाण्यनुक्रमात् ॥४११॥

द्रव्योंमें जीव और पुद्गल द्रव्योंका अस्तित्व—जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल ये ६ द्रव्य योगीश्वरोने प्ररूपित किये है। द्रव्य तो ६ नही हैं, अनन्त है, किन्तु उन समस्त अनन्त द्रव्योकी जातिया जिनका कोई साधारण लक्षण अपनी सब जातियोमे रहे और अपनी जातिसे विरोधी अन्य जातिमे न रहे उस असाधारण लक्षणके बलसे द्रव्योमे ६ जातियाँ बतायी गई है। जैसे जीव कहा तो जीवका जो लक्षण है वह जीवत्व सब जीवोमें है। कोई जीव इस जीवत्वसे शेष रह जाय ऐसा नही है और साथ ही जीवको छोडकर अन्य किसी भी पदार्थमे नही रहता है जीवत्व। लक्षणसे जातियां बनती हैं। जो अपने समस्त लक्ष्यमे रहे और लक्ष्यके अतिरिक्त अलक्ष्यमे न रहे वही लक्षण निर्दोष होता है। जीवत्व सब जीवोमे है और जीवको छोडकर अन्यमे नही है तो जीवत्व लक्षण सही हो गया। तो एक जीव जाति कहलाई। इसी प्रकार पुद्गल अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला होना यह स्वभाव समस्त पुद्गलमे है। कोई भी पुद्गल ऐसा नही है जो रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित हो। परमाणुमे भी रूप, रस, गंध, स्पर्श न हो तो उनका सत्त्व नही बन सकता और परमाणुवोके पिण्डसे फिर जो रूपादिक व्यक्त प्रतीत होने लगते है यह भी न बनेगा। तो पुद्गलका स्वरूप मूर्तपन समस्त पुद्गलमे है और पुद्गलके सिवाय अन्य किसी पदार्थमें नहीं है। पुद्गल एक जाति हो गए।

धर्म अधर्म आकाश और काल द्रव्यका अस्तित्त्व—धर्मद्रव्य गतिहेतु है, अधर्मद्रव्य स्थितिहेतु है, आकाश अवगाहहेतु है और काल परिणमनहेतु है। धर्म, अधर्म, आकाश इनकी जाति भी एक है और व्यक्ति भी एक है, ये एक एक ही द्रव्य हैं, कालद्रव्य असंख्यात है। जिस प्रदेश पर जो कालाणु है उस कालाणु पर ठहरे हुए पदार्थोंके परिणमनमे वे कालाणु निमित्त है। यदि कोई अनेक प्रदेशी पदार्थ ठहरा हो तो जितने में वह विस्तृत है उतनेमे असख्यात कालद्रव्य भी पडे है। एक आकाशद्रव्य इतना व्यापक है कि आकाशके बहुत कम हिस्सेमे कालद्रव्य है और बाकी असीम अनन्त जो काल है उस जगह कहाँ कालद्रव्य है लेकिन लोकाकाशमे स्थित कालद्रव्यके निमित्तसे यह आकाश परिणत हो रहा है। आकाश कही खण्डरूप नही है कि आकाशके दो भेद हो, दो भाई हो। एक लोकाकाश और एक अलोकाकाश। आकाश तो एक ही अखण्ड है। केवल एक निमित्तभेदसे, व्यवस्था भेदसे भेद कल्पित किया गया है कि जहाँ समस्त द्रव्य हो वह तो लोकाकाश है और जहाँ केवल आकाश ही हो वह अलोकाकाश है। परिणमनोमे जो अत्यन्त विभिन्नता देखी

है उसका कारण सामान्यतया यह भी है कि कालद्रव्य असंख्यात है और अपने अपने काल प्रदेशोपर अवस्थित पदार्थोके परिणमनमे वहाँ भी कालद्रव्य निमित्त है। तो काल असंख्यात है. इस प्रकार अनन्त पदार्थोके वे प्रकार योगीश्वरोने कहे है। ध्यानके ग्रन्थमे ध्यानका अंग सम्यग्दर्शन बताया जा रहा है और उस सम्यग्दर्शनके परिच्छेदमे वस्तुवोके स्वरूपका निरूपण है। पदार्थोका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थोका किस रूपमे श्रद्धान करते है उसे बतानेके लिए यह सब पदार्थोकी चर्चा चल रही है।

तत्र जीवादय पञ्च प्रदेशप्रचयात्मका।
काया. काल विना ज्ञेया भिन्नप्रकृतयोऽप्यमी॥४१२॥

द्रव्योंके स्वभावकी अहेतुकता—उन छहों द्रव्योमे से एक कालद्रव्यको छोडकर बाकी जीवादिक ५ पदार्थ ५ द्रव्य अनेक प्रदेशी होनेके कारण अस्तिकाय है और कालाणु केवल एकप्रदेशी ही है उसे अस्तिकाय नही कहा गया है। कोई अस्तिकाय है, कोई नही है, कोई असंख्यातप्रदेशी है, कोई अनन्तप्रदेशी है। इस प्रकारका जो कुछ भी विभिन्न स्वरूप है वह सब पदार्थोके स्वभावसे जाना। कोई ऐसा तर्क करने लगे कि पुद्गलमे रूप, रस, गध, स्पर्श ही क्यो होते हैं, इसमे जीवत्व क्यो नही होता, ये नीमकी पत्ती कड़ुवी क्यो होती, ये पालक की तरह मीठे क्यो नही हो गए? कोई हेतु बतावो? क्या युक्ति दें? प्रकृति कारण है। प्रकृतिसे ही नीमके पत्ते कड़ुवे हुए। उसमे अब और कारण क्या लादा जाय? और कुछ कारण कहेंगे तो वह फिट तो नही बैठता। अटपट कोई कुछ कह दे। नीमका बीज कड़ुवा है उससे पत्ते कड़ुवे हो गए। अच्छा नीमके बीज कड़ुवे क्यो हो गए? इसमे युक्ति दो। तो प्रकृतिकी जो चीज है उनका प्रकृति ही उत्तर है। जीवमे चैतन्य क्यो हुआ? ऐसी किसीने सृष्टि की है क्या? कोई लोकसभा हुई थी क्या, उसमे विचार चला था क्या, कोई प्रोग्राम बना था क्या कि देखो अपनको कुछ पदार्थ बनाने हैं? उनकी राय हुई हो, कोई ढंग बना हो ऐसा तो नही है। पदार्थ है अनादिसे है और है इसीसे यह सिद्ध है कि जैसा है सो है। जिसका जो स्वभाव है वह है। यहाँ हम मनुष्यो मे तो पूछ सकते है कि इस मनुष्यमे यह आदत क्यो बन गई, क्योकि मनुष्यमे आदत रूप नही होता। किसीमे चोरीकी आदत है, किसीमे हिंसाकी हो, किसीमे समताकी हो तो पूछ सकते हैं और कह भी सकते हैं। क्योकि वह वहाँ स्वभावकी बात नही है। वह अनेक
पूछ सकते है और कह भी सकते हैं। क्योकि वह वहाँ स्वभावकी बात नही है। वह अनेक
पदार्थोके सम्बन्धसे होने वाले प्रभावकी बात है। पर किन्ही एकाकी पदार्थोमे हम कैसे यह खोज सकते हैं कि इसमे यह स्वभाव क्यो पडा? क्यो हर जगह नही चलता। प्रकृतिमे "क्यो" का अवकाश नही है। और हर बातमे क्यो क्यो की बात कहना भी मनुष्यका एक

रोग है, ऐसा क्योके रोग वाला मनुष्य किसी जगह आदर नही पाता। मास्टर पूछे बच्चे तुमने कलाका पाठ याद कर लिया ? बच्चे कहे क्यो ? तो क्यों; तो बैठे रहो। डाक्टर रोगी से पूछे कहो अब कैसी तबियत है ? रोगी कहे क्यों ? तो क्यो तो क्यो सही ? जज पूछे वकीलसे तुम इसमे कुछ सबूत रखते हो ? वकील कहे क्यो ? क्यो है तो जावो। तो क्यो जहाँ फिट है वहां तो ठीक है, पर हर बातमे क्यों-क्यो ही चले तो बात न निभेगी। ये समस्त पदार्थ स्वभावसे ही अपने अपने लक्षणरूप है। कोई अस्तिकाय है, कोई एकप्रदेशी है, कोई चेतन है, कोई अचेतन है, कोई मूर्त है, कोई अमूर्त है। जो है, जैसा है उसे वैसा बता दिया गया।

अचिद्रूपा विना जीवममूर्ता पुद्गलं बिना।
पदार्था वस्तुत सर्वे स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मका ॥४१३॥

पदार्थोंका स्वरूप—जीवको छोडकर शेषके समस्त पदार्थ अचेतन स्वरूप है और पुद्गलको छोडकर शेषके समस्त पदार्थ अमूर्त है। तो चेतन अचेतन इन दो प्रकारोमे सब पदार्थ आ गए। इसी प्रकार मूर्त और अमूर्त इन दो प्रकारोंमे सब पदार्थ आ गए। कि तु वे सभी पदार्थ वस्तुत. उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे तन्मय हैं। उत्पादका अर्थ है बनना, व्ययका अर्थ है बिगडना और ध्रौव्यका अर्थ है बना रहना। प्रत्येक पदार्थ बनता है, बिगडता है और बना रहता है। बनकर भी बिगडा और बना रहा, बिगडकर भी बना और बना रहा और बना रहकर भी बना और बिगड गया। ये तीन बाते प्रत्येक पदार्थमे प्रति समय रहती हैं। चाहे इन तीनरूपोंमे पदार्थोंको निहार ले और चाहे उत्पाद व्यय होता है वह तो पर्याय है और जो सदैव रहता है वह गुण है। तब गुण पर्यायरूप द्रव्य है ऐसा निहार लो। पर्याय चूंकि गुणसे पृथक् नही है। गुणोके ही समय समयका परिणमन है। हम पर्यायसे द्रव्यमे क्या भेद डालें। तब गुणोका समुदाय ही द्रव्य है यो निरखा जा सकता है। अथवा कोई भी गुण परिणमे बिना कभी रहता ही नही तो गुणोका रूपक बाह्य शक्ति पर्याय है, तब यो कहलो कि जो पर्यायोका समुदाय है वह द्रव्य है। इसमे चाहे उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत् कहो या गुणपर्यायवत् द्रव्यं कहो या गुणसमुदाय द्रव्यं कहो या पर्यायसमुदाय द्रव्यं कहो भिन्न-भिन्न दृष्टियोसे हम द्रव्यको दृष्टिमे लिया करते है। सभी पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप हैं। यह सब पदार्थोका तत्त्वभूत वर्णन चल रहा है।

यथार्थस्वरूपविज्ञानसे आत्महितका प्रकाश—सम्यग्दृष्टि जीवो का कैसा कैसा श्रद्धान रहता है और यथार्थ श्रद्धालु ही ध्यानका पात्र है यह बताने के लिए पदार्थोका स्वरूप कहा जा रहा है। इस स्वरूपसे हम अपने हितके लिए शिक्षा भी लेते रहे। प्रत्येक पदार्थ खुद उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभाव वाला है, अतएव यह बात प्रसिद्ध हुई कि किसी भी पदार्थसे

किसी अन्य पदार्थका परिणमन नही होता। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका विनाश नही कर सकता जो प्रत्येक **पदार्थोंमें** परस्पर अत्यन्ताभाव है वह पुरुष बडा ज्ञानवली है जो निमित्तनैमित्तिक भावोको निरखकर भी वस्तुके स्वतंत्र स्वरूपकी दृष्टिसे चिगता नही है। अग्निमे सयोगका निमित्त पाकर पानी गर्म हुआ, यह जानकर भी पानीमे स्वयं स्पर्श उष्ण का हुआ है और पानी के स्पर्शकी परिणतिमे ही उष्णता आयी है, यह अग्निसे निकलकर नही आयी है, इस प्रकारकी बात भी दृष्टिमे रह सके, प्रमाणका साधन उपयोगमे रह सके जिसके, वह एक विशिष्ट ज्ञानबली है, अन्यथा लोग तो जो निमित्तको, व्यवहारको पसद करते है वे एकान्तसे निमित्त और व्यवहारके ही प्रतिपादन और पोषणमे जुट जाते हैं और फिर इस हठके कारण उपादानकी निश्चयकी बात कहने से भी चिढ हो जाती है और जिन्हे निश्चय उपादान स्वातत्र्य प्रिय होता हैं वे उसके एकान्तमे व्यवहारकी भी सही बात कहनेमे हिचक लाते है। और वे उसके पोषणमे इतना जुट जाते हैं कि व्यवहारकी बात कह भी नही सकते। किन्तु ज्ञानवली पुरुप वह है जो प्रमाण द्वारा अपने आपको सही संतुलित बनाये। जिसके बारेमे पदार्थस्वरूपवादिता ही प्रकट हो वह एक विशिष्ट ज्ञानबल है। ये सब हितकी बाते पदार्थोंके स्वरूपको सुनकर विवेकी पुरुष समझते जाते है।

अणुस्कन्धविभेदेन भिन्ना स्यु पुद्गला द्विधा।
मूर्ता वर्णरसस्पर्शगुणोपेताश्च रूपिण ॥४१४॥

पुद्गलका स्वरूप और भेद—पुद्गलद्रव्य दो प्रकारके हैं—अणु और स्कध। पुद्गलमे ये दो भेद नहीं पडे है कि कोई पुद्गल अणु कहलाता हो और कोई पुद्गल स्कध कहलाता हो। किन्तु, पुद्गल तो सब एक ही प्रकारका है। अणु एकप्रदेशी है और उन अणुवोका समूह बनकर पिण्ड हो जाय तो उसे स्कंध कहते है। जैसे कहते है जीव दो तरह के हैं–संसारी और मुक्त। तो कही जीव दो तरहके नही हो जाते कि कोई जीव ससारस्वरूपी है और कोई मुक्तस्वरूपी है। जीव तो सब एक प्रकारके हैं किन्तु जिन जीवोका उपाधिवश संसारपरिणमन हो रहा है वे मुक्त कहलाते हैं ऐसे ही पुद्गल तो सही मायनेमे अणु ही है पर अणुका पिण्ड बन गया तो वह स्कंध कहलाने लगा। तो एक स्थूल दृष्टिसे पुद्गल दो प्रकारके हुए—अणु और स्कंध। वे सभी पुद्गल चाहे वे अपने असली सकलमे हो और चाहे वे बन्धनरूपमे हो किन्तु सभी मूर्त है—रूप, रस, गध, स्पर्श गुणोसे युक्त हैं।

जीव और पुद्गलके स्वरूपपरिचयसे आत्मशिक्षा—जीव पुद्गलके स्वरूपके वर्णनसे यह शिक्षा लें कि मैं चेतन हू, ये पुद्गल अचेतन है। देखिये इस समय जो हम आपकी स्थिति है उस स्थितिमे भी ये दो बातें निरखी जा सकती हैं कि हम शरीरसे ऐसे एकमेक हो गए

कि हम शरीरसे जुदा कही ठहर नही सकते और इससे जुदा हम अपने आपको निरख नही पाते। यो शरीरका और जीवका ऐसा एक बन्धन हो गया है यो निरखा जा सकता है ना, और इस ही स्थितिमे क्या यह नही निरखा जा सकता कि मैं जीव हू, चेतन हू और ये समस्त शरीर स्कंध अचेतन है, अजीव है? मेरा लक्षण चैतन्य है, शरीरका लक्षण मूर्तिकता है, मैं शरीरसे न्यारा हूं, क्या इस प्रकारका उपयोग नही बनाया जा सकता? लेकिन जिसकी रुचि बंधन देखनेकी ही है, शरीरसे भिन्न चैतन्यमात्र निजके देखनेकी उमंग न हो, बोल न निकले, दृष्टि न बने उसका क्या भवितव्य है उसका मनमें निर्णय कर लें और जो इस बधनकी ओर उपयोग नही लगाते, जो एक मात्र अपने स्वतंत्र चैतन्यस्वरूपका उपयोग करते है उनका भी निर्णय करलें कि भविष्यमें उन्हे क्या मिलेगा?

स्वतन्त्रताकी रुचि—रुचि स्वतंत्रताकी होनी चाहिए, ज्ञानकी बात और है। जो जैसा पदार्थ है उसे उस प्रकारसे जान लें, लेकिन पदार्थ तो समस्त परिस्थितियोंमें अपने ही स्वभावरूप रहा करते हैं, अन्य पदार्थोंके स्वभाव रूप नही बनते, तब यह वस्तुकी स्वतत्रता ही तो हुई। दृष्टि और उत्साह स्वातंत्र्यमे पहुंचना चाहिए। हम बधनमे बधे है और उस ही की दृष्टि रखें, दृष्टि रखनेके मायने गुण माना है, हम बधनके ही गुण गाते रहे तो यह एक ससराका तरीका हो गया। हम सब विवेचनोसे कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते है। कुछ भी चर्चा चल रही हो, तीन लोकको चर्चा, महापुराण पुरुषोकी चर्चा कालरचनाकी बात सभी चर्चावोसे हम अपने हितके योग्य शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। जो चर्चामे ही फंसते हैं, चर्चासे जो शिक्षा लेना चाहिए उसकी ओर दृष्टि नही देते हैं उनके लिए तो चर्चा भी धन मकानकी तरह बाह्यविभूति है, लोक चर्चामे जहाँ लोकके विशाल प्रमाणका वर्णन आया वहाँ यह दृष्टि जगना चाहिए कि एक अन्त स्वरूपके जाने बिना इस जीवने इस लोकमे सर्वत्र सर्वप्रदेशोपर अनन्त वार जन्म मरण किया। जब कालकी चर्चा आयी, काल समस्त अनादि अनन्त है और यह जीव सत् भी अनादि अनन्त है और इस जीवका अनादिमे परिणमन होता आया है, अनतकाल तक परिणमन होता रहेगा।

जीवकार्योंके विज्ञानसे स्वहितमार्गण—जीवका स्वकाय और बाह्यमे परकाय इन दोनोकी चर्चासे हम यह शिक्षा ले सकते है कि एक निज अन्तस्तत्त्वके अनुभव बिना यह जीव अनादिकालमे संसरण ही करता रहा और जब तक परिचय न पा जायेगा तब तक चाहे अनन्त काल भी व्यतीत हो जाय यह संसरण चलता रहेगा। कुछ भी वर्णन हो उससे अपने प्रयोजनकी बात निकालना चाहिए। व्यापारमे व्यवहारमे प्रयोजनकी बात निकालने की ही आदत बनी रहे क्या ऐसा किया नही जा सकता? जब जीवोके देहोकी बात चल रही हो छोटेसे छोटे अंगुलके असंख्यातवें भाग से लेकर एक हजार योजन तकके लम्बे,

५०० योजन चौडे और २५० योजन मोटे शरीर इस लोकमे हैं, इससे यह शिक्षा ले कि एक अपने आपके सहजस्वरूपके अनुभवके बिना ऐसे विभिन्न शरीरोमे जन्म लेना पडता है। यह पदार्थोंका स्वरूप चल रहा है। जो सम्यग्दर्शनके विषय हैं और सम्यग्दर्शन ध्यानका मुख्य अंग है, सत्य श्रद्धाके बिना ध्यानमे कोई सफल नही हो सकता।

किन्त्वेकं पुद्गलद्रव्य षड्विकल्पं बुधैर्मतम्।
स्थूलस्थूलादिभेदेनसूक्ष्मसूक्ष्मेन च क्रमात् ॥४१५॥

पुद्गलके छह प्रकार––जो पदार्थ हमारी दृष्टि और व्यवहारमे आते हैं उन पदार्थों के सम्बन्धमे और उन पदार्थोंकी जाति वाले अन्य अटपट पदार्थोंके सम्बन्धमें जब तक यथार्थ निर्णय नही होता है तब तक चित्तको समाधान नही रहता और निराकुलता पानेकी योग्य पात्रता नही रहती, इस कारण पुद्गलके विस्तारके सम्बन्धमे भी प्रयोजनीभूत निर्णय रहना चाहिए। ये पुद्गलद्रव्य ६ प्रकारके हैं, स्थूल-स्थूल—जैसे पृथ्वी पर्वत आदिक मोटे पिण्ड है। दूसरे स्थूल जल दूध आदिक तरल पदार्थ। ये पृथ्वी की तरह पिण्डभूत तो नही हैं किन्तु पकडनेमे आते है, स्पर्श इनका होता है, अतएव ये स्थूल है। तीसरा है स्थूलसूक्ष्म—जैसे छाया गर्मी चाँदनी जो पकडनेमे भी नही आते किन्तु दिखते है, नजर तो आते हैं कि यह है छाया, यह है आताप। तो जो नेत्रइन्द्रियसे ग्रहणमे आता है किन्तु पकडनेमे नही आता वह है स्थूल सूक्ष्म। चौथे नम्बरका पुद्गल है सूक्ष्म स्थूल जो नेत्रके सिवाय अन्य इन्द्रियके द्वारा ग्रहणमें आते हैं–जैसे शब्द, गध, इनके सम्बन्धमे आँखो देखी चीज जैसा, स्थूल जैसा निर्णय नही है जिसे देखकर हम कहते है किसी पदार्थके सम्बन्धमे इस तरह एक प्रत्यक्ष उदाहरण जैसा सामने रख कर इसको नही बताया जा पाता। यह सूक्ष्म स्थूल है। ५वे नम्बरका पदार्थ है सूक्ष्म जो कि कर्मवर्गणाये है। जो अनेक अणुवोके पिण्ड तो हैं किन्तु किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहणमे नही आते। और छठे नम्बरके है सूक्ष्मसूक्ष्म परमाणु जो सूक्ष्म ही हैं पिण्ड रूप भी नही, अपने-अपने एकत्वको लिए हुए प्रकट हैं।

पदार्थोके वर्णनका प्रयोजन वस्तुस्वातन्त्र्यकी दृष्टिका कारण––६ प्रकारके ये पुद्गल पदार्थ हैं। ये सभी चेतनासे रहित हैं, मूर्तिक है, इनसे आत्माका सम्बन्ध नहीं है, स्वतन्त्र पदार्थ हैं, आत्माका इन पदार्थोमे अत्यन्ताभाव है। ये बाह्यपदार्थ आत्माका हित नही करते हैं, अहित करते है। हम ही हित अहित करते समय ऐसा भाव बनाते हैं जिन भावमे ये बाह्यपदार्थ विषयभूत होते है, आश्रय होते हैं, वस्तुत किन्ही भी इन बाह्य पुद्गलोसे आत्मामे कोई परिणमन नही होता। परिणमन किसी एक ध्रुवसे उत्पन्न होता है। हमारा जो परिणमन है वह हम ध्रुवसे उत्पन्न होगा, अन्य पदार्थोंके जो परिणमन हैं वे उन अन्य ध्रुव पदार्थोसे उत्पन्न होंगे। किसी पदार्थसे। किसी अन्य पदार्थका परिणमन नही बनता।

ऐसी वस्तुस्वातन्त्र्यकी दृष्टि जगने का ही प्रयोजन है इन सब पदार्थोंका वर्णन करने में।

प्रत्येकमेकद्रव्याणि धर्मादीनि यथायथम्।
आकाशान्तान्यमूर्तानि निष्क्रियाणि स्थिराणि च ॥४१६॥

धर्म अधर्म आकाश द्रव्यकी एकद्रव्यता और शुद्धता—धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन तो एक-एक द्रव्य है, ये अनेक नही है और ये तीनो ही अमूर्त है, निष्क्रिय है और स्थिर हैं, इनमे रूप, रस, गंध, स्पर्श नही है, इस कारण अमूर्तिक है। धर्मद्रव्य एक अति-सूक्ष्म ऐसा पदार्थ है कि जो जीव पुद्गलके गमनमें हेतुभूत होता है। अब भी वैज्ञानिकोंने कुछ न कुछ पदार्थ ऐसे माने है—जो गतिके कारण हैं, तरंगोंके कारण है, ऐसे कुछ ईथर उनकी कल्पनामे आते है। वह भी एक संकेत है कि गतिहेतुभूत कुछ पदार्थ होना ही चाहिए। अधर्मद्रव्य भी सूक्ष्म है और वह जीव पुद्गलकी स्थितिका हेतुभूत है। कुछ भी काम हो रहा हो उससे भिन्न कोई दूसरा काम हो तो अवश्य ही कोई दूसरा बाह्य कारण है। एक समान एक ही रूप परिपूर्ण कार्य होता रहे उसमें किसी बाह्य निमित्तके खोजने की आवश्यकता नही है। वह पदार्थके अस्तित्वसे ही सब कुछ हो रहा है, किन्तु जो परिणमन अभी कुछ है अब कुछ हो गया तो बाह्य परिणमन जो भी हुआ हो उसमे कोई बाह्य कारण अवश्य है। न हो बाह्य कारण तो पहिले से ही ऐसा क्यो नही हुआ और अनन्त काल तक ऐसा ही क्यो नही होता रहता। ये विभिन्नताये बाह्य उपाधिका समर्थन करती है कि किसी बाह्य पदार्थका निमित्त पाकर ये सूक्ष्म पदार्थ अपने आपमे स्वयं परिणमन कर लेते हैं। तो यहाँ धर्म, अधर्म, आकाश ये एक समान ही अपना परिणमन रखते है अतएव शुद्ध हैं।

धर्म अधर्म आकाश द्रव्यकी निष्क्रियता एवं स्थिरता—ये धर्म, अधर्म, आकाश निष्क्रिय भी हैं, जितनेमे ये द्रव्य हैं, उतनेसे न कम होते अधिक होते। अर्थात् ये व्यापक हैं और व्यापक पदार्थोमे क्रिया नही हो पाती। जैसे किसी घडेमे पूर्ण जल भरा हो तो उसमे क्रिया तरग लहर नही उत्पन्न हो पाती और आधा चौथाई ही घडा भरा हो उसमे छलकन तरंग क्रियाये ये होती रहती है। जो सर्वव्यापक हो उसकी अब क्रिया क्या। धर्मद्रव्य इस लोकाकाशमे सर्वत्र व्यापक है, यो ही अधर्मद्रव्य सब लोकाकाशमे व्यापक है, और आकाश-द्रव्य असीम है, सर्वव्यापक है, इस व्यापक पदाथमे क्रिया कहासे बनेगी। धर्म अधर्म और आकाश ये निष्क्रिय है, और जो निष्क्रिय होते है वे स्थिर होते ही है। अस्थिरता तो क्रियामे चलती है। यो ये तीन पदार्थ अमूर्तिक है, निष्क्रिय है, और स्थिर है। जितनी बातसे हमे प्रयोजन है जिससे हमे भेदविज्ञान करना है उतनी बातको सही समझनेके लिए केवल उतना ही समझने की जरूरत नही है, उससे अधिक समझने की स्पष्टताके लिते जरूरत है। जैसे

चतुर लोग किसी व्यवहारकार्यमे किसी मामलेको समझनेके लिए पूर्वापर विस्तारसे समझा करते हैं तब प्रयोजनीभूत घटना स्पष्ट समझमे होती है। तो यो पुद्गलसे हमे अपनेको न्यारा निरखना है, इस भेदविज्ञानके प्रयोजनके लिए केवल शरीर हम अपनेको न्यारा समझ लें इतनी ही मात्र जानकारी बनें, इससे इस विविक्तताका विशद बोध नही हो पाता, किन्तु उसके निकटका सब ज्ञान होना चाहिए तब हम उस विषयमे सही ज्ञान वाले बन सकते हैं। ये धर्म अधर्म और आकाश जो कि अमूर्त है, जिनसे हमारा कोई भिडाव नही, रोक नही, उसका भी वर्णन किया जा रहा है।

सलोकगगनव्यापी धर्म स्याद्‌गतिलक्षण ।
तावन्मात्रोऽप्यधर्मोऽय स्थितिलक्ष्म प्रकीर्तित ॥४१७॥

धर्म और अधर्मद्रव्यका लक्षण—धर्मद्रव्य समस्त लोकाकाशमे व्यापक है और उसका जीव और पुद्गलकी गतिमे सहकारी होना लक्षण है। जो जीव और पुद्गलके गमन मे निमित्तभूत हो उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। अधर्मद्रव्य भी लोकाकाशमे सर्वत्र व्यापक है, और धर्मद्रव्यकी भाँति धर्मद्रव्यके ही बराबर यह अधर्मद्रव्य व्यापक है और अधर्मद्रव्यका लक्षण है चलते हुए जीव पुद्गलका ठहरना।

स्वय गन्तु प्रवृत्तेषु जीवाजीवेषु सर्वदा ।
धर्मोऽय सहकारी स्याज्जल यादोऽङ्गिनामिव ॥४१८॥

धर्मद्रव्यके लक्षणका विवरण—यह धर्मद्रव्य स्वय जाने के लिए प्रवृत्त हुए जीव पुद्गलकी गतिमे सहकारी निमित्त है। जैसे जलमे रहने वाली मछली आदिकके लिए जल सहकारी है, जल प्रेरणा करके उन मत्स आदिकको नही चलाता है, किन्तु वे मत्स्य आदिक चलते है तो उस गतिमे जल सहायक निमित्त होता है। बात बिल्कुल स्पष्ट है। किसी नदी तालाबके निकट बैठकर आँखोसे देख लो, पानी कुछ दबाव देकर मत्स्य आदिकको नही चलाता। जल तो शान्त भी है जिसमे तरगें नही उठती, ऐसे जलके मध्य रहने वाले मत्स्य आदिक जीव अपनी इच्छानुसार ऊपरसे नीचे, नीचेसे ऊपर किसी भी दिशामे अपना गमन करते रहते है, ऐसे ही धर्मद्रव्य किसी जीव और पुद्गलको जबरदस्ती चलाता नही है किन्तु कोई चलना चाहे तो उसकी गति क्रियामे सहकारी हेतुभूत होता है। इसके अनुसार हम अन्य प्रसगोमे भी दृष्टि पसारे तो सब जगह यही नजर आने लगेगा कि मेरा इस आत्माको किसीने कुछ प्रेरणा कुछ परिणति दी नही है, यह आत्मा स्वय ही परिणमता है। चाहे कितने ही निमित्त मिले हो और उन निमित्तोको पाकर ही परिणमता हो कोई, इतने पर भी जो परिणमन कार्य है वह किसी अन्य पदार्थमे नही हो सकता है। अब जैसे जल मछली के चलनेमे उदासीन कारण है ऐसे ही धर्मद्रव्य चलते हुए जीवपुद्गलके गमनमे सहीकार

कारण है ।

दत्ते स्थिति प्रपन्नाना जीवादीनामयं स्थितिम् ।
अधर्मः सहकारित्वाद्यथा छायाध्ववर्तिनाम् ॥४१९॥

अधर्मद्रव्यके लक्षणका विवरण—अधर्मद्रव्य भी चलकर ठहरने वाले जीव और पुद्गलके ठहरनेमें सहायक कारण है । जैसे गर्मीके दिनोमे कोई पथिक धूपमे चल रहा है और उसे सडकके निकट कोई छायावान वृक्ष मिले तो वह वृक्ष उस पथिकके ठहरनेमे निमित्त बन जाता है, ऐसे ही समस्त जीव पुद्गलके ठहरनेमे अधर्मद्रव्य निमित्त होता है । छायाने जबरदस्ती उस पथिकको नही बुलाया, नही रोका, छाया तो छायाकी जगह ही है, किन्तु यह पथिक ही स्वयं अपने खेदका अभाव करनेके लिए अपने आप उस पेड़के नीचे पहुंचा और वहाँ ठहर गया । तो जैसे वृक्ष किसी मुसाफिरको जबरदस्ती नही रोकता है, जब मर्जी हो तो रुको, न मर्जी हो तो चल दो, लेकिन कोई पुरुष रुकना चाहता है, अपने संतापको दूर करना चाहता है तो उसकी दृष्टि किसी छाया प्राप्त करनेकी ओर होती है, ऐसे ही समझिये कि अधर्मद्रव्य भी जीवपुद्गलको जबरदस्ती नही ठहराता है किन्तु चलते हुए जीव पुद्गल ठहरना चाहे तो उनके ठहरानेमे कारणभूत अधर्मद्रव्य है । यह द्रव्य अत्यन्त उदासीन विदित होता है किन्तु इस ही शैलीसे दृष्टि लगावो तो जो अधिक तीव्र प्रेरणा देते हैं वे भी मात्र-सहकारी कारण मालूम होते हैं ।

अवकाशप्रदं व्योम सर्वगं स्वप्रतिष्ठितम् ।
लोकालोकविकल्पेन तस्य लक्ष्म प्रकीर्तितम् ॥४२०॥

आकाशद्रव्यका स्वरूप—आकाशद्रव्य समस्त द्रव्योको अवगाह देने वाला है और सर्वव्यापी है । लोकके अलावा अलोकमे भी वही एक अखण्ड रहकर फैला हुआ है । अन्य सब द्रव्य तो किसी हद तक हैं । मान लो कोई रचना है, मकानात बनाना है, कोई प्राकृतिक भी रचना है, पर्वत आदिक बने हैं तो जो एक पिण्डरूप हैं, जिनका ऐसा विभिन्न आकार है उन पदार्थोंका कही न कही अन्त जरूर होगा, अभाव अवश्य होगा । यह चौकी बड़ी है तो रहने दो बड़ी, जितनी बडी है उतनी रहे, पर सर्वत्र यह चौकी नही हो सकती । इस चौकीकी सीमा जहा खतम है उससे आगे तो आकाश ही मिलेगा । ऐसे ही जीव और पुद्गलका पिण्ड अन्य पदार्थ ये विद्यमान हैं तो इन पिण्डोका अन्त भी कही होगा । ये सब लोकाकाशके ही अन्दर हैं । लोकाकाशके बाहर द्रव्योकी गति नही है, किन्तु आकाश यहाँ वहाँ सर्वत्र व्यापक है, इस सम्यग्दर्शनके प्रकरणमे जहाँ कि समस्त द्रव्योका यथार्थ परिचय होनेकी प्रेरणा दी गई है उसमे इन सब पदार्थोंका स्वरूप कहा जा रहा है । यह आकाशका स्वरूप बताया है, अब कालद्रव्यका वर्णन करते है ।

लोकालोकप्रदेशेषु ये भिन्ना अणव स्थिता ।
परिवर्ताय भावाना मुख्यकाल. स वर्णित. ॥४२१॥

कालद्रव्यका लक्षण—लोकाकाशके प्रदेशोमे कालके भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, अणु हैं और यह कालद्रव्य अपने स्थान पर आये हुए समस्त द्रव्य गुणपर्यायमय पदार्थोंके परिवर्तन के कारणभूत हैं। जो लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर ठहरे हुए द्रव्य है वे तो निश्चय काल है और जो समय घडी घंटा आदिक रूपसे समझमे आने वाला समय है वह है व्यवहारकाल। देखिये—कालकी ही क्या बात, समस्त परिणमनोका आधारभूत स्रोत जो कुछ भी पदार्थ हैं वह सूक्ष्म है, केवल ज्ञानगम्य है, इसके ये मोटे-मोटे स्कंध नजर आते हैं इन स्कधोका मूलभूत जो कुछ भी तत्त्व है, अनन्तानन्त अणु है वे सब अणु भी सूक्ष्म हैं। उन अणुवोका भी प्रतिपादन व्यवहार किया कुछ हो नही पाता। फिर आत्माके सम्बन्धमे समस्त आत्माके परिणमनोका स्रोतभूत जो एक स्वभाव है उस स्वभावका भी प्रतिपादन हो नही पाता, वह तो अनुभवसे ही गम्य है। जैसे भोजन सामग्री मिश्री आदिक कुछ मिठाइया बनी तो ये केवल बातोसे अनुभवमे नही आते ये तो खाने से ही अनुभवमे आ पाते है, ऐसे ही इन समस्त पदार्थोंका ज्ञान करना है तो ये सब आत्मासे भिन्न हैं, इतने ही प्रयोजनको पुष्ट करनेके लिए पदार्थका ज्ञान विज्ञान बढानेकी आवश्यकता होती है, पर मूल प्रयोजन निराकुलता ही है। ज्ञानका मूल प्रयोजन शान्ति है। मैं लोकमे धनी कहलाऊँ, प्रतिष्ठित हो जाऊँ आदिक कामनाओके विकल्प अज्ञान है। तो जो अन्तस्तत्त्व है वह व्यवहारी नही हो पाता।

कालद्रव्यकी पर्याय और उसके परिज्ञानसे आत्मशिक्षा—लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर जो ठहरा हुआ कालद्रव्य है वह निश्चयकाल है, सर्वसमयोका आधारभूत कालद्रव्य है, यह कालद्रव्य पदार्थोंके परिणमनके लिए निमित्त होता है। जैसे आत्मासे रागद्वेषादिक पर्यायें निकलती हैं ऐसे ही इन सब कालाणुवोसे समय नामक पर्याय निकलती रहती है, जो एक समय कहा जाता है सेकेण्डका असख्याते लाखवां करोडवा हिस्सा वह तो है वास्तविक कालद्रव्यका परिणमन, लेकिन उन समयोंको जोड जाड कर जो हम आप दिन सप्ताह पक्ष महीना वर्ष आदिक बनाते हैं और इस ही व्यवहारकालके आधारपर व्यवस्था करते हैं वे सब उपचार काल हैं। कालद्रव्यके वास्तविक परिणमन नही हैं। वास्तविक परिणमन तो समय है, जैसे दिखनेमे आने वाले पिण्ड ये वास्तविक परमार्थ पदार्थ नही हैं। परमार्थ पदार्थ तो इन सबमे छुपा हुआ गूढ अव्यक्त किन्तु ज्ञानियोको ज्ञान द्वारा व्यक्त कोई एक अन्तस्तत्त्व है। किसी भी पदार्थके सम्बन्धमे हम जानकारी बनायें उसके मौलिक स्वरूपपर दृष्टि डालकर तो वह दृष्टि ज्ञाताके कल्याणके लिए बनती है। तो सम्यग्दर्शन के प्रकरणमे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन ६ द्रव्योका वर्णन किया गया है। इनका

हम सही स्पष्ट बोध करें और सबसे न्यारे अपने आत्मस्वरूपको मानें, उसमे ही संतुष्ट हों तो इसमे ही अपने जन्मकी सफलता है, बुद्धि पाई, ज्ञान पाया, उस सबकी सफलता है। हम तब तक भेदविज्ञानकी भावना रखें जब तक केवलज्ञानरूप न परिणम जायें।

समयादिकृतं यस्य मानं ज्योतिर्गणाश्रितम्।
व्यवहाराभिध. काल स कालज्ञै प्रपञ्चित ॥४२२॥

व्यवहार कालका वर्णन—पूर्व छन्दमे निश्चयकालका स्वरूप कहा गया था। इस छदमे व्यवहारकालका लक्षण किया गया है। जिस कालका परिमाण ज्योतषी देवोंके समूह आश्रित है अर्थात् ज्योतषी विमानोंकी गतिके आधारपर है वे व्यवहार नामक काल कहे गए है। निश्चयकाल तो कालाणु है जो लोकाकाशके एक एक प्रदेश पर ठहरा है और उसकी असली पर्याय अर्थात् जो पर्यायमे अपना एकत्व रखता हो, पर्यायोका पिण्डरूप नही किन्तु कालद्रव्यका एक परिणमन है वह है समय। और उन समयोका जो समूह है वह है पर्यायोंका पिण्डरूप व्यवहारकाल पर्याय। वह विशेष व्यवहार बनता है। जो व्यवहारमे समय माना गया है रात दिन घटा तो घटेके भी हिस्से हो जाते है ६० मिनट और मिनटके भी हिस्से हो जाते हैं ६० सेकेण्ड। जैसे उसमे कोई निमित्त होना और उसके भी हिस्से हो जाते हैं। तो हिस्से होते होते जो आखिरी निरश हिस्सा है, जिसका दूसरा भाग न किया जा सके वह है समय और वह समय है कालद्रव्यका परिणमन। फिर उन समयोके समूहका नाम घडी घंठाके पीछे सभी रखे गए है। तो यह व्यवहारकाल सिर्फ उस गति पर आधारित है क्योकि सूर्यकी गति एक नियमित गति है और चद्रकी भी नियमित गति है। कही चद्रके हिसाबसे लोग महीना मानते है और कही सूर्यकी गतिसे महीना मानते है। सूर्यकी गतिसे जो महीना मानते हैं उनके यहा कभी भी १३ माहका वर्ष नही पडता है। जो चन्द्रके हिसावसे महीना है वह सुदी १ से बदी अमावस्या तक है। अमावस्यामे ३० लिखते है तो वे ३० शब्द चन्द्रके महीनेके हिसाबसे है। तो किसी हिसाबसे सही, समय इन सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिष मण्डलकी गतिके आधार पर हैं। इसके अतिरिक्त अन्यमे भी कल्पनाएँ चलती है। जैसे सुबह तारा बडा उग आता है तो लोग कहते है कि अब चार बज गए, जब एक तारा बिल्कुल ऊपर आता है तो लोग कहते हैं कि १२ बज गए। तो छोटे-छोटे तारावोकी गति पर भी समय जाना जाता है। यह सब व्यवहारकाल है। सब द्रव्योका वर्णन इस सम्यग्दर्शनके प्रकरणमे इसलिए कहा जा रहा है कि हमारे आसपासके समस्त पदार्थ और वस्तुवोका सही ज्ञान हो तो एक समाधानचित रहता है और उस समाधानचितताके कारण निराकुलता शान्ति सम्यक्त्व इन सबका उदय होता है।

यदमी परिवर्तन्ते पदार्था विश्ववर्तिन: ।
नव जीर्णादिरूपेण तत्कालस्यैव चेष्टितम् ॥४२३॥

कालद्रव्यका उपकार—लोकमे रहने वाले समस्त पदार्थ जो नवीन और पुराने रूप से परिवर्तन करते है वह सब कालकी ही चेष्टा समझिये। व्यवहारकाल जैसे-जैसे व्यतीत होता है वैसे ही वैसे इसमें परिवर्तन भी चलता रहता है। जैसे किसीको यहाँसे सहारनपुर जाना है, रेलसे ही सही तो सहारनपुर पहुचनेमे भी कालका उपकार माना गया है। यदि तीन घंटेका समय व्यतीत न होता तो आप कैसे सहारनपुर पहुच सकते थे? सो इसमे कालद्रव्यका भी उपकार मानते हैं। कोई बालक अभी छोटा है और वह कभी बडा बनेगा, धनी बनेगा, या नेता बने या रक्षाधिकारी बने तो उसमे कालका भी उपकार कह सकते हैं। ८ वर्षके बच्चेको कौन राजा बना देता है? जब एक पक्व अवस्था हो जाती है तब जाकर कुछ बात बनती है। तो विश्वके समस्त पदार्थ परिवर्तित होते हैं इसमे कालद्रव्यका उपकार है। जीव पुद्गलकी गतिमे निमित्त है धर्मद्रव्य, स्थितिमे निमित्त है अधर्मद्रव्य और वस्तुवोंके परिणमनमे निमित्त है कालद्रव्य। ये तीन बातें बहुत कठिनतासे समझमे आती हैं। धर्मद्रव्य के सम्बन्धमे स्पष्ट क्या कहा जा सकता है? आकाश भी अमूर्त है लेकिन आकाशके सम्बन्ध मे ऐसा लगता है कि जिसे हम दूसरोको स्पष्ट बता सकें यह तो है आकाश जो पोल है। यद्यपि पिण्डरूप नही है, न उसे पकड सकते हैं मगर बतानेमे बडा आसान लग रहा है, आकाशके सम्बन्धमे संकेत करनेमे बडा आसान लग रहा है, और धर्म अधर्मकाल भी अमूर्त है किन्तु इनका सकेत नही बनता। किसे अंगुली उठाकर, कहाँ चित्त लगाकर समझाये कि यह है धर्मद्रव्य तो ये तीन द्रव्य जरा दुर्गम हैं समझनेमे। दुर्गमता आकाशमे भी होना चाहिए लेकिन पोल आदिकके ख्यालसे वह लोगोको सुगम बन रहा है, जीव और पुद्गल अति सुगम हैं। पुद्गल तो सभीको सुगम हो रहे हैं, पिण्ड, वैभव, मकान, शरीर ये सब प्रत्यक्षसे नजर आ रहे हैं और जीवका समझ लेना इस कारण सुगम है कि यह खुद जीव है और जो बीतती हैं वह खुद पर बीतती है, खुदकी बात खुदकी समझमे झट आती है। झगडा भी जीव और पुद्गलका है। धर्मादिक द्रव्य भी समझ लेने चाहियें, उसीमे कालद्रव्य का यह वर्णन है, इसका भी अन्तर्बाह्य स्वरूप समझ लेना चाहिए।

भेदविज्ञानके लिये स्वरूपपरिचयका महत्त्व—जब जानकारी करना है तो सभी प्रासंगिक जानकारी होना चाहिए, किन्तु भेदविज्ञानमे तो जीव और पुद्गलपर ही विशेष ध्यान देना होता है। मैं जीव हू, शरीरसे न्यारा हू, कर्मसे न्यारा हूं, यह पुद्गलसे भेद किया गया है। और, जब रागादिकसे न्यारा हू, विकल्पोंसे जुदा हू ऐसा अपनेको न्यारा तका तो पुद्गलके निमित्तसे होने वाले प्रभावोसे भी अपनेको न्यारा तका। जो यह नैमि-

त्तिक भाव प्रभाव है वह भी मेरा स्वरूप नही है। प्रभावमें बर्तकर भी उस प्रभावसे अपने को न्यारा प्रतीतिमे रखे ऐसा सम्यक्त्वका अतुल प्रताप है, स्वाद आता है उसकी जिस ओर दृष्टि हो। गृहस्थावस्थामे रहकर भी निष्कलंक शुद्ध चित्स्वभाव पर दृष्टि जाय तो वहाँ जो विशुद्धि और आनन्द जगता है उसमे यह गृहस्थीकी परिस्थिति बाधा नही देती है, लेकिन वह बात चिरकाल तक टिक सके इसमे बाधा देती है। और उसका कारण यह है कि इन बाह्यपरिस्थितियोमे ऐसे संस्कार लगाया है कि किसी समय थोड़े क्षणको उपयोगका साथ तो दे कि हम उस शुद्ध मायारहित चित् ब्रह्मको समझे, किन्तु झलक पाते ही अथवा पूर्ण-रूपसे झलक भी नही पाते है, कुछ उसमे प्रवेश होता है कि उतनेमे वे सब संस्कार जो जरूरी मान रखे हैं और कदाचित् किसी स्थितिमे जरूरी कहलाते है उन सबकी स्मृतिय झलकमे बाधा डाल देती है। तो भेदविज्ञान प्राप्त करनेके लिए परको जानने की सही रूप मे आवश्यकता है। जिनमे हम अनादिकालसे लगे पगे आ रहे है उनका यथार्थस्वरूप समझे तो हमारी कैसे निवृत्ति हो सकती है, इस ध्येयको लेकर ध्यानके इस ग्रन्थमें ध्यानके अंगभूत सम्यक्त्वके प्रकरणमे पदार्थोका स्वरूप बताया जा रहा है।

भाविनो वर्तमानत्वं वर्तमानास्त्वतीतताम्।
पदार्था प्रतिपद्यन्ते कालकेलिकदर्थिता ॥४२४॥

कालकेलिकदर्शित होकर पदार्थोंकी भावी वर्तमानरूपता—पदार्थकालकी लीलासे एक अवस्थासे अन्य अवस्थाको प्राप्त होते है। जो अवस्था वर्तमानमे है अगले क्षण वह अवस्था न रहेगी, नवीन अवस्था बनेगी और वर्तमान अवस्था अतीत हो जायगी। इस प्रकार समय समयपर अवस्था पलटती रहती है। कुछ अवस्थाये इसकी जल्दी समझमे आती है, कुछ परिवर्तन बहुत कालके बाद समझमे आते है। जैसे एक बालक बढता है तो वह रोज-रोज बढ रहा है पर रोज-रोजका बढना हमारी समझमे नही आता। सालभर बाद समझमें आया कि यह तो बडा हो गया। और जो घरके लोग है वे तो साल भर बाद समझ नही पाते कि यह तो बडा हो गया। देखते यद्यपि रोज-रोज है। जो कोई ६–७ माह बाद देखे तो उसकी दृष्टिमे आयगा कि यह बड़ा हो गया। समझमे कभी आये लेकिन पदार्थ प्रति समय परिणमता है। चाहे उन्नतिमे आये, चाहे अवनतिमे आये, कैसी ही अवस्था हो जाय, पर प्रति समय परिणमन होता है। यह बात प्रत्येक पदार्थके स्वरूपमे पडी हुई है। इस मर्मको न मानकर आखिर सिद्ध तो करना ही पडेगा ना कि पदार्थका संहार होता है, पदार्थकी रचना होती है और ये दोनो बाते पदार्थ कायम रहे बिना होती नही, तब तीन देवताके रूपमे अनेक लोगोने माना किन्तु पदार्थ सब त्रिदेवतामय है, अणु-अणु उत्पाद व्यय

ध्रौव्यसे युक्त हैं, ये ही अलङ्कारमे ब्रह्मा, विष्णु महेश है। पदार्थका परिणमन, स्वभाव, परिचयमे आनेसे एकवस्तुस्वातंत्र्य का ज्ञान होता है।

परिणामपरिणामिक भाव और निमित्तनैमित्तिक भावकी रुचिका प्रभाव—देखिये रुचिकी बात कि पदार्थ के ये नानापरिणमन परउपाधिका निमित्त पाकर होते है, इसमे कोई झूठ बात नही है, जितने भी विभावपरिणमन होते है, चाहे आत्मामे हो रहे हो अथवा पुद्गलमें हो रहे हो, किसी अन्य पदार्थके निमित्तसे होते है। परिणमन होता है उपादानमे ही, उपादानकी परिणतिसे ही, पर विभावपरिणमन किसी अन्य पदार्थका निमित्त पाकर होता है। यह बात सही है। और, यह बात भी सही है कि कितने ही निमित्त पाकर हो परिणमन, पर किसी भी निमित्तसे वे परिणमन होते नही हैं, वे अपनी ही शक्तिसे उदित होते हैं, दोनो बाते यथार्थ है, फिर भी किसीकी रुचि निमित्त पोषणके लिए लगे और किसीकी रुचि वस्तुस्वातत्र्यके उपयोगमे रहे, इस भेदसे भी फलभेद हो जाता है इसे आप अदाज कर लीजिए। निमित्तकी रुचि होनेपर, निमित्त पोषणका ही विकल्प और मतव्य रहनेपर निराकुलताका अभ्युदय नही हो पाता, जब कि निमित्तप्रसंगके बीच रहकर भी हम जब वस्तुस्वातत्र्यका उपयोग रखते हैं, प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमे परिपूर्ण है और जो कुछ भी होता है प्रत्येक पदार्थका उसमे ही परिणमन होता है। इस प्रकारकी जब हम स्वातत्र्य दृष्टि रखते हैं तो कितने ही विकल्प शान्त होते है और शान्तिका अभ्युदय होता है।

व्यवहारनयका विरोध न करके निश्चयनयके अवलम्बनका महत्त्व—इस प्रसगमे एक बात यह भी शिक्षारूपमे मिलती है कि निमित्त निमित्तके प्रसंगमे ही अब तक हमारा अनादिसे भ्रमण होता चला आया, हम उसे जान लें कि यो हुआ है, पर हम अपनी रुचि अपने उपयोगकी प्रगतिमे कोशिश यह करें कि हम वस्तुके स्वतत्रस्वरूपको ही लायें। एक निषेध करके निश्चयकी ओर जायें तो वह कुनय है, पर व्यवहारका विरोध न रखकर निश्चयनयका आलम्बन लेनेसे शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धि होती है। आचार्य सतोने उपदेश भी किया है और इन शब्दोमे बताया है कि जो पुरुष व्यवहारनयका विरोध न रखकर मध्यस्थ रहकर और निश्चयनयका आलम्बन न कर मोहको दूर करते हैं, वे पुरुष श्रेयोमार्गमे बढते है और श्रेय प्राप्त करते हैं। तो यह समस्त वस्तुतत्वका जो परिज्ञान है यह सब आत्महित के लिए उपकारी है, अतएव सम्यक्त्वके प्रकरणमें वस्तुस्वरूपका वर्णन किया जा रहा है।

धर्माधर्मनभ काला अर्थपर्यायगोचरा।
व्यञ्जनाख्यस्य सम्बन्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥४२५॥

धर्म, अधर्म, आकाश व कालद्रव्यकी शाश्वत अर्थपर्यायगोचरता—धर्मद्रव्य, अधर्म-

द्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य ये तो अर्थपर्यायके विषय है, अर्थात् इनमें व्यावहारिकता नही बनती, विभिन्न द्रव्यपर्यायें नहीं बनतीं, इनका आकार नही बनता, जो है जैसा है वैसा ही अनादिसे अनन्तकाल तक है। धर्मद्रव्य असख्यातप्रदेशी है और ऐसे ही यह शाश्वत है। न एक प्रदेश घटता, न एक प्रदेश बढता, उसका आकार क्या ? आकारकी कल्पना वहाँ होती है जहाँ रूप बदले। फिर भी जो शाश्वत है वह कितना विशाल है इस दृष्टिसे बताया है कि वह लोकाकाशके आकार है। अधर्म भी आकाश भी और कालद्रव्य भी इसी प्रकार नियताकार है। कालद्रव्य एक प्रदेशप्रमाण है। इनमें षड्गुणहानि वृद्धियां है और स्वभावसे अपनेमें समानरूप परिणमते रहते है, किन्तु जीव और पुद्गल इनकी व्यञ्जन पर्यायोसे सम्बन्ध है। नाना आकार बनता है और नाना क्रोध मान आदिक अनेक भाव वितर्क जो भेदरूप है और भेद करके बताये जा सकते है ये सब परिणमन चलते है, तो धर्म आदिक चार द्रव्योके आकार तो पलटते नही, वहाँ तो उनके ही स्वभावसे सतत समान परिणमन चलता रहता है, किन्तु जीव और पुद्गलके आकार पलटते रहते हैं। जीवका तो आकार है, मगर स्वयं उसका कुछ आकार नही है, जब जिस शरीरमे है उस शरीरके बराबर आकार है, उसका कोई निर्णय नही है। आज कोई जीव एक इच लम्बा चौडा है, कभी वही गजो लम्बा चौडा हो जायेगा और मुक्त होने पर जीवके सत्त्वके कारण निजी गाठका कुछ आकार नही, किन्तु जिस पर्यायसे मुक्त हुए हैं उस पर्यायमे जो आकार है, कर्ममुक्त होनेके बाद उस आकारके घटनेका क्या कारण रहे और उस आकारसे भी बढ़ने का क्या कारण रहे। तो घटने बढनेका कारण न होने से जिस पर्यायसे मुक्त हुए हैं वहाँ जो आकार था उस आकार रूप रह गए। जीवमे जीवकी ओरसे यदि कुछ आकार होता तो मुक्त होने पर सब मुक्त जीवोका प्रमाण अवगाहन एक समान हो जाता। चाहे कुछ भी होते जो स्वभाव आकार होता उस रूप होते। तो जीवमे और पुद्गलमे तो व्यञ्जनपर्यायें होती है, मगर पलटती रहती है, किन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सदैव अवस्थित स्थिर एक समान रहा करते है।

भावा पञ्चैव जीवस्य द्वावन्त्यौ पुद्गलस्य च।
धर्मादीना तु शेषाणा स्याद्भाव पारिणामिक. ॥४२६॥

द्रव्योंमें पञ्चभावोंका विश्लेषण—जीवमे तो औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये ५ भाव होते है और पुद्गल द्रव्यमे औदयिक और पारिणामिक ये दो प्रकार होते है। औदयिकका अर्थ है किसी दूसरे पदार्थके समक्ष होनेसे निकलने से आने से सयोगबलसे जो प्रभाव होता हो उसका नाम औदयिक है। और पारि-णामिकका अर्थ है कि पदार्थके अपने स्वभावके कारण जो स्वभावभाव हो सो पारिणामिक

है। पुद्गलमे ये दो बातें पायी जाती है और शेष धर्म, अधम आकाश और काल इनमे पारिणामिक भाव ही है। उन-उन पदार्थोंका उन ही के स्वरूपके कारण जो बात होती है वह पारिणामिक भाव है। जीवमें चेतनाकी दृष्टिसे इस भावके अर्थ किए जाते हैं, पर इन भावोका एक सामान्य लक्षण बनायें तब पारिणामिक तो सब पदार्थोंमे हैं और औदयिक जीव और पुद्गलमे ही है और औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये जीवमे ही होते है। इस तरह इस भावके सहारे पदार्थ किस किस रूपमे रहते हैं, यह सब चित्रण होता है। यो ६ द्रव्य है, उन ६ द्रव्योमे एक आत्मद्रव्य ज्ञाता है। वह आत्मा मैं हू, आप हैं। इस आत्मामे अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्दका सामर्थ्य है, किन्तु बाह्यकी ओर आसक्त होकर हमने अपने सामर्थ्यको भुला दिया है। अब जिस किसी भी प्रकार हम अपनी ओर उपयोग ला सकें, यहा ही दृष्टि स्थिर रख सकें ऐसी चर्चा, ऐसा सग, ऐसा ध्यान, स्वाध्याय आदिकके द्वारा हम यत्न करें कि अपने को अपने निकट अधिक समय रख सके।

अन्योन्यसक्रमोत्पन्नो भाव स्यात्सान्निपातिक ।
षड्विंशतिभेदभिन्नात्मा स षष्ठो मुनिभिर्मत ॥४२७॥

जीवके सान्निपातिक भावोंका निर्देश—जीवके ५ भाव हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। इन ५ भावोके परस्पर सयोगसे उत्पन्न हुए परिणाम हैं सान्निपातिक भाव। जैसे सन्निपात रोग होता है, वात पित्त बनकर हो, वात कफ मिलकर हो, वात पित्त कफ तीनो मिलकर हो। ऐसे ही इन ५ भावोके मेलसे जो भाव उत्पन्न होता है वह छठे आदि किस्मोका भाव समझ लो, वह है सान्निपातिक भाव। कोई भी जीव ऐसा नही है कि जिसके कोई एक ही भाव हो। संसारी जीवोमे भी कोई है क्या ? क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये दो भी ससारी जीवोंके साथ रहेंगे, चाहे औपशमिक, क्षायिक न हो। सिद्ध भगवान हो गए तो वहाँ भी केवल पारिणामिक नही रहा, उसके साथ क्षायिक भी है। तो दो भाव और दो से अधिक भावोके मेलसे जो समझनेकी दृष्टि बनी है उस समझमे सान्निपातिक भाव भी बन जाता है। और, यह सान्निपातिक भाव २ के मेलसे ३ के मेलसे, ४ के मेलसे और पाँचोके मेलसे बनता है, सो ये सान्निपातिक भाव अनेक भेदरूप हो जाते हैं। जीवोंके भावोका वर्णन करने से अनेक रहस्य और आचरणकी पद्धति विदित होती हैं। औदयिक भावसे यह सिद्ध होता है कि कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर क्रोधादिक होते तो है, पर वे जीवके स्वतत्त्व हैं अर्थात् जीवके ही गुणके परिणमन हैं। वही कर्म ही परिणमनकर कई बन जाये ऐसा नही है। कर्मोके उदयका निमित्त पाकर यह जीव कषायरूप बन जाता है। इतना होनेपर भी आत्माका स्वभाव कभी बदलता नही है। वह शाश्वत एक रूप है। इस बातको बताने वाला पारिणामिक भाव है। औदयिक भाव होकर

भी जीवका पारिणामिक भाव नहीं मिटता। तो क्षायिक भाव वह बताता है कि उदयसे उपाधिके सन्निधानसे उत्पन्न होने वाला जो भाव है उसका विनाश हो सकता है। कहीं अपने को रागरूप मानकर साहस न खो दें कि हम तो इसी तरह पिटने जन्मने मरनेके लिए ही है, हमारा काम ही यह है, ऐसा श्रद्धानमे न लायें, किन्तु यह प्रतीतिमे रक्खे कि इस औदयिक भावका विनाश हो सकता है और जिन उपाधियोंका निमित्त पाकर यह औदयिक भाव होता है उन उपाधियोंका क्षय हो सकता है। जहाँ क्षयकी बात सम्भव है वहाँ उपशमकी भी बात सम्भव है। जहाँ समूल नाश करनेकी बात बन सकती है वहाँ उसके उपशमकी भी बात बन सकती है। और जब यह बात सम्भव है तो उदय भी हुआ, उदयाभावी क्षय भी हुआ; ऐसी मिश्रदशा भी सम्भव है। तो वह है क्षायोपशमिक भाव। यो ५ भावोरूप यह जीव है ऐसा ध्यानके प्रकरणमे ध्यानके अगभूत सम्यग्दर्शनके अन्तराधिकारमे जीवके तत्त्व का वर्णन किया है।

धर्माधर्मैकजीवाना प्रदेशा गणनातिगा।
कियन्तोऽपि न कालस्य व्योम्न. पर्यन्तवर्जिता. ॥४२८॥

धर्म, अधर्म, एकजीव, काल और आकाशद्रव्यके प्रदेशोंकी जानकारी—किसी भी पदार्थको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चार दृष्टियोसे निरखा जाता है। लोकमें भी हम जिन पदार्थोंको जानते हैं उस जाननेमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी दृष्टिकी कला पड़ी हुई है। जो कुछ भी दिख रहा है—यह भीत है, इसका ज्ञान होनेके प्रसंगमे भी चारो बातें विदित हो रही है। यह एक पिण्ड है यह तो द्रव्य हुआ, और यह इतने लम्बे चौडे आकारमें है यह क्षेत्र हुआ और इसकी जो भी अवस्था है—सफेद है या मैली है, पुरानी है या नई यह सब काल हो गया और इसकी शक्ति भी साथ-साथ विदित हो रही है, यह भाव हो गया। तो किसी भी लौकिक पदार्थको जानते है तो जाननेके ही साथ-साथ चार दृष्टिया उसके निर्णय मे रहती है, चाहे उन्हे पकड न सकें, पर समग्रज्ञान, पूर्णज्ञान जब होता है तो उसमें ये चारो बाते रहा ही करती है। घडी देखा, ज्ञान हुआ तो पिण्ड जानकर आकार जाना, वर्तमान दशा जानी और उसकी दृढताशक्ति जानी, ये सब ज्ञात है या नही? इस ज्ञानमें ही ऐसी कला है कि ज्ञान इन चारो दृष्टियोका निर्णय करता हुआ ही हुआ करता है। जहाँ इन चारो दृष्टियोमे कोई भी दृष्टि कम रह जाय तो वहाँ कुछ अधूरापन सा या कुछ उसकी और जिज्ञासा सी बनी रहती है। तो इन ६ द्रव्योंके सम्बन्धमे जो विवेचन किया जा रहा है उसमे कुछ विवेचन द्रव्यदृष्टिसे है, कुछ विवेचन कालदृष्टिसे, है कुछ विवेचन भाव दृष्टिसे है। अब इस श्लोकमे क्षेत्रदृष्टिसे विवेचन किया जा रहा है। क्षेत्रदृष्टिसे आकारका ज्ञान होता है। आकार मापसे सम्बन्ध रखता है। मापका मूल आधार अविभागी माप होता है।

जैसे एक गज कहा तो उसके ३ फुट अश है, फिर एक फुटमे १२ इच अंश हैं, एक इंच में दस सूत अंश है, एक सूतमे असख्यात प्रदेश अंश हैं। एक प्रदेशका अंश नही होता है। अविभागी एक परमाणु द्वारा जितना क्षेत्र घिरे उतने क्षेत्रको एक प्रदेश कहते हैं। ऐसे प्रदेश धर्मद्रव्यमे असख्यात हैं, अधर्मद्रव्यमें असंख्यात हैं, कालद्रव्य एकप्रदेशी ही है, आकाशद्रव्यमे अनन्त प्रदेश है। ये सब क्षेत्रदृष्टिसे पदार्थके सम्बन्धमे यदि आकार विदित न हो तो उसके बारेमें कुछ स्पष्ट ज्ञानसा नही होता। कोई पुरुष किसी मनुष्यकी चर्चा कर रहा हो और आप उस मनुष्यसे कुछ भी परिचित नही है, कभी देखा नही उसका डीलडौल। आपके चित्तमे सब बाते सुनकर कुछ अधूरी सी लगती हैं और जिस मनुष्यके बारेमे बात चल रही है उसका आपको अपरिचय है। आकार प्रकार आपको विदित है तो आप उसमे रुचि रखने लगते हैं, क्या कह रहे हैं यह, फिर क्या हुआ, मन माफिक बात सुनना चाहते है तो पदार्थ का आकार विदित हो वहाँ स्पष्ट ज्ञान होता है, इस कारण क्षेत्रदृष्टिसे भी पदार्थके सम्बन्धमे कुछ ज्ञातव्य ज्ञात होना ही चाहिए।

एकादय प्रदेशा स्यु पुद्गलाना यथायथम्।
सख्यातीताश्च सख्येया अनन्ता योगिकल्पिता ॥४२६॥

पुद्गल द्रव्यके प्रदेशोंकी जानकारी—पुद्गलद्रव्य तो वस्तुत एकप्रदेशी है। शुद्ध पुद्गल एक परमाणुका नाम है। स्कधोमे स्कध वस्तुत द्रव्य नही है। द्रव्य तो परमाणु है, किन्तु परमाणुवोका पिण्ड परमाणुवोका मिलान ऐसा विलक्षण होता है जो अन्य किसी द्रव्यमें नही पाया जाता। जीव जीव मिलकर पिण्ड नही बन सकता। जीव और पुद्गल मिलकर भी पिण्ड नही बन सकता। जो शरीरमे जीव और देह कुछ मिला हुआ पिण्ड सा लगता है वह जीव और पुद्गल मिलकर पिण्ड बना हो इस कारण नही लगता, किन्तु जीव और पुद्गलमे योग्यतानुसार ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि वह उस सम्बन्धसे बाहर नहीं जा सकता, इसी कारण पिण्डरूपताका भ्रम है। जीव जीव पिण्ड नही बन सकते। जीव पुद्गल पिण्ड नही बन सकते, जीव धर्म आदिक पिण्ड नही बन सकते। यो ही सभी पदार्थ परस्पर जोड लगाकर देखते जाये कही भी पिण्ड नही बनता। केवल पुद्गल ही ऐसे विलक्षण पदार्थ हैं कि जिनका संघात होने पर एक पिण्ड बन जाता है। वस्तुत पुद्गल द्रव्य एक परमाणु है, वे मिलकर संख्यात परमाणु तकके स्कध बन जायें, दो तीन चार मिलकर स्कध बन जायें, यो ही लाखो, करोडो, अरबो सख्यात अणु मिलकर स्कंध बन जाये, कुछ असख्यात परमाणु मिलकर स्कन्ध बन जायें और कुछ अनन्त परमाणु मिलकर स्कन्ध हो जाये। हम आपको जो कुछ भी दिखता है, छोटीसे छोटी चीज सुई की नोक भी अनन्त परमाणुवोका स्कन्ध है। अब आप समझ लीजिए कि छोटेसे छोटे कण जो आँखो दिख

रहे है उनमें अनन्त परमाणुवोके पुञ्ज है। एक परमाणु इतना सूक्ष्म होता है तो इस तरह पुद्गल द्रव्य कोई संख्यातप्रदेशी है, कोई असंख्यानप्रदेशी हैं और कोई अनन्तप्रदेशी है।

मूर्तो व्यञ्जन पर्यायो वाग्गम्योऽनश्वर. स्थिर ।

सूक्ष्म. प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञिक ॥४३०॥

व्यजनपर्याय व अर्थपर्यायका विश्लेषण--पदार्थोमे दो प्रकारकी पर्याय हैं–एक तो स्थूल परिणमन जो प्रतिपादनमे भी आ सकता है, विकल्प विचारनेमे भी आ सकता है और एक होती है अर्थपर्याय । जो सूक्ष्म परिणमन है और समय समयमें नष्ट हो जाने वाला है। जैसे आदमीमे व्यजन पर्याय देखें तो मनुष्य, तिर्यञ्च, देव नारकी ये सब जो भव हैं ये भव व्यजन पर्याय हैं, बहुत मोटी पर्याय है और बीसों, हजारो वर्षो तक पल्य सागरों पर्यन्त रहती हैं। उससे कुछ और सूक्ष्मताकी ओर चलें तो जो कोई विकल्परूप परिणमन है, रागद्वेषादिक सुख दु खादिक अनुभवरूप परिणमन हैं वे इस पौद्गलिक मूर्तिकी अपेक्षा तो सूक्ष्म हैं, किन्तु स्थूल है, कई समयो तक ये पर्यायें रहती हैं, वचनके गोचर हैं, हमारी पकडमे भी आ जाती है। अब ऐसी जो गुणरूप पर्याय हुई, जिसके सम्बन्धमे हम वचनोंसे भी कुछ कह सकें तो वह पर्याय अनेक समयोकी पर्यायपर जो हमारा उपयोग चलता रहा उसकी यह देन है। हम आपके उपयोगमे एक यह खास कमी है कि हमारा आपका उपयोग एक समयकी स्थितिका ज्ञान नही कर सकता। अनेक समयोकी स्थिति पर ख्याल रखकर यह उपयोग चला करता है। तो इस उपयोगमे जो कुछ ख्याल हुआ हम आप को वह व्यञ्जनपर्याय है, लेकिन युक्ति द्वारा, ज्ञान द्वारा हम यह तो समझ ही सकते हैं कि बहुत समय तक टिकने वाला जो परिणमन है उस परिणमनमे मूलत: एक एक समय रहने वाली परिणति है और उन परिणतियोका पुञ्ज एक जो व्यवहाररूपमे परिणमन कहा जाता वह स्थूल है और व्यञ्जनपर्याय है। कही कही गुणोके परिणमनका नाम अर्थपर्याय कहा है और प्रदेशत्व गुणके उपयोगका नाम व्यञ्जनपर्याय कहा है। यह सब विवक्षासे और प्रयोजन की दृष्टिसे ठीक प्रतीत होता है। व्यञ्जनपर्याय तो मूर्तिक है, वचनोके द्वारा कहा जा सकता है और यह चिरकाल तक रहने वाला है, किन्तु अर्थपर्याय सूक्ष्म है और क्षण क्षणमें नष्ट होती है। यह अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय जीव और पुद्गलमे होती है। जीवपुद्गलको छोडकर शेषके चार द्रव्योंमे अर्थपर्याय है, व्यञ्जन पर्याय नही मानी गई। इस प्रकार सम्यग्दर्शनके प्रसगमे अजीव तत्त्वका वर्णन किया गया है और साथ ही जीवका भी वर्णन हुआ अब प्रयोजनभूत जो ५ तत्त्व है–आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन ५ प्रयोजनभूत तत्त्वोसे जो विशेष प्राकरणिक है उनका वर्णन किया जा रहा है। तो जीव और अजीव पदार्थके वर्णनके बाद बन्धका वर्णन करते है। जीवकी बवपर्याय अनादिकालसे है

और वर्तमानमे हम बन्धपर्यायसे ही गुजर रहे है, यही दुःखरूप है, इसे छोडनेकी आवश्यकता है, जिससे हम छुटकारा चाहते हैं और अनादिकालसे लगा हुआ चला आ रहा है उसका ज्ञान करना बहुत जरूरी है। अतएव बन्धतत्त्वका वर्णन कर रहे हैं।

प्रकृत्यादिविकल्पेन ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विधः।
ज्ञानावृत्यादिभेदेन सोऽष्टधा प्रथमः स्मृतः ॥४३१॥

कर्मबन्धके प्रकार—बन्ध होते है तो वहा भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी बात आ ही पडती है। बंध ४ प्रकारका है–प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, प्रदेशबंध और अनुभाग बंध। द्रव्य याने पिण्डरूपसे जब देखे तब प्रदेश बंध ज्ञात होता है। यदि द्रव्यदृष्टिसे समझ लीजिये—प्रकृतिबंध ज्ञात हो तो प्रदेशबंध क्षेत्रदृष्टिसे समझ लें। चूंकि यह बन्धन है और बंधन होता है दो मे, एकमे बंधन नही हुआ करता, अतएव दो द्रव्योका बंधन हुआ तब प्रदेशबंध हुआ। इस न्यायसे तो प्रदेशबंध द्रव्यदृष्टिकी देन है, द्रव्यदृष्टिसे ज्ञात हुआ, और चूंकि प्रदेश एक क्षेत्र है, आकार है अतः प्रदेशबंध क्षेत्रदृष्टिसे ज्ञात हुआ। दो क्षेत्रोका दो द्रव्योका जो बंधन हुआ वह प्रदेशबंध है और दो प्रकृतियोका बंधन हुआ वह प्रकृतिबंध है। आत्माकी शुद्ध प्रकृतिमे अशुद्ध प्रकृतिका बंधन बन गया अर्थात् स्वभावमे विभाव बन गया, स्वभाव तिरोहित हो गया। कमसे कम दो समय और दो समय तो स्थिति होती ही नही है, बहुत अधिक समय होती है। एक समयके बिना अनेक समयोमे जो बंध होता है वह स्थितिबंध है। एक समयके समागमको स्थितिबंध नही कहते। वह आस्रव है, उसे आना और जाना कहते हैं। आने जानेमे बंधन नही है। आने जानेका एक समयका ही काम है, पर रोक दे तो एक समयसे अधिक समय लगे बिना रुकता नही है। अतः अनेक समयोमे स्थितिबंध हुआ, यो ही अनेक भावोमे अनेक समयोका अनुभागबंध हुआ। अति जघन्य अनुभाग रहे वहाँ बंधन नही है। दशम गुणस्थानमे जघन्य कषाय रहती है। वह कषाय कषायोका बंध नही करती। तो बंधके प्रकरणमें इस श्लोकमे प्रकार बताये है कि बंध ४ प्रकारका है–प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, प्रदेशबंध और अनुभागबंध। प्रकृतिबंध तो है ज्ञानावरण आदिक। अमुक कर्म ज्ञानावरणको ढके, दर्शनको ढके, साता असाताको उत्पन्न कराये मोह कषाय उत्पन्न करे, शरीरमे रोक रखे, जिससे नाना प्रकारके शरीरोकी रचना बने, जिससे ऊँच नीच कुल व्यक्त हो, अभीष्टकार्यमे विघ्न आये, ऐसी बातोका निमित्तभूत जो कर्म है उस कर्ममे उस उस प्रकारकी प्रकृति पड जाना इसका नाम प्रकृतिबंध है।

मिथ्यात्वाविरतो योग कषायाश्च यथाक्रमात्।
प्रमादै सह पञ्चैते विज्ञेया बन्धहेतवः ॥४३२॥

बन्धके कारण—बंधके कारण ये ५ हैं—मिथ्यात्व, अविरति, योग, कषाय और

प्रमाद। बंधके कारण तो संक्षेपमें अध्यवसान है, उसके बाद विस्तार करें तो मोह और कषाय हैं। मोह और कषायका जो परिणाम है विभावरूप उन सबका सूचायक शब्द है अध्यवसान। जो अपने आपका स्वरूपसे भी अधिक निश्चय कर डाले उसे कहते हैं अध्यवसान। अधि अव सान। है ना मोही जीव सर्वज्ञसे भी ज्यादा अपनी दौड़ लगानेको तैयार? सर्वज्ञ तो जो पदार्थ जैसा सत् है उसको ही जानते है, पर ये मोही जीव सत्को भी जानते असत्को भी जानते। जो नही है उसको भी जानते। मकान मेरा नही, फिर भी जानते कि मकान मेरा है। भगवान तो नही जानते कि यह मकान इनका है, पर ये मोही जीव जानते हैं। तो ये मोही जीव प्रभुसे भी अधिक जाननेकी अपनी दौड़ लगाया करते है। तो निकट विस्तारसे अधर्मके हेतु दो है—मोह और कषाय। इसके पश्चात् और विस्तार बनायें तो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये बंधके कारण है। अब गुणस्थानोकी परिपाटी से भेद बनायें तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये बंधके कारण है। स्व परका विवेक न रहना, परसे अपना स्वरूप समझना, परसे हित मानना, परसे सुधार बिगाड़ मानना ये सब मिथ्यात्व भाव हैं। प्रतीतिमे वस्तुकी स्वतंत्रता न रहे तो ये सब मोहभाव हैं। किसी विषयका या निश्चयनयके विषयका खण्डन करनेका प्रोग्राम बना लिया जाय तो उसमे केवल यही यही सूझता है कि ग्रन्थमें कोई ऐसा प्रकरण मिल जाय कि वह निश्चयके विषयके खण्डनका हमे कुछ आश्रय मिल जाय। चर्चामे या रात दिन यही धुन रहती है—निमित्तसे सब सिद्ध करना और निश्चयके विषयका खण्डन करना। यद्यपि जीवन ऐसा मध्यस्थ होना चाहिए था कि निश्चयकी बातके भी हम जानकार रहे, व्यवहारकी बातके भी हम जानकार रहे और अधिकाधिक उद्यम निश्चयनयके आलम्बनका करे। कल्याणके लिए ऐसा जीवन होना चाहिए। किन्तु जब एक कोई पक्ष बन जाय तो पक्षकी सीमाकी बात तो हम कुछ नही कह सकते, उसमे तो यही कहना होगा कि निश्चयपक्षकी भी अधिक सीमा कर ले तो हानि है, लेकिन व्यवहारपक्षकी कोई अधिक सीमा करले तो वहाँ भी हानि है और व्यवहारपक्षका बीचोबीच भी बनायें तो दृष्टिमे व्यवहार एकसे दूसरेका कुछ हुआ, इस अपेक्षाको ढूंढनेका विकल्प बनाते रहनेसे वहाँ हानि है। स्पष्ट लिखा है कुन्दकुन्ददेवने प्रवचनसारमे कि जो व्यवहारका भी खण्डन न करके निश्चयका आलम्बन करके अपने शुद्धस्वरूपको जानते है वे मोहका क्षपण कर सकते है। कितनी निष्पक्ष और स्पष्ट बात है।

कल्याणेच्छुका संकल्प—जिसे कल्याणकी चाह है उसको पहिले तो अपने आपमे ही यह भाव दृढ कर लेना चाहिए कि कल्याणकी बात मिले यही हमारा कर्तव्य है, हमे किसी को कुछ सुनाना नहीं है, किसीको कुछ मानना नही है। सुनाये और मनायें भी कभी, मनानेकी बात तो ठीक नही है, सुनानेकी बात भी करे कभी

तो उसमे हम अपनेको ही सुनाते हैं। हम अपने आपको अपनेमे दृढ कर ले, इसके लिए हमारा सब प्रयास है, यह जानन सबसे पहिले आना चाहिए। इस भावनाके बिना इस ज्ञान-प्रचारके ही माध्यमसे ही सही यदि उपयोग क्षेत्रमे उतर आयें तो यह अपने कल्याणसे तो गिर गया। हम जो कुछ भी भोगते हैं अपने आपके परिणमनको ही भोगते है, दूसरे लोग कोई हमारे ईश्वर नही हैं। जिसको हम मनाने चलें, जिसको हम कुछ अपनी बात मनायें अथवा कुछ अपना पक्ष थोपकर लोगोमें हम अपना कुछ नाम करें, ये सब बातें मोहकी चेष्टा मात्र हैं। कभी किसी प्रकार नाम भी होता हो तो ये तो जगतकी बातें हैं, किन्तु मुझे किसी भी अन्य जीवसे कुछ नही चाहना है, न कोई अन्य जीव मुझे कुछ दे सकता है। इस जगतमे सभी जीव अपने आप अकेले अकेले ही अपना विहार, भ्रमण, जन्म, मरण, सुधार, बिगाड सब कुछ कर रहे हैं। किसीका कोई साथी नही है, मुझे तो मेरा प्रभु ही शरण है। मेरा सहायक मेरा गुरु, मेरा देव, मेरा मित्र मुझमे ही बसा हुआ अंतस्तत्त्व है, उसका ही सच्चा शरण है। इस ओर ही जब दृढ भावना बने तब हमारी सब चेष्टायें हमारे लाभके लिए बनती हैं। परका उपकार भी स्वके उपकार के लिए है। कोई मनुष्य इस दृष्टिसे परका उपकार करे कि मुझे दूसरेका भला करना है, दूसरोकी ही दृष्टि रखे और करे तो भले ही विषयोके भोगनेकी अपेक्षा कुछ मदकषाय तो है लेकिन मैं दूसरोंका उपकार करनेके लिए ही जन्मा हूँ, दूसरोका भला करनेके लिए ही मैं हू, मैं दूसरोका कुछ कर सकता हू इस प्रकारका मिथ्यात्वका अनुबन्धन करने वाली कषाय साथ है। अपने आपमे अपने आपको स्पष्ट होना चाहिए। ज्ञानमार्गमे अपने आपका अपनेको भरोसा रखना चाहिए। बातें सुनें सबकी पर अपने आपसे अपने आपका निर्णय लेना चाहिए। केवल एक पक्ष अथवा किसीको मित्र मानकर उसके रगमे ही अपनेको रगते रहने का कार्यक्रम न रखना चाहिए। निर्णय करें अपने आपसे कि हम इस प्रकार मानते हैं और बोलते हैं, सुनाते है, समर्थन करते हैं, इस प्रक्रियामे हमने शान्तिका कितना अनुभाग किया ? सब पुरुषार्थ करना शांतिके अर्थ हुआ करते हैं। शान्ति न मिले तो सब बाते ही बाते रही। धर्मका सम्बन्ध नही हो सका। यहाँ बन्धकी चर्चा कर रहे हैं कि बन्धके हेतु क्या हैं ? एक इस निरपेक्ष सहज अतस्तत्त्वके परिचयके बिना जो भी हचारी चेष्टायें होती है, सब बन्धके कारण हैं।

बन्धहेतुवोंका गुणस्थानानुसार विभाग---यहाँ ५ प्रकारके बन्धके हेतु कहे हैं, उसमे यह विभाग करना कि मिथ्यात्व गुणस्थानमे तो ५ ही हेतुवोसे बन्ध हो रहा है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें गुणस्थानमे अविरति, प्रमाद, कषाय और योग---इन चार कारणोसे बध होता है। ५ वें गुणस्थानमे कुछ व्रत

परिणाम है और कुछ अव्रत परिणाम भी है। छठे गुणस्थानमें प्रमाद, कषाय और योग इन तीन कारणोसे बंध होता हैं और ७ वें से लेकर १० वें गुणस्थान तक कषाय और योग इन दो कारणोंसे बंध होता है और ११ वे, १२ वें, १३ वें गुणस्थानमे योगसे बंध होता है किन्तु उसका नाम बंध नहीं है। रूढ़िसे बंध नाम है क्योंकि जो योग पहिले गुणस्थानमे बंधका सहकारी कारण था उस योगका नाम बदनाम है, अतएव बंधका हेतु कह लो पर वह तो ईर्यापथ आस्रव है। जहाँ दो समयकी स्थिति बने उसे बध कहते हैं। यों मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बधके कारण है। त्यागरूप परिणाम न होनेको अविरति कहते है और चारित्रमे असावधानीके परिणामको अथवा उस निर्विकल्प ध्यानमे अनुत्साहके परिणामको प्रमाद कहते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभरूप जो परिणमन है उसे कषाय कहते है और आत्माके प्रदेशका जो परिस्पद है, जो कि मन, वचन, कायके योगके निमित्तसे होता है उसे योग कहते हैं। यह सब सम्यग्दर्शनके प्रकरणमें बंध तत्त्वकी बात चल रही है। जिससे हमें छूटना है उसके स्वरूपके जाने बिना हमारा छूटनेका उद्यम नही हो सकता, अत आस्रवबंध जैसे हेय तत्त्व भी हमें भली प्रकारसे समझ लेना चाहिए।

उत्कर्षेणापकर्षेण स्थितिर्या कर्मणां मता।
स्थितिबन्ध. स विज्ञेय इतरस्तत्फलोदय ॥४३३।

स्थितिबंधका स्वरूप—उत्कृष्ट जघन्य अथवा मध्यम अनेक भेदोमे घटते बढ़ते हुए जो कालकी मर्यादा है उसके बँध जानेका नाम स्थिति बंध है। जैसे भोजन करने पर उन परमाणुवोमे स्थिति बन जाती है कि ये परमाणु जो कि खूनरूप परिणमेगे वे इतने दिन रहेगे, जो पसीनारूप परिणमेगे वे इतने घटे रहेगे, जो माँस रूप परिणमेगे वे और अधिक काल रहेगे, जो हड्डीरूप परिणम जायेंगे वे और अधिक काल रहेगे, ऐसे ही विभाव परिणामोंके निमित्तसे जो कर्मबधन हो जाते हैं उन कर्मवर्गणावोमे स्थितिबंध हो जाता है, इतने परमाणु ये इतने वर्ष रहेगे, ये इतने वर्ष रहेगे। तो ऐसे उत्कृष्ट, जघन्य और मध्य के भेदरूप बढ़ते घटते कर्मोंकी स्थितिको स्थितिबंध कहते है और कर्मोंके फलका उदय होने का नाम अनुभागबध है। जो फल देनेकी शक्ति है और जितने अंशोमे फलदान शक्ति है, जो अनुभाग बधा है उसके अनुरूप फल मिल जाय सही तो अनुभाग बंधका फल है। तो उन फलोमे जो ये डिग्रियाँ बनी है कि ये इतने दर्जे तक इतनी शक्तिसे फल देगे, ये इतनी शक्ति से फल देंगे ऐसा अनुभाग बँध जाना अनुभागबंध है। यहाँ तक प्रकृतिबंध, स्थितिबध और अनुभागबध बताया, अब प्रदेशबध बतला रहे हैं।

परस्परप्रदेशानुप्रवेशो जीवकर्मणो.।
य सश्लेष. स निर्दिष्टो बन्धो विध्वस्तबन्धनै ॥४३४॥

प्रदेशबन्धका स्वरूप—जीव कर्मोके प्रदेशका परस्पर एकक्षेत्रावगाह प्रवेश होनेका नाम प्रदेशबन्ध है। जीवके प्रदेशोंका और कार्माणवर्गणाके प्रदेशोंका अर्थात् परमाणुवोंका जो परस्परमे बन्धन होता है उसे प्रदेशबंध कहते हैं। यद्यपि जीव अमूर्त है और उसमे पुद्गलवर्गणायें स्पर्श भी नही करती किन्तु कर्मबन्धनकी दृष्टिसे यह आत्मा मूर्तवत् हो गया है, और अमूर्त भी हों तो भी मलिन होनेके कारण इसका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक रूप बन्धन है। पुद्गल पुद्गलकी तरह पिण्डरूप बन्धन नही है और यह निमित्तनैमित्तिक रूप बन्धन इस विलक्षणताको लिए हुए है कि जिसमे एक पिण्डरूपसे एक क्षेत्रमे जीव और कर्मोंका रहना बने इस प्रकारका बन्धन है। बन्धनको निरखनेकी भी दो दृष्टिया हैं—एक निश्चयदृष्टि और एक व्यवहारदृष्टि। निश्चयदृष्टिसे आत्मा आत्मामे ही बँधी है अर्थात् आत्मस्वभावमे विभावो का बन्धन हुआ है जिससे स्वभावका विकास तिरोहित है और विभावका बन्धन लग गया है। जैसे कोई पुरुष किसी मित्रके तीव्र स्नेहमें हो तो उस पुरुषको मित्रसे बन्धन नही है किन्तु मित्रके प्रति जो मनमें विचार उठता है और जो मोहरूप परिणमन चल रहा है, हितकारी माननेकी जो दृढता बसी हुई है उस मित्रके स्नेहभावका ही उस पुरुषको बन्धन है। लेकिन उस स्नेह बन्धनमे विषयभूत मित्र है, इस कारण व्यवहारसे यो कहा जाता है कि उस पुरुष को मित्रसे बन्धन बन गया है। कुछ परिस्थितियां ऐसी होती हैं कि खुद खुदसे बँध जाते हैं। तो इसी प्रकार यह आत्मा अपने भावोकी दृष्टिसे अपने भावोसे ही बँधा है और उस समय की परिस्थिति कैसी है इसे बाह्यकी दृष्टिसे देखा जाय तो जीवकर्मसे बँधा है, देहसे बँधा है और इतना ही क्यो कहो—यह मकानसे भी बँध गया और परिजनोसे भी बँध गया। जब कभी कोई या तो अपनेको धर्मात्मा सिद्ध करनेकी या कोई यश लूटनेके लिए कहा जा रहा हो या कुछ सही बात भी हो तब कहा जाता है कि भाई मेरे घरमे छोटे बालक हैं अथवा स्त्री बहुत भोली है, कुछ कमाने वाली आर्थिक व्यवस्था अधिक ठीक नही है इसलिए बन्धन पडा हुआ है, नही तो मैं एक क्षण भी घरमें नहीं रहना चाहता हूं। तो आप वहाँ यह निर्णय करे कि क्या स्त्रीका बन्धन है, क्या धनका बन्धन है, क्या बच्चोका बन्धन है। आपके आत्मा में जो उस जातिके विभाव तरंग उठे, आप केवल उस विभावसे ही बँधे। कलके दिन वही स्त्री आपसे प्रतिकूल बर्ताव करने लगे या वह अति स्वच्छन्द बन जाय तो फिर आपको उससे मोह न रह सकेगा। और, कभी ज्यादा कल्पनाएँ उठ जायें तो आप घर छोडकर भाग जायेंगे, फिर चाहे कुछ भी हो। बन्धन सब अपने-अपने विभावोका है, परवस्तुका बन्धन नही। लौकिक उदाहरणमे भी अब यह देखेंगे सर्वत्र कि जो जीव दुःखी हैं, जो बँधे है और परिणामोसे दुःखी है और परिणामोसे ही बँधे हैं। किसीको कोई जीव गुलाम करने वाला नही है। सबको अपने आपमे ही ऐसी ही अशक्तिकी स्थिति बन रही है कि खुद स्वतन्त्र बनकर

परतंत्र बन रहे है। अथवा यों कहो कि स्वतंत्रसे परतंत्र बन रहे है। परतंत्र बननेमे भी स्वतंत्रता ही काम कर रही है; परवश होकर हम परतंत्र नहीं बन रहे किन्तु अपने आपके परिणामोसे हो हम परतंत्र बन रहे हैं। तो सब बन्धन अपने आपकी ही भूलका है, वस्तुका नही है। जब हम अपना सही निर्णय बना लें और अपनी स्वतंत्रता समझ लें, अपनी कल्पनाकी दृष्टि बन जाय तो वहाँ कोई दूसरा हमें परतंत्र विकल्पक दुःखी बनाने वाला नही हो सकता। इस प्रकरणसे यह उत्साह लेना चाहिए कि हम अपने स्वतंत्र स्वरूपको निरखे, देह और कर्मोसे भी न्यारे केवल अंतस्तत्त्वको जाने, बस यही हमारे उद्धार का मार्ग है।

प्रागेव भावनातन्त्रे निर्जरास्रवसंवरा।
कथिता कीर्तयिष्यामि मोक्षमार्गं सहेतुकम् ॥४३५॥

मोक्षमार्गके सहेतुक वर्णनका संकल्प—निर्जरा आस्रव और सम्वरका वर्णन पहिली ही भावनाके प्रकरणमे किया गया है। तो इस प्रकार आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा इन चार तत्त्वोका वर्णन यहाँ तक हुआ। जब ध्याताके योग्य मुनीश्वरोकी प्रशंसा की गई है तो कैसे-कैसे ध्याता योगीश्वर प्रशंसनीय है, उस प्रसगमे सम्वरका और निर्जराका विशेष वर्णन हुआ था और वही प्रतिबंधरूपसे आस्रवका भी वर्णन हुआ था। अब मोक्ष तत्त्वका वर्णन सहेतुक कर रहे हैं।

एवं द्रव्याणि तत्त्वानि पदार्थान् कायसंयुतान्।
य श्रद्धत्ते स्वसिद्धान्तात् स स्यान्मुक्ते स्वयवर ॥४३६॥

तत्त्वार्थश्रद्धानकी मुक्तिसाधकता—इस प्रकार जो द्रव्योको, तत्त्वोको, पदार्थोंको, अस्तिकायोको मानता है, इनका श्रद्धान करता है वह पुरुष मुक्तिका स्वयवर होता है अर्थात् उसे मुक्ति प्राप्त होती है। ६ द्रव्योका इस प्रकार जानना जिसमे प्रत्येक द्रव्यके स्वचतुष्टया-त्मकताकी ध्वनि चलती रहे। इस प्रकारकी प्रतीति सहित द्रव्योका ज्ञान हुआ, यह कैवल्य अवस्थाकी प्राप्तिके लिए साधक है। मुक्तिमे कैवल्य अवस्था रहती है, केवल अकेलापन, प्योरिटी, एकाकिताकी स्थितिका नाम मुक्ति है। तो जहाँ केवल बनना है तो वह केवल पदार्थ क्या है, इस प्रकारका बोध होना और वैसी प्रतीति होना और केवल निजके अनुरूप आचरण होना यह आवश्यक है। तो कैवल्य अवस्थाकी प्राप्तिके लिए पदार्थोंका इस प्रकार बोध होना आवश्यक है कि जिस पद्धतिमे पदार्थ स्वचतुष्टयसे रहित निरखनेमे आता रहे। तत्त्वका भी इस पद्धतिसे बोध हो सकता है। तत्त्वोके सम्बन्धमे आधार आधेयका भ्रम नहीं उत्पन्न होता। तत्त्व क्या है? कोई परिणमन। उस परिणमनका आधार क्या है, किसकी परिणति है और वह परिणमन किस वस्तुका है, उपादान और निमित्तका क्या मिलकर

परिणमन है, अथवा मात्र एक उपादानका ही परिणमन है---इन सब निर्णयोके साथ तत्त्व का परिज्ञान होना और इस पद्धतिसे परिज्ञान होना कि वह परिणमन अपने स्रोतभूत पदार्थ से निर्गत हुआ है, यो निरखकर परिणमनको उपादानभूत पदार्थमे विलीन कर सके अर्थात् अपनी कल्पनामें अपने वितर्कमे पर्यायरूप तत्त्वका अभेद न रहे और अभेद पदार्थ उपयोगगत हो जाय और फिर वह भी सामान्य दृष्टिसे कि जहाँ परद्रव्योका भी विकल्प न रहे और स्व की अनुभूतिका वातावरण बने, इस पद्धतिसे तत्त्वका जानना कैवल्य अवस्थाकी प्राप्तिमे साधक है। यो ही पदार्थ और अस्तिकायके सम्बन्धमे भी समझना चाहिए। तो जो पुरुष कैवल्यकी उपासना करता है वही कैवल्य अवस्थाको प्राप्त हो सकता है। कैवल्यकी उपासना से मतलब शुद्ध आत्माके केवलज्ञानकी उपासनासे भी है, और जब निजका परिज्ञान हो रहा हो या अन्य-अन्य पदार्थोका परिज्ञान हो रहा हो तो उसमे भी कैवल्य स्थिति क्या है, उसके परिज्ञानसे भी प्रयोजन है। तात्पर्य यह है कि जो भूतार्थ पद्धतिसे द्रव्य तत्त्व पदार्थ और अस्तिकायोका श्रद्धान करता है उसे मुक्ति प्राप्त होती है।

इति जीवादयो भावा दिङ्मात्रेणात्र वर्णिता।
विशेषरुचिभि सम्यग्विज्ञेया. परमागमात् ॥४३७॥

जीवादितत्त्वोंका परमागमसे परिज्ञान करनेका संदेश—इस प्रकरणमे जीवादिक पदार्थोका एक प्रयोजनदृष्टिसे दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। जिन पुरुषोको इन द्रव्यादिकके सम्बन्धमे विस्तारपूर्वक जाननेकी इच्छा हो उन्हें अन्य करणानुयोग सम्बन्धी और न्यायशास्त्र ग्रन्थोसे अध्ययन करना चाहिए। करणानुयोगमे भेद प्रभेद प्रतीति, भाव, प्रभाव, काल, क्षेत्र सभीका विस्तारपूर्वक वर्णन है, अध्यात्मशास्त्रोमे अभेद पद्धतिसे भूतार्थ पद्धतिसे तत्त्वका विवेचन है और न्यायशास्त्रमे जो कि द्रव्यानुयोगका ही एक भेद है युक्तियोपूर्वक अर्थापत्ति और अर्थानुपपत्तिके आधारपर तत्त्वोका विवेचन किया गया है। इन द्रव्यानुयोग और करणानुयोगके शास्त्रोके जीवादिक तत्त्वोके सम्बन्धमे विशेष जान लेना चाहिए। यह ग्रन्थ ध्यानतंत्र है, सम्यक् ध्यान बनाने के लिए जितना कुछ आवश्यक ज्ञातव्य है उतना इसमे वर्णन किया गया है।

सद्दर्शनमहारत्नं विश्वलोकैकभूषणम्।
मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्ष प्रकीर्तितम् ॥४३८॥

सम्यक्त्व महारत्नलाभके लाभ—यह सम्यग्दर्शन महारत्नसमूह लोकका एक भूषण है कल्याण है निराकुलतामे। अनाकुलता उत्पन्न होती है ध्रुव तत्त्वका लगाव रखने मे और आकुलता अध्रुव तत्त्वके लगावमे उत्पन्न होती है। अध्रुव तत्त्वमे लगाव न रहे इसके लिए आवश्यक है कि ध्रुव तत्त्वका लगाव उत्पन्न करें। आत्माका तो एक स्वभाव है कि

किसी न किसी ओर उसका लगाव रहे, रमण रहे। कही विकल्परूपसे रमण रहता है, कही निर्विकल्परूपसे रमण रहता है। अध्रुवतत्त्वमे प्रतीति न उत्पन्न हो तो प्रतीति का उपादान रखने वाले आत्मावोंका यह कर्तव्य है कि वे ऐसा ज्ञान उत्पन्न करे, इस पद्धतिसे ज्ञानविकास करें कि ध्रुवतत्त्वमें लगाव बढे। चर्चा ध्रुवतत्त्वकी हो, दृष्टि ध्रुव-तत्त्वकी हो, श्रद्धा, धुन, विचार ध्रुवतत्त्वके लिए हो। ऐसी धुन बने वह ध्रुवतत्त्वके लगाव बढानेका यत्न है। इस जीवने अब तक अध्रुव तत्त्वसे लगाव रखा और उस ही के फल मे चतुर्गति भ्रमण चलता रहा। अपने आपके सम्बन्धमे इस जीवने अपने को नाना रूप माना। जब जिस पर्यायमें गया तब उस पर्याय रूप ही अपने को माना और अपने आपमे उत्पन्न होने वाले विभाव, विकल्प, विकार इनका लगाव रखा। उनमे इष्ट और अनिष्टकी कल्पनाएँ की। इतना ही नही, जो बात नही हो सकती है उसको भी इसने होना माना। जैसे मकान वैभव, धन, परिजन मेरे नही हो सकते है लेकिन इसने मेरे ही माना। कोई कहे कि तेरे नहीं है तो उससे चोट पहुँची और दूसरेकी बात इसने झूठ माना, इतना अधिक लगाव है परवस्तुवोंमे। परवस्तुवोसें लगाव तो नही किन्तु इसकी कल्पनाओमे लगाव है। वस्तुत. लगाव तो जीवका अपने भावोसे होता है। इसका इतना तीव्र लगाव है परपदार्थोंमे कि यह मान रहा है कि वैभव मेरा है, परिजन मेरे हैं, मित्र मेरे हैं और यहाँ तक लगाव है कि शत्रुको भी कहता है कि यह शत्रु मेरा है। यह अध्रुव तत्त्वका लगाव छूटे एतदर्थ कर्तव्य है कि हम ध्रुव तत्त्वको समझें और निज ध्रुव तत्त्वको समझे। परपदार्थगत ध्रुव तत्त्व को जानें तो उससे भी ज्ञाता और ज्ञेयका भेद रहा। बीचमे एक खाई वनी जिससे यह ज्ञाता स्वज्ञेयमे लीन नही हो सका। निज ध्रुव तत्त्व कहो, कारणसमयसार कहो, चैतन्य स्वभाव कहो, शाश्वतस्वरूप कहो, उसकी धुन हो, उसका लगाव हो, उसके अवलोकनकी उमग हो और उस परिणमनमे ही कल्याण है ऐसी प्रतीति हो तो वहाँ परपदार्थोसे उपेक्षा और विश्राम होकर स्वमे प्रवेश होता है। ज्ञानकी अनुभूति होती है, ज्ञानमात्र मैं हू इस प्रकारका परिचय और इस प्रकारका अपने आपके परिणमनका अनुभव बननेसे ज्ञानकी अनुभूति होती है, और ज्ञान ही है स्वरूप तो ज्ञानानुभूतिमे स्वानुभूति होती है। लोकमे विशेषका, भेदका, विस्तारका बहुत महत्व माना जाता है, किन्तु कल्याणक्षेत्रमे सामान्यका, अभेदका, सक्षेपका, केन्द्रपर ही टिकाव होनेका महत्व माना गया है।

सम्यक्त्वकी महारत्नरूपता व प्रताप—निज सम्यक्तत्वका सम्यक् प्रयोजनके लिए सम्यक् परिणति द्वारा दर्शन होना यह सम्यग्दर्शन महारत्न है और यह सम्यग्दर्शन रत्न मुक्ति पर्यन्त सर्वकल्याणको देनेमे समर्थ है। मुक्तिसे पहिले जो मोक्षमार्गके अनुभवन चलते है, निर्विकल्पस्थितिमे प्रगति होती है और निर्विकल्प पदवियोका अनुभवन चलता है वह भी

सम्यग्दर्शनका प्रताप है। और सर्वजीवविकार दूर होकर जो शुद्ध कैवल्यका अनुभवन होता है वह भी सम्यग्दर्शनका प्रताप है और मुक्ति होती है, परमकल्याण होता है तो वह भी सम्यग्दर्शनका प्रताप है। यह सम्यग्दर्शनरूप सूर्य अपने प्रतापोको बढा-बढाकर मुक्तिरूपी कल्याणको भी प्रदान करनेमे समर्थ हो जाता है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, ये तीन जुदे-जुदे तत्त्व नही हैं। आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है और इसका स्वभाव भी एक अखण्ड है, और जब भी जो कुछ परिणमन होता है वह भी उस कालमे एक अखण्ड परिणमन है, किन्तु एक व्यवहार तीर्थ चलानेके लिए लोगोको समझानेके लिए चर्चा विस्तारके लिए उस अखण्डका जिस प्रकार बोध हो उस पद्धतिसे खण्ड करके भेद करके निरूपण और विवरण करके उसे समझानेका यत्न करना आवश्यक ही है और इस कारण व्यवहारक्षेत्रमे उस अखण्ड तत्वके गुण और पर्यायोके रूपको भेद किया गया है और वह समस्त भेद वर्णन इतना यथार्थ है कि उस पद्धतिकी यथार्थताके कारण भेददृष्टिसे यह यथार्थ जंचता है कि यह तो सर्वथा ऐसा ही तो है। क्या आत्मामे ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण, आनन्दगुण ये अनन्तगुण नही हैं ? अनन्तगुण वाला आत्मा है ऐसा कहनेमे कुछ गौरव-सा भी अनुभूत होता है। हम आत्माकी बहुत बडी बडाई कर रहे हैं। हम आत्माको अनन्त गुण वाला कहते हैं। समझानेकी पद्धति इतनी यथार्थ है कि अनन्त गुणोसे हम आत्माकी महिमा आँकने लगे। किन्तु, इस मर्मसे अपरिचित न रहना चाहिए कि जिसकी दृष्टिमे आत्मा एक अखण्ड है, अखण्ड स्वभावरूप है, अखण्ड पर्यायमय है ऐसी अद्वैतभरी ज्ञप्ति बन रही हो, महिमा उसकी विशेष है। तो जो अभेदपद्धति है उससे जिसको निर्णय करनेकी दृष्टि मिली है ऐसे पुरुषको यह सम्यग्दर्शन महारत्न मुक्तिपर्यन्त कल्याणको प्रदान करनेमे समर्थ है। ध्यानके ग्रन्थमे ध्यानका मुख्य अंग सम्यग्दर्शन बताया है और ध्यानके प्रयोजनके लिए ही सम्यग्दर्शनका यह वर्णन चल रहा है।

चरणज्ञानयोर्बीज यमप्रशमजीवितम्।
तपःश्रुताद्यधिष्ठान सद्भिः सद्दर्शन मतम्॥४३९॥

सम्यक्त्वकी ज्ञानचारित्रबीजरूपता—यह सम्यग्दर्शन सत् पुरुषोके द्वारा चारित्र और ज्ञानका बीज कहा गया है, अर्थात् ज्ञानकी स्वच्छता और आत्माका आचरण इन दो सद्वृत्तियोको उत्पन्न करनेमे सम्यग्दर्शन विशेष साधकभाव है। ऐसी प्रकृति है कि जिस पुरुषको जिस भावमे रुचि होगी उसकी उस भावमे श्रद्धा होगी, उसही का उपयोग रहेगा और उस ही मे रमण चलेगा। मोही जीवोको विषयकषायोमे रुचि है तो विषयकषायोकी ही उन्हे श्रद्धा बनी रहती है। इन भावोसे ही हमारा हित है, इसमे ही बडप्पन है, इसमे ही श्रेष्ठता है और जब विषयकषायोमे ही श्रद्धा रही तो उपयोग भी उसका ही बना रहता है और

विषयकषायोकी प्रवृत्ति भी बनी रहती है। जिस सत्पुरुषको अन्तरात्माको निज ध्रुव तत्वमे रुचि जगी हो, समस्त अध्रुव भावोसे जिसने अहित समझा है उसका ही उपयोग इस ध्रुव तत्वके लिए रहा करता है और जैसा ध्रुव तत्व है, ज्ञायकस्वरूप चैतन्यभाव उस अनुकूल उसके परिणमनका यत्न रहता है। मात्र, ज्ञाता द्रष्टा रहे ऐसी उसकी परिणति भी इस पद्धतिसे ही चलती है। तो मोक्षमार्गमे जो सम्यग्ज्ञान कहा है, सम्यक्चारित्र बताया है उन उपयोगोकी ओर, उन स्वरूपाचरणोकी उद्भूति तभी बन सकती है जब कि हमारी उस ध्रुव निज-पदार्थमे रुचि हो और श्रद्धा हो, इस निज अन्तस्तत्वकी रुचि और श्रद्धासे ज्ञान का विकास और स्वरूपाचरणकी प्रगतिमे दृढता हुआ करती है। अतएव इस सम्यग्दर्शनको संत पुरुषोने चारित्र और ज्ञानका बीज कहा है। क्योंकि, सम्यग्दर्शनके बिना सम्यक्चारित्र और सम्यग्ज्ञान होता ही नही है। यह सम्यग्दर्शन जैसे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका बीज है इसी प्रकार यम और प्रसमभावका जीवन है। हेय परिणतियोंका त्याग करना और क्रोधादिक कषायोका उपशम होना—ये दो महाकल्याण इस सम्यग्दर्शनकी वृत्तिसे जीवित रहते है। अपना आत्मा लाभ पाता है—अर्थात् सम्यग्दर्शनके बिना यम और प्रसम निर्जीवके समान है। जिसे दृष्टि निर्मल मिली है उसको यमसे, प्रसमसे और स्वाध्याय आदिक सर्व चेष्टावोसे कल्याणका मार्ग मिलता है और मार्गपर गमन भी उसका होता है। जिसे दृष्टि नही मिल सकी हो अपने अंतस्तत्वकी तो उसका लक्ष्य ही कैसे बन सकता है कैवल्यका और फिर कैवल्य लाभका यत्न भी कैसे चल सकेगा ? यह सम्यग्दर्शन तप और स्वाध्यायका आश्रय है। सम्यग्दर्शनके बिना तप और स्वाध्याय निराश्रय है। तपश्चरणके कर्तव्यका हम कहाँ पर योग बैठायें ? जिसके सम्यग्दर्शन नही है वह तपश्चरणका प्रयोजन कहाँ थाम सकता है ? उसकी कल्पनामे अनेक आलम्बन चलते रहेगे। तो सम्यग्दर्शन तप और स्वाध्यायका आश्रय है। इसी तरह जितनी भी उपादेय प्रवृत्तियाँ है, इन्द्रियका दमन, व्रतपालन उन सबकी सफलता सम्यग्दर्शनसे है। सम्यग्दर्शनके बिना समस्त क्रियाकाण्ड भी मोक्षफलके दाता नही हो सकते, इस कारण ध्यानके अंगोमे मुख्य अग सम्यग्दर्शनको कहा है।

अप्येक दर्शन श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्युतम्।

न पुनः संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते ॥४४०॥

सम्यक्त्वशंसा—चारित्र और विशिष्ट ज्ञानसे च्युत हुआ भी सम्यग्दर्शन प्रशंसनीय कहलाता है और सम्यग्दर्शनके बिना चारित्र और ज्ञान मिथ्यात्व विषसे दूषित होते है। सम्यग्दर्शनकी महिमा कही जा रही है। किसी विशिष्ट कर्मके कारण ज्ञानका विस्तार और सम्यक्चारित्रका अभाव भी हो तो भी, सम्यग्दर्शन प्रशसनीय है। अविरत सम्यग्दृष्टिके भी यद्यपि नियम नही है तो भी देव देवेन्द्र तक उनको मानते है और सम्यग्दर्शन न हो, और

बाह्यज्ञान आगमानुकूल भी हो और आगमानुकूल चारित्र, व्रत, तपकी क्रिया भी की जा रही हो तब भी एक सम्यग्दर्शनके बिना वे सब मिथ्यात्व विषसे दूषित कहलाते हैं। यदि कोई अंदाजसे भी किसीको सम्यग्दृष्टि मान सके और पूजे तो भी सम्यग्दर्शनकी ही पूजा है।

अत्यल्पमपि सूत्रज्ञैर्दृष्टिपूर्वं यमादिकम्।
प्रणीतं भवसम्भूतक्लेशप्राग्भारभेषजम् ॥४४१॥

दृष्टिपूर्वक संयमसे भवक्लेशका परिहार—सम्यग्दर्शनसे युक्त यम नियम तपश्चरण आदिक अत्यन्त अल्प भी हो तो भी सूत्रज्ञ पुरुषोने, विद्वान् योगी संतोंने संसारसे उत्पन्न हुए क्लेशके समूहोकी औषधिकी तरह कहा है, अर्थात् सम्यग्दर्शनके होते हुए व्रत तपश्चरण आदिक अल्प भी होवें तो भी सासारिक दुःखरूप रोगोको दूर करनेके लिए औषधिके समान हैं। कोई सा भी कार्य यदि विधि सहित किया जा सके और वह अल्प ही किया जाय तो भी वह कार्यमे शामिल है और बिना विधिके कितने भी कार्य करते चले जायें तो भी अन्त तक उलझन की उलझन बनी रहती है। कोई पुरुष चतुर कारीगरकी प्रशसाको और उसके लाभको देखकर साधारण मजदूर यह सोच ले कि हम तो इतना बडा श्रम करते है बोझ ढोनेका और यह बैठे ही बैठे हुकुम चलाता है, कुछ करता भी नही और यो ही बडा लाभ लेता है और इज्जत पाता है। हम तो इससे कई गुना भी काम कर सकते हैं। है क्या उसमे। ईंट पर ईंट रख दी, बीचमे गारा रख दी। यो ही वह मजदूर जोडने लगे तो बिना विधिका जो वह कार्य है वह तो उलझने बढायेगा, फिर मकान गिरा करके बनाना पडेगा तो उसमे तो उलझन ही बनी। बिना विधिके कोई भी कार्य किया जाय वह विडम्बना रूप बनता है अतएव धीरता रखना और प्रत्येक कार्यको विवेकसे और विधिवत् कार्य करना यह समझदार पुरुषोकी प्रकृति होती है। सम्यग्दर्शन एक आन्तरिक प्रताप है। अत यह श्रद्धान और ज्ञानप्रकाश बन रहा है जिसमे सबसे विविक्त चैतन्यमात्र निजस्वरूप को आत्मारूपसे ग्रहण किया जा रहा है। इस वृत्तिमे परम पुरुषार्थ पडा हुआ है और यह प्रतपन और यह प्रताप यह स्वरूपाचरण कर्मोसे छूटनेकी एक विधि है। यह विधि रहे और ज्ञानविस्तार सम्यक् आचरण रूप व्रत नियम आदिक रूप विशेष प्रगतिकी परिणति न हो तो भी यह सम्यग्दर्शनकी दृष्टि कर्मोका विध्वंस करनेमे कारण बन रही है।

सम्यक्त्वलाभके अर्थ अनुरोध—भैया। श्रेयोलाभके अर्थ सम्यक्त्व रत्नका आदर करें, और समतासे अन्त गुप्त ही रहकर स्वरक्षित रहकर अपने आपकी ओर अपनेको अभिमुख रखकर सम्यग्दर्शनका लाभ लें, जिस सम्यग्दर्शनके प्रतापसे ससारके सकट सदाके लिए छूट सकेंगे। उस सम्यग्दर्शनके न होनेपर बडे-बडे व्रत यम नियम तपश्चरण भी किये जायें तो भी विश्राम कहाँ पाता है। विश्रामका स्वरूप क्या है ? जिसे इस तत्त्वका परिचय न हो

वह कहाँ लगेगा ? वह व्यर्थ ही श्रम कर रहा है और विकल्पोका संताप भोग रहा है। उसे विश्राम नही मिल पाता। सम्यग्दर्शनके भावमें ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है कि इस आत्माको अपने आपमें विश्राम मिलता है। जैसे लोकमें ही जिन पुरुषोंकी दृष्टि बाह्यपदार्थोंके संचयमे लौकिक इज्जतमे रहती है उन्हें कभी विश्राममें बैठा हुआ क्या आपने कभी देखा है ? और जिनके वह समझ बनी है कि जो होता हो सो हो, उसमे मेरा क्या ? मैं तो सबसे ही जुदा अपने आपकी ही करतूतका जिम्मेदार हूं, सबसे विविक्त ऐसी जिसकी बुद्धि हो वह यथा समय विश्राम भी पा लेता है। तब सम्यग्दर्शनकी बात तो एक अद्भुत ही तथ्य है। जैसे बालकको कोई डाँटे पीटे, कुछ कडी नजरसे निहारे तो वह दौड़कर माँ की गोदमे बैठकर अपनेको कृतार्थ समझ लेता है। अब संकटकी बात क्या ? खतम हो गये उसके संकट। ऐसे ही संसारकी नाना स्थितियोंमें उलझने, रमने, फिरनेसे जो एक सुविकल्पकृत और परचेष्टाकृत बाधाएँ हुई है यह ज्ञानी यदि एकदम उनसे मुख मोड़कर स्वानुभूति माँ की गोदमें पहुंच जाय तो वह कृतार्थ हो जाता है, उसे अब संकट कहाँ रहा ? संकट तो यह माना जा रहा था कि मेरे पास धन नहीं है, मेरे पास धन खतम हो गया है, लोग यो कहते हैं, इज्जत नही होती है, बुराई करते हैं, अपमान करते हैं। ये ही तो लोकमे संकट माने जाते हैं। यह ज्ञानी इन मायारूपोंसे, इन अहित बातोंसे, इन असार चेष्टावोंसे मुख मोड़कर एक ज्ञानप्रकाशमय निज तत्त्वकी ओर आये और इसकी शरणमे पहुंचे तो बतावो उसके लिए कोई संकट रहा क्या ? सारा जगत भी विरुद्ध चेष्टा कर रहा हो लेकिन इसपर संकट है कहाँ ? यह तो अपने ज्ञानानुभवके आनन्दमे लीन है। संकट मानने वाले संकट मानें। सम्यग्दर्शनमें अद्भुत प्रताप है।

मन्ये मुक्त स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनम्।
यतस्तदेव मुक्त्यङ्गमग्रिमं परिकीर्तितमम् ॥४४२॥

विशुद्ध सम्यक्त्वसे सहित आत्माकी पुण्यरूपता--आचार्यदेव कह रहे है कि मैं तो ऐसा मानता हू कि निर्मल विशुद्ध निरतिचार सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है वही महाभाग है क्योकि सम्यग्दर्शन ही मोक्षका प्रधान अग कहा गया है। मुक्तिके उपायके लिए ही ध्यान किया जाता है। तो ध्यानमे सफलता मिले इसलिए ध्यानका प्रधान अंग भी तो समझना चाहिए कि जिस उपायका हम आलम्बन लें तो हमारा ध्यान सिद्ध हो और संसार सकटों से छुटकारा भी बने। यो ध्यानके प्रकरणमे ध्यानकी प्रायोगिक विधिमे मोक्षमार्गके विधानमें सम्यग्दर्शन ही एक मुख्य उपाय है। लोग कहते हैं देखो भाई अपने पुत्रको शिक्षा देते हैं, देखो वत्स, भलेका तो साथ करना, किन्तु जो भले नही है, दुष्ट है उनका सग करना। भलेको तो देखना और दुष्टोकी ओर तो निहारना भी नही। ऐसे ही सम्यग्दर्शनमे यह शिक्षा भरी है।

देखो भाई-सम्यक्का तो दर्शन करना, पर असम्यक्का दर्शन न करना, उसकी ओर निहारना भी नहीं। जो सहज विशुद्ध है, शाश्वत है, सर्वदोषोसे दूर है वही तत्त्व सम्यक् है, उसका दर्शन करना यही सम्यग्दर्शन है और यही समृद्धि लाभ संकट मुक्तिका अमोघ उपाय है। अपने आपमे निहारो सबसे अधिक सम्यक् चीज क्या है; जिसमे रंच भी दोष न हो। इस आत्माका जो सत्त्व है, स्वरूप है; लक्षण है उस लक्षण पर दृष्टि न दें तो यह कैसे दिखेगा एक चिदानन्द स्वरूप, इसमे विकार है तो यह केवल आत्माकी देन है। केवल आत्मा के स्वरूपको निहारो तो वह शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है, सहज है, सहजसिद्ध है, सहज शुद्ध है। सहज सिद्ध तो यो है कि सिद्धका अर्थ है निष्पन्न अस्तित्वसे रचा गया। क्या यह जीव असिद्ध है? जीवकी ही बात नही करते। ये जो अनन्तानन्त परमाणु हैं क्या ये असिद्ध हैं? क्या इनका अस्तित्व पूर्ण बन नही पाया? क्या ये अधूरे है? क्या अभी ये पूरे नही हो पाये है? कोई भी पदार्थ अधूरा नही है, सब पूर्ण है। किसीकी सत्ता आधी नही है। सब पूर्ण सत् है। तो अपने अस्तित्वसे निर्वृत्त रहनेका नाम है सिद्ध। कर्मक्षयकी बात नही कह रहे हैं, सहजसिद्धकी बात कह रहे हैं। ऐसा यह आत्मा कबसे सिद्ध है? अर्थात् मात्र अपने स्वरूपसे रचा हुआ यह कबसे है? अरे जबसे यह आत्मा है तबसे ही है। इसका नाम है सहज। सह मायने साथ, ज मायने उत्पन्न होना। जबसे आत्मा है तबसे ही इसके साथ इसका यह स्वरूप है। तो केवल आत्माके स्वरूपमे कोई दोष नही है। लक्षण इसका केवल एक चित्स्वरूप है, वह ही सम्यक् है, सर्वोपरि सम्यक् है। किसी रागद्वेषके प्रयोजनसे देश जाति समाज आदिकमे मेरे तेरेका विकल्प होना यह परमार्थसे कुछ तथ्य तो नही रखता। इस आत्माका तो प्रताप समस्त लोकमे है, उसमे से किसी छोटे क्षेत्रमे अपना सर्वस्व मान लेना यह तो आत्माका स्वरूप नही है। इससे भी और विशुद्ध तथ्यकी ओर आयें। शरीर वैभव, देश, जाति, समाज, वातावरण बर्ताव इन सबसे भी विविक्त निर्दोष शुद्ध स्वरूपकी ओर आयें। जो यह अन्तस्तत्व सम्यक् है उसका दर्शन हो जानेका नाम है सम्यग्दर्शन। यह मुक्तिका प्रधान अङ्ग है।

प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरणज्ञानविश्रुता।
अपि जीवा जगत्यस्मिन्न पुनर्दर्शनं विना ॥४४३॥

सम्यक्त्वके बिना मोक्षलाभकी असम्भवता— इस जगतमे जो ज्ञान चारित्र और ज्ञानके कारण जगतमे प्रसिद्ध है वे भी सम्यक्त्वके बिना मोक्षको प्राप्त नही करते। लोकमे जो कोई महापुरुष भी कहे जाते हो ज्ञानसे, धर्मसे, आचरणसे, परोपकारसे यहाके उत्कृष्ट नेता भी हो, प्रजाजन जिनको बडे चावसे चाहते भी हो, उनकी महनीयता भी हो तो भी रही आये महनीयता, वह तो कुछ दिनकी बात है। आत्माके कल्याणभूत मोक्षतत्त्वको वे

भी सम्यग्दर्शनके बिना पा न सकेंगे। सम्यक्त्व ही इस जीवका उद्धारक है। अपने आपमें अपने आपका सुल्झेरा कर लेना बस यही एक अपने उद्धारकी बात है। जगतके बाह्य पदार्थोसे क्या हिसाब लगाना, मैं बड़ा हुआ कि नही हुआ। बाह्यमे दृष्टि पसारकर क्या अपना हिसाब देखना? अपने ही आपमे अपनी दृष्टि रखकर अपना हिसाब देखना चाहिए। अपने आपके परिचय बिना और अपने आपके अनुभव बिना विशुद्ध आनन्द तो नही जग सकता। और वास्तविक स्वतंत्रताकी भी झलक नही ली जा सकती है। एक निर्विकल्पभाव मे ही सर्वकल्याण निहित है।

अतुलसुखनिदानं सर्वकल्याणबीजं, जननजलधिपोतं सर्वसत्त्वैकपात्रम्।
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं, पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ॥४४॥

सम्यक्त्वसुधारसपानका आदेश—हे भव्य जीव! एक इस सम्यग्दर्शन नामक अमृत का पान करो। यह सम्यक्त्व ही अतुल आनन्दका निधान है। आनन्दके लाभके लिए जगह जगह दृष्टिया लगाते हो, पर बाह्यमे कही भी आनन्दका लाभ न मिलेगा। अतुल आनन्दका निधान तो यह सम्यग्दर्शन है। अपने आपके सहजस्वरूपका सम्यक्‌रूपसे अनुभवन कर लेना यही अनुपम आनन्दका बीजभूत है। सर्वकल्याणका यह सम्यग्दर्शन बीज है। जैसे बीजसे अंकुर उत्पन्न होता है और वह अनेक फलोको प्रदान करता है इसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन आनन्दअंकुरको उत्पन्न करता है और इसमें ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति समस्त आत्मसमृद्धिके फल फला करते है। यह सम्यग्दर्शन ससाररूपी समुद्रसे तिरने के लिए जहाजकी तरह है। जैसे नावमे बैठकर सागरसे तिर लिया जाता है इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके भावमे स्थित होकर इस संसारसागरको पार कर लिया जाता है। इस सम्यग्दर्शनके पात्र एक मात्र भव्य जीव ही है। जिनका निकट कल्याण स्वरूप होनहार है वे ही इस सम्यग्दर्शनके अधि-कारी होते है। सम्यग्दर्शनका परिणाम पापरूपी वृक्षको मूलसे उखाड फेंकनेमे कुठारकी तरह है, जैसे लोग देवीके दो रूप माना करते है एक चन्द्ररूप और एक शान्तिरूप, ज्ञानरूप एक लौकिक कहावत सी है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके दो रूप देखिये। एक तो प्रचण्ड प्रतापरूप समस्त पाप बैरियोको ध्वस्त कर देनेमे बहुत समर्थ है और एक शान्तिरूप सहज आनन्दको देने वाला है; सर्व कल्याणोंका बीज है और शान्तिको ही सरसाने वाला है। यह सम्यग्दर्शन समस्त पवित्र तीर्थोमे प्रधान है। सम्यग्दर्शन एक प्रधान तीर्थ है। तीर्थ कहते हैं उस तटको जिस तट पर पहुंचने से पार हुआ समझ लिया जाता है। यह सम्य-ग्दर्शन निर्भयता भरपूर है, क्योंकि इसने मिथ्यात्वरूपी समस्त विपक्षोको जीत लिया है। ऐसे सम्यग्दर्शनको हे भव्य जीव! ग्रहण करो। इस सम्यग्दर्शनकी दृष्टिरूप अमृतजलका पान करो। यहाँके व्यर्थके मोह रागद्वेष भावोमे बसकर अपने आपको मलिन मत करो। ज्ञान

सम्यक्त्वका सहारा लो। अपने आपकी महिमाका ध्यान करो। सम्यग्दर्शन ध्यान और कल्याणका एक मुख्य अंग है।

त्रिलोकगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुता ।
यत्र भावा स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ॥४४५॥

ज्ञानियोंका ज्ञान—जिसमें तीनकालके विषयभूत अन्य, गुण पर्यायो सहित पदार्थ अतिशयताके साथ स्पष्ट रूपसे प्रतिभास हो रहे हैं उसको ज्ञानी पुरुषोका ज्ञान माना गया है। ज्ञानने यह शुद्ध विकासका वर्णन किया है। ज्ञान तो निर्दोष परिपूर्ण यथार्थ वही है जिस ज्ञानमे समस्त सत् एक साथ प्रतिभास होता हो। ज्ञानका काम जानना है। सामने रहने वाली चीजको जानना यह प्रकृति नही है, किन्तु जो सत् है उसको जानना यह जानन सबका स्वभाव है। वर्तमानमे कोई सत् है उसे जानना यह जाननेका स्वभाव नही, किन्तु सत्का किसी भी कालमे सम्बन्ध हो उस समस्त सत्को जाननेका ज्ञानमे स्वभाव है और इसी कारण ज्ञानमे सीमा नही होती। किन्तु, सीमा तो बन रही है सब की। कोई वर्तमान को ही जान पाता है, और वह भी सम्मुख रहने वाले पदार्थोको ही जान पाता है। इतनी कैद, इतनी सीमा जो ज्ञानमे बन रही है, वह ज्ञान अथवा ज्ञानके आधारभूत आत्मा की ओरसे नही बन रही है किन्तु उस प्रकारके आवरणका उदय है इस कारण ज्ञानमे अपूर्णता है। ज्ञानकी अपूर्णता दिखाना ज्ञानका स्वभाव नही है। ज्ञानके स्वरूपमे सीमा दिखाई जाय तो ज्ञानका स्वरूप सही नही उतरता है, समस्त पदार्थ अनन्तानन्त हैं। अनन्त जीव हैं, अनन्त पुद्गलद्रव्य हैं, एक धर्मद्रव्य एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य। जो लोकाकाशके एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु ठहरे हुए हैं। इन समस्त अनन्तानन्त द्रव्योंके अनन्तानन्त ही पर्याय भेद हो गए। अनन्त पर्यायें भविष्यमे होगी और प्रतिसमय वर्तमान एक-एक पर्याय होती ही है। उन समस्त द्रव्य गुण पर्यायोको एक साथ जानने वाला पूर्णज्ञान आत्माका निश्चयस्वभाव है। ज्ञानमे जो भेद पड गए हैं वे कर्मके निमित्तसे भेद पड़े हुए हैं। आत्माके स्वभावकी ओरसे ज्ञानमे भेद नही पडे हैं।

ध्रौव्यादिकलितैर्भावैर्निभर कलित जगत् ।
चिन्तितं युगपद्यत्र तज्ज्ञान योगिलोचनम् ॥४४६।

योगियोंका लोचन—यह सारा जगत उत्पादव्ययध्रौव्य इन तीन भागोंसे भरा हुआ है। ऐसा उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक यह समस्त जगत जिस ज्ञानमे एक साथ प्रतिबिम्बित हो वही ज्ञान योगीश्वरोके नेत्रके समान है। कभी कोई योगी अपनी धारणाके अनुसार कैसे ही ज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान मान लेते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान तो वही है जो त्रितयात्मक समस्त जगतको एक साथ प्रतिबिम्बित कर लेता है। प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है।

सभी पदार्थ अपने इस सत्त्वस्वरूपके कारण प्रति समय परिणमित होते रहते है। किसीमे ऐसी अपूर्णता नही है कि उसमे उत्पाद अथवा व्यय किसी दूसरे पदार्थसे लाना पडे, ऐसा अधूरापन किसी भी पदार्थमे नही है। जब कभी किसी परपदार्थका निमित्त पाकर कोई पदार्थ विभावरूप परिणमता है उस समय भी निमित्तसे उत्पादव्यय आधार लेकर या मँगाकर अपना उत्पादव्यय करता हो ऐसा नही है, किन्तु, पदार्थका स्वरूप ही ऐसा है कि वह कब किस प्रसंगमे किस निमित्तको पाकर किस रूप परिणम जाय, यह सब उपादानमें योग्यता पडी हुई है। जब यो समस्त पदार्थोका स्वरूप है तब फिर कौन किसका स्वामी है? किसी पदार्थका अपनेको स्वामी मानना यह भ्रम और अज्ञानकी बात है। इस कल्पनामें अन्तमें संकट ही मिलेगा, कुछ नही मिल सकता। भले ही कुछ समर्थ है, इस कारण परिजनोमे मोह कर लिया जाय और दूसरे पुरषोको गैर मान लिया जाय, भले ही ऐसी उद्दण्डता मचा ली जाय, किन्तु भविष्य इसका अच्छा नही है। शुद्ध ज्ञानका उपयोग रखना, अपने को समस्त जगतसे विविक्त निहारना, ज्ञानस्वरूपमात्र अपने आपका अनुभवन करना यह तो है विवेककी बात और उत्तम भविष्य होनेकी बात। इसके विरुद्ध जो परका आकर्षण, परको आत्मीय मानना ये सब भ्रमजाल है। पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ विज्ञान मोहान्धकारको नष्ट करनेका कारण है, इस कारण यथार्थ ज्ञानका प्रताप सूर्यसे भी बढकर है। इस लोकमे कुछ मायाजालमे फँसकर किसीको प्रसन्न करने लिए, किसीको अपनी कुछ महत्ता बतानेके लिए कुछ विकल्प कर लिए जायें और दुखभरे परिणमन बना लिए जांये इससे हे आत्मन्! तुम्हारी कौनसी सिद्धि है? भ्रान्त ज्ञान यथार्थ ज्ञान नही है किन्तु सर्वपदार्थोके उनके उनमें ही उत्पादव्ययध्रौव्य स्वतन्त्रता निरखने वाला ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। वस्तुकी स्वतंत्रता निहारनेका प्रेमी होना चाहिए। अनादिकालसे इस जीवने परपदार्थोमे कितनी आत्मीयता की, परपदार्थोसे कितना सम्बन्ध माना, कितना किया यही-यही तो किया। इतने बडे विकट रोगको नष्ट करनेकी जो स्वतंत्रस्वरूपको निहारनेकी औषधि है, वह कितनी मात्रामे देना चाहिए? अनादिकालके बसे हुए सम्बन्ध माननेके रोगको मिटानेके लिए स्वतन्त्रताकी कितनी दृष्टि बनाता है विचार तो करिये। किसी पक्षमे, खण्डनमे, विरोधमे, अपनी नामवरीमें समय बितानेसे आत्मामे कोई अतिशय उत्पन्न होगा क्या? अरे खुद दुखिया है, अपने आपके दुखके निवारण करनेकी युक्ति तो बना ले। कोई मददगार नही है। जैसे परिजनमे जिनके लिए पाप किया रहा है वे कोई मददगार नही होते, इसी प्रकार नामवरी उत्पन्न करनेके क्षेत्रमे जिनको अपनी नामवरीका साधकतम बनाया है वे सब इस जीवके साथी न बनेंगे। प्रत्येक पदार्थ अपने ही उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूपसे परिणमता है, अपनी भलाई कर लो, अपने शुद्ध ज्ञानका प्रयत्न कर लो। सम्यग्ज्ञान वही है जिस ज्ञानमे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक समस्त

पदार्थ एक साथ प्रतिबिम्बित होते है ।

मतिश्रुतावधिज्ञान मन पर्ययकेवलम् ।
तदित्थं सान्वयैर्भेदै पञ्चधेति प्रकल्पितम् ॥४४७॥

ज्ञानके विकास प्रकार—ज्ञान ५ प्रकारका माना गया है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान । कर्मउपाधिके निमित्तसे कही ज्ञानावरणका क्षयोपशम है, किस ही रूपमे उदय है अथवा कही क्षय है, इन सब उपाधियोकी अवस्था विशेष के निमित्तसे ज्ञानमे ये ५ भेद पड गये है । परमार्थत ज्ञानमात्रमे कोई भेद नही है । यह भी कहा कि कोई ज्ञान प्रत्यक्ष है, कोई ज्ञान परोक्ष है, ज्ञानके स्वरूपकी ओरसे भेद नही है । जो ज्ञान आगम शास्त्रका आलबन लेकर जानकारी बनाता है उस ज्ञानमे और जो ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, केवल आत्माके द्वारा ही जानकारी बनाता है, जानकारीके अशमे जानकारी के स्वरूपकी दृष्टिसे दोनो ज्ञानोमे अन्तर नही है, किन्तु जब जानकारीके क्षेत्रसे बाहर किसी बातका निर्णय करने चलते है तो वहाँ भेद पड जाता है । ज्ञानका स्वरूप तो केवल प्रतिभास प्रकाश है, वह सभी ज्ञानोमे पड़ा हुआ है । ज्ञानोमे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानका भेद नही बसा हुआ है । ज्ञानका स्वरूप तो जाननमात्र है । ज्ञानके साथ जो मोहका उदय चल रहा है उसके कारण ज्ञानमे मिथ्याज्ञानका व्यपदेश होने लगता है । ज्ञानका काम तो जाननमात्र है, प्रकाश करनेका काम तो प्रकाशमात्र है । हरी रोशनी बना देना, नीली रोशनी बना देना प्रकाशका काम नही है । उस प्रकाशके साथ कोई उपाधि लगी है, चाहे काचमे ही रग लगा हो, चाहे उसके ऊपर हरा पीला कागज लगा हो, कुछ भी किया गया हो, उपाधिके भेदसे प्रकाशमें भेद हो जायेगा, किन्तु प्रकाशके स्वरूपकी दृष्टिसे ज्ञानोमे भेद नहीं होता है, इस ही प्रकार ज्ञानके स्वरूपकी दृष्टिसे ज्ञानोमे भेद नही होता है किन्तु आवरण मोह उपाधि आदिकके भेदसे ज्ञानमे सम्यक् मिथ्या आदिकके भेद बता दिये जाते हैं । ज्ञान तो परमार्थत एक स्वरूप है । जो पुरुष द्वैत की ओर रुचि रखते है उनको द्वैत ही द्वैत मिलता रहता है, जो पुरुष अद्वैतकी रुचि रखते है उनको निजमे कोई अद्वैतकी कल्याणकी चीज प्राप्त होती है । यद्यपि जगतमे सभी पदार्थ हैं और उनका व्यवहारसे परिचय होता है लेकिन नानारूप उपयोग बनानेमें, भरमानेमे वास्तविक श्रेय नही प्राप्त हो सकता । अपने को एकस्वभावी अद्वैतरूप अखण्ड सामान्यस्वरूप निर्विकल्प अभेद अनुभव करनेसे ही विशिष्ट श्रेयकी प्राप्ति होती है ।

अवग्रहादिभिर्भेदैर्बह्वाद्यन्तर्भवै परै ।
षट्त्रिंशत्त्रिशत प्राहुर्मतिज्ञानं प्रपञ्चत ॥४४८॥

मतिज्ञानका विवरण—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा तथा बहुविधि आदिक

१२ प्रकार इन सबके विस्तार करनेसे मतिज्ञान ३३६ प्रकारका हो जाता है। हम आप सब को ५ इन्द्रिय और एक मनके द्वारा जो कुछ ज्ञान होता है वह सब मतिज्ञान है। और उस मतिज्ञानके होनेके बाद उस पदार्थमे जो और कुछ विशेष बोध होता है वह श्रुतज्ञान है। मतिज्ञानमे सबसे पहिले जो ज्ञान हुआ है, एक ही ज्ञानकी बात कह रहे है—पहिले अवग्रह हुआ है। एक प्रकारका जिस कार्यका सकल्प होता है उसकी भातिमे ज्ञानका प्रारम्भ हुआ है। उसके पश्चात् उस ज्ञानमे विशेष जाननेकी वृत्ति होती है और उस वृत्तिमे जैसा वह पदार्थ है तैसे ही जाननेकी वृत्ति जगे तो वह ईहा ज्ञान है, इसके बाद उसही ज्ञानमे जो निश्चयात्मक एवकार लगाकर ज्ञान बनता है वह अवाय ज्ञान है। और फिर उस ज्ञानकी बात कभी भी न भूलना यह धारणा ज्ञान है। कुछ भी जानते समय है, यह है, यही है, इस प्रकारकी तीन दृढताकी डिग्रियाँ बनती है, वही है अवग्रह ईहा और अवाय। फिर उस ज्ञाता विशेषको न भूल सकना ऐसी जो धारणा होती है वह है धारणा। ये चार प्रकारके ज्ञान ५ इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते है। किन्तु अवग्रहमे जो एक भेद व्यञ्जनावग्रहका है अर्थात् कुछ जानकारी करने के बाद फिर उसके आगे सिलसिला न चले, वही खतम हो जाय, ऐसी कमजोरीका नाम है व्यञ्जनावग्रह। व्यञ्जनावग्रह नेत्र और मनसे उत्पन्न नहीं होता, इसका कारण भी हम आपकी समझमे स्पष्ट हो जायेगा कि आँखोसे जो हम जानते हैं वह एकदम स्पष्ट जान लेते हैं, तभी तो लोग कहते है कि तुमने कानों सुना या आँखो देखी ? आँखों देखेका बहुत महत्व लोग देते हैं, क्योकि उसमे स्पष्ट बोध होता है। ऐसे ही मनकी बात है। मन और नेत्रमे जो ज्ञान होता है वह व्यञ्जनावग्रह नही है। तो व्यञ्जनावग्रह चार साधनोसे हुआ और अवग्रह, ईहा, अवाय आदि ६ साधारण ज्ञानोसे हुआ। ६×४=२४+४=२८ यो २८ प्रकारके ज्ञान १२ प्रकारके पदार्थोके होते है—बहुत पदार्थोका बहुत प्रकारके पदार्थोका शीघ्र ज्ञान और विलम्बसे ज्ञान, एकका ज्ञान, एक प्रकार का ज्ञान, प्रकट निकले हुए का ज्ञान, गुप्त छिपे हुएका ज्ञान, एकदम स्पष्ट कहते हुएका ज्ञान और एक अस्पष्ट अनियतका ज्ञान। एक ध्रुव पदार्थका ज्ञान एक अध्रुव पदार्थका ज्ञान, यो २८ प्रकारके ज्ञान बारह बारह प्रकारके होते है। इस प्रकार मतिज्ञानके ३३६ प्रकार है।

प्रसृत बहुधाऽनेकैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः।
स्याच्छब्दलाञ्छित तद्धिश्रुतज्ञानमनेकधा ॥४४६॥

श्रुतज्ञानका वर्णन—श्रुतज्ञान ११ अंग १४ पूर्व और १४ प्रकीर्ण अर्थात् अंग बाह्य इनके भेदोसे बहुत प्रकारके भेद वाला है। जिसे श्रुतज्ञान कहो, आगमज्ञान कहो। इन सब ज्ञानोंमे स्यात् शब्दका चिन्ह पडा हुआ है। किसी अपेक्षासे ऐसा है, इस अपेक्षासे ऐसा है, यो

अपेक्षा लगाकर ज्ञानकी बातका प्रकाश करना यह है स्यात्वाद। स्यात् शब्द संस्कृतमे है उसका अर्थ है अपेक्षासे। लेकिन हिन्दी उर्दूमे एक शब्द है "सायद"। यह शब्द बडा प्रसिद्ध है। तो सकल सूरतसे स्यात् शब्दकी सदृशता "सायद" शब्दमे मिली। कुछ लोग स्यात्का सायद अर्थ लगाकर एकदम ससयवाद जैसी सकल स्यात्वाद बना देते हैं। जैसे कहा तो यो जाता कि जीव स्यात् नित्य ही है, जीव स्यात् अनित्य ही है, जिसका अर्थ तो यह है द्रव्य-दृष्टिकी अपेक्षासे जीव नित्य ही है, पर्यायदृष्टिकी अपेक्षामे जीव अनित्य ही है। लेकिन स्यात् का अर्थ सायद करके अपने आपको ठगना और दूसरोको भी परेशानीमे डालना यह ही बनता है। तो विरुद्ध अभिप्रायके लोग यो अर्थ लगाते है सायद जीव नित्य है, सायद जीव अनित्य है। इसमे कोई निश्चय नही है ऐसी प्रसिद्धि करते हैं। स्यात्वादमे इतनी दृढताके साथ निश्चयकी बात कही जाती है जिसमे शिथिलता और सशयका रच भी स्थान नही है। स्यात् नित्य अस्ति इसका अर्थ है—जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य ही है, सशयका रंच स्थान नही है और न शिथिलताकी बात है। किसी पुरुषके सम्बधमे यदि यह कहा जाय कि यह अमुक-चन्दका पुत्र ही है और अमुकप्रसादका पिता ही है निश्चय हुआ या सशय ? इसमे निश्चय हुआ। दृष्टि लगाकर पूर्ण निश्चयके साथ बात बतानेका नाम स्यात्वाद है। स्यात्वादमे भी शब्दका प्रयोग नही है। जैसे कि लोग भी शब्द करके प्रसिद्ध करते हैं। जीव नित्य भी है जीव अनित्य भी है। भी जैसी शिथिलताका स्थान नही है स्यात्वादमे किन्तु जीव द्रव्यदृष्टि से नित्य ही है, ही का स्थान है। निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण होता है। अनिश्चय ढीलपोल वाला ज्ञान प्रमाण नही माना जाता। हाँ जो लोग दृष्टियोसे अपरिचित हैं उनके समक्ष यदि भी लगाकर भी कहा जाय तो जानने वाले भी के साथ जानें तो गलत है। भी लगाकर बोलनेपर भी कहने वाले और सुनने वालेको ही लगाकर समझना चाहिए। नित्य भी है इसका अर्थ यो समझना कि द्रव्यदृष्टिसे नित्य ही है, इसके अलावा दूसरी भी बात है। और, वह बात है—पर्यायदृष्टिसे अनित्य ही है। यो स्यात् शब्द करके जो बसा हुआ ज्ञान है आगम का वह सब श्रुतज्ञान है।

देवनारकयोर्ज्ञेयस्त्ववधिर्भवसम्भव।
षड्विकल्पश्च शेषाणा क्षयोपशमलक्षण ॥४१०॥

अवधिज्ञानका प्रकाश और उसके प्रकार—ज्ञानके ५ भेद कहे गए हैं— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका तो वर्णन किया, अब अवधिज्ञानका वर्णन कर रहे हैं। अवधि शब्दका अर्थ है मर्यादा। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादा लेकर जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। यद्यपि मर्यादा मन पर्ययज्ञानमे भी है किन्तु रुढिवश इसका नाम अवधिज्ञान है। अवधिज्ञानके पहिले

से जितने ज्ञान हैं उन सबमें मर्यादा पडी हुई है, अवधिज्ञानके बादका ज्ञान केवलज्ञान है, उसमें मर्यादा नही पडी है। इस दृष्टिसे ५ ज्ञानोंका नं० यों आ गया--मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मन पर्ययज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञान। अवधिज्ञान और अवधिज्ञानके पहिलेसे जितने ज्ञान है वे सब मर्यादासहित है और अवधिज्ञानके बादका ज्ञान असीम है। इस दृष्टिसे ऐसा नम्बर होनेपर भी चूँकि मन पर्ययज्ञान सम्यग्दृष्टिके ही होता, संयमीके ही होता पूज्यता विशेष। केवलज्ञानके बाद ज्ञानीमे पूज्यता मन पर्ययज्ञानकी है, इस कारण मन.पर्ययज्ञानका नम्बर तीसरेसे हटाकर चौथे नम्बर पर किया है। इस तरहकी व्यवस्था इस दृष्टिसे बनी है। अवधि का अर्थ है मर्यादा। अवधिज्ञानमे एक खासियत यह भी है कि जानता तो है यह चारो ओर की बाते किन्तु नीचेका क्षेत्र ज्यादा होता है, ऊपरका क्षेत्र कम होता है। अवधिज्ञानी जीव जितना ऊपरकी चीज जानेगा उससे कई गुनी नीचेकी चीज जानेगा। यह अवधिज्ञानमे एक प्रकृति पडी हुई है। अवधिज्ञानके दो भेद है—भवप्रत्यय और लब्धिप्रत्यय। भवप्रत्ययका अर्थ है उस भवको पाकर नियमसे अवधिज्ञान हो उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते है। और, लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञान उसे कहते है कि अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम पाकर इस योग्यता के ही कारण जो ज्ञान होता है वह लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञान है। यद्यपि भवप्रत्यय अवधिज्ञान मे भी भवप्रत्यय अवधिज्ञान चाहिए। अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम हुए बिना अवधिज्ञान होता नही है, किन्तु देव और नारकियोका भव उन्हे ही मिलता है जिनके अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम भी हो जाता है। अथवा उस भवमे जन्म लेने वाले जीवकी एक यह विशेषता है कि अवधिज्ञानावरणका भी क्षयोपशम उसके होता है। तो लब्धिप्रत्ययमात्रसे अवधिज्ञान हो उसकी अपेक्षा भवप्रत्ययमे एक भवकी विशेषता भी पायी गई, अतएव लब्धिप्रत्यय की दोनो जगह समानता होनेसे भवकी खासियतकी प्रधानतासे भवप्रत्यय नाम रखा है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान विशेष अधिक विशुद्धिको लिए हुए नही होता। परमावधि, सर्वावधि जैसा ज्ञान जिसके प्राप्त होनेपर उसी भवसे नियमसे मुक्त हो जाता है वह लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञान ही है। भवप्रत्यय अवधिज्ञानमे उतनी उत्कृष्टता नही होती। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोके होता है और लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञान शेष जीवोके होता है अर्थात् संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चो और मनुष्योके होता है।

लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञानके प्रकार—लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञानके ६ भेद है—अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अनवस्थित, अवस्थित। जिस भवमे अवधिज्ञान हुआ है या जिस क्षेत्रमे जिस स्थानपर अवधिज्ञान हुआ है उस भवके त्यागनेके बाद भी उस स्थानसे हटनेके बाद भी अवधिज्ञान बना रहे ऐसे अवधिज्ञानको अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। और क्षेत्रान्तरमे अवधिज्ञान मिट जाय ऐसे अवधिज्ञानको अननुगामी अवधिज्ञान कहते है। जिस

डिग्रीमे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है उससे बढता ही जाय उसे वर्द्धमान अवधिज्ञान कहते हैं और जिस डिग्रीमें अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है उससे घटता ही जाय उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते है। और जितने रूपमे अवधिज्ञान प्रकट हुआ है उतनेमे ही रहा करे उसे अवस्थित अवधिज्ञान कहते है और जो कभी घटे कभी बढे उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते है। इस प्रकार लब्धिप्रत्यय अवधिज्ञानके ६ भेद हैं। सम्यग्ज्ञानके प्रकरणमे प्रयोजनीभूत तो वस्तुस्वरूपका ज्ञान है, भेदविज्ञान है, तत्त्वज्ञान है फिर भी किसी भी ज्ञानकी विशदता के लिए अनेक प्रकारके सम्बधित ज्ञान भी हो तो उसमे स्पष्टता विशेष होती है। अधिक जानकार पुरुष छोटी सी छोटी चीजका भी ज्ञान रखता है और कम जानकार पुरुष भी अपने प्रयोजनकी बातका ज्ञान रखता है, फिर भी उन दोनोके ज्ञानकी विशदतामे अन्तर है। ज्ञान कैसे होते, कितने होते, इसका स्वरूप, इसकी परिस्थितियाँ विज्ञात हो तो प्रयोजनीभूत ज्ञानकी विशदता भी विशेष होती है, अतएव ये सब भेद प्रभेद यहाँ कहे जा रहे हैं।

ऋजुर्विपुल इत्येव स्यान्मन पर्ययो द्विधा।
विशुद्धचप्रतिपाताभ्या तद्विशेषोऽवगम्यताम् ॥४५१॥

मनःपर्ययज्ञानका विकास—चौथे ज्ञानका नाम है मन पर्ययज्ञान। दूसरेके मनकी बातको विकल्पको जान जाना सो मन पर्ययज्ञान है। ये दो प्रकारके होते हैं एक ऋजुमति, दूसरा विपुलमति। दूसरा पुरुष कोई सरल बात सरलतासे मनमे सोच रहा है उसे जाने तो वह ऋजुमति मन पर्यय ज्ञान है। कोई पुरुष बडे मायाचारसे, बडे गुप्त ढगसे कुछ भी सोच रहा है अथवा अच्छा सोच पाया, या पहिले सोचा था या आगे सोचेगा, उन सब विकल्पो को जो जान लेता है वह विपुलमति मन पर्ययज्ञान है। विपुलमति मन पर्यय ज्ञानमे विशुद्धि विशेष है और विपुलमति मन पर्ययज्ञान नियमसे उस ही भवसे मोक्ष प्राप्त करता है। केवलज्ञान होने पर ही मन पर्ययज्ञान छूटता है इससे पहिले नहीं।

अशेषद्रव्यपर्यायविषयं विश्वलोचनम्।
अनन्तमेकमत्यक्ष केवल कीर्तित बुधै ॥४५२॥

केवलज्ञानकी विश्वलोचनरूपता—जो समस्त द्रव्य और पर्यायोको जानने वाला है, समस्त जगतका लोचन है, अनन्त है, एक है, अतीन्द्रिय है उस ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं। केवलका अर्थ है मात्र वही वही, जिसके साथ दूसरे पदार्थका अथवा परभावका सम्बन्ध न हो उसे कहते है केवल। जो समस्त द्रव्यो और पर्यायोको जानता है वह केवलज्ञान है। ज्ञान यदि केवल रह जाय, उसके साथ कोई उपाधि और आवरण न रहे तो उसकी ऐसी विशेषता है कि वह ज्ञान समस्त सत्को जानने वाला हो जाता है। इसी कारण केवलज्ञान

का अर्थ सबको जानने वाला प्रसिद्ध हो गया। शब्दका अर्थ तो यह है कि केवल ज्ञान-ज्ञान रह गया, अन्य कोई उपाधि या कलंक नहीं रहा, किन्तु निष्कलंक निरुपाधि ज्ञानमे चूँकि ज्ञानस्वभाव तो है ही, तो वह जानेगा और कितना जानेगा जो सत् हो उस सबको जानेगा। अतएव केवल ज्ञान सर्व ज्ञानको कहते हैं। केवलज्ञान अविनाशी है, इसका कभी विनाश नहीं होता। केवलज्ञान मिटकर कहीं और प्रकारके ज्ञान हो जाये ऐसा अब कभी न होगा। यह अतीन्द्रिय है, मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी तरह इन्द्रियसे उत्पन्न नही होता। यह केवल आत्मा, को ही जानता है। यह केवलज्ञान है, सकल प्रत्यक्ष है। आत्मा वस्तुके यथार्थस्वरूपको जाने और यथार्थ जानकर भेदविज्ञानको दृढ करे और भेदविज्ञानके फलमें अपने आपके अभेदस्वरूपका ज्ञान करे तो इस परमपुरुषार्थके फलमे उत्कृष्टसे उत्कृष्ट बात क्या होती है वह है केवलज्ञान। एक अद्वैत सहज निज चित्स्वभावके ज्ञानमे ऐसी सामर्थ्य है कि यह उत्तरोत्तर विकसित हो होकर अन्तिम अवस्था केवलज्ञानकी प्राप्त करता है।

कल्पनातीतमभ्रान्तं स्वपरार्थविभासकम्।
जगद्ज्योतिरसंदिग्धमनन्तं सर्वदोहितम् ॥४५३॥

केवलज्ञानकी परमज्योतिरूपता—केवलज्ञान कल्पनातीत है, अर्थात् न तो केवलज्ञान को कोई अपनी कल्पनामे माप सकता है, न स्पष्ट जान सकता है, हाँ उसका अंदाज युक्ति अनुमान कर सकता है, पर जैसे किसी बातके लिए पूछा जाता कि साफ स्पष्ट बतावो—इस प्रकार केवलज्ञान किस तरहसे जानता है, यह कल्पनामे स्पष्ट नही आता, क्योकि छद्मस्त अवस्थामे और जिज्ञासु अथवा इच्छावान पुरुषोके लिए केवलज्ञानका विषयज्ञानमे परोक्षरूप से ही तो आयगा। और, यह केवलज्ञान कल्पनातीत है। केवलज्ञान किसी भी पदार्थको जाननेमें किसी प्रकारकी कल्पना नहीं उठाता है। अपने ज्ञानस्वभावसे समस्त सत् एक साथ ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होते है ऐसा ज्ञानका स्वभाव और प्रताप है। केवल स्व और पर दोनों अवभासक है। केवलज्ञानके द्वारा यह केवलज्ञानी परमात्मा स्वयं विदित ज्ञानानुभूत होता रहता है और समस्त बाह्य सत् भी ज्ञेयाकाररूप परिणमते रहते है अर्थात् उन सबका भी जानना चलता रहता है। यह केवलज्ञान सदेहरहित स्पष्ट जानता है। ज्ञानस्वभावके कारण ज्ञानी आत्मा जानता है इसे विषय सन्मुख चाहिए इसकी अपेक्षा नही है। आवरण होनेपर ही अनेक आधीनताएँ होती हैं, निरावरण ज्ञानमे अभिमुखताकी अपेक्षा नही है और इन्द्रिय न होनेके कारण कोई नियंत्रण नियमितता भी नही है। स्वच्छन्द होकर एकदम समस्त सत्को जानने वाला केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान निर्विकल्प है, और मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान भी निर्विकल्पज्ञान है। केवल श्रुतज्ञान सविकल्पज्ञान है। कल्पनाएँ उठाना यह सब श्रुतज्ञानकी देन है, मतिज्ञानमे कल्पनाएँ नही उठती, किन्तु जो है

उसे जान भर लेता है। जैसे आखे खोलनेके बाद कोई रूप दीखा तो रूपका ज्ञान हो जाना यह कितनी जल्दी होता है और इसके तुरन्त बाद कितनी जल्दी श्रुतज्ञान आ जाता है। इसे आप यो समझिये कि जैसे ही जाना रूपको तो मतिज्ञान हुआ और जैसे ही समझमे यह बैठा कि यह सफेद है बस श्रुतज्ञान हो गया। अब किसी चीजको देखकर सफेद हरी आदिक रग की कल्पना होती है उससे पहिले इस कल्पनाके बिना जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है, हमारा निर्विकल्प ज्ञान है। मतिज्ञानमे जैसा जो रूप है वही जाननेमे आता है किन्तु यह हरा है पीला है इस प्रकारकी कल्पना मतिज्ञानमे नही बसी हुई है। ऐसे ही अवधिज्ञान जान लेता है अपने विषयको पर कल्पना नही करता। जो पुरुष किसी अवधिज्ञानीसे अपना भव पूछे तो वह अवधिज्ञान जोड़कर, अवधिज्ञानसे जानकर बताता तो है किन्तु बतानेका काम अवधिज्ञान नही करता। मतिज्ञानकी तरह अवधिज्ञानसे भी निर्विकल्परूप अपने विषयको जान लिया। अब उस जानते हुए पदार्थमे स्मरण करके, कल्पनाएँ करके श्रुतज्ञानसे जानकर फिर प्रतिपादन किया जाता है, यही बात मन पर्ययज्ञान केवलज्ञानमे निर्विकल्पता तो है ही। प्रतिपादनकी भी बात नही होती। केवल सयोग केवली गुणस्थानमे भव्य जीवोके भाग और योगके सयोगसे दिव्यध्वनि खिरती है, पर कल्पनायुक्त क्रम पूर्वक प्रतिपादन करने की शैलीसे भगवानका उपदेश नही होता। यो केवलज्ञान सदेहरहित है और सदैव उदयरूप है। किसी भी समयमे इसका किसी भी प्रकारसे अभाव न होगा।

अनन्तानन्त भागेऽपि यस्य लोकश्चराचर।
अलोकश्च स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिना मतम् ॥४५४॥

योगियोंकी परमज्योति---केवलज्ञाने कितनी सामर्थ्य है जो कुछ केवलज्ञान द्वारा जाना जा रहा है वह समस्त लोकमे जाना जा रहा है। ऐसे लोक असंख्यात हो, अनगिन्ते भी हो तो भी यह केवलज्ञान सबको जानता है। ज्ञानमे कुछ सिकुडन तो होती नही कि इसमें इतने ही पदार्थोका ज्ञान समा पायेगा, अन्य पदार्थोका ज्ञान करनेकी इसमे गुजायश नही है। ज्ञानका कार्य तो जानना है, और, जानन जो सत् हो उस सबका जानन है। इस केवलज्ञानमे समस्त लोकालोक प्रभासित होता है, अथवा यो कहो कि केवलज्ञानके समस्त अविभागी परिच्छेदोमे से अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदोसे यह समस्त लोकालोक जान रहा है अर्थात् इससे भी अनन्तगुने ज्ञेय पदार्थ हो तो उन्हे भी यह केवलज्ञान जान सकता है। केवलज्ञान लोकसे अधिक नही जान रहा किन्तु स्थिति शक्ति बतायी जा रही है कि ऐसे अनगिनते लोक भी होते तो उन्हे केवलज्ञान जान लेता। जो सत् है, सत् था, सत् होगा उसको केवलज्ञान जानता है। वर्तमान कालको ही जाने ऐसी सीमा मतिज्ञानमे है, और मतिज्ञानका भेद जो स्मृतिज्ञान है वह तो अतीतकालकी भी बात समझता है। अवधि-

ज्ञान और मन.पर्ययज्ञान तो अतीत और भविष्यकालकी भी कुछ सीमाको लेकर प्रत्यक्षरूपसे जानता है। जिस विषयमे अवधिज्ञानीने अवधिज्ञान जोड़ा उसको जान जाता है कि अमुक समय ऐसी बात होगी। तो जब किसी एक समयकी बातको जान गया तो इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक समयमे बात निश्चित है। होगा विधिविधानपूर्वक, पर कैसे भी हो। जो कुछ भी हुआ उसे ज्ञानने जान लिया। एतावनमात्रसे पदार्थको परिणमनेकी विरोधता नही आई, वह तो जो कुछ होना है, होना है, हो सकता है वह सब हो रहा है। ज्ञानने तो चूँकि विशुद्ध है जो उसने जान लिया। यह कुछ ज्ञानने अपराध नही किया। पदार्थ तो जब जिस विधिसे जैसा होना है होता है। उन सबको प्रत्यक्षज्ञान स्पष्टरूपसे जान लेता है। इस तरह सम्यग्ज्ञानके प्रकरणमे ज्ञानके ५ भेदोको बताया गया है। इन ज्ञानोमे सर्वोत्कृष्ट ज्ञान केवल ज्ञान है और उस केवलज्ञानका बीज है स्वानुभूति और स्वानुभूति है मतिज्ञान। स्वानुभूति एक अनुपम और विलक्षणज्ञान है। उसके प्रतापसे ज्ञानका विकास हो होकर केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

अरम्यं यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेद्यं यद्वेरपि।
तद्दुर्बोधोद्धत ध्वान्त ज्ञानभेद्य प्रकीर्तितम् ॥४५५॥

ज्ञान द्वारा दुर्बोधोद्धत ध्वान्तका भेदन—जिस मिथ्याज्ञानरूपी महान् अंधकारको चन्द्रमा और सूर्य भी नष्ट नही कर सकते ऐसा दुर्भेद्य मिथ्यात्व अधकार ज्ञानसे नष्ट किया जा सकता है अर्थात् मोह मिथ्यात्वके विकल्पोका अधेरा ज्ञानसे ही दूर होता है। जैसे यहाँ अनेक बाह्य कारणोसे दूर नही हो पाते किन्तु भीतरके विचारोंका परिवर्तन बने तब ही वे सकट दूर होते हैं। अनेक प्रेमी लोग समझाने वाले अनेक तरहसे समझाते है और यह चाहते हैं अपनी पूर्ण शक्तिके साथ कि इसके सकट दूर हो और संकट तो भीतरके विचारो से बने है। जिस किसी प्रकार भीतरके विचारमे परिवर्तन हो तो संकट दूर हो सकते है। हर जगह देख लीजिए संकट भीतरी ख्याल है। मान लो एक देशके नेतासे देशपर कोई शत्रु उपद्रव करे तो यह घोर सकट कहलाता है, किन्तु जिसके भीतरका विचार इसे अगीकार करे उसको ही तो संकट है और कोई विरक्त ससारका स्वरूप जानता है, न यहां हमारा ठिकाना है और न अन्यत्र कोई ठिकाना या ठौर ठिकानेकी बात है सब एक समान है। कुछ दिनोके लिए आज इस देशमे हैं, इसके बाद कहाँकि कहाँ होगे और कितने काल का यह खेल है। कोई विरक्त हो तो उसे भी सकट नही महसूस कर सकता है ही नही संकट उसमे। संकट तो सबका अपने-अपने विचारोसे है। कोई सोचे कि हमारे कुलकी परम्परा अच्छी बनी रहे, लडके लोग अच्छे चलें, उनके लडके फिर उनके लडके यो पीढी परपीढीके सब लोग कुशल रहे, सबका यश बढे, इज्जत बढे ऐसा सोचते है। प्रथम तो

कितनी पीढी तक का आप ठेका लेना चाहते है कि इतनी पीढी तकके लोग अच्छे रहे ? कुछ ठेका ही नही लिया जा सकता। दूसरी बात यह है कि मरेके बाद तो ये सब उतने ही गैर हो जायेंगे जितना गैर दूसरोंको माना है। तव फिर इनकी ओर ध्यान करना, विचार करना यह संकट है कि नही ? लेकिन जब सभी लोग इस धुनमें हैं, इस विचारमे है तो यह चतुराई मानी जाती है। संकट नहीं मान रहे और जो इन बातोमे कुशल हैं उनकी प्रशसा की जा रही है। जिन्दगीभर श्रम करें, धन जोडकर रखें उनकी ही लोग तारीफ करते है कि देखो उसने कितनी अच्छी व्यवस्था बनाई कि उसके बालबच्चोको कोई तकलीफ नही है, और किया सारे संकटोके ही काम। तो विचारोके भेदमे बहुत भेद है, मर्म है, सारे संकट विचारनेके है। किसी भी मामलेमे किसीको अपना और किसीको गैर मान लेना यही संकट है। यहाँ तो जिन्हे अपना मानते वे भी गैर हैं और जिन्हे पराया मानते वे भी गैर है, सभी अपने स्वरूपमे है। ऐसा नही है कि कोई अपना है और कोई गैर है। सब जीवोका स्वरूप जैसा अपना है तैसा ही सबका है। रच भी भेद नही है। भव्य जीव और अभव्य जीवमे भी स्वरूपका भेद नही, जो इतनी बडी भारी परिस्थितिमे अन्तरकी चीज है। जैसा ज्ञानानन्दस्वभाव भव्यका है वैसा ही ज्ञानानन्दस्वभाव अभव्यका है, जो शक्तिया भव्यमे हैं वही शक्तियाँ अभव्यमे हैं। तभी तो केवल ज्ञानावरण भव्यके भी लगा जिससे केवलज्ञान नही हो रहा और केवलज्ञानावरण अभव्यके भी लगा जिससे ज्ञानावरण नही हो रहा। भव्य और अभव्य जीवोमे जहाँ एक स्वरूप है फिर और की तो कहानी क्या ? भव्य-भव्य उनमे भी ये मेरे है, ये पराये है, ये भिन्न हैं, ये गैर हैं, यह प्रतीतिसे भेद नहीं रहता। यही संकट हैं। इस पर सकट राल दिा करते चले जा रहे हैं और ख्याल तक नही करते कि हम स्वयं सङ्कटोको रोज-रोज पनपा रहे हैं। कोई इन सङ्कटोको देहाती असभ्य बनकर सहता है और कोई इन संकटोको सभ्य, नेता, चतुर कहलाकर सहता है। यही अधेरा है, यह मोह मिथ्या-अंधकार है, इसे चन्द्र और सूर्य भी नष्ट नही कर सकते, किन्तु एक सम्यग्ज्ञानसे यह नष्ट होता है।

दु खज्वलनतप्ताना ससारोग्रमरुस्थले।
विज्ञानमेव जन्तूना सुधाम्बुप्रीणनक्षम ॥४५६॥

विज्ञानसुधासे संसारसंतापका शमन—इस ससाररूपी उग्र मरुस्थलमे दु खकी ज्वालासे तपे हुए जीवोको एक सत्य तत्त्वज्ञान ही अमृतरूपी जलसे तृप्त करनेमे समर्थ है। जैसे मरुस्थल है अर्थात् जहाँ मरुभूमि है, जहाँ पानीका ठिकाना नही है और फिर वहाँ लग जाय तो उस आगसे बचना वहाँके जीवोके लिए कठिन पडता है। कहाँ जल रखा है, ऐसे ही इस संसाररूपी मरुस्थलमे असार स्थानोमे तप रहे ये संसारी प्राणी है, इनका अब क्या

उपाय है ? वहुत कठिन बात है कि वे शान्त हो जाये, तृप्त हो जाये। केवल एक ही उपाय है। तत्त्वज्ञानरूपी अमृतजलसे उन्हे तृप्त कराया जाय। यथार्थज्ञानकी वृत्ति हुई कि सारे संकट एक साथ दूर हो जाते हैं। वहुत-बहुत विपदा है, पर एक यह प्रकाश आ जाय कि मेरा वाहरमे कही कुछ नही है, लो सबके सब सकट एक साथ शान्त होते है या नही। तो मैं क्या हूं ? मैं एक चेतन ज्ञानानन्दस्वरूप अमूर्त जिसका नाम नही जिसे विशेषणसे आत्मा कहते हैं, देहसे भी जुदा जिसको कोई समझता नही, इस सम्बधमे भी जिससे किसीका परिचय नही ऐसा एक चैतन्यस्वरूप मैं हूं। इस मुझ अतरतत्त्वका कही कोई नही है। तो यो तत्त्वज्ञानकी दृष्टि जब जगती है तो सारे दु ख एक साथ शान्त हो जाते हैं या नही ? सो खुद अनुभव करके देख सकते है। तो सम्यग्ज्ञानरूप अमृतजलसे ही दु.खी पुरुषोको तृप्ति मिल सकती है अर्थात् ससारके दु ख मिटानेके लिए एक सम्यग्ज्ञान ही समर्थ है। सम्यग्ज्ञान के प्रसंगमे जो कुछ अन्तर्वृत्ति होती है स्वयंके हितकी दृष्टिसे हितकी पद्धतिसे होती है। कभी कोई उस सम्यग्ज्ञानकी वृत्तिसे इस जीवका अहित नही होता है, हित उत्पन्न होता है।

निरालोक जगत्सर्वमज्ञानतिमिराहतम्।
तावदास्ते उदेत्युच्चैर्न यावज्ज्ञानभास्कर. ॥४५७॥

ज्ञानभास्करके उदित न होने तक ही अज्ञानतिमिरकी सभवता—जब तक ज्ञानसूर्य का उदय नही होता तभी तक यह जगत अर्थात् प्राणी अज्ञानरूपी अंधकारसे आच्छादित है। जैसे रात्रिका अँधकार तभी तक है जब तक सूर्यका उदय नही होता। सूर्य रात्रि कुछ अलग चीज नही है जिसने अँधेरा ला दिया हो, सूर्य नही रहा उसीका नाम रात्रि है, सूर्य अस्त हो गया, उसके बाद जब तक उदय नही होता तब तक जो अँधेरा है वही रात्रि है तो रात्रिका अंधकार चूंकि सूर्यके अभावसे प्राप्त है अत सूर्यके उदय होने पर अंधकार समाप्त हो जाता है। ऐसे ही यह मोहान्धकार, अज्ञान अधकार है क्या चीज ? ज्ञानका सद्भाव नही है, ज्ञान अस्त है और उसीका ही यह परिणाम है कि मोह रागद्वेषरूप अज्ञान परिणाम वना है। तो यह अज्ञान परिणामका अधकार तब तक ही रहता है जब तक ज्ञान परिणाम उत्पन्न न हो, अर्थात् ज्ञानरूपी सूर्यका उदय होते ही अज्ञानरूपी अधकार नष्ट हो जाता है। जैसे दो ही तो बात—है दिन और रात और उसकी दो संध्याये। इन चारके अलावा और समय क्या है व्यवहारसे ? या दिन होगा या दिनके बादकी सध्या या रात होगी या रातके बादकी संध्या। ऐसे ही यहाँ संसारमे अज्ञानका भी प्रसार है और क्वचित् आत्मावोमे ज्ञानका भी प्रकाश है, तो ४ ही तरहकी तो बाते है—या ज्ञानप्रकाश है या अज्ञान अधकार है या ज्ञानप्रकाश हो जानेके बाद भी अज्ञानकी ओर जब परिणति होती है जीवमे समयकी एक संध्या है और जब ज्ञान अंधकार दूर होता है, ज्ञानप्रकाश पाता है एक

उसके बीचकी सध्या है। तो ज्ञान और अज्ञान ये दो ही परिणमन हैं। अज्ञान कब तक है ? जब तक ज्ञानसूर्यका उदय नही होता। किसीके व्ययको किसीका उत्पाद कहा जाता, किसोके उत्पादको किसीका व्यय कहा जाता। जब हम परिणतिकी दृष्टिसे देखते है तो सद्भावात्मक बात देखिये और लोक प्रकृतिके अनुसार सद्भाव अभावका वर्णन करिये। यद्यपि यह भी कह सकते हैं कि अज्ञान मिटनेसे ज्ञान बनता है। तो क्या यह नही कह सकते है कि ज्ञान जगने से अज्ञान मिटता है और सद्भावात्मक बातसे चले तो और हमे क्या करना चाहिए, इस दृष्टिसे चलें तो ज्ञान होने मे अज्ञान मिटता है, इस ओर दृष्टि जाना चाहिए। जैसे हम क्या करें, किस तरह हमारा धर्म निभे, हममे धर्म प्रकट हो उसके लिए कोई प्रतिषेध मुखेन वर्णन करें, पाप न करो तो धर्म होता है, अमुक अमुक काम न करो उससे धर्म होता है। क्या विधि मुखेन नही कहा जायेगा ? विधि मुखेन कहनेमे बल अधिक है। क्या करें हम ? ज्ञान करे, सत्य श्रद्धा करे, आत्माकी सुध लें, सहजस्वरूपकी दृष्टि करें इससे हमें करने योग्य कृत्यके दर्शन होते हैं। तो यहा सम्यग्ज्ञानके प्रतापका वर्णन चल रहा है। सम्यग्ज्ञानका ऐसा प्रताप है कि इससे वह अज्ञान अंधकार नष्ट होता है जो अंधकार सूर्यके द्वारा भी नष्ट नही हो सकता।

बोध एव दृढ. पाशो हृषीकमृगबन्धने।
गारुडश्च महामंत्रश्चित्तभोगिविनिग्रहे ॥४८॥

हृषीकमृगबन्धनमें बोधकी पाशरूपता—इन्द्रियरूपी मृगमे बांधनेके लिए एक ही दृढ पासा है, अर्थात् ज्ञानके बिना इन्द्रियाँ आधीन नही होती। इन्द्रियोपर विजय नही हो पाता। इन्द्रियोंपर विजय करनेका उपाय तत्त्वज्ञान है जिस तत्त्वज्ञानके कारण द्रव्येन्द्रियसे, भावेन्द्रियसे और विषयभूत पदार्थोंसे उपेक्षा हो जाती है। ज्ञानका उपेक्षा स्वभाव है। किसी परवस्तुमें न लगाव उत्पन्न करता है और न उसका विघात उत्पन्न करता है, किन्तु ज्ञानका तो काम केवल जाननमात्र है। जिसमे उपेक्षाभाव पड़ा हुआ है। तो तत्त्वज्ञानसे ये इन्द्रिया वश होती हैं। द्रव्येन्द्रिय नाम है शरीरपर रहने वाली इन्द्रियोका, जो लोगोको दिखा करती हैं और भावेन्द्रिय नाम है इन द्रव्यइन्द्रियोका साधन करके जो अन्तरङ्गमे विचार ज्ञान उत्पन्न होता है, वे ज्ञान विचार तर्क सब भावेन्द्रिय है। तो जो तर्क विचार उत्पन्न हुआ वह परिणाम भी मेरा स्वरूप नही है। मैं तो एक चित्स्वभावमात्र हूँ। ये विचार वितर्क एक परिस्थितिमे उत्पन्न हुए हैं, इस प्रकार परिणमते रहना मेरा स्वभाव नही है, ऐसा जानकर उन विभावोसे भी उपेक्षा होना, और द्रव्येन्द्रिय तो पुद्गल हैं ही, उनसे उपेक्षा होना और विषयभूत पदार्थ भिन्न है, उनसे आत्महित नही है, उनसे उपेक्षा होना, इस प्रकार साधन और विषय इन तीनसे उपेक्षा होनेमे इन्द्रियविजय होती है। यह ज्ञान चित्तरूपी सर्पका निग्रह

दुःख सहता है। दो नेत्र तो सबके ही होते है। इन चर्मनेत्रोसे तो जो है सभी देखते है किन्तु एक आन्तरिक तृतीय नेत्र ज्ञान जिसके प्रकट हो जाता है, केवलज्ञान हो जाता है तब वह देवाधिदेव कहलाता है। तो यह ज्ञान ही समस्त तत्त्वोको प्रकाशित करनेके लिए तृतीय नेत्र है। इन इन्द्रियोसे जितना जो कुछ जानते है उससे अधिक तो एक आन्तरिक ज्ञान द्वारा लोग समझते रहते है। किस-किस देशकी बातें, कहाँ कहाँकी कहानियाँ ये सब ज्ञान-द्वारा ही समझ रहे है। यहाँ भी मनका रूप है, परोक्ष है और इन्द्रिय द्वारा भी जब हम कुछ समझते है तो वहाँ भी साधकतम इन्द्रियाँ नही है किन्तु साधकतम तो ज्ञान ही है। प्रत्येक प्रमाणमे साधकतम ज्ञान है। जो ज्ञानके द्वारा ही लोकालोक सब कुछ जाना जाता है। स्वर्ग है, नरक है, भगवान है, तीर्थकर है, विदेहक्षेत्र है, इतने महापुरुष हुए है, इतने होगे, जितनी जो कुछ भी जानकारियाँ करते है वे सब इन्द्रियोके द्वारा नही करते बल्कि ज्ञानके द्वारा करते है। वह ज्ञान हमारा मनरूप है, अन्तःकरण है। है तो आन्तरिक बात तो यह परोक्ष है और जब कोई ज्ञानी पुरुष परोक्षताका उपकार नही करते, एक स्वयं सहजस्वरूपके अनुभवमे लगते है तो उसके प्रतापसे परोक्षता दूर होती है और प्रत्यक्षता प्रकट होती है। तो ज्ञान ही ससारसंकटोको नष्ट करनेमे समर्थ है और यह ज्ञान ही समस्त तत्त्वोके जाननेमे समर्थ है। ज्ञानके प्रतापकी बात चल रही है। चूँकि ध्यानके अंग हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र। उसीके सिलसिलेमे यहाँ सम्यग्ज्ञानका प्रताप कहा जा रहा है।

क्षीणतन्द्रा जितक्लेशा वीतसङ्गा स्थिराशया।
तस्यार्थेऽमी तपस्यन्ति योगिनः कृतनिश्चयाः ॥४६०॥

प्रज्ञ संतोंका स्वरूपानन्दलाभके अर्थ उद्यम—जिनका प्रमाद नष्ट हो गया है,

उसके बीचकी संध्या है। है, जिनका परिग्रह व्यतीत हो गया है, जिनका अभिप्राय स्थिर है है ? जब तक उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए तपश्चरण करते हैं। जो पुरुष प्रमादयुक्त है, किसीके उत्पाहमकल्याणके लिए उत्साह नही जगता, जो क्लेशकी स्थितिमे भीरु बनते है, सद्भावहो जाते है, जिन्हे किसी परिग्रह मे मूर्छा परिणाम है और इन्ही कारणोसे जिनका यर्चत्त स्थिर नही है, आत्मकल्याणके लिए जिन्होने दृढ निश्चय नही किया है ऐसे पुरुष कभी बाह्य तप भी करें तो किसलिए करते है ? इसका एक तो उत्तर आयगा नही। एक उत्तर लेना चाहते हो तो यही उत्तर आ सकता है कि अन्तस्तत्त्वके प्रकाशके प्रयोजनके अलावा अन्य किन्ही प्रयोजनोके लिए भी तपश्चरण करते हैं। जिन्होने अपने आपमे अपना स्वरूप इस प्रकार नही निरखा, जिनमे समतापरिणाम नही जगा, जिनमे यह मैं अमूर्त आत्मा हू ऐसी कोई व्यक्ति नही है, एक स्वरूप है अतएव अन्य लोगोसे अपरिचित है, अपने आपमे अपने आपको लिए हुए हैं, किसी भी वस्तुके परिणमनसे हममे सुधार अथवा बिगाड नही होता है, ऐसा मैं सबसे न्यारा केवल चैतन्यस्वरूपमात्र अन्तस्तत्त्व हू, और हमारी इस दृष्टि के अनुकूल जो परिणमन होता है वह तो हितरूप होता है और आत्मदृष्टि तजकर बाह्य पदार्थोमे कुछ भी निरखने पर जो एक उद्वेगरूप परिणमन होता है वह मेरी चीज नही है। मैं सबसे न्यारा अपरिचित ज्ञानमात्र हू इस तरह जिन्होने अपने आपको नही निहारा है इस लोकमे अपनी कीर्ति, यश, इज्जत, प्रशंसाको ही महत्त्व दिया है वे बाह्य यश आदिकी की प्राप्तिके लिए ही बडी-बडी कठिन यातनाएँ सहा करते है। सम्यग्ज्ञानकी ऐसी महिमा है कि इसके प्रतापसे ज्ञानी पुरुषोको अन्तरङ्गमे आकुलता नही होती। बाहर कुछ भी बीत रही हो पर किसीके परिणमनको निरखकर उन्हे खेद नही होता। वे तो प्रसन्न रहा करते हैं। अज्ञानी पुरुष तो किसीके अनुकूल परिणमनमे हर्ष और प्रतिकूल परिणमनमे विशाद मानता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष तो परमे चाहे जो बीते पर वे अपने आपसे चलित नही होते। उन्हें कुछ परवाह ही नही है, वे खुद अपने आपमे बहुत सावधान रहते है। जिसमे अपना हित है उसी पथसे उनकी सहज वृत्ति अत चला करती है। सम्यग्ज्ञानके लिए ही ज्ञानी पुरुष समस्त तपश्चरण किया करते है।

वेष्टयत्यात्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनैः।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्ध समयान्तरे ॥४६१॥

अज्ञानी और विज्ञानीके बन्ध मोक्षका विवरण—ज्ञानी पुरुष अपने आपको अपने ही द्वारा कर्मरूपी बन्धनसे वेष्ठित कर लेते है। कर्म दो प्रकारके हैं—भावकर्म और द्रव्यकर्म। तो यह प्राणी अज्ञानसे, मोहसे विषयकषायोके परिणाम करके रागद्वेषकी ही विधि बनाकर अपने आपको स्वय परतंत्र बना लेता है। वैसे कोई भी जीव किसी दूसरेके आधीन नही है।

न पुरुष स्त्रीके आधीन है, न स्त्री पुरुषके आधीन है, यो ही न पिता पुत्रके आधीन है और न पुत्र पिताके आधीन है, किन्तु इन ससारी प्राणियोंमे सबमे राग मोह स्नेह बस रहा है सो अपनी ही रागपरिणतिसे ऐसे आधीन बन गए है कि उस रागके विषयभूत परिजन या धन कुटुम्ब आदिकको तजकर कही जा नही सकते।

यह जीव निमित्त पाकर अपने आपकी परिणतिसे ही अपने आपको बेड लेता है। जैसे ध्वजा हवाका निमित्त पाकर अपने आपके ही तंतुवोसे अपने आपको बाँध लेता है। ऐसे ही कर्मोदयका निमित्त मात्र पाकर यह आत्मा वस्तुत बँधता है अपने आपके रागद्वेषसे अपने आपमें ही। बडी परवशता है, कहाँ है परवशता भीतरमें ? कल्पनावोसे अपनी ही तरंग उठाकर अपने आपमे ही परवशताका अनुभव किया जा रहा है। उस परवशता माननेके कारण विह्वलता अधिक हो रही है। हो क्या रहा है वहाँ ? अपने आपकी परिणतिसे अपने आपकी भूलमें अपने आपका बन्धन हो रहा है। बन्धन करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नही है। तो अज्ञानी जीव अपने आपको अपने ही को कर्मरूप बन्धनसे बेड लेता है किन्तु भेद-विज्ञानी जीव किसी भी समय सावधान बनकर प्रबुद्ध होकर अपनेको कर्मबन्धनसे छुडा लेते है।

दुःखका कारण भ्रम—देखिये भैया ! भूल है तो वडा भारी दु ख अनुभव करना पडता है और भूल मिटी कि समस्त दु ख तुरन्त समाप्त हो जाते है। जैसे कुछ अंधेरे उजेले मे कही घरके कमरेमें कोई रस्सी पडी है और आपको भ्रम हो जाय कि यह तो साँप है तो बडी विह्वलता बन जाती है। अब कैसे रहेगे ? घरमे यह साँप आ गया है, छुप जायगा, फिर निकलेगा, कही काट न ले। बडी विह्वलता होती है। कदाचित् भाग भी जाय तो फिर आनेकी शका मनमे है। और, कोई कुछ थोडा अगर सताकर भगा दे तो बदला लेनेके लिए फिर भी आ सकता है। आह बडे विह्वल होते हैं। वह विह्वलता किसने पैदा की ? क्या किसी बाहरी वस्तुने ? यदि साँप भी होता सही तो भी साँपसे विह्वलता नही बनती और यहाँ तो साँप भी नही है कोनेमें रस्सी पडी है तो क्या उस रस्सीसे विह्वलता निकल कर आयी है ? अपने आपमे ही अपनी कल्पनाएँ बनाकर अपने आपको विह्वल कर लेते है। थोडी देर बाद कुछ परीक्षाके भावसे समीक्षासे निरखें और अन्दाज हो जाय कि साँप तो नही मालूम होता, रस्सी है, और थोडी देरमे दृढ निर्णय हो जाय कि रस्सी है तो विह्वलता सब दूर हो गयी। आकुलता किसने मिटाई ? जब आकुलता हुई थी तब भी रस्सीने नही की और साँप भी होता तो भी साँप नही करता। और अब विह्वलता मिटी है तो किसी दूसरे ने नहीं मिटाई। अपने आपकी कल्पनाका अपने आपमे आकुलता और परतत्रताका यह जीव अनुभव कर लेता है और जब भेदविज्ञान होता है, यह अकिञ्चितकर है, वाह्य

पदार्थ है ऐसा विदित हो जाता है तो विह्वलता दूर हो जाती है। जिसने साँप समझा था रस्सीको और अब रस्सी समझमे आ गई है तो क्या समझमे आ गया है उससे विह्वलता खतम हो गई ? यह रस्सी है ऐसा तो लोग कहते है, किन्तु यह समझमे आ गया कि यह पदार्थ मेरा बिगाड करने वाला नही है, अकिञ्चित्कर है, यह मेरा कुछ नही कर सकता, यह भाव आया है भीतरमे। रस्सीका बोध हुआ इसमे भाव यह छिपा है कि यह अकिञ्चित्कर है, मेरेमे यह कुछ परिणमन नही कर सकता, काट नहीं सकता, प्राण नही हर सकता अकिञ्चित् करताका विश्वास हुआ है उससे विह्वलता मिटी है। सम्यग्दृष्टि पुरुषको समस्त पदार्थोमे अकिञ्चित् करताका विश्वास है, अन्य कोई पदार्थ मेरा कुछ नही कर सकता तो विह्वलता खतम और जब भूल होती है अर्थात् अन्य पदार्थोंको अपने प्रति किञ्चित्कर मानते हैं, यह मेरेमें कुछ बिगाड़ कर देगा, यह मेरेको सुख दे देगा, तो परपदार्थोंको जब यह अपनेमे किञ्चित्कर मानता है तो इस भ्रमसे दु ख है।

भेदविज्ञानसे शुद्ध समाधान—भेदविज्ञानके प्रतापसे यह बात समझमे आ जाती है कि यह अकिञ्चित्कर है, समस्त पदार्थ अपने आपमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूपमे रहा करते है, उनका जो कुछ होता है उनके प्रदेशोमे होता है, उनका प्रभाव अन्य पदार्थोंमे नही पहुँचता। जिसे लोग प्रभाव कहते हैं उसका अर्थ है परका निमित्त पाकर यह उपादान इस रूप परिणम गया। ऐसा सम्बन्ध जहाँ निरखते हैं उसीका नाम प्रभाव है। किसी भी वस्तु का द्रव्य, गुण, पर्याय किसी अन्यमे प्रवेश नहीं करता, यह वस्तुका त्रिकाल अकाट्य नियम है। लेकिन प्रभाव नाम किसका पड़ा ? जहाँ उपादान ऐसी योग्यता वाला हो कि किसी अनुकूल परपदार्थका सन्निधान पाकर अपने आपमे कोई परिणमन कर लेता हो जिससे कुछ निमित्त उपादानका सम्बन्ध नियम नही बन सकता है, उस स्थिति को प्रभाव कहते हैं। किसी जज अफसरके पास वकील दसो बार जाता है, बड़े आदमी भी बेधड़क जाते हैं किन्तु किसी गरीब देहाती का मुकदमा हो, कभी न आया हो तो वहाँ घुसते ही उसके हाथ पैर काँपने लगते हैं तो क्या उस पर जजका प्रभाव है ? अरे जजने उसमे कुछ नही किया। वह खुद ना समझ था, उतना ज्ञानबल न था, उतनी पहुंच न थी सो अपनी ही कमजोरी से जजका सन्निधान पाकर मनमे कल्पनाएँ बनाकर स्वय थर्राने लगा। इसीको प्रभाव डालना कहा जाता है। परमार्थसे किसी भी वस्तुका द्रव्य गुण पर्याय किसी अन्य द्रव्यमे नही पहुंचता। प्रभाव इन तीनको छोड़कर अन्य चीज नही है। प्रभाव द्रव्य न हो, गुण न हो, पर्याय न हो तो फिर और क्या है ? प्रभाव द्रव्य है तो उसका उसही मे, प्रभाव गुणका नाम है तो उसका उसही मे, प्रभाव पर्यायका नाम है तो उसका उसीमे। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध जरूर ऐसा है अर्थात् घटनाए अवश्य ऐसी होती हैं कि कोई अशुद्ध पदार्थ

किसी भी अन्य अशुद्ध पदार्थका सन्निधान पाकर अशुद्धरूप परिणमने लगता है, शुद्धके लिए शुद्धका निमित्त नही है। उपादान और निमित्तमें एक तो हो शुद्ध और एक हो अशुद्ध तो भी निमित्तनैमित्तिक भाव नही बनता। तो जैसे अशुद्ध ने कदाचित् शुद्ध आत्माको ध्यान करके उन्नतिशील हुआ तो वहाँ उस अशुद्ध आत्माके लिए शुद्ध आत्मा निमित्त नही है, किन्तु वह आश्रयभूत पदार्थ है। निमित्तमे और आश्रयमे फर्क है। जीवके प्रत्येक विभाव परिणमनमे निमित्त कर्मकी अवस्था है, शेष विषय आश्रय नोकर्म आदिक निमित्तसे कहे जाते है वे आश्रयभूत तो जितने भी विभाव परिणमन होते है अशुद्ध उपादानमे होते है और किसी अशुद्ध निमित्तको प्राप्त करके होते है। भेदविज्ञानी जीव ही स्वरूप स्वतत्रताके मर्म से अपरिचित है। वह परमार्थत समस्त अन्य पदार्थोंको अपने प्रति अकिञ्चित्कर ही देखता है अतएव उसके विह्वलता नही है। सो भेदविज्ञानी जीव किसी कालमे सावधान होकर अपने को कर्मबन्धनसे छुडा लेता है।

यज्जन्मकोटिभि पाप जयत्यज्ञस्तपोबलात्।
तद्विज्ञानी क्षणार्द्धेन दहत्यतुलविक्रम. ॥४६२॥

ज्ञानबलसे क्षणमात्रमें कर्मदहन— अज्ञानी जीव तपबलसे करोडों वर्षोंमें जितने कर्मों को, पापोको दूर करता है उतने कर्मोंको पापोको भेदविज्ञानी जीव आधे क्षणभरमे ही भस्म कर देता है। यह बात एक संख्याकी दृष्टिसे कही जाती है। वस्तुत अज्ञानीके निर्जरा ही नहीं है, लेकिन मंदकषायसे, परोपकारसे, तपश्चरणसे, क्षमा आदिक गुणोसे जितने भी कर्मों को वह गला सका, अलग कर सका फल देकर अथवा कर्मफल मिलकर किसी भी प्रकार, उतने कर्मोंको ज्ञानी जीव आत्मज्ञानके बलसे अर्द्धक्षणभरमे दूर कर देता है। इन कर्मोंका, इन पापोका मूल है अज्ञान। परपदार्थोंमे यह मैं हू, यह मेरा है, हितकारी है, सुखदायी है इस प्रकारकी जो प्रतीति है यह स्वय पाप है और नाना पापोका बीजभूत है। इस अज्ञानपाप के होते हुए भी कुछ परिस्थितियाँ ठीक मिलनेसे जबरदस्ती समता बनाकर दया करके धर्मप्रसंग करके, तपश्चरण करके जितने पापोको अज्ञानी करोडो जन्मोमे दूर करता है उतने पापोको ज्ञानी जीव एक क्षणमात्र निर्लेप शुद्ध निज अंतस्तत्त्वको देखते ही दूर कर देता है। यहाँ तो सही नियम है अविनाभाव जहाँ निर्दोष अपने आपके सत्त्वके कारण सहजस्वरूपमात्र अपने आपको निरखा तो पाप तो इस निरखके बिना ही चल रहे थे ना? इस अतस्तत्त्वके निरखने से पाप शीघ्र ही दूर हो जाते हैं।

धर्मपालन और उसका परीक्षण—धर्मपालनके लिए एक शुद्ध दृष्टि बन जाना चाहिए और सभी धार्मिक प्रसंगोमे अपने आपको यहाँसे ही कसौटी लगाना चाहिए। हमने धर्म किया अथवा नही किया। कही बहुत विद्वानोकी सभा जुट रही हो, उस सभा आयोजनमें

धर्मधारणाकी दृष्टिसे हम सम्मिलित हुए तो अंदाज लगायें कि विद्वानोंसे वचन सुनकर हमने अपने आपके अंतरङ्गमे मुड़ने अथवा अन्तःस्वभावको छूनेका यत्न कर पाया कि नही, और कर पाया तो कितने रूपमें ? उससे हिसाब लगाये कि हमारा जाना सार्थक हुआ, कुछ धर्म-पालन किया। किसी भी समारोह विधानमे सम्मिलत हुए, योजना बनाया, इसमे यह देखो कि हम अपने आपके स्वभावके निकट पहुंचनेमें कितना सफल हो सके हैं, बस वही हमने धर्मपालनका यत्न किया। और, ऐसा काम बन सके, बना हो कभी, फिर उस ही उद्देश्यके लिए वैसा ही भारी समारोह जुडाव जुड जाय तो चूंकि लक्ष्य उसका वह है आत्मधर्मकी दृष्टि अत वहाँ भी वह कुछ अंशोमे धर्मपालन कर रहा है क्योकि लक्ष्य उसका एक बन गया ना। तो ज्ञानी पुरुषकी दृष्टि अपने आपके सहजस्वरूपके निरखनेके लिए रहती है और जब ऐसा अनुभव करता है तो उतने पाप जितने कि अज्ञानी कोटि जन्म तप-तपनेसे दूर कर सका, एके इस शुद्ध दृष्टिके प्रतापसे क्षणभरमे उतने पापोको नष्ट कर लेता है। हम आपका निर्णय होना चाहिए कि हमारा इस जीवनमे मात्र एक कर्तव्य है अपने आपको जानें, और उसे ही हितरूप समझकर उसमें ही मग्न होनेका यत्न करें।

अज्ञानपूर्विका चेष्टा यतेर्यस्यात्र भूतले।
स बध्नात्यात्मनात्मान कुर्वन्नपि तपश्चिरम् ॥४६३॥

अज्ञानपूर्वक चेष्टामें बन्धनहेतुता—जिस साधुकी इस लोकमे अज्ञानपूर्वक चेष्टा होती है वह चिरकाल भी तपस्या करता हो तब भी अपने आपको अपने आपसे अपने ही कृत्योंसे बाँध लेता है। अज्ञानपूर्वक तप भी बन्ध ही का कारण है। बात यो है कि जैसे किसी वस्तु पर चिकनाई हो तो धूल बँध जाती है। धूल न बँधे, इसका मूल उपाय तो चिकनाईरहित-मूलवस्तुका होना है. तो रागद्वेष मोह आदिक जो विभाव हैं ये कर्मबन्धके लिए चिकनाईका काम करते हैं, और यह चिकनाई न रहे, शुद्ध ज्ञान रहे तो बन्ध नही होता। कर्मबन्धकी बात तो दूर जाने दो, इसी समय बन्धन न महसूस करे वह भी एक बडा भारी धार्मिक काम है। जहाँ शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहनेका परिणाम है वहाँ आधीनता और क्लेश नही रहते हैं। कोई मनुष्य ऐसा सोचे कि हम तो बडे स्वाधीन है, घरमे ३-४ प्राणी हैं, कोई लम्बी गृहस्थी नही है, खूब आय भी है खर्चके लिए, किसीसे कुछ वास्ता नही है, हम तो बड़े स्वतन्त्र है, न किसीकी नौकरी करते हैं, न कोई दूकानका झंझट है, हम तो बडे आजाद हैं। लेकिन आजाद हैं कहाँ। चित्तमे यह तो खोजो कि हमारा रागभाव चल रहा है या नही। घरमे ही सही, परिजनोमे रागाश चल रहा है या नही। थोडा व्यवहारमे मान लो कि सब साधन हैं, बडी आजादी है लेकिन जिनके प्रति रागाश है उनके प्रति तो आप भीतरसे परतन्त्र हैं। और जब तक राग है तब तक कर्मोंका बन्ध नही मिटता। तो जो राग किया जा

रहा है वह व्यर्थका राग है। मरनेके बाद मिलता क्या है ? अथवा जब तक जीवन है तब तक भी किसीने कुछ अच्छा कह दिया तो उसने क्या मिल गया ? अरे लोग क्या कहेगे ऐसा जो संकोच बना है, जो लोगोंसे परिचय बना है वह भी एक रागका ही रूपक है और उससे खेद होता है।

दुःखके हेतुका निर्णय—दुःख हेतुके निर्णयकी एक ही बात है–जब-जब भी खेद हो तब समझना चाहिए कि हमे किसी वस्तुका राग है उससे है खेद अन्यथा खेद कुछ नही है। संसार है, चक्र है, कुछ आता है, कुछ जाता है, कुछ घटता है, कुछ मिलता है, कोई अच्छा बोलता कोई बुरा बोलता, कोई आदर करता है, कोई घृणा करता है, ये तो संसारके कार्य है, इनसे मेरा सुधार बिगाड नही है। मैं ही उनमे विकल्प मचाऊँ तो बिगाड है। तो अज्ञानपूर्वक चेष्टासे यह जीव और तो बात दूर रहे—तपस्या करके भी अपना ही बन्धन बढाता है और कहो किसी समय बहुत-बहुत तपश्चरण करे, कष्ट सहे और फिर भी कोई बडाई करने वाला न मिले तो कितना गुस्सा आता है ? अज्ञानपूर्वक जो भी आचरण होते हैं उनमे तो अन्तमे नियमसे कष्ट है। किसी ने भला कह दिया उसमें राजी हो गए तो कष्ट है और निरन्तर ही कोई बडाई करता रहे ऐसा तो है नही। तो जब कभी महसूस करने लगते हैं कि मेरी तो कुछ भी इज्जत नहीं हो रही, इतने-इतने दिनका उपवास करते है फिर भी कोई विशेष इज्जत नही होती यो कितनी ही आकुलताए मचती है। अज्ञानपूर्वक तपकी बात कह रहे है। आजकल कितने ही अज्ञानपूर्वक तप हो रहे होगे और कितने ही ज्ञानपूर्वक, यह तो निकट वाले ही जान सकते है। अथवा नही भी जान सकते है। वे तो जो करते है उसका फल उनके लिए है। लेकिन अज्ञान महान क्लेशोका बीज है, बडे-बडे महल बन रहे, बडे-बडे ठाठबाट है। है क्या, आँखे मिची लो खतम। वह जीव जो आगे जायेगा उसके लिए यहाँ का सब कुछ फिर क्या रहा ? कोई करोड़पती मरकर पडोसमे ही किसी गरीबके यहाँ पैदा हो जाय तो उसके पहिले वाले ठाठबाट किस काम आ रहे है ? उसके लिए तो वे सब गैर है। पर अज्ञानसे परको अपनानेका परिणाम यह घोर कष्टकी बात है अज्ञानीमे।

ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं निःशेषं यस्य योगिनः।
न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ॥४६४॥

ज्ञानपूर्वक अनुष्ठानसे बन्धकी निवृत्ति—जिस मुनिके समस्त आचरण ज्ञानपूर्वक होते हैं उसे किसी भी कालमे बन्ध नही होता। अज्ञानीके तो बहुत काल स्थिति बने तो विकट कर्मबन्ध होता है किन्तु ज्ञानीको ऐसा कर्मबन्ध कभी नही होता। जिसने एक बार वस्तुस्वरूपका सही निर्णय कर लिया, प्रतीतिमे आ गयी तो अन्त सामान्यतया वह प्रकाश बना ही रहता है जिसके कारण उसके तीव्र कर्मबन्ध नही होता। मनुष्य जीवन पाकर सबसे बडा

काम यह करनेका पडा है—अपने ही भीतर गुप्त ही गुप्त अपनेमे अपना ध्यान कर रहे हैं। राग द्वेष मोहका परित्याग हो रहा है। अपने ज्ञानस्वरूपको निरख-निरखकर आनन्दानुभव किया जा रहा है यह बात जिनके होती है वे हैं भाग्यशाली और पुण्यवत। यह करना कर्तव्य है, इसीमे बड़प्पन है, शेष सासारिक बडप्पनमे क्या है ? आज इस देशमे हैं तो दूसरे देशोका विरोध करते है और मरकर विदेशमे पैदा हो गए तो यहाँके लोगोसे विरोध मानेंगे। तो थोडोसी जिन्दगी है, इसमे इष्टअनिष्टके विकल्प होते हैं। इतना सम्बन्ध जरूर है कि देश मे यदि सब तरहका संतुलन रहता है तो धर्मसाधन निर्विकल्परूपसे कर सकते है, क्योकि कोई देशपर आपत्ति आ रही है तो उसका कुछ न कुछ प्रभाव साधुजनो तक पहुंचता है, यह तो ठीक है लेकिन अज्ञानभावसे सोचना महाविह्वलताका कारण है।

यत्र बालश्चरत्यस्मिन् पथि तत्रैव पण्डित'।
बाल. स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद् ध्रुवम् ॥४६५॥

बालाचरण व पण्डिताचरणका भेद—काम तो वह एकसा है अनेक व्यवहारके कामो मे, जिस मार्गसे अज्ञानी चलते हैं उसी मार्गमे ज्ञानी विद्वान भी चल रहे हैं, पर अज्ञानी तो अपने आत्माको बाँध लेते हैं और ज्ञानी विद्वान बधसे रहित हो जाते है। यह ज्ञानका माहात्म्य है। व्यवहारमे भी दिखनेमे मार्ग एकसा है—वही गृहस्थी है, वही धर्म है, पर यहाँ भी जो ज्ञानी गृहस्थ हैं वे सम्वरनिर्जरा कर रहे हैं और जो अज्ञानी गृहस्थ है वे बध कर रहे है। ऐसी ही साधुपनकी बात है, वैसा ही उपवास, वैसी ही दीक्षा, ज्ञानी साधु कर रहे और वैसी ही अज्ञानी, परज्ञानी साधु तो बन्धरहित होते है और अज्ञानी साधु कर्मबन्ध करते हैं। सबसे दुर्लभ चीज है तत्त्वज्ञान। प्रत्येक पदार्थ स्वतत्र है, अकेला है, अपने स्वचतुष्टयरूप है, किसी पदार्थका अन्य पदार्थपर कुछ परिणमन नही है, ऐसा विविक्तस्वरूप दृष्टिमे रहना इससे बढकर कोई समृद्धि नही है, अमीरी वास्तविक यही है। कैसी भी स्थिति हो, ऐसी ज्ञानदृष्टि जिस पुरुषकी हो रही हो वही वास्तवमे अमीर है, क्योकि अमीरीका फल है कि निराकुलता रहे। निराकुल तत्त्वज्ञानी ही रह सकता है। जिस किसी बाह्यपदार्थमे मेरेको करनेको यह पडा है ऐसा विकल्प बना है वहाँ निराकुलता नही होती है।

बाह्याचारोंका धर्ममार्गमें उद्देश्य—जो परोपकारके कार्य हैं वे कार्य किस लिए है कि घरके कामोमे करनेकी जो चित्तमे धुन रहती है उसे काटनेके लिए परके उपकार करने की धुन बनाई जाती है और परोपकारकी धुनसे विषयोके कर्तृत्वकी धुनका भग होता है अतएव अच्छा है, किन्तु मोक्षमार्गकी दृष्टिसे तो एक आत्मध्यान आत्मज्ञान और आत्माका आचरण ही योग्य है। उसके आगे सारे हेय है। जिस मार्गमे अज्ञानी चलता है उसी मार्ग मे पडित अर्थात् तत्त्ववेत्ता चल रहा है, मगर वह तत्त्ववेत्ता बधरहित होता है और अज्ञानी

अपनेको कर्मोंसे बाँध लेता है । जैसा तपश्चरण ज्ञानी पुरुष करता है वैसा ही अज्ञानी करता है, बल्कि ज्ञानीके तो सहज आचरण है । वह क्रियाकाण्डोमे सावधानी की तेज निगाह नही रखता और अज्ञानीकी क्रियाकाण्ड सावधानीकी तेज निगाह रहती है तो अज्ञानी साधुकी क्रिया निर्दोष दिखती है और ज्ञानीकी क्रियामे उतनी निर्दोषता नही दिखती, क्योकि उसका सहज वैराग्य है, सहज क्रिया है, लेकिन ज्ञान और अज्ञानका इतना बडा अन्तर है कि एक ज्ञानी तो मुक्तिमार्गमे चल रहा है और अज्ञानी संसारबधनमे चल रहा है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है अपने आपमे ज्ञानका प्रयोग करे यह तो मेरा विवेक है, बुद्धिमानी है, ससारके सकटोसे छुटकारा पा लेनेका पुरुषार्थ है और ज्ञानस्वरूप होकर भी खुदको ज्ञान न करे । बाहरी-बाहरी पदार्थोमे ही उलझन रहे, दृष्टि रहे तो उसका फल ससारभ्रमण है ।

दुरिततिमिरहस मोक्षलक्ष्मीसरोज, मदनभुजगमत्र चित्तमाङ्गसिहम् ।
व्यसनघनसमीर विश्वतत्त्वैकदीप, विषयशफरजाल ज्ञातामाराधयत्वम् ॥४६६॥

ज्ञानाराधनाका उपदेश—हे भव्य जीव ! तू ज्ञानका आराधन कर, मै ज्ञानमात्र हू, केवल ज्ञानपुञ्ज हू, अमूर्त हू, निर्लेप हू, देहसे भी विविक्त हू, केवलज्ञान भावरूप हू । यो अपने को ज्ञानमात्रकी उपासना करे, क्योकि ज्ञान पापान्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्य के समान है । जितनी विडम्बनाए है वे सब अज्ञानमे हुआ करती है । विडम्बनाये दूर हो इसका उपाय एक सम्यग्ज्ञान प्रकट करना ही है और यह ज्ञान मोक्षरूपी लक्ष्मीके निवास करनेके लिए कमलके समान है । जैसे कमलमे लक्ष्मीका निवास है । लोकमे भी वे पुरुष सुखी नजर आते हैं जिन्हे किसीसे न लेना, न देना, न अधिक बोलचाल, न फसाव । अध्यात्मक्षेत्रमे केवल अपने आपके स्वरूप अनुभव करने वाला हो, इसके अतिरिक्त अन्य भावोमे उपयोग न लगाता हो वह सुखी है । शुद्ध मोक्षमार्गपर आरूढ है । सम्यग्ज्ञान कामरूपी सर्प को कीलनेके लिए मत्रके समान है । काम प्रसग विषयवासना ये सर्पकी तरह भयकर है । जैसे सर्प डस लेता है ऐसे ही कामकी व्यथा भी डस लेती है और सर्पका डसा तो एक बार मरता है, कामव्यथाका डसा हुआ इस जिन्दगीमे भी बेकारसा जीवन रहता है और यह अनेक बार मरण करेगा अर्थात् ससारमे रुलेगा तो रुलना मरण बिना तो नही होता । मरे, जन्म हो इसीके मायने है रुलना । तो यह ज्ञान ऐसे भी भयकर कामव्यथाके सर्पको कील देता है । चित्त न लगाना परकी ओर, चित्त लगाना है अपने स्वरूपकी ओर । ऐसा दृढ साहस जगता है तत्त्वज्ञानमे । और, इस ही उपायमे वह कामव्यथा, वासना, इन्द्रिय भोगविषय इन सबसे दूर हो जाते है । मनरूपी हस्तीको विलीन करनेके लिए सिहके समान है यह तत्त्वज्ञान । सब वस्तुवे अपने-अपने ही स्वरूपमे नजर आने लगे यह तत्त्वज्ञान व्यसन, आपत्ति, कष्टरूपी मेघोको उडानेके लिए वायुके समान है । जैसे तीव्र हवा चले तो मेघोमे

क्या दम है ? यो ही उड जाते हैं। मेघोका आकार ऐसा समझिये जैसे यह कुहरा जब छा जाता है। तो उसमे क्या दम है ? कोई वजन नही है, कुछ विशेष आघात नही है, कुहरेसे आदमी पार होता चला जाता है ऐसे ही उन मेघोसे हवाई जहाज, मनुष्य सभी पार होते चले जाते हैं। जैसे शिखरजी या और ऊँचे पहाडोपर कोई यात्री चलता है तो उस यात्रीके कपड़े कुछ भीगसे जाते है, उन बादलोसे उसे कुछ आघात नहीप हुचता है। तो जैसे ऐसे मेघोको उडानेमे समर्थ हवा है इसी प्रकार ये ससारकी आपत्तियाँ, कष्ट इनमे कुछ दम नही है। ये कल्पनासे माने हुए हैं। कोई परपदार्थ किसी रूप परिणाम रहा है तो उससे मेरेस क्या सम्बन्ध ? पर कल्पना बनाते हैं और दु खी होते है। यह क्यो यो कर रहा है ? तत्त्वज्ञान हुआ कि कष्ट तुरन्त मिटा।

ज्ञान होनेपर आपत्तियोंका विनाश—ज्ञान होनेपर कष्ट मिटनेके लिए कुछ भी समय न चाहिए। जैसे जिस समय ज्ञायकस्वभाव निजआत्माकी दृष्टि हुई उसी समय कषायें निवृत्त होने लगती है, कुछ समय न चाहिए, ऐसे ही तत्त्वज्ञान जगा तो आपत्तिया तुरन्त दूर हो जाती हैं। उसे भी कोई समय न चाहिए। यह ज्ञानतत्त्वोका प्रकाश करनेके लिए दीपकके समान है। जैसे दीपक हो तो जहाँ चाहे चले जाये कोई बाधा नही आती, ऐसे ही तत्त्वज्ञान है तो कही उसे आपत्ति नही आती। इस तत्त्वज्ञानसे ही सब विषयजाल नष्ट हो जाते है। इस ज्ञानका यत्न अधिकाधिक करे। तन, मन, धन, वचन सबका अधिकाधिक उपयोग करें तो ज्ञानर्जनके लिए क्योकि ज्ञान कमाया हुआ, प्राप्त हुआ हमे वास्तवमे काम देगा। और, अन्य पुद्गल सचय हो गया, अचानक प्राणपखेरू उड जाते है। किसीका क्या भरोसा रखते हो। भरोसा रखो केवल अपने स्वरूपका, कोई क्षम पडे, मरे भी तो लो मैं पूराका पूरा यहाँ से चला। दूसरी जगह पहुच गया। क्या बिगाड हुआ ? स्वरूपका इतना तीव्र लगाव हो जाय तो उसे कष्ट कुछ नही। मरते समय कष्ट तो मोहका होता है। मरनेका क्या कष्ट ? लो इस शरीरको छोडा और अन्य जगह चला। तो सम्यग्ज्ञान ही आत्माका वास्तविक मित्र है, रक्षक है, गुरु है, देव है, सब कुछ है।

अस्मिन् ससारकक्षे यमभुजगविषाक्रान्तनि शेषसत्त्वे,
क्रोधाद्युत्तुङ्गशैले कुटिलगतिसरित्पातसन्तानभीमे।
मोहान्धा सचरन्ति स्खलनविधुरिता प्राणिनस्तावदेते,
यावद्विज्ञानभानुर्भवभयदमिद नोच्छिनत्त्यन्धकारम् ॥४६७॥

ज्ञानभानुके प्रकाशमें सकल उपद्रवोंकी निवृत्ति—ये ससारके प्राणी अपने स्वरूप दर्शनरूप उत्तम मार्गसे छूटे हुए हैं और जगतमे गिरते पडते, पीडित हुए नजर आ रहे हैं। अमुक वस्तुका सहारा ले रहे थे वहाँ आपत्ति, अब अमुकका सहारा लेने लगे। यहाँ जन्म

हुआ, मरे, फिर पैदा हो गए, जैसे कोई गिरता पडता नजर आता है तो इस जीवका गिरना पडना बडा लम्बा चलता है। आज यहाँ जीवन है कल कहो अनगिनते योजन दूर जाकर पैदा हो जाये। इसका गिरना पडना बडा तेज हो रहा है। यह क्यो हो रहा है ? यो कि इसने अज्ञानका उच्छेद नही किया, अज्ञानको बसाये है। जो राग दु खी कर रहा है उसी रागको और लपेटा है और उस रागके विषयभूतको और लपेटता जाता है। जिससे ही क्लेश हैं उसका ही अपनाना अज्ञान अवस्थामे होता है। कोई बच्चा बार-बार आगमे हाथ दे तो लोग उसे अज्ञानी कहते है। जिस आगसे हाथ जला उसीमे हाथ लगता है ऐसे ही जिस रागद्वेष मोहसे इस आत्मप्रभु की बरबादी हो रहा है उसीमे पगे रहते है, यही कारण है कि यह जीव संसाररूपी बनमे यहाँ वहाँ पीडित नजर आ रहा है। यह ससार-बन बडा भयंकर हैं जिसमे विषधर सर्परूपी पापविषसे ये सब प्राणी दबे हुए है। इस ससारमे क्रोधादिकके वडे ऊँचे ऊँचे पर्वत है, इस ससार बनमे दुर्गतियोकी नदियाँ बडी बेगसे बह रही है। ऐसे इस गहन बनमे संतुष्ट हुए ये प्राणी यत्र तत्र गिरते पडते नजर आ रहे है। इसका कारण है कि अज्ञान बसा हुआ है मोह बसा हुआ है। अत्यन्त भिन्न परपदार्थोको अपनानेकी बुद्धि लगी हुई है।

एक भीतरी दृष्टिकी ही तो बात है। दृष्टि सुधरे तो आनन्द ही आनन्द है और न सुधरे तो आनन्द नही है। बतावो कुछ लगता नही, न शरीरका कष्ट है, यदि भीतरकी अपनी दृष्टि सुधार ले तो शरीरका कोई कष्ट है क्या ? कोई धन खर्च होता है क्या। पर, इतना प्रमाद है मोक्षमार्गमे इतनी अरुचि है कि शुद्ध दृष्टि अन्तरङ्गमे नही बना सकते है। ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश हो तब किसी भी प्रकारका दु ख अथवा भय नही रहता। एक सम्यग्ज्ञानपर विश्वास करो, ज्ञान ही साथी है, सारे क्लेशोको मेरा ज्ञान ही मिटा सकता है ऐसा विश्वास करके एक ज्ञानका ही शरण गहना चाहिए।

॥ ज्ञानारणव प्रवचन षष्ठ भाग समाप्त ॥

ज्ञानार्णव प्रवचन सप्तम भाग

यद्विशुद्धे पर धाम यद्योगिजनजीवितम ।
तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम् ॥४६८॥

हितकारी ध्यान—आत्माका हितकारी ध्यान परिणमन है । यह जीव एक उपयोग को ही तो लगाता है अन्य कुछ तो करता नही । किसी भी प्रसगमे हो, चाहे ससार हालतमे है और चाहे मोक्षमार्गमे है वहाँ भी उपयोग लगाता है । मुक्त होनेपर उसका सहज उपयोग परिणाम जाता है । उपयोगका अर्थ क्या है, इसे सही दृष्टिसे अगर देखो तो इसे इगलिशमे यूज कहते है । आत्मा वेकार तो नही है, किसी न किसी यूज मे है । तो जो भी इस प्रकार की चेष्टा है, वह परिणमन है । अब यहाँ छाँट लीजिए कि इस जीवका कैसा ध्यान बने कि सकट न रहे । अपनेको ज्ञानस्वरूप निहारा जाय तो उस ध्यानमे कोई सकट नही है, और जिस ध्यानमे वाह्यपदार्थोका आकर्षण झुकान विकल्प चिन्तन ख्याल रहता है, वह ध्यान दु खदायी बनता है ।

पर्यायमूलक संकोच—इस आत्माका किसी दूसरेसे परिचय नही है, और यदि आत्मस्वरूपका परिचय हो जाय तो वह परिचय दुनियावी दृष्टिसे अपरिचयके समान है, आत्मामे आत्माका स्वरूप जो कि अमूर्त है, ज्ञानमात्र है, चैतन्यसामान्यस्वरूप है, परिचय मिल गया तो उस परिचयसे आपकी क्या प्रतिष्ठा रही ? वह एक स्वरूप है तो व्यक्तिगत तो कोई बात नही उठी, और, व्यक्तिगत जब परिचयकी बात रहती है तो असली परिचय नही हुआ, इस कारण जगतमे किसीका सकोच करना किसी कामसे यह तो अपराधकी बात है । सकोच करके अपनेको भयभीत बनाये रहना चाहे वह पापोसे बचानेका भी कारण है सकोच, लेकिन सकोचरूप जो श्रद्धान है जीवका वह मिथ्यात्वका रूप है । भले ही अनेक प्रसगोमे ऐसा है कि सकोचकी वजहसे लोग पापमे न लगे, ठीक है, लेकिन जो मूलमे सकोच पडा है, जिसकी वजहसे कुछ व्यवहारिक आचरण ठीक चल रहा है उसके सकोचका तो स्वरूप बनावो कि मिथ्यात्वमे आया है कि नही ?

आत्महितके लगाव बिना संकोचकी मिथ्यारूपता—आत्महितके लगावसे शुद्ध आचरण रखे, लोगोके डरकी वजहसे नही । मैं आत्मा हूँ, अकेला हू और यह तथ्य है कि हमपर जो गुजरता है उसका हमको ही फल भोगना होता है, कोई दूसरा सहाय नही है । जन्म मरण बहुत वडी विपदा है । जन्म मरणसे छूटकर शुद्ध केवल रहना चाहिए, इसीमे हमारा

हित है। इस धुनके कारण आचरण ठीक बने वह तो मोक्षमार्गके अनुकूल बात है और संकोचके कारण कभी बाह्य आचरण अच्छा भी करता और संकोचके ही कारण कभी खोटा पाप भी कर लेता है। जैसे लोकमें हमारी इज्जत न रहेगी तो लोग क्या कहेंगे, हम अमुक वोटमे जीत न सके फिर लोकमें हमारी बडी हँसी होगी, उसके लिए कितने-कितने पाप करने पडते है तो वह भी तो संकोचका ही फल हुआ। तो संकोचमें व्यपहारिक दृष्टिसे अच्छे भी काम बनते है और बुरे भी, पर संकोच तो बुरा ही है। एक दूसरेकी शर्म लाज करके संकोच करके जो भाव बना है वह भाव एक मोहकी ओर ले जाने वाला है।

मेरा हित हो इस दृष्टिसे करिये आचरण। दूसरोको दिखानेके लिए, दूसरोमे भला जँचनेके लिए, दूसरोमें नामवरी रखनेके लिए जो कार्य किया जाय वह तो मूलमें ही पापरूप है। इस जीवका कार्य उपयोग का लगना है। यह उपयोग किस ओर लगे ? निजकी ओर यह उपयोग लगे तो यह है सम्यक्चारित्र और यह उपयोग किसी दूसरी ओर लगे उसका नाम है मिथ्याचारित्र। तो यह सब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपर निर्भर है। मिथ्याविश्वास और मिथ्याज्ञानसहित जो उपयोगका लगाव है वह है मिथ्याचारित्र। और, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानसहित जो लगाव है वह है सम्यक्चारित्र। जो विशुद्धिका उत्कृष्ट साधन है, जो योगीश्वरोका जीवन है, समस्त प्रकारकी पापप्रवृत्तियो से दूर रहनेका जो लक्षण है उसीका नाम सम्यक्चारित्र है।

रत्नत्रयके लगावमें हितपना—ध्यानके प्रसंगोमे मुख्य तो ये तीन हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। चारित्र विशुद्ध रहेगा तो आत्माका ध्यान भी विशुद्ध बनेगा। ध्यानके विशुद्ध होनेमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानकी भांति सम्यक्चारित्रका भी स्थान है। यह चारित्र सब पापोसे निवृत्त कराता है। यह चारित्र ही दर्शनको शुद्ध कराता है, सम्यग्दर्शन होनेके बाद सम्यक्चारित्र होता है, तो सम्यक्चारित्रसे दर्शनकी भी निर्मलता बढती है।

रत्नत्रयका ध्यान ही कल्याणप्रद--मुनिजनोका तो यही समस्त जीवन है, अहिंसामय जीवन। अहिंसामय जीवनका अर्थ केवल इतना न लगाना कि बाहरमे चीटा चीटी आदिकी हिंसा न करे, और पिछी रखते हैं उससे जीवोकी हिसाका बचाव करते हैं, इतना ही अहिंसाका अर्थ नही है। अहिंसाका विशुद्ध अर्थ है अपने आपको निर्दोष सहजस्वरूप निरखकर रागद्वेष विकल्पोका परित्याग करना और अपने आत्मप्रभुकी हिंसा न होने देना। तो अहिसा तो मुनिजनोका जीवन सर्वस्व है। अहिसाके बिना तो मुनिपदवी हो ही नही सकती। अहिंसा ही सम्यक्चारित्र है। पाप भी एक है हिंसा। अपने स्वरूपसे चिगकर अपने आपको विह्वल बनाना, संसारमे रुलना यह है हिसा।

अहिंसा बिना मुनिधर्म नहीं—अब यह हिसा कोई तो जीवघातके कार्यके माध्यमसे

होती है, कोई झूठ बोलनेसे, कोई चोरी करनेसे, कभी कुशील करनेसे और कोई परिग्रहसे होती है, पर है सबमें हिंसा। कोई कहे कि परिग्रह रखना क्यों पाप हुआ? तो परिग्रह रखना यो पाप हुआ कि परिग्रहमें जो मूर्छा हुई, जीवने अपने आत्माके ज्ञानदर्शन प्राणोंका घात किया, यह अपराध हुआ परिग्रहमे, अन्यथा परिग्रहमे अपराध क्या पड़ा है, मकान मकानकी जगह है, वैभव वैभवकी जगह है, पर अपराध तो आत्मेंहिंसाका है। तो पाप भी एक है—हिंसा, और निष्पाप भी एक है—अहिंसा। तो सम्यग्दर्शन कहो, अहिंसा कहो, उसके बिना मुनिपदवी होती ही नहीं है। और यह सम्यक्चारित्र ध्याताके ध्यानकी विशुद्धिको करने वाला है। इस अध्यायमे सम्यक्चारित्रका वर्णन चलेगा और सम्यक्चारित्रमे सर्वप्रथम अहिंसाका वर्णन है।

सामायिकादिभेदेन पञ्चधा परिकीर्तितम्।
ऋषभादिजिनैः पूर्वं चारित्रं सप्रपञ्चकम्॥४६६॥

पंच प्रकारके चारित्रमें परिहारविशुद्धि—ऋषभदेव आदिक तीर्थङ्करोंने चारित्रको ५ प्रकारका कहा है—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातचारित्र। सामायिक नाम है रागद्वेष न करना, समतापरिणाममें रहना, समतापरिणामसे कभी थोड़ासा डिगे तो बहुत ही जल्दी फिर समतापरिणाममें स्थिर हो जाना यह है छेदोपस्थापनाचारित्र। परिहारविशुद्धिचारित्र न भी हो तो भी मुक्ति हो सकती है, परिहारविशुद्धि एक विशिष्ट प्रकारकी ऋद्धि होती है। उस ऋद्धिवान मुनिका जो परिहाररूपचारित्र है, हिंसाका जहाँ परिहार है उसे परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं। परिहारविशुद्धि सयमी मुनिके परिहारमे किसी जीवकी हिंसा नहीं होती ऐसी एक विशिष्ट ऋद्धि होती है। तो परिहारविशुद्धि एक स्वतंत्र चारित्र हुआ। वह भी सम्यक्चारित्रका रूप है, किन्तु जो आवश्यक है और जिस परिपाटीसे संयम बढ़ता है और मुक्ति मिलती है उस परिपाटीसे फिर विचार करें।

सामायिक, व छेदोपस्थापना चारित्र—समतापरिणामका नाम है सामायिक। समतासे कुछ चलित हुए तो फिर समतामें स्थिर होना इसका नाम है छेदोपस्थापना। छेद मायने डिग गया और उपस्थापना मायने लग गया। समतासे डिगने पर फिर समतामें लग जाने का नाम छेदोपस्थापना है।

सूक्ष्मसाम्पराय व यथाख्यात चारित्र—सामायिक और छेदोपस्थापनाके पुरुषार्थसे जब कषायें दूर हो जाती है और केवल सूक्ष्मलोभकषाय रह जाती है, क्रोध, मान, माया, बादरलोभ ये सब समाप्त हो जाते हैं, केवल सूक्ष्मसंज्वलनलोभ रहता है उसके भी नाश के लिए जो अन्त सयम चलता है वह है सूक्ष्मसाम्पराय सयम। और सूक्ष्मसाम्पराय भी

जब दूर हो गया; विशुद्ध आत्मपरिणाम जग गया वह ही यथाख्यात चारित्र।

आत्मनिर्मलताके स्तरसे चारित्रके भेद—सामायिक और छेदोपस्थापना छठे गुणस्थानसे ९ वे गुणस्थान तक होते हैं, सूक्ष्मसाम्पराय संयम १० वें और यथाख्यात चारित्र ११ वे से १४ वे गुणस्थान तक होते है। ये चारित्रके जो भेद किए गए है उन्नतिके स्तर पर किये गए है कि किसी प्रकार योगिराज समताको प्रारम्भ करके और समताकी पूर्णतामे आ जाते है इस दृष्टिसे ये चारित्रके भेद कहे गए है। जिनको भी मुक्ति मिली है उन सबके सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातचारित्र, ये चार प्रकारके चारित्र हुए; किन्हीके परिहारविशुद्धि भी हुई हो तो उनके ५ प्रकारके चारित्र हुए। चारित्रके जो १३ अग कहे गए है वे रात दिन जो चारित्र पाला जा रहा है व्यवहाररूपसे उसमें ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिरूप आचरण है। वह एक आभ्यतर बाह्यसे सम्बन्ध रखता हुआ अग माना गया है। कोई मुनि ऐसे भी हुए कि १३ प्रकारके चारित्र न पाल सके हो और मुक्त हो गए हो। बाहुबलि स्वामीने एषणा समिति कहाँ पाली? दीक्षा लेने के बाद एक ही जगह पर खडे रहे और मुक्त हो गए। यह बात जरूर है कि १३ प्रकारके चारित्रोका उन्होने संकल्प किया था। उसके बिना तो मुनिपदवी ही नहीं है। अन्त कृत केवली हुए, उपसर्ग केवली हुए, भरत जी ने भी मुनि दीक्षा लेने के बाद कहाँ आहार लिया तो उनमे ऐसी बाह्यदृष्टिसे बुराई आ सकती है किन्तु सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातचारित्र ये चार बाते प्रत्येकमे आई है तब मुक्त हुए।

पञ्चमहाव्रतमूल समितिप्रसरं नितान्तमनवद्यम्।
गुप्तिफलभारनम्रं सन्मतिना कीर्तितं वृत्तम् ॥४७०॥

मयमवृक्ष—वही चारित्र सन्मतिनाथने १३ प्रकारका कहा है—५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति। मानो यह चारित्र एक वृक्ष है। और उस चारित्रवृक्षकी जड तो ५ महाव्रत है और चारित्रवृक्षका जो फैलाव है वह सामायिक है और चारित्रवृक्षमे जो फल लगते है वे गुप्तियाँ है। जैसे मूलके बिना वृक्ष टिक नही सकता। जड पुष्ट हो तो वृक्ष भी खडा रहे, ऐसे ही सम्यक्चारित्रकी जड है ५ महाव्रत—अहिंसामहाव्रत, सत्यमहाव्रत, अचौर्यमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत, परिग्रहत्यागमहाव्रत। इन महाव्रतोके आधारपर सयमवृक्ष टिका हुआ है। मूल नही है तो वृक्ष कहा, शाखाये कहाँ? कोई पुरुष समितिका पालन करे और अन्तरङ्ग मे ५ महाव्रतोके धारण न हो तो वहाँ सयम कहा जगा? सयमवृक्षकी जड है ५ महाव्रत, और उस चारित्रका प्रसार नजर आयगा समितियोमे, लेकिन समितियोकी परीक्षासे ही तो मुनिकी परीक्षा करते है। कोई मुनि ऊँचा सिर करके जहाँ चाहे चलता हो तो लोग कहेगे कि इसने ईर्यासमिति नही पाला, यह मुनि नही है। कोई मुनि बुरे वचन बोलता हो, अहित-

कारी वचन बोलता हो तो लोग उसकी परीक्षा करते है कि यह मुनि नही है। मुनिके वचन तो इतना शीतल होने चाहिएँ कि अनेक झंझटोसे दुःखी हुआ कोई पुरुष मुनिके निकट बैठ जाय तो उस पुरुषके सारे दुःख उस मुनिके वचन सुननेसे दूर हो जाते है। इतने हित, मित, प्रिय वचन मुनिके होने चाहिएँ और न हो तो परीक्षा हो गयी कि मुनि धर्म नही है, इसके पास भाषासमिति नही रही। इस प्रकार एषणासमितिसे परीक्षा की जाती है। जैसा चाहे बनवाकर खा लिया, अपने भाईको रख लिया, बेटेको रख लिया, भोजनादिका सब प्रबंध हो रहा है, संचय कर रहे है, सब खर्च चल रहे है, ऐसी बाते देखकर लोग परीक्षा करते हैं कि यह मुनि नही है। ऐसे ही ब्रह्मचर्यमहाव्रत है। अकेले रहते हो, स्त्री साथ रखे हों, चाहे उसे ब्रह्मचारिणी बनाकर रखें, चाहे किसी ढगसे रखें तो लोग परीक्षा कर लेते हैं कि यह मुनित्व नही है। इसी प्रकार अपने आरामके लिए बहुत-बहुत सवारिया रखे, बडा खटपट रखे तो लोग परीक्षा कर लेते हैं कि यह मुनित्व नही है। तो जैसे वृक्षके प्रसारसे डालियोका फैलाव चलता इसी प्रकार समितियोंके प्रसारसे सयमका फैलाव चलता है। संयममे समितियोका प्रसार है और उस सयमवृक्षमे फल क्या मिला ? जो सयमकी आखिरी चीज है वह है गुप्ति।

संयम वृक्षका फल गुप्ति—मन वशमे हो, वचन वशमे हो और काय वशमे हो तो यह संयमका एक उत्कृष्ट फल है। किसलिए संयम किया जा रहा है कि यह मन वश हो जाय, मनकी तरंग समाप्त हो जाय। वचन अन्तर्जल्प हो, भीतरमे गुनगुनाहट तक न उठे, शरीर निश्चल रहे और ऐसी स्थितिमे विशुद्ध सहजस्वरूपका ध्यान जगता है। यही तो सयमका फल है। चारित्र १३ प्रकारका है और इस चारित्रकी यहाँ वृक्षकी उपमा दी है। तो चारित्रकी जड तो है महाव्रत और फल है गुप्ति। और ५ समितियोका जो धारण पालन है यही चारित्रका प्रसार है। जो भव्य आत्मा इस जीवनसे रहते है उनको ध्यानके लिए बहुत सहयोग मिलता है।

ध्यानसिद्धि सम्यक्चारित्रसे ही संभव—कोई पुरुष पाप करता रहता हो तो उसका चित्त स्थिर नही रह पाता। और, स्थिर जीवन हो तो उसके चित्तमे मजबूती रहती है और निराकुलता आनन्द सभी बातें उसे प्राप्त होती हैं, और, पापिष्ठ जीवनमे न तो शुद्ध आनन्द जगता है, न प्रसन्नता रहती है। जीवन एक भारसा मालूम होता है। तो पापोकी जहाँ अत्यन्त निवृत्ति है, शुद्ध चारित्र है तो उस चारित्रकी परिस्थितिमे योगीश्वरोको ऐसा ध्यान जगता है कि जैसे स्पष्ट आनन्दका प्रवाह चल रहा है तो चल ही रहा है ऐसे ही धर्म का प्रवेश चल रहा है तो चलता ही जा रहा है। तो सम्यक्चारित्र ध्यानकी सिद्धिके लिए एक उत्कृष्ट अंग माना गया है।

पञ्च पञ्च त्रिभिर्भेदैर्यदुक्तं मुक्तसंशयैः ।
भवभ्रमणभीतानां चरणं शरणं परम् ॥४७१॥

मुक्तिका उपाय—गणधरदेवने जो १३ प्रकारका चारित्र कहा—५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति, यह एक ऐसा उत्तम उपाय है कि जिसका आलम्बन लेकर जीव संसारमे भ्रमणसे छुटकारा पा लेता है। विकल्पोसे सदाके लिए छुट्टी मिल जाना इसीका ही तो नाम मोक्ष है। तो परपदार्थोके लगाव वाले जितने काम है, आरम्भ है व्यापार है, स्नेह है, व्यवस्था है तो ये सब विकल्पोसे छुटकारा दिलायेगे क्या ? सत्संगता, निष्परिग्रहता, अध्यात्मधुन, स्वतत्र एकाकी रहना, अपने आपकी ही दृष्टिसे रहना ये सब विकल्पोसे छुट्टी पा लेनेके उपाय है। तो ये बाते इन १३ प्रकारके चारित्रोसे मिलती है। जिसे उत्तम ध्यान चाहिए उसको अपना जीवन कैसा बनाना उचित है ? तो उसको सीधा एक शब्दमे बता दे कि १३ प्रकारका चारित्र धारण करके जीवन बिताए तो उसे वह ध्यान प्राप्त होगा जिस ध्यानसे मुक्ति मिलती है। जो मुनि संसारके भयसे भयभीत है वे इन चारित्रोका पालन करनेसे निर्भय हो जाते है। यह सम्यक्चारित्र एक उत्तम शरण है, अत ध्यानके इच्छुक योगीश्वर पुरुष इस सम्यक्चारित्रके पालनमे पूर्णतया सावधान रहते है।

पञ्च व्रतं समित्यञ्च गुप्तित्रयपवित्रितम् ।
श्रीवीरवदनोद्गीर्णं चरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥४७२॥

सम्यक्चारित्रके १३ अङ्ग—५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति ऐसा १३ प्रकार का चारित्र श्री वर्द्धमान भगवानके मुखसे प्रकट हुआ है। वह चन्द्रके समान निर्मल है। जैसे सम्यग्दर्शनके ८ अंग हैं और सम्यग्ज्ञानके भी ८ अङ्ग हैं इसी तरहके सम्यक्चारित्रके भी १३ अंग हैं प्रकार क्या अङ्ग। प्रकार और अगमे फर्क रहता है। प्रकार तो भेद हुए और अपनी अपनी जगहमें वे स्वतत्र है और अंगका अर्थ है यह कि अंग मिलकर देह बन गया। जैसे मनुष्यके ८ अग है—दो हाथ, २ पैर, एक शिर छाती, पीठ और नितम्भ तो इन ८ अगोसे मिलकर बने वही तो नरदेह है। ऐसे ही ८ अगोंका समूह सम्यग्दर्शन, ८ अंगोका समूह व्यवहार सम्यग्ज्ञान और अंगोका समूह सम्यक्चारित्र।

ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टिमें भेद--जिस अन्तरात्माके विशुद्ध दृष्टि जग गयी है प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र निज निज सत्ताको लिए हुए प्रतिभात होता है, ऐसे ज्ञानके कारण परपदार्थोसे उपेक्षाभावसे प्राप्त हुए ज्ञानकी जो प्रवृत्ति होती है वह निर्मल और आदर्श होती है। अब इस जीवको, इस अन्तरात्माको किसी भी प्राणीके सतानेका भाव नहीं रहा और जब जब किसी प्राणीको देखते हैं तो अपने ही सहज स्वभावकी तरह उनमे भी सहज स्वभावरूपसे देखते है, एक दृष्टिके भेदसे प्रवृत्तिमे भी बहुत भेद हो जाते है। एक पुरुषको

सभी जीव पापी, दोषी, अपराधी बेईमान देखा करें तो वे पुरुष और एक वह पुरुष जिसको सभी लोग साधारणतया सत्पुरुष सरल दीखा करें और कभी पाप प्रवृत्ति भी उनकी दीखे तो इस दृष्टिसे देखा करे कि आत्मा तो हम सबकी ही तरह चैतन्यस्वरूप है। कर्मोंका कैसा तीव्र उदय है कि ऐसी वृत्ति हो गयी है, इस तरह निरखा करे तो दो पुरुषोंकी मूलदृष्टिमें अन्तर ही तो कुछ होगा। वह अन्तर है बहिर्दृष्टि और अन्तर्दृष्टिका। किसी पुरुषको देख कर उसके दोष ही हमे नजर आयें ऐसा होनेका कारण यह है कि हमारा दोषोंमें ही उपयोग बना रहता है। और किसीको देखकर उसके गुण ही नजर आयें, दोष हो विशेष तो पीछे नजर आयें तो वहाँ अन्तर्दृष्टिका प्रभाव है।

निर्मल आशय वाले जीवकी प्रवृत्ति—जिसका अन्तस्वरूप विशुद्ध हो गया है, आशय निर्मल है ऐसा पुरुष सब जीवोंके प्रति उस शुद्ध चैतन्यस्वभावरूप उनकी प्रतीति रखते हैं। और किसी भी जीवको सतानेका उनके भाव नही रहा अतएव ६ कायके जीवों की हिंसाके त्यागी है और निरन्तर उनका प्रयत्न यह रहता है कि मैं अपने शुद्ध ज्ञान दर्शन का विनाश भी करूँ, सहज ज्ञाताद्रष्टा रहूँ इस प्रकारसे तो अहिंसामहाव्रत है। वचन बोलने का जिसका कमसे कम यत्न है; कुछ बोलना आवश्यक ही हो तो जिसमें कुछ दूसरोंको हित हो और अपना कही फसाव न हो, अपना भी बचाव हो इस प्रकार बहुत परिमित प्रिय शब्दोंमे जिनके वचन निकला करते हैं ऐसे शुद्ध महाव्रतकी जिनकी धारणा है वे मुनि लोक मे आदर्शरूप हैं। चोरीका तो जिनके पूर्णपरित्याग है और इसरूपमें परित्याग किया है कि कुछ साधन भी नही रहा कि चोरी कर सकें। कपड़े, थैली, ट्रंक रखते हो तो कोई चीज छुपानेका साधन भी रहे, निर्ग्रन्थ केवल गात्रमात्र है जिनका परिग्रह है, चोरीका कभी साधन सम्भावना भी नही है, ऐसी जिनकी चर्या है और ब्रह्मचर्य महाव्रत तो उनके जीवन का एक आदर्शरूप है और उसका प्रमाण है उनका नग्नस्वरूप। नग्न रहना कितनी ऊंची तपस्या है; इस पर लोगोंकी साधारणतया दृष्टि नही जाती। नग्न होकर भी विकार न आये और बालकवत निर्भय नि शक, निर्दोष रहे यह उनका आन्तरिक परम तपश्चरण है। परिग्रह त्याग तो उनके है ही। यों ५ महाव्रतोंके अधिकारी हैं, ५ समितियोंके अधिकारी हैं।

ईर्यासमिति—ईर्यासमितिमें ४ बातोकी दृष्टि रहती है—दिनमें चलना, चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना अच्छे कामके लिए चलना और अच्छा परिणाम रखकर चलना, ये चार बातें एक साथ हो उसे ईर्यासमिति कहते हैं। केवल बचकर चलनेका ही नाम ईर्यासमिति नही है। किसीको पीटने के लिए चले और चार हाथ जमीन देखकर चले तो वह ईर्यासमिति नही है, अथवा किसी तीर्थ वदनाके लिए भी जाय और गुस्सा होकर रूठकर

ऐसे भावोसे जाय वह भी ईर्यासमिति नही हैं। तो जहा ये चार बाते एक साथ हो, दिनमें जायें, चार हाथ आगे जमीन देखकर चलें, अच्छे कामके लिए चले और अच्छे भावोसे चले ऐसी जिनकी ईर्यासमिति है उनका वह निर्दोष चारि त्रचन्द्रके समान रहता है।

भाषासमिति—भाषासमितिमे दूसरोंसे हित, मित, प्रिय, वचन बोलनेकी बात है। बहुत विवाद करते रहनेका स्वभाव रखना भी कितनी ही विडम्बनाओंका कारण बनता है। प्रथम तो स्वयं हृदयमे रीता हो जाता है और कभी कोई शब्द अनावश्यक निकल जाय तो उसका फिर खेद होता है। यो अनेक दोष आते हैं अतएव परिमित वचन बोलना मुनीश्वरो का कर्तव्य है। जो उन्नति चाहता है उसे हित, मित, प्रिय वचन बोलना चाहिए। कभी गुस्सा आता है और उस गुस्सामे दूसरेके अनर्थकी बात चित्तमें आती है वह न आ सके। प्रत्येक परिस्थितियोमे दूसरोका हित ही चाहे यह एक बहुत बडा तपश्चरण है।

अन्य शेष तीन समितियां व गुप्तिके पुरुषार्थमें निर्ममता—एषणासमिति जिनकी है, निर्दोष आहार लेनेकी विधि जिनकी निर्मल है, कोई चीज धरे उठाये तो देख भालकर धरे उठाये ऐसी जो दयाकी साक्षात् मूर्ति हैं, अपने पसंद मलमूत्र क्षेपण करे तो निर्दोष जन्तु रहित जमीन पर करें, ऐसी जिनकी चर्या है उनका चारित्र चन्द्रवत् निर्मल है, जिनका मुख्य पुरुषार्थ तीन गुप्तियोके लिए रहता है। जब गुप्तिमे नही टिक सकते तब समितिका धारण करते है। मनको वश करना, वचनोको वश करना, शरीरको निश्चल रखना इन तीन गुप्तियोमे जिनका पुरुषार्थ रहता है उनका आचरण चन्द्रवत् निर्मल है और वे ही पुरुष ध्यानके पात्र है।

> हिंसायामनृते स्तेये मैथुने च परिग्रहे।
> विरतिर्व्रतमित्युक्तं सर्वसत्त्वानुकम्पकैः॥४७३॥

अप्रसन्नताका मूलकारण मिथ्या आचरण—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोमे त्यागभाव होना सो अभाव है, ऐसी सर्वजीवो पर अनुकम्पा रखने वाले ऋषिसंतो ने कहा है। देखिये जीवन तो बीत ही रहा है, जिस किसी भी आचरणमे रहकर जीवन बितायें, लेकिन मिथ्या आचरणमे भले ही काल्पनिक मौज माना जाय, पर न उस काल प्रसन्नता है और न उससे कभी प्रसन्नता होगी। जब मृत्यु निकट आयेगी तब यह पछतावा होता है कि यदि मिथ्या आचरण न करता तो क्या नुक्सान था, लाभ ही लाभ विशेष था। तो मिथ्या आचरणसे जीवनमे भी प्रसन्नता नहीं रहती अतएव व्रतरूप आचरण होना, संयमी जीवन बिताना, शुद्ध विचारोमे रहना, किसीसे बैर विरोध न करना, क्षमा भाव रखना, ऐसी प्रकृति बनी रहे और फिर उसे बदल देनेका भाव न करे। हा इतनी हिम्मत जरूर होना चाहिए कि कोई चेष्टा हमारे धर्म अथवा इज्जत या धनपर कडी चोट

पहुंचाये तो हम अपनी नीतिसे उसका पूरा मुकाबला कर सके और निवारण कर सके, इतना साहस जिसके है उसके ही ऐसी क्षमा भी हो सकती है, नही तो एक असमर्थ सा अपने को समझकर दूसरोंकी बातें सहता जाय तो यह क्षमामें सामिल नहीं है। यदि जीवन निर्दोष व्यतीत हो तो उसकी प्रसन्नता निर्मलता लाभ सब अन्तमे विदित होता है। मनुष्य जन्मा, बड़ा हुआ, बूढा हुआ, मर गया, फिर जन्मा, तत्त्वकी बात, सारकी बात क्या इस मनुष्यने पायी ? मान लो थोडी देरके लिए इन मायामयी जीवोने इस मायामय संसारमे कुछ मायामयी प्रशसा करदी तो उससे आत्माको क्या लाभ मिला ? आत्माका तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ही रक्षक हैं, दूसरा कोई रक्षक नही है। तो व्रतके धारणकी इच्छा और प्रकृति रहना चाहिए और मनका सयम बना रहे जिससे अपना ज्ञानबल बढे, ऐसी वृत्तिमे ही वास्तविक प्रसन्नता पायी जा सकती है।

सत्याद्युत्तरनिःशेषयमजातनिबन्धनम्।
शीलैश्चर्याद्यधिष्ठानमहिंसाख्यं महाव्रतम् ॥४७४॥

सर्वोत्कृष्ट व्रत अहिंसा—मुख्य व्रत तो अहिसा है, इसके बाद सत्य, अचौर्य आदिक ४ महाव्रत और हैं। अहिंसाके मायने है चित्तमे विकार न उत्पन्न हो जाना। जीवघात न करना यह तो द्रव्य अहिंसा है, जीव घात न करके भी वह अहिंसक है यह नियम नही है। अहिंसक तो वास्तविक मायनेमे तब है जब हम अपने चित्तमे विकारभाव नही लाते है, तो विकार न आने देना ऐसी अहिंसा हो वही तो सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रहताका पालन कर सकता है, अतएव अहिंसा महाव्रत ४ महाव्रतोका कारण है। दूसरी दृष्टिसे देखिये तो सब कुछ अहिंसाके पालनके लिए किया जाता है, सत्य भी अहिंसाका साधक, अचौर्य, ब्रह्मचर्य निष्परिग्रहता आदिक भी अहिंसाके साधक हैं। तो चार महाव्रतोका कारण अहिंसा है और जितने भी अतिरिक्त गुण पालन किए जायें, बहुत ऊँची ऊँची चर्चाये, तपश्चरण, अनशन आदिक विधान किये जाये उनका स्थान भी अहिंसा है अर्थात् समस्त उत्तर गुण भी इस अहिंसा महाव्रतके आधीन हैं। अहिंसा व्रतमे मुख्यता अपनेमे विकार न आने देनेकी है। निर्विकार हृदय होगा तो सब आचरण सही होंगे और अन्तरमे विकार होंगे तो आचरण सही नही हो सकता।

वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्तते।
चर स्थिराङ्गिनां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम् ॥४७५॥

अहिंसक पुरुषकी प्रकृति—मन, वचन, कायसे त्रस अथवा स्थावर जीवोंका घात स्वप्नमे भी न हो उसे अहिंसा महाव्रत कहते हैं। बहुत पहिले निम्बू या साग वगैरहके प्रयोगमे काटने शब्दका प्रयोग न करते थे। वह एक अहिंसाका सूचक है। मांस खाने वाले लोगों

को अगर कहना हो तो मांसका नाम न लेकर लोग कहते थे कि फलाने गदी चीज खाते है, मिट्टी खाते हैं, तो ये सब अहिंसाकी प्रतिष्ठाके संकेत थे । तो वचनों से भी हिंसामयी शब्द न बोले जायें और मनसे भी किसीके घातकी बात न आये । अरे कौन किसका शत्रु है? किसका बुरा विचारना ? बुरा विचारनेसे बुरा विचारने वालेका तो बुरा हो ही चुका क्यो कि उसके परिणाममे विकार आया, मूढ़ता आयी । अपना उपयोग एक गंदे ख्यालमे लगाया तो उसका तो बुरा हो ही चुका । दूसरेका बुरा करना हमारे आधीन नही है । उसका उदय विपरीत होता है तो हम निमित्त बन जायेगे । हम बुरा परिणाम करके अपना ही बिगाड करते हैं, दूसरेका बिगाड नही करते । इतनी हिम्मत हो । हाँ कोई विपदा गृहस्थाश्रममे ऐसी सामने आये कि जिसका मुकाबला करना आवश्यक ही है, उस पदवीमे तो एक वीरताकी बात है, लेकिन परिणामोमे क्षमा करनेकी प्रकृति होनी चाहिए । किसीको जीत कर भी उसको क्षमा कर देनेका स्वभाव हो तो ये नम्रता, सरलता गुणकी पोषक चर्याये हैं । वचनोसे भी दूसरेके घातकी बात न आयें, मनसे दूसरेके घातकी बात न आये और शरीरसे भी न आये ऐसी जिनकी चर्या है उनको कहते है अहिंसक पुरुष । बड़े पुरुष बड़े समर्थ भी होते है लेकिन अपने सामर्थ्यका प्रयोग दूसरोको सताने के लिए या अपराधीका विनाश करनेके लिए नही होता है । अरे अपराधी यदि हमारे व्यवहारसे सदाके लिए अपराध करना छोड दे तो यही है अपराधीके अपराधकी सही प्रतिक्रिया । दण्ड व्यवस्था भी आगे अपराध न करे इसके लिए की गई है, न कि अपराधी पर द्वेष करके उसके विघात के लिए की गई है । तो किसी भी जीवका स्वप्नमे भी घात न हो ऐसी चर्याका नाम अहिंसा महाव्रत है ।

मृते वा जीविते वा स्याज्जन्तुजाते प्रमादिनाम् ।
बन्ध एव न बन्ध. स्याद्धिसायां संवृतात्मनाम् ॥४७६॥

प्रमादी व अज्ञानीको निरन्तर हिंसाका बंध—अज्ञानी अथवा प्रमादी पुरुषोको तो निरन्तर हिंसाका ही बंध होता रहता है । जिस पुरुषके चित्तमे शिकार खेलनेका परिणाम है, बन्दूक लेकर बनमे पक्षियोको, पशुओको देख रहा है और किसी दिन उसे एक भी शिकार न मिले तो उसे निर्दोष न कहा जायगा, आज इसने किसी की हिंसा नही की । ऐसा यद्यपि लोग देखते है लेकिन वह अहिंसक न होगा । उसके तो परिणाममें निरन्तर हिंसा ही भरी रहती है । इसके लिए बिलावका दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है । उसके चलने से, दृष्टिसे यह बात जाहिर है कि बिलावके निरन्तर मनमें रहता है कि मुझे खूब चूहे मिले, और यदि बिलाव सोता हो तो शायद उसके मनमे यही रहता होगा कि मुझे चूहे मिलें । तो जिसका निरन्तर शिकारमे परिणाम रहता है वह निर्दोष कैसे कहा जा सकता है ? यो

ही प्रमादी पुरुषको जीव मरें अथवा नही निरन्तर हिंसाका बध होता रहता है।

कर्मबंधनमें प्रधान कारण आत्माका परिणाम—और जो संवर सहित है, अन्तरात्मा है, अप्रमादी है, बडी विधिपूर्वक दयाके भावसे शोध कर चल रहे हैं कदाचित कोई छोटा जीव पग तले आकर मर जाय तो परिणामो से देखिये उसके हिंसाका बध नही होता। कर्मबध होनेमे प्रधान कारण आत्माका परिणाम है। जो पुरुष प्रमाद सहित है वे यत्नपूर्वक भी चलते हैं तो उनको जीव मरे अथवा न मरे मगर बध होता ही है। जो निष्प्रमाद है, जिनकी यत्नपूर्वक वृत्ति है, दैव योगसे कदाचित कोई जीव मर भी जाय तो भी कर्मबंध नही होता, मालूम पड जाय कि जीव मर गया तो वे खेद करते हैं और प्रायश्चित्त कर लेते है। प्रत्येक दशावोमे परिणाम उच्च रखना, धीर रखना, क्षमाशील रखना यह लाभदायक है। साधु हो अथवा गृहस्थ दोनोको यदि प्रमाद है तो वे एकसे हैं। जो सम्यग्ज्ञानी होते है उनका निर्णय एक समान रहता है।

समस्त आत्मज्ञानियोंको वृत्तिमें समानपना—जिन जिन पुरुषोको आत्मानुभव हुआ है उन सर्व पुरुषोको आत्मानुभव एक समान हुआ है, ऐसे ही उनकी चर्या भी एक पद्धतिको लिए हुए है। लक्ष्य एक ही है, हमसे पापरूप वृत्ति न हो, और हम इस काबिल बने रहें कि अपने आत्मस्वभावके अधिकाधिक दर्शन करते रहें, और अपने स्वरूपमे मग्न रह सकें, परपदार्थोंकी दृष्टिमे हमारा उपयोग न फसे और मैं अधिकाधिक ज्ञान दर्शन स्वरूप निज प्रकाशमें ही मग्न रहा करूँ, ऐसी ही उनकी धारणा रहती है ऐसे पुरुष अहिंसक होते हैं और वे ध्यानमे अपनी कदम बढा सकते है। शुद्ध ध्यान बिना आत्मा संसारसे पार नही हो सकता। और शुद्ध ध्यान तभी बन सकता है जब हमारा निर्णय तो शुद्ध हो। मैं केवल एक चैतन्यस्वरूपमात्र हू। लो जहाँ गया उतना ही गया, जहाँ जायेगा उतना ही जायेगा। जो मेरा है वह मेरेसे छूटता नही, जो मेरा नही है वह मुझमे आता ही नही है। अज्ञानी जीव कल्पनासे कितने ही लोगोको अपने चित्तमे बसा लेता है। तो केवल उसकी कल्पनाकी बात है। जो आत्माका तत्त्व नही वह आत्मामे कभी आ नही सकता। जो आत्माका तत्त्व है वह आत्मासे कभी बिछुड नही सकता। इस बातसे जब स्वभाव आत्मतत्त्व है, चैतन्यस्वरूप अन्तस्तत्त्व है ऐसा सोचकर तो वहा यह नजर आयेगा, तो इस मुझमे क्रोधादिक विभाव भी नही आ रहे है। क्रोधादिक विभाव यदि स्वभावके रूपसे आ जाये तो उसका स्वरूप ही मिट जायेगा।

निर्दोष प्रवृत्तिवानके दो कर्मक्षय व मुक्ति—मैं सबसे विविक्त शुद्ध चैतन्यस्वरूप हू। ऐसा जिनका दृढ निर्णय है वे पुरुष धीर, गम्भीर, उदार और निराकुल रह सकते हैं। निर्णय हमारा सत्य रहना चाहिए। परिस्थिति कुछ भी गुजरे लेकिन निर्णयमे हमारी भूल

न रहना चाहिए। निर्णयमें भूल हुई तो हम सुखी कभी नही रह सकते। जिनका निर्णय पवित्र है और जिनकी प्रवृत्ति भी निर्दोष है ऐसे सत पुरुष ही आत्माका ध्यान करके समस्त कर्मोका क्षय करके मुक्ति प्राप्त करते है।

संरम्भादित्रिक योगै. कषायैर्व्याहतं क्रमात्।
शतमष्टाधिकं ज्ञेयं हिंसाभेदैस्तु पिण्डितम् ॥४७७॥

हिंसाके मूल भेद १०८—मन, वचन, कायसे और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोसे संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ किए जाये, कराये जाये और अनुमोदित किए जायें, इस प्रकारसे जो पाप होते हैं वे १०८ प्रकारके पाप जानना चाहिए। संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ इन तीनमें सबसे पहिले होता है संरम्भ। इसके बाद बनता है समारम्भ और इसके बाद बनता है आरम्भ। हिंसामे उद्यम करनेके परिणाम बननेका नाम है संरम्भ। हिंसाका विचार करना, कार्यक्रम सोचना यह है संरम्भ और हिंसाके साधन जुटाना यह है समारम्भ और हिंसामे प्रवृत्ति करना यह है आरम्भ। जो मनुष्य पापकार्य करता हैं तो उसके इस प्रकार ये तीन क्रम बनते हैं, पहिले मनमे सोचता है, फिर उसका प्रोग्राम बनाता है, सोचता है, फिर उसका प्रोग्राम बनाता है, साधन जुटाता है और फिर प्रगति करता है। ये तीन प्रकारके पाप कार्य मनसे, वचनसे और कायसे होते है तो ये ९ भेद हो गए। मनसे संरम्भ, वचनसे संरम्भ, कायसे संरम्भ, मनसे समारम्भ, वचनसे समारम्भ, कायसे समारम्भ, मनसे आरम्भ, वचनसे आरम्भ, कायसे आरम्भ। इस प्रकारके पापकार्य करे जाय, कराये जाये, अनुमोदे जाये तो इसके २७ भेद हो गए। ये २७ प्रकारके पाप कोई तो क्रोधके आधीन होकर, कोई मानके, कोई मायाके और कोई लोभके आधीन होकर करता है तो इसके २७×४=१०८ भेद हो गए। इस प्रकार हिंसाके मूल भेद १०८ हुए। इसीलिए मालामे १०८ दानोकी प्रथा है। मेरे १०८ प्रकारके पाप दूर हो इसके अर्थमे १०८ बार प्रभुका नाम लिखा,—यह एक साधन है, यह तो कुछ तीर्थ प्रवृत्ति रहना चाहिए, कोई रूढि रहना चाहिए इसके लिए १०८ बार जापकी प्रथा है। ऐसी सब हिंसावोका त्याग जहाँ है उसे अहिंसा महाव्रत कहते हैं।

श्री १०८ मुनिराजोंके नामोंके पहिले लिखनेका भाव—श्री १०८ लिखनेका यही प्रयोजन है कि वे मुनिराज १०८ प्रकारके पापोंके त्यागी हैं। अतएव श्री श्री बार बार न कह कर १ श्री लिखकर १०८ लिख देते है। क्षुल्लककी पदवीमे श्री १०५ लिखा जाता है उसका भी कुछ ऐसा ही प्रयोजन है। चूँकि मुनिसे क्षुल्लकका पद तो कुछ छोटा है ही, क्षुल्लकपदमें कुछ थोडासा परिग्रह रहता है इससे १०८ न लिखकर १०५ लिखनेकी प्रथा है। अथवा यह एक विनयकी रूढ़ि है। गुरुवोको ६ श्री लिखी जाती है, मित्रको ५ श्री,

शत्रुको ३ श्री लिखी जाती है, इस तरह एक रूढ़ि है, पर १०८ श्री लिखनेका तत्त्व तो बिल्कुल स्पष्ट है।

अत प्रमादमुत्सृज्य भावशुद्धयाङ्गिसन्ततिम् ।
यमप्रशमसिद्धयर्थं बन्धुबुद्धया विलोकय ॥४७८॥

उपयोगमें विशुद्ध प्रकाश बनाये रहनेकी शिक्षा—इस कारण प्रमादको छोडकर भावोकी विशुद्धि बना कर जीवसमूहको बन्धुकी बुद्धिसे देखो। किसी भी जीवके प्रति उसके सताने, अन्याय करनेका परिणाम मत उत्पन्न करें। यदि यावत जीव यम संयमकी सिद्धि चाहते हो, कषायोका प्रसम चाहते हो तो सब जीवोको परिवारजनोकी तरहकी बुद्धिसे अवलोकन करना चाहिए। है भी क्या ? दस बीस वर्षके जीवनका किसीका समागम है। समय तो अनन्त है। इस अनन्त समयके सामने जीवनका यह थोडा सा समय क्या गिनती रखता है ? १००-५० वर्ष तो क्या करोड सागर भी कुछ गिनती नही रखते। फिर इस थोडे से समयके लिए चित्तमे ऐसा विश्वास बना लेना कि ये तो मेरे हैं और ये सब गैर हैं यह कितनी अविवेककी बात है। व्यवस्थाकी बात अलग है और एक मोह लगाव वैसा श्रद्धान रखे वह मूढताकी बात है। सब जीव एक समान स्वरूप वाले है, सबमे चैतन्य है और इस संसारचक्रमे भ्रमण करने वाले इन जीवोमे आज जो शत्रुके रूपमे देखे जा रहे वे अनेक बार बन्धु बन चुके, जिन्हे आज बन्धु माना जा रहा वे अनेक बार शत्रु बन चुके कल्पनामे। वस्तुत कोई जीव न बन्धु है, न शत्रु है। जिस किसीसे भी प्रीति है, राग है तो प्रथम तो यह आपत्ति है कि राग और मौजकी धुनमे बेसुध हो रहे हैं, अपने आत्माकी सुध नही कर पाते है। रागमे सबसे बडा प्रहार तो यह है और फिर उस राग निभानेके लिए जीवनमे अनेक संकट, चिन्ता, शल्य करनी पडती हैं। विशुद्ध प्रकाशकी बात उपयोगमे रहना चाहिए। मिथ्या धारणामे अपना उपयोग न फंसाना चाहिए।

संकटोंसे मुक्तिका उपाय-समताभाव—समस्त जीवसमूहके हे हितैषी आत्मन्! बन्धुकी बुद्धिसे देख अर्थात् प्राणिमात्रसे शत्रुभाव न रखकर मित्रताका भाव रख और सबकी रक्षा करनेमे मन, वचन, कायके सारे प्रयत्नोसे मुक्ति कर। जीवपर संकट क्या है ? मूर्छाका भार। विकल्प ही तो सङ्कट है। सङ्कट सता रहे हो तो ऐसी सुमति जगावो कि सब विकल्प हटो, मैं तो एक शुद्ध चैतन्यमात्र हू, बाह्यपदार्थोंमे कुछ परिणति हो उससे मेरा कुछ प्रयोजन नही है। मेरा मेरे आत्मासे प्रयोजन है, ऐसी सदबुद्धि जगाकर परसे उपेक्षा भाव तो कीजिए, सारे विकल्प भार सङ्कट सब समाप्त हो जाते हैं।

यज्जन्तुबधसंजातकर्मपाकाच्छरीरिभि ।
श्वभ्रादौ सहयते दु खं तद्वक्तु केन पार्यते ॥४७९॥

पापोंसे नरकोंके दुःखका पात्र—जीवोका बंध करनेसे उत्पन्न हुए कर्मके उदयसे ये प्राणी नारकादिक गतियोमे जो दु ख सहते हैं उन दु खोका वर्णन करनेके लिए कोई समर्थ नही है। वे दु ख वचनोके अगोचर हैं। नरकोमे बताते हैं कि ऐसी भूमि है कि हजारो बिच्छुवोके काटनेसे जो क्लेश उत्पन्न होता है उससे कई गुना अधिक कष्ट वहाँकी पृथ्वीको छूनेसे होता है। यों सीधी तरहसे बात सुननेमे कुछ शंका हो सकती है कि ऐसा भी है क्या ? इसके उत्तरमे थोडी देरको ऐसी कल्पना कीजिए और कल्पना भी क्या, होता भी है। जैसे मकानमे बिजलीके तार भीतके अन्दर लगाये रहते है, कही गल घुनकर किसी तरह भीतमे करेन्ट आ जाय, उस भीतको छूनेसे कैसा हाथ झुन्झुनाता है। तो नरकमे ऐसी ही पृथ्वीकी विशेषता है कि जहाँ इस प्रकारकी करेन्ट प्रकृत्या बनी रहती है। वह बिजली का करेन्ट और है क्या ? तार भी जमीन है, धातु वह भी है। कोई तारके रूपमें पृथ्वी बन गयी है कोई मिट्टी ढेलाके रूपमे। पृथ्वीमे ही तो बिजलीरूप परिणमन है। तो वहाँ की पृथ्वी इस तरहकी है, ठड गर्मीकी वेदना इसही लोकमे देखलो, कही अधिक है कही कम है। यहाँ भी ठंडकी डिग्री जो आजकलकी दुनियामे चलती है वह उससे भी कही अधिक बढ सकती है। तो अत्यन्त अधिक ठंड उन नरकोंमे होती है। अत्यन्त अधिक ठड क्या, वहाँकी असह्य वेदना होती है जो कि वचनों द्वारा नही कही जा सकती है। ऐसे ही अनेक स्थल ऐसे है जहाँ यह जीव अपने जीवघातके कारण कमाये हुए पापके उदयसे भोगना पडता है, वचनोसे भी अगोचर दु खोको यह जीव पाप कर्मोके कारण भोगता है।

धर्मसे दुःखोंका छुटकारा—धर्म करना हो, शान्ति पाना हो तो सीधासा एक उपाय है। अपने आपमे भिचकर यह मान लें कि मैं तो ज्ञानमात्र हू, मेरा अन्यसे क्या ताल्लुक ? मैं केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप हू, जो यथार्थ बात है उस रूप प्रतीति करलो धर्मपालन हो गया। उस ही मे दृढता रहता रह जाय तो बस चारित्रकी प्रगति हो गयी। ऐसा करने के लिए जो एक सम्भव उपाय होना चाहिए, किया जाय वह है व्यवहारचारित्र। तो धर्म तो एक झलकमे उत्पन्न होता है। जिसने अनुभव किया है, जो धर्मके स्वरूपका परिचय पा चुका है उसके लिए एक झलकमे धर्मसे मेल बन जाता है, और जिसने आत्माके सहज-स्वभावका परि-य नही किया है वह धर्मके नामपर बहुत बड़ा श्रम भी कर डालता है लेकिन वहाँ धर्मका प्रकाश नही मिल पाता। उस धर्मसे विरुद्ध चलकर आत्मस्वभावसे च्युत होकर इस जीवने जीवघात आदिक अनेक पापोसे दुष्कर्म किया और अब उसके फलमे अनेक खोटी गतियोमे जन्म लेता है और दु ख सहता है।

अहिंसक दृष्टिसे ही कल्याण सम्भव—चारित्र अहिंसा प्रधान है और अहिसा ध्यानका मुख्य अग है। ध्यानकी सिद्धिके लिए अहिंसाका पालन होना ही चाहिए। उसी प्रकरणमे

आचार्यदेव यह सम्बोध रहे है कि हे आत्मन् ! तू सर्वप्राणियोको बन्धुकी दृष्टिसे निरख, किसीको विरोधी मान रहा है अपने विरोधी भावोसे। कदाचित् ऐसा भी प्रयत्न करें कि जिससे कुछ अनिष्ट साधन सामने आये और गृहस्थ उसे न सह सके तो उसका मुकाबला भी करे, इतने पर भी सम्यग्दृष्टि गृहस्थको दूसरे जीवके अकल्याणका भाव नही रहता, यह तो भीतरकी दृष्टिकी बात है। उसके मुकाबलेमे वह मारा भी जाय शत्रु इतने पर भी ज्ञानी पुरुष को भीतरमे किसीको मारनेका परिणाम नही है कि मैं इसे बरबाद कर दूं। हुआ तो परिणाम मरनेका, पर अत आशयमे मारनेका परिणाम नही है शत्रुकी दृष्टिसे अथवा अशत्रु की दृष्टिसे।

हिसैव नरकागारप्रतोली प्राशुविग्रहा।
कुठारीव द्विधा कर्तु भेत्तु शूलोऽतिनिर्दया ॥४८०॥

यथार्थ दृष्टिमें हित—यह हिंसा नरकरूपी घरमे प्रवेश करनेके लिए द्वारके दरवाजे की तरह है। जैसे घरमे प्रवेश होनेका रास्ता दरवाजे से होता है ऐसे ही नरकरूपी घरमे प्रवेश करनेके लिए यह हिंसा दरवाजेका काम करती है। किसी जीवके बरबाद करनेका जो परिणाम होता है उस प्रयत्नके कालमे इस जीवको अपनी सुध कहाँ रहती है और फिर व्यर्थका विकल्प। किसी जीवसे हमारा कोई नाता सम्बन्ध विरोध शत्रुता कुछ भी तो नही रजिस्टर्ड है। किसीसे कुछ मित्रता या शत्रुता सम्बन्ध हो कैसे सकता है ? जीव तो चैतन्यस्वरूप है। वह तो सहज ज्ञायकरूप है, ज्ञाताद्रष्टा उसका परिणमन है, उसमे कहासे सम्बन्ध बन पाता है कि कोई किसीका शत्रु अथवा मित्र नही है। सर्व पदार्थ जब अपने अपने द्रव्य क्षेत्र, कालमे रहा करते है तो यह कहा गुञ्जाइश है कि कोई पदार्थ किसी दूसरेका सुधार अथवा बिगाड कर दे ? निमित्त मिले और उसमे कुछ सुधर बिगड नही भी गया पर जो जीवमे औपाधिक घटनासे सुधार मानते हो उसकी ही तो कल्पनामे सुधार है और जो उस औपाधिक घटनामे बिगाड मानते हो तो उसकी दृष्टिमे बिगाड है। परतत्त्वको स्वीकारे बिना केवल ज्ञानमात्र अपने को कोई निरखे तो वहाँ परसे क्या सुधार और क्या बिगाड ? जितना जो कुछ सुधार है वह अपने आपमे इस परिणमनसे होता है। प्रत्येक वस्तु अखण्ड है, अपने स्वरूपमात्र है।

उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक वस्तुस्वभाव—प्रत्येक वस्तुमे यह स्वभाव पडा हुआ है कि बने, बिगडे और बना रहे। यदि कुछ है तो उसमे ये तीन बातें नियमसे होगी, ऐसा जगत मे कोई पदार्थ नही जो बनने, बिगडने और बना रहने इन तीनमे से एक जिसमे कम हो ऐसा कोई पदार्थ नही है। है कुछ तो उसकी सकल सूरत होगी। कोई दशा अवस्था तो रहेगी, कुछ दशा नही कुछ अवस्था नही तो वह सत् नही। यद्यपि सत् भाव पदार्थमे

सामान्यदृष्टिसे जो शाश्वत पदार्थ निरखा जाता है उस तत्त्वकी अवस्थाका बिगाड नहीं है, लेकिन वह तत्त्व पृथक्भूत सत् तो नही है। एक ही सत्मे हम उसके सामान्यतत्त्वका अवलोकन करते है, पर इतना ही मात्र तो वह द्रव्य नही है। द्रव्यका वह भी एक अश है तो उत्पाद व्यय और ध्रौव्यके बिना कोई पदार्थ रह नही सकता। हम भी अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यमे हैं, सभी अपने अपने परिणमनसे परिणमते है। तो मैं न परिणमूँ दु खरूप और कोई मुझे दु खी बना दे ऐसा तो होता ही नही है। मैं न परिणमूँ सुखरूप और कोई मुझे सुखिया बना दे ऐसा भी कभी नही होता है।

वस्तुस्वरूपके अपरिचयसे अनर्थ कल्पनायें-- वस्तुस्वरूपसे अपरिचित पुरुष यह मेरा है, यह दूसरेका है, यह मेरा है यह गैर है इस प्रकारके विकल्पोमे खुशी माना करते है, किन्तु है क्या ? जगतमे बाह्यमे अपने लिए सारभूत कुछ तत्त्व नही। धन जोड लिया, पर उस जुडे हुए धनसे आत्माको क्या लाभ हो जायेगा। कोई कहे कि शान्तिपूर्वक जिन्दगीका गुजारा तो चलेगा तो जिन्दगीका गुजारा चलनेके लिए कोई वैभवकी सीमा नियत है क्या कि इतना वैभव हो तो जिन्दगीका गुजारा भली प्रकार चलता है। कोई कितने धनमे ही सन्तुष्ट है, कोई कितने ही द्रव्यमें अपने गुजारे की कल्पना करता है। कोई कहे कि वैभव होने से लोकमे इज्जत तो होती है, लोग तो मानते है कि ऐसी जिनकी दृष्टि सकुचित है इस दृश्यमान लोकको ही अपनी सारी दुनिया मान लेते है ऐसे अज्ञानी पुरुष तो यह विकल्प चलाते है और जिनकी समझमे आया है कि दुनिया तो असंख्यात योजनोकी है और यहाँ तो एक उत्पन्न हो गए हैं, इसके बाद फिर कोई सम्बन्ध नही है, कहाँसे कहा चले गए। इस जीवतत्त्वके लिए यहाकी नामवरीमे लाभ कुछ नही है, बिगाड ही सारा है। किसी दार्शनिकने तो इसी कारण सर्वपापोकी जड नामको बताया है।

पर्याय बुद्धिके त्यागमें अहिंसा--कर्मोके आस्रवमे कारण नाम प्रत्यय आदिक बताये गए है, तो जो नाम आपका रखा गया है वह यदि शुरूसे न रखा जाता, कुछ दूसरा नाम रखा गया होता तो क्या ऐसा हो नही सकता था ? फिर आपका यह नाम है यह कहाँ खुदा हुआ है ? और कितनी कल्पनाभेदकी बात है कि वे ही तो १६, ३६ अक्षर और उनका ही उलट फेर करते है और खरबो आदमियोके नाम एक दूसरेसे न मिलें इतने नाम धर लिए जाते हैं। तो नामका इस जीवसे सम्बन्ध नही है, नामवरी भी चाहकर पाकर इस आत्मा को मिलता क्या है ? इन सब बातोको विचार कर कुछ अपने स्वरूपमे मग्न होनेका यत्न करना चाहिए। बाह्यमे तो ये सब प्रकट असार बाते है। अपना शुद्ध ज्ञानस्वरूप स्वानुभव मे बना रहे इससे उत्कृष्ट और कुछ भी पुरुषार्थ नही हो सकता। जो ऐसा नही कर सकते वे अपनी हिंसा कर रहे हैं और जो परजीवोकी हिंसा करते है वे और विकट हिसामे पहुंच

गए है। हिंसा नरकमे प्रवेश करनेका द्वार है और अपने आपके विनाश किए जानेके लिए यह हिंसा कुठार और शस्त्र जैसा काम करती है। हिंसासे दूर रहे और अहिंसक ज्ञायक-स्वभावकी दृष्टि करें यही हितकारी धर्मकार्य है।

क्षमादिपरमोदारैर्यमैर्यो वर्द्धितश्चिरम्।
हन्यते स क्षणादेव हिंसया धर्मपादप ॥४८१॥

हिंसासे धर्मवृक्षका नाश—जो धर्मरूपी वृक्ष उत्तम क्षमा आदिक वडे उदार नियम सयमसे बहुत कालमे वृध्यंगत् किया है वह धर्मरूपी वृक्ष इस हिंसारूपी कुठारसे लक्षणमात्र मे नष्ट हो जाता है। जहा हिंसा होती है वहाँ धर्मका लेश भी नही है, अव इस बातको व्यवहारमे भी घटा लो और परमार्थमे भी घटा लो। जिस धर्मको वहुत प्रयत्नोंसे बढाया गया है और किसी क्षण मूर्छा विकार कठिन उत्पन्न हो जाय तो वह धर्मवृक्ष क्षणमात्रमे नष्ट हो जाता है? व्यवहारमे भी देख लो—कडे नियम सयमसे जो जीवन व्यतीत किया है और धर्ममय जीवन किया है कभी संकल्पवश किसी जीवका विघात कर दिया जाय तो सारा कमाया हुआ धर्मवृक्ष क्षणमात्रमे नष्ट हो जाता है। जीवके साथ कर्मोकी उपाधि लगी है औरकब किस भावसे कर्म बन्धे थे उनमे से कैसे कर्म उदयमे आ रहे हैं उनका जब प्रावल्य होता है तो फिर इस जीवमे न्यूनता आती है। ऐसे प्रसंग अनेक बार होते हैं। उन प्रसगोमे भी अपने को संभालना यह वडा भारी पुरुषार्थ है। और एक कठिन वात यह भी है कि जैसे आज कर्मबंध किया और आगे मान लो १० हजार वर्ष तकके और कर्म बंधे, मान लो १० करोड परमाणुवोका वर्गणावोका तो कुछ समय वाद उसकी उदय रचना बन जायेगा और वह रचना इस तरह बन जायेगी कि मान लो दो दिन तक तो उदयमें न आये और दो दिन कम १० हजार वर्ष तक उदयमे आता रहेगा तो पहिले बहुत वर्गणाये उदयमे आयेंगी, उसके वाद कम कम वर्गणायें उदयमे आयेगी। और, अन्तिम १० हजार वर्ष जब समय होगा उस समय बहुत कम कर्मवर्गणायें उदयमे रह जायेंगी, लेकिन जब ज्यादा वर्गणायें उदयमे आरम्भमे हैं तो जीवको फल कम भोगना पडता है। और जैसे जैसे अन्तमे कम वर्गणायें रह जाती है वैसे ही वैसे फल विकट होता जाता है, ऐसी प्रकृति है कर्मोंमे। तो इस तरह इस ओर दृष्टि देना है कि हमारे पहिले तो कर्मबंध होगे उनमे बहुतसे खिर गए, मगर जो रह गए वे यद्यपि सख्यामे तोथोडे हैं मगर फल देनेमे विकट हैं और ऐसे समयमे बडी-बडी साधना करना पडता है और कभी ऐसा उदय आ जाय और उसका निमित्त पाकर यह जीव फिसले तो ऐसा फिसल सकता है कि फिर सागरो पर्यन्त ससारमे चक्र लगाये। सदा ज्ञानी विरक्त पुरुषोका सत्सग मिले तो यह बहुत बडी भारी विभूति है।

ज्ञानकी सावधानीमें सम्पूर्ण समृद्धि—ज्ञानकी संभाल ज्ञानकी सावधानीमे सब समृद्धियां भरी हैं और एक ज्ञानकी सभाल नही है तो करोडो का भी वैभव आये तो भी आनन्द और प्रसन्नता तो उसके नही सह सकती। जिस विधिसे ज्ञानकी संभाल रहे वह विधि बने, उससे बढकर सौभाग्य और कुछ नही है। जब हम स्वाध्याय करते हैं वह भी एक सत्संगका रूप है। अकेले ही पढ रहे हैं मगर जिनकी कृति हम पढ़ रहे हैं उनका संग है। शरीरका सग नही रहा, किन्तु उनकी यह वाणी है और उनका जो हृदयका भाव है वह सब इसमे से हम जान लेते है। तो हम उनका ही सग करते रहे। जैसे जब कभी किसी स्वर्गवासी पुरषकी चर्चा करें और वह चर्चा दिलसे गहरी हो जाय तो उस पुरुषसे मिलन जैसा हो जाता है। तो स्वाध्यायमे भी सत्सग बसा हुआ है। तो यह धर्मवृक्ष जो वडे उद्यमसे अब तक संभाला गया, बढाया गया वह धर्मवृक्ष हिंसारूप कुठारसे क्षणमात्रमे नष्ट हो जाता है। जहाँ हिंसा होती है वहाँ धर्मका लेश भी नही होता।

तपोयमसमाधीना ध्यानाध्ययनकर्मणाम्।
तनोत्यविरतं पीडा हृदि हिंसा क्षणस्थिता ॥४८२॥

अहिंसक वृत्ति बिना सब निरर्थक—तप, यम, समाधि, ध्यान, अध्ययन आदिक कार्योमें यह हिंसावृत्ति निरन्तर बाधा देती रहती है। क्रोधादिक परिणाम किसी भी कारण से एक बार भी उत्पन्न हो जायें तो उसका सस्कार स्मरण बना रहता है तो चित्तमें बहुत काल तक व्यग्रता रहती है। अनेक प्रसग ऐसे हो जाते हैं व्यर्थके कि जिनमे कोई तत्त्व नही, लाभ नही, बात-बातमे क्रोध आ जाय तो उस समय भी क्लेश पाया, सो ठीक है, पर बादमे भी स्मरण बना रहता है। उसके प्रति संस्कार बना रहे तो वह बादमे भी पीड़ा देता रहता है। इस तरहका संस्कार जिसके ६ माहसे अधिक नही रह सकता वह तो है अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, और जिसके १५ दिनसे अधिक न रह सके वह है उत्तम श्रावक और जिसके अन्तमुहूर्तसे ज्यादा न रह सके वह है मुनि, और जो वर्षों अथवा भव-भव तक उस क्रोध कषायका संस्कार लिए रहता है वह है मिथ्यादृष्टि।

कषाय प्रवृत्तिमें जीवका हित नहीं—हिसा महा अनर्थकी चीज है। सभी कषाय जीव का अनर्थ ही करते हैं। किसीके प्रति क्रोध कर डाला तो उससे खुदको मिला क्या ? खुदमें निहारे कि हममे कौनसी बात नई मिल गयी, समृद्धि हो गयी, तो वहाँ कुछ नजर नही आता। हो गया क्रोध। यह ही तो अविवेकका काम है। घमंडका परिणाम बन गया, मान कषाय कर ली तो जरा देखे तो सही कि इसमे आत्माको मिल क्या गया ? कौन सी समृद्धि बन गयी ? थोडा यह कह लो कि लोगोंके चित्तमे तो कुछ कदर हो गयी। तो लोगों के चित्तकी भी कौन सही जाने, कदर हुई या नही। दूसरी बात यह है कि कुछ लोगोंने

कह दिया थोडा अच्छा तो, उतने शब्दोसे यहाँ कौन सा पूरा पड गया ? कौन सी बात सभल गयी ? माया कषायमे मनमे कुछ है, वचनमे कुछ है, करते कुछ हैं, ऐसा जिसका विचार है, व्यवहार है तो इस व्यवहारके करने वाले को भी देखो कि इतनी उलझनें बनाने के कारण पाया क्या उसने ? व्यवहारदृष्टिसे भी कुछ नही पाया और परमार्थसे तो कुछ पाया ही नही। लोभ कषायमे बहुत बढ जाय, बहुत वैभवका सञ्चय करले तो उसमे भी क्या पाया ? मान लिया कि मेरा है बस जिन्दगी व्यतीत हो रही है। दुनियाके तो लोग मायारूप है, उनको हम क्या बताये, उनको कुछ बडप्पन बतानेसे हमारा कुछ पूरा पडता है क्या ? किसके लिए इतना सञ्चय होना ? तत्त्वकी बात बतावो। अब भी ऐसे श्रावक मौजूद है जो धन कमानेकी ओरसे, बिल्कुल उदासीन है। वे चाहते ही नही कि हमारे कुछ धन बढे या रहे और जो व्यापार कर रहे थे दसो प्रकारके तो यह सोचकर कि उपभोगमे तो केवल दो रोटी और दो कपडे ही आते। उनका आशय सुना रहे हैं जिन्होने ऐसा किया है और बडे-बडे आरम्भ व्यापार छोड़ दिया। सामान्य तौरसे गुजारा पसद किया। यह सब श्रद्धाकी बात है। जब दृष्टिमे यह बात आती है कि जिनके लिए यह धन सञ्चय करते उन्हे भी छोडकर जाना है, कौन मेरा मालिक है, कौन प्रभु है, कौन हमारे काम आ सकता है ?

बाह्य उलझनोंमें असारता—जब यह दृष्टि बन जाती है कि किसको क्या बताना, इन बाह्य उलझनोमे तो सार कुछ नही मिलता किन्तु स्वाध्यायमे ध्यानमे, सत्संगमे अपना अधिक समय व्यतीत हो, उपयोग निर्मल रहे तो इसमे प्रसन्नता और कर्मक्षय, भविष्यमे धर्मका सुयोग ये सब प्राप्त होते हैं। दुनियाकी प्रवृत्ति देखकर अपनेको भी उसी कषायमे मे बढ़ाये ले जाना यह तो ऐसा काम हुआ कि दुनियाकी वोट अधिक हुई, जिसका ज्यादा वोट है उसके अनुसार कार्य करने लगे। अच्छा यह बतावो कि दुनियामे अज्ञानी जनोकी सख्या अधिक है या ज्ञानीजनो की ? अज्ञानियोकी सख्या अधिक है। मोहियोकी सख्या अधिक है। यदि दुनियाकी वोट लेते हो तो उन मोहियोकी अज्ञानियोकी ज्यादा वोट मिलेगी उससे तो अपना पथ नही बनाना चाहिए। वह उद्धारका पथ नही है। वह तो इनका पथ है कि वे वोट देने वाले कहते है कि जहाँ हम चल रहे हैं वही तुम चलो, जहाँ हम गिर रहे है वही तुम गिरो।

हितकारी पन्थ अपनानेकी प्रेरणा—चारो कषाये मंद हो और ज्ञानकी धुन हो फिर अपना जो जीवन व्यतीत हो ज्ञानकी धुन हो फिर अपना जो जीवन व्यतीत हो ज्ञानध्यान संयमसहित वह ही कार्यकारी जीवन है। और, ऐसा कोई यदि करे, हिम्मत बनाये तो उदयमे जो है सो तो होगा ही। जिसको राज्यका उदय हुआ है और राज्यसे हटा भी दिया जाय, कही भगा भी दिया जाय तो और जगह जाकर भी कोई सुयोग ऐसा मिलता कि वह

राजा बन जाता है। तो उदयानुसार जो होता है हो पर अपना उपयोग किस ओर होना चाहिए, किसमें हित है, किसमे सार मिलेगा, किसमे प्रसन्नता जगेगी वही पंथ अपनाना चाहिए। जिस क्षण जहाँ भी हो दुकानमे हो, घरमें हो, सत्संगमे हो, जिस किसी भी क्षण समस्त बाह्य पदार्थ असार जंचनेके कारण उनका उपयोग हटा हुआ बन जाय।

कर्मक्षयका उपाय ज्ञानरूप वृत्ति—अपने अमूर्त निर्लेप शुद्ध ज्ञानज्योतिके स्वरूपका अनुभव करने लगे तो उस कालमे अपनेको जैसी निर्जरा निर्विकल्प निर्दोष ज्ञानप्रकाशमात्र अनुभव करते हैं उस अनुभवमे अद्भुत तो आनन्द है और भव-भवके संचित कर्म ऐसा हट जाते हैं जैसे बहुत कूडे के ढेरको अग्निकी एक कणिका भष्म कर देती है। है क्या यहाँ? ज्ञानसे चिगे, अज्ञानरूप परिणमन किया उसके कारण ही कर्म बंध गए। तो जब अज्ञानरूप परिणमन न किया जाय और ज्ञानरूप वृत्ति बने तो उन कर्मोंके क्षय करने में कठिनता, परिश्रम क्या है? वह तो २×२=४ जैसी गणित है। अज्ञान किया तो कर्म बंध गया, ज्ञान भाव रखा तो कर्म अपने आप झड गए उसमे कर्मोंके झडनेका और क्या श्रम करना? तो यह जो विकाररूप हिंसा है अथवा व्यवहारिक हिंसा है इस विकाररूप हिंसाका परिणाम तो ध्यान आदिक को नही होने देता।

विकारी परिणमनमें पछतावासे आत्मबलमें वृद्धि—अविकारी भावकी उपासना करना, अविकारी भावके लिए लालसा रखना, अविकारी भावसे च्युत होने पर पछतावा होना ये सब कर्म निर्जराके ही कारण है। पछतावामें बहुत बडा बल होता है। कोई पाप कार्य कर लेने पर यदि हृदयसे पछतावा रखते है तो उसमे आत्मबल भी बढता है और कर्मक्षय भी होता है और इसको तो कोई लोग कथानकमे यह मानते है कि गुरुसे या प्रभुसे या प्रभुसे भी पहिले पाप करने वाला शिष्य निर्वाणको प्राप्त हुआ। किस बलसे कि पाप का इतना तीव्र पछतावा किया कि अपने को इतना निर्भार अनुभव किया कि उसका निर्वाण हुआ। यदि वास्तविक पछतावा है तो उसमे बडा बल होता है।

अहो व्यसनविध्वस्तैर्लोक पाखण्डिभिर्बलात्।
नीयते नरकं घोर हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥४८३॥

दया बिना व्रतादि की व्यर्थता—बडे आश्चर्यके साथ आचार्यदेव कह रहे है कि देखा किसी ने दयामयी धर्म, किन्तु विषयकषायोसे पीडित पाखंडियोंने, हिंसाका उपदेश देने वाले पाखण्डी विद्वानोने शास्त्रोंको रचकर जगतके जीवोको बलात्कार नरकोंमे ढकेला यह बडे आश्चर्यकी बात है। धर्म दयामय है। व्यवहारमे भी दया हो वहाँ धर्म है, परमार्थसे दया हो वहाँ धर्म है। दयाशून्य वृत्तिमें धर्म नही। कोई साधु प्रकृतिमे तो निर्दय हो और अपना व्रत तप बडी सावधानीसे पाले, जीवहिंसा भी न होने दे, पासके मुनिको, श्रावकको,

किसीको भी उच्चरूपसे न देखे यह दयाहीन की प्रकृति होती है। अपने को महत माने, औरोकी परवाह न करे; दूसरे कैसी ही तकलीफमे रहे, हम ऊंचे है, हमारी बात इन सबको मानना चाहिए, हमे इतना ऊचे रहना बैठना चाहिए, इनसे ऐसी भक्ति कराये, यह तो हमारा काम है, ये लोग तो इसी तरह हैं मानने वाले। इस प्रकारकी जो एक दयाहीनकी शैलीका भाव है यह भाव रहे तब व्रत कितने ही ऊँचे करें तो वहाँ महत्त्व नही है। दयाहीन पुरुष बडी तपस्या भी करे तो उसकी दुर्गति है और दयालु पुरुष अगर व्रतरहित भी है तो दयाका ऐसा माहात्म्य है कि उसकी सुगति होगा, स्वर्गकी आशा होना आसान है।

त्याग बिना गुजारा नहीं— त्यागे बिना किसीका काम नही चलता। कोई कजूसी कर ही नही सकता। कजूसी करे तो मरे और रुले। भोजन भी कोई करता तो कजूसी करता रहे, भोजनको पेटसे न निकाले तो क्या हाल होगा ? ग्रहण ग्रहण तो कोई कर ही नही सकता। मान लो धनका संचय ही सचय करते रहे तो फायदा क्या होगा ? मरकर वही साँप हो जायेगा जिस जगह धन रहेगा। (हसी) फायदा कुछ न होगा, बल्कि सारा बिगाड ही है।

रौरवादिषु घोरेषु विशन्ति पिशिताशना।
तेष्वेव हि कदर्थ्यंन्ते जन्तुघातकृतोद्यमा ॥४८४॥

जीवघातियों को नरकोंकी वेदनाकी प्राप्ति—जो मासभक्षी लोग हैं वे दयाहीन ही हैं क्योकि माँस प्राणघातके बिना उत्पन्न होता ही नही। जो माँस खाते हैं वे अनेक जीवो के प्राणघातक है ही, इसमे कुछ सन्देह नही है। ऐसे मासभक्षी लोग घोर नरकोमे सप्तम नरक तकमे प्रवेश करते है और जो जीवघात करनेका उपदेश देते है वे तो अपना भी घात करते हैं और दूसरे जीवोका भी घात करते है। वे उन शिकारियोसे भी अधिक पापी हैं। कोई पुरुष दूसरे जीवोका घात करता है उसने पाप किया और किसीने ऐसे शास्त्र रच दिया कि जिससे लोग हिंसामे बढ जायें तो उस शास्त्र रचाना-वाले ने उससे भी अधिक हिसा की। शास्त्र रचने वाले पर देशका भवितव्य निर्भर है। आजकलके जमानेमे तो जो शास्त्र रचने वाले हैं, लिखने वाले हैं वे अधिक उपकारक भी हो सकते और वे चूक जायें या बेईमानी करके कुछ अनर्थ लिख जायें तो अधिकसे अधिक अपकारक भी हैं। धर्मके नामपर कोई वितंगावाद उठा दे तो सारी समाज के भी लोग विरोधी बनकर सारे समाज को बरबाद कर सकते हैं। शास्त्रकारोकी बहुत बडी जिम्मेदारी है। तो जो हिसा आदिक उपदेशोके शास्त्र रच गए हैं वे पुरुष स्व परके घातक हैं और नरकोके ही पात्र है। वहाँ ही दूसरे जीवोके द्वारा उस उस प्रकारसे सताये जाते हैं। उनके ही हाथ पैरके खण्ड खण्ड करके, चूर चूर करके उनके ही मुखमे डाला जाता है, अनेक उपद्रव किये जाते हैं और

फिर भी अनर्थ यह है कि मरण नहीं होता। खण्ड-खण्ड देहके हो जाये फिर भी पारेकी तरह जुड जाते और फिर नवीन हो जाते है। ये सब हिंसा करने वाले और हिंसाका उपदेश देने वाले लोग इस प्रकारसे नरकोमे दुःख भोगा करते हैं।

शान्त्यर्थं देव पूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभि ।
कृत प्राणभृता घात पातयत्यविलम्बितम् ॥४८८॥

हिंसासे दुर्गति—अपनी शान्तिके लिए अथवा देवपूजाके लिए या यज्ञके लिए जो प्राणियोका घात किया जाता है यह घात घातकको शीघ्र ही नरकमे डाल देता है। किसी समय जीवबलिकी बडी प्रथा थी और उसका कुछ-कुछ शेष नाम अब भी चल रहा है। व्यामोही जीव आशक्त अथवा मूढजन अपने आत्माकी शान्तिके लिए पशुवलि किया करते थे अथवा प्रभुपूजाके नाम पर या यज्ञके नाम पर जीवघात किया करते हैं। यह जीवघात जीवोको नरकमे ले जाने वाला है। एक तो जीवहिंसा और धर्म और परिजनके नामपर जीवहिंसा। सकल्प भी हो गया और मिथ्या आशय भी बन गया तो यह घात इस जीवको दुर्गतिमे ले जाता है। यह ज्ञानार्णव ग्रन्थ है, इसमे ध्यानकी मुख्यतासे वर्णन है। ध्यानके मुख्य तीन अग है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जो एक आवश्यक है वैसे ध्यानके लिए बाह्य प्रयोग प्राणायाम दान संयम आदिक भी किए जाते है पर जो अनिवार्य अग है, जिसके हुए बिना ध्यानसिद्धि होती ही नही है वे अनिवार्य अंग ये तीन है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जिसमे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका तो वर्णन किया गया है यह सम्यक्चारित्रका वर्णन है, उसमे कह रहे है कि अहिंसाके विरुद्ध जो जीव शान्तिके लिए, देवपूजाके लिए, यज्ञके लिए प्राणियोका घात किया जाता है यह घात हिंसासे दुर्गतमें पटक देता है।

हिंसैव दुर्गतेर्द्वार हिंसैव दुरितार्णव ।
हिंसैव नरक घोर हिंसैव गहन तम ॥४८६॥

भावहिंसासे कर्म बंधन—हिंसा दुर्गतिका द्वार है, जैसे द्वार होता है शीघ्र प्रवेश करनेके लिए, जिसमे कुछ रुकावट न हो हिंसा जहाँसे आसानीसे प्रवेश कर जाय उसका नाम द्वार है। तो दुर्गतिमे आसानीसे प्रवेश पाना हो तो वह है हिंसा। हिंसा ही पापका समुद्र है अर्थात् इसमे पाप बहुत भरा और बसा हुआ है। हिंसा दो प्रकारकी होती है-भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। भावहिंसाका ही नाम परमार्थसे हिंसा है और भावहिंसासे शीघ्र बाह्य हिंसाकी जानकारी कराने वाली है द्रव्यहिंसा। भावहिंसाके बिना जीव द्रव्यहिंसामे प्रवृत्ति नही करता, पर कदाचित् ऐसा तो हो सकता है कि द्रव्यहिंसा हो जाय और भावहिंसा न हो, लेकिन द्रव्यहिंसाकी जो प्रवृत्ति कोई करेगा वह भावहिंसाके बिना नही करता। हिंसा

लगती है भावहिंसासे ही। बाहरमे तो जीव है, एक स्पर्श हुआ दबा गया। इस हिंसकको पापका बंध हुआ कहाँ ? जो खुदका अंतरङ्गमे परिणाम हुआ उस परिणामसे उसका बंध हुआ, पाप लगा, तो जो भावहिंसा करता है वह पापका समुद्र तो है ही।

हिंसा ही घोर नरक--हिंसा ही घोर नरक है। कही बडी मारपीट हो जाय, लाठी तलवार चल जाय और भयकर वातावरण सा दिखता है, दार्शनिक लोग भी खूब इकट्ठे हो जाते हैं तो कहते है कि यही है साक्षात् नरक। तो यहाँ भी यह अदाज होता है कि जहाँ बहुत हिंसा हो, बडी मारकाटका दृश्य हो तो लोग उसे नरककी उपमा देते हैं, तो जिसकी उपमा दी जाती है वहाँ तो और अधिक काम होता होगा। नरकगतिमे ऐसी प्रकृति है कि एक दूसरेको देख करके सुहाता ही नही है। जैसी कुत्तेकी प्रवृत्ति होती है। कुत्ता कोई दिख जाय तो उस पर वह कुत्ता टूट पडेगा। ऐसी ही उनकी जन्मजात प्रकृति है कि कोई नारकी दिखेगा तो उस पर वह नारकी टूट पडेगा और वहाँ मारने पीटनेकी हथियार भी शरीरमें बसे हैं। ऐसी विक्रिया है कि जिस शस्त्रसे मारना चा । उस शस्त्ररूप हस्त आदिक परिणम जाते है। जैसे कोई क्रूर मनुष्य हो तो वहुत कुछ चीजे तो उसके हाथमे अब भी बन जाती है। चाहे मुट्ठी बाँधकर मुक्का मार देना, थप्पड बना देना, कटोरी बना लेना, चम्मच बना लेना, समसी बना लेना, ऐसी सब बातें तो यहाँ हम आप मे विना विक्रियाऋद्धिके पायी जाती है। वहा तो सभी विक्रिया है, सोचते ही उनके हस्त आदिक शस्त्ररूप परिणम जाते है। तो हिंसा ही एक घोर नरक है, हिंसा ही महान् अंधकार है, समस्त पापोमे मुख्य हिंसा ही है। जितनी खोटी उपमायें हैं सब हिंसासे लगती हैं।

दया बिना धर्म नहीं--जिसका चित्त क्रूर होता है, जिसके चित्तमे दया नही बसी है उसमे धर्मका प्रवेश नही होता। सर्वप्रथम इसीलिए दयाको धर्म बताया है। यद्यपि परमार्थत धर्म तो आत्माके सहज स्वभावकी दृष्टि और सहज स्वभावका उपयोग होना है, पर ऐसा परमार्थधर्म जिन्हे प्राप्त होना है उनकी प्रकृति कैसी हुआ करती है वह भी तो स्पष्ट समझना चाहिए। उनकी प्रकृति अव्यसुतावी हुआ करती है। जैसे कोई गर्व करके विद्या नही सीख सकता। किसी को छोटे कारीगरसे भी कोई विद्या सीखनी हो तो चाहे उसे कुछ मेहनत देकर नौकरी देकर भी सिखाया जा रहा हो, लेकिन अबेन्तबेकी बातें करके वहा वह भी विद्या नही आती, ऐसे ही कठोर चित्त होकर किसी भी धर्मकी पात्रता नही है। चित्तका नम्र होना, दयामयता होना ये सब बातें धर्मात्मावोमे प्रथम अनिवार्य है।

पदार्थकी स्वतंत्रताकी झांकी आनेमें शान्ति--तो हिंसाका परिणाम छूटे, क्षमा भाव आये, वहाँसे इसके चारित्रके अकुर उत्पन्न होने लगते है और जिसका कषायरहित अथवा मदकषायी जिसका परिणमन है और सम्यक् प्रकाश है, वस्तुके स्वतत्रस्वरूपका प्रतिवोध है,

जिसकी दृष्टिमे कुछ भी देखते ही यह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमात्र है, किसी भी पदार्थ का गुणपर्याय प्रभाव असर द्रव्य, क्षेत्र, प्रदेश कुछ भी स्वरूपमें कहांसे जगेगा ? जो जिसमे तन्मय है, जो जिसका स्वरूप है वह उस ही में तो रहेगा। उपादान जब कभी विभावरूप परिणाम रहा है तो उपादानमे स्वयं ऐसी कला पडी है कि वह किसी पदार्थको सन्निधान पाकर किसी रूप परिणाम जाय, यह बात उपादानमे पडी हुई है निमित्त तो जैसा है यह उस अपने रूपसे पडा हुआ हैं। उपादानमें तो यह कला है कि वह किसी पदार्थका निमित्त पाकर किसी रूप परिणमे। जैसे हम चौकी पर बैठ गए तो चौकी तो थूलमथूल अपनी शक्तिमे मजबूती लिए पडी है। यह हममे कला है कि हम इसका निमित्त पाकर इस तरह बैठ गए। पर निमित्तभूत पदार्थसे उपादानमे कुछ भी परिणमन आता हो ऐसा कभी होता नही है। तो जहा पदार्थ देखते ही उसकी स्वतत्रता झाकीमे आ जाय तो ऐसा जिसका शुद्ध श्रद्धान है और ज्ञान है और ऐसी दयालुताकी अपने स्वभावकी ओर ढलनेकी जिसकी प्रकृति है ऐसे पुरुषोके उत्तम ध्यानकी सिद्धि नही होती है।

नि स्पृहत्व महत्त्व च नैराश्यं दुष्करं तप ।
कायक्लेशश्च दानं च हिसकानामपार्थकम् ॥४८७॥

हिंसकके व्यवहारिक धर्मकी निष्फलता—जो हिंसक पुरुष है उनमे व्यावहारिक कुछ भी धर्म किये जाये तो भी वे व्यर्थ है, अर्थात् निष्फल है। हिंसक पुरुषोमे बाह्य पदार्थो की चाह भरी है तो मूलमे तो हिंसाका परिणाम बसा हुआ है, अज्ञान और क्रूरताकी बात पडी हुई है, बाहरमे निष्प्रहताका श्रृङ्गार कहाँ बिराजेगा ? तो उसकी निष्प्रहता भी निष्फल है। हिंसक पुरुषका महत्त्व भी निष्फल है। किसी विद्या कलासे या व्यवहारकी चतुराईसे लोकमें महत्ता बढ जाय, किन्तु जो क्रूर चित्त है अज्ञान अधकारसे दबा हुआ है ऐसे पुरुषका महत्त्व क्या महत्त्व है ? आज मायारूप लौकिक कुछ बात है पर यह वर्तमान मे भी कुछ तत्त्व नही रखता और इसका भविष्यकालमे तो प्रभाव ही क्या रहेगा। तो हिंसक पुरुषका महत्त्व निष्फल है। हिंसक पुरुषमे नैराश्य गुण भी आ जाय, आशा रहित हो, किसीकी आशा न करे इतनी एक स्वतत्र प्रकृतिका होना यह भी गुण आ जाय, लेकिन जो हिंसक पुरुष है, मूलमे क्रूरता बसी है उसका नैराश्य भी क्या फल देगा ? हिंसक पुरुष क्रूर चित्तपर दुस्तर तप भी करे जो भावमे हिंसा है और द्रव्यमे भी हिंसा अहिंसाका कुछ विवेक जिसके नही है ऐसा यह साधुत्व ग्रहण करके बडी दुस्तर तपस्यावोको भी करे लेकिन वे उनके तप शान्तिमार्गके साधक नही है, निष्फल है, बडे बडे कायक्लेश भी करे, कीली पर जो बैठ जाय, यो बडे बडे कायक्लेश दिखाये और चित्तमे कहो इतनी क्रूरता बसी हो कि जो कार्य कोई दुष्ट पुरुष कर सके उस कार्यको भी कर दे।

क्रूर आशय वालोंके ध्यानसिद्धिकी अपात्रता—तो ऐसे क्रूर चित्त वाले पुरुष बडे बडे काय क्लेश भी करे तो भी वे निष्फल है, इसी प्रकार उनका दान भी है। क्रूर आशय बसा हुआ है और दान भी वह करे तो उसके उत्थानकी दृष्टिसे वे सब निष्फल है। मूलमे चाहिए अहिंसा परिणाम। जैसे कोई पुरुष नाराज होकर गाली देकर किसीको कुछ दान करे तो लोकमें भी उसका महत्त्व कुछ नही रहता है। जैसे कोई भिखारी आता है तो उससे कोई यो अपशब्द बोल दे कि जावो जावो यहाँसे, तुमसे भगवान नाराज है तो हम क्यो तुम्हे कुछ दान देकर भगवानको नाराज करे? चाहे किसी भी शब्दोमें कहलो, आशयमे जिसके क्रूरता है उसके दान आदिक सब निष्फल है। सद्व्यवहार सत्चारित्रका होना चाहिए। इसके विरुद्ध व्यवहार हो तो एक शल्य बनती है और ध्यानसिद्धिकी पात्रता नही रहती है।

कुलक्रमागता हिंसा कुलनाशाय कीर्तिता।
कृता च विघ्नशान्त्यर्थं विघ्नौघायैव जायते ॥४८८॥

हिंसासे विघ्नोंमें अतिवृद्धि—जो कुल क्रमसे हिंसा चली आयी है वह हिंसा उस कुलके नाश करनेके लिए कही गयी है। लोग तो यह सोचते है कि हिंसा तो हमारी कुल परम्परासे चली आयी है, इसे यदि हम छोड दें, न करे तो हमारा कुल मिट जायेगा, सो अपने कुलकी रक्षाके लिए तो वे हिंसामे प्रवृत्ति करते है, मगर इस हिंसासे ही उनके कुल का नाश होता है। इस प्रकार कुछ लोग विघ्नोकी शान्तिके लिए हिंसा करते हैं, तो वे हिंसा तो करते हैं विघ्नोकी शान्तिके लिए, पर हिंसा तो स्वय विघ्नस्वरूप है, उससे तो और विघ्न सामने आते है। अनेक अवसर ऐसे आते हैं कि जिनमे मनुष्य किंकर्तव्य-विमूढ हो जाता है, क्या करे, बुद्धि नही चलती, ध्यान नही टिकता, बडे क्लेश अनुभव करता है।

क्लेशोंसे मुक्तिका उपाय ज्ञानदृष्टि—सब क्लेशोसे क्षणिक समयको भी छुटकारा पानेके लिए सीधा उपाय यह है कि मैं सबसे न्यारा ज्ञानमात्र हूँ, इस ओर ही मैं रहूं और सारे विघ्नोको दूर करूं, यह काम निरन्तर भी करता रहू तो निरन्तर करनेके लिए भी यह पडा हुआ है कि मैं अपने स्वरूपको देखूं और इस मात्र ही अपनेको अनुभव करता रहू। बाह्यमे जो कुछ होता हो होने दो, वहाँ मेरा कुछ नही है। मेरा मात्र यह मैं तत्त्व हू, मैं इसकी रखवालीके लिए हू। ऐसा अपने आपकी ओर क्षण भरको भी झुका दे, उस क्षण तो सारे विघ्न दूर हो गए। विघ्नोको यह ज्ञान ग्रहण करे तो विघ्न है अन्यथा बाह्यपदार्थ है, उनका परिणमन उनमे है। जैसे मान लो किसी समय पचासो विघ्न आ रहे है, जिससे नफा सोचा था उसमे नफा नही दिख रहा, अमुक चीजमे टोटा पड रहा,

अमुक अमुक रिस्तेदार हमसे बहुत रूठे है, मेरा अमुक बिगाड करनेको तैयार है, मैं जैसा चाहता हू लोग वैसे चलते नही यो अनेक सकट दिमागमे बस रहे हो और जिससे यह दिल विमूढसा बन गया हो, परेशानी अनुभवमे आयी हो तो क्षणभरको एक मात्र उपाय तो कर लेवे कि जहा जो होता हो होने दो, उनका परिणमन उनमे है, उनसे मेरा क्या वास्ता ? मैं तो सबसे न्यारा शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र हू, आकाशवत् अमूर्त निर्लेप किन्तु ज्ञानानन्दघन स्वरूप हूँ। यह इतना ही रहता है, इसमे कुछ घटता बढता नही, बाकी तो सब कल्पनाएँ है, ऐसा अपने आपकी दृष्टिमे आ जाय कि जो होता हो हो और खूब हो, उससे मेरा कही कुछ नही बिगडता। मेरा मात्र मै चैतन्यस्वरूप हूँ इस ओर थोडा ध्यान आये, विचार आये तो सारे विघ्न एक साथ दूर हो जाते है, फिर विकल्प आये, विघ्न आये तो अब उन विघ्नोमे भी दम नही रही, कारण कि विघ्नरहित शुद्ध चैतन्यप्रकाशमात्र अपना एक बार अनुभव किया ना तो उसका स्मरण तो रहता ही है। उसके प्रतापसे फिर विघ्नोमे वह बल नही रहता। तो विघ्नशान्तिका उपाय तो यह है। इसे न करके बाह्य जीवोका सताना हिसा करना, इससे तो और विघ्न होगे। ये तो बिल्कुल उल्टा काम है। और जो हिसक है उनके विघ्न कभी समाप्त नही होते। लेकिन मोहका ऐसा प्रताप कि जिस हिसाके कारण विघ्न बढ रहे है उसही हिंसाके लिए चित्त चाहता है।

कुलक्रमके नामपर हिंसाका प्रतिषेध—तो किसी भी नाम पर कुल परम्परामे हिंसा चली आयी हो तो भी वह त्याज्य ही है। विघ्नोकी शान्तिके लिए या किसी भी प्रयोजनसे जो हिंसाकी प्रवृत्ति की जा रही हो वे सब त्याज्य है। जिनका हिसक जीवन है उनके धर्म की पात्रता नही जगती है। कोई कहे कि हमारे कुलमे देव देवतादिका पूजन चला आ रहा है जिस देवका ठीक स्वरूप भी नही नजर आ रहा उसकी भी पूज्यता है, मगर जो बाप दादा करते चले आ रहे है वही हमे करना है। विवाह आदिक प्रथावोमे कुछ थोडा बहुत एक दूसरेकी पृथामे किसी न किसी बातमे अन्तर रहता है। कोई किसी नामकी भी मान्यता कर लेते है, तो ये पृथाये क्या है, उसमे कुछ तत्त्व नजर आता हो तो उस पृथा को रखे, हमारे बाप दादा करते आये, करते आये तो यह तो नही कहा जा सकता कि हमारे कुलमे पूर्वज सभी बडे विवेकी ही थे। कुछ पृथाका दोष भी हो सकता है, अथवा जब यह पृथा चली हो तब इसका सही उद्देश्य क्या था उसे भूल गए हो और पृथाका रूप दूसरा बन गया हो, सभी बातोका सही विचार करके जिसमे अपनी धार्मिकताका प्रोत्साहन मिले वह करना कर्तव्य है। कोई कहे कि हमारे कुलमे तो अमुक देव पुजते चले आ रहे, इसलिए उस देवको प्रसन्न करनेके लिए हम लोग करते है--उससे हमारे कुलकी वृद्धि होती है, ऐसा श्रद्धान करके करते तो है लोग हिंसा और उस हिसासे कुलका नाश होता है।

प्रथम तो यह विचारो कि आपका कुल क्या है परमार्थसे। लमैचू, अग्रवाल, खण्डेलवाल आदिकी बात नही कह रहे है। हमारा परमार्थ कुल है चैतन्य। तो हिंसाके भाव वाला व्यक्ति इस चैतन्य कुलका नाश कर डालता है। फिर यह पाप ऐसा भयकर है कि इसके फलमे लौकिक रूढिका जो कुलबीज है वह भी खतम हो जाता है। तो हिंसा कुलके नासके लिए है, कुलकी वृद्धिके लिए नही है, ऐसे ही हिंसा विघ्नोकी वृद्धिके लिए है, विघ्नोंके नासके लिए नहीं है। हिंसासे विघ्न ही होता, कल्याण नही हो सकता है।

सौख्यार्थे दु खसन्तान मङ्गलार्थेऽप्यमङ्गलम्।
जीवितार्थे ध्रुव मृत्यु कृता हिंसा प्रयच्छति ॥४८६॥

हिंसामे नीचताकी प्राप्ति—सुखके लिए की हुई हिसा दु खकी सतान ही बन जाती है। हिंसा तो कर रहे सुखके लिए पर वह दु खकी परम्परा बनता है। मगलके लिए की हुई हिंसा कुमगल किया करती है। जिन पुरुषोका जीवन हिंसामय है उनका ही तो लोग नीच कुल कहते है। और उससे फिर यह बात बनी कि जिस बिरादरीमे हिंसाकी प्रचुरता है, जिनकी रूढि मजबूत हो गयी, यह किसी अमुक बिरादरीके हैं, अमुक तो इनमे बडा पवित्र है, न हिंसा करता, न शराब आदिकका पान करता तो यह तो लीन हो जाना चाहिए ना। तो अव्यवस्थाके भयसे वह लीन नही किया जाता। क्योकि, समूहकी दृष्टि रखी गयी है। यद्यपि वह व्यक्तिगत अच्छा है। और अपने लाभके लिए है लेकिन परम्परा मे हिंसक, चाडाल आदिक कुलका कोई व्यक्ति पवित्र भी हो तब भी एक अव्यवस्था न बने, इसलिए वह लीन नही किया जाता है। तो नीचता हिंसासे स्पष्ट है। जहाँ हिंसा की प्रचुरता है वहा नीचता मानी गई है।

अहिंसा ही सुखशान्तिका उपाय—जीनेके लिए लोग बलि करते है, हिंसा करते हैं, किन्तु यह हिंसा मृत्युको उत्पन्न करती है। चाहते तो यह कि मेरा जीवन बढ जायेगा। इस हिंसासे पर वह हिंसा ही इसे मृत्युकी ओर ले जाती है। ये सब बातें निश्चयसे समझना। हिंसा जीवके अनर्थके लिए है, अत हिंसासे हटकर क्षमा आदिक गुणोसे अपने को सुसज्जित करना चाहिए। देखो क्षमा, शान्ति गम्भीरता इनमे उपयोग रहेगा तो उसमे बुद्धि विवेक तेज निराकुलता ये सब वृद्धिको प्राप्त होगे। और इन गुणोकी बात आये तो अपनी अशान्ति भी दूर हो जाती है। अपने को शान्त और सुखी रखना हो तो इसके लिए भी कर्तव्य है कि हिंसा आदिक अवगुणोसे बचें और दया क्षमा आदिक रूप अपनी प्रकृति बनायें।

तितीर्षति ध्रुव मूढ स शिलाभिर्नदीपतिम्।
धर्मबुद्धयाऽधमो यस्तु घातयत्यङ्गिसञ्चयम् ॥४६०॥

धर्मबुद्धिसे जीवघात दुर्गतिका कारण—जो अधम पुरुष धर्मबुद्धिसे भी प्राणियोके समूहका घात करते है वे मूर्ख शिलावोके द्वारा समुद्रको तैरना चाहते है, जैसे पत्थरकी कोई नाव बनाये और समुद्रको तैरना चाहे तो क्या तैर सकता है ? असम्भव बात है। इसी प्रकार धर्मके नामपर प्राणियोका घात करे तो उसमे धर्म नही हो सकता है, अधर्म है, पाप है और दुर्गतिके जानेका द्वार है। लोकमे जो भी मनुष्य अन्याय करता है, पाप करता है, भले ही पुण्यके उदयवश इसही भवमे उसका कुफल न मिले, पाप ढक जाय लेकिन पाप का फल कही भी अच्छा नही होना। एक कहावत है कि देर है अन्धेर नही। कर्मोका फल पानेमे देर हो जाय पर अधेर नही है कि उसका फल न मिले। जो मनुष्य जैसा आचरण करता है, चित्तमे जैसी भावना रखता है उसके अनुसार उसही समय कर्मका बंध होता है। और जो कर्म वध गया वह आत्माके साथ रहता है और जब विपाक काल आता है अर्थात् वह आत्मासे निकलनेको होता है तो उस समयमे निमित्तसे इस जीवको सब विभाव सक्लेश कषाय, दुःख आदिक प्राप्त होते है। जिसे अपने आपकी रक्षा चाहिए अपने पर दया करके परिणामोको निर्मल रखने का यत्न करे।

दूसरोंको ठगनेके परिणाममें स्वयका ठगना—जगतमे कोई जीव दूसरेको ठगता नही है। जो ठगनेका परिणाम रखता है वह स्वयं ठगाया जाता है। लोकमे हमारी इज्जत रहे, और पाप कार्य करते रहे गुप चुप तो वह समझता है कि मैं लोगोको कैसा ठगता हू। सबकी दृष्टिमे मैं बडा उच्च बना हू और खूब सुख मनमाना करता हू तो यह अपने आपका ठगना हुआ, दूसरेको कोई क्या ठगेगा। लोगोने यदि जान लिया कि यह बडा अच्छा आदमी है, इज्जत आबरू वाला है, धर्म करने वाला है और हो न ऐसा तो लोगोके ऐसा समझ लेनेसे लोग क्या ठगे ? कुछ भी नही, किन्तु जो अन्याय करता है, मायाचार रखता है वह स्वय ठगा जाता है। उसके ऐसे खोटे कर्मका बंध होता है कि उसका फल जरूर भोगना पड़ता है।

अन्याय न करनेका उपदेश—इस कारण अपने जीवनमें यह निर्णय रखें कि हमे किसी भी व्यक्तिपर अन्याय नही करना है। न्यायपूर्वक ही सब कुछ व्यवहार बनाये। आज केवल एक समस्या ऐसी सामने है कि लोग कहते है कि साहब न्यायसे यदि कोई कमाना चाहे, व्यापार करना चाहे तो व्यापार कर ही नही सकता। जो कुछ कमाये उस पर सरकार को टैक्स देना पडेगा। रहता कुछ नही है, इस कारण ईमानदारी और सच्चाईका अब जमाना नही है, एक सामने लोग यह समस्या रखते है लेकिन इस सम्बन्धमे दो बाते ध्यान देनेकी है—पहिली तो यह कि कोई पुरुष यदि दृढ सकल्पी है कि हमको किसी भी प्रसंगमे कुछ असत्य नही करना है तो चाहे उसे कुछ वर्ष आपदाये आयें इन सच्चाईके

कारण, किन्तु इस सच्चाईके कारण अन्तमे सारा जीवन सुखमय व्यतीत होता है। सरकार भी झुकती है, लोग भी झुकते है और उसका इतना विश्वास बढ जाता है कि जो बडे श्रमसे भी कोई कार्य नही कर सकता उसकी सिद्धि हो जाती है। दूसरी बात यह कि निर्णयमे यह रखे कि प्रजाजनो पर हिसाबके विरुद्ध अन्याय तो न करें। यह बात तो सबमे निभ सकती है, चाहे कुछ कमी हो इस बातकी कि जैसे कि आमतौरसे व्यापारीजन हिसाब-किताब रोकड खाता किया करते है इसलिए भी कि सच्चा न लिखेंगे तो सरकार उसका चौगुना टैक्स बतावेगी इसलिए इस तरह लिखते कि जिससे न्यायविरुद्ध टैक्स न लगे। इस बातसे चाहे कुछ भी करें किन्तु इतना निर्णय तो अवश्य रखे कि हमे किसी पर अन्याय नही करना है। व्यापारसे यदि एक आना रुपया मुनाफा निश्चित किया है तो उतना ही मुनाफा लेना चाहिए। तो यह व्यापारकी बात है, पर लोगोमे ऐसी प्रकृति पड गयी है कि व्यापारमे ही मायाचारकी बात क्या कहे किन्तु धर्ममे, मदिरमे अनेक अनेक प्रसगोमे मायाचारकी प्रकृति रखते है उससे क्या सिद्धि है? लोगोने मेरे बाबत यदि कुछ अच्छा समझ रखा है और मैं हू नही अच्छा तो उन लोगोके अच्छा समझ लेनेसे मेरेको क्या लाभ होगा? तो जो पुरुष हिसा करता है उसे धर्म कभी नही होता। जैसे पत्थरकी नावसे कोई समुद्रको तैर नही सकता ऐसे ही धर्मके नामपर कोई हिसा करे तो उसमे धर्म प्रवेश नही कर सकता।

प्रमाणीकृत्य शास्त्राणि यैर्वधः क्रियतेऽधमैः।
सह्यते परलोके तैः श्वभ्रे शूलादिरोहणम् ॥४११॥

हिंसाके उपदेशकों को नरककी प्राप्ति—जिन अधमपुरुषोने शास्त्रोका प्रमाण दे देकर वध करनेमे धर्म बताया है अथवा जो बध करते हैं वे मृत्यु होने पर नरककी शूलीपर चढाये जाते है। तो जो अज्ञानीजन शास्त्रोका प्रमाण दे देकर कि अमुक शास्त्रमे, पुराणमे यज्ञके समय जीवबध करना लिखा है और वह ईश्वरका धर्म है इसलिए पशुवध करना चाहिए, यो शास्त्रोका प्रमाण दे देकर जो जीवबध करनेमे प्रोत्साहन देते है वे पुरुष अत्यन्त अधर्मी हैं। पाप कितना बुरा होता है कि उसकी बात करनेमे भी दिल कापता है। और तो जाने दो, यदि कोई पुरुष यह कहे अपने ही कुटुम्बीजनोसे कि तुम्हारे लिए हम बुरा पाप करते है, दूसरोको बहुत सताते है सो तुम हमारे आधे पाप बाँट लोगे ना? तो वे तो यही कहेगे कि हम तो पाप नही बाटेंगे। तो समझ लीजिए कि पाप कितना बुरा होता है? और फिर जो पुरुष कुछ पढा लिखा हो और वह शास्त्रोमे ऐसा गदा लेख लिख जाय कि जिसमें पशुवधमे प्रोत्साहन मिले तो उसने कितना पाप किया? उसके फलमे नरककी शूलीपर चढाने जैसे कठिन दुःख भोगने पडते है।

निर्दयेन हि किं तेन श्रुतेनाचरणेन च।
यस्य स्वीकारमात्रेण जन्तवो यान्ति दुर्गतिम् ॥४६२॥

पंचपापोंके उपदेश देने वाले शास्त्र, शस्त्र तुल्य—जो शास्त्र ऐसे हैं कि जिनमे दयाका नाम भी नही है उन शास्त्रोसे क्या लाभ ? जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह को प्रोत्साहन देते हैं वे शास्त्र है कि शस्त्र हैं ? इस जीवका बुरा करनेके लिए, इस जीवको बरबाद करनेके लिए वे शास्त्र शस्त्रका जैसा काम करते हैं। इन लोहेके शस्त्रोसे भी जो इस जीवकी बरबादी नही हो सकती वह बरबादी इन शास्त्रोके श्रद्धानसे होती है जिनमें दयाका नाम नही और जो पापोको प्रोत्साहन देते हैं। बहुतसे मत्र, बहुतसी विधियाँ पशुवध के लिए जिन शास्त्रोमें उपदेश कर दिया गया हो वे शास्त्र शास्त्र नही है बल्कि शस्त्र है। और जिनमें झूठ बोलने मे भी पाप न बताया गया हो और ऐसे अनेक उदाहरण किए गए हों कि जिनमें झूठ बोलना अच्छा बताया हो ऐसे शास्त्र शस्त्रकी तरह हैं। चोरीमे जहाँ ऐसा वर्णन किया गया कि भगवानका रूप बना बनाकर यह तो भगवानकी लीला है चोरी करना, यह तो भगवानका स्वरूप है, इस प्रकारसे चोरीका प्रोत्साहन देना जिन ग्रन्थोंमें लिखा हो वे जीवके लिए क्या शस्त्रका काम न करेंगे ? ऐसे ही कुशीलका जिन ग्रन्थोंमें प्रोत्साहन किया गया है, और जैसे अनेक लोग युक्तियां दे देकर मनुष्यका एक आवश्यक कर्तव्य बताते है, कितने ही लोग तो यह कहते कि वे संसारके दुश्मन है जो ब्रह्मचर्य पालते है क्योकि संसार उनपर टिक नही सकता, संसार उनसे बढेगा नही, कोई कहते है कि धर्म-पालन करना तो एक दिमागीभूत है, यों अनेक पद्धतियोसे जो व्यभिचारका प्रोत्साहन देते हैं ऐसे शास्त्र क्या शास्त्र हैं ? वे तो इस जीवको दुर्गतिमे ढकेलने वाले शास्त्र हैं। तो जो शास्त्र मूर्छा परिग्रह आदिक ठाठबाट बढाये उन शास्त्रोसे जीवका क्या लाभ है, इसी प्रकार जो आचरण पापसे भरे हुए है उन आचरणोंसे जीवका क्या लाभ ? ऐसे शास्त्र और आचरणके हाँ करने मात्रसे जीव दुर्गतिको चला जाता है।

हिंसावर्द्धक शास्त्रोंकी अनुमोदना मात्रसे पापबंध—खोटे शास्त्रोको ये शास्त्र हैं, प्रमाणरूप हैं ऐसा कहने मात्रसे ही पाप कर्मोका बंध हो जाता। जैसे मानो कोई पुरुष ईर्ष्यासे किसीके घरमें गोदाममें किसी जगह आग लगा दे तो आप अदाज कर सकते हैं कि ऐसे दुष्ट पुरुषने कितना बडा पाप किया ? जहाँ बहुत नुक्सान हो जाय, घरके लोग बड़े दुखी हो जायें, असहाय हो जायें, निराधार हो जायें ऐसा कर्तव्य कोई करे तो आप अंदाज कर सकते कि उसने कितना तीव्र पाप किया। और कोई इतना करेगा भी नही किन्तु ऐसा करनेका संकल्प ठान ले, मैं अमुकको बरबाद कर दूंगा, अमुकके घर आग लगा दूंगा ऐसा दृढ़ संकल्प ठान ले तो भी उसने कितना पाप किया ? उतना ही पाप उसने किया। तो

संकल्प हो जाना किसी की ठगाईके लिए उसमे ही पापका बध तुरन्त हो जाता है। मिला क्या उसे ? कुछ नही, खोया सब कुछ तो अपने परिणामोको टटोलिए।

अपध्यानसे जीवकी दुर्गति—हम अपने अन्तरङ्गमे दूसरोके लिए कितना विरोधी रहते हैं, घातक रहते है, दूसरेको न सुहाना, घृणा करना, उसे विरोधी मानना, उसके खिलाफ वातावरणकी कोशिश करना, उसे नीचा देखना आदिक कितनी बाते ऐसी गदी है कि जिससे खुदका लाभ कुछ नही है और व्यर्थ ही पापका बंध कर रहा है। अनर्थ दण्डोमे जो ५ प्रकार बताये है उनमे से अपध्यान नामका दण्ड कितना भयकर है। स्वयभूरमण समुद्रमें तंदुलमस्त रहता है। वह है बहुत छोटा जानवर किन्तु है सञीपञ्चेन्द्रिय। जब वह देखता है कि यह राघवमत्स इतनी बडी काय वाला मुँह पसारे पड़ा है जिसके मुँहमे हजारो मछलियां लोट रही है, खेल कूद रही है, तो तदुलमत्स सोचता है कि यह बड़ा मूर्ख है, यदि मैं इसकी जगह होता तो एक भी मछलीको न बचने देता है, सबको खा जाता। इतने सकल्पमात्रसे वह इतना पापका बंध कर लेता है कि ७ वे नरकमे उत्पन्न होता है। तो अपध्यान बहुत गंदी चीज है, इससे आत्माकी उन्नति नही होती। एक ही बार जब जीवन मे निभा लें कि हम अपध्यान न करेंगे, किसीका खोटा विचार न करेंगे तो उसकी आध्यात्मिक बहुत बडी उन्नति हो सकती है। ऐसे शास्त्रोसे, ऐसे अक्षरोसे क्या लाभ है जिसमे दयाका नाम नही है, ऐसे शास्त्रोके हाँ भरनेमात्रसे ऐसे आचरणोको अङ्गीकार करने मात्रसे जीव दुर्गतिमे प्रवेश करता है।

वरमेकाक्षरं ग्राह्यं सर्वसत्त्वानुकम्पनम्।
न त्वक्षपोषकं पापं कुशास्त्रं धूर्तचर्चितम् ॥४६३॥

दया बिना अन्य गुणोंकी निरर्थकता—समस्त प्राणियोको दयाकी बात सिखाने वाला एक अक्षर भी हो तो भी वह ग्रहणके योग्य है। वह अक्षर श्रेष्ठ है, किन्तु जो कुशास्त्र धूर्तोंके द्वारा बनाये गये ऐसे हैं जिनमे विषयोका पोषण भरा है पापरूप है वे कुशास्त्र श्रेष्ठ नही है, किन्तु दुर्गतिके कारण हैं। व्यावहारिक जीव दयाका भी जो परिणाम रखता है उसे पुण्यबंध तो होता ही है, साथ ही उसके आत्मामे एक बडी पात्रता जगती है। दयाहीन पुरुषको दुर्गति सुगम है, चाहे वह व्रत सहित भी हो, दुर्गति ही पाता है और दयालु पुरुष चाहे व्रत न भी ग्रहण किए हो पर दया की प्रकृतिका ऐसा माहात्म्य है कि उसके लिए सद्गति सुगम है, वह सुगति प्राप्त करता है। द द द तीन द लो। दया, दान, दमन, इन तीन शब्दोको याद रखिये। दान तो दान है और दमन नाम है इन्द्रियके विषयका निरोध करना। ये दान और दमन भी दयापर निर्भर हैं। जिसके दया नही है उसका दान क्या ? और वह इन्द्रिय विषयका दमन क्या करेगा ?

क्रूर चित्त वालोंके अनर्थता—क्रूर चित्त रौद्रआशय वाला पुरुष इतना पापिष्ट चित्तका होता है कि आर्तध्यानी पुरुष जितना पापबंध नही करता उससे अधिक पापबंध रौद्रध्यानी कर लेता है। आर्तध्यानमे तो क्लेश है और रौद्रध्यानमें मौज है लेकिन रौद्रध्यानका मौज आर्तध्यानके क्लेशसे भी बहुत भयंकर है। जैसे दुष्ट जीवकी प्रसन्नता अनर्थका ही कारण है ऐसे ही रौद्रध्यानका मौज अनर्थका ही कारण है। दयासे इस जीवनमे एक बडी सुवासना होती है। दयाहीन क्या जीवन है, न उसकी लोकमे प्रतिष्ठा, न उसकी अध्यात्ममे प्रतिष्ठा, न उसका कही विश्वास, अतएव वह अपने चित्तमे दुखी ही रहा करता है।

पूर्वकृत दयासे ही वैभवकी प्राप्ति—जितना जो कुछ समागम मिला है वह आपके वर्तमान बुद्धिके प्रतापसे नही जुड गया। आपसे भी कई गुना बुद्धिमानी जिनके है, जो एम. ए. डबल एम. ए. पास हैं, जो भाषण देनेमे भी चतुर है, नेतागिरीमे चतुर हैं, बड़ा बड़ा दिमाग रखते है, और कहो उनके ठाठ कुछ भी न हो, ये समागम कुछ भी न हो। तो वर्तमानमे जो बुद्धि है इस बुद्धिका यह फल नही है कि वैभव जुट जाय, किन्तु यह पूर्वकृत दया धर्मका फल है। तो इस समय भी यदि कोई स्वदया, परदया और धर्मबुद्धिसे रहे और कुछ नुक्सान पडे तो समझना चाहिए कि पूर्वकृत पाप हमारे घोर रहा है। धर्म करने से और व्यवहारसे नुक्सान नही होता, वह तो लाभके लिए ही है ऐसा जानकर प्रत्येक परिस्थितिमे चाहे सकटकी स्थिति हो, चाहे मौजकी स्थिति हो, अपने धर्मका परित्याग कभी न करना चाहिए। धर्महीन मनुष्य सब तरहसे दीन है। न वर्तमानमे प्रसन्न रह पाता है और न भावी कालमे प्रसन्न रह सकेगा। तो जिसमे धर्मकी प्रेरणा हो, दयाका उपदेश हो ऐसा एक भी अक्षर हो तो भी वह श्रेष्ठ है।

विषयपोषण वाले शास्त्र पापरूप—किन्तु धूर्तोंके द्वारा बनाए गए कुशास्त्र जिनमे विषयपोषणकी बात लिखी है वे सब पापरूप है, श्रेष्ठ नही हैं। हमारी कल्पनामे तो धर्मके नाम पर पशुवध करना इस कारणसे कभी शुरू हुआ होगा कि कुछ समझदार इज्जत वाले लोग चाहते तो हो मास खानेकी बात, लोकमे इज्जत भी रहे, धर्मात्मा भी कहलायें तो यों ही तो कर नही सकते। तो एक यही उपाय है कि धर्मात्मा भी कहलाते रहे हम प्रजाजनों के द्वारा और मासभक्षणकी हमारी प्रवृत्ति भी कायम रहे, इसके लिए धर्मके नाम पर पशु वध जैसी प्रवृत्ति की हो। इन इन्द्रियविषयोने इस जगतको बरबाद कर दिया है वह है क्या, कुछ थोडासा रसनाइन्द्रियकी आशक्ति। न जाने उसमे क्या स्वाद होगा, क्या रस होगा, लेकिन कुबुद्धि ऐसी जग गयी, कि जो सब न करें उस कामको करनेमे कुछ रस सा मानते है। सब अन्न खाते है तो उसके अतिरिक्त उस मासभक्षणमे कुछ समझ रखा होगा अज्ञानीजनोने कि इसमे कुछ विशेषता है और जब आदत बन जाती है तो उसका त्याग

मुश्किल हो जाता है। आशक्तिकी क्या बात बताये। लोग प्राय करके भोजन नही खाते किन्तु पैसा खाते है। उदाहरणके लिए मूँगफली और काजू दो चीजे रख लीजिए। किसी को यह पता न हो कि ये ५-६ रु० सेर काजू मिलते हैं तो काजू और मूँगफली इन दोनो के स्वादमे ईमानदारीसे मूँगफलीका स्वाद अच्छा बतावेगा। लेकिन ५-६ रु० सेर वाले काजू के सामने ८ आने सेर वाली मूँगफलीकी कदर नही है। तो यह आशक्तिकी ही तो बात है। जो चीज साफ-साफ सीधे खाई जा सकती है उसे घीमे सेंककर चटकीला बनाकर खाते हैं तो यह आशक्तिकी ही तो बात है।

दया, दान, दमनसे कल्याण संभव-- भोजन स्वास्थ्यके लिए किया जाता है। ऐसा उद्देश्य जिसका नही है उसको तो पापका ही बध हो रहा है, और इस रसनाइन्द्रियकी विषयाशक्तिमे निर्दयता भी बसी हुई है। जो पदाथ सब जीवोंके द्वारा भोगने योग्य हैं वे सब चाहते है खाना। और, उसमे फाल्तू किसी चीजको हम ही अधिकसे अधिक उपयोगमे लाये यह तो अच्छी आदत नही है। यह तो आपपर एक निर्दयता है। अपने ब्रह्मस्वरूपकी सुध खोकर केवल उस रसास्वादनमे लीन हो गया तो उसने अपनी भी बरबादी किया, तो दमन, दान और दया इन तीन चीजोका स्मरण रखिये। यह कल्याणार्थीका मुख्य कर्तव्य है। अहिंसाके प्रकरणमे दयाकी बात यहाँ चल रही है। दया बिना कोई शुद्ध दान नही दे पाता। दया बिना कोई निश्चयसे इन्द्रिय दमन नहीं कर सकता। दयाकी प्रवृत्ति बनाना बहुत आवश्यक है।

चरुमन्त्रौषधानाञ्च हेतोरन्यस्य वा क्वचित्।
कृता सती नरैर्हिसा पातयत्यविलम्बितम् ॥४९४॥

पापोंका निग्रह किये बिना आनन्द नहीं--देवतावोके लिए नैवेद्यके नामपर, मत्रके नामपर या अन्य किसी भी कार्यके लिए मनुष्यके द्वारा की गई हिंसा नियमसे शीघ्र ही नरक मे ढकेल देती है। इसका वर्णन पहिले भी आया और बराबर कह भी रहे हैं। तो इसमे ऐसा सचेत किया गया है कि हिसा सदैव इस जीवको बरबाद करने वाली चीज है। बल्कि धर्मके नामपर हिसासे तो घोर पापका बध होता है। धर्म इस जीवके उद्धारके लिए है और उसके धर्मका ऐसा स्वरूप बना लीजिए कि वह पतनका कारण बने तो फिर उद्धारका उपाय और रहा क्या ? जैसे लोग कहते हैं कि अन्य स्थानोंमे पाप बन जाय तो धर्मस्थानमे उस पापके नाशका उपाय किया जाता है और धर्मस्थानपर ही कोई पाप करने लगे तो फिर उसके संकट हरनेका और क्या उपाय है ? जो पुरुष हिंसाभावसे दूर रहते हैं, स्व और पर-दयाके भावसे भरे हुए होते हैं उनमे ऐसा ज्ञान जगता है कि ऐसी पात्रता होती है कि जो शुद्ध तत्त्व है, जिसके ध्यानसे जीवके सकट दूर होते है उसके ध्यानकी सिद्धि हो जाय इसका

अधिकारी बनता है वह दयालु पुरुष। दयालु पुरुष धर्मकी साधना, ध्यानकी साधनामे सफल होता है। वर्तमान प्रसन्नता और भावी आनन्द पानेके लिए यह आवश्यक है कि अपने जीवनमे दयापूर्ण बने।

विहाय धर्म शमशीललाञ्छितं, दयावहं भूतहित गुणाकरम्।
मदोद्धता अक्षकषायवञ्चिता, दिशन्ति हिसामपि दु.खशान्तये ॥४६५॥

ज्ञान परिणतिमें शान्ति—इस जीवको निज अतस्तत्त्वका ध्यान करना ही परमशरणभूत है। जगतके किन्ही भी पदार्थोंका समागम हो जाय जो अज्ञानी जनों द्वारा महत्त्वकी दृष्टिसे निरखे जाया करते है ऐसे पदार्थ भी इस जीवको शान्ति कहाँसे देंगे। शान्ति किसी बाह्य तत्त्वसे नही आया करती, किन्तु यह एक आत्माके विशुद्ध ज्ञानपरिणमनका कार्य है। शान्तिका सम्बन्ध ज्ञानपरिणतिसे है, पदार्थके समागमसे नही है, अतएव जिन्हे कल्याण चाहिए आनन्द चाहिए उनके लिए एक ही मार्ग ऋषी सतोने बताया है कि वे निज आत्मद्रव्यको जाने, और उस आत्मद्रव्यका जो सहजस्वरूप है उसका ही उपयोग बनाये रहे, इस ही का नाम है उत्तम ध्यान। तो जगतके जीवोका एक उत्तमध्यान ही शरण है। उत्तम ध्यानका पात्र कौन होता है उसका यह प्रकरण चल रहा है।

रत्नत्रयके ध्यानमें मनुष्यपर्यायकी सफलता—उसके ध्यानके मुख्य अंग तीन हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। अपने आत्माके सहज शुद्ध सत्त्वस्वरूपका विश्वास होना और उसके गुण पर्यायमुखेन परिचय होना तथा ऐसा ही सहजस्वरूप अन्तस्तत्त्व उस उपयोगको स्थिर बनाये रहना ये तीन परिणतिया उत्तमध्यानके खास अंग है। जैसे कि बाह्यरूपसे ध्यानके अंग प्राणायाम, साधना, सयम, यम अनेक माने गए है तो ये बाह्यसाधन ध्यानके खास अग नही है, इसका कारण यह है कि इन बाह्य अगोके होने पर भी ध्यान न भी हो किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये ध्यानके खास अग है। रत्नत्रय की आराधनाके बिना मानव जीवन निष्फल है। संसारमे सभी जीवोका अनेक बार जन्म मरण होता ही रहता है। कभी पशु होना, कभी पक्षी होना, कभी कोई पञ्चेन्द्रिय होना। सभी जगह इसे इन्द्रियविषयोके साधन प्राप्त होते रहते है। और और जितने भी संज्ञावोंके परिणाम है—आहार, निद्रा, भय, मैथुन, इच्छा, मोह, रुचि होना ये सारी बातें क्या पशु पक्षियोमे नही हुआ करती है? मनुष्य होकर और विशेष बात क्या लाभकी ली गई। अधिकसे अधिक पुण्य योगसे कुछ लौकिक ठाठ मिल जाय तो मायामयी मनुष्योमे कुछ थोड़ा नाम कहलवानेकी बात मिल गई वह भी असत्य है। पता नही लोग दिलसे कीर्ति करते है या देखादेखी करते है। दिलसे करें तो क्या, देखादेखी करे तो क्या, इन मायामयी पुरुषो ने यदि दो शब्द नामके पुकार लिए तो इतने से कौनसी सिद्धि होती है।

बाह्य समागम स्वप्नवत्—तब समझिये कि ठाठबाठ, समागम ये सब निरर्थक हैं। वस्तुत. जो जीव कल्याण चाहते है, कल्याणकी साधनाके सिवाय एक शुद्ध ज्ञान, शुद्ध श्रद्धान शुद्ध आचरणके सिवाय और कुछ नही है। जिन परिजनोको अपना माना है, जिनके पीछे सारे जीवन भर बडा श्रम कर करके और अनेक पापोके विकल्प बना बना करके कर्म बाँधते है आखिर वे परिजनके लोग भी हमारे हैं क्या ? यह स्वप्नवत् थोडे समयका समागम है। मान लो इन अनन्त जीवोमे से किसी एक दो जीवको मान लिया कि ये मेरे हैं तो ये सब कल्पनाकी बातें है। मृत्यु होते पर घरके पडोसमे ही आप मनुष्य बनकर जन्म ले लें तो भी उन परिजनोसे, आपके प्रति प्रेम नही रह सकता। वे जानते हैं कि यह गैर है। तो कौन गैर है, कौन अपना है, किसके लिए जीवन भर विकल्प और श्रम किया जा रहा है ? शान्तिका मार्ग तो यह नही है।

सत्य स्वरूपके परिचयमें आनन्द—शान्तिका मार्ग केवल शुद्ध ज्ञान परिणमन है। तो रत्नत्रयकी आराधनाके बिना मनुष्यजीवन निष्फल है, इसमे रच भी सदेहकी बात नही है। जो आनन्द, जो पवित्रता एक अपने, आपके सत्यस्वरूपके परिचयमे और उसमे मग्न होनेकी स्थितिमे प्राप्त होती है उस आनन्दमे यह सामर्थ्य है कि भव भवके बाँधे हुए कर्मोंकी निर्जरा कर दे और इस आत्माको निर्विकल्प निर्भार बना दे और ससारके संकटोसे छुटाकर इसे अमर पदमे पहुँचा दे। उस रत्नत्रयका ही भरोसा रखिये बाकी सब एक फास है, फंसानेके लिए जंजाल है, ऐसा चित्तमे निर्णय बनावें। किसी बातके लिए हापड़ धूपडकी दौडसे प्राप्त कर लेने की धुन समाप्त करना चाहिए। शान्त पुरुष वे होते हैं जिनका यह निर्णय है कि यह मैं आतमा केवल ज्ञानस्वरूप हू और ज्ञानपरिणमन उसका कार्य है और करता भी मैं केवल अपना ज्ञानपरिणमन ही हू, मेरा किसी भी परपदार्थमे करनेके लिए कुछ पडा नही है।

परमें कर्तृत्व बुद्धिसे दुःखकी प्राप्ति—किसी भी परपदार्थमे कुछ भी मेरा काम नही है क्योकि परमे कुछ होता भी नही है इस आत्माके द्वारा न परके द्वारा आत्मामे कुछ होता है। कोई मनुष्य गाली दे रहा तो उसने मुझे क्रोध नही पैदा किया। कोई पुरुष प्रतिकूल वचन बोल रहा हो तो उसकी सामर्थ्य नही है कि वह मुझे दुखी करदे। मैं ही अपना कुछ विचार बनाऊ और पर्यायबुद्धि करके अपनी सुध भूलकर एक पर्यायबुद्धिका परिणमन करूँ तो मैं दुखी होऊगा और यदि जान लिया कि कहने वाले लोग तो अज्ञानी ही हुआ करते हैं, कारण यह है कि ज्ञान परिणमन उनके स्वय हो तो उनमे सदाचार सद्व्यवहार आत्मकल्याण आराधनाकी परिणति होती है। तो अज्ञानी जन कुछ कह दे तो उसका क्या बुरा मानना ? उसका यह दृढ निर्णय है और फिर इन वचनोका मुझमे कुछ प्रवेश नही

होता है, वह उनकी चेष्टा है, उनका ज्ञान है, उनकी बुद्धि है, उनकी क्रिया है, और यहाँ तक कि वचन भी उन्होंने बोला नहीं है, केवल एक विचार बनाया, उसका प्रयास किया। वचन भी बाजेकी तरह है, जैसे हारमोनियममे जिस स्वर पर हाथ रखो वह आवाज निकलती है ऐसे ही ये ओंठ जीभ कंठ ये जिस तरहसे संयोग वियोगमे आते हैं उस तरहकी आवाज निकलती है। आत्माने तो वचन भी नही बोला, केवल उसने अपने ज्ञान और योग का परिणमन किया है। ये सारी वस्तुस्वरूप की बातें ज्ञानीके ज्ञानमें रहती है, इस कारण वह उद्विघ्न नही होता। यह आत्मकल्याण की दृष्टिसे अपना एक शुद्ध विवेक कैसा होना चाहिए, एक अभ्यस्त दशाको प्राप्त हो गया हो तो उस पुरुषमे यह पात्रता है कि वह उत्तम ध्यानका अधिकारी बन जाय।

आत्मतत्त्वका ध्यान परमशरण—हम आप सब लोगोंको आत्मतत्त्वका ध्यान ही परमशरण है, और उस ध्यानके मुख्य अंग हैं तीन—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। सम्यक्चारित्रके प्रकरणमे अहिंसा महाव्रतकी बात बतायी जा रही है। अहिंसासे जीवका क्या शृङ्गार बनता है और हिंसासे जीवकी कैसी दुर्गति होती है, यह प्रकरण चल रहा है। अज्ञानी जीव गर्वमे आकर अपनी पाई हुई चतुराईका घमंड करके कुछ लोग हिंसामे धर्म होता है ऐसे भी शास्त्र रच गए है, उनको पढकर सुनकर उनकी परम्परासे जो पुरुष धर्मबुद्धिसे हिंसा करते है, बलि करते है तो उनकी दुर्गति तो निश्चयसे होने वाली है। जो पुरुष घमडी हैं, इन्द्रियके विषयोसे, कषायोसे ठगे गए है वे पुरुष दया धर्मको छोड़ देते है और दुख दूर करनेके लिए हिसाको धर्म कहा करते है। तो हिसामे धर्म कहने वाले हिंसक पुरुष विघातक पुरुष पर्यायबुद्धिसे गर्वमे मदोन्मत्त होते हैं वे विषयलम्पटी है, कषायी हैं और जगतके जीवोको भरमाते रहनेका उपाय बनाया करते है, उनसे दूर रहना चाहिए, और यह निर्णय रखना चाहिए कि चाहे धर्मके नामपर, चाहे अन्य किसी प्रयोजनसे हिंसा की गई हो वह नियमसे पाप है, हिसामे धर्म नही होता। धर्म तो धर्मस्वरूप आत्मतत्त्वके जानने और उसमे मग्न होनेसे प्रकट होता है। धर्मकी असली जड तो यह है, इस धर्मको छोडकर जो नाना क्रियावोमे अपना कल्याण समझते है, धर्म समझते है, वे जीव अज्ञानी हैं। तो विकल्पोंसे दूर रहें और सम्यक्श्रद्धानके बलसे अपने निकट अधिकाधिक आनेका प्रयत्न करे तो उत्तम ध्यानकी सिद्धि होगी।

धर्मबुद्ध्याऽधमै पाप जन्तुघातादिलक्षणम्।
क्रियते जीवितस्यार्थे पीयते विषमं विषम् ॥४९६॥

सब प्रयोजनोंमें जीवघातसे पापबन्ध—जो पापी पुरुष धर्मकी बुद्धिसे जीवघातरूपी पापको करते हैं वे अपने जीनेकी इच्छासे हलाहल विषको पीते है। जैसे कोई पुरुष मैं खूब

जिन्दा रहू, अमर हो जाऊँ ऐसी बुद्धिसे विषको पीवे तो उसका फल क्या होगा ? वह तो तुरन्त मरेगा, ऐसे ही जो पुरुष मुझे धर्म होगा ऐसी बुद्धिसे जीवघातको करते है उनकी इस क्रियामे क्या धर्म बसा हुआ है ? पाप है, अधर्म है और हिंसा वैसी हो जाय, उसमे जितने पाप हुए उससे कई गुना पाप हिसामे धर्म मानकर पाप करनेमे लगते हैं। कारण यह है कि वहाँ हिसाका ऐसा पाप लगा और मिथ्यात्वका भी पाप लगा। इससे यह निर्णय रखना कि किसी भी प्रयोजनसे जीवघात करना पाप ही है। जो पुरुष अपनी थोडी धनसाधनाके लिए धनार्जनके लिए अन्याय करते हैं, दूसरे जीवोपर क्या बीतती है इसका कुछ ध्यान नही रखते और किसी प्रकारसे धनसंचय हो इस धुनमे ही रहते है. उनके आत्मामे वह बल नही रहता जिस बलसे वे अपने आपमे प्रसन्न रह सकें। उनको प्रसन्नताका अवसर नही मिलता, अनेक चिन्ताएँ रहती हैं। अनेक मौज भी मानें तो भी रौद्रध्यान रहता है।

निर्मल आशय बनानेमें शान्ति—अपने आपमे स्वच्छ आशय बनाये बिना, मद-कषायोकी प्रवृत्ति किए बिना, सब जीवोका आदर किये बिना अपनेमे शान्ति और आनन्द प्राप्त नही हो सकता है। जिन्हे उत्तम आत्मतत्त्वकी सिद्धि चाहिए उनका कर्तव्य है कि वे अधिकाधिक यत्न यह करें कि हिसा आदिक विकल्पोसे छूटकर अपने शुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप के अवलोकनमे उपयोग बनाया करें। यह ध्यानका प्रकरण है। ध्यान बिना जीवका कुछ शरण नही है, यह खूब निरख लीजिए। जीवनमे अनेक समागमोसे निर्णय कर लिया होगा कि किसी भी जीवसे अपनेको शान्ति प्राप्त नही होती। होगा क्या सम्बन्धमे ? राग या द्वेष। द्वेषमे तो शान्ति है ही नही, पर रागमे भी शान्ति नही है। द्वेषमे और ढगकी आकुलता होती है। रागमे और ढगकी आकुलता होती है। द्वेषके समय विवेक कर लें तो अपनी आकु-लताको शीघ्र मिटा सकते है, पर रागमे अधे बनकर तो विवेक भी नही किया जा सकता, करिये आकुलता मिटानेका भी अवसर नही पा सकता, अतएव राग त्याज्य है। ऐसा दृढ निर्णय यदि अपने आपके आत्मापर कुछ दया आती हो तो। अन्यथा जैसे ससारमे रुलते चले आये है वैसे ही चलते रहेगे।

एतत्समयसर्वस्वमेतत्सिद्धान्तजीवितम्।
यज्जन्तुजातरक्षार्थ भावशुद्धया दृढ व्रतम् ॥४९७॥

गृहस्थको मोक्षमार्गकी साधनाका उपदेश---जीवसमूहकी रक्षाके लिए यह रत्नत्रय की आराधना ही तो सर्वस्व सिद्धान्तरूप है। आत्मकल्याण कैसे हो, इसका पूर्ण समाधान रत्नत्रयके परिणमनमे आ जाता है। लोग भी सोचा करते कि हम तो गृहस्थ हैं और लोक-व्यवहारमे रहना पडता है उसमे अपने ये सब कुछ कदम न बढायें, धनसचयका काम न करें अथवा अन्य अन्य काम न करें तो फिर काम कैसे चलेगा ? उसमे ही तो गृहस्थकी गृहस्थी

शोभा देती है। ठीक है तो फिर २४ घंटा इसके लिए जुट जाइये, विकल्प करिये, सो चौबीसो घंटा जुटते भी नही बन सकता और उसका संस्कार भी छोडते नही बन सकता। यह तो कर्तव्य है पर क्या गृहस्थोका यह कर्तव्य है कि वे धनसंचयकी होड लगायें ? करने योग्य काम तो आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमरण है। सत्संग, गुरूपासना, देवपूजा, स्वाध्याय, संयम, दान, तप आदि षट् कर्तव्योंसे अपने मोक्षमार्गकी साधना करें। पर इन कार्योंके लक्ष्यके होनेपर भी चूंकि गृहस्थीमे धनार्जन, लोकयश आदिकके काम भी करने पडते हैं इस प्रकारका निर्णय एक ज्ञानी गृहस्थके होता है। काम दो हो गए गृहस्थके। धर्म-पालन और लोकव्यवहार। लेकिन कल्याणार्थी गृहस्थका मुख्य काम क्या है और गौण काम क्या है इसका निर्णय सही रखना है। कोई लोग तो धनार्जनका मुख्य काम मानते और धर्म-पालनका गौण काम समझते, समय बचता है तो कहाँ दिल लगाये, पूजन या स्वाध्यायमे ही बैठ गए। और, कोई पुरुष ऐसे होते है जो धर्मपालनका मुख्य काम समझते हैं और धना-र्जनके कामको गौण समझते हैं। तो मुख्य काम क्या होना, गौण काम क्या होना इसके निर्णयमे रुचिकी परीक्षा बसी हुई है। किसको किस ओर रुचि है। जिसकी जिस ओर रुचि है वह उस कामको मुख्यतासे करेगा। साथ ही यह भी समझिये कि जो कुछ लोकमें धनार्जन हो जाता है वह आजकी चतुराईका फल नही है।

सांसारिक संकटोंसे मुक्तिका उपाय धर्मपालन–जगतमे आप एक सिंघावलोकनकी दृष्टि करके निर्णय कर लीजिए, आपसे अधिक चतुराई वाले आपसे अधिक श्रम करने वाले लोग भी उस बातको नही पा सके। कोई पा लेता है तो इसमे वर्तमान श्रम वर्तमान विचार कारण नही है, कुछ अन्य कारण ढूंढना चाहिए। वह कारण है पूर्वभवकी धर्म-साधनासे जो पुण्यबध हुआ था उसका उदय। तो इस दृष्टिसे भी धर्मपालन मुख्य रहा। अनुभव करके भी देखलो। जब जब धर्मकी दृष्टि जगती है, धर्मपालनकी वृत्ति होती है उस समय स्वच्छता और पवित्रता कैसी रहती है और जब किसी परवस्तुके सम्बन्धमे ख्याल और विकल्प बढता है उस समयकी छटपट देख लो, कैसी चित्तमे विह्वलता रहती है। धर्मपालनका तो मुख्य काम है और फिर परिस्थिति जैसी होगी उदयानुसार उसमे अपना विभाग करके गुजारा कर लेनेकी हममें कला है, परिस्थिति हमारी क्या बिगाड करेगी ? ऐसा साहस हो वही तो धर्मका पालन कर सकता है। जो पुरुष समूहका रक्षक हो, और अपने आपके शुद्ध ज्ञान दर्शन प्राणोके रक्षक हो, भावशुद्धिपूर्वक, ऐसा विशुद्ध परिणमन बनना यही वास्तविक व्रत है और ऐसा योगी साधु श्रावक ज्ञानी उस ध्यानका पात्र है जिस ध्यानसे संसारके संकट समाप्त हो जाया करते हैं।

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च ।
"अहिंसालक्षणो धर्मस्तद्विपक्षश्च पातकम्" ।।४६८।।

धर्मका मूल अहिंसा—सभी लोग अहिंसाको धर्म मानते है। अहिंसा ही धर्म है। अहिंसाका प्रतिपक्षी है हिंसा। हिंसा करना ही पाप है। इस सिद्धान्तसे जो विपरीत वचन है वे विषयाभिलाषी जीवोंके वचन है। एक यह निर्णय है कि जिसमे अहिंसा मूल हो वह तो धर्म है और जिसमे हिंसा होती हो वह अधर्म है। अब अहिंसाके क्षेत्रमे अपना जीवन लगाने वाले जीवोकी पदवियोके अनुसार भिन्न-भिन्न परिणति होती है, उसमे भी निर्णय करते जाइये जिसमे हमारे ज्ञान दर्शन प्राणका विघात न हो जितने अशोंमे और दूसरे जीवोका अकल्याण न हो उस पदवीमे उस कार्यको अहिंसा कहा करते हैं। गृहस्थकी अहिंसा परिणतिके कालमे और साधुकी अहिंसा परिणतिके कालमे यद्यपि अन्तर रहता है लेकिन ज्ञानी गृहस्थ है तो ज्ञानी साधु है तो पद्धतिमे अन्तर न रहेगा, लक्ष्यमे अन्तर न रहेगा। एक निर्णय बनावे और इसी तरह कौन सा काम करना धर्म है, कौन सी बात करनेमे धर्म नही है इसकी भी कसौटी यह है कि जिस जिस कार्यके करते हुएमे रत्नत्रयका सम्बन्ध जुड सकता है वह तो व्यवहारमे धर्म है और जिसमे रत्नत्रयका सम्बन्ध जुडनेकी बात ही नही है वह धर्म नही है। जैसे सासारिक प्रयोजनो के लिए धन लाभ, मुकदमा विजय आदिक कुछ भी प्रयोजन रखकर जो मदिर पूजा, यात्रा, दान आदिक कुछ भी प्रयोजन रखकर जो मदिर पूजा, यात्रा, दान, बलि, मान्यताएँ आदिक किए जाते हैं उसमे खोज कर लीजिए कि रत्नत्रयसे सम्बन्ध जुडनेका इसमे कुछ अश पडा हुआ है अथवा नही पडा हुआ है, उससे ही निर्णय हो जायगा कि यह धर्म है अथवा धर्म नही है। जिसमे हमारे स्वभावका स्पर्श हो, श्रद्धान हो, ज्ञान हो, मग्नता हो, शुद्ध आनन्द बरषे, विह्वलता मिटे, निर्मोह परिणाम जगे,—वीतरागता प्रकट हो वह भी तो सब धर्म है, और जिसमें मोह बढे, पर्यायबुद्धि जगे, बाह्यदृष्टि बढे वे सब अधर्म हैं।

प्रभुदर्शनसे ज्ञान जगानेकी प्रेरणा—प्रभुदर्शनसे ऐसी अपनी तर्कणाशक्ति बढाना चाहिए और विचार लेना चाहिए कि हे प्रभो! जो वास्तविक कर्तव्य है, यथार्थ शरण है वह आपने कर लिया, पा लिया। हमारे लिए भी यही कर्तव्य है और यही स्थिति शरण है। इतनी बात तो प्रभुदर्शनमें अपने प्रति आना ही चाहिए। यदि शिक्षा नही प्राप्त होती तो केवल सासारिक सुखोके लिए ही यह सब किया जा रहा है तो उसमे सकट टलनेकी बात तो नही आ सकती है, जन्म मरणके संकट मिटानेका मार्ग नही मिल सकता है। एक ही निर्णय है। जैसे प्रभुने अपने आत्माका श्रद्धान किया, ज्ञान किया, अपने आपमे रमें, इसी प्रकार हम भी अपने आपमे गुप्त ही अन्त अपना श्रद्धान करें, ज्ञान करें और उस ही

उपयोगमे बसे तो हमारे जन्म मरणके सारे सकट दूर हो सकते है।

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धति ।
अहिंसैव गति साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥४९९॥

जगतमाता अहिंसा–उत्तम ध्यानका पात्र अहिसक संत ही हो सकता है, इस कारण सम्यक्चारित्रके प्रकरणमें अहिंसा धर्मका वर्णन चल रहा है। अपने आपके परिणामोंमें मोह विकार न आने देना, रागद्वेष का तामसपना न होने देना यही है वास्तविक अहिंसा। और, ऐसे अहिंसाधर्मका आचरण करने वाले संतोकी जो बाह्य प्रवृत्ति है, जिसमे जीवदया बसी हुई है वह है द्रव्य अहिंसा। अहिसा ही जगतकी माता है। मात उसे कहते हैं जो बच्चेका पालन करे। अहिसा समस्त जीवोकी प्रतिपालना करती है। जो अहिंसाभावसे रहे उसका प्रतिपालन तो होता ही है, और उसके निमित्तसे जगतके अन्य जीव भी निसंग, निर्भय रहा करते हैं, अतएव अन्य जीवोंकी भी प्रतिपालना होती है। जगतमाता अहिंसा ही है।

अहिंसा, आनन्दका उपाय----विशुद्ध आनन्दकी कोई पद्धति है तो अहिंसा ही है। क्रूर हिंसक पुरुषको आनन्द और प्रसन्नता कभी नही आ पाती है। जो पुरुष समतारससे भीगा है, दूसरे जीवोंके सतानेका परिणाम नही रखता, अपने अहिंसा स्वभावका आलम्बन रखता है उस पुरुषके विलक्षण आनन्द प्रकट होता है। कभी किसी जीवको सतानेका सकल्प ही आ जाय तो ऐसा संकल्प करने वाला तत्काल दु खी हो जाता है। दूसरे जीवोको भला करनेका भाव करे तो वहाँ क्लेश नही आता, प्रत्युत आनन्द बरषता है और कोई दूसरे जीवोको सतानेका भाव करे, किसीकी निन्दाका भाव करे, किसीके बुरा करनेका भाव करे तो उस भावके समय ही यह दु खी हो जाता है। आनन्दकी परिपाटी तो अहिंसासे ही प्राप्त होती है।

न्यायवृत्ति कल्याणमें सहायक—न्यायवृत्तिसे जीवन बिताना यह कल्याणके लिए अति आवश्यक है। छोटीसी भी बातपर अथवा बडी भी बात हो किसी भी प्रसगमे अन्याय की बात मनमे न लाना चाहिए। चाहे उसमे कुछ लाभ हो रहा हो आर्थिक या अन्य कोई लौकिक लाभ हो रहा हो तो उस लाभको न स्वीकार करें, किन्तु हम न्यायपथसे ही चलेंगे, अन्यायपथ न लेंगे, इतनी दृढता रखनी चाहिए। जो पुरुष न्यायशील होता है, अन्यायको पसंद ही नही करता उस पुरुषमे ऐसा आत्मबल रहता है कि वह विकल्पोको तोड़कर आत्मा का उत्तम ध्यान कर सकता है। अन्याय करने वाले पुरुष बडे शल्यके साथ जीवन विताया करते हैं, उनको अपना जीवन भी भाररूपसा नजर आने लगता है। अन्यायका फल वर्तमानमे न मिल सके अथवा कुछ और थोडे समय तक भी न मिल सके लेकिन अन्यायके कारण जो

आत्मामे कायरताकी कमजोरी निर्बलता बनती है तो ऐसी निर्बलता बन बनकर कभी इकट्ठा अपना परिणाम दिखा देती है। बातें हैं बहुत छोटी-छोटीसी, यात्रा कर रहे हैं, बालक १४ वर्षका है फिर भी आधा टिकट लेकर जा रहे है। पूछा तो कह दिया कि यह तो ११ वर्ष का है। अथवा कोई चीज लिए जा रहे हैं, चुँगी पडी तो उस चुँगीकी परवाह न करके सीधे लिए चले जा रहे है। ये हैं सब छोटी-छोटी बातें। किन्तु इन सबसे ऐसी प्रकृति बन जाती है कि फिर और-और अन्याय करनेके लिए दिल बन जाया करता है। और, उससे जो कर्मबन्ध होगा, कर्मसचय होगा उसका परिणाम फिर बुरी तरह भुगतना पडता है। ऐसा जीवन हो जिसका कि हम गरीबीमें भी गुजारेका ढग निकाल सकते है, जो भी परिस्थिति हो उसमे ही हम अपना गुजारा कर सकते हैं, पर न्यायपथसे हम कभी विचलित न होंगे। ऐसा न्यायशील जीवन कोई बिताये तो उसके आत्मामे कल्याणका बहुत बल पडा हुआ होता है। आनन्दकी पद्धति तो अहिसा ही है।

न्यायपूर्णव्यवहार ही अहिंसा—न्यायसे जीवन बितानेका नाम अहिसा है, और उस पथमे ही आनन्द प्रकट होता है। अहिसा ही वास्तविक गति है। सद्गतिकी प्राप्ति अहिसा से होती है। और, अहिसा ही वास्तविक शाश्वत लक्ष्मी है। जितने भी जगतमे उत्तमसे उत्तम गुण है वे सब अहिसामे बसे हुए होते हैं, और अहिसापालनके लिए सबसे मुख्य बात यह ग्रहण कर लें कि किसीका अनिष्ट चिन्तन न करे। किसीका बुरा करने की बात तो दूर रही, अनिष्ट चिन्तन भी न करे। परके नुकशान होनेसे किसीको मिल क्या जायगा? बुरा परिणाम करनेसे पापका बध और कर लिया। एक तो जीवनमे इस बातका अभ्यास बनायें कि किसी भी जीवका अनिष्ट चिन्तन न करे, किसीके द्वारा कितना ही विरोध हो, अथवा कोई प्रतिकूल चेष्टा की गई हो तिसपर भी दूसरेके अनिष्ट चिन्तनका भाव न आ सके वह हृदय बडा पवित्र है। अपना जीवन न्यायशील बितायें, किसीका बुरा चिन्तन न करें ये दो गुण प्रकट हो जायें तो उस आत्माके कल्याणमे फिर क्या सन्देह है। तो अहिसा इस जीवका परमउद्धार करने वाली है।

अहिंसैव शिव सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियम्।
अहिंसैव हित कुर्याद् व्यसनानि निरस्यति॥५००॥

कर्म बंधन रहित परिणति अहिंसा—यह अहिंसा ही मुक्तिको प्रदान करती है। कर्म बँधे हैं यह तो है ससार और कर्म छूट जायें यह है मुक्ति। कर्म बधा करते हैं विकार भावके कारण। विकारमे मोह राग द्वेष ये तीन आ गए। यदि कर्मबधनसे मुक्त होना है तो मोह राग द्वेष इन विकारोको दूर करें। ये दूर हो जायें इस ही का नाम अहिंसा है। अहिसा से ही मुक्ति प्राप्त होती है और यह अहिंसा स्वर्ग लक्ष्मीको प्रदान करती है। अहिसा रहते

हुए कुछ थोडी सी कमी रह जाय, कुछ रागद्वेषकी वृत्तियां चलती रहे पर प्रधानता हो अहिंसाकी तो ऐसे जीवन वाले आत्माको स्वर्गादिक लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। यह अहिंसा ही आत्माका हित करती है। अहिंसा स्वयं हित है। कोई विकार तरग न उठना, केवल ज्ञानप्रकाशका ही अनुभव रहना ऐसी जो उत्कृष्ट आत्मपरिणति है वह ही तो अहिंसा है, और यही आत्महित है। जिसमे कर्मबंध न हो, कोई आकुलता न हो वही तो आत्महित है। कर्मबंध और आकुलता विकारोसे हिंसा ही हुआ करती है। तो अहिंसा ही आत्माका हित करने वाली है।

परमोपकारी धर्म अहिंसा—अहिंसा परिणामसे समस्त कष्ट और आपदायें नष्ट हो जाती हैं। कल्याणार्थी पुरुषको इतना उदार रहना चाहिए कि समस्त जीवोंको अपने स्वरूप के समान लख सके। समस्त जीव मेरे ही स्वरूपकी तरह चैतन्यस्वरूपी है, इनमें यह मेरा है यह पराया है ये बातें नही पडी हुई हैं। सभी जीव अत्यन्त न्यारे हैं मुझसे। चाहे वे एक घरमें उत्पन्न हुए हों, पर हैं वे सब भिन्न। और स्वभावदृष्टिसे निरखने पर है सब अपनी ही तरह। जब कुछ जीवोको अपना मान लेते और अपने तन, मन, धन, वचन सब कुछ उनके ही लिए न्योछावर कर देते हैं और जहाँ सब जीव अपने स्वरूपके समान नजर आयें और वास्तविकताका जहाँ परिचय हुआ वहाँ होती है परमार्थ उदारता। यह उदारता जो बर्तते है उनके कष्ट और आपदायें नही आती। जो सब जीवोको अपने समान समझते है उन पर फिर कौन आपत्ति डाले और पूर्वकृत कर्मोंके उदयवश यदि कोई विपदा भी डालता है तो वह अहिंसक पुरुष दूसरेको शत्रु नही मानता है। उसके तो अत. यह प्रकाश है कि मैं ज्ञानस्वरूप हू, मेरा ज्ञानरूप परिणमन होना मेरा कार्य है। बस इतना ही मुझमें मेरा वास्ता है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ हममे नही है।

उदारता बिना अहिंसा नहीं—तो वह पुरुष जो उदार है, अहिंसा धर्मका पालन करता है, सब जीवोको अपने समान समझता है उसे विपत्ति और कष्ट नही आते है। जिसका ऐसा अहिंसक जीवन हो वही आत्माका उत्कृष्ट ध्यान कर सकता है और जो आत्मध्यान करता है उसको मुक्ति प्राप्त होती है, सर्व संकट दूर होते है; सर्वकल्याण प्राप्त होता है।

सप्तद्वीपवतीं धात्री कुलाचलसमंचिताम्।
नैकप्राणिबधोत्पन्न दत्वा दोषं व्यपोहति ॥५०१॥

परिणाम शुद्धिमें अहिंसा—एक प्राणीके बध करनेमे जितना दोष उत्पन्न होता है वह दोष बडे दान करके भी दूर नही होता। कोई पुरुष ७ द्वीप सारे चलाचल सहित पृथ्वी भी दान करदे तो उस दानसे भी जीवबधसे उत्पन्न हुआ दोष दूर नही होता। अहिंसाका

महत्त्व समझिये, अभयदानका महत्त्व देखिये। और, देखो तो केवल परिणामोकी ही आवश्यकता है, परिणाम शुद्ध हो, किसी जीवका वध न विचारे तो अहिंसा होती है। जिस किसी पुरुषने अपने जीवनमे किसी भी समय किसीके घातके लिए उपाय किया हो, घात किया हो, या दूसरोंको बहकाया हो, किसी प्रकार हिंसामे सहयोग दिया हो वह पुरुष कितना पापी है, उसको कितने पापकर्मोंका बन्ध हुआ है? पुण्यका उदय है वर्तमानमे, इस कारण वह इस ओर दृष्टि नही देता लेकिन इसका बहुत खोटा परिणाम होता है। यह संसार है, यहाँ आज हम आप लोग मनुष्यजन्म धारण करके आये है, यहाँ अपना कुछ है नही। और, सुयोग कितना अच्छा मिला है, धर्मकी बाते सुननेको मिलती हैं, धर्मका चिन्तन करनेकी पात्रता है, धर्मधारण कर सकते है; ऐसे सुयोगके अवसरमे भी यदि किसी प्राणीके वधका चिन्तन करके हम अपने जीवनको निष्फल कर दें तो भविष्यमे फिर कहाँ अपना सुधार करेंगे। एक भी प्राणीका बध करें उसका इतना अधिक दोष है कि जम्बूदीप जैसी पृथ्वीका दान भी कर देवे तो भी वह पाप टलता नही है।

सकलजलधिवेलावारिसीमा धरित्री,
नगरनगसमग्रा स्वर्णरत्नादिपूर्णाम्।
यदि मरणनिमित्ते कोऽपि दद्यात्कथचित्,
तदपि न मनुजानां जीविते त्यागबुद्धि ॥५०२॥

सर्व जीवोंके समानताकी दृष्टि हितकारी—सभी जीवोको अपना जीवन कितना प्यारा है? मनुष्योको अपना जीवन इतना प्रिय है कि कोई समस्त पृथ्वीका राज्य भी दे तो भी वह मरना नही चाहता। किसीसे कहा जाय कि हम तुम्हे यह सारा राज्य दे देंगे, तुम मर जावो, तो वह मरनेके लिए तैयार न होगा। कोई बूढा या बुढिया कभी कभी ऐसा कहा करते हैं कि भगवान मुझे उठा ले, और अगर कोई भयकर सर्प आ जाये तो लडकोको बुलाते हैं दौडो सर्प आ गया। और, अगर कोई कहे कि अरी दादी तू रोज-रोज कहा करती थी कि हे भगवान मुझे उठा ले, सो भगवान ही तेरे ऊपर दया करके तुझे उठाने आये है। तो कोई मरना नही चाहता। और, कोई अगर किसीकी जान ले ले तो समझ लीजिए कि उसने कितना बडा पाप किया। प्रथम तो जीवनमे ऐसी साधना बनाये, अपने मनको समझा-बुझाकर, अपने मनको कोई कष्ट मिले तो उस कष्टको सहन करनेकी आदत बना ले, पर किसी भी जीवको सतानेका यत्न न करे, किसीके अनिष्टका चिन्तन भी मनमे न लायें। ऐसा स्वच्छ हृदय बन सके तो इसमे बहुत पुण्यकी बात होगी। यद्यपि अनेक घटनाएँ ऐसी आती हैं चूँकि अज्ञानियोंसे बसा ही तो ससार है, लेकिन उसका बुरा करनेका यत्न न करके जिस किसी भी प्रकार बने तिसपर भी हे उन्नति चाहने वाले पुरुष! तुम यह निर्णय रखो

कि कोई मुझे कितना ही कष्ट दे पर मैं किसीका अनिष्ट चिन्तन न करूँगा। ऐसा स्वच्छ हृदय हो, अहिंसा वसी हो उसमे पुण्यवल बढ़ता है, आत्मध्यानकी पात्रता होती है और निकटकालमे वह मुक्तिको भी प्राप्त होता है। अब सोच लीजिए जीवको अपना जीवन कितना प्रिय है। कितना भी कुछ आप सब देनेकी वात कहे तब भी कोई मरना नही चाहता।

किसीकी जान बचा देना सर्वोत्कृष्ट पुण्य—किसी जीवकी जान बचा ले तो इसमे कितना पुण्य होता होगा। जीवकी जान बचानेमे जो पुण्य होता है वह समस्त पृथ्वीके दान से भी अधिक होता है। एक कथानक ऐसा प्रसिद्ध है कि कोई पुरुष बहुत दानी था। अनेक दान उसने किए। यज्ञविधान किया, पूजा समारोह किया, तपश्चरण किया, गुरुवो की उपासना की, बहुत बहुत पुण्य किया और एक वार ऐसी भी घटना हुई कि वह कही जा रहा था परदेश। रास्तेमें वह भोजन करने लगा तो उस समय कई दिनोंका भूखा मरणासन्न मनुष्य या पशु कोई दिख गया तो उसे खिला दिया और स्वयं निराहारी रह गए। यह भी उसके जीवनमे घटना घटी। वह पुरुष कर्मोदयवश गरीब हो गया और इतना अधिक गरीब हो गया कि खानेका भी कोई ढंग न रहा तो स्त्री ने कहा कि तुम राजा साहबके पास जावो और कोई सा भी पुण्य राजाको दे आवो, उसके एवजमे वह तुम्हे धन देगे। वह गया राजाके पास और बोला कि हे महाराज! हमने जीवनमे बहुत बहुत पुण्यके काम किये, यज्ञ किया, यात्रा किया, गुरुवोकी उपासना किया, भूखे व्यक्तिको अपने सामने रखा भोजन भी दे दिया, अनेक पुण्य किया, उनमेसे कोई एक मेरा पुण्य ले लीजिए और मुझे थोडी सी सम्पदा दे दीजिए। तो राजाने सोच विचार कर कहा, अच्छा तुमने जो अपने सामने रखा हुआ भोजन भी किसी भूखेको मरणासन्नको खिला दिया था, उससे जो पुण्यबंध हुआ वह पुण्य हमे दे दीजिए। वह बोला महाराज हमने बडे बड़े यात्रा, यज्ञ, विधान आदिक अनेक पुण्यके काम किये, उनमेसे आप कोई पुण्य ले लीजिए। ··· नही। हमे तो वही पुण्य चाहिए जो किसी भूखे मरणासन्नको अपने सामने रखा हुआ भोजन भी दे दिया था। वह पुण्य सारे पुण्योसे बढ़कर है। तो वह सोच विचारकर कहता है कि हम तो वह पुण्य नही देंगे। तो इस कथानकसे यह बताया है कि किसी जीवका हित कर देना, उसके प्राण बचा देना यह सव दानोसे भी अधिक पुण्यकी बात है। यह पुण्य समस्त पृथ्वीका दान करनेसे भी अधिक है। दिल इतना दयालु होना चाहिए। आजके जमानेमे ऐसी दयाकी बात कौन करता है? लेकिन अब भी विरले पुरुष ऐसे पाये जाते है जिनका हृदय दयासे भरा हुआ होता है और इस ही दयाधर्म पुण्यके कारण उनका यश, उनकी सम्पदा, उनका ठाठ सब कुछ दिन प्रतिदिन बढ़ता रहता है। अहिंसाधर्म ही इस

जीवका स्वाभाविक शरण है।

आत्मैवोत्क्षिप्य तेनाशु प्रक्षिप्तः श्वभ्रसागरे ।
स्नेहभयगणेनाऽपि येन हिंसा समर्थिता ॥५०३॥

बुरे चिन्तनसे नरक वेदन।—जिस पुरुषने किसीकी प्रीतिके भयसे अथवा किसी दूसरे भयसे हिंसाका समर्थन किया, इतनी ही बात कही कि हिंसा करना बुरा नहीं है तो ऐसा समझिये कि उसने अपने आत्माको उसी समय नरकरूपी समुद्रमें डाल दिया। प्रसिद्ध बात है। राजा वसुने पर्वतकी हिंसाके प्रस्तावका इन ही शब्दोंसे तो समर्थन किया था कि जो पर्वत कहता है वही ठीक है। उसका फल क्या हुआ कि वसुको नरक पहुंचाया, जिसकी सत्यताका ऐसा यश था कि लोग देखते थे कि इसका सिंहासन भूमिसे भी अधर रहता है। या ऐसा कुछ रहा हो कि स्फटिक मणिके पाये लगे हो जिससे सिंहासन अधर दिखता हो, लेकिन क्या हुआ कि वह सिंहासन टूट गया और वसुने मरण करके नरकमे जन्म लिया। हिंसाके समर्थनका यह फल है। जो जीव सबका भला विचारता है उस पुरुष पर विपदायें नही आती। जो किसीका बुरा विचारता ही नही उसका कोई क्या दुश्मन होगा? बुरा विचारनेसे चाहे वह मायाचारके कारण दूसरोकी निगाहमे बुरा न भी साबित हो रहा हो लेकिन कर्मबंधको कौन रोकेगा? वहां तो मायाचार नही चलता। जैसा जो परिणाम करे उसे उस ही प्रकारसे बंध हो जायेगा।

स्वच्छ हृदय बनानेसे संकटोंकी समाप्ति—किसी भी जीवका अनिष्ट न विचारे ऐसा स्वच्छ हृदय बने उसे अनुपम वैभव प्राप्त हो गया समझिये। सबसे बडा वैभव तो यही है कि उसकी दृष्टिमे सम्यग्ज्ञान बसा और सबके प्रति उदारताका भाव जगा। ऐसा उत्कृष्ट वैभवशाली पुरुष ससारमे किसी भी प्रकारसे संकटोको प्राप्त नही होता और स्वर्गादिक लक्ष्मीका भोगकर निकट कालमे ही मनुष्य जन्म लेकर वह मुक्तिको प्राप्त करता है। हमारा जीवन दयासे, अहिंसासे, न्यायसे भरा हुआ होना चाहिए, ऐसा यत्न करें, इसही मे अपना कल्याण है।

शूलचक्रासिकोदण्डैरुद्युक्ता सत्त्वखण्डने ।
येऽत्रमास्तेऽपि निस्त्रिंशैर्देवत्वेन प्रकल्पिता ॥५०४॥

देवोंकी प्रवृत्ति हिंसामें नहीं—जो देव जातिरूपसे माने गये भैरव चंडी काली आदिक देवी देवता त्रिसूल चक्र तलवार मनुष्य आदिक शास्त्रोसे जीवोका घात करने मे उद्यमी रहा करते हैं उन्हे भी निर्दयपुरुष देवता मानकर उनकी स्थापना करते हैं। जो जीवोकी हिंसा करने मे प्रवृत्ति करें वह देव काहेका है। परन्तु निर्दयी पुरुष ऐसे निर्दय देवको ही सोचते हैं, वे ही उन्हे इष्ट लगते हैं। मनुष्यका जीवन अहिंसासे भरपूर होना चाहिए तब ही मनुष्यको

शान्ति प्राप्त हो सकती है और यह अहिंसा इतनी उत्कृष्टरूपमें होनी चाहिए कि जहाँ देवी देवतावोके नाम पर भी हिंसाका काम न हो, वे देवी देवतावोंकी यादगार और लोक-व्यवहार कहाँसे शुरू हुआ है? मूलमें बात तो यह थी कि कुछ यक्ष यक्षणी तीर्थंकरोकी रक्षाके लिए उनके विहारके लिए उन्हे आराम देनेके लिए रहा करते थे। वे जैनधर्मके सेवक देव थे, तीर्थंकरोकी हुकूमतमे रहा करते थे। तो जो बडे पुरुषोंके समीप रहे ऐसे लोग भी मान्यता वाले हो जाया करते हैं, फिर तो वे व्यंतरदेव ही तो थे। लोग व्यन्तरोकी ओर भी दृष्टि देने लगे और कुछ समय बाद और और नाम वाले भी व्यन्तर देव माने जाने लगे और उनकी ही पूजा चलने लगी।

मांसभक्षियों द्वारा बलिकी प्रथा—दूसरी बात किसी समय जब कि बडे-बडे समझदार लोग भी मांस खानेके इच्छुक हो गए थे किन्तु उनकी प्रसिद्धि धर्मात्मा, पडित ऐसे ही रूपमे थे, तो धर्मात्माका भेष रखकर अथवा विद्वताकी छाप रखकर मांस आदिक खाना, शिकार खेलना, इनकी ओर उनकी रुचि जाने लगी, तब सोच विचारकर एक धर्मका यक्ष का बलिका रूप रख दिया कि देवी देवतावोके समक्ष बलि करनेसे ये प्रसन्न होते हैं जो ऐसा रूप बना दिया जिससे अब उनके मांस खानेका भी शौक चलने लगता है और लोग उन्हे धर्मात्मा पडित भी कहते रहे। यो अनेक कारणोसे फिर और-और कारण छूट-छूटकर यह देवी देवतावोंको बलि चढानेकी पृथा चली। वे मोही अज्ञानीजन है जिन्हे आत्मस्वरूप का कुछ बोध ही नही है, बल्कि साधारणतया लोक सभ्यता भी नही है, वह पुरुष देवी देवताओको बलि किया करता है। तो जो निर्दय होगा वह ही निर्दय देवोको इष्ट मानता है।

बलिभिर्दुबलस्यात्र क्रियते य पराभव. ।
परलोके स तैस्तस्मादनन्त प्रविषह्यते ॥५०५॥

पुण्यबलके दुर्पयोगका निषेध—हे कल्याण चाहने वाले पुरुष! देवयोगसे पुण्यबल से यदि धनका बल मिला है, शरीरका बल मिला है, बुद्धिका बल मिला है तो इस बलका ऐसा विश्वास न रखे कि इस धनके हम ठेकेदार ही है। यह बल हमे सदा ही मिलता रहेगा। यह तो पूर्वकृत पुण्यका फल है। जो धनबल मिला, शरीरबल मिला या लौकिक इज्जत मिली, नेतृत्व मिला, इसका यह विश्वास नही है कि यह सदा रहेगा। अपनी करनी इस ही भवमे बिगड जाय तो इस ही भवमे यश नेतागिरी विश्वास प्रतिष्ठा और सभी बल खतम हो जाते हैं। यदि कोई बल पाया है तो बल पाकर निर्बलोपर अन्याय मत कर। निर्बलोपर अन्याय करनेमे यह कुफल होगा कि रहा सहा बल भी खतम होगा और आगे खुद निर्बल होकर दूसरोंके द्वारा सताये जायेंगे। जो बलवान पुरुष इस लोकमे निर्बलको पराभव करता है या सताता है परलोकमे उससे भी अनन्तगुना पराभव सहता है। बल

मिला है तो किसीका तिरस्कार न करे, किसी पर अन्याय न करें।

क्रूरताका फल खोटे कर्मबन्धन व दुर्गति—कभी चित्तमे क्रूरता आती है तो उससे बहुत खोटे कर्मोंका बन्ध होता है और भविष्य अधेरेमे दुर्गतियोंमे बिताना पडता है। जो लोग शिकार खेलते है, मांसभक्षण करते है, हिंसा करते हैं वे तो निर्बलोको निशंक होकर सताते ही रहते है। भला जो हिरण आदिक जानवर घास खाकर अपना पेट भरते हैं ये मुर्गी आदिक जो किसी पुरुषको किसीको सताना जानते ही नही है, अथवा कैसा ही कोई जीव हो, इन निरपराध जीवोको केवल एक जिह्वाके लम्पटी बनकर मार डालते है, भून देते हैं, उनकी क्या दुर्गति होती होगी। एक बार किसीने यह पूछा कि इतनी मुर्गियाँ मरती फिर भी मुर्गिया बहुत-बहुत पैदा होती रहती है, तो इनके मरनेसे तो यह बढाव है। इनके मारनेसे नुकशान क्या किया ? तो इसका उत्तर यह है कि जिन्हे मुर्गी बनना है वे तो बनते हैं, पर मारने वाले जितने है वे वे मरकर मुर्गी बनते ही हैं, इसलिए मुर्गियाँ ज्यादा बढ गयी। होता भी प्राय ऐसा है। जो पुरुष जिस जीवको सताता है, जिसके प्राण हरता है प्राय करके वह हिंसक तो बनता है उस प्रकारका जीव और वह बनता है बलवान हिंसक कोई जीव। तो हिंसा करने वाले लोग मर कर ऐसा जन्म लेते है कि जहाँ उनकी हिसा हो।

जीवनमें नम्रता लानेकी शिक्षा—अपने जीवनको इतना नम्र बनायें, इतना कोमल बनाये कि दूसरे प्राणियोके सतानेका भाव न आये, इतनी हिम्मत बनाये कि किसी प्रसगमे खुदका चित्त दुखित होता है तो अपनी जितनी शक्ति है उस शक्तिको संभालकर ऐसी कोई क्रिया चेष्टा न करे जिससे दूसरोका दिल दुख जाय। कारण एक और भी है। जो पुरुष दूसरोका दिल दुखाने, सतानेका भाव रखता है वह उसी समय दुखित हो जाता है। दूसरोको दुखी करनेकी बात मनमे आये तो उस मनमे आनेसे ही दुखी होने लगता है। कोई पुरुष किसीकी निन्दा करेगा दुर्वचन बोलेगा तो दुर्वचन बोलनेसे पहिले दिलमे बड़ी हिम्मत बनानी पडती है और दुखित होकर कष्ट मानकर निन्दा करनी पडती है। कोई पुरुष किसीकी प्रशसा करने खडा हो जाय तो वह बडा निर्दय होकर प्रशसा करता है। इससे ही अदाज करलो कि जब पहिले अपने दिलको बहुत दुखी कर लेना पड़ता है तब दूसरेको दुखी करनेका प्रयत्न कर सकते हैं। तो स्वय दुखी हो गए और फिर जिसे दुखी किया वह भी बदला लेनेका बहुत-बहुत प्रयत्न करेगा और कभी कुछ छोटे-छोटे लोगोंसे भी बडी-बडी आपत्ति सामने आ जाती हैं। जिसके प्रति हम आज यह सोचते हैं कि यह तो न कुछ चीज है, तुच्छ पुरुष है, यह मुझे क्या सतायेगा ? यह मेरा क्या करेगा ? लेकिन चाहे कितना ही कमजोर कोई हो, जो निरन्तर यत्न और भावना बनेगी बदला लेनेकी तो कुछ

ऐसे साधन जुटा देंगे कि खुद अथवा किसी दूसरे बलवानके द्वारा उसका बदला चुका लेगा। दूसरेके सतानेका परिणाम रौद्रध्यान है, इसमें बहुत ही अशुभ कर्मोका उदय होता है।

भयवेपितसर्वाङ्गाननाथान् जीवितप्रियान्।
निघ्नद्भिः प्राणिनः किं तैः स्वं ज्ञातमजरामरम्॥७६॥

परहिंसासे स्वहिंसा गर्भित—ये हिंसक लोग जो कि ऐसे प्राणियोंको मारते हैं जो निरपराध है, जिनको जीना एक प्रियवस्तु है, जो अनाथ है, जिनका कोई रक्षक नही है, भयसे जिनके सारे अंग काँप रहे हैं ऐसे प्राणियोको जो मारते है उन्होने क्या अपनेको अजर अमर समझ रखा है ? मुझे भी कोई मार देगा इसका कुछ ख्याल नही करता यह हिंसक जीव। भला सोचिये तो वह घटना—कोई पुरुष किसी पशुको अथवा मनुष्यको बाँधकर शस्त्रसे मारता है, जिसके अग भयसे काप रहे है, जिनकी रक्षाका कोई उपाय नही, अनाथ है, जिनका कोई स्वामी नही। जीवन तो सबको प्रिय है ना। ऐसे प्राणियोको जो मारता है समझिये कितने क्रूर कर्म करता है। उन्होने क्या अपनेको अजर अमर समझ रक्खा है ? वे भी इसी प्रकार दूसरोके द्वारा मारे जायेंगे, सताये जायेंगे। इस दृष्टिको मुख्य करके न देखिये किन्तु हिंसाका परिणाम होनेपर खुद अंधेरेमे हो गया, खुद बेसुध हो गया, बेकार बना, मिथ्यात्वका कीचड और घनिष्ट लगा, संसारमे जन्म मरण करता रहेगा, आत्मीय शुद्ध आनन्दसे दूर हो जायगा, इस कारण हे कल्याणार्थी पुरुष ! अपने आपको अहिंसक बनाओ। अहिंसासे अपना जीवन भरा हुआ है।

बाह्य समागमका कारण पुण्योदय—किसीके साथ छल कपट करके, दगाबाजी करके कौनसी ऋद्धि लूट ली जायगी ? अरे ये पौद्गलिक ठाठ ही तो हैं। इनसे आत्माका क्या सम्बन्ध है। ये घरमे अधिक आ गए तो क्या, कम रह गये तो क्या ? और, फिर छल कपटसे धन नही बढता, यह तो धर्मसे पुण्योदयसे अपने आप बढता है। यह बात बिल्कुल सत्य है। कोई जीव किसी सेठके घर उत्पन्न हो गया तो क्या कमाया उसने ? करोडपति कहलाने लगा। कोई जीव मरकर इन्द्र बन गया, क्या उसने वहाँ कमाया ? पर अटूट वैभवका स्वामी बन गया। ये धन वैभव पुण्योदयसे आते है, इनके प्रति विकल्प रखना अच्छा नही है, इतनी हिम्मत हो कि लक्ष्मीको आना हो, इसकी जितनी अटकी हो उतनी आये, न आना हो, न अटकी हो मत आये, मुझे कोई इससे हानि नही है। मेरा धर्म, मेरा ज्ञान, मेरा सम्यक्त्व मेरे पास है तो फिर और किस वस्तुकी जरूरत है।

धर्ममय जीवनमें ही कल्याण—जब यह आत्मा अकेला है, स्वतत्र है स्वयंके स्वरूप है, फिर इसको अन्य वस्तुके समागमकी क्यो अटक है ? स्वयं अपने आप जैसा संयोग समागम जो कुछ होता हो हो हम तो एक धर्मके लिए मनुष्य हुए है, ऐसा

चित्तमे निर्णय होना चाहिए और धर्मपालन भी शुद्ध चैतन्यस्वरूपके दर्शनसे होता है । और जिसने शुद्ध चैतन्यस्वरूपका दर्शन किया है, सम्यक्त्व जगा है उसका सब जीवोंके प्रति उसी प्रकारका आदर होगा जैसा शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिसे बनता है । बहुत अपूर्व अवसर है यह । जो ऐसी बुद्धि बल सहित नरभव मिला है किसमे बुद्धि नही है ? घरकी व्यवस्था करते, धनकी व्यवस्था करते, व्यापारकी व्यवस्था करते और बडी-बडी समस्यायें सुल्झाते, बहुत बहुत युक्तियोका आधिपत्य मिला है, क्षयोपशम तो खूब है, अब इस अपूर्व अवसरका हम ऐसा सदुपयोग करें कि हम इस मायामय संसारमे न उलझकर वास्तविक कल्याणमे लग जायें ।

मायामयी दुनिया—क्या है, ये दुनियाके लोग हमे गरीबीके कारण कुछ न समझेंगे मत समझे, यह दुनिया ही मायामय है, ये सब पुरुष भी मायामय हैं, सब कर्मोंसे कलंकित हैं, दु खसे मलीमस हैं । किनमे अपना नाम बढवाना चाहते हो ? किनमे अपना कुछ यश चाहते हो ? यह तो पूरी मूढता है । तत्त्व क्या है इसमे ? कोई भी मनुष्य मेरा कुछ भी नाम न ले, कुछ भी इज्जत न करे, गरीब जानकर उपेक्षा करदे तो कर दे, हम यदि अपनी उपेक्षा कर जायें तो हमारा बिगाड है । हम अपने मे ईमानदार रहते है, अहिंसक रहते हैं, सरल रहते है, उदार रहते है, अपने यथार्थज्ञान सही बनाये रहते हैं तो हमारा कुछ बिगाड नही है । लोग कुछ भी करें, अपनी सभाल है तो भला है, लोगोसे क्या चाहते हो ? ऐसा अपना आत्मबल बढे और अपने धर्मके पालनके लिए यत्न रहे इससे तो जीवनकी सफलता है । धन जोड लेनेमे कुछ तत्त्व नही रखा है । खूब निहार लो, आता है पुण्यके उदयसे तो आये, उसका उपयोग करें, पर उसकी आशा करना, प्रयत्न करना कि लोग मुझे यह जान जायेंगे कि यह भी बडे आदमी हैं इस दृष्टिसे संचय करना तो महामूढताकी बात है । पर्याय व्यामोह है तभी तो यो सोचते है कि लोग मुझे कुछ अच्छा कह दें । कौन से लोग ? अज्ञानी लोग । ज्ञानी तो इस कारण अच्छा कहेगे नही । तो ज्ञानी जनोको कुछ अपना नाम अथवा कुछ प्रशसाके शब्द कहलवाने मात्रके लिए रातदिन तृष्णासे अपने जीवनको फूबर बनाये रहना यह कोई बुद्धिमानी नही है । आत्मदया करो ।

अपनी एकत्व निरखसे शान्ति—जितना अधिक अपने आपको अकेला निरख सकोगे उतनी अधिक शान्ति मिलेगी, मोक्षमार्ग मिलेगा, भविष्य सुधरेगा । यह मैं देह तकसे भी न्यारा, औपाधिक परभावोंसे भी न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हू, ऐसा अपने आपको अकेला निहारते जाइये । जितना अपने आपको अकेला निरखोगे उतना ही धर्ममार्गमे कदम बढेगा, उतनी ही शान्ति मिलेगी । और यही है वास्तविक अहिसा । जो पुरुष ऐसे अहिंसक होते है उनको उत्तम आत्मध्यानकी सिद्धि होगी ।

स्वपुत्रपौत्रसन्तानं बर्द्धयन्त्यादरैर्जना.।
व्यापादयन्ति चान्येषामत्र हेतुर्न बुद्धचते ॥५०७॥

अज्ञानसे भ्रान्ति—अज्ञानका माहात्म्य तो देखिये कि लोग अपने पौत्रादिक संतानोमें बडा श्रम करके पालते हैं, पर दूसरेकी संतानका घात करते है। इसमें और क्या है हेतु सिवाय ज्ञानके? मान लो मनुष्यको नहीं मार रहे है, पशुवोको मार रहे है तो क्या वे पशुवोके संतान मनुष्योके सतान जैसे नही है? अपने ही घरमे उत्पन्न हुए संतानका तो पालन-पोषण करे और इन पशुवोंकी संतानका हनन करे तो यह कितना बडा अज्ञान है? है कौन किसका? पुत्र, स्त्री, मित्रादिक किसीके वास्तवमें है क्या? वे भी जीव है, कही थोडी देरको समागम हो गया, पर अन्तमे होगा क्या?

तत्त्वज्ञानीके आनन्दकी संस्थिति—जो पुरुष संयोगमे सुख मानते है वे पुरुष कितना दु खी होगे वियोगके समय? सो इसको सभी लोग अनुभव करते है। गृहस्थीमे और घटनाएँ ही क्या होती हैं? विवाह हुए, बच्चे हुए, कोई मरा, कोई जिया, यही लगा रहता है। कभी संयोग हुआ तो कभी वियोग होगा। अगर सयोगमे हर्ष माना तो वियोगके समय दु खी होना पडेगा। तत्त्वज्ञान सम्हालो तो संयोगके कालमे उस पदार्थसे कुछ सुख नही मिल रहा। सुख तो कल्पनाकी बात है। वास्तविक आनन्द तो तत्त्वज्ञानसे भरा होना है।

आत्माकी निधि ज्ञान—ज्ञानकी रुचि करो। लौकिक वैभवके दीवाने न बन कर ज्ञानार्जनके दीवाने बनो। सारा घर सब कुछ इस ज्ञानके दीवानेपनमे रंग जाय उसका अनुपम आनन्द है। यह मेरा है, यह पराया है, इस प्रकारका जो अज्ञान वासनाका विकल्प है यह तो ससारमे रुलते रहनेका साधन है। जब देह तक भी अपना नही है तो भला और अपना क्या हो सकता है? जरा गम्भीरतासे विचार तो करिये। जैसे धनरक्षा करते-करते भी हजारो लाखोका अपव्यय लूटकर विनाश हो ही जाता है तो रक्षा करनेके विकल्पसे हुआ क्या? ऐसे ही परिजनकी रक्षाका श्रम करते करते भी आखिर उनके विकार हो ही जाता है। तो विकल्प और शक्तिसे भी वहाँ लाभ क्या उठाया? अपने आपकी सम्हाल करे और अपने स्वरूपका सही परिचय पाकर यही मात्र मैं हू, और बस ज्ञाताद्रष्टा रहना यही मेरा काम है। जब ज्ञान मेरा स्वरूप है तो जानना देखना तो मिट नही सकता ना। तो जानना देखना यही मेरा काम है, इसके अतिरिक्त न मेरा कुछ काम है और न अन्यरूप मैं हू। इस प्रकारके एकत्वका अपना परिचय पायें और इस ओर ही अपने आपको लगायें।

पुद्गलके लगावमें बिगाड़—यदि इन जड पुद्गल वैभव इनके ही पीछे रमे रहे, लगे रहे तो इसमे कुछ तत्त्वकी प्राप्ति प्राप्त न होगी। क्या है इसका? लोग सोचते हैं कि खूब

कमाकर रख जावे तो हमारे लडके सुखी रहेगे। मरनेके बाद फिर किसका कौन लडका है? यह तो सब जगतका ठाठ है, संयोग है। जो हो गया हो गया। तो मोह ममताका बहुत बुरा परिणाम भोगना पडता है, अपनेको सम्हालें, मोह ममतासे अपनेको हटाये, ज्ञान मे ही अपना उपयोग बनायें, यह है वास्तविक जिन्दगी। ऐसा करनेके लिए अधिकसे अधिक सत्सग जुटानेका यत्न कीजिए। उसके लिए तन, मन, धन, वचनसे दूसरोका सत्कार आदिक करना पडे तो करे, मगर अधिकसे अधिक सत्सग समागम जुटानेका यत्न करें। दो बातें निर्मोहताकी वस्तुस्वरूपकी अपने आपके चित्तमे पडती रहें तो उससे आत्माकी बडी सम्हाल होती है, सत्पथका भान रहता है। अपना अहिसक जीवन बनाये और ज्ञानवासनासे अपने को आनन्दमय रखे, यही एक लाभकी बात है।

परमाणो पर नाल्पं न महद्गगनात्परम्।
यथा किञ्चित्तथा धर्मो नाहिंसालक्षणात्पर ॥५०८॥

रत्नत्रयका आराधन ही संकटोंसे मुक्तिका उपाय—ससारके संकटोंसे छूटनेका उपाय है आत्मध्यान। चूँकि आत्मा स्वरूपसे ससाररहित है, केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र है, अतएव निःसंसार ज्ञानानन्दमय निज आत्माके ध्यानसे कर्मबन्धन दूर होते हैं, ससारके सब संकट नष्ट होते है। अतएव आत्मध्यानका कर्तव्य मनुष्यके लिए एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। आत्म-ध्यानका पात्र वही पुरुष होता है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे विभूषित है। ध्यानके मुख्य अंग है ये तीन—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ये न हो और प्राणायाम आदि अनेक अभ्यासोसे भले ही उस ध्यानकी साधना कर रखी हो लेकिन शान्ति और मोक्षमार्ग नही मिल सकता। और जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रसे सहित हो उसके बाहरी ध्यानके उपाय न भी बन पायें, पर उसको अपने ध्येयमे सिद्धि प्राप्त होती है। तो इस प्रकरणमे सम्यक्चारित्रका वर्णन है। सम्यक्चारित्रमे प्रथम अहिसा महाव्रत है।

सबसे बडा धर्म अहिंसा—अहिसा महाव्रतकी प्रशसामे कह रहे हैं कि देखो जैसे लोकमे परमाणुसे कोई छोटा और कुछ तो नही है ना, और आकाशसे बडा भी कुछ नही है, इसी तरह समझ लो कि अहिसारूप धर्मसे भी बडा कोई धर्म नही है। लोकमे यह बात प्रसिद्ध है कि अहिसा उत्कृष्ट धर्म है और हिसा अत्यन्त गरहित तुच्छ बात है। अहिसामे प्रधानता है विचारोकी स्वच्छता की। सर्वजीवोको अपने समान ज्ञानानन्दस्वरूप निरखना और इस शुद्ध दृष्टिके प्रतापसे किसी भी जीवके अकल्याणकी वाञ्छा न करना सो अहिसा-धर्म है। अहिसाधर्म उत्कृष्टरूपसे तो साधुवोके ही होता है, लेकिन गृहस्थ भी किसी भी जीव का अकल्याण न चाहे यहाँ तक कि कोई राजा, सेनापति, सैनिक, ज्ञानी हो और उसे कहीं

विवश होकर युद्ध करना पड़े, आक्रमण कोई करे तो उसके बचावके लिए यत्न करना पडे और उस यत्नमे अनेक लोग मृत्युके घाट भी उतर रहे हो फिर भी उस ज्ञानीके चित्तमे दूसरेके अकल्याणकी इच्छा नही है। कैसा एक अध्यात्म द्वन्द्व है उस समय कि अन्तरङ्ग तो किसीका अकल्याण नही चाहता और प्रयत्नसे जीवघात हो रहा है। इसके चित्तमे यह है कि सद्बुद्धि जगे और यह हिंसा बद हो। किसीका दिलसे घात नही चाहता ज्ञानी जीव, ऐसी भी परिस्थितियां हो जाती हैं। यद्यपि वह उत्कृष्ट अहिंसा नही है लेकिन अहिंसाका मार्ग वहाँ भी है। चित्तमे दूसरे जीवोंका विरोध मान लेना सो हिंसा है। तो जैसे परमाणु से छोटा कुछ नही है इसी तरह हिंसासे अत्यन्त गरहित और कुछ नहीं है। जैसे आकाशसे बडा लोकमें और कुछ नही है इसी प्रकार अहिंसाधर्मसे बडा लोकमे और कुछ नही है। जो अहिंसक पुरुष है वही आत्मध्यानमे बढता है, अतएव ध्यानका मुख्य अंग है अहिंसामहाव्रत।

तप श्रुत यमज्ञानध्यानदानादिकर्मणाम्।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ॥५०९॥

शास्त्रज्ञान अत्यन्त हितकारी—जितने भी उत्तम कार्य है सभी कार्योंकी माता है अहिंसा। तपश्चरण एक उत्कृष्ट कार्य है, जिससे कर्मजजाल हटता है, आत्मपवित्रता बढ़ती है, आनन्द हृदयंगत् होता है। ऐसे उत्कृष्ट तपश्चरण कार्यकारीको भी पैदा करने वाला है अहिंसा। दया न हो, जीवघातकी प्रवृत्ति हो, यदवा तदवा प्रयत्न हो तो उसका तपश्चरण कुछ भी कार्यकारी नही है। शास्त्रका ज्ञान एक बहुत बडा कार्य है। तत्त्वका रहस्य पाना, वस्तुस्वरूपका मर्म विदित होना, अपने आपका सही परिचय होना ये सब बातें शास्त्रज्ञानसे ही तो विदित है। शास्त्रज्ञान बहुत ऊँचा कार्य है। लेकिन इस शास्त्रज्ञानमे जो हितकारक अन्य ज्ञान बनता है उसको उत्पन्न करने वाली भी अहिंसा है।

अहिंसामय आचारसे ज्ञानकी शोभा—कोई पुरुष हिंसा करे, जीवघात करे और शास्त्रोकी बडी-बडी बातें करे तो उसे ज्ञानी नही कहा जा सकता। यावत् जन्मके लिए मृत्यु पर्यन्त किसी भी उत्कृष्ट नियमका धारण कर लेना यम कहलाता है। ऐसा महान् व्रत कोई करे और मूलमें अहिंसा न हो तो उस व्रतकी क्या प्रतिष्ठा? यह यमरूप महाव्रत भी अहिंसाके आधारपर ही अवलम्बित है। बहुत-बहुत प्रकारके विषयोका ज्ञान हुआ, शास्त्रोका, लोकव्यवहारका, अन्य लौकिक ज्ञान भी बहुत मिल गये, पर यह ज्ञान तभी शोभा देता है जब आचार अहिंसामय हो।

निर्मलपरिणतिका नाम अहिंसा—अहिंसासे अर्थ यद्यपि द्रव्यमे प्राणोका घात न करना है, पर ध्यानका यह प्रसग है, इसलिए भावोपर जोर देकर सोचना चाहिए। जहाँ दूसरोंके प्रति विरोधका भाव न हो, अपने आपमे विकारोमें रुचि न जगे, सत्यस्वरूप

विदित रहे, जब सब जीवोमे ऐसे ही सहज आत्मस्वरूपका भान हो तो ऐसी परिणतिका नाम है अहिंसा। और, इस प्रकारकी अहिंसापरिणति हो तो उसका बहुत ज्ञान करना भी शोभा देता है, और हितकारी होता है। सब ओरसे विकल्प हटाकर हितकारी आत्मसाधना मे ध्यान बनाये रहना बहुत उत्कृष्ट कार्य है।

यह कार्य भी अहिंसापर अवलम्बित है। हमारी चर्या व्यवहार परिणति अहिंसामय हो तो हम ध्यानके पात्र हो सकते हैं, क्रूर चित्तमे ध्यानका पात्र नही होता। साधना करनेका लोकमे एक महान कार्य माना जाता है, पर कोई पुरुष हिंसा करता हो अन्याय बहुत करता हो, मनुष्योको सताता हो और सता करके अन्याय करके धन जोडता हो और उसे दान करे तो उस दानकी न शोभा है और न कार्यकारिता है। गृहस्थोको सर्वप्रथम बताया है कि वे न्यायसे धन कमायें और फिर उसमे जो प्राप्त हो उसमे से दान करें तो दान करना भी अहिंसाके आधारपर प्रतिष्ठा पाता है, इसी प्रकार सत्य बोलना, शील पालना, अनेक व्रतोका धारण करना ये सब उत्तम कार्य है, किन्तु इनकी जननी है अहिंसा। अपना परिणाम दूसरो के प्रति हितका रहना चाहिए। लोकव्यवहारमे विरोध भी हो जाय तो उस विरोधीके बावजूद भी अन्तरङ्गमे विचार यह रहना चाहिए कि इसका कल्याण हो, इसकी सद्बुद्धि जगे। फिर विरोध ही क्या रहा ? जो आज हमारा विरोधी बन रहा है उसका भाव पलट जाय तो वह कहो मित्र बन जाय। वह विरोधीका मूलत घात नही चाहता किन्तु उसमे वरोधभाव न रहे यह चाहता है। अहिंसाव्रतके पालन बिना जितने भी अभी गुण बताये गए हैं इनमे से एक भी नही हो सकता है, इस कारण समस्त उत्कृष्ट कार्योके, धर्मकार्योके उत्पन्न करने वाली माता है यह अहिंसा।

करुणार्द्रं च विज्ञानवासित यस्य मानसम्।
इन्द्रियार्थेषु नि सङ्ग तस्य सिद्ध समीहितम् ॥५१०॥

दयालु हृदयीके अहिंसा—जिस पुरुषका मन दयासे गीला हो, दूसरे पुरुषोकी भलाई मे, सुविधामे जिसका चित्त बसा रहा करता हो, जो विशिष्ट ज्ञानसहित हो, इन्द्रियके विषयो से दूर हो उसको मनोवाञ्छित कार्योंकी सिद्धि होती है। आत्मा स्वभावत अद्भुत समृद्धिवान है। जैसे-जैसे स्वच्छता बढ़ेगी वैसे ही वैसे समृद्धिका विकास होगा। समृद्धियोका उत्कृष्ट सहकारी है केवलज्ञान। यहा किसीको बहुत बड़ा ज्ञानी निरखकर हम लोग उसे अतिशय देते हैं। यह बहुत महान पुरुष है, और, अनेक चमत्कार उत्पन्न हो जायें तो उसे और अतिशय देते हैं। तो ज्ञान जिसमे है उसमे लोग अतिशय मानते हैं तो जो ज्ञान तीन लोक, और अलोकके समस्त पदार्थोंको स्पष्ट जानता हो उसके ज्ञानको कितनी बडी समृद्धि बतायी जाय ? यह बात उसके ही उत्पन्न होती है जिसका चित्त दयासे भीगा हो। धर्म करनेका

पात्र दयालु पुरुष ही हो सकता है। जिसके चित्तमें क्रूरता हो वह माला भी जपे, भजन भी करे पर चित्त कठोर है तो क्या भजन और क्या उसकी पूजा ? करुणासे जिसका मन भीगा हो वह चाहे विधिपूर्वक धर्मकी- लाइ मे न भी आया हो तो भी उसका स्वर्ग किसीने नही छीना। व्रत न हो किन्तु चित्त दयालु हो वह भी महापुरुष है। उसकी पारलौकिक स्वर्गगति है और जो व्रत और तपश्चरण करता हो, किन्तु चित्त क्रूर रहता हो, एक सावधानी तो बना ली हो, साधुपना बन गया हो, मर्यादाका पानी, मर्यादाका भोजन, सारी बातें बहुत संभालकर करे और चित्तमे दया न बसी हो, खानेके समय कोई भूखा पासमे बैठा हो उसे खाना न दे सके, उसके ऊपर दया न आये, चित्त दयासे जिसका भीगा नही है तो ये सब व्रत तपश्चरण शेष क्या कार्य कर सकते हैं ?

दयाका महत्त्व—दयाका बडा महत्त्व है। जब एक चित्त दयासे नम्र हो जाता तो आत्मा ही नम्र हो गया, विनयशील हो गया, अर्थात् अपने आपके स्वभावकी ओर झुक सकने वाला है तो अत्यन्त समृद्धिका साधनभूत निज अतस्तत्त्वका झुकाव एकदम समृद्धियो का विकास करने लगता है। तो चित्तमे दयालुता होना बहुत बडी सिद्धिका विषय है। तो जिसका चित्त दयालु हो और फिर ज्ञान हो, विषयोसे विरक्ति हो, जिसमे ये तीन गुण आ जाये उस पुरुषको अभीष्ट समस्त कार्योंकी सिद्धि होती है।

निस्त्रिंश एव निस्त्रिंशं यस्य चेतोऽस्ति जन्तुषु।
तपःश्रुताद्यनुष्ठानं तस्य सिद्धं समीहितम् ॥५११॥

दया बिना सब क्रियायें व्यर्थ—जिस पुरुषका चित्त जीवोके लिए शस्त्रके समान निर्दय हो उसका तप करना, शास्त्र पढना केवल उसके कष्टके लिए ही है। तप करके दूसरोका अनर्थ ही करेगा, ज्ञान बढाकर वह अनर्थ ही करेगा, क्योकि चित्तमे दया है ही नहीं। एक नीतिकारका कहना है कि कभी सिंह अगर उपवास भी करले तो उसका उपवास तो जीवोके घातके लिए ही है, अर्थात् वह आखिर करेगा क्या, जीवोको मारेगा और खायेगा। सिंह धर्मात्मा हो और सर्व आहारोका त्याग कर दे, समाधिमरण करे ऐसे सिंह की बात नही कह रहे किन्तु ऐसे ही साधारणतया सिंह उपवास करले तो उसका उपवास जीवोके घातका ही कारण होगा। ऐसे ही निर्दयी पुरुष तपश्चरणकी साधना करे और कोई चमत्कार पा ले तो उससे तो कोई वह बुरा ही काम करेगा क्योंकि चित्तमे दया नही है। जैसे कि आविष्कार आजकल नये-नये चल रहे है, उन आविष्कारोसे चाहे तो मनुष्योंका भला करले और चाहे तो मनुष्योका सहार करले। जैसे अणुशक्तिका प्रयोग है। अणु शक्ति का प्रयोग मानव कल्याणमे भी कर सकते है—मशीनें चलना, रेल ट्रक वगैरह चलना, अन्य अनेक चीजें चलना आदि आदि, और अणुशक्तिका प्रयोग निर्दयताके लिए भी कर

सकते है, जैसे विनाशक अणुबम बनाना । यो ही जिसका चित्त दयासे हीन है ए
करना, शास्त्र पढना आदिक कार्य ये सब केवल उसके कष्टके लिए हैं। वे का
भलाईके कारण नही हो सकते । सच बात तो यह है कि जब तक स्वरूपकी थाह
जाती कि मेरा स्वरूप क्या है, जब तक यह समझमे नही आता तब तक दूसरे जी
भी कुछ नही समझमे आता । तो जहाँ आत्माकी समझ नही है, पर्यायबुद्धि ही
है, जो देह अपना है उसे माना कि मैं हू, जो देह दूसरे आत्माके द्वारा अविदि
माना कि यह पर है, यो पर्यायमे ही निज परकी बुद्धि जहाँ होती है वह तो पद
कलह विसवाद विनाश विघात ये सब करेगा । चित्तमे दयाका बसना यह एक मह
है और जो दयालु परिणति करते है उनके पुण्यकी वृद्धि होती है, समागम, यश, आ
कुछ उसके बढते हैं, शोध भी उसके लोकमे बहुत अद्भुत होते हैं । धनिक हो
होकर परके उपकारमे दूसरोकी दयामे जो धन खर्च कर रहे हैं, कंजूस तो देख
सोचेंगे कि कैसा लुटा रहे है, खर्च कर रहे है। अरे लुटाना ही था, बरबाद ही
था तो कमाते क्यो लेकिन बडे पुरुषोकी प्रवृत्ति होती है कि दयामय जो कुछ भी
बात आती है उसके लिए त्याग करते हैं, दान करते है और फिर भी वे बडे आराम
मे पुण्यमे बने रहते हैं। यह तो एक वैभव पानेका उपाय है। त्याग, दान, ज्ञान,
धर्मधारण ये सब लौकिक वैभव पानेके उपाय है। जैसे खर्च किये बिना आयका जरि
बनता, व्यापारमे पहिले हजारो लाखो देने ही पडते है। ऐसे ही समझो कि सर्व
उत्कृष्ट वैभव यश आराम पानेके ये साधन हैं, वे त्याग, उदारता, विरक्ति, सम्यग्ज्ञान
और फिर ज्ञानी जीव तो बिना ही कुछ प्रयोजनके अर्थात् सासारिक कुछ भी बात
कर चूंकि वह ज्ञानी है अतएव शुद्ध ज्ञान करता रहता है।

ज्ञानदृष्टिसे कल्याण—सर्वपदार्थ स्वतन्त्र है, सब जीव स्वतन्त्र हैं, सबका
अपना सत्त्व न्यारा न्यारा है और सब प्रभुकी तरह ही प्रभुताको लिए हुए है। सबक
स्वरूप है जो भगवानका स्वरूप है। इस प्रकार सब जीवोमे समताको निहारने वाले
अपना कल्याण कर जाते हैं, और जब तक वे ससारमे रहते हैं तब तक यश वैभवके
बने रहा करते हैं। जिनका चित्त दयाहीन है, जीवका स्वरूप ही नही समझते वे यथा
अन्यायकी ही प्रवृत्ति करेगे। चाहे लाखो जीवोका ध्वस हो जाय पर अपने यशके रि
महा अन्यायकी प्रवृत्ति करते हैं। उनका तप ज्ञान सब कष्टके लिए है और दूसरोके
भी कारण होता है।

द्वयोरपि समं पाप निर्णीतं परमागमे ।
[illegible] ॥५१२॥

परिणामोंसे हिंसाका बन्ध—जीवोका घात करने वाला पुरुष और जीवघात करने वाला पुरुष और जीवघात करने वाले हिंसकोकी प्रशंसा करने वाले पुरुष इन दोनोका पाप परमागममे समान निर्णय किया गया है। हिंसा बाहरमे जीवघातसे नही लगती किन्तु जीवघात करनेके परिणामसे लगती है। जीवघात करने पर भी, जीवघात किया गया, इसमें हिंसा नही लगी किन्तु जीवघात करनेका विचार हुआ, परिणाम हुआ उससे हिंसा लगी। तो हिंसाका कारण तो परिणाम है। तो एकने तो जीवघात किया और उसमे जीवघातका परिणाम बनाया और एकने जीवघात करने वालेकी प्रशसा की, बहुत अच्छा घात किया, तो परिणामको देखा जाय तो घात करने वालेने भी वह पाप लादा और हिंसक जीवकी प्रशसा करने वाले ने भी वह पाप लादा। जैसे घात करने वालेको जो पाप हुआ है वह अशुभ परिणामसे ही तो हुआ है इसी प्रकार हिंसा करने वाले पुरुषको भला कहने वालेके भी जो अशुभ सकल्प हुआ वह भी पाप उत्पन्न करने वाला हुआ। अशुभ परिणाम किये बिना हिंसा करने वालेकी अनुमोदना की नही जा सकती है। जैसे क्रूरता और अशुभ परिणाम किए बिना जीवका घात नही किया जा सकता ऐसे ही अशुभ परिणाम किए बिना हिंसकोकी प्रशसा भी नही की जा सकती। इस कारण हिंसा करना और हिंसा करने वालेको भला मानने वालेको पाप बराबर लगता है।

अन्तरदृष्टिसे हिंसा अहिंसाका निर्णय—भीतरी दृष्टिसे निहारो, बाहरकी क्रियावोसे इसका हल न होगा कि एक पुरुष तो साक्षात् जीवघात कर रहा और एक पुरुष जीवघात करने वालेकी प्रशसा कर रहा तो उसमे यह भेद नही पड सकता कि वाह इसने सोचा ही तो है, हिंसककी प्रशसा ही तो किया है, किसी जीवको नही मारा, फिर क्यो पाप लगा? तो वह पाप लगा अशुभ परिणामसे। हिंसकको भी पाप लगा और हिंसाकी अनुमोदना करने वालेको भी पाप लगा। जैसे धर्मकार्य करने वालेके पुण्यबन्ध होता है और धर्मकार्य करने वालेकी कोई प्रशसा करे तो उसके भी पुण्यबन्ध होता है। धर्मकार्यमे रुचि जगे बिना धर्मकी कोई प्रशसा कर नही सकता। जिनकी धर्ममे रुचि नही है वे धर्मात्मावोको ढोगी कहते है, पागल कहते हैं, पुराने दिमाग वाला कहते है। जिन्हे धर्मसे रुचि नही है वे धर्मात्मावोकी प्रशसा करेंगे ही क्या? जिसे जो सुहाता है वह उसकी प्रशंसा करता ही है। जिसे हिंसा सुहायेगी वह हिंसककी प्रशंसा करेगा।

भावहिंसा ही हिंसा है—देखिये परिणामका कैसा प्रभाव है कि हिंसाके परिणाम से जो पाप बाँधा उस पापका फल पहिले भोग लिया और हिंसा कहो बादमे कर पाये। यहाँ यह बतला रहे है कि हिंसा करनेसे पहिले हिंसाके फलको भोग लिया जाता है। किसी मनुष्यको वैरी मानकर उसका घात करनेका संकल्प किया और कुछ यत्न भी जुटाया, उससे

तत्काल पापका बन्ध हुआ। अब इस चेष्टामे है वह कि इस विरोधीको कब मार पायें। अगर मार पाये चाहे १० वर्ष बाद किन्तु उस हिंसाका फल भोग लिया। कोई जीव करता तो हिंसा है बाहरमें और हिंसाका फल नही पाता। जैसे कुशल डाक्टर रोगीकी चिकित्सा करता है और उस चिकित्सामे वह रोगी मर जाय तो बाहरमे दिखती तो हिंसा है किन्तु उसका फल वह नही पाता।

हिंसा करें एक, पाप बांधें अनेक व हिंसा करें अनेक, पाप बांधें एक—इनके दृष्टान्त— कहो हिंसा करने वाला तो है कोई एक और पाप लादने वाले हैं अनेक। कहिये हिंसा करने वाले तो है अनेक पर उसका पाप लादने वाला है एक। एक ने हिंसा की और अनेको लोगो ने उसकी अनुमोदना की, बडा अच्छा मारा। तो हिंसा की एकने पाप बाधा अनेकने। संग्राममे सेनाके लोग लडते हैं, घात करने वाले हैं हजारो आदमी, पाप लादने वाला है एक राजा। जिस दृष्टिके पापकी बात है वह दृष्टि लगाना चाहिए। यो तो पाप सभीको लग रहा है पर जिस पापकी बात कह रहे है वह पाप लादता एक राजा। हिंसा की अनेक ने। तो हिंसा पाप ये सब भावोसे होते हैं। तो जिसने जीवघात किया उसके भी अशुभ सकल्प हुआ। पापबध उसके भी हुआ, और जिसने हिंसा की, अनुमोदना की, अशुभ सकल्प उसके भी हुआ। तो दोनो समान है, जिसका चित्त अहिंसक है वह पुरुष ध्यानका पात्र नही होता, न ससारके सकटोसे छूटता है, इसलिए सदैव अपने चित्तमे दया बसायें और जब तक अपना वश हो दूसरे जीवोका दु ख दूर करे।

> संकल्पाच्छालिमत्स्योऽपि स्वयभूरमणार्णवे।
> महामत्स्याशुभेन स्वं नियोज्य नरकं गत. ॥५१३॥

आत्माके ध्यानमें आत्माकी रक्षा— आत्माकी रक्षा आत्माके ध्यानमे है। जब आत्माको छोडकर किसी अन्य वस्तुका ध्यान होता है उस समय आकुलता, चिन्ता, विह्वलता तो उत्पन्न होती ही है, साथ ही ऐसे कर्मोका बन्ध होता है और संस्कार बनते हैं कि भविष्यमे भी दु ख पाता रहेगा। इस कारण आत्माको शरण अपने आत्मस्वरूपका ध्यान है। जब कभी कोई आकुलता उत्पन्न हो तो ऐसी सद्बुद्धि जगायें जिससे सबसे न्यारे अपना आत्मतत्त्व ज्ञानमात्र देखनेकी कुछ खबर बनी रहे। जब यह जीव यह चिन्तन रखता है कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप हू, मकान वैभवकी तो बात क्या, यह देह भी मेरा स्वरूप नही है। यह जड है, मैं चेतन हूं, यह विनाशीक है, मैं अविनाशी हू। जब ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वकी सुध होती है उस समय सारे विकल्पभार समस्त क्लेश दूर हो जाते हैं तब आत्माका शरण एक अपने आत्मस्वरूपका ध्यान है। वह ध्यान कैसे बने? उसका उपाय इस ग्रन्थमे बताया गया है। ध्यानके मुख्य अग हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

और सम्यक्चारित्र। जिन अंगोके बिना ध्यानकी सिद्धि नही हो सकती। उसमे सम्यक्-चारित्रके प्रकरणमे अहिंसाव्रतका वर्णन चल रहा है।

हिंसा-अहिंसाका लक्षण—अहिंसा नाम है केवलज्ञाताद्रष्टा रहनेकी परिणतिका। जो केवल वस्तुस्वरूपका जाननहार रहता है। उसमे कोई विकार न होनेसे आत्माकी अहिंसा हो रही है अर्थात् रक्षा है और जब यह आत्माका अहिंसाभाव नही रहता, रागद्वेषमे प्रवृत्ति बढती है तब आत्माकी हिंसा हो जाती है और उसके परिणाममे बाहरमे यह जीवघातका प्रयत्न करता है। कोई पुरुष जीवघात कर चुका हो, उसके भी अशुभ संकल्प हुआ, अतएव पापका बंध है और कोई पुरुष जीवघात तो न कर रहा हो किन्तु जिसने जीवघात किया है ऐसे हिंसककी अनुमोदना कर रहा हो तो वह भी उतने ही पापोका बंध कर रहा है, क्यों कि पापोंका बंध परिणामसे है।

संकल्प मात्रसे हिंसाका बंध—जिसने जीववध किया है उसका भी परिणाम अशुभ हुआ और जिसने उस वधककी अनुमोदना की है उसका भी परिणाम अशुभ हुआ है। देखो स्वयभूरमण समुद्रमे दो मत्स रहते—एक महामत्स और एक साली अर्थात् तदुल मत्स। महामत्स बडी लम्बी चौडी अवगाहनाका है। एक हजार योजन लम्बा, ५०० योजन चौडा और २५० योजन मोटा, इतनी बडी अवगाहनाका वह महामत्स है। इतनी लम्बी चौडी काय वाला महामत्स अपने मुँहको फैलाये रहता है। तो उस फैली हुई जगहमे जितनी जगह समाये वह जगह एक असमानसा है। उसके मुँहमे अनेक मत्स आते जाते खेलते रहते है। उन मत्सोको पता नही पडता कि कहा मुख है, कितनी बडी अवगाहनाका है। लेकिन वही एक तदुलमत्स (साली मत्स) यह विचार करता है कि यदि इस महामत्सकी जगहमे मैं होता तो एक भी मछलीको बचने न देता। ऐसा परिणाम करने से यह साली मत्स सप्तम नरकमे जाता है। तो इससे यह निर्णय कीजिए कि कोई हिंसा करे, उसकी जो अनुमोदना करे तो उस अनुमोदनामे भी सकल्प मात्रसे उसीके समान पाप होनेका कारण बनता है। तो जिसका परिणाम रागद्वेषसे मलिन है और इसी कारण जो अपने आपके प्रभुकी हिंसा कर रहा है ऐसा हिंसक पुरुष आत्माका ध्यान क्या करेगा। जो आत्माका ध्यान नही कर सकता उसके व्याकुलता संसारभ्रमण सभी अनर्थ उसके लगे रहते हैं।

अहिंसैकापि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम्।
दत्ते तद्देहिना नायं तप.श्रुतयमोत्कर· ॥५१४॥

कल्याणकारी अहिंसा परिणाम—यह अहिसा एक अकेली ही जीवोको सुख और कल्याण प्रदान करती है। जो सुख कल्याण एक इस अहिसा परिणतिके पालनेसे प्राप्त होता है वह बडे-बडे तप स्वाध्याय यम नियम आपिकसे भी प्राप्त नही होता। अथवा यो समझिये

कि करनेका काम तो एक अहिसा ही है। अहिंसामे सम्पूर्णचारित्र पडा हुआ है। भाव अहिंसा, द्रव्य अहिसा, अपने आपके परिणाममे अज्ञान न आने देना, रागद्वेषकी बात न आने देना, केवल एक शुद्ध स्वभावकी दृष्टिके बलसे अपने आपको केवल ज्ञाताद्रष्टाके रूपकी प्रवृत्ति करना सो तो है भावकी अहिंसा और बाहरमे किसी प्राणीको न मारना, किसीका दिल न दुखाना यह है द्रव्यकी अहिंसा। जिसका अहिंसक जीवन है वह पुरुष अपने ही अहिंसा परिणामके कारण सुखी रहता है।

मोह, रागद्वेष हमारे दुश्मन—अपने को सताना यह कहाँकी बुद्धिमानी है? पर ये जीव मोहवश अपने को सताते रहते हैं। और उस अपने आपको सतानेके कारण जो क्लेश होता है उस क्लेशको दूर करनेका भी उपाय ऐसा ही रचते हैं जिसमे खुदको सतायें। हमारा दुश्मन है तो राग द्वेष मोह। जगतमे कोई मेरा बैरी नही। जिस किसीको भी बैरी माना है वह बैरी नही है किन्तु उससे जो मेरा द्वेष परिणाम हो रहा है वह द्वेष परिणाम मेरा बैरी है। इसी प्रकार जिससे राग बना हुआ है वह पुरुष भी न बन्धु है, न बैरी है। प्रत्युत उस पुरुषके प्रति जो रागद्वेष बन रहा है यह राग मेरा बैरी है। मेरा विघातक राग-द्वेष मोह भाव है। किसी अन्यके प्रति विरोधी की कल्पना न करना चाहिए। जीव है सब। सब कर्मोदयवश अपने अपने स्वार्थको चाहते हैं।

परको विरोधी मानना अपनी भूल—जिसने जिसमे सुख माना उस सुखको चाहता है और वैसी ही अपनी परिणति करता है। अब उनकी उस परिणतिमे यदि हम कुछ प्रति-कूलता मानते हैं तो यह हमारी कल्पना है। जीव कोई भी मेरा बैरी नही है। कदाचित चारो ओरसे मनुष्य मेरे विरोधी बनने लगें, अपमान करने लगे, इतने पर भी संसारमे एक भी जीव मेरा बैरी नही है। उन जीवोके मनमे ऐसी कल्पना जगी, उनको इस ही मे आनन्द जचा, वे अपनी कषायके कारण दूसरोको देख नही सके इस ईर्ष्यावश। समझिये अपनी इच्छासे वे अपना प्रयत्न कर रहे हैं, मेरा विरोध नही कर रहे हैं। उनके प्रयत्नको निरखकर हम विरोधी मानें तो यह हमारी भूल है। मेरा जगतमे कोई भी शत्रु नही है। किसीने मुझपर कितना ही उत्पात मचाया हो, आर्थिक हानि की हो, विवाद कलह मचाया हो, हमारा अनिष्ट करनेमे जुड रहा हो तो हम उससे सावधान तो रहे ताकि हम संक्लेशमे न पड जाये, लेकिन चित्तमे यह न मानें कि वह जीव हमारा दुश्मन है।

ज्ञानी पुरुषोंके स्वसावधानी—विवेक बनाये कि अपनी सावधानी भी बनाये रहे और दूसरोको विरोधी न माने, ऐसा बल ज्ञानी पुरुषमें होता है। सामने कोई शस्त्र प्रहार कर रहा हो तो उस पर शस्त्र प्रहार करते हुए भी ज्ञानीगृहस्थ कोई अपनी सावधानी बना रहा है किन्तु दूसरे जीवोको मारनेका सकल्प नही कर रहा है। किसीके भी कल्याणकी इच्छा

किसी भी सम्यग्दृष्टि पुरुषमे नही होती। जिनके भी सम्यक्त्व जगा है, चूँकि उनको यह पहिचान है कि आत्माका सहजस्वरूप यह चैतन्यभाव है और यही स्वरूप सब जीवोका है तो ऐसा समताका स्वरूप समझ लेने वाले सम्यग्दृष्टि पुरुष किसीका कैसे अकल्याण चाह सकते हैं।

अहिंसक वृत्तिसे सुख—जो पुरुष इस प्रकार अहिंसावृत्तिको बर्तता है उस पुरुषको जो सुख प्राप्त होता है, जो कल्याण अथवा अभ्युदय प्राप्त होता है वह अन्य बातोसे नही होता। मान लो कोई तपश्चरण तो बहुत करता हो, बडे-बडे कठिन कर्मोदयके बढनेपर बडा उत्कृष्ट तपश्चरण करता हो, किन्तु क्रोधादिक भाव बहुत बने रहते हो, दूसरे जीवोके प्रति दयाका परिणाम न जगता हो, कोई तडफता हो तो उसको देखकर भी अनुकम्पाका भाव न जगे, केवल एक वृत्तिसे कठोर तपश्चरण करता हो तब भी उसे उस तपश्चरण से कल्याण प्राप्त नही होता। तपश्चरण कल्याण करते हुए मनुष्यका सहायक तो है किन्तु कल्याणका कारण अहिसाका परिणाम है, तपश्चरण नही है। तपश्चरण अहिसा परिणाम की रक्षा करनेमे सहायक है। अहिसा परिणामसे कल्याण करते हुए पुरुषको तपश्चरण मदद देता है, पर अहिंसा परिणाम न हो तो ये बडे-बडे तपश्चरण भी कल्याणको प्राप्त नही करा सकते क्योकि धर्मके सब अंगोमे अहिंसाधर्म ही एक प्रधान अंग है।

धर्मका प्रधान अंग अहिंसा—अहिसा परमोधर्मः, इस बातको सभी लोग कहते हैं, और जिन्होने जितनी अहिसाकी थाह ली है वे उतनेमे अहिंसाकी व्याख्या करते हैं। जैन-सिद्धान्तमे अहिंसाका स्वरूप समता बताया है। रागद्वेष न होना, केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना यही है अहिसाका उत्कृष्टरूप। इस अहिसाधर्मके पालन करने वाले सत आत्माके ध्यानके पात्र होते है। और, जो आत्मध्यानी है वे मुक्तिको प्राप्त करते हैं। सभीको शान्ति चाहिए। भले ही मुक्ति आज नही है किन्तु शान्तिका मार्ग यही है जो मुक्तिका मार्ग है। जो जितना अपने आत्मध्यानमे दृढ होगा वह उतनी ही शान्ति प्राप्त कर सकेगा।

दूयते यस्तृणेनापि स्वशरीरे कदर्थिते।
स निर्दय परस्याङ्गे कथं शस्त्र निपातयेत् ॥५१५॥

पर्यायबुद्धिका महाअज्ञान—मनुष्यके शरीरमे एक तिनका भी चुभ जाय, काँटेकी बात तो दूर रहे, अगर भूसेका कोई तृण चुभ जाय तो उसमें वह अपनेको दुःखी मानता है। तो जो पुरुष अपनेमे एक तृणके चुभ जानेमे दुःख महसूस करता है वह पुरुष दूसरे प्राणीके शरीर पर निर्दय होकर शस्त्रको मारे तो यह एक बडी अनर्थकी बात है। जरा भी दूसरे जीवोके प्राणोका इसने अनुमान नही किया, इसकी आत्मतत्त्वपर दृष्टि नही है, जीव-स्वरूपपर इसकी दृष्टि नही गई है। और, एक शरीरको ही इसने समूचा आत्मा समझकर

इस शरीरके पोषणमे ही, इस पर्यायबुद्धिके पोषणमे ही वह लग रहा है। महाअज्ञानी जीव है। धन्य हैं वे ज्ञानी पुरुष जिनके उपयोगमे ज्ञानप्रकाशका महत्त्व बना रहता है।

बाह्य समागमोंसे आत्माकी असिद्धि—इस लोकमे जितने भी जो कुछ समागम हैं कोई समागम सारभूत नही हैं। यह सारा समागम कुपथका कारण है, दुर्गतिका कारण है, अज्ञान अन्धकारमे बढा देनेका कारण है, किसी समागमसे क्या लाभ है ? मान लो लौकिक विभूतिके कारण दो चार हजार पुरुषोने मुखसे यह कह दिया कि यह बडा है तो भला बतलावो तो सही कि प्रथम तो वे पुरुष ही मायारूप हैं, विनाशीक हैं, ससारमे जन्म मरण का चक्कर लगाते है, खुद ही दु खी हैं, असार है और फिर उनमेसे किसीने अपने स्वार्थके कारण अपने कषायभावसे कोई शब्द अनुकूल बोल दिया तो उससे इस आत्माको क्या सिद्धि मिलती है ?

स्वरूपदृष्टिके साहससे जीवका गुजारा—साहस इतना हो कि कोई जगतका प्राणी मुझे जाने अथवा न जाने, मैं अपने आपके उपयोगमे केवलज्ञानमात्र अपने आपका स्वरूप बना रहू तो यही मेरा सर्वस्व कल्याण है। जिन भगवानकी मूर्तिकी स्थापना करके हम पूजते हैं उन भगवानने साधु अवस्थामे जो आत्मध्यान किया था उस आत्मध्यानके समय उनके कोई विकल्प था क्या ? जगतके प्राणी मनुष्य अनेकों लाखो उनकी पूजा करते थे, पर ध्यानके समय किसीकी ओर उनकी जरा भी दृष्टि न थी। वे निर्विकल्प होकर अपने आपके प्रकाशका अनुभव पाया करते थे। इस निर्विकल्प अनुभवके कारण उनको वह आत्म-समृद्धि प्रकट हुई जिसका स्मरण करके हम भव-भवके बाधे हुए पापोका विध्वस कर लेते हैं। कर्तव्य अपना यह है कि किसी भी प्रकार परके विकल्प तोड कर केवल अपने आपके स्वरूपका उपयोग बनाये रहे, ऐसा किये बिना इस आत्माका गुजारा नही हो सकता।

परमार्थिक अहिंसा ही शरण—आत्माकी भलाई केवल आत्मध्यानमे है, और आत्म-ध्यानी बननेके लिए हमारी चर्या, हमारा जीवन हमारा व्यवहार ऐसा कोमल हो और अहिंसापूर्ण हो, अपने आपका अधिकाधिक ध्यान रख सकें ऐसी ज्ञानदृष्टि हो तो यह हम आपके लिए बहुत शरणभूत उपाय रहेगा। इसके विरुद्ध जो निर्दय पुरष है जो अपने शरीर मे तृण चुभे तो भी दु खी होते है किन्तु दूसरे प्राणीके शरीरपर निर्दय होकर शस्त्र प्रहार करें वे कितना अज्ञानमे डूबे हैं, वे कितने जन्म मरण धारण करते रहेगे इसका अदाज लगा लीजिए, वे दु खी पुरुष है। अपना जीवन अहिंसामय बनायें तो भगवानका जो जो कुछ उपदेश है वह उपदेश हम आपमे उतर सकता है। सत्य बात तो यह है कि अपनेको केवल एकाकी अनुभव करें, देह भी मेरा साथी नही, वैभव तो साथी होगा ही क्या ? मुझमे उत्पन्न होने वाले राग द्वेष विषयकषाय ये भी मेरे साथी नही है। ये विकल्प भी मुझे दु खी

करनेके लिए उत्पन्न होते है और उत्पन्न होकर तुरन्त नष्ट हो जाते हैं और मुझे दुःखकी परम्परामे छोड़ देते है। मेरा शरण तो मेरा सहज सिद्ध स्वरूप चैतन्यस्वभावके उपयोग बनाये रहनेमे है। यही है पारमार्थिक अहिसा।

जन्मोग्रभयभीतानामहिंसैवौषधि परा।
तथाऽमरपुरी गन्तु पाथेयं पथि पुष्कलम् ॥५१६॥

विकारपरिणमन कष्टकर--यह संसार एक महान् कष्ट है। संसार नाम है जो आत्मा मे कल्पनाएँ उठ रही है उस परिणामका। हमारी दुनिया बाहर नही है। हमारे भीतर ही जो हमारा विकारपरिणमन चल रहा है वह हमारी दुनिया है। तो ये भावसंसार ये अन्य-अन्य पदार्थोंके विकल्प ख्याल चिन्ता लगाव ये सब विकार महान् कष्ट है। जिस कष्टमे बेचैन रहते है मोही प्राणी और उस बेचैनीको दूर करनेके लिए वही कष्ट किया करते है। कष्टसे उत्पन्न हुए कष्टको मिटाने के लिए उस ही कष्टमे रहा करते हैं।

ज्ञानोपयोगमय स्थितिमें संकटोंसे छुटकारा---यह ससार एक तीव्र कष्टरूप है। उससे जो भयभीत हुए है जिन्हे ये काल्पनिक कष्ट न चाहिये, जिन्हे यह सांसारिक परम्परा न चाहिए उन जीवोके लिए औषधि आचार्य देवने एक अहिसा ही बताया है। जैसे किसी नदी मे कोई कछुवा अपना शिर उठाकर तैर रहा हो तो उसकी चोंचपर बीसो पक्षी आते है, चोचको पकडना चाहते है तो वह कछुवा संकटमे पड जाता है, मगर काहेका संकट? अरे कछुवाके पास एक ऐसी कला है कि चार अंगुल अपनी चोच पानीमे डुबो दे, सारे संकट एक साथ समाप्त हो जाते है। यहाँ वहाँ चोच कर करके बचनेका कष्ट क्यो करे कछुवा? सीधा पानीमे डूब जाय। फिर वे पक्षी क्या करेंगे? ऐसे ही समझिये कि हम आप जीवोने अपनी चोच, अपना उपयोग इस ज्ञानसमुद्रसे बाहर निकाल रखा है। हम अपने ज्ञानसमुद्रमे थे, ज्ञानमय होकर भी हम अपने ज्ञानसे हटकर इन अज्ञानमय जड पदार्थोंकी ओर अपना उपयोग निकाले हुए है तो हम आप पर विपदाये आ गईं। कोई एक संकट है क्या? अरबो आदमी होगे। उन अरबो आदमियोमे अरबो प्रकारके संकट है। किसीका सकट किसी दूसरेके सकटोसे मिलताजुलता भी नही है। थोडा मिल जायेगा, यों तो सभी मिलते हैं क्योकि सकट है मोह, राग, द्वेष, यो तो मिल ही गए, मगर उसके विशेष विश्लेषणमे जायें तो सबके सकट न्यारे है। इतने प्रकारके सकट इस जीवपर मंडरा रहे है। अब यह मोही जीव उन बाहरी सकटोसे घबडाकर बाहरमे ही उपयोगका अदलबदल करता रहता है, मगर उस अदलबदल करने से लाभ क्या? संकट मिटेगे नही।

हितकारी उपयोगकी शिक्षा---हे आत्मन्! तुझमे तो एक ऐसी सहज कला है कि थोडा अन्दर तो आ। उपयोगको तू ने अपने ज्ञानस्वरूपसे बाहर निकाल रखा है, बाहरी

पदार्थोंकी ओर तूने अपनी यह ज्ञानदृष्टि बना रखी है उसको भीतर करले। अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव कर। मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूं, मेरा कहीं कुछ विगाड नहीं है। कोई कुछ कहता हो, कोई कुछ करता हो, वह उनकी जगह है काम। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा ज्ञानमात्र अपने आपमे अपने उपयोगको जरा डुबा तो सही—मग्न तो कर, फिर देख ले कि सारे सकट एक साथ टलते है या नही। इस ससाररूपी तीव्र भयसे भयभीत होने वाले जीवोको यह आत्मपरिणति शरण है। यही है परमअहिसा, परमब्रह्मकी उपासना परमअहिंसा है क्योकि यह आत्ममग्नता ही सर्वप्रकारके भयोको दूर करता है, और इस आत्मपरिणतिसे जो अपनी वृत्ति रखता है अर्थात् ऐसी अहिसावृत्ति बनाता है तो समझिये कि यह अहिंसा ही स्वर्ग जानेके लिए, सुगति पानेके लिए एक पाथेय जेब खर्च है। जैसे किसीके पास जेब खर्च हो, भोजन हो, कलेवा हो तो गंतव्य मार्गको बहुत सुगमतासे पार कर लेता है। ऐसे ही जिसकी अहिंसावृत्ति हो तो वह स्वर्ग मोक्ष जैसे कल्याणकी चीजपर अपना अधिकार शीघ्र जमा लेता है, सद्गतिका पात्र होता है। अहिंसामय जीवन हो।

किन्त्वहिंसैव भूताना मातेव हितकारिणी।
तथा रमयितु कान्ता विनेतु च सरस्वती ॥५१७॥

मातासे अहिंसाकी तुलना—अहिसा ही माताकी तरह हितकारिणी है और यह अहिंसा ही स्त्री की तरह रमानेके लिए समर्थ है। और यह अहिसा ही सन्मार्गमे ले जाने के लिए सरस्वतीकी तरह है, अहिंसा नाम है जहाँ मोह रागद्वेषका विकार न हो, केवल ज्ञानप्रकाशमे आत्मा बसता हो तो ऐसी परिणति नाम अहिंसा है, अहिंसा परिणति माता की तरह हितकारिणी है। जैसे माँ अपने पुत्रका हित सोचती है। मा अपने बच्चेको बड़ासे बडा ऊंचा निरखना चाहती है। शायद पिताके यह बात भी कभी आ जाय कि पुत्रकी महत्ताको वह न सहन कर सके, पर माँ पुत्रको सर्वोच्च देखना चाहती है। अतएव अहिंसा की मातासे उपमा दी है।

ज्ञानीके कोई शत्रु नहीं—जीवका हित अहिंसासे है। अहिसाका मतलब निर्विकारता से है। यद्यपि गृहस्थावस्थामे प्रसिद्धि ऐसी है कि द्वन्द्व, विरोध, युद्ध आदिक अनेक बातें करनी पडती है इतने पर भी ज्ञानी जीव किसी भी जीवको शत्रु नही समझता। चाहे मुकाबला करले, युद्धमे वह मारा भी जाय, इतने पर भी वह यह नही समझता है कि यह मेरा शत्रु है। परिस्थितिवश अपने बचावके लिए या अधर्म का विनाश करने के लिए, धर्मका अभ्युदय करनेके लिए कुछ भी करना पडे लेकिन ज्ञानीके यह निर्णय है कि मेरा लोकमे कोई भी जीव शत्रु नहीं है। इस निर्णयका कारण यह है कि ज्ञानी पुरुष इस जीवका स्वरूप पहिचानता है। सभी जीव चैतन्यस्वरूप है और स्वरूपसे सब एक समान हैं।

स्वरूपदृष्टिसे कोई भी जीव किसीका विरोधक नहीं है। अभी जो कुछ विराधना जैसी बात बन रही है वह एक पर्यायमे पर्याय बुद्धिसे बन रही है। तो मूलमे परिचय होनेसे ज्ञानी जीव किसीको भी अपना शत्रु नही समझता है, ज्ञानीकी इसी परिणतिका नाम है अहिंसा भाव।

आशयकी विशुद्धि ही अहिंसा—अहिसाका अर्थ स्वच्छतासे है। लोग अहिसाका अर्थ केवल ऊपरी तौरसे किया करते हैं, उसमे उनको ऐसा जँचता है कि अहिसा तो एक कायरताका भाव है, पर हो कोई ऐसा बलवान पुरुष कि युद्ध भी कर रहा हो और उसमे विजय भी पाता हो, फिर भी अपने मनसे किसीको शत्रु न समझता हो, ऐसा ज्ञानी हो सकता है। दृष्टान्तके लिए जैसे थोडी बहुत आज लोग मत्रीकी तारीफ कर रहे है जो कि गुजर गए कि जब युद्धका समय था तो वहाँ इतना साहस रखा—पार करो सीमा, बढ जावो, हम हटेगे नही, बडा कौशल दिखाया। जब शान्तिके स्तरपर वार्ता चली तो अपने पूर्व निर्णयको भी प्रधानता न देकर उस समझौतेमे आगे बढे। एक दृष्टान्त बता रहे है। ज्ञानी पुरुषकी इससे भी महत्त्वपूर्ण कला है। वह युद्धमे पूर्ण पराक्रमसे लडता है और लड़नेके समयमे भी किसी जीवको अपना वैरी नही समझता, किन्तु परिस्थिति ऐसी है कि लडना पडता है। तो गृहस्थोमें भी अहिंसापरिणतिकी झलक है। अहिसाके मायने आशयकी विशुद्धि। अभिप्राय स्वच्छ रहना। उस अभिप्रायके स्वच्छ रहते हुए जो परिणति बनती है वह परिणति अहिसा है।

जीवका उद्धारक अहिंसा धर्म—तो अहिसा ही इस जीवका उद्धार करने वाली है। यश प्रतिष्ठा, इस लोकका भी वैभव, परलोकका भी वैभव और यहा तक कि मुक्तिको भी प्रदान करने वाली यह अहिंसा है। यह अहिसा अहिसक पुरुषके चित्तको रमानेके लिए कान्ताकी तरह है। जैसे रमणी स्त्री पुरुषके चित्तको रमाती है और अनेक अंशोमें तो पुरुषकी स्थिरताका कारण भी स्त्री पडती है, तो जैसे काता गृहस्थ पुरुषको रमण करनेके लिए समर्थ है, उसके चित्तको रमाती है इसी प्रकार यह अहिसा भी अहिसक ज्ञानी पुरुषको रमाती है, उसके मनको स्थिर करती है, उसके दोषोको दूर करके एक परम विश्राम लेता है। और, यह अहिंसा सत्पथका प्रकाश करानेके लिए सरस्वतीकी तरह है। जैसे सरस्वती अर्थात् प्रभुवाणी ऋषी पुरुषोके वचन सत्पथका प्रकाश कराते है इसी प्रकार अपने आपमें आशय स्वच्छ हो, विशुद्ध भाव हो तो यह परिणति स्वयं सन्मार्ग दिखा देती है कि यह सत्पथपर चले।

अहिंसा ही उत्कृष्ट विभूति—यो अहिसा एक बहुत उत्कृष्ट विभूति है। जो लोग इस अहिसाका पालन करते है वे इस आत्माका ध्यान कर सकते है। यह ध्यानका ग्रन्थ है।

ध्यानका उपाय बताया है। ध्याता पुरुषको अपनी कैसी चर्या रखनी चाहिए, अपना जीवन कैसे रखे कि वह ध्यानका पात्र हो सके तो वह है यह अहिंसा। लोकमे किसी ढंगसे यदि वैभव बढा लिया अनीतिसे अन्यायसे किसी भी प्रकार तो यह वैभव आत्माका क्या काम देगा ? न तो जीवनमे शान्त रहता है और न उसका मरणकाल भी समतामे व्यतीत होता है। वे पुरुष धन्य है जो प्रत्येक परिस्थितिका भी मुकाबला करते हुए अपने संयमव्रतको नही छोडते है, वे पुरुष अहिंसक हैं। उनको आत्माका ध्यान होना सुगम है। तो ध्यानकी सिद्धि चाहने वाले पुरुषोको अपना आचरण ऐसा विशुद्ध अहिंसापूर्ण बनाना चाहिए। यद्यपि जीव सब दोषोके घर बन रहे हैं। मनुष्य भी अनेक प्रकारके पापोका घर बना हुआ है, लेकिन उद्धार तो पतितोका हुआ ही करता है। जो जीवन गया, क्या किया उसमे ? अपने भावो को ही खोटा बनाया।

निर्मल परिणामोंसे समस्त अपराधोंका मिटाव—तो जिस कालसे अपने भाव निर्मल बना ले तो खोटे भाव बनानेके सब अपराध दूर हो जाते हैं। जब चेते तभी भला। कितना ही समय गुजर गया पापोमे लगकर लाभकी बात कुछ न पाया, कुछ क्षण धार्मिक वृत्तिसे बिताये जाये, रत्नत्रयके आचरणसे बिताये जाये तो आखिर वे अपराध भावोके ही तो किए गये थे, जब भाव निर्मल हो गए तो वे अपराध भी समाप्त हो जायेंगे, इस कारण ऐसा उत्साहहीन न होना चाहिए कि हमारा जीवन अब तक बहुत व्यसनोमे व्यतीत हुआ या अन्यायमे गुजरा, पापोमे व्यतीत हुआ, अब हम क्या कर सकेगे। करनेकी बात तो यह है कि यदि कोई अन्तर्मुहूर्त भी बडा विशुद्ध निर्मल परिणाम करे तो उसके भव-भवके बाँधे हुए पाप भी कट जाते है। इस कारण जो गया, जो व्यतीत हुआ, जो अपराध किया उन अपराधोके कारण हमे निरुत्साह न होना चाहिए। अबसे ही अपना समय धार्मिक व्यतीत करे, आत्मदृष्टिमे लगाये, सत्य तत्त्वकी खोजमे अपना उपयोग लगाये, अपने आपका अनुभव बनाये तो अब भी समय है कि हम अपना उद्धार कर सकते है। यह अहिंसा इस प्राणीको उद्धार करनेके लिए माँ की तरह है।

स्वान्ययोरप्यनालोच्य सुख दुःख हिताहितम्।
जन्तून् यः पातकी हन्यात् स नरत्वेपि राक्षसः ॥५१८॥

आन्तरिक बलकी कमी—जो पापी मनुष्य अपने और विरुद्ध सुख दुःख हित अहित का विचार नही करते और जीवोको मारते हैं वे भले ही मनुष्य कहलायें मगर वे राक्षस हैं। अनेक ऐसे मनुष्य हुए जिन्हे लोग राक्षस कहा करते थे। जैसे उपन्यासोमे, इतिहासमे अथवा पुराणोमे कही-कही राक्षसोकी बातें लिखी हैं, वहाँ राक्षस रहते थे जो मनुष्योको मारते थे, खाते थे। तो वे राक्षस कोई क्रूर मनुष्य पहलवान, बलवान मनुष्य हुआ करते थे,

वे माँस खानेके शौकीन थे, बनस्थलीमे निवास किया करते थे। जो वहाँसे गुजरा उसे मार खाया। तो मनुष्यजन्म पाकर भी वे राक्षस कहलाये जो सुख दुख हित अहितका विचार न करके प्राणियोकी मारते थे। यदि मनुष्य होते तो वे अपना हित अहित तो विचारते। वे बहुतसे प्राणियोका घात किया करते थे और शस्त्रविद्यामे अति निपुण बन जाते थे। आज के समयमे महत्ता न रही तो लोग यह चर्चा करते है कि जो मुर्गा मुर्गीको भी मारनेसे डरें वे सैनिक नही बन सकते है और जिन्हे वीरता प्राप्त करना हो उन्हे ऐसे जीवोके मारनेमें हिचकिचाहट न रखना चाहिए, तब वे युद्धमे वीरता प्राप्त कर सकते है। ऐसा विचार लोग रखते है, किन्तु पूर्वकालमे वह सयय था कि इतना तो निपुण होते थे, युद्धमे कुशल होते थे फिर भी शिकार खेलना, मासभक्षण करना उनमे न चलता था। अब उस तरहका लोगोमे आन्तरिक बल नही है, उस तरहकी लोगोंमे अब विचारधारा नही है तो भले ही जीवन लौकिक हिसाबसे कैसा ही मौजमे व्यतीत हो, लेकिन आत्मध्यानके पात्र नही बन पाते। और, किसी भी क्षण सारे संकटोसे दूर हो सके ऐसी वृत्ति नही बना सकते।

ज्ञानपुञ्जरूप अनुभव करनेसे संकटोंकी समाप्ति—मनुष्य कितनी भी चिन्तावोमे ग्रस्त हो, अनेक विपदाये भी शिर मडरा रही हो उस कालमे भी यदि यह जीव सर्व ओरसे चित्त समेटकर अपने आपको केवल ज्ञानानन्द स्वभावमात्र प्रतीतिमे ले, ऐसा ही अनुभव करे कि मैं तो सबसे न्यारा केवल एक 'ज्ञानपुञ्ज हू' तो उस ही क्षणमें उस दृष्टिके बलसे सारे संकट दूर हो जाते और हल्के हो जातें हैं और यह औषधि प्रत्येक कल्याणार्थी गृहस्थ को दिन मे, सप्ताहमे, पक्षमे, महीनेमे कभी तो करना चाहिए। बाहर-बाहरके पदार्थोमें ही उपयोग फसाये रहनेसे तो किसी भी समय आराम नही पाया जा सकता। जिसे एक शुद्ध आराम कहते हैं जो अनुपम है, सही दिशाकी ओर ले जाने वाला है, सद्गतिको देने वाला है ऐसा भोग ऐसा आराम वह गृहस्थ नही पा सकता, जिसको अपने स्वरूपकी कोई धुन ही नही बनती, दृष्टि नही बनती, परिचय ही न हुआ हो।

अभय यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम्।
पश्यात्मसदृश विश्व जीवलोके चराचरम् ॥५१६॥

अभयदानकी प्रेरणा—हे भव्य जीव, तू संसारके प्राणियोको अभयदान दे, ऐसा संकल्प कर कि सभी प्राणी निर्भयतापूर्वक रहे और सत्य पथ पर चलें। चाहे पडोसके लोग जिस किसीको शत्रु मानते हो, देशके लोग जिस किसीको बैरी समझते हो समझें परन्तु ज्ञानी पुरुष जब हितभावनामे चल रहा है तो उस जगहके सब प्राणियोंका भला सोचते है।

खोटे आशयसे बैरीकी कल्पना—विरोधी है कौन ? जो आज विरोधी है उसका आशय यदि शुद्ध बन जाय और वह हमारे प्रति द्वेषभाव न रखे तो बैरी कहाँ रहा ? बैरी

जीवका नाम नही है, बैरी तो एक पर्याय है, दुराशय है। खोटा आशय मिट जाय तो बैरी क्या चीज है और वैसे भी कोई मेरा बैरी नही है। जो बैरी बने हुए हैं वे अपने स्वार्थके कारण अपनी आशक्ति और लिप्साके कारण कुछसे कुछ चाहते हैं, इसीलिए वे नाना यत्न करते है, पर मुझसे बैर भजानेके लिए, मुझे मूलत बरबाद करनेके लिए उनकी चेष्टा नही है। उनकी चेष्टा अपने आपकी पर्यायके उत्थानके लिए है। यो भी कोई जीव बैरी नही है। और, जो पुरुष किसी भी प्राणीको अपना बैरी समझता होगा उसमे वही अधकार पडा है, वह अज्ञानका आवरण है। जिसकी ओटमे आत्मा ढका है वह दृष्टिमे नही आता। जो अपने आपमे बसे हुए कारणसमयसार परमात्मतत्त्वका निर्णय रख रहा है उसके लिए जगतमे कोई जीव बैरी नही है। हे भव्य जीव तू समस्त जीवोको अभयदान दे, सब मुझसे निर्भय रहे, कोई मुझसे डरे नही। लोग मुझसे कब डरेंगे जब मेरा आचरण विपरीत हो, अन्याय पर हम उतारू हो जायें तो लोग हमसे भय करेंगे।

विशुद्ध श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे निर्भयता—यदि कुछ वल है अपना श्रद्धान, ज्ञान, आचरण विशुद्ध है तो लोग हमसे निर्भय हो सकते हैं। जैसे बाह्य भेषमे दिगम्बर मुनिका भेष एक निर्भयताका भेष है, वह स्वय निर्भय है, जो शरीरमात्र रह गया वह तो निर्भय है ही। भय होता है परिग्रहके कारण, जब साथमे कुछ परिग्रह लगा हो तो भय बने। तो निष्परिग्रहता होनेसे वे मुनि खुद निर्भय है और फिर उनके पास परिग्रह वगैरह कुछ नही है तो दूसरे लोग भी निर्भय रहते है। जिस सन्यासीके पास त्रिसूल है, चिमटा है उससे तो लोग बात करनेमे डरेंगे। जैसे जिसके पास बन्दूख है, लाइससमुदा है, किसीको मार नही सकता, बन्दूक चला नही सकता लेकिन कभी क्रोध विशेष आ जाय तो फिर लाइसस और कानूनकी किसे याद रहती है? वह तो बन्दूक चला सकता है। ऐसे ही किसी सन्यासीका विडरूप हो तो उससे सभी लोग डरते है कि न जाने मार ही दे। और, जिस साधुके पास न तो शस्त्र है, न लाठी है उससे कौन डरेगा? उससे तो सभी लोग निर्भय हैं, और वह साधु खुद निर्भय है। जो सदाचारी हो, जिसका व्यवहार नम्रता, परोपकार दयालुता ये सब गुण आ जायें तो दूसरे लोग उसका भय न करेंगे। तो यहाँ यह उपदेश किया है कि तू जीवोको अभयदान दे। इसका अर्थ यह है कि तू अपनी ऐसी चर्या बना कि तेरे कारण जीव अभय रहा करे।

सब जीवोंको समान निरखो—समस्त जीवोसे तू प्रशंसनीय मित्रताको कर। सबसे बडी मित्रता तो यही है निष्कपट, निःस्वार्थ बनकर सब जीवोको अपने समान समझ लेना। जिसके आधार पर फिर मित्रतामे जो बात चलनी है वह चलने लगती है। किसी

भी जीवको दु.ख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषाका जगना मित्रता है। मित्रताका अर्थ ही यह है कि दूसरेका दु ख न चाहे, दूसरे जीवको दु ख उत्पन्न न हो ऐसी उत्कृष्ट मित्रताका भाव हमारे तब हो सकता जब हम सब जीवोको समान समझे। हमने जिसको अपने समान माना है तो जिस बातसे हमे दु ख होगा उस बातसे इसे भी दु ख होता है यह निर्णय रहता है। तो हे भव्य ! तू सब जीवोसे प्रशसनीय मित्रता कर और समस्त त्रस और स्थावर जीवोको अपने समान देख। जिसे आत्ममग्न होना है, आत्मध्यान करना है वह तब ही आत्मध्यान कर सकेगा जब समस्त जीवोको अपने ही समान चैतन्यस्वभावरूप समझेगा, विषमता न रखेगा।

विषमताका आवरण हटाओ—मैं बडा हू, यह छोटा है, ऐसी विषमता जब तक रहती है तब तक आत्मध्यानका पात्र नही है। एक अटक लग गयी है, विकल्प लग गया है। किसी जीवको अपने से बडा समझ लिया, किसीको छोटा समझ लिया तो वह भी एक आवरण हैं, वहाँ भी वह निशक नही रह सकता। जिसे आत्मध्यान चाहिए उसका परिणाम सब जीवोको एक समान निरखनेका होगा, और सब जीव एक समान समझमें आये उसका उपाय है केवल, उनके स्वरूप की दृष्टि रखना। यद्यपि सब जीव समान नही रह सकते है। संसारमे किसीका ज्ञान बडा है, किसीका ज्ञान थोडा है, किसीकी पर्याय कुछ है, प्रकृतिका भेद है तो ऐसे पर्याय वाले जीवोंको एक समान कैसे समझा जायेगा।

स्वरूपदृष्टिसे संकल्प विकल्पोंकी मुक्ति—इन पर्यायोपर दृष्टि न गडाकर सब जीवोके सहज सत्त्वकी ओर दृष्टि देते है और उसमे उसके चित्तमे विकल्प भी नही रहते, बुराई भी नही रहती। ऐसा पुरुष आत्मध्यानका पात्र है। हे भव्य जीव ! यदि तुझे भव-भवके कर्म संकट समाप्त करना है तो तू सब जीवोमे तत्त्वस्वरूपको देख जिससे रागद्वेषका अवसर न आये और अपने ही स्वरूपका अनुभव बना रहे। इसमे ऐसा ध्यान बनेगा कि ये कर्म और संकल्प विकल्प ये सब दूर हो जायेगे।

जायन्ते भूतय पुंसा या कृपाक्रान्तचेतसाम्।
चिरेणापि न ता वक्तु शक्ता देव्यपि भारती ॥५२०॥

परिणाम शुद्धिका चमत्कार—जिनका चित्त दयालु है उन पुरुषोको जो सम्पदा विभूति प्राप्त होती है उसका वर्णन सरस्वती देवी भी बहुत काल तक करे तो भी नही कर सकती। सारे अतिशय सारे चमत्कार इस आत्मामे पडे हुए हैं। जो लोकमे बडे-बड़े चमत्कार माने गए है, भौतिक चमत्कार माने गए है, भौतिक चमत्कारका तो यद्यपि उन पुद्गलो मे ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है तिसपर भी उनका आविष्कार करने वाला, प्रयोग करने वाला तो जीव ही हुआ, आत्मा ही हुआ। सब चमत्कारोकी जड तो यह आत्मा हुआ। और,

जब आत्मामें शुद्ध आशय हो जाता, स्वच्छता प्रकट होती है तो उस आत्माका ऐसा प्रभाव बढता है कि लौकिक चमत्कार पैदा हो जाते हैं, तीर्थंकर प्रभुका जन्म होता है तो स्वर्गोके देवोमे भी एक खलभली मच जाती है, इन्द्र आकर चरणोमे नमस्कार करते हैं, समारोह मनाते हैं। यह सब प्रताप किसका है ? परिणाम विशुद्ध है, लोकोपकारकी उनकी भावना है, प्राणियोंके उद्धारकी भावना है, साथ ही सम्यक्त्व निर्मल था, उसका परिणाम विशुद्ध था, उसका यह प्रताप है। तीनो लोकके प्राणी उनके चरणोमे नमस्कार करते हैं। तो अपनी परिणति विशुद्ध बने इस कार्यके करने पर चाहे लोकमे कोई इज्जत न भी करे लेकिन ज्ञानी जीव इसकी परवाह नही करता।

दया भाव रखनेमें हित--इन दृश्यमान मनुष्योके आधीन हमारे प्राण या भावना निर्भर नही है। ये जगतके प्राणी खुद ससारमे जन्म मरण करने वाले हैं, ससार चक्रमे रुलने वाले हैं, दु खका बोझ ढोने वाले हैं। इनको प्रसन्न करनेके लिए हम क्यो विकल्प बनाये ? हमारा जिसमे हित हो वही करना हमारा कर्तव्य है। तो धर्मकी पात्रता दयासे प्रारम्भ होती है। लौकिक भी दया हो, व्यवहार भी दया हो और ज्ञानप्रकाशमे सहज बसने वाली भी दया हो। दया बिना धर्मका प्रारम्भ नही होता, और परिस्थिति ऐसी है कि लोग दयाको धर्म कहते हैं। हम छोटे बडे प्रत्येक जीवके प्रति दयाका भाव रखे। बडोके प्रति दयाका भाव रखे वह तो एक व्यवस्थाकी बात है फिर भी छोटोके प्रति तो दया रखें ही और समय आने पर छोटे भी बडोंके काम आते है। तो बडे पुरुष भी यदि हमे सतायें या हमारा अपराध करें, हमारेसे विरोध रखें तिस पर भी हम छोटे होकर भी ऐसा साहस और आशय बनाये कि हम उसका विरोध न करे, उसके प्रति द्वेष न रखें और कभी कोई समय आये, यह बडा भी विपदामे हो तो हम उसके काम आ सके, इतना पवित्र आशय ज्ञानी पुरुषके होता है। यही दयाका परिणमन हुआ। तो जिस पुरुषका चित्त दयालु है उसको अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग जो समता प्राप्त होती है उसका वर्णन करनेके लिए सरस्वती भी असमर्थ है। अहिंसा हमारा बडा चमत्कार है और आत्माके उद्धार करनेमे समर्थ है इसी कारण इसे माताकी तरह हितकारिणी माना है।

किं न तप्त तपस्तेन किं न दत्त महात्मना।
वितीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥५२१॥

अभयदानका अर्थ—जिस महापुरुषने जीवोको प्रेमका आलम्बन देकर अभयदान दिया है उस महात्मा पुरुषने कौनसा तप नही किया, अर्थात् दूसरे जीवोको अभयदान करनें मे समस्त तपोका फल आ जाता है और उस पुरुषने कौनसा दान नही किया ? जिस पुरुष ने जीवोको अभयदान दे दिया है उसने सभी तप कर लिया और सभी दान कर लिया, क्यो

कि अभयदानमे सभी तप और दान गर्भित हो जाते है। अभयदान नाम है ऐसी परिणति करना, ऐसा प्रयत्न करना, ऐसा अन्तरङ्गका भाव बनाना जिससे सभी जीव उसके प्रति निशक और निर्भय रहे। किसी भी जीवको मुझसे भय उत्पन्न न हो, ऐसी परिणति भी बनाये तो यह बहुत बडा तपश्चरण है।

उदारताकी आवश्यकता—यह तपश्चरण बहुत कुछ तो गृहस्थावस्थामें भी किया जा सकता है, व्यर्थकी ऐसी बात क्यो करना जिनमे कोई सार नही, केवल बातकी बात। केवल एक मायिक हठ है। और उस हठमे और व्यर्थकी बातोंमे लोगोको शका हो, भय हो, विरोध हो बुरा माने। अपने द्वारा किसी भी जीवका दिल न दुखे ऐसा भाव बने और ऐसा ही यत्न भी हो। चाहे किसी परिणतिमे खुदके मनको दबोचा जाय, कुछ कष्टका अनुभव करले लेकिन किसी भी प्राणीको ऐसी बात न कही जाय जिससे वह दुखी हो। और, खासकर जिसमे कुछ सार नही, न अपनी आजीविकाका कोई सम्बन्ध है, और न कोई रत्नत्रयके विघातका भी भय है और फिर भी व्यर्थकी ऐसी बात करना जिससे खुद भी शल्यमे रह जायें और दूसरे लोग भी मेरे प्रति निर्भय न रह सकें यह बात तो सर्वथा ही आवश्यक है। जिस पुरुषने दूसरे जीवोको अभयदान दिया उस पुरुषने मानो सभी तो तप कर लिया और सभी दान कर लिया।

कल्याणार्थी गृहस्थका कर्तव्य—कल्याणार्थी पुरुषका कर्तव्य है कि अपना जीवन इस प्रकारका बनाये कि जिसमे दूसरे जीव उसके प्रति निर्भय रह सके। गृहस्थावस्थामे तो यदि कदाचित् किसीकी परिणतिसें तुम्हारी आजीविका का घात होता है तो भले ही उसकी प्रतिक्रिया कर ले अथवा किसी दूसरेकी किसी परिणतिसे हमारे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप धर्ममे विघ्न आता है तो भले ही प्रतिक्रिया करले किन्तु जहा न आजीविकाका घात है और न धर्मका ही घात है और फिर भी मौजमे अज्ञानमें आकर हठी बनकर कोई वार्ता ऐसी करना जिसमे दूसरे जीवोको बुरा मानना पडे, वह तो गृहस्थोको भी उचित नही है।

बाह्यस्वरूपसे ही साधु अभयदानी—साधु सतजनोका तो बाह्यस्वरूप भी ऐसा है कि जिसको देखकर दूसरे प्राणी भय न खायें। केवल शरीरमात्र ही जिसका परिग्रह है, कमण्डल, पिछी और शास्त्र ही जिसका उपकरण है, न लाठी है, न शास्त्र है, न शरीरका विडरूप है, न चेहरा ऐसा अनाप सनाप है जिससे लोग भय खायें, ऐसी शान्त मुद्रा सम्पन्न निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुजनोका तो भेष ही अभयदानको दे रहा है। जिसके अभयदानकी प्रकृति है, ससारके किसी भी जीवको न सतानेकी जिसके मनमे प्रतिज्ञा है, ऐसा पुरुष ऐसा शान्त और सौम्य समतामय बन जाता है कि वह आत्माके ध्यानका पात्र होता है और

आत्मध्यानसे ही सर्वसमृद्धि प्राप्त होती है।

यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम्।
तथा तथा विवेकश्री परा प्रीतिं प्रकाशते ॥५२२॥

करुणाभावसे विवेककी वृद्धि–पुरुषोके हृदयमे जैसे जैसे दयाभाव बढता जाता है वैसे ही वैसे विवेकरूपी लक्ष्मी भी उससे परम प्रीति प्रकट-करती रहती है। विवेक आत्मामे कब स्थिर रहता है जब कि करुणाभाव जागृत हो। जिस जीवके खुदगर्जी बहुत है, दूसरो के हितका विचार रंच नही है ऐसे पुरुषके हृदयमे विवेक भी जागृत नही होता। विवेक बढानेका मूल है करुणाभाव। दयाभाव हो तो विवेककी वृद्धि होती है। निर्दय पुरुषके कुछ भी विवेक नही है। और अविवेकी पुरुषोकी सगति धोखा और क्लेशको देने वाली होती है। जो विवेकहीन पुरुष हैं, दयाहीन पुरुष हैं ऐसे पुरुष क्षणमे रुष्ट और क्षणमे तुष्ट हो जाते हैं, उनके रोष तोषका भी विश्वास नही है जिनके रोष तोषका विश्वास नही उनके निकट कहाँ अभय प्राप्त हो सकता है। आज खुश है, थोडी देर बाद कहो ऐसा रुष्ट हो जाय कि महान अनर्थ कर दे। तो जिसके चित्तमे दया नही है उसमे विवेक उत्पन्न नही हो सकता। जीवका धन विवेक है। शान्तिका उदय विवेकसे ही हुआ करता है।

आत्मस्वरूपकी उपासना, शाश्वत आनन्दका उपाय—बाहरी सम्पदा जो जहाँ है जैसी है तैसी पडी है। उनका स्वरूप उनमे है। ये सब दृश्यमान पदार्थ जड है, इनका रूप रस, गंध, स्पर्श ही स्वभाव है, परिणमन है। इसके अतिरिक्त उन पदार्थोंमे और कुछ नही होता। उनमे आनन्द नामक और कोई गुण है ही नही, फिर उनसे आनन्द आत्मामे कैसे प्रकट हो ? बात तो यह है कि आत्मा आनन्दस्वरूप है और विषय कषाय परका उपयोग बाह्यदृष्टि आदिक अधकारोके कारण इसका आनन्दगुण दबा हुआ है, इतने पर भी विषयो के भारसे आनन्दगुणका विकृत अनुभव फिर भी होता रहता है। यदि यह जीव बाह्यपदार्थों से कुछ भी आशा न रखे, सर्वविकल्पोको तोड़कर अपने आपके स्वरूपमे मग्न हो जाय तो इस ही जीवको अपने आप अनन्त आनन्द प्रकट होगा।

आत्माका विश्लेषण करो—आनन्द किसी बाहरी पदार्थसे प्राप्त नही होता, आनन्द तो आत्मका स्वरूप ही है, आत्माके स्वरूपमे दो बातें मुख्य हैं—ज्ञान और आनन्द। जिस किसी दूसरे पदार्थका निर्णय करना है उसके गुणका विश्लेषण करके जरा अपने आपमे बसे हुए आत्माका विश्लेषण तो कीजिए। आत्मा किस रूप है ? यहाँ रूप, रस, गध, स्पर्श कुछ भी नही है और न कुछ पिण्डरूप है, न यह सुना जाता है किन्तु एक जाननस्वभाव है, अब समझ लीजिए केवल जानन क्या कहलाता है, एक ज्ञानप्रकाश। जैसे किसी सम्मुख ठहरे हुए पदार्थको जान लिया तो बतलावो उस पदार्थका क्या कर लिया ? जाननका क्या अर्थ

है ? जानन एक अमूर्त परिणमन है। ऐसे निर्भार जानन परिणमन होना बस यही एक आत्माका कार्य है और ऐसा ज्ञान ही आत्माका स्वभाव है, तथा इस ज्ञानके साथ ही साथ आनन्द भी चलता रहता है। जहाँ रच भी आकुलता नही है उसे आनन्द कहते हैं। केवल जहाँ जाननप्रकाश है, निसीम निर्बाध केवल ज्ञानज्योतिका ही प्रकाशमात्र है, वहाँ रंच भी आकुलता नही है, ऐसा ज्ञान और आनन्दरूप परिणमन करनेका आत्माका स्वभाव है। ऐसा जिसका जो स्वभाव होता है वह निरपेक्ष हुआ करता है। किसी पदार्थकी अपेक्षा रखनेसे नही होता।

करुणावानके आनन्दकी प्राप्ति—मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हू, मुझमे ज्ञान और आनन्द तेरे ही आश्रयसे प्रकट होता है, किसी परपदार्थके आश्रयसे नही। ऐसे इस आत्मतत्त्वको कौन प्राप्त कर सकता है ? जिसके चित्तमे करुणा बसी हो, नम्रता बसी हो, सब जीवोके स्वरूपको अपने समान मानता हो ऐसे महात्माके ही यह आत्मध्यान जगता है। वैसे भी इस जीवको केवल अपने आत्मप्रभुका ध्यान है। रोज-रोज अनुभव तो किया जाता है, कितने-कितने राग कर लिए जाते हैं, उस रूपसे भी कोई ऐसी बात करली हो जिससे यह कह सकें कि हमने अपने आपका इतना तो निर्माण कर लिया, इतनी तो उन्नति कर ली, जिसमे कुछ गिरनेका कोई सदेह ही नही है। कुछ लाभ मिला हो तो बतावो ? अथवा किसी भी प्रतिकूल परिणमन करने वालेसे द्वेष किया है, अनेकसे द्वेष और विरोध रखा है, उन द्वेष और विरोध भरी बातोसे हमने अपने आत्मामे कोई उन्नति की हो, लाभ अपना पाया हो तो बतावो।

रागद्वेषसे अपनी बरबादी—रागद्वेष मोह करके यह जीव स्वयंको बरबाद ही कर रहा है, लाभ कुछ नही मिलता। उन सबसे हटकर अपने आपके स्वरूपकी ओर आयें तो यह अपने लिए शरण है। तो आत्मध्यान ही हमारा परमशरण है, वही सच्चा गुरु है, वही आनन्दका देने वाला है। उस आत्मध्यानका प्रयत्न करना ही अपना कर्तव्य होना चाहिए। उस आत्मध्यानको पानेके लिए हमारी कैसे प्रगति हो उसका यह वर्णन चल रहा है। दया से भरी हुई प्रकृति हो, चित्तमे कठोरता न हो, दूसरोको सुखी करनेके लिए, दूसरोको निर्भय बनानेके लिए खुद अपने मनको मारना पडे, अपनेको नम्र बनना पड़े, अपनेको अपमानसा जँचे, उन सबको पसद कर लीजिए, पर किसी भी प्राणीको मेरे निमित्तसे भय उत्पन्न न हो ऐसी अपनी दृष्टि बनाये।

परम विवेक—पुरुषोके हृदयमे जैसे जैसे नम्रता करुणा बढती जाती है वैसे ही विवेक भी बढता जाता है, और विवेकमे परम विवेक तो यह है कि सबसे पहिले अन्य पदार्थोंसे अपनेको भिन्न परखकर एक कृतार्थताका विश्राम प्राप्त करे, और फिर सबसे

न्यारा परखे हुए अपने ज्ञानस्वभावकी ही दृष्टि बनाकर अपनेमे प्रसन्नता वढायें, निर्मलता बढाये, यही है परम विवेक। संसारमे भ्रमण करते-करते आज मनुष्य जन्म पाया है। सोचिये तो सही कि मनुष्यजन्मको प्राप्त कर लेना कितनी बडी भारी निधि है। निगोदसे निकलना कठिन, अन्य स्थावरोसे निकलना कठिन, दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असञ्ज्ञी-पञ्चेन्द्रिय, यहाँ तक तो कोई विवेकका काम ही नही है। सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय भी हो उनमे भी देखिये सबसे अधिक उद्धारका पात्र मनुष्य है। जहाँ सयमकी पात्रता भी हो सकती है, जहाँ श्रुतकेवलीपना भी प्रकट होता है।

दयावानके आत्मध्यान—ऐसे इस मनुष्यजन्मकी प्राप्ति कर लेना, सोचिये तो कितनी उत्कृष्ट विभूतिकी बात है और फिर मनुष्य होकर भी ऐसा विशुद्ध जैनशासन मिला है जिसके पर्वमे अहिंसा, जिसके मंदिरदर्शनमे अहिंसा, जिसकी पूजामे अहिंसा, जिसके तीर्थ मे अहिंसा, सर्वत्र अहिंसाका ही जहाँ दर्शन है, आत्मज्ञानका ही जहाँ सर्वत्र प्रचार है, मोक्षमार्गका जिसमे यथार्थ उपदेश है ऐसा जैनशासन पा लेना यह कितना उत्कृष्ट वैभव पा लेनेकी बात है। यह न मानो कि धन वैभव कोई महत्त्वकी चीज है। महत्त्व अपने इस नरभवका और जैनशासनके लाभका करिये। इसके आगे अन्य सब हेय पदार्थ हैं। दुनिया के लोग जो स्वय अज्ञान अधकारमे डूबे हैं उनसे किस बातकी आशा करते हो ? वे मेरे इस मायामयी नामका बखान करदें, इतनेमे राजी होना महामूढ पुरुषोका काम है। तो इस नर भवकी सफलता तो आत्मध्यानमे है और आत्मध्यान करुणाशील पुरुष ही कर सकते हैं। अतएव अपने चित्तको करुणासे भरियेगा। दयालुतासे धर्मका प्रारम्भ होता है, सभी शासन कहते है। दयासे ही तप, व्रत, दान, संयम सबकी शोभा है और यह दया ही आत्माके ध्यानमे कुशल बनानेके लिए जडभूत है।

अन्ययोगव्यवच्छेदादहिसा श्रीजिनागमे।
परैश्च योगमात्रेण कीर्तिता सा यदृच्छया ॥५२३॥

धर्ममार्गमें अहिंसाका आश्रय अनिवार्य--देखिये जैन आगममे अहिसाका स्वरूप अन्य योगके विपच्छेदसे कहा है अर्थात् जहाँ रच भी हिंसा न हो ऐसी अहिंसाका प्रतिपादन किया है--जब कि कुछ लोग कभी धर्मके नामपर अहिंसाका भी वर्णन करते और कभी हिंसाका भी वर्णन करते हैं किन्तु जैनशासनमे हिंसाका सर्वथा निषेध किया गया है। स्वेच्छापूर्वक बात नही है कि कभी तो अहिंसाका निषेध किया और कभी हिंसाका निषेध किया। पूजा किया उसमे भी अहिंसाका साधन है, तप, दान, व्रत, यात्रा कुछ भी वृत्ति हो, इसका कारण यह है कि जब तक चित्त अहिंसासे भरपूर न हो जाय, तब तक अपना आशय धर्म-मार्गमे अहिंसाका ही प्रश्रय दिया गया है विशुद्ध नही बनता। सर्वजीवोका जहा एक समान

स्वरूप नजर आता है वहाँ ही अपना आशय विशुद्ध बन सकता है। जहाँ इन जीवोमे यह छोटा है, मै बडा हू, मैं छोटा हू, यह बडा है, इस प्रकार की विषमता जग रही है वहाँ तक अहिसक जीवन नही बनता। सब जीवोमे घुल मिलकर अर्थात् एक स्वरूपका उपयोग करके जो निर्विकल्प परिणति बनाता है अहिसा उसके बनती है।

तन्नास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणम् ।
यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण ॥५२४॥

करुणाके अनुरागका परिणाम कल्याणकारी—इस जीवलोकमे ऐसा कुछ भी कल्याण नही है जो जीव रक्षाके अनुरागसे न प्राप्त हो। जीवदयाका भाव हो तो समस्त कल्याण इस जीवको प्राप्त होते है। यह बात कैसे प्रारम्भ की जाय ? किन जीवोसे यह बात प्रारम्भ की जाय ? तो मनुष्योसे प्रारम्भ कीजिए। हमारा बर्ताव व्यवहार ऐसा हो कि मुझसे किसी मनुष्यको मेरी परिणतिके कारण पीडा न हो। यो तो यह ससार है। हम कितना ही अच्छा चले फिर भी लोग ईर्ष्यासे, स्वार्थबुद्धिसे, कषायसे, कल्पनासे कुछ भी विचारकर दुखी होगे। तो यो दुखी हो तो हो लेकिन ऐसे दुखियोके प्रति भी हमारे अभयदानकी भावना हो, ये निर्भय हो और सुखी हों। कितना विशुद्ध आशय होता है ज्ञानी का।

ज्ञानीका विशुद्ध आशय—किसीके द्वारा कितने ही विरोध और आक्रमण हो फिर भी यह सब जीवोका कल्याण ही चाहता है क्योकि ज्ञानी यह जानता है कि जो लोग मेरे विरुद्ध अथवा मुझपर आक्रमण करते है कि इन जीवोंका मूलस्वरूपमे कोई अपराध नही है। जो जीव आज मेरे प्रतिकूल है, जो मनुष्य मेरा विरोध करते हैं, वे स्वरूपसे तो प्रभुकी ही तरह हैं, शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही है, पर उपाधिका कर्मका ऐसा सम्बन्ध है, उनमे औपाधिक भाव ऐसे जागृत होते है कि यह विचार भूल गया और इस प्रकारकी परिणति करता है। यह विरोधी जीव भी मेरा विरोधी नही है। इसका कर्मवश ऐसा परिणमन हो गया है। ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है इस कारण वह किसी भी जीवको विरोधी और बैरी नही मानता, महात्मत्व तो यही है। जैसे निकट कालमे हुए नेतावोकी भी दृष्टि कुछ परखी होगी। महात्मा गाँधी जैसे महापुरुषने इतने आन्दोलन किया कराया। सब कुछ करने पर भी अपने शासकोपर कभी बैर विरोधकी बात मनमे नही लाये। और, सोचा कि ये मेरे न विरोधी है, न बैरी है, न दुश्मन है किन्तु न्याय चाहते हैं। न्याय पर ये भी आ जाये, न्याय पर हम भी रहे। केवल एक न्यायप्रिय थे। तो सोचिये कि जिस जीवको आत्माके स्वरूपका यथार्थ परिचय हो गया है वह किस आत्माको अपना दुश्मन समझेगा ? सब ज्ञानस्वरूप है, मूलमे कोई अपराधी नही। उदय ऐसा है, कषाय ऐसी जगी है, अत परिणति यो बन बैठी

है। मेरा जगतमे कोई भी जीव बैरी नही है। ज्ञानी पुरुष यो सब जीवोके स्वरूपमे हिल मिलकर एक रस बनकर निर्विकल्प होकर अपने आपमे अनन्त आनन्दका अनुभव करते हैं।

शुद्ध आत्मस्वरूपका शरण—यहाँ सारभूत बात इतनी समझना कि मेरा शरण मेरे शुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यान है, अन्य कोई शरण नही है। यह बात इतने दृढ निर्णयके साथ जानें जिसमे रच भी सदेहका स्थान नही है। न परिजन, न मित्रजन, न शासन, न शासक, न वैभव, न देह कुछ भी मेरे लिए शरण नही है। ये सब विनाशीक हैं, मोहनिद्राके स्वप्न है। आज लोगोकी मान्यतामे कुछ हम बढ गये तो यह बढना क्या चीज है ? कभी बढना एकदम मिट भी सकता है और जितने समय बढा हुआ भी है उतने भी समय आत्मामे कौन सी ऋद्धि सिद्धि मिल गई ? शान्ति तो निर्विकल्प दशामे ही प्राप्त होती है। सम्बन्धमे, समागममे शान्तिका लाभ नही होता। तब समझिये आत्माका ध्यान ही वास्तवमे मेरे लिए शरण है। हमे आशा रखनी चाहिए आत्मध्यानसे।

आत्माके ध्यानमें सहायक प्रभुहित—आत्माके ध्यानमे सहायक प्रभुके गुणोका स्मरण है इसलिए केवल दो ही तत्त्व शरण हैं—प्रभुकी भक्ति और आत्माका ध्यान। दो के सिवाय अन्य किसी भी बातसे अपने कल्याणकी, सुखकी आशा न रखिये, और अपना जीवन चाहे किसी परिस्थितिसे गुजरे, कितने ही सकट गुजरें, कितने ही आराममे आयें लेकिन दो बातोकी प्रधानता न छोडे तो अपना भविष्य नियमसे सुन्दर है और जहाँ प्रभु-भक्ति आत्मस्मरण इन दो बातोकी सुध खो दिया, चाहे लौकिक वैभव कितना ही इकट्ठा हो जाय, कुछ भी प्राप्त हो जाय इससे आत्माको कुछ भी न मिलेगा, आत्माका कुछ भी उद्धार न होगा। २४ घटेका टाइम है उसको फाल्तू बातोमे बिताना कोई विवेकका काम नही है। इस २४ घटेके समयमे दो चार मिनट तो अपने आत्माकी सुध ले।

अहिंसासे सर्वपदोंकी सिद्धि—यह मैं आत्मा समस्त परद्रव्योसे न्यारा, सचेतन अचेतन परिग्रहोसे जुदा, इस देहसे भी विलक्षण, रागादिक भावोंसे भी विविक्त, केवल ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र मैं आत्मा हू। जो मैं हू वह केवल हू ऐसी विविक्त ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र आत्मा की दृष्टि जगे, इस अन्तस्तत्त्वके आश्रयमे सब समृद्धि बसी हुई है, यह काम न छूटे चाहे कितनी ही परिस्थितया आयें। यही अहिंसक जीवन है, और जिसका अहिंसक जीवन है अर्थात् स्वपरजीवोकी रक्षाका अनुराग है उसको समस्त कल्याणपद प्राप्त होते हैं। तीर्थंकर होना, देवेन्द्र होना, चक्रवर्ती होना जितने भी महान पद हैं वे सब दयाके प्रसादसे प्राप्त होते है, अर्थात् अहिंसा ही सर्वपदोके देने वाली है। इस अहिंसाके प्रसादरूप ही हमे आत्माकी सुध होती है, आत्मध्यान ही हमारा वास्तविक शरण है, रक्षक है, गुरु है।

यत्किञ्चित् संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम् ।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसासंभवं ज्ञेयम् ॥५२५॥

सर्वविभूतियोंका कारण अहिंसा धर्म—लोकमे जितनी भी समृद्धि है वे सब अहिंसा से मिलती है। जीवका परिणाम ज्ञानमय बने, अहिंसक बने, वैराग्यपूर्ण बने तो उस भावके निमित्तसे साताकारक कर्मका बंध होता है और उसके उदयमे लौकिक समृद्धि प्राप्त होती और फिर इस ही ज्ञानभावनाके प्रसादसे निर्वाण भी प्राप्त होता है। तो जितनी भी सुख समृद्धि प्राप्त होती हैं वे सब अहिंसासे होती है, इसी प्रकार संसारमे इस प्राणीको कितने भी सुख दुःख शोक भय होते हैं अथवा दुःख शोक भय उत्पन्न करने वाले कर्म बंधते है वे सब एक हिंसासे ही बंधते है। जो पुरुष हिंसामे अपना परिणाम रखते है वे आत्मा का ध्यान करलें अथवा आत्माकी कुछ प्रतीति भी कर सके यह बात नही बन सकती। अतएव जिन पुरुषोंको सुख शान्ति चाहिए उन्हे यह निर्णय करना होगा कि शान्ति केवल आत्मध्यानसे ही प्राप्त हो सकती है। एक आत्मतत्त्वका ध्यान त्यागकर किन्ही भी पर-पदार्थोंमे इस उपयोगको लगाया जाय तो वहा केवल विह्वलता ही अधिक रहती है। भला आनन्दके निधान अपने स्वरूपसे चिगकर जहा आनन्द नही है ऐसे परतत्त्वोमे अपना उपयोग फसाये कोई तो वह आनन्द कहाँसे पायेगा ? आनन्द निधि तो यह स्वयं आत्मा है।

ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रो हरिरमृतभुजां चन्द्ररोचिर्ग्रहाणां,
कल्पाङ्गं पादपानां सलिलनिधिरपां स्वर्णशैलो गिरीणाम्।
देवः श्रीवीतरागस्त्रिदशमुनिगणस्यात्र नाथो यथाऽयं,
तद्वच्छीलव्रतानां शमयमतपसां विद्धयहिंसा प्रधानाम् ॥५२६॥

धार्मिक कार्योंमें अहिंसाकी प्रधानता—जितने भी कल्याणपद धार्मिक कार्य है उन सबमें प्रधान अहिंसाको ही जानो। धर्मके नामपर बहुत-बहुत बडे समारोह व्रत उपवास आदि किये जायें और चित्तमे दया न हो, अहिंसाका भाव न हो, नम्रता न हो, आत्मज्ञान मे प्रकाश न हो तो उन सब कृत्योसे क्या लाभ है ? जैसे कि समस्त ज्योतिषी देवोमे प्रधान चन्द्र है, ज्योतिषी देवोके विमान ५ प्रकारके होते हैं—सूर्यविमान, चन्द्रविमान, नक्षत्रके विमान, ग्रहके विमान और अनेक छोटे-छोटे तारागण। इन सबमे प्रधान है चन्द्रविमान। सूर्य और चन्द्रमे इन्द्र तो है चन्द्रमा और सूर्य है प्रतीन्द्र अर्थात् वडा है चक्रदेव और उसका निकटवर्ती है सूर्य। इन्द्र और देवेन्द्र। ज्योतिषियोमें जैसे प्रधान चन्द्रमा है इसी प्रकार समस्त प्रकारके कल्याणके कार्योंमे प्रधान है अहिंसा। जैसे देवोमे प्रधान है इन्द्र। जैसे यहाँ जनता और राजा, इसी प्रकार स्वर्गलोकमे देव और इन्द्र होते है। इन्द्रका सब देवोपर हुक्म चलता है। इन्द्रकी सेवामे सब देवोको रहना पडता है। तो जैसे उन देवोमे प्रधान है इन्द्र,

ऐसे ही कल्याणक आदि समस्त धर्मकार्योंमे प्रधान है अहिसाका कार्य ।

अहिंसा पद्धति बिना सारे कार्योंकी निष्फलता—एक अहिसाकी पद्धति न रखे और धर्मके नामपर कितने ही कार्य करे तो वे धर्म नही हो सकते। जैसे अनेक जगह देखा जाता है कोई पशुबलि करता, कोई किसी प्रकार मानो कोई खाने पीने प्रसाद आदिमे अपना धर्म समझते हैं। तत्त्वज्ञान जगे और आत्माके निकट उपयोग चले, वैराग्यभाव आये ऐसी वृत्ति की तो कोशिश नही करते, किन्तु बाहरी भोगप्रसाद—भगवान अब सो रहे हैं, भगवान अब बालक बन गए हैं आदिक आडम्बर रचते है, केवल अपने दिल बहलावाके लिए धर्मका ढोग रचते है। तो धर्म यहाँ नही है। धर्म वहाँ होता है जहाँ ज्ञान और वैराग्यका अश भी तो जगे। समस्त कल्याणपद कार्योमे प्रधान इस अहिसाको माना है।

पंचकल्याणकके उत्सवमें भाव—पचकल्याणकके उत्साहोमे देखिये—भाव तो यह है कि मूर्तिकी प्रतिष्ठा कर रहे हैं और मूर्तिमे प्रभुकी स्थापना कर रहे है। यो यदि कोई मूर्ति ही लाये और मान लेवे कि अमुक भगवान है, इस तरहसे अपने आप स्थापना करले तो उसमे अतिशय नही बनता। अतिशयका मतलब है कि सर्वलोगोका आकर्षण बने बिना बात नही बन पाती इसीलिए एक विशेष आयोजन होता है और उसमे वे सब क्रियाएँ दिखाई जाती हैं। वहाँ दिल बहलावाका लक्ष्य नही रहता, किन्तु सभी श्रोतावोका और सभी दार्शनिकोका लक्ष्य प्रभुके चरित्रपर उत्तरोत्तर अब जाप होना है अब तप होना है, अब निर्वाण होना है इस तरह धार्मिकताका सम्बन्ध रहता है, और मूल प्रयोजन है मूर्ति-प्रतिष्ठा जिसके अवलम्बनसे अनेको वर्ष तक एक परम्परा जैनशासनकी चलती रहे। तो जिन कार्योंमे ज्ञान और वैराग्यका सम्बन्ध नही है वे कार्य धर्मके नामपर किये जायें तो वे धर्मरूप नही है। जैसे ग्रहोमे सूर्यप्रधान है—६ ग्रह होते हैं, उन ६ ग्रहोमे चन्द्र भी ग्रह माना, सूर्य भी ग्रह माना पर चन्द्रको प्रधानग्रह माना है, इस कारण समस्त ज्योति चक्रमे चन्द्रको प्रधान माना गया है। केवल ग्रह ग्रहकी अपेक्षा सूर्य जैसे प्रधान माना जाता है इसी प्रकार समस्त व्रत और तपोमे अहिसाको प्रधान समझते हैं।

कल्पवृक्षोंसे अहिंसाधर्मकी तुलना—वृक्षोमे कल्पवृक्ष प्रधान है, कल्पवृक्ष उसे कहते है कि जिसके निकट जावो और जो चीज चाहो सो मिल जाय। धर्मपरम्परामे भोगभूमिमे कल्पवृक्ष बताया। स्वर्गोमे कल्पवृक्ष होते हैं तो उनके निकट पहुचनेपर अभीष्टवस्तुकी प्राप्ति होती है। यो कल्पवृक्ष माने गए है। कही वनस्पतिकायको कल्पवृक्ष बताया, कही पृथ्वीकाय को कल्पवृक्ष बताया। और आधुनिक विचारोमे यो माना है कि कोई फल फूलसे लदे हुए इस प्रकारके वृक्ष होते हैं कि उनके निकट जावो और उनसे अनेक तरहकी चीजें ले लो। अनेक तरहके वृक्ष होते है। जैसे वस्त्रके वृक्ष। कपास पैदा होते है वे वस्त्रकी ही चीज हैं,

कुछ और विशेषताके साथ कुछ आकार प्रकारमे कपास आदि होते होगे। तो आधुनिक विचारमें लोग यो कहते है और परम्परासे कल्पवृक्ष इस तरहसे बताये जाते है कि वे होते है किमात्मक। उनके निकट जावो तो जो चाहो सो मिल जाय। प्रयोजन यह है कि जैसे वृक्षोमे कल्पवृक्ष प्रधान है इसी प्रकार व्रत और तपमे अहिसा प्रधान है।

अन्य प्रधान मानी जाने वाली वस्तुओंसे अहिंसाकी प्रधानता—जैसे जलाशयोमे समुद्र प्रधान है इसी प्रकार समस्त व्रत तपोंमे अहिसा प्रधान है। पर्वतोमे प्रधान है मेरुपर्वत जहाँ अनादिकालसे तीर्थंकरोके अभिषेक होते चले आये है। ऐसे पर्वतोमे प्रधान है मेरू पर्वत। इसी प्रकार व्रत तप आदिक सर्वमे अहिसा प्रधान है।

वीतरागदेव से अहिंसाकी तुलना—देवोमे श्री वीतरागदेव प्रधान है। भगवान कौन हो सकता है? जिसमे सर्वगुण भरे हो, दोष एक भी न हो। यदि यह बात एक आमतौर पर सबको कही जाय तो सब मान लेगे कि भगवान कैसे होते है? जिसमे गुण तो समस्त हो और दोष एक भी न हो, इस बातको कोई इन्कार नही कर सकता। क्या कोई यह कह देगा कि नही नही—भगवानमे कुछ-कुछ दोष भी होते है? क्या कोई यह कहेगा कि भगवानमे सारे गुण नही होते, कोई गुण कम भी होते है? ऐसा कोई कहना पसद न करेगा। चाहे भगवानका स्वरूप जान पाया हो या न जान पाया हो, मगर भगवानके बारेमे सब यही कहेगे कि जिसमे गुण पूरे हो और दोष एक भी न हो, वह है भगवान। दार्शनिक परम्परामे कह लीजिए कि जो निर्दोष है, सर्वज्ञ है वह भगवान है।

गुणोमे प्रधान है ज्ञानगुण जिस गुणके द्वारा आत्माके सारे गुणोकी व्यवस्था होती है। जिस गुणके कारण सर्वगुणोका अस्तित्व जाना जाता है अथवा अनेक अन्य गुण एक ज्ञान गुणकी रक्षा और सत्ताके लिए ही हैं। यो ज्ञानगुण सब गुणोमे प्रधान है। उस ज्ञानमे पूर्णता जहाँ हो वह भगवान है। और, दोष है मोहरागद्वेष। इनका जहाँ लेश न हो वह भगवान है। तो जैसे देवोमे श्री वीतराग सर्वज्ञ देव प्रधान है इसी प्रकार शीलमे, व्रतमें, तपमे सभी धार्मिक कार्योमे अहिंसा प्रधान है। इस प्रकार यह अहिंसाका प्रकरण समाप्त हो रहा है। यह अहिंसाका वर्णन क्यो चल रहा है? यह ग्रन्थ ध्यानका है और ध्यानोमे प्रधान ध्यान आत्मध्यान है।

आत्मध्यान ही शान्तिका कारण—आत्माका जो सहजस्वरूप है अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण जो अपने आपमे शाश्वत स्वभाव है उस रूपमे अपने आपकी उपासना करना 'यह मैं हू' इस प्रकारका अनुभवन करना यही है आत्मध्यान। जीवको शरण आत्मध्यान ही है, निर्वाणका कारण आत्मध्यान ही है, शान्तिका उपाय आत्मध्यान है। इसके प्रसादसे जब तक संसारमे रहना शेष है तब तक वैभवमे इस जीवका समागम रहता है और

अन्तमें निर्वाण प्राप्त होता है। तो आत्मध्यान कैसे बने, किसके बने उसका तंत्र उपदेशके प्रकरणमे यह बात कही गई है। ध्यानके अग तीन होते–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका तो वर्णन किया जा चुका था, अब सम्यक्-चारित्रका वर्णन किया जा रहा है। उसमे सर्वप्रथम अहिंसा महाव्रतका वर्णन है। जो जीव ऐसा भावद्रव्यरूप अहिंसामय जीवन बनाता है उस अहिंसक पुरुषमे आत्मध्यानकी पात्रता होती है।

अथ सत्यव्रतस्वरूपम्

य सयमधुरा धत्ते धैर्यमालम्ब्य सयमी।
स पालयति यत्नेन वाग्वने सत्यपादपम् ॥५२७॥

मुनिकी संयमधुरा–सम्यक्चारित्रका दूसरा अग है सत्य महाव्रत। सत्य महाव्रतके वर्णनमे कह रहे है कि जो संयमी मुनि धैर्यका आलम्बन करके संयमकी धुराको धारण करता है वह मुनि वचनरूपी वनमे सत्यरूप वृक्षको बडे यत्नके साथ पालता है। संयमकी धुरा है मुनिदीक्षा। संयम क्या चीज है इसे यदि स्पष्टरूपसे शीघ्र समझना हो तो जो संयमी मुनि है उनका दर्शन कीजिए और उससे जान लीजिए कि सयम यह वस्तु है। समस्त परपदार्थोंसे चित्तको निवृत्त करके अपने उपयोगको अपने आत्मामे ही सयत किए रहना सो सयम है और ऐसे सयमकी साधनाके लिए जो व्यवहारमे बाह्य अनेक प्रवृत्तियोसे निवृत्ति करना सो बाह्य सयम है।

सत्य महाव्रत–सत्य महाव्रतमे असत्य वचनोके परिहारकी बात है। जिसमे धैर्य हो, जिसके सयमका भाव हो वह सत्य महाव्रतका भलीभाति पालन करता है। असत्यका कोई प्रयोजन ही नही। असत्यका कोई अवकाश ही नही। सयम अवस्थामे जहा बाह्यपरिग्रहोसे कुछ प्रयोजन हो, परिग्रहोका सञ्चय किया जाय किसी भी रूपमे उस प्रसङ्गमे असत्यका अवकाश होता है। जहाँ परिग्रहोसे पूर्ण विरक्ति है, केवल एक ज्ञानस्वरूप आत्माकी साधनामे ही रुचि बनी रहती है, ऐसे शाश्वत तत्त्वोके रुचिया साधु सन्तोके असत्य बोलनेका अवकाश ही कुछ नही है। वे असत्य वचनोसे पूर्णरूपेण विरक्त रहते है। सत्यसे आत्मामे एक बल प्रकट होता है। यह तो अनुभव करके देख लिया होगा या देख सकते हैं।

असत्यसे आत्माका पतन–कि जीवनमे यदि असत्यका व्यवहार है जिसके मूलमें मायाचार भी पडा हुआ है ऐसे असत्य व्यवहारमे रहनेपर आत्मा कुछ अपनेको ऐसा लगने लगता है कि इसका कोई ठौर ठिकाना नही होता, कही विश्राम नही ले पाता, शान्तिका अनुभव नही होता। यह अपने घरमे मौजूद है, निशक और निर्भय अपने स्वरूपमे है, ऐसा अनुभव करनेका उनके अवसर ही नही आ पाता और जो सत्य व्रतका पालन करते हैं वे

लोकमे भी प्रतिष्ठा पाते हैं, यह तो एक आमसंगिक फल है, पर साक्षात् फल यह है कि उन्हे अपने आपमे सन्तोष रहता है। और जैसे हम ठीक अपने पंथपर है ऐसा उनके निर्णय नही रहता है। सत्यव्यवहारका बहुत ही मधुर परिणाम निकलता है।

अहिसाव्रतरक्षार्थं, यमजातं जिनैर्मतम्।
नारोहति परा कोटि तदेवासत्यदूषितम् ॥५२८॥

अहिंसाव्रतकी रक्षाके हेतु अन्य व्रतादि—यो तो जितना भी व्रतोका समूह बताया है जिनेन्द्रदेवने, अमुक व्रत करो, अमुक तपश्चरण करो, वे सब एक अहिसाव्रतकी रक्षाके लिए बताया है। जैसे पापोमे पाप एक हिसा है, हिंसामे सब पाप आ गये, सब पापोमें हिंसा पडी हुई है। ऐसे ही समस्त व्रतोमे एक अहिसाव्रत है। अहिसामे सब व्रत आ गए और सब व्रतोमे अहिसा पडी हुई है। हिंसाका अर्थ है अपने आपमे विकार उत्पन्न करना और अपने शुद्ध ज्ञान दर्शनको प्रकट न होने देना, उसका घात करना, आकुलित रहना, अपने आपको पदभ्रष्ट बनाये रहना यह है वास्तवमे हिंसा। और जिस मनुष्यके ऐसा हिंसा का परिणाम रहता है उसकी प्रवृत्तियां ऐसी होती है जिससे दूसरे जीव भी दुःख पाते है। तो प्रवृत्तियोसे दूसरोको दुःख पहुंचाना यह है द्रव्यहिसा।

समस्त पापोमें हिंसा—जो मनुष्य झूठ बोलता है, झूठ बोलकर वह अपने चैतन्य-प्राणका तो घात तुरन्त करता ही है क्योकि उसका खोटा आशय है। झूठ बोलकर अपने आपको घात किया है तो झूठमे हिसा पडी है। किसी मनुष्यने परधन हरा तो परधन हरना कोई शान्ति और समतासे नही हुआ करता। अनेक विकल्प अनेक खोटी भावना, दूसरोको सतानेके भाव अथवा दूसरे कैसे ही दुःखी रहे उनकी ओरसे कोई ख्याल ही न रहे करुणा का तो क्या यह कोई बुद्धिमानीकी बात है? चोरी करनेमे भी हिसा पडी हुई है अतएव चोरी भी हिसा है। यो कुशील—ब्रह्मचर्यका घात यह भी हिंसा है। द्रव्यहिंसा भी है और साथ ही खुदका परिणाम विकृत है, अज्ञानमयी है तो वहाँ भी हिसा है। यो कुशील पाप भी हिसा ही है। इसी प्रकार परिग्रह का सञ्चय करना यह भी हिंसा ही है। परिग्रहसचयके समय अपने आपकी कुछ सुध-बुध नही रहती। धनकी ओर ही दृष्टि है। जैसे बने वैसे ही इसे बढावो ऐसी ही दृष्टि रहती है तो अपने प्राणो का घात किया, और फिर परिग्रहसचय मे ऐसा यत्न होता है कि दूसरे जीव भी दुःखी हो जाते है। तो वहाँ भी हिंसा हुई। यो समस्त पापोमे हिसा ही हिसा भरी पडी हुई है।

व्रतादिका प्रयोजन अहिंसक जीवन—ऐसे ही समझिये कि जितने भी व्रत तप आदिक करना हो उन सबका प्रयोजन अहिंसा है। अपने आत्माकी सुध बनाये रहना, अपने आत्म-ध्यानकी विशेषता बनाये रहना यह सब व्रत और तपस्यावोमे उद्देश्य भरा हुआ है। तो

अहिसा व्रतकी रक्षाके लिए ही जिनेन्द्रदेवने अनेक प्रकारके यम, नियम, व्रत आदिक बताया है। जैसे इस ही प्रकरणसे यह दृष्टि करे कि यदि सत्य महाव्रत न उतरे, असत्य वचनालाप बना रहे तो उससे अहिंसाव्रतमे उत्कृष्टता नही बन सकती, अहिसाव्रत नही बन सकता।

सत्यमहाव्रतका उद्देश्य अहिंसा—तो यह सत्य महाव्रत भी अहिसाव्रतकी रक्षाके लिए है। आत्महित सर्वोच्च है और आत्महितके अभिलाषी पुरुष आत्महितके ही प्रोग्राममे परहितका ही प्रयत्न करते है। मैं दूसरोका भला कर दूं इस प्रकारकी अभिलाषासे या इस प्रकारके आशयसे ज्ञानी पुरुष परोपकार नही करते किन्तु ज्ञानी पुरुषका यह एक प्राकृतिक आचरण बन जाता है कि उसे अभीष्ट तो है आत्महित, समाधि, ज्ञाताद्रष्टा रहना, किन्तु उस स्थितिमे वह ज्ञानी जब नही रह पाता है तो उसका प्राकृतिक आचरण ऐसा है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पाप इसमे घर नही कर सकते। तो वह यत्न है परोपकार।

परोपकार—उपदेश देकर दूसरोको धर्ममे लगाना अथवा अन्य प्रकारसे सेवा करके वात्सल्य दिखाकर, अभय देकर उनको निर्भय बनाना, निराकुल बनाना ऐसी प्रवृत्ति होती है तो यह परोपकार भी आत्महितमे साधक है। मैं परका यो उपकार कर दूंगा, मैं परको यो सुखी कर दूंगा ऐसी अभिमानवश कोई परोपकार करे तो परोक्षकी बात तो जाने दीजिए वह तो दूर ही है। वैसे तो मोह भी नही मिटा, मिथ्यात्व भी नही मिटा। ज्ञानी पुरुषोको परोपकार करनेकी एक प्रकृति बन जाती है अभिमानवश नही किन्तु अपने हितके लिए। ज्ञानी पुरुष अपने को पापोमे नही लगाना चाहता है और रागाश उठ रहे हैं तो उस ज्ञानी की प्रवृत्ति परजीवोके उपकारके लिए बन जाती है। यो यह सत्य व्रत भी अहिसाकी रक्षा के लिए है। और, जिनका अहिंसक जीवन है वे पुरुष निज ब्रह्मकी सुध बहुत-बहुत रख सकते हैं, और उपायोंसे इस आत्मतत्त्वका ध्यान बनाये रह सकते है।

सर्वोपरि कर्त्तव्य आत्मध्यान—आत्मध्यान सर्वोपरि कर्तव्य है। अपने दिन रातके चौबीस घटोमे यदि दो एक मिनट ही रोज अपने आत्मतत्त्वपर दृष्टि जगे तो उसके प्रसाद से आगामी सारा दिन एक निराकुल, निर्भय और विश्रान्त सा अपने को लगने लगता है। आत्मध्यान सर्वोपरिकार्य है। उसके लिए कर्तव्य है कि हम अपने आशयको सत्य बनायें। किसी भी जीवको विरोधी न समझें। अपने ही स्वरूपके समान सबका स्वरूप जानें।

असत्यमपि तत्सत्य यत्सत्त्वाशंसक वच।
सावद्य यच्च पुष्णाति तत्सत्यमपि निन्दितम् ॥५२६॥

हितकारकत्वमें बचन सत्यता—जो वचन जीवोका हित करने वाला है वह असत्य हो तो भी सत्य वचन है। सत्य वचनका प्रयोजन है जीवोका हित हो। ऐसा सत्य बोलनेसे भी

लाभ कुछ नही है। जिस वचनमे अपनी और दूसरेकी भलाई हो उसे सत्य कहते है। विषय कषायके समागमकी पूर्तिका नाम भलाई नही है, जिससे यह माना जाय कि अपने भोग विषयके साधन असत्य वचनसे मिले तो वह भी सत्य हो जायगा, क्योकि जिसमे हित हो ऐसे वचनका नाम सत्य कहा है। तो वह हित कहाँ है ? विषय कषायके साधन मिलें उसमे जीवकी कहाँ भलाई है और उसके लिए असत्य वचन बोले जायें तो वे सत्य नही कहलाते। कदाचित कोई भी वचन हो जिससे जीव अपने सच्चे हितकी ओर लग जाता है तो ऐसा असत्य भी वचन प्राणिका भला करने वाला होनेसे सत्यरूप है। उसका बुरा तो नही होता, भला ही होता है, और जो वचन पापको पुष्ट करते हो, हिसारूप कार्यको पुष्ट करता हो वह सत्य भी हो तो भी असत्य है और निन्द्यनीय है। कल्पना करो कि सामने से कोई गाय भागती निकले और पीछेसे एक शिकारी हाथमे छुरी लिए भागता हुआ निकले तो आप अपने दिलकी बात बतावे कि यदि वह आपसे पूछे कि क्या इधरसे गाय निकली, तो आप उसे क्या उत्तर देगे ? आप जान गये थे कि गाय यहाँसे भागी है और तुरन्त ही यह छुरी लिए हुए शिकारी निकला है, यह शिकारी उस गायको मारनेके लिए दौड रहा है तो बतावो कि उसके पूछने पर आप क्या उत्तर देगे ? क्या आप उससे यह कहेगे कि हाँ हाँ यहाँसे अभी गाय निकली है, अब क्या है, चले जावो, तुरन्त मिल जायगी। ऐसा जवाब देनेका क्या आपका चित्त चाहेगा ? आप तो यही कहेगे कि भाई हमे कुछ पता नही है, यहासे तो कुछ भी नही निकला। आप तो यही सोचेंगे कि शिकारी यहाँसे लौट जाय और गायके प्राण बच जायें।

सत्यवचनका प्रयोजन स्वपरहित—ऐसे ही जो वचन इस जीवको अहितमे ले जाने वाला हो अर्थात् उस जवसे हिसा आदिक कार्य करा दे ऐसा वचन भी असत्य है और निन्द्यनीय है। आत्मध्यान चाहने वाला पुरुष किस प्रकारकी अपनी परिणति बनाये कि मुझे आत्मध्यानमे सफलता मिले इसके लिए यहाँ व्रतोका वर्णन चल रहा है। ध्यानार्थी पुरुषको सत्य होना चाहिए। उस सत्य व्रतकी मीमासामे यहाँ यह कहा जा रहा है कि सत्य वचनका प्रयोजन है स्वपरहित। अपना हित हो और दूसरोका हित हो ऐसे वचन बोलना सो सत्य है।

अनेकजन्मजक्लेशशुद्धयर्थं यस्तपस्यति।
सर्व सत्त्वहित शश्वत्स ब्रूते सूनृत वच ॥५३०॥

सत्य वचनसे लाभ—जो साधु अनेक जन्मोमे उत्पन्न हुए क्लेशोकी शान्तिके लिए तपश्चरण करते है वे सुन्दर सत्य वचन ही बोलते है क्योकि असत्य वचन बोलनेसे साधुपना नही रहता। सत्य वचन बोलने से लौकिक पद्धतिमे भी बडी निशकता रहती है। किसीकी

झूठ बात बोल दी जाय, किसीकी चुगली कर दी जाय तो ऐसा झूठ बोलने वाले पुरुषको चिन्ता शल्य बना रहता है। प्रथम तो यह शल्य रहता कि झूठ तो बोल दिया, पर इसका यदि भेद खुल गया और दूसरे ने समझ लिया कि हमने झूठ बोला है तो हमारी क्या इज्जत रहेगी और फिर झूठ बोला है उसे यह आत्मा तो खुद जानता है। दूसरा कोई जाने अथवा न जाने लेकिन स्वय तो समझ रहा है कि मैंने असत्य वचनका पाप किया है। तो खुदकी दृष्टिमें तो यह बुरा हो गया और वही वही खुदकी जानकारीमे है तो स्वय यह शल्य रहेगा।

असत्यवचनसे हानि—तो असत्य वचनसे चिन्ता शोक आदिक बढ जाते हैं। अपने और परके चित्तमे भी शल्य बढ जाता है। ऐसे साधुजन जो आत्मध्यानमे सफलता चाहते है उन्हे चाहिए कि सर्वदा सत्य वचनोका प्रयोग करें। सत्यसे ही साधुकी प्रतिष्ठा है और सत्यसे ही मनुष्यमात्र की प्रतिष्ठा है। यहाँ भी जो कुछ भी व्यापार आदिक कार्य चलते हैं, व्यवहारके कार्य चलते हैं। लोग कुछ भले ही ऐसा कहे कि सच अगर बोला जाय तो लोग रोटियाँ भी न खा सकें, उन्हे कुछ आय भी न हो सके, लेकिन यह तो सोचो कि दुकानदार भी चाहे वह झूठ बोल रहा हो मगर मुद्रा तो ऐसी बनी है, रूपक तो यो बना है कि जिसमे ग्राहक यह समझ जाय कि यह सत्य ही बोल रहा है तभी तो व्यापार चल रहा है। झूठ बोलने पर भी सत्य बोलनेकी मुद्रामे, वातावरणमे व्यापार चलता है। यदि ग्राहक यह समझ जाय कि यह तो सरासर झूठ बोलता है तो कही काम चल सकता है क्या? तो झूठ चाहे चोरीरूपसे रखा है लेकिन खुले रूपसे झूठके कारण कुछ भी काम नही चल सकता है। तो जो भी व्यापारिक कार्य चल रहे हैं उनका मुख्य कारण एक सत्यका वातावरण है। यदि कोई मनुष्य अन्तरङ्गमे भी असत्य हो और बहिरङ्ग भी असत्यके वातावरणमे हो तो भले ही प्राय लोग असत्य व्यवहार करते हैं अतएव कुछ वहाँ सकटमे रहे किन्तु जब जनता जान चुकती है कि आत्मा तो सत्य ही है तो उनके व्यापारमे बडी विशेषता बढ जाती है। असत्य वचन बोलनेमे आत्मामे शल्य चिन्ता शोक कर्मबन्ध उद्वेग सभी बातें बढने लगती हैं। साधु पुरुष भव भवके बाँधे हुए पापकर्मोंके विनाशके लिए यत्न करते हैं, जन्म-जन्मके क्लेश दूर हो इसके लिए तपश्चरण करते हैं तो ऐसे उत्कृष्ट तपश्चरणकी ओर झुकाव रखने वाले साधु असत्य वचन बोलनेकी मनमे कभी भी बात नही सोच सकते हैं। असत्य वचन बोलनेसे साधुता नही रहती।

सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम्।
अग्राम्य गौरवाश्लिष्ट वच शास्त्रे प्रशस्यते ॥५३१॥

हितकारक वचन सत्य—शास्त्रोमे उस ही वचनकी प्रशंसा की गई है जो वचन सत्य है। सत्यका अर्थ है कि जिसमे जीवका भला हो, अपना भी भला हो, परका भी भला हो,

और स्वपरका भला करने वाला वचन वस्तुके स्वरूपके अनुकूल हुआ करता है। अतएव जो पदार्थ जिस प्रकार है उस प्रकारसे बोलनेका नाम सत्य कहा गया है। जो वचन सत्य हो, जिस वचनमे करुणा भरी हो, अपने और परकी दयाकी बात बसी हो, क्रूरतापूर्वक वचन न हो, जो लोक विरुद्ध न हो, दूसरे के विरुद्ध न हो, अपने हितके विरुद्ध न हो, जिन वचनोके बोलने के समय निराकुलताकी बात बनती हो वे सब वचन लोकमे और शास्त्रोमें प्रशसायोग्य कहे गए है। किसी मनुष्यके प्रति झूठ बोलनेका अपक्रम किया जाय तो चित्तमे आकुलता उत्पन्न होती है और दिलको बड़ा कडा बनाना पडता है, हिम्मत बनानी पडती है और सत्य वचन बोलनेमे दूसरोके हितकारी वचन बोलने मे दिलको न कडा बनाना पडता, न दुसाहस की जरूरत पडती। बडे आरामसे निराकुलतासे निर्भयतापूर्वक वे वचन बोले जा सकते हैं। तो सत्य वचनकी पहिचान और स्वरूप ही ऐसा है कि जिसमें आकुलता नही रहती। तो जो वचन आकुलता रहित हो वे शास्त्रोमे प्रशसनीय वचन कहे है। उस ही वचन की प्रशसा की गई है जो वचन अगम्य है अर्थात् गंवारो जैसी बात नही है। धोखेसे पूर्ण नही है। जिनको जीवनमे झूठ बोलनेकी प्रकृति बन गयी है उनके लिए झूठ बोलना एक सहज काम सा बन गया है।

स्वच्छ आशयसे वचनकी सत्यता—किसी भी घटनाको एकदम सही रूपमे स्पष्ट रखनेमें जो अपनी शान नही समझते, कुछ भी बात हो झूठकी प्रकृति जिसकी हो गयी हो ऐसा पुरुष अपने आपमे अपने सत्यपथका भान नही कर पाता। वचन समतापूर्ण हो और सत्य हो उस ही वचनकी प्रशंसा है। वचन वह होना चाहिए जिसमे गौरव पड़ा हुआ हो, अपने हल्केपनकी बात, तुच्छताकी बात जिसमे समायी हो, ऐसा वचन प्रशसनीय वचन नही है। जो अपनी स्वच्छताका सूचक हो वह वचन युक्त है और इसका अनुमापक है कि इसका हृदय इतना स्वच्छ है। महापुरुष कभी हल्की बात नही बोलते हैं। तो जो गौरवपूर्ण वचन हो वही वचन प्रशसाके योग्य कहा गया है। मनुष्यका धन एक वचन है। किसी भी मनुष्य की पहिचान यह अच्छा है, बुरा है, प्रमाणीक है, नीच है गुण्डा है, सब तरहकी परख वचनोसे ही होती है। इसका हृदय कितना निर्मल है यह भी वचनोसे परख होती है। इसका अर्थ यह नही है कि जिसका वचन जितना नम्रतासे भरा हुआ हो उसका हृदय स्वच्छ हो। चापलूस पुरुष बडा नम्र होता है और उसके वचन भी बडे सुहावने नम्रतापूर्ण लगते है किन्तु आशय उसका स्वच्छ नही है। उसके आशयका पता भी नही पडता और आशय यदि स्वच्छ हो तो वह वचन भी सही बातका अनुमान करा देता है। बहुत दिनो तक मनुष्यो के पडोसमे बसने पर या किसी मनुष्यसे कुछ समय अधिक परिचय होने पर सब बातका पता पड जाता है। उन वचनोमे कोई ऐसी अनिर्वचनीय पद्धति और कला है जो

कला एक स्वच्छ आशयका अनुमान कराती है।

प्रसंशनीय वचन--नम्रताके वचन होनेसे हृदय स्वच्छ हो गया हो यह निर्णय नही है। भले लगने वाले वचन हृदयकी स्वच्छताके अनुमापक हो यह भी निर्णय नही है। कैसे वचन हृदयकी स्वच्छता बतलाते है उसका हम कुछ वर्णन नही कर सकते किन्तु अनुभव सबको है। तो जो वचन सत्य हो, दयामयी हो, विरोध न हो, अनाकुलता हो, गंवारो जैसा न हो और गौरव सहित हो वह वचन शास्त्रमे प्रशसनीय कहा गया है।

मौनमेव हित पु सा शाश्वत्सर्वार्थसिद्धये।
वचो वाचि प्रिय तथ्य सर्वसत्त्वोपकारि यत्॥५३२॥

अधिकतर मौन रहनेकी शिक्ष—समस्त अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धिके लिए सर्वप्रथम तो यह निर्णय दिया गया है कि कल्याणार्थी पुरुषको निरन्तर मौनका ही आलम्बन करना चाहिए, किन्तु यदि वचन कहना ही पडे तो ऐसा कहना चाहिए जो सबको प्रिय हो, सत्य हो और समस्त जनोका हित करने वाला हो। जब कोई ऐसी शंका हो कि ऐसी बात बोलना चाहिए या न बोलना चाहिए तो उसमे अधिक निर्णय न बोलना चाहिए का रखना चाहिए। कभी-कभी जीवनमे ऐसे प्रसग आ जाते हैं कि चित्त चाहता है कि हम इसको यह बात कह दे, कुछ चित्त चाहता है कि न कहे। यह बात कहनेमे भला है अथवा यह बात न कहनेमे भला है, जब ऐसी ससयकोटिपर अपना उपयोग जाने लगे तो उस समय यह निर्णय रखिये कि न कहना अच्छा है। प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनोके मध्य यदि कोई शका आ जाय कि क्या करे, यह काम करूँ या न करूँ तो निवृत्तिका निर्णय तो तब तक रखियेगा जब तक सदेह है। इस जगतमे जीवोसे बोलते रहनेका प्रयोजन किया, अधिक बोलचालसे कौन सी सिद्धि होती है, आत्मबल कम होता है और अधिक बोलनेसे पता नही कोई ऐसी बात बोलने मे आ जाय जो तुच्छताका सूचक हो, दूसरोको कष्ट देने वाला हो, तो पीछे शल्य सी बन जाती है, अतएव मौनकी प्रवृत्ति अधिक रहनी चाहिए। जरूरत समझो तब बोलो। और जब भी बोलो तब ऐसे वचन बोलो जो सर्वका हित करे, तथ्य हो, यथार्थ हो।

मौनसे लाभ—प्रयोजन सबके हितका है। अपना भी कल्याण हो और दूसरे जीवो का भी कल्याण हो। इस कल्याणके प्रयोजनकी सिद्धिके लिए वचन बोले जाते हैं, अन्यथा वचनोकी क्या जरूरत है। हितका प्रयोजन आत्माके सही हितसे है। यो तो जो कोई बोलता है वह इन्द्रियविषयोकी पूर्तिके लिए, साधनाके लिए वचन बोला करता है, वे वचन तथ्यरूप नही हैं, सत्य नही हैं। जिसमे जीवको सहज शान्ति प्राप्त हो, एक समीचीन दृष्टि मिले, सदाके लिए ससारसकटसे छूट जानेका उपाय मिले ऐसे वचन ही सत्य वचन कहलाते हैं। तो प्रथम तो मौनका अधिक उपयोग होना चाहिए और मौनकी अधिक प्रवृत्ति

होने पर विवेक रहना बडा सुगम रहता है, बुद्धि कई गुना बढ जाती है। जो समस्यायें बडी कठिन आ गयी हो जिनका हल करना कठिन है वे समस्याये भी सुलझ जाती हैं, उनका मार्ग भो नजर आने लगता है कि किस तरह यह विपदा दूर हो सकती है। मौनमें विवेक बढता है, प्रतिभा बढती है, शान्ति प्राप्त होती है अतएव वचनोके प्रसंगमे सर्वप्रथम सत्यवचन गुप्तिको दिया गया है।

वचनके सम्बन्धमें ४ प्रकार की हितकी स्थितियां—वचनके सम्बन्धमे ४ प्रकारकी हितकी स्थितिया होती है सत्य महाव्रत, भाषासमिति, सत्यधर्म और वचनगुप्ति। इन चारोमें सर्वोच्च धर्म है वचनगुप्ति। जब वचन बोलनेकी आवश्यकता ही समझी जाय, जिसमे अहितका परिहार है, हितकी प्राप्ति हैं और बोलना आवश्यक है ऐसी स्थिति जब समझें तब भाषासमितिका प्रयोग करें। भाषासमितिमे हित मित प्रिय बचन बोले जाते हैं तो वचन गुप्ति और भाषासमिति इन दोनो धर्मोंको पाला जाता है आत्मध्यानकी सिद्धि करने वाले पुरुषके द्वारा। अब सत्यधर्म और और सत्य महाव्रत -भाषासमितिसे कुछ और चिगे तो सत्य धर्ममे उसकी स्थिति रह जाना चाहिए, इससे और नीचे न गिरें। सत्यधर्मसे मतलब है कि वचन बोले तो सत्य और आत्मा ही आत्माकी बात बोले, फाल्तू परसम्बन्धी बात न बोले। जब इससे भी हटे तो सत्य महाव्रतमे स्थित करें। सच बोले, आत्माकी बोले चाहे परकी बोले मगर असत्य वचनका प्रयोग न होना चाहिए। और, इससे नीचे फिर साधुता रहती नही। तो सर्वोत्कृष्ट बात तो हुई वचनोकी गुप्ति। मौनसे रहना और वचनगुप्तिसे न रह सके, वचन कहना ही पडे, कोई बात आवश्यक ही दीखे तो ऐसे वचन बोलें जो सबको प्रिय हों, सत्य हो और समस्त प्राणियोका हित करने वाले हो।

आत्महित सम्बन्धी वचनोंसे उत्थान— जीव जीव सब एक स्वरूप है। हम और अन्य जीव स्वरूपदृष्टिसे देखो तो सब चैतन्यात्मक हैं। यह जो भेद पड गया है एक उपाधि के सम्बन्धसे भेद पडा हुआ है। स्वरूपदृष्टिसे तो सब जीव एक समान है। और, जो एक एक समान होते है उन्हे एक कह दिया जाता है। सब जीव एक है। स्वयमे जब इस जीव-स्वरूपकी एकताका भान हुआ और उसमे जो आनन्दका अनुभव किया उसके पश्चात् इस ज्ञानी जीवको यह भावना हो जाती है तब परकी ओर दृष्टि जाती है कि देखिये तथ्यकी बात तो यह है जीव स्वय ज्ञानानन्द स्वरूप हैं। इसे आनन्द पानेके लिए बाहरमे कुछ करने को नही पडा हुआ है। स्वयं ही आनन्दरूप है समझ लो और जो भ्रम कर रखा है, परकी ओर आकर्षण बना रखा है वह मिट जाय। जीव स्वय सुखस्वरूप है। इसको इसकी दृष्टि प्राप्त हो ऐसी करुणा जगती है और इस करुणा भरे भावमे दृष्टि जाती है, फिर जो वचन बोलते है वे शुद्ध आत्महितके लिए वचन बोलते है। भला ऐसा आत्महित करनेके

लिए वचन बोले जाये तो वे अनापसनाप होंगे क्या ? वे परिमित होंगे और साथ ही साथ जब दूसरे जीवोका भला करनेके लिए वचन बोले जा रहे हो तो क्या वे कटुक कठोर अप्रिय होंगे ? वे तो बडी शान्त्वनाके साथ प्रिय भी लगें ऐसे वचनोके साथ होंगे। तो प्रथम कार्य तो यह है कि बोले ही नही। मौनका आलम्बन करे और बोलना पडे तो ऐसे वचन बोले जो सत्य हो, प्रिय हो, हितकारी हो। ऐसे व्यवहारसे जीवनका बडा उत्थान होता है।

यो जिनैर्जगता मार्ग प्रणीतोऽयन्तशाश्वत ।
असत्यबलत सोऽपि निर्दयै कथ्यतेऽन्यथा ॥५३३॥

वस्तुस्वरूप—सत्यका यथार्थ वर्णन करना सो सत्य है। जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा ही वर्णन करनेका नाम सत्य है और इस सत्यका जो जिनेन्द्रदेवने वर्णन किया है वह वस्तुके अनुकूल है किन्तु ऐसे भी अत्यन्त शाश्वत वस्तुस्वरूपको कुछ लोगोने असत्य युक्तियो के बलसे असत्य वर्णन किया है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे सत् है परस्वरूपसे असत् है। कोई पदार्थ किसी पर-उपाधिका निमित्त पाकर विकृत भी हो तो भी उपाधिका कुछ भी इस उपादानमे नही आता है। ऐसा स्वतत्र स्वतत्र समस्त वस्तुवोका परिणमन है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे सत् है अतएव स्वतत्र है, ऐसी परख हो जाने पर जीवोका मोह टूट जाता है। किससे मोह करना। किसी पदार्थका कोई पदार्थ जब कुछ लगता ही नही है तो मोह किसमे हो। यह मैं आत्मतत्त्व जो अपने ज्ञानानन्दस्वरूपसे सहित है और अपने ही रूपमे है, अत्यन्त भिन्नस्वरूप है फिर ऐसा यथार्थ निर्णय होनेपर कैसे यह कल्पना जगे कि यह देह मेरा है।

ममता और अहंकारसे दुःख—ममता और अहकारसे रहना यह तो महान अज्ञान अधकार है। तो यथार्थ वस्तुस्वरूपके जाननेसे यह मोह दूर हो जाता है। मोह दूर होनेसे ही आत्माको कल्याण प्राप्त होता है। आत्मा ही कल्याणस्वरूप है। स्वय ही आनन्दका धाम है, किन्तु अपने आपकी सही प्रतीति न रखनेके कारण और परपदार्थोमे आकर्षण बनानेके कारण इसका आनन्द सुख अथवा दुःख रूपमे प्रकट हो रहा है। भ्रम दूर करे, मोह रागद्वेष दूर हो जाय। तो मोह दूर होना, आकुलता समाप्त होना यह है शान्तिका विशदमार्ग लेकिन दयाहीन कुछ प्राणियोने जिन्हे थोडी कुछ युक्तियाँ गढनेकी प्रतिभा मिलती है उनको सत्यके बलसे इस जैनमार्गने भी वर्णन किया है।

विषयप्रवृत्ति और धर्मसाधन एक साथ नहीं—इन्द्रियके विषय पुष्ट करने का तो ध्येय रहे और जगतमे हम धर्मात्मा कहलायें—इन दो बातोको एक साथ बनानेके लिए सिद्धान्तोमे कुछ न कुछ फेर करने की जरूरत पडती है। उसकी अवस्थावोका करने वाला कोई प्रभु है। इस मान्यतासे अपने आपका विषय प्रवृत्त करनेके लिए बचाव करनेकी बात

सोची गई होगी । मेरा क्या अपराध ? जो कुछ कराता है प्रभु कराता है । विषयोंके सेवन मे भी लगूं तो वह प्रभुकी आज्ञा है । मैं तो सदैव निरपराध हू । यो अपने आपका बचाव करनेकी बात भी सोचे और धर्मात्मा भी बराबर जगतमे कहे जाये यह बात सोची गई है । अथवा जीव भौतिक है, पृथ्वी, जल, अग्नि वायुसे मिलकर बना है और इस स्वरूपकी शरणमे अपने आपको तो धर्मात्मा भी साबित करते रहे, और जब यह जीव आगे रहेगा ही नही, पृथ्वी आदिक भूतोका विकार है तो उसके हितके लिए क्या सोचना, क्यो तप, यम सयम आदिक करना । यो इन्द्रियके विषयोका सेवन भी प्राप्त रहे और धर्मात्मापन भी रहे । किन्ही पुरुषो ने तो यहाँ तक सोच डाला होगा कि मांस मदिरा आदिकका सेवन भी करते जाये और धर्मात्मा भी कहलाते जायें, इसके लिए क्या करना ? तो मनुष्यमे बलि आदिकके रूपसे वर्णन कर दिया, अथवा मास मज्जा चरस आदिक सेवन करते हुए भी हम धर्मात्मा कहलाये इसके लिए किसी देवी देवताके सिर यह बात मढ दी कि वे भी भाग खाते है मास खाते हैं चरस पीते है, और उनका नाम लेकर इनका सेवन करते जाये ।

मोहकी बलवत्ता—यो विषय कषायमे लीन पुरुषोने अपने विषय कषाय पुष्ट करने के लिए उत्तम मार्गका भी उत्थान करके उसे उठाकर फैंकनेकी कोशिश की और कुमार्ग पर चलाया, यह सब मोहका माहात्म्य है । जगतमे मिथ्यात्व और मोह बडा बलवान है । कोई पुरुष स्वय कुछ पाप कर रहा है तो उससे उसका ही बुरा है । और, किसीने पापभरी बातोका उपदेश शास्त्रोमें भर दिया तो उसने स्वयका भी अनर्थ किया और उस शास्त्रके रहनेसे जो जो पढेंगे, श्रद्धा करेंगे, चलेगे उन सबका भी अनर्थ किया । इतनी महान् अनर्थ करनेकी बात करे कोई तो उसमे प्रबल मोह और मिथ्यात्व ही कारण है । सत्यके विरुद्ध यह जगत सब कुछ परिणति कर रहा है और सत्यके विरुद्ध जब तक प्रवृत्ति रहेगी तब तक आत्मामे ज्ञानका प्रकाश न होगा और न आत्मामे ध्यान बन सकेगा और आत्मध्यान बिना जगतके जीव यत्र तत्र भ्रमण कर अनेक जन्म मरण पाकर संसारमे रुलते ही तो रहेगे ।

शरणभूत चीज सत्यका आलम्बन—ससारके सकटोसे छूटनेका उपाय सत्यका आलम्बन है । अपने आपमे ऐसा प्रकाश और समाधान रहना चाहिए कि कुछ भी परिस्थितिया आयें उन परिस्थितियोको हल करने के लिए हमने मनुष्य जीवन नही पाया किन्तु सदाके लिए संसारके सकट टल जायें, एतदर्थ धर्मका आचरण करते रहे इसके लिए मनुष्य जीवन पाया है । परिस्थिति कैसी ही आये, मुझे इस लोकमे अपना नाम न चाहिए, इज्जत पोजीशन रखनेकी हमारी भावना नही है । यह जगत स्वय मायास्वरूप है । हमे किसको

क्या दिखाना है, जो भी परिस्थितिया आये उन सब परिस्थितियोमे हम अपने प्राण रक्षा का गुजारा कर सकनेमे समर्थ है, और समस्त परिस्थितियोका हम साहससे मुकाबला कर सकते है। उन परिस्थितियोसे घबडाकर बाह्य परिकरोमे लग जाने के लिए हमारा जीवन नही है। हमारा जीवन हम अपने आपके स्वरूपका सत्य अनुभव करके अपनेमे धर्मका अनुभव करे, आनन्दका अनुभव करे इसलिए हमारा जीवन है। ऐसा साहस ज्ञानी पुरुषके होता है और यही सत्यका पालन है, जिस सत्य बोलनेसे कर्म झडते है, जन्म मरण दूर होता है।

विचर्य्यासत्यसदोह खलैर्लोक खलैलीकृत ।
कुशास्त्रै स्वमुखोद्‌गीर्णैरुत्पाद्य गहन तम. ॥५३४॥

दुष्ट पुरुषों द्वारा असत्यताका समर्थन--दुष्ट और निसार पुरुषोने असत्यका आन्दोलन किया, असत्यके प्रचारमे अपना समस्त बल लगाया और काल्पनिक मिथ्या शास्त्रो द्वारा इस जगतमे गहन अधकार फैलाया और इस लोकको दुष्ट और निसार बना दिया है। जो लोग झूठे शास्त्रोका निर्माण करते है वे जगतके लिए कितना अनुपकारी हैं उसका दिग्दर्शन करा रहे है। जो पुरुष स्वार्थी होते है वे ऐसी ही दुष्टता करते हैं कि जिसमे दूसरोके हितका कोई ध्यान ही नही रखा जाता। जिस किसी भी प्रकार हो अपना स्वार्थ साधन होना चाहिए, ऐसे ही आशयसे अनेक निर्दय पुरुषोने खोटे शास्त्रोकी रचना की है। खोटे शास्त्र वे हैं जिनमे ज्ञानके बजाय अज्ञानका पोषण हो, वैराग्यके बजाय रागका पोषण हो और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पापोका प्रश्रय मिला, ऐसे वि-वचन जिसमे लिखे हुए है वे सब कुशास्त्र है। भला कुछ अपनी ओर ध्यान देकर विचार तो कीजिए। हम मनुष्य हुए हैं, जीवन पाया है, जो आयु शेष है वह भी शीघ्र व्यतीत होनेके लिए है। आयु क्षण क्षणमे नष्ट होती चली जा रही है। ज्यो ज्यो आयु व्यतीत होती है त्यो त्यो हम मृत्युके सम्मुख जा रहे है। जीवन हमने किसलिए पाया ? अपने आपमे ऐसा साहस बनाएँ कि कुछ भी सकट आये वह सकट कुछ नही है, परपदार्थोके परिणमन हैं, सयोग वियोगकी स्थितिया है। उन परिस्थितियोसे इस ज्ञानानन्दस्वरूप मुझ आत्माका क्या अलाभ है। इसे कोई क्षति नही पहुचती।

आत्मध्यानमें शान्ति—अपने आपके स्वरूप सत्त्वको विचारे। सबसे न्यारे ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र अपने आत्माका ध्यान करें तो इससे तो हमे शान्ति मिलेगी, उद्धार होगा, बाकी तो सारे समागम जिनके पीछे ये ससारी प्राणी लगे हैं वे सब धोखेकी बातें हैं। साथ ही यह भी तो ध्यान रखिये कि घरमे जितने भी लोग हैं उन सब जीवोंके साथ ही तो कर्म लगे हुए हैं। सबके कर्मोके अनुसार जो कुछ बात बनने को होगी वह बन जायेगी। मैं

किसीका पालने वाला नही, किसी को सुख दु ख देने वाला नही। कर्मोदयके अनुसार सब जीवोको ऐसे प्रसग प्राप्त होते है जिनमें वे जिस प्रकार कर्मोदय है उस प्रकार रह जाते है। किसीके पालनका भार अपने आपमे न महसूस करे। हो रहा है सब उदयानुसार। मैं तो केवल विकल्प ही करता हू, अपने योग और विकार ही करता हू, इसके अतिरिक्त मैं किसी भी दूसरे प्राणीको कुछ नही किया करता। अपने आपको सबसे जुदा निर्लेप ज्ञाता द्रष्टा मात्र निहारनेका यत्न करे। जो सब लोगोके उदयमे है वह बिना ही बिचारे, बिना ही अभ्यास किए स्वयं भी प्राप्त होता है। सबकी बात है। मेरे तो केवल ये प्राण रह जायें और मै धर्ममे अधिकाधिक संलग्न होऊ, इतना ही काम पडा हुआ है।

यथार्थ ज्ञानप्रकाशमें आत्मबल—अपने आपकी दया करना यह बडा मुख्य कर्तव्य है। हम चिन्ताएँ करते है यह हम अपने प्रभुको दबाते है और अन्याय करते है। हम कल्पनाएं मचाये, मोह रागद्वेष करे यह सब अपने आप पर अन्याय करना है। यथार्थ ज्ञान-प्रकाशमे बहुत बडा आत्मबल रखा हुआ है। रात दिन केवल धंधा कमाई आदिकमे ही उपयोग रखें तो आत्माको विश्राम कब दिया ? निरन्तर विकल्पजालोंसे अपने आपको आक्रान्त रखा। विश्राम कब लिया ? आत्माका सत्य विश्राम तो उन परकीय विकल्पजाल छोडकर निर्विकल्परूपसे ठहरानेमे है। अपने आपका क्षणिक विश्राम हमे प्रतिदिन ही करना चाहिए। हम अपने आपमे विश्राम करे, यह तभी बन सकता है जब हम अपने सत्वका यथार्थ भान करले। इस सत्यका हम आन्दोलन मचाये, इस आत्मसत्यका हम आग्रह करे, इस आत्मसत्यके पालनके समक्ष हम समस्त सासारिक समागमोको महत्त्वशील समझे। हम अपने आपके स्वभावमे उपयोगी बने यह सबसे बडा महत्त्वपूर्ण उत्तम कार्य है। वैभवका अर्जन, वैभवकी रक्षा ये सब तो गौण कार्य हैं। मुख्य कार्य तो हम अपने आपका सही श्रद्धान करे, ज्ञान करे और अपने आत्मतत्त्वमे मग्न हो, यह है सही और आवश्यक कार्य।

जीवनका मुख्य कार्य रत्नत्रय—एक निर्णय भर तो बना ले कि मेरे जीवनका प्रयोजन तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी आराधना है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मेरे लिए मुख्य काम नही पडा हुआ है। देखिये इस प्रकारके अन्तरङ्ग फकीरानासे आत्माको कितनी शान्ति प्राप्त होती है। अरे मायामयी पुरुष विषयकषायसे भरे, जन्म मरणके दु खी, ससारमे रुलने वाले जीवोमे हम अपना कुछ नाम रख ले, अपना यश बता दें ऐसा स्वप्नवत् एक कल्पनाजाल बनाकर अपने आपको कितना दु खी कर डाला है इस जीवने। सत्य आनन्द तो अपने आपके स्वरूपके ज्ञानप्रकाशमे है। रही बाहरकी बातें, पोजीशन, वैभव सब कुछ, तो ये सब ज्ञानके विरोधी बातें है। सही ज्ञानरूप धर्मके पालन के समय पुण्यकर्म कभी हमारा विशेषरूपसे बँधता है कि जिसके उदयमे ही ये लोकके दुर्लभ

बडे बडे वैभव प्राप्त होते है। कोई जीव चक्रवर्ती बन गया तो उसने क्या किया ? क्या कमाई किया, क्या श्रम किया ? पूर्वभवका कर्म बधन ऐसा ही अनुपम था कि वह चक्रवर्ती बन गया, तीर्थंकर बन गया। तो जीव करता क्या है ? सिवाय अपने परिणामके और कुछ नही करता और ज्ञान परिणमन बना रहे उस कालमे यदि कर्मबध हुआ तो विशिष्ट पुण्य-कर्मका बधन होता है। सत्य सत्य ही रहेगा।

आत्मस्वरूपकी उपासनामें सर्वकल्याण—आत्मस्वरूपकी उपासना करनेमे ही सर्व कल्याण है, यह बात ध्रुव सत्य है। अपने आपका लक्ष्य यह बनाना चाहिए कि हम अपने आपका सम्यक्प्रकाश पाये, ज्ञान पाये, और अपने आपमे ही मग्न रहा करे इस निर्णयमे तो रच भी शका न रखना चाहिए। हममे वह साहस है कि हम गरीबीका भी मुकाबला कर सकते है। हममे वह साहस है, शक्ति है कि ससारके सयोग वियोग भी होते रहे, उसमे भी हम अपने आपको विचलित न कर सके। जो कुछ समागम मिला है आखिर वह नियमसे बिछुड़ेगा, इसमे सदेहकी रच गुञ्जायस नही है। चिरकाल तक रहने वाला कोई भी समागम नही है। तब पहिले से ही यह निर्णय कर लें ना कि सर्व कुछ समागम नियमसे हमसे अलग होंगे। इस निर्णयके होने पर जब बिलगाव होगा तब इसे क्लेश नही हो सकता। क्योकि उसके यह भान है कि इस बातको तो हम पहिलेसे ही जानते थे। अचानक कोई बात गुजरे, उसकी चोट लगती है और उस चोटके बारेमे पहिलेसे ही भान हो जाय कि अमुक विपदा आयेगी तो उसमे इतना साहस बनता है कि वह उसे सुगमतासे सहन करता है।

सत्यके पालनमें जैन शासनकी सार्थकता—तो अपना मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि जो हमने जैन-शासन पाया है, जो अत्यन्त दुर्लभ चीज है, उस शासनसे हम अधिकाधिक लाभ उठाये। वह लाभ है सत्यके पालनमे। सत्य बोले, शुद्ध आचरण करें, सत्यकी प्रतीति बनायें और ध्रुव सत्य है आत्माका सहज स्वरूप, उसरूप अपने आपका अनुभवन करते रहे। जो अन्य कुशास्त्र रचे गए है वे विषय कषायके अभिलाषी पुरुषोने रचे हैं। उन शास्त्रोसे हम अपना कुछ निर्णय न बनायें किन्तु अपने पदका निर्णय बनाये।

जयन्ति ते जगद्वन्द्या यै सत्यकरुणामये।
अवञ्चकेऽपि लोकोऽय पथि शश्वत्प्रतिष्ठित ॥५३५॥

सत्य स्वरूपकी रुचिमें उद्धारका मार्ग—जिन प्राणियोने इस जगतके प्राणियोको सत्यमार्गमे चलाया, करुणामयी धर्ममे लगाया, जिसमे कही धोखा नही है, यथार्थ सही सही मार्ग है ऐसे मार्गमे चलाया वे सत्य पुरुष जयशील हैं और जगतमे वदनाके योग्य हैं, पूजाके योग्य है। जिन आचार्योंने हमे वस्तुका सत्य स्वरूप दिखाया है और सत्यधर्म पर चलानेकी

प्रेरणा दी है उन आचार्योंका हम क्या गुणगान करे। हम उनकी इस करुणामयी आशय की समीचीनतामे, उपदेशमे भी समर्थ नही हो सकते। धन्य है वे संत पुरुष जिन्होने लोकोपकारके लिए सत्यस्वरूपका निर्देश किया है। उस सत्यस्वरूपकी धारणासे, श्रद्धानसे हम ससारके संकटोसे दूर हो सकते है। हम अपने आपको माने कि मैं जगतके सब पदार्थोंसे न्यारा हू। इस देहसे भी न्यारा हू। ज्ञान करनेके अतिरिक्त अन्य कुछ हम कर्तव्य किया ही नही करते है। विचार बनाये, ज्ञान बनायें, विकल्प करे, वे सब ज्ञानके ही तो परिणमन है। इसके अतिरिक्त परवस्तुमे हम और कुछ भी नही किया करते हैं। ऐसा सत्यस्वरूप जानकर परसे उपेक्षा लायें और अपने को कृतकृत्य अनुभव करे। मुझे कुछ करने को है ही नही लोकमे, क्योकि सब जुदे जुदे पदार्थ है। यों कृतार्थता का अनुभव करे और सत्यस्वरूपकी रुचि बनाये, इस रुचिमे ही हम आप सबका उद्धार है।

असद्वदन वल्मीके विशाला विषसर्पिणी।
उद्वेजयति वागेव जगदन्तर्विषोल्वणा ॥५३६॥

असत्य वाणीमें दुःखकी व्याप्ति—जैसे किसी बामीमे महाभयानक विषभरी सर्पिणी निवास करतो है और वह अपने आपमे भी बहुत विषकर भरी हुई है और जगत को विषसे व्याप्त करके पीडा देती है इसी प्रकार असत्य बोलने वाले मुखरूपी बामीमे असत्यवाणीरूपी सर्पिणी खुद अपने आपमे विष भरी है, और जगतके जीवोमे विष व्याप करके पीडा दिया करती है। असत्य वचनको विषसर्पिणीकी उपमा दी है। जैसे विषभरी सर्पिणी जगतको पीडा देती है इसी प्रकार असत्य वाणी भी लोकको पीडित कर देती है। घरसे ही अनुभव कर लो, घरकी स्त्री अथवा पुत्र कोई झूठ बोलता हो तो उस झूठ बोलने वाले पर कितना क्रोध आता है। अपराध भी किया हो किसीने और वह सच बोल दे तो गुस्सा शान्त हो जाता है। अपराध भी माफ कर दिया आता है। अपराध किया हो और झूठ बोले तो अपराध पर अपराध हुआ और क्रोध बढेगा। तो असत्य वाणी पडौसियोको, समाजको घरको सबको पीडित करती है। जो पुरुष असत्य बोलते रहते है उन पुरुषोको आत्माके ध्यानकी पात्रता नही जगती।

सत्यवादियोंके ही आत्मध्यानकी पात्रता—लोकमे शरण है तो केवल अपने कारण-समयसारका ध्यान, अपनेमे बसे हुए ज्ञानानन्दस्वरूपी प्रभुका ध्यान ही शरण है। शेष जो बाहरी उपयोग भटकता है वह सब भटकन इस जीवको संसारमे रुलाने वाली है। उस आत्मध्यानकी पात्रता उन ही प्राणियोके होती है जो सत्यवादी है, जगतके प्राणियोको हितमयी वचन बोलनेमे अपना भला समझते है।

न सास्ति काचिद् व्यवहारवर्तिनी न यत्र वाग्विस्फुरति प्रवर्तिका।
अवन्नसत्यामिह ता हताशयः करोति विश्वव्यवहारविप्लवम् ॥५३७॥

सम्यक्ज्ञान ही सत्यवाणी—देखिये व्यवहारमे भी लोग जो कुछ बोलते हैं वह सब स्याद्वाद भरी वाणी है। जैन शासनमे वस्तुस्वरूपके विवेचन करनेका मार्ग स्याद्वाद बताया है। जैन धर्मकी सबसे बडी विशेषता है तो वस्तुस्वरूपके प्रतिपादन करनेकी है—और कल्याण सब कुछ वस्तुस्वरूपकी सही जानकारी पर निर्भर है। लोग हैरान होते है कि मोह नही छूटता और मोह ही दुखदायी तत्त्व है और किसी प्रकारका दुख ही नही मनुष्योको। सब मनुष्य है, अपने अधिष्ठित एक-एक शरीरमे रहते है, अपने आपमे बसते हैं, इनको कौन सा क्लेश है, पर मोह जो लगा रखा है परवस्तुवोमे यह मैं हू, यह मेरा है इस तरहकी जो कल्पनाएँ चलती है वे परेशान किये रहती है। मर गए शरीर छोडकर चल दिया। जहाँ जानेका भवितव्य है चले गए। क्या रहा यहाँ ? जिस वैभवमे मोह करके इतनी परेशानी उठाई जा रही है उसमे तत्त्व क्या है ? सार बात क्या है ? किसको दिखाना है कि हम बडे भारी है। ये तो सभी मोही हैं, अज्ञानी है, दुखी है, किसको बताना ? मोह ही इस समस्त जगतको परेशान किए हुए है। वह मोह कैसे छूटे, इसका उपाय जैन शासन ने सम्यग्ज्ञान बताया है। हम समस्त पदार्थोको यथार्थ भिन्न-भिन्न पहिचान ले। भिन्न हैं सब इसलिए भिन्न-भिन्न जाननेकी बात कही जा रही है। कुछ तो प्रकट नजर आते है। धन वैभव कुटुम्ब मित्र परिजन ये सब क्या आपके आधीन है ? रहना है तो रहते हैं, जब जाने का समय होता है तब चले जाते हैं, बिछुड जाते है, तो वे प्रकट पर है। परको पर जान लो तो तुम्हारी कल्पनाए मिट जायेंगी। तुम परको मान रहे कि ये मेरे हैं, उससे तुम्हारी इच्छा बढती है। ये पदार्थ यो परिणमे, यो बनें, ऐसी अनेक इच्छाए जगती हैं और उसके अनुकूल बाहरमे होता नही है तो दुखी रहते है। तो मोह कैसे छूटे ? जब वस्तुका सही ज्ञान हो तब मोह छूटे।

सम्यक्ज्ञानका उपाय स्वाध्याय—वस्तुके सही ज्ञानका उपाय है स्वाध्याय। जैसे व्यवहारमे भी हम किसी पुरुषको जानते है तो स्याद्वादके द्वारा जानते हैं। किसी भी व्यक्ति का परिचय एक मार्गसे नही होता, अनेक मार्गोंसे होता है। जिसे आप रोज रोज देखते हैं, जानते है कि यह अमुकका पिता है, अमुकका पुत्र है, अमुक व्यवसाय वाला है, अमुक प्रकृतिका है, आप पचासो ढगसे उसे पहिचानते हैं तो उसकी पहिचान पक्की है। तो ऐसे ही आत्मा की पहिचान भी जैनशासनने पचासो ढगसे कराया है। यह आत्मा अमूर्त है, यह आत्मा कर्मोसे बधा है। यह आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावरूप है, यह आत्मा वर्तमानमे विकारी है, यहि कसी गतिसे आया है, किसी गतिसे जायेगा। वर्तमानमे इसमे अनन्त प्रकारकी

पर्यायें गुजर रही है । सब कुछ हम अनेक ढंगसे जानते हैं, इसीका नाम है स्याद्वाद ।

स्याद्वादसे वस्तुस्वरूपका निर्णय--अपेक्षा लगाकर वस्तुके स्वरूपका निर्णय करने का नाम है स्याद्वाद । जगतमे व्यवहारमे प्रवर्तनि वाली जो भी वाणी है वह सब स्याद्वादरूप सत्यार्थ वाणीसे स्फुरायमान है । लेकिन ऐसी स्याद्वाद वाणीको भी मिथ्यादृष्टिजन जिनका चित्त मोहसे व्याकुल हो, असत्य कहते हुए समस्त व्यवहारका लेप करते है ।

स्याद्वाद बिना लौकिक कार्य भी नहीं--देखिये स्याद्वादके बिना किसीका कुछ काम नही चलता । किसीको पैसा उधार दिया । अब उसके बारेमे आपको दो निर्णय है कि नही कि यह पुरुष वही है, ६ माह बाद भी आप यह जानते हैं ना कि यह पुरुष वही है जिसको हमने पैसा उधार दिया था ? साथ ही यह भी जानते हो ना कि ६ माह गुजर गए अब समय नया आ गया ? अब इससे व्याज लेना है और मागना है । तो ये दो किस्मके ज्ञान हुए कि नही ? एक तो हुआ नित्यका ज्ञान और एक हुआ अनित्यका ज्ञान । यदि कोई ऐसा ही माने कि मैं तो वह नही हू जो आपसे रुपया ले गया था वह आत्मा तो नष्ट हो गया, यह मैं आत्मा दूसरा हू तो व्यवहार चल सकेगा क्या ? और आत्मा यदि बदले ही नही, उसमे कोई परिवर्तन ही न हो तो भी व्यवहार चलेगा क्या ? पिता पुत्र कुटुम्ब रिस्ते ये सब व्यवहार है, स्याद्वादके बल पर चल रहे है । किसी भी व्यक्तिके सम्बन्धमें क्या आप एकान्त से कह सकते कि यह बेटा ही है ? यदि ऐसा कह सकते तो इसका अर्थ है कि सबका बेटा है, सब तरह बेटा है, तो व्यवहार कहाँ चलेगा ? तो जिस स्याद्वादके बलसे व्यवहार तक भी चल रहा है, मोक्षमार्ग भी चलता है उस स्याद्वादका निषेध करते हैं सर्वथा एकान्तवादी लोग ।

स्याद्वाद शैलीसे बोले गये वचन सत्य--उनका कुछ आशय ही नही है । जो मन मे आया सो बताया । करना क्या है उन्हे यह बात उनको भी विदित नही । यदि कोई कहे कि हमको ससारसे छूट कर मुक्तिमे जाना है तो भला यह बतलाओ कि अपने आपको कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य माने बिना किसी उद्देश्यकी पूर्ति हो सकती है क्या ? नित्य तो यो मानना होगा कि मैं ही संसारमे रुलता हू और मुझे ही संसारसे छूटकर मुक्तिमे पहुंचना है । मैं वही का वही हूँ । इस ससारी पर्यायको तो मुझे नष्ट करना है और निर्वाण की पर्यायको हमें प्राप्त करना है । तो अनित्यका ज्ञान हुआ कि नही हुआ ? संसारी पर्याय दूर करें और मोक्षकी पर्याय प्राप्त करें तो कथंचित नित्य और कथंचित अनित्य मानने पर ही मुक्तिका मार्ग जाना जा सकेगा, प्राप्त किया जा सकेगा । इसके विरुद्ध जो असत्य वचन बोलता है, समान्तविरूपणा करता है वह मिथ्यादृष्टि आत्महितको तो नष्ट करता ही है, मोक्षमार्गका तो विरोध करता ही है पर समस्त व्यवहारका भी लेप कर देता है । स्याद्वाद

शैलीसे जो वचन बोले जायेंगे व सत्य वचन होंगे।

पृष्टैरपि न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कथंचन।
वच. शङ्काकुलं पापं दोषाढ्य चाभिसूयकम् ॥५३८॥

अप्रमाणिक वचन न बोलो—ऐसे वचन कभी न बोलिए जो वचन संदेहरूप हों। जिस वचनमें यथार्थ निर्णय नहीं है प्रमाणिकता नहीं है उस वचनको न बोलिए। चाहे वह व्यवहारके वचन हों और चाहे धर्मके प्रसंगके वचन हो, जिन वचनोंमें पूर्ण निर्णय नहीं है ऐसे वचन न बोलिए। जब हम ही स्वयं संदेहरूप है, हम ही को उस तत्त्वके बारेमें भली प्रकार निर्णय नहीं है कि वस्तुका स्वरूप ऐसा है उस तत्त्वका हम उपदेश करें तो यह हमारे लिए अनुचित बात है। वचन वह बोलिए जिस बातमें पूर्ण निर्णय है, सदेह वाली बात न बोलिए। देखिये अपनेको आवश्यकता है कि शान्त बनायें और दुःखोंसे दूर रहें। तो शान्त बननेमें मार्गमें हमें सत्यवचनका व्यवहार रखना होगा।

असत्यवादीके आत्मदर्शनका अलाभ—पग पग पर जो झूठ बोलता है वह क्या लाभ उठाना चाहता है? धन सम्पदाका लाभ झूठ बोलनेसे नहीं मिलता, लौकिक यश, वैभवका लाभ पुण्यकर्मके उदयके अनुसार प्राप्त होता है। न झूठ बोला जाय तो उसके पुण्यकर्मका उदय देर तक भी चलेगा और यश वैभव भी प्राप्त होंगे। झूठ बोलकर उसने यदि कुछ प्राप्त किया है तो पूर्व पुण्यके कारण कुछ मिल गया है, लेकिन भावी कालमें उसके पास फिर कुछ हाथ न रहेगा। असत्य वचन बोलनेसे यह उपयोग इस आत्मभूलसे ऐसा अलग हो जाता है कि वह स्वयं अस्थिर रहता है और आत्मदर्शनका पात्र नहीं होता। लोकमें जीवोंने अनेक-अनेक समागम पाये, अनेक वैभवोंके दर्शन किए किन्तु परम आनन्दमय निज आत्मप्रभुका दर्शन नहीं किया। हिम्मत ऐसी बनायें कि जो होता है, जिसका जो उदय है उस उदयके अनुसार उसका काम होगा।

गृहस्थीमें भी आत्मोपयोगसे अनाकुलता—हम किसी परपदार्थके सम्बन्धमें अनेक विकल्प चिन्ताएं क्यों करें? गृहस्थ हैं तो साधारणरूपसे, सात्त्विकवृत्तिसे व्यवस्था बनाना अपना कर्तव्य है। यदि गृहव्यवस्थासे भी हम अत्यन्त उदासीन रहते हैं तो गृहस्थीका कर्तव्य नहीं निभा रहे हैं। ऐसे पुरुषको तो साधु बनकर अपना ध्यानमग्न होना चाहिए था। गृहस्थी है तो साधारणतया उसका निर्वाह करना जरूरी है लेकिन साथ ही यह ध्यान रखें कि मैं किसी भी जीवका निर्वाह नहीं कर रहा हूं, सबका उदय सबके साथ है, सभी अपने अपने उदयके अनुसार परिणति करते हैं। यह वास्तविक श्रद्धान न भूलना चाहिए और इसमें ऐसा चमत्कार है कि इस जीवको यह अनाकुल रख सकता है। तो ऐसे आत्मसत्य, ऐसे इस ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभुका आश्रय हमें तब मिल सकता है जब हमारा व्यवहार

सत्यतासे पूर्ण हो, लोग मुझे निरखकर विश्वास करें कि यह प्रामाणिक पुरुष है, यह जो कहेगा वह सत्य और प्रामाणिक होगा। ऐसा सत्य व्यवहार बने तो आत्मामें वह बल वह दृष्टि प्राप्त होती है जिससे यह अपने निकट बहुत काल तक ठहर सकता है। सत्य आनन्द तो आत्माके निकट अपना उपयोग बनाये रहनेमे है। अतएव बात ऐसी करना चाहिए जो आत्माके हितमे साधक हो।

पापरूप, दोषरूप वचन न बोलनेकी शिक्षा--व्यर्थकी बातें, जिनसे न आजीविका का सम्बन्ध है और न धर्मपालनका सम्बन्ध है। व्यर्थकी गप्पसप्प ये सब आत्मध्यानसे विमुख करने वाली प्रवृत्ति है। पूछे जाने पर भी वह बात न बोलना चाहिए जिन वचनोमे कुछ सन्देह है। न अपने आप बोलें ऐसी बात जिसका खुदको ही पूरा निर्णय नही है और फिर भी दूसरोंपर लाद रहे है, दूसरोको बता रहे है। अरे पूछने पर भी न बोलिए ऐसे वचन जो पापरूप है, दोषसे भरे हुए है, ईर्ष्यासे परिपूर्ण हैं, ऐसी बात न बोलना चाहिए और न सुनना चाहिए। वचनोका मनुष्योके सुख दुःखसे ब त निकट सम्बन्ध है। वचनोसे ही बडी लडाइया चलती है, वचनोसे ही शान्ति रहती है और अपने आपको भी शान्तिमे रख सके, दूसरोको भी शान्तिमे रख सके उसका उपाय केवल वचन है।

ज्ञानबल द्वारा क्लेशोंसे छुटकारा—अपने आपके चित्तको किसी प्रसंगसे क्लेश पहुंचता है तो उस क्लेशको तो हम दूसरे समयमे ज्ञानबलसे हटा सकते है, पर असत्यवचन बोलकर जो हमने अपनेमे शल्य बनाया है, चूंकि दूसरोने सुन लिया ना वे असत्यवचन और दूसरे लोगोसे हमारी प्रतिष्ठा गिर गयी ना, तो उससे उत्पन्न होने वाली शल्य बडी कठिनता से दूर की जा सकती है अथवा उसके असत्य प्रलापसे दूसरोके चित्तको कोई क्लेश पहुचा है तो उसके क्लेशको दूर करना हमारे लिए दुर्गम हो जायेगा। हम अपने आपके क्लेशको किसी विचारधारासे दूर कर सकते हैं, पर हम दूसरोके क्लेशको अथवा दूसरोके व्यवहारसे उत्पन्न हुए शल्यको हम दूर करनेमे बहुत असमर्थ हो जायेंगे। अतएव वचन बहुत सभाल कर सत्य हो, हितरूप हो ऐसे बोलना चाहिए, और ऐसे वचन तभी बोले जा सकते है जब अधिकाधिक मौनरूप अपनी प्रवृत्ति रहे, नियम करके ही क्या, बिना नियमके ऐसी प्रकृति बन जाय कि न बोले। जब कभी आवश्यक हो तब ही बोलें।

विशुद्धवचनसे हितपना--ऐसी प्रकृति बने तो तुम्हारा विचार विशुद्ध हो जायगा और किसी चीजके निर्णय करनेकी ऐसी कुशलता प्राप्त हो जायेगी कि फिर जो वचन बोले जायेंगे वे प्रमाणीक होंगे, सत्य होंगे, प्रिय होंगे, दूसरोंके हितरूप होंगे। जो वचन विशुद्ध नही हैं ऐसे वचनोका प्रयोग कभी न करना चाहिए। यह ग्रन्थ आत्मध्यानका पिरूपण करने वाला है। आत्मध्यान ही लोकमे एक मात्र शरण है। हम आप सबको उस

आत्माका ध्यान कैसे बने, उसके उपायमे बताया जा रहा है कि पहिले तो आत्माका सत्य श्रद्धान करें। यह मैं आत्मा समस्त परपदार्थोसे देहसे विकल्पोसे न्यारा हू, केवल ज्ञानानन्द स्वरूप अमूर्त हू, इसे कोई पकड नही सकता, छेद नही सकता, बाँध नही सकता, यह हवा से अग्निसे जलसे किसीसे छत नही हो सकता।

आत्मध्यानी बननेका उपाय--यह मैं आत्मा ऐसा स्वतत्र हू, अकेला हू, इसका किसीसे बन्धन नही है। मैं ही अपने अन्दरमे कल्पनाएं जगाकर अपने आपसे बध जाता हू और यह बन्धन आत्माका स्वभाव नही है। जब ज्ञान प्रकट होगा तो यह बन्धन क्षण मात्र मे मिट जायेगा। रागद्वेष मोहके ये बन्धन तब तक रहते हैं जब तक हमे अपने आपके इस स्वतत्र सहज आत्मस्वरूपका बोध नही हो। जब जान लिया कि मैं सबसे विविक्त केवल ज्ञानानन्द स्वरूप हू, इस मुझको बाहरमे करनेको कुछ नही पड़ा है, बाहरके पदार्थ वे अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे रहा करते है। मैं अपने आपमे अपना उत्पाद व्यय किया करता हू। जब यथार्थ बोध होता है तो ये बन्धन सब समाप्त हो जाते हैं। यदि यथार्थ बोध हो, यथार्थ श्रद्धान हो और फिर उसही के अनुकूल आचरण बने, अहिंसारूप आचरण, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य किसीका आचरण ऐसी अपनी चर्या बने तो आत्मध्यानकी पात्रता जगती है, ऐसे उपदेशके प्रसंगमे इस अध्यायमे सत्यमहाव्रतका वर्णन चल रहा है।

मर्मच्छेदि मन शल्य च्युतस्थैर्यं विरोधकम्।
निर्दय च वचस्त्याज्य प्राणै कण्ठगतैरपि ॥५३९॥

मर्मभेदी वचनोंसे जीवन भर शल्यता--चाहे प्राण कठगत हो जायें अर्थात् चाहे मृत्यु आये तो भी ऐसे वचन न बोले जायें जो मर्मको छेद दें। बल्कि मर्मछेदी वचन बोलने से मौत जल्दी आ सकती है। दूसरे को क्रोध आ जाय, वह आक्रमण करदे तो मर्मछेदी वचनसे कौनसा लाभ लूटा जाता है? खूब ध्यानसे मनन कीजिए। अपने आपमे क्रोध उत्पन्न किया, अपने आपको जलाया भुनाया और उस क्रोधके कारण अपनी बुद्धि भी बरबाद कर ली। अब कुछ सोचने की शक्ति इतनी अधिक नही रही कि यथार्थ बात सोची जा सके। क्रोधमे जो सोचा जाता है वह अटपट सोचा जाता है। कुछ नहीं तका जाता कि इसमे दूसरोका हित है अथवा नही है। हित है या नही है यह कुछ विचारमे नही आता। तो मर्मभेदी वचनोसे क्रोध बढता है, बुद्धि सिथिल होती है, आकुलता बढती है और बैरकी परम्परा बढ जाय तो जीवन भर शल्यकी तरह चुभती है। ममभेदी बचन चाहे प्राण कठगत हो जायें फिर भी न बोलना चाहिए। जो वचन मनमे शल्य उत्पन्न करें ऐसे वचन न बोलना चाहिए।

आत्मज्ञान बिना संसारिक क्लेश--हमे अपने आपके आत्माका कोई शान्तिका मार्ग

प्राप्त करना है। इस अनादि ससारके रहते रहते अनन्तकाल व्यतीत किया। कभी स्थावर हुए, कभी कीडा मकोडा हुए, कभी बडे देव अथवा मनुष्य भी हुए पर धर्मदृष्टिके बिना अब तक ससारमे, क्लेश ही पाया है। पूर्वभवकी भाँति इस भवमे भी जो कुछ मिला है वह भी स्वप्नसम है। जैसे पूर्वभवके समागम हमारे लिए इस समय कुछ भी नही है, क्या था क्या न था, उनका स्मरण तक भी नही है ऐसे ही इस भवके समागम ये चद दिनोकी बाते है। या हम इन समागमोको छोडकर चले गए या हमारे जीते जी ये समागम नष्ट हो जायेगे। ये सब समागम स्वप्नवत् असार है। इन किसी भी समागमोकी प्राप्तिके लिए हम चित्तमे अनीतिका सकल्प करें, अपने मनमे शल्य बनाये तो यह अपने अहितकी बात है।

शल्यकारी वचन न बोलनेका उपदेश--हम किसके लिए ऐसी बात बोले जो मनमे शल्य उत्पन्न करा दे और अपने जीवनको बिगाड दे। ऐसे भी वचन कभी न बोलना चाहिए जो चंचलतारूप हो, खूब विचारकर बोले। जो बोले वह दृढतासे बोले, सही निर्णय करके बोले। किसी भी बातको बारबार अदलै बदले नही। जो मौलिक बात है उसे बोलें। ऐसी बात न बोलें जो किसी मे विरोध उत्पन्न करा दे, ये सब कषायकी चेष्टाएं है। कुछ लोग इसमें ही मौज मानते है कि एक दूसरेको भिडा दिया, लडा दिया, खुश हो रहे है उनकी कलहको निरखकर, ये तीव्र कषायकी बाते है। वचन वे बोलना चाहिए जिससे दूसरोको साता उत्पन्न हो। जो बात दयासे रहित है, क्रूरता भरी हो वह बात भी न बोलना चाहिए। हमारा आपका सुख दु खसे सम्बन्ध जुडाने वाले ये वचन है, जहाँ तक बने हम मौन सहित रहे, कम बोले और जब बोले तो हित मित प्रिय वचन बोलें। इस तरहके वचनकी हमारी चर्या रहेगी तो हमे अपने आपके हितके विचारमे बहुत अवसर मिलेगा और हम सुगमतया अपने आपके शुद्धस्वरूपकी दृष्टि कर सकेंगे। आत्मध्यानका यह एक विशदमार्ग है, कि हमारा व्यवहार, हमारा वचनालाप सीधा, सरल सत्य, हितकारी हो तो ऐसे व्यवहारसे गुजर कर हम अपने आपकी दृष्टिसे केवलज्ञान शीघ्र प्राप्त कर सकेंगे।

धन्यास्ते हृदये येषामुदीर्णः करुणाम्बुधि।
वाग्वीचिसञ्चयोल्लासैर्निर्वापयति देहिन ॥५४०॥

करुणावानके शान्ति--लोकमे अनेक मनुष्य जन्म लेते है, मरण करते हैं किन्तु वे पुरुष धन्य हैं जिनके हृदयमे करुणारूपी समुद्रका उदय होता है और वचनरूपी लहरोके उल्लाससे जीवोको शान्ति प्रदान करते हैं। मनुष्यके साथ न तो कुछ आया है और न कुछ जायेगा, और जितने काल भी मनुष्य जीवन है उतने काल भी इसका हित, इसकी शान्ति किसी अन्य पदार्थके कारण नही है और जिसका जितना भाग्य है प्रयोजनवश उतनी उसकी पूर्ति चलती ही रहती है, फिरमे मनुष्यमे जो शान्तिका उदय होता है वह धन वैभवके

कारण नही है किन्तु अपने ज्ञानविकासके कारण है और जिनके हृदयमें सम्यग्ज्ञान बसा है उनका चित्त करुणासे भरा हुआ होता है। जो पर्याय बुद्धि लोग हैं, केवल अपने देह और अपने इन्द्रियविषयोको ही महत्त्व देते है उन पुरुषोके वास्तविक करुणा नही जगती है क्यो कि उनका उपयोग इन्द्रिय विषयसुखोकी ओर दौड गया है। वैसे मरणको तो सभी प्राप्त होते है पर ऐसे पुरुषोके हाथ अन्तमे कुछ भी नही रहता।

स्वरूपपरिचयवानके यथार्थ दया—सत्य श्रद्धान हो और फिर जीवनमे तपश्चरण हो तो उसका फल अवश्य ही मधुर मिलता है। लेकिन सन्देहकी कोटिमे रहकर कोई तपश्चरण भी करे तो उससे उसको निश्चत अपूर्व लाभ नही होता। जिसने अपने आत्माके स्वरूपका परिचय पाया है और जाना है कि यह आत्मा तो अकिञ्चन ही है, इसमे कही कुछ नहीं है। यह मात्र अपने स्वरूपमय है, ऐसा जिन्हे विश्वास है उनका चित्त हित और करुणासे भरा हुआ रहता है। प्रथम तो उसने अपनी ही दया की, अपने आपको सबसे न्यारा लखा और इस उपायसे अपने मे रागद्वेष मोह नही आने दिया, यथार्थ ज्ञाता-द्रष्टा रहा तो यह हुई अपनी दया और ऐसा ज्ञानी पुरुष किसी परजीवके प्रति कुछ कर्तव्य करे तो चूंकि उसकी समझ मे जीव का सत्यस्वरूप है अतएव जीवोपर अन्याय न कर सकेगा। वचन बोलेगा तो हितकारी बोलेगा। जिसके हृदयमे करुणारूपी समुद्र का उदय है और उस करुणाके आशयमे जो वचन निकले उन वचनोके द्वारा जगतको जो तृप्ति करते है ऐसे पुरुष धन्य हैं।

विवेकपूर्ण वचनोंसे शान्ति—करुणामयी वचनोको सुनकर दुखी जीव भी सुखी हो जाते हैं। शुभ वचनोमे ऐसी शीतलता सामर्थ्य है, ऐसी वे शीतलता प्रदान करते हैं जो शीतलता न चन्द्रोसे आये, न बर्फके घरोसे आये। किसी जीवको किसी मोहवश व्यग्रता उत्पन्न हुई हो और उसे बर्फके घरमें रख देवें तो क्या उसे शान्ति मिल जायगी? शान्ति तो उसे विवेकके वचन सुननेसे मिलती है। जिससे मोह दूर हटे, अपने आपको परिपूर्णता मान ले, कृतार्थ मान ले, ऐसा आशय जिन वचनोके निमित्तसे बने वे वचन इसे शान्ति प्रदान करेंगे। वे पुरुष धन्य है जिनके ऐसे पवित्र वचन निकले जिनको सुनकर लोग शान्त हो, निर्भय हो, सुखी हो।

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तार्थविप्लवे।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने ॥५४१॥

सिद्धान्तमें विप्लव आने पर यथार्थप्रकाशन हेतु बोलना—सत्यमहाव्रतका यह प्रकरण है। वचनके सम्बन्धमे सर्वोत्कृष्ट उपदेश तो प्रभुका यह है कि मौनपूर्वक रहो। फिर भी ऐसा कोई अवसर आये जहाँ धर्मका नाश सम्भव है, क्रिया चारित्र वातावरण दृष्टि ये सब

जहाँ ध्वस्त होने को हो, समीचीन सिद्धान्त जिसका आश्रय करके लोग ससार सकटोको पार करते है उस सिद्धान्तमे कोई विप्लव आ जाय, कोई लेप हो, हवा हो, उसमे झूठा कोई तत्त्व मिलाये तो ऐसे अवसरपर विद्वान पुरुषोको चाहिए कि वे बिना पूछे भी वस्तुके यथार्थस्वरूपके प्रकाशनके लिए कुछ बोलें। यह सब एक करुणाका प्रभाव बताया है। जिस विद्वानमे जीवोके प्रति करुणा है वह ऐसे मौके पर जहाँ धर्मका लेप होता हो, सिद्धान्तमे बिगाड किया जा रहा हो, धर्मपरम्परा ही नष्ट होनेको हो तो ऐसे अवसर पर बिना पूछे भी विद्वानको उसमे बोलना चाहिए, बताना चाहिए।

धर्मपालन सर्वोत्कृष्ट व्यवसाय—सर्वोत्कृष्ट व्यवसाय तो धर्मपालन है। यद्यपि आज का युग अर्थप्रधान हो गया है, धनके बिना लोग महत्त्व नही आँकते, पर महत्त्व होता है सदाचारसे। धनके सामने सदाचारकी भी लोग इज्जत नही रखते ऐसा कठिन युग है। इस युगमे भी जो श्रद्धालु पुरुष अपने आचरणकी रक्षा करते हैं, अपने आपको श्रद्धान, ज्ञान, आचरणमे लगाये हुए है वे पुरुष महिनीय है, पूज्य है। भले ही अर्थयुग हो और लोग उसका महत्त्व आँके लेकिन दूरदर्शितासे देखा जाय तो उस आत्माका इस वैभवसे भला क्या होगा ? आत्माके साथ सम्बन्ध है आत्माकी परिणतिका, न कि धन वैभवका। आत्म-परिणतिमे सुधार हो, अपने आपके स्वरूपका दृढ श्रद्धान हो और अन्तरङ्गमे ऐसा ही रहने की रुचि जगे तो ऐसे निर्मोह मनुष्यके जो अभ्युदय प्राप्त होगा वह अनिर्वचनीय होगा, लेकिन श्रद्धान निर्मल होना चाहिए।

धर्मपालनमें निर्मल श्रद्धानसे सर्वसिद्धि—शकाशील रहकर धर्मपालन करनेमे कुछ तत्त्वकी प्राप्ति नही होती। धर्ममे यो ही डगमगाते हुए अपना श्रद्धान बनाये तो उससे मेरी सिद्धि नही है। सबसे मुख्य काम है धर्मपालन और कोई पुरुष उस ही धर्ममे कोई गडबड रचना रख दे, उस धर्मक्षेत्रसे विपरीत अर्थ बोलने लगे तो ऐसे समयमे बिना पूछे ही यथार्थ बातका उपदेश करना चाहिए, वह है सत्य महाव्रत। ऐसी जिनकी प्रवृत्ति होती है वे पुरुष आत्माके ध्यानके पात्र होते है। जिसको जिसकी धुन लगी है उसे उसकी प्राप्ति होगी। जिस आत्माको अपने धर्मकी ही धुन लगी है, केवल ज्ञाताद्रष्टा रहकर अपने को विशुद्ध आनन्द रूप अनुभव करता रहू ऐसी ही जिनकी अन्तरङ्गसे भावना बनी हो वे पुरुष इस कामको करने मे अवश्य सफल होगे।

परपदार्थकी आशामें बर्बादी—परपदार्थोंके सम्बन्धमे हम कुछ भी भावना बनाएँ, इच्छा, आशा, कामना बनाये उससे परकी सिद्धि हो जाय यह सम्भव नही है, किन्तु अपने आपके शुद्ध परिणमनके बारेमे भावना बनाये तो वह स्वाधीन चीज है। हम अपनेमे सुधार परिणतिको अवश्य प्राप्त कर सकते है। दुनियामे सैकडों आये, चले गए और उन्होने अपने

जीवनमें अपनी बुद्धिके अनुकूल बहुत-बहुत दौडधूप की, लेकिन उनका रहा क्या ? अब केवल नाम मात्र शेष रह गया। हुए थे कोई इस नामके महापुरुष। अथवा उनमे गुण हो तो आदर्शके रूपमे उनका लोग स्मरण करते है, पर उनके क्या किसीके स्मरण करने से किसी का आदरपूर्वक नाम लिया जानेसे दूसरे जीवोको आत्मलाभ, सन्तोपलाभ, शान्तिलाभ नही हो जाया करता है।

स्वरूप परिणमन ही शरण--सारा जग भी प्रशसा करे किन्तु मैं मोही हू, अज्ञानी हू, कषाय सयुक्त हू तो मेरा कोई परिणमन बदल न देगा, मुझे कोई आनन्द दे न देगा, मैं ही अपने आपके स्वरूपको सम्हालूं और अपना परिणमन स्वरूपके अनुकूल बनाऊँ तो वहाँ मुझे अपना शरण मिलेगा ऐसा धर्मके स्वरूपके बारेमे यदि कोई विपरीत अर्थ करता है तो दयामयी पुरुषको विद्वानको उसके प्रसगमे बिना पूछे भी बोलना चाहिए, यह बहुत बडी करुणाकी बात है। धर्म रक्षा करना जिससे धर्मकी परम्परा चलती रहे यह बहुत श्रेष्ठ कर्तव्य है।

या मुहुर्मोहयत्येव रुविश्रान्ता कर्णयोर्जनम्।
विषम विषमुत्सृज्य साऽवश्य पन्नगी नगी ॥५४२॥

ज्ञान और वैराग्यकी कारणभूत वाणीमें उपादेयता--वह वाणी जो लोगोंके कानो मे प्रवेश करने के बाद या प्रवेश करती हुई बहुत विपम विषको छोडकर जीवोको मुग्ध कर देती है वह वाणी नही है किन्तु सर्पिणी है। जो वचन जीवका अहित करे ऐसे वचनोसे जीवका पतन होता है। वचन वे हो जो दूसरे जीवोका हित करते हो। अपना जीवन यदि मद कषायमे चल रहा है तो वचन भी ऐसे मधुर बन सकेगे, विवेकपूर्ण निकलेगे कि दूसरे जीव भी अपना हित कर सकेंगे। परके हितमे उद्यम करना भी अपने हितके लिए है और मात्र अपने हितमे उद्यम करना भी अपने हितके लिए है। वाणी वह सुनना चाहिए जो ज्ञान और वैराग्यको प्रकट करने मे कारण हो, और वह वाणी सुनने योग्य नही है जो मन को और मुग्ध कर दे। जैसे आजकल वैसे ही लोग नवयुवक जन कषाय, काम, लोभ इन वेदनाओमे पडे हुए हैं और फिर जिससे कषाय बढे, काम वेदना बढे ऐसे थियेटर, सनीमा, वचन आदिकका प्रचार भी बन जाय तो उसमे जीवका कितना अहित है। आप देखेंगे कि सनीमा जैसे खेलके घरोमे, दिलबहलावाके घरोमे छोटे लोगोकी सख्या अधिक होती है जिनकी इतनी कमाई नही है कि वें अपना गुजारा भली प्रकार कर सकें लेकिन विषयाशक्ति इतनी बढी हुई है कि खानेमे कमी कर लेंगे मगर सनीमा आदिक जरूर देखेंगे। तो समझ लीजिए कि जहाँ बडे पुरुषोका झुकाव नही है, विवेकियो मे पढे लिखोमे जिस ओर झुकाव नही है वह चीज तो कोई अहितके ही कारणभूत होगी।

विषमयी सर्पणीके समान अहितकारी वाणी—जो वचन जीवोके मनुष्योके कर्णमे आकर उनके आत्माको दुष्कृत कर दे, स्वरूपसे बिगा दे वह वाणी नही हैं किन्तु विषमयी सर्पिणी है। ऐसे वचनोके प्रयोगमे जो रहता है उस पुरुषको आत्माकी क्या सुध है, और वह आत्माका क्या ध्यान करेगा? जिसमे आत्माका ध्यान न बने वह अज्ञान अंधेरेमे यत्र तत्र दौड दौडकर अपने आपको दुखी बनाये रहता है। ऐसी वाणीसे दूर रहे और दूसरोके प्रति विशुद्ध वचनालापका व्यवहार चले तो वह मनुष्य आत्महितका निर्वाणमार्गका पात्र होता है।

असत्येनैव विक्रम्य चार्वाकद्विजकौलिकैः।
सर्वाक्षपोषक धूर्तै पश्य पक्ष प्रतिष्ठितम् ॥५४३॥

चारूवाकमत की वाणीमें असत्यपना--इस असत्य वचनके ही प्रभावसे अनेक बडे बडे दार्शनिक लोग भी यथार्थ मार्गसे च्युत होकर इन्द्रियके विषयोको पोषने वाले अपने पक्ष का स्थापन करते है। चारूवाक लोग जिनके वचन तो बडे मीठे होते है उनके सिद्धान्तमे यह बताया है कि जीव कुछ नही है। जो लोग जीवका भ्रम करते है, जीव कुछ है ऐसा मानते है उन्हे न तो शान्ति हो सकती जीवनमे और मिलकर तो रहेगे ही क्या? चारूवाक का सिद्धान्त है कि जब तक जिये सुखसे जिये, खूब खायें पिये। ब्याज भी लेना पड़े, कर्ज भी लेना पडे पर खूब मौजसे रहे। ऐसा वहाँ नास्तिकताभरी वाणीका कथन है। भला उस सिद्धान्तसे हम अपने आपमे शान्ति क्या प्राप्त कर सकते है? कोई यह कहने लगे कि धर्माचरण करना बिल्कुल व्यर्थ है। जब तक जिन्दगी है तब तक यह है और जब जिन्दगी बुझ गई तो यह जीव ही कुछ न रहेगा, फिर किसलिए कठोर साधन और आचरण करना? इस सम्बन्धमे निश्चय तो उसको भी यह नही है कि यह जीव मरने के बाद आगे आगे नही ही रहता है और प्राय जब कि यह संदेह हो कि यह मैं जीव आगे भी मरनेके बाद रहूगा या नही, तो सोच लीजिए कि यदि हम आचरण भला करे, धार्मिक अपना व्यवहार रखे तो उस व्यवहारधर्मके पालनमे भी आकुलता तो नही हुई, वहाँ भी आनन्द की प्राप्ति नही होती और कदाचित् निकल आये, पर लोक स्मरणके बाद भी जन्म लेना पडे तो वहाँ भी इसे लाभ होगा। यदि सभी लोग दुराचारसे रहने लगें, हिंसक बन जाये, मान लो कि भ्रष्ट है, इस भवके बाद कही न जायेगे, इस मान्यताके बावजूद भी यदि लोग न्याय नीतिसे व्यवहार नही करते, सदाचारसे नही रहते तो वे इस दुनियामे बेचैन है, बेकार हैं, उनको यहाँ भी शान्ति नही है, और धर्माचरणसे रहते, मंद कषायसे रहते तो इस भवमे भी उन्हे लाभ है और अगला भव निकल आये तो वहाँ भी उन्हे लाभ है।

मीमांसक सिद्धान्तमें भी असत्यपना—तो जैसे चारूवाक सिद्धान्तमे इन्द्रिय पोषनेकी

ही बात कही गई है उससे आत्महित कुछ नही होता ऐसे ही मीमासक आदिक सिद्धान्तोमे भी जहाँ अपने आपको कुछ नही माना गया, अपनी दृष्टि बनाते है तो ईश्वर सुख दु ख देता है, ईश्वर यो करता है, यो कर्तृत्ववादका आशय लिए हैं और उस भिन्न ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिए अनेक प्रकारके यज्ञ आदिक रचे जाते है। ऐसे सिद्धान्तमे अपने आपको पामर बना दिया गया है। मैं कुछ नही हू, कोई है एक अलग शक्ति ईश्वर। जो वह चाहे वह मुझमे होता है। तो जहाँ अपने आपको पुरुषार्थहीन बना लिया वहाँ भी धर्ममार्ग कैसे प्राप्त होगा, शान्तिलाभ कैसे होगा ? तो इन साधनोमे शब्दार्थ मार्गसे च्युत होकर ऋषी सतोने विषयपोषक पक्षका ही स्थापन किया है। कोई बडे विशुद्ध योगसे आत्मकरुणा करके सर्वविकल्पोको हटानेका प्रयत्न रखे, ऐसे चित्त बनाए कि मुझे कुछ भी परतत्त्व नही सोचना है। सभी पदार्थ हैं और वे अपने उत्पाद व्ययसे परिणमते रहते है, उनसे मेरा कुछ सम्बन्ध नही है, ऐसा जो जानते है वे तो धर्ममार्ग प्राप्त कर लेते है और जिन्होने अपनी सत्ता ही खो दी है परके किए हुए हम ब ते हैं, यो अपने को जो कायर बना लेते हैं ऐसे पुरुष आत्मध्यानके पात्र नही होते है।

सत्यधर्मके अवलम्बनसे सारे संकटोंकी समाप्ति—यह निश्चय करके जाने कि मेरा शरण मेरे सहजस्वरूका स्मरण है, धर्मके लिए क्या चिन्ता करना ? धर्म पैसोसे प्राप्त नही होता। धर्मकी अन्य कोई और स्थिति नही है। धर्म तो आत्मस्वभावके अवलम्बनसे उत्पन्न होता है। लेकिन जहाँ स्याद्वादका निरूपण नही है, एकान्तसे धर्मका उपदेश दिया गया है वहाँ कैसे शान्तिका मार्ग प्राप्त हो सकता है ? सत्य वचन हो, सत्य भावना हो, और इस सत्यपर दीवाना सा बन जाय, केवल एक सत्यकी ही धुन रह जाय तो ऐसे पुरुषको निर्वाण की प्राप्ति सुगमतासे होती है, वही शान्त, सुखी रह सकता है। जो सत्यका आदर करता है और सब जीवोके हितकी भावना करता है, लोग उसे चाहे कुछ कहे यह लोगो की मर्जी है, किन्तु जो अपने आपमे बसे हुए सहज ज्ञानानन्दस्वरूपमय परमप्रभुकी उपासना करता है वह इस ब्रह्मस्वरूपकी उपासनाके बलसे सारे सकट दूर करता है। तो अनेक ऋषियो ने अनेक शास्त्र रचे हैं लेकिन यह परख लो कि जो वचन-इन्द्रियके पोषणमे मदद दें वे वचन तो है हेय और जो अपने विशुद्ध ज्ञानानन्दका अनुभव करानेमे मदद करें वे वे सब क्रियाए, वे वे सब वचन उपादेय है। हम बोलें कम अथवा न बोलें और जब बोले तो ऐसे ही वचन बोलें जो दूसरे जीवोको हितकारी हो और अपने आपका भी हित करने मे समर्थ हो।

वचनधनसे शान्ति प्राप्त करनेकी शिक्षा—वचनोका बहुत बडा महत्त्व है। वचनो से ही हम सुखी दु खी रह सकते है, दूसरोको सुखी कर सकते है। एक बार दाँतमे और

जीभमे कुछ विवाद हो गया। दाँतोको गुस्सा आया तो बोले अरी जीभ तू हम तीस बत्तीस के बीचमे अकेली है, ज्यादा बकवाद न कर, नही तो अभी दबोच देगे। तो जीभ बोली कि भले ही तुम तीस बत्तीस हो, किन्तु हममे वह कला है कि क्षणमे तुम तीस बत्तीस का ढेर करा दे। तो ठीक भी है। जिह्वाके द्वारा किसी बलवान पुरुषको कुछ कठोर बात बोल दी जाय तो वह दो चार मुक्के ऐसे लगाये कि सारे दाँत साफ हो सकते है। तो इन वचनोसे ही हम दु ख पा लेते हैं और इन वचनोसे ही हम सुख शान्ति पा लेते है। वचनधनको न बिगाडे, किन्तु वचनोसे अपने आपमे शान्ति समृद्धि प्राप्त करनेका यत्न करे।

मन्ये पुरजलावर्त्तप्रतिम तन्मुखोदरम्।
यतो वाच प्रवर्तन्ते कश्मला कार्यनिष्फला ॥४४४॥

वचनसे मनुष्यकी परख—आचार्यदेव कहते है कि मैं तो ऐसा मानता हू कि असत्य का प्रतिपादन करने वाले दर्शको को अथवा लोगोका जो मुखरूपी छिद्र है वह नगरके गंदे जलसे भरे हुए पनालेके समान है। जैसे नगरके पनालेका जल मैला होता है और किसीके काम नही आता इसी प्रकार असत्यवादी पुरुषोके मुखसे जो वचन निकलते है वे भी मलिन होते है और नि सार है। मनुष्यका धन वचन है। मनुष्यकी परख न तो हाथ पैरसे होती है और न धन वैभवसे होती है। मनुष्यकी परखका बाह्य साधन कुछ है तो वह वचन है। वचनोसे ही जाना जाता है कि यह शिक्षित पुरुष है, वचनोसे ही समझा जाता है कि यह अनपढ है, असभ्य है, तुच्छ हृदयका है। मनुष्यके हृदयकी बात सब वचनो द्वारा प्रकट होती है।

सत्यसे प्रत्येक कार्यकी सम्पन्नता—जो असत्यवादी पुरुष है उनके वचनोसे एक तो कुछ काम भी नही निकलता, निसार है, लोकमे प्रतिष्ठा नही पाते और कभी प्रतिष्ठा पाते भी है तो लोग जब यह समझते हैं कि यह सच बोल रहा है तब प्रतिष्ठा पाते है। अगर ये वचन झूठे है ऐसा ज़ाहिर हो जाय तो फिर प्रतिष्ठा हो जाय, यह नही होता। तो प्रतिष्ठा झूठकी नही हुई सत्यकी हुई। क्योकि जिन्होने प्रतिष्ठा की उन्होने सत्यवचन समझकर प्रतिष्ठा की। जैसे दुकानदार लोग ग्राहकोसे झूठ भी बोले और झूठ बोलकर कुछ पैसा भी कमा ले लेकिन ग्राहकोने झूठ नही समझा तब पैसा दिया, सच समझा तब पैसा दिया। तो व्यापार सचसे चला या झूठसे ? प्रकट रूपमे देखो तो लोगोने सच समझा तब पैसा दिया। तो व्यापार सचसे चला चाहे उसके भीतर मायाचार झूठ भरा हो, पर झूठ खुल्लमखुल्ला हो जाय तो व्यापार नही चल सकता। तो प्रतिष्ठा हमेशा सत्यसे ही रहती है और कभी सत्यकी मुद्रामे झूठ भी पनप जाय, लेकिन वह झूठ कब तक पनप सकता है ? कभी न कभी खुलेगा। बहुत-बहुत बार झूठ बोलने वाले लोग, अन्तमे जब झूठ खुल जाता है

तब उनकी प्रतिष्ठा नही रहती।

असत्यवादियोंमें मलिनता--असत्य बोलने वालोके वचन एक तो निसार है, दूसरे मलिन है, लोगो द्वारा प्रतिष्ठा नही पाते और दर्शक जो असत्यवादी है, तत्त्वके सम्बन्धमे असत्य प्रतिपादन करने वाले जो दर्शक है उनके वचन तो ग्रन्थनिबद्ध हो गए। अब उनका वह झूठका कलक, उनकी वह मलिनता चिरकाल तकके लिए रहेगी। तो जैसे शहरकी गंदी नालीका पानी निसार है, मलिन है, किसीके काम नही आता ऐसे ही झूठ पुरुषोके वचन निसार है, कार्यहीन हैं, किसीके काम नही आते। और, स्वय मलिन है, ऐसे वचन बोलनेकी जिनकी प्रकृति है उन पुरुषो को न आत्माकी दृष्टि रहती है, न आत्मतत्त्वकी सावनाका यत्न रहता है।

सारभूत चीज आत्मध्यान—लोकमे केवल सार शरणभूत बात है तो आत्मध्यान है। इन बाहरी पदार्थोमे कहाँ कहाँ ज्ञान लगाये, कहाँ उपयोग फसाये, ये सभी सगम विनश्वर हैं, भिन्न है, उनसे आत्माको शान्ति नही मिलती। आत्मा स्वतत्र पदार्थ है, अपने आपमे आप है, अपनेमे ही रहता हुआ अपना परिणमन करता रहता है। इसको शान्ति किसी बाहरी पदार्थसे नही मिला करती, परिस्थितियोकी बात दूसरी है।

बाहरी पदार्थ शान्तिके दाता नहीं—बाहरी पदार्थोसे कदाचित शान्ति प्रतीत हुई हो तो उसका अर्थ है कि उस प्रसगमे बडी अशान्ति कुछ दूर हुई है शान्ति नही मिली किन्तु किसी प्रकारकी अशान्ति कम हुई है। बाह्य समागमोमे शान्ति प्राप्त नही होती किन्तु बाहरी निमित्त नाना प्रकारके है। जब कभी किसी निमित्तसे शान्ति मिली तो उसका अर्थ यह है कि अशान्ति कम हुई है। अशान्ति कम होने की बात चलती है यहाँ शान्ति मिलनेकी बात नही चलती। जैसे किसी पुरुषको १०५ डिग्री बुखार हो गया और अब उतर कर १०२ डिग्री बुखार रह गया तो उससे कोई पूछे कि आपकी अब तबियत कैसी है, तो वह कहता है कि अब ठीक है। अभी यद्यपि १०२ डिग्री बुखार है पर कहता है कि अब तबियत ठीक है। तो उसका भाव यह है कि अब बुखारमे कमी हुई है। उस ठीकका अर्थ अस्वस्थ्यता की कमी है। इसी प्रकार लोकमे जितनी प्रकारकी शान्ति हैं, सुख है उनका अर्थ है अशान्तिमे कमी है। वास्तविक मायनेमे सुख शान्ति नही है। तो बाहरके किन्ही भी पदार्थोमे अपना सम्बन्ध जोडनेसे, अंतरङ्गसे ममता करने से आत्माको न शान्ति मिलती, न उसका उद्धार है।

ज्ञानस्वरूप आत्माका ध्यान ही परम शरण--आत्माका परम शरण तो अपने आपके निर्लेप शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूपका ध्यान है। उमर बीतती जा रही है, दुख भोगते जा रहे है, बहुत कालके बाद भी बहुत-बहुत श्रम करने पर भी अपने आपको रीता ही

पायेंगे। जैसे आज भी तो बहुतसे बूढे लोग है जिन्होने खूब वैभव कमाया, बडी प्रतिष्ठा पायी, सब कुछ पानेके बाद भी उन बूढोकी परख करो तो वे रीते ही मिलेंगे। आत्माकी पूर्णता तो रत्नत्रयसे है, अन्तर्ज्ञानसे है, अन्त झुकावसे है। इसमे जो शान्ति और आनन्द की अनुभूति होती है उससे भरपूरकी बात समझियेगा। बाहरी पदार्थोंके समागमके बावजूद भी वे अपनेको स्वय रीता अनुभव भी करते है और न भी करते हो तो भी ज्ञानीजन समझते है कि वे रीते है। लोकमे क्या है ? आज यहाँ जन्म लिया है, इस थोडी सी भूमि पर कुछ हमारा चलना फिरना होता है, मरणके बाद अन्यत्र जन्म लेगे तो वहाँ चलना फिरना होगा। तो क्या विश्वास है किसी भी जगहका कि यह हमारा कुछ बन गया है। तो है कुछ नही ससारमे अपना।

विरुद्धवस्तुस्वरूप बताने वालोंका मुख छिद्र मलिन पनालेके समान—शान्तिका उपाय भी परसे निवृत्त होकर निज अन्तस्तत्त्वमे लीन होना है किन्तु इसके विरुद्ध जिन दार्शनिकोने वस्तुस्वरूप बताया है वे असत्यवादी है और उनका वह मुख छिद्र एक पनालेके समान है। नगरका पनाला मलिन है और निसार है इसी तरह उनके वचन जो उस मुख छिद्रसे निकलता है वह भी निसार है और मलिन है। हम अपने लिए यह निर्णय बनायें कि मेरा ऐसा परिणमन बने कि सत्यकी हमे रुचि जगे, सत्य व्यवहारका यत्न बने और हमारा जीवन अहिंसक और सद्रूप बने। इससे एक तार्तम्य और आत्मीय शान्तिका लाभ होता है।

प्राप्नुवन्त्यतिघोरेषु रौरवादिषु सभवम्।
तिर्यक्ष्वथ निगोदेषु मृषावाक्येन देहिन ॥५४५॥

असत्यप्रतिपादनसे नरकोंकी पात्रता—मृषा वाक्यसे अर्थात् असत्यप्रतिपादनसे यह प्राणी अत्यन्त भयानक रौरव सहित नारकोमे उत्पन्न हुए दु खको भोगता है अथवा जो अत्यन्त निम्न श्रेणी है, तिर्यंच है, निगोद है उनमे दु खको भोगता है। हम आपको जो यह शरीर मिला है इसके कारण कलाप पर विचार करे कि यह शरीर बन कैसे गया है ? यह शरीर मिल कैसे गया है ? क्या कोई अलगसे ईश्वर या कोई पुरुष था ऐसा जिसने बैठकर इस शरीरको गढा हो ?

शरीर उत्पत्ति कैसे—शरीरकी उत्पत्तिका कारण क्या हो सकता है, विचार कीजिए। लोग ज्यादासे ज्यादा यह कह देगे कि माता पिताने पैदा किया, कोई कहेगा कि ईश्वर ने पैदा किया। इन दोनो बातो पर विचार कर लो। ईश्वरने क्या किया कि यह शरीर बन गया ? जैसे लोग फैक्टरियोंमे कोई सामान बनाते हैं अर्थात् कैसा निमित्त है, कैसा उपादान है, किस चीजसे ढालते है, किसको कैसे बनाते है, जैसे यह बात आँखो देखी

समझमे आती है इस तरहकी क्या कुछ समझ इससे बन सकती है कि किसी फैक्ट्रीमे किसी मैटरसे किसी साधनसे इस शरीरको गढ डाले ? कुछ बात नही बनती। माता पिता ने भी क्या किया जो इस शरीरको बना दिया ? उनकी भी कुछ करतूत नही। यह सब अगम्य जो वचनो द्वारा प्रतिपादित नही हो सकता ऐसे निमित्तनैमित्तिक भावका परिणाम है। यह जीव कुछ भाव बनाता है। और उन भावोके अनुकूल कुछ अन्य चीज इस जीवके साथ बंध जाती है। चूँकि जीव अमूर्त है तो इस अमूर्तके साथ बधने वाली चीज भी अमूर्त तो नही है क्योकि अमूर्तसे अमूर्त बधे तो बन्धन नही कहलाता। होगा तो कोई मूर्त पदार्थ मगर अत्यन्त सूक्ष्म होगा, जिसको जैनशासनमे कर्म कहा है।

अशुद्ध परिणामोंसे नरक निगोदकी प्राप्ति--जीवने अपना परिणाम बनाया कि ये कर्म बध गए। अब उन कर्मोके उदयकालमे ये सब रचनाए अपने अपने आप बन जाती हैं। ये औदारिक वर्गणाये जो शरीररूप अभी नही हैं वे ही सब कर्म तैजस जीवके विकार इन सबका सम्बन्ध पाकर एक शरीर रूप रचना हो जाती है। ऐसा यह प्राकृतिक सिस्टम है जो निमित्तनैमित्तिक भावोपर आधारित है, यो इस प्रकार यह मनुष्य शरीर बना। तो यो ही समझिये कि इससे भी पहिले कोई शरीर था क्या ? ऐसा सम्भव है कि इससे पहिले शरीररहित था और फिर शरीर बन गया। जो शरीररहित होगा वह अत्यन्त शुद्ध है, केवल है, प्योर है। उसमे जब उपाधि ही नही है तब फिर उसकी विचित्रता कैसे बने ? अनादिसे ही यह जीव नाना शरीरोको धारण करता चला आया है। और अब आगे भी यदि इसने कैवल्य परिणाम नही बनाया, कैवल्यमे रुचि न की, अपने आपके उस अकेलेपनमे, उस सहजस्वरूपकी उपासना न की तो आगे भी शरीर मिलते रहेंगे। तो जो परिणाम असत्य बनाता है, असत्य प्रलापी है उसको आगे निगोदमे, तिर्यंचमे और नारकोमे ऐसे घोर दुःख सहन करने पडते है। असत्य वचनोमे मुख्यता है दूसरोका अहितकारी वचन बोलनेकी।

सत्य वचनका माप हितकारी वचन—ऐसे वचन न बोले जाये जिससे दूसरे पुरुषो का वास्तवमे अहित हो। अहितकर ऐसे सत्यवचन बोलना भी असत्य कहलाता है। दूसरो के हित करने के कारण ही उसमे सत्यता है। सत्य मायने हित। सत् मायने उत्तम कहा है ना ? सज्जन सत्जन, उसका अर्थ है हितकारीजन। जो दूसरे पुरुषोका अहित सोचते हो, करते हो ऐसे पुरुषोका नाम है सज्जन। कोई दूसरोका हित तो करे नही और अहितकारी ही प्रयत्न करता है तो ऐसे अहितकारी पुरुषको क्या कोई सज्जन कहता है ? जो परोपकारी हो, हितकारी हो उसे लोग सज्जन बोलते है। तो सत्के मायने हित है और सत्के प्रसगमे, हितके प्रसगमे जो वचन बोले जाये उन वचनोका नाम है सत्य।

असत्यका फल—उस सत्यके विरुद्ध जो वचन बोले जाते है उनका फल बस स्थावर बने, कीडा मकोडा बने, नारकादिकमे दु ख सहे, ऐसे ही दु ख भोगना असत्य वचनो का फल होता है। जो जीव दूसरोके अहितपर तुले हैं वे इस लोकमें अपना भी अहित करते है और भविष्यमे भी अपना अहित करते है।

न तथा चन्दन चन्द्रो मरायो मालतीस्रज ।
कुर्वन्ति निर्वृ ति पु सा यथा वाणी श्रुतिप्रिया ॥५४६॥

वचनोंसे संतप्त प्राणीको शीतलता—कर्णोंको प्रिय और आत्माको हित देने वाली वाणी जितना जीवोको सुखी करती है उतना सुख ससारके ये शीतल पदार्थ उत्पन्न नही कर सकते। वचनोमे यद्यपि स्पर्श नही है लेकिन वचन सुनकर दु ख ज्वालामे जलने वाले पुरुष जो शीतलता प्राप्त करते है, शान्ति प्राप्त करते है वह शीतलता एक अद्भुत है। उतनी शीतलता न वदनसे प्राप्त होती है, न चन्द्रमासे, न चन्द्रमरिणसे, न मालतीके पुष्पोसे प्राप्त होती है। लोकमे ये पदार्थ शीतलता उत्पन्न करनेमे प्रसिद्ध है। और, अब तो सीधी शीतलता कोल्डस्टोरोरेज मे पायी जाती है जहाँ सब्जी वगैरह रखी जाती है। कोई दु ख की ज्वालासे दु खी हो, किसी चिन्तासे कोई जल भुन रहा हो, तो उस पुरुषको कोल्ड स्टोरेजमे डाल दीजिये तो क्या उसका दुःख दूर हो जायेगा ? नही दूर हो सकता। ऐसे पुरुषको कुछ ज्ञानकी बातें समझावो, कुछ भेदविज्ञानकी दृष्टि करावो तो उसे शीतलता आ जायगी। तो वाणीसे शीतलता उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है और इन पदार्थोंमे नही है। चन्द्रमाको सभी लोग अनुभव करते है कि गर्मीके दिनोंमे भी जब शुक्लपक्षकी रात होती है तो उसमे उतनी बेचैनी नही मालूम होती और कृष्णपक्षकी जब रात होती है तो उसमे विशेष गर्मीका अनुभव होता है। चन्द्रमाकी किरणे शीतलताका विस्तार करती है।

कषाय ज्वालासे तप्तायमान पुरुषको ज्ञानकिरणोंसे शीतलताकी प्राप्ति—कषाय ज्वालासे तप्तायमान पुरुषको ये चन्द्रमाकी किरणे क्या शीतलता पैदा करे। जिन्हे किसी वियोगसे दु ख है, जिन्हे किसी अनिष्ट संयोगसे दु ख है, जिन्हे नाना प्रकारकी आशा लगाने के कारण वेदना है ऐसे पुरुषोको ये चन्द्रमाकी किरणें क्या शान्ति पहुंचा देगी ? ज्ञान ही शान्ति पहुचा सकता है। किसी परपदार्थकी आशासे यदि हृदय दु खी है तो ऐसा ज्ञान जगे जिससे यह आशा दूर हो जाय तो उसकी वेदना मिटेगी। किसी इष्ट वियोगसे दु ख उत्पन्न होता है तो ऐसा ज्ञान जगे जिससे यह समझमे आये कि मेरी शीतलता जगतमें अन्य कुछ है ही नही, मेरा इष्ट तो मैं आत्मा ही हू, यो सोचनेसे वियोगका दु.ख दूर होगा। अनिष्ट पुरुष निकट हो और उसके कोई प्रसंगसे उत्पन्न हुआ दु ख उस ज्ञानसे मिट सकेगा जिस ज्ञानसे यह समझमें आये कि जगतके सभी पदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न

है। सभी पदार्थ अपने अपने उपादानके अनुकूल परिणमते है, मेरा वास्तवमे कोई अनिष्ट नही है, मैं जो कषाय करता हू उस कषायसे अनुकूल प्रतिकूल जो जुडते हैं उन्हे इष्ट अनिष्ट मानते है। वस्तुत लोकमे बाहरमे कोई मेरा अनिष्ट नही है। मैं ही अपने स्वरूप से चिगकर जब अज्ञानमे, भ्रममे, कषायमे लगता हू तो मैं ही स्वय अपने लिए अनिष्ट हू। जब ज्ञानसे यह बात विदित हो जाती है कि मेरा कोई अनिष्ट नही तब वह अनिष्टसयोग का दु ख दूर होता है।

संताप दूर करनेका साधन ज्ञानपूर्ण वचन—अशान्ति नष्ट करनेका सामर्थ्य शुद्धज्ञान मे है तो ऐसे ही ज्ञानभरी बातोसे ऐसे ही ज्ञानपूर्ण वचनसे जीवोके संताप दूर होते हैं, वह संताप न चन्द्रसे, न चन्दनसे, न मणियोसे, न मालतीके पुष्पोसे किसीसे भी दूर नही हो सकता और उन सत्य वचनोसे परके सताप भी दूर होते है और खुदमे भी एक आत्मबल साहस बना रहता है जिससे यह अपने आत्मस्वरूपमे मग्न होनेका प्रयत्न कर लेता है। और, आत्ममग्न हो जाय बस यही सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है, हम अपने इस ज्ञानसमुद्रसे बाहर अपने उपयोगकी चोंच निकाले फिर रहे हैं तो बाहरसे हजारो विपदारूपी पक्षी मेरी चोचको पकडनेको, झपटनेको तैयार है। मैं अपने उपयोगको अपने अन्दर समा लू तो सारा ससार भी उल्टा चले तो भी मुझमे कुछ विपदा नही आती, क्योकि मैं अपने ज्ञानानन्दस्वरूपमे मग्न हो गया हू। ऐसे ही वाणी ससारके जीवोका सताप हर सकती है और इस वाणीके प्रयोगसे ससारके सर्वसकटोसे छूटनेके उपायमे आत्मप्रभुका उत्कृष्ट ध्यान बना सकते हैं।

अपि दावानलप्लुष्ट शाद्वल जायते वनम्।
न लोक सुचिरेणापि जिह्वानलकदर्थित ॥५४७॥

अग्नि और बाणसे कठोर वचनकी उपमा—ऐसी बात देखी जाती है कि कही वनमे कठोर अग्नि लग जाय, दावानल अग्निसे बन जल जाय तो बहुत काल तक वह हरा नही हो पाता, लेकिन दावानल अग्निसे जला हुआ बन किसी कालमे हरा तो बन सकता है, सदाके लिए वह पृथ्वी नही जल गयी, कभी हरा हो जायेगा लेकिन इस जिह्वारूपी अग्नि से जला हुआ दूसरा पुरुष बहुत काल व्यतीत हो जाने पर भी हरा याने प्रसन्न नही हो सकता। अर्थात् मर्मभेदी वचन किसीको बोल दिये जायें तो उसकी ज्वाला बहुत दिन तक भी नही बुझ पाती। कहा है ना कि कठोर वचनका घाव बाणोके घावसे भी कठिन होता है। लोग तो दूसरोकी अपमानभरी बातको न सुनकर अपने प्राण तक भी गवा देते है। अब मेरे जीने से क्या लाभ है? जहाँ मेरा इतना बडा अपमान हो गया है। दूसरेका अपमान कर दिया जाय ऐसी वाणीसे निकृष्ट और बात कुछ नही है।

परसम्मानरूप वाणीमें स्वसम्मान गर्भित—जो मनुष्य दूसरोके सन्मानकी ही बात

करता रहता है उसका खुद सन्मान रहता है क्योकि जो सन्मानित होता है वह पुरुष उसका आभारी हो जाता है। सन्मानित पुरुषोकी दृष्टिमे वह पुरुष एक आदर्श और आकर्षणका पदार्थ बन जाता है। वे सन्मानित पुरुष उसका आदर करते है। अब ही देखलो किसी पुरुषको अत्यन्त खोटे वचन बोले जायें तो क्या आप उससे यह आशा रख सकेंगे कि यह आपसे बहुत ही शिष्ट वचन बोलेगा ? यद्यपि ऐसा हो सकता है कि कोई कितना ही गंदा, खोटा बोल दे, पर वह महात्मा है, सज्जन है, वह तो दिलसे बिना विकारके, बिना बनावट के शिष्ट वचन बोल सकता है। लेकिन अक्सर बात वह होती है कि जिससे आप खोटा बोलेंगे उससे आप उससे भी अधिक खोटे वचन बोलकर रहेंगे।

अपमानसे प्राणघात—कभी अधिक अपमान हो जाय तो बहुतसे लोग तो प्राणघात कर लेते हैं। हाई स्कूल, इन्टर, बी. ए. वगैरह की परीक्षामे अनुत्तीर्ण कितने ही विद्यार्थी अपना अपमान महसूस करनेके कारण प्राणघात कर लेते है। जिन लडकोसे अपने को पढनेमे अधिक अच्छा अनुभव करते थे उन्हे अब अपना क्या मुँह दिखाये, ऐसा अपमान महसूस कर वे आत्महत्या कर लेते हैं। कितने ही विद्यार्थी तो पेपरमे गलत छप जानेसे अपने को फेल मान लेते है और बादमे दूसरे गजटमे भूल सुधारमे पास होनेका नाम आ जाता है, पर पहिले ही अपनेको फेल होनेका अनुभव करके, उसमे अपना अपमान महसूस करके आत्महत्या कर लेते है। इस आत्महत्याका मूल कारण है अपमान का अनुभव करना। परिवारका कोई स्त्री, पुत्र अथवा कोई पुरुष कभी अत्यन्त सक्लेश करके आत्महत्या करता है तो उसका मूल कारण है अपमानका महसूस करना। कभी किसी बडे धनका घाटा हो गया तो उस घाटाके प्रसगमे कोई पुरुष आत्मघात करले तो उस घाटेके कारण उसने आत्मघात नही किया, किन्तु उसने अपना अपमान महसूस किया कि अब मैं लोगोके बीच कैसे रहूगा, उससे आत्मघात किया। तो आप समझिये कि अपमानसे बढकर और कुछ विष नही है।

अपमानकारक वचन अतिनिन्द्य—जो वचन दूसरोका अपमान कर दें वे वचन अतिनिन्द्य वचन है, ऐसे वचन बोलने वाले को कैसे आत्माकी सुध हो सकती है, कैसे आत्माका ध्यान हो सकता है, उनका जीवन बेकार है। वे ससारमे भटकने वाले ही प्राणी है। इससे स्वपर शान्ति चाहने वाले स्वपर शान्तिके अभिलाषी है तो अपनी वाणीको संभालना चाहिए। सदा हितकारी वचन ही अपने मुखसे निकले तो इसमें स्वयंका भी हित है और दूसरोका भी हित है।

सर्वलोकप्रिये तथ्ये प्रसन्ने ललिताक्षरे।
वाक्ये सत्यपि कि ब्रूते निकृष्ट परुष वच ॥५४८॥

प्रिय और हितकारी वाणी बोलनेकी शिक्षा—यद्यपि लोकमे ऐसे वचन बहुतसे है जो सर्वलोकको प्रिये हो, तथ्यभूत हो, प्रसन्न करने वाले हो, जो ललित, सुन्दर अक्षरोसे भरपूर हो ऐसे वचनोके होते हुए भी नीच पुरुष कठोर वचन बोलते हैं तो किसलिए बोलते हैं यह ज्ञात नही हो सका। एक आश्चर्यकी धुनमे आचार्यदेव यह शिक्षा दे रहे हैं कि जब वचन लोकप्रिय सत्य अपने और पर की प्रसन्नता करने वाले है, ललित अक्षरोसे भरपूर है ऐसे वचनोके होते हुए भी लोग कठोर और मिथ्या-भाषण करते है। इससे उनकी कुछ सिद्धि नही है। इस प्रकरणमे इस बात पर जोर देते हैं कि वाणी वह बोलो जो दूसरोको प्रिय हो, दूसरोका अपमान जरा भी जाहिर हो ऐसी बात न बोलना चाहिए। जगतमे सभी जीव प्रभुकी तरह स्वरूप वाले है। कोई भी जीव भिन्न नही है। उपाधिके भेदसे यह मायारूप विज्ञाता होता है पर यह विज्ञाता किस जीवके स्वरूपमे नही पडी हुई है? अविनश्वर भावके आधार पर जीवोमे भेद चलता है, यह ज्ञानकी बात नही है। इसका ज्ञाता द्रष्टा रहे, जो कुछ भी भेद हैं उनके जानकार रहे, किन्तु मूलमे सब जीवोका स्वरूप समान निरखो। इस स्वरूपकी दृष्टि होने पर किसीका अपमान करने लायक कषाय हो ही न सकेगी।

आत्मध्यानकारी वचनोमे सर्वसुन्दरता—जब वह पुरुष ललित वाणीसे वचनालाप करेगा तो ऐसे वचन बोलने वालेको यह अवसर है कि वह आत्माका ध्यान करे और आत्माकी धुन बनाये। ससारमे एक आत्मस्मरण ही शरण है। लोग कहते है कि प्रभुकी हम पर बडी कृपा है, उसका अर्थ है कि हम पर प्रभुस्मरण की कृपा है। प्रभु तो अनन्त आनन्दमय है, उनके स्वरूपका स्मरण करके, हम स्वय अपने पुण्य आशयके कारण दु ख रहित हो जाते है। तो लोग इसमे प्रभुकी महिमा समझते है कि हम पर प्रभुकी बडी कृपा है। और, ऐसा कहनेमे उससे भी बडी महिमा प्रकट होती है कि प्रभुकी भी बडी कृपा है। जिस प्रभुके स्मरणमे इतनी बडी कृपा है कि हम स्वर्ग और अपवर्गके सुख प्राप्त कर सकते है। तो समझिये वह प्रभु कितना पवित्र और आदर्शरूप होगा? कृपाकी बात किस प्रभुमे रागकी बात लगाते हैं। दया राग बिना नही होती किन्तु वह दयाके मार्गसे चलकर दयासे भी ऊचे उठ गए हैं। ऐसे शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हैं। प्रभुके स्मरणमे इतना विशेष माहात्म्य है कि प्रभुका स्मरण करके जीव स्वय ही अपने आप दु खसे मुक्त हो जाता है। ऐसी जिसकी आत्मदृष्टि है और प्रभुस्वरूपकी दृष्टि है वह पुरुष कैसा वचनव्यवहार करता है उस वचनकी शिक्षा यहाँ दी गई है कि हित मित प्रिय वचन बोलकर ही जीव आत्मध्यान का पात्र बन सकता है, अहित वचन वाला नही बन सकता है।

सतां विज्ञाततत्त्वानां सत्यशीलावलम्बिनाम् ।
चरणस्पर्शमात्रेण विशुद्धयति धरातलम् ॥५४६॥

उत्तमपुरुष—ऐसे संतजन जिन्होने तत्त्वका मर्म जाना है, सत्य और शीलका अन्तर्ध्यानका जिन्होने आलम्बन लिया है ऐसे संतपुरुषोके चरणोंके स्पर्शमात्रसे यह धरातल विशुद्ध हो जाता है। अर्थात् जिन्होने वस्तुके अन्त स्वरूपको परखा है प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे स्वतन्त्र है, किसी पदार्थका कोई पदार्थ कुछ नही लगता, ऐसी जिनकी दृष्टि निर्मल बन गयी है, किन्ही भी पदार्थोंको निरखकर उनको स्वतंत्ररूपमे देखनेकी प्रकृति जिनकी बन गयी है ऐसे पुरुष पवित्र है और उन पुरुषोका चरणस्पर्श जहाँ जहाँ होता है वह क्षेत्र विशुद्ध हो जाता है। जिनका केवल एक ही लक्ष्य रहा है, मै अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपमे मग्न होऊ, इसके अतिरिक्त दुनियामे अन्य किसी चीजकी चाह नही है ऐसे विशुद्ध शीलका आलम्बन लेने वाले पुरुषोका चरणस्पर्श जहाँ होता है वह क्षेत्र पवित्र हो जाता है अर्थात् ऐसे ही लोग उत्तम पुरुष है और जो असत्य वचन बोलते हैं वे पुरुष निम्न है, वस्तुस्वरूपके अनुकूल बचन बोलने वाले पुरुष ही मोक्षमार्गका आश्रय लेते हैं।

असत्य बातके चिंतनमें चिन्ताओंकी उत्पत्ति—जब जब भी चिन्ताएँ उत्पन्न होती हैं तो उन चिन्तावोका मूल कारण यह है कि यह जीव असत्य बात सोचता है। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, यही सत्य है, इससे मुख मोडकर जब मैं अमुकका स्वामी हू, मेरा सुख अमुक व्यक्तिके आधार पर निर्भर है, मेरा करने वाला दूसरा है, मै दूसरेके सुख दुःख को करता हू इस प्रकारकी जब स्वरूपसे विपरीत दृष्टि बन जाती है तब दुःख उत्पन्न होता है। कोई भी पुरुष दुःखी हो इस विश्वमे, समाजमे, देशमे, विदेशमे, सबके दुःख एक किस्मके हैं कि वे सभी अपने स्वरूपसे चिगकर बाहरी पदार्थोमे उपयोग लगाये है, उनसे हित माना है।

आशासे दुःख—देशके लोग मुझे भला कहे, यों देशके इन मायामयी पुरुषोसे आशा रख ली जाती है उसका दुःख है। मुझे विशेष वैभवकी प्राप्ति हो तो लोग मुझे अच्छा कह सकेंगे, यो लोगोसे आशा बाँध लेने पर, परवस्तुसे आशा लगानेमे ही क्लेश है। यद्यपि एक साधारणरूपसे ऐसा लगता है कि इस गृहस्थकी परिस्थितिमे तो आशाकी बात आ ही जाती है; लेकिन जो यथार्थ स्वरूप जानते हैं वे गृहस्थजन इस निर्णयमें रहते है कि आशा करनेसे होता क्या है? जब जिसके उदयानुसार जो कुछ होना है उसे कोई नही जानता और होता वह अवश्य है। आशा व्यर्थकी चीज है; उदयानुसार सारी बातें सामने घटित होती है, फिर भी जो आशाका उदय है वह आत्माकी कमजोरी है। कार्य तो जब जो होना है वह होगा पर हम आशा किए बिना नही रहते है, यह खुदके ज्ञान दृढतामे कमजोरी है और इसी

कमजोरीके मायने गृहस्थी है, फसाव है, असाधुता है।

यथार्थ तत्त्वकी जानकारीमें निराकुलता--जिन्होने यथार्थ तत्त्वको जाना वे इसी कारण तो निशक रहते हैं अन्तरगमे, वे अपनी और परकी स्वतत्रताको दृष्टिमे प्रतीतिमे बनाये रहते है। सत्यसे रुचि हो, सत्यवचनका व्यवहार हो, सत्यका अपनेमे अभ्युदय हो ऐसा सत्यमय जीवन जिन सतोका है वे चाहे गृहस्थ हो अथवा साधु हो उन्हे अपनी परिस्थितिके अनुकूल निराकुलता अवश्य मिला करती है। इन मायामयी लोगोके बीच हम असत्य सगम करे, असत्य व्यवहारमे बढे तो तथ्यकी बात यह है कि उस हृदयमे निराकुलता नही ठहर सकती।

यमव्रतगुणोपेत सत्यश्रुतसमन्वितम्।
यैर्जन्म सफल नीत ते धन्या धीमता मता ॥५५०॥

सत्य शास्त्रोंके अध्ययनसे जीवनकी सफलता—वे पुरुष धन्य है जिन्होने अपना जन्म यम नियम व्रत तपश्चरण आदिक गुणोसे शुद्ध होकर सत्य शास्त्रोंके अध्ययनसे सफल किया है। जब कभी यह मनुष्य यह सोचता है कि मुझे कुछ काम नही मिल रहा है करने को तो हम खाली समयमे क्या करें। समय नही काटा कटता, पर काम करनेको इतना पडा हुआ है कि कोई करे तो सारा जीवन भी उस कार्यमे लग सकता है। हमारे पूज्य महर्षि सतोने जो अनुभव शास्त्रोमे लिखा है और जिस पद्धतिसे ज्ञानके मार्गमे लगनेका उनमे प्रयास किया है उन शास्त्रोका अध्ययन करने लगे तो सारा जीवन खप जाय, पर शास्त्रोका अध्ययन प्रतिपादन पूर्ण नही हो सकता। कोई एक विषय है क्या ? करणानुयोगका इतना विशाल क्षेत्र है कि जिसमे तीन लोक तीन कालकी विशेष विशेष घटनाए दी हैं, आत्माके परिणामोका जिसमे वर्णन है, कर्मोंकी परिस्थितियोका जिसमे प्रतिपादन है। अनेक ढगसे ग्रन्थोका अध्ययन करने पर ही विदित होगा। ज्ञान शास्त्र कितने गहरे है, यह तो उनको ही पता पड सकता जो इस शास्त्रज्ञानमे प्रवेश करते है। जो उससे दूर रहे वे अनुमान भी नही कर सकते कि शास्त्र कितने विशाल और गहन है। शास्त्रोके अध्ययनका एक महान काम पडा हुआ है। हमारा जब भी समय खाली हो तो उस समय शास्त्रोका अध्ययन करने लगे, यह सच्ची कमाईकी बात बताई जा रही है, यही है आत्महितका सच्चा लाभ। अपने स्वार्थकी पूर्ति करनेकी हमारी धुन हो, हम अपने वास्तविक कल्याणको प्राप्त करनेकी ऐसी तीव्र धुन बनाए कि जब हमे समय मिले तो इन वीतराग महर्षियोके द्वारा प्रणीत शास्त्रोको पढनेमे लग जाये। एकसे एक नई बात, नया ज्ञान, शुद्ध ज्योति मिलती जायगी तो उसमे ऊब न आयेगी, और इस तरहसे जो उपयोग निर्मल बनेगा ज्ञानकी ओर बनेगा, उससे ऐसा जंचने लगेगा कि हमने मानवजीवन पाकर कुछ पाया है।

विषयकषायोंमें निस्सारता—अन्यथा विषयकषायोकी घटनाएँ ऐसी निसार घटनाए है कि जिन घटनाओमे घटित होकर यह अनुभव मिलेगा कि हमने समय बेकार खोया और हम रीतेके ही रीते रहे। हम इस संसारके सकटोसे छूटनेका उपाय बना ले किन्तु विषयकषायोमे ही जिनका समय गुजरता है वे केवल पछतावा ही हाथ पाते है, अपनेको रीता आकुल व्याकुल ही प्राप्त कर पाते है। इसके लिए चाहिए कि हम शास्त्रोके अध्ययनपर विशेष दृष्टि दे। समय किसे नही मिल रहा ? बहुत सा समय खाली है, पर एक लगन बने, रुचि जगे, अध्ययन करने लगे तो थोडी ही देरमे ऐसा अनुराग जगेगा कि उसमे मन लग जायेगा। वे पुरुष धन्य है और विद्वानोके द्वारा पूज्य होते है जिन्होने नियमपूर्वक रह कर सत्य शास्त्रोका अध्ययन किया है। मिलें कोई गुरु ऐसे जो बारबार ज्ञानकी ओर दृष्टि दिलायें और न मिलें तो ये शास्त्र ही गुरु हैं।

आत्माका सत्य हित शास्त्राध्ययन—शास्त्रोमे जो वचन लिखे है वे इन्ही गुरुवोने ही तो लिखे हैं। कोई वचन शब्दरूप परिणत होकर कानोमे आये तो शास्त्रोके वचन हमारे ज्ञानके द्वारा चारित्रसे उठकर हृदयमे आये तो यह भी गुरुका सत्संग है। शास्त्रोका अध्ययन करना गुरुवो के सत्सगके समान है। तो इन शास्त्रोके अध्ययनसे जिन्होने ज्ञानलाभ लिया है वे पुरुष धन्य है और वे ही पुरुष उस सत्य मर्मको अपने वचनोसे प्रकट कर सकते है। जो सत्यकी रुचि रखे ऐसा पुरुष इस सत्य आत्माका सत्य हित कर सकता है।

अहिंसक जीवनमें सुख शान्ति - यह आवश्यक है कि अहिसक जीवन रहे, किसी भी प्राणीका विरोध मनमे न आये चाहे वह हम पर आक्रमण ही क्यो न कर रहा हो। उससे बचाव करलें, बचाव करने मे कुछ भी बीते, आक्रान्ताका प्राण भी जाय इतने पर भी ज्ञानी पुरुषका यह भाव नही रहता कि इसका अकल्याण हो जाय। यह कितने गहरे ज्ञानप्रकाशकी बात है। यह सब शास्त्रोके अध्ययनसे बल प्राप्त होता है अतएव हम बहुत बहुत समय शास्त्रोके अध्ययनमे बिताये तो यह हमारी भलाईका मार्ग है। कोई कोई पुरुष ऐसे भी होते हैं कि जिनके कोई आजीविका कार्य भी न लगा हुआ हो तो एक तो कोई कार्य नही लगा है, इससे समय नही कटता और दु खी है और शास्त्रोसे दूर रहते है, ज्ञानचर्चासे दूर रहते है और उनका दु.ख तो कई गुना और बढता जायेगा। विकट परिस्थितियोमे भी यदि ज्ञानकी बात हृदयको मिलती रहे तो उससे धैर्य रहता है, शान्ति रहती है और कुछ गया हुआ पुण्य पुन वापिस आ सकता है। और सुख शान्तिमे जीवन गुजर सकता है।

नृजन्मन्यपि य सत्यप्रतिज्ञाप्रच्युतोऽधम ।
स केन कर्मणा पश्चाज्जन्मपङ्कात्तरिष्यति ॥५५१॥

मनुष्य जीवनकी दुर्लभता—जो अधम पुरुष मनुष्यजन्म पाकर भी साधुकी प्रतिज्ञा से च्युत हो जाते है वे पापी पुरुष बतलावो ससारकर्दमसे फिर किस प्रकार पार हो ? तिरनेका अवसर भी मनुष्य जन्म है और तिरनेका उपाय भी सत्य आत्ममर्मकी दृष्टि करना है जो कि सत्य व्यवहार करने वाले को प्राप्त हो सकता है। यदि इस सत्यसे च्युत हो गया तो फिर ससार कीचडसे किस प्रकार पार होगा ? धर्मरूप आचरण विवेककी उत्कृष्टता इस मनुष्यभवमे ही बनती है। और, कोई इस मनुष्यभवको विषय कषायोमे ही गवा दे तो फिर तिरनेका अवसर मिलना अतीत कठिन हो जायेगा। बडी दुर्लभतासे किसीको मणि हाथ लगा हो और वह बैठे हुए कौवोको उडानेके लिए मणिको समुद्रमे फेंक दे तो उसने अत्यन्त अतीत दुर्लभ चीज जो लोकव्यवहारमे मानी जाती है उसे यो ही गवा देता है। जैसे किसी को बर्तन माजनेके लिए राखकी जरूरत हुई तो चन्दनके वृक्षको काटे, उसे जलाकर उसकी राख बनाये फिर बर्तन मांजे तो यह कोई बुद्धिमानी की बात है क्या ? इतनी उत्कृष्ट चीज को राख बनानेमे नष्ट कर दे तो यह लोकव्यवहारमे कोई भी ज्ञानकी बात नही कह सकेगा। ऐसे ही यह मनुष्यजन्म जो इतना दुर्लभ है कि स्थावर विकलत्रय अन्य असज्ञी पञ्चेन्द्रिय अन्य गतियोसे निकलकर मनुष्यभव मिला है, इस मनुष्यभवको कोई विषय कषायके काममे ही गवा दे, आत्मज्ञानकी, हितकी बातमे प्रवेश न करे तो उसने यो ही मनुष्यभवको गवा दिया।

ज्ञानका सिलसिला बनानेमें प्रसन्नता— सब ज्ञानकी बात है। सिलसिला भर लग जाय, आत्मदृष्टिके ढगकी बात बन जाय तो इस ओर दृढता बनती जाती है और यदि रागद्वेष मोह विषयकी ओर इसका कुछ सिलसिला बन जाय तो यह विषयोमे ही पतित होता चला जाता है। इस कारण बडी सावधानीकी आवश्यकता है कि मेरा सिलसिला, मेरी परम्परा अच्छे कार्योंकी बने, जिससे हम अपने को निर्मल रख सकें, प्रसन्न रख सकें और संसारके सकटोसे छूटनेका उपाय पा सकें। इस मनुष्य जन्मको सत्य अहिसा शील आदिक धार्मिक कर्तव्योमे लगाना चाहिए।

विषयकषायोंका फल कटुक—आखिर जीवन तो बीतेगा ही, किसी तरह बिता ले, पर विषयकषायोके रूपसे इस मनुष्यजन्मको बितानेका फल कटुक होगा। ये भोग विषय, ये इन्द्रियोके साधन उपभोग पुण्यका उदय है ना इस कारण बहुत सस्ते हो रहे हैं। जब चाहे तब इन्द्रियका उपभोग कर लें, बडे सस्ते मालूम हो रहे है, सुगम मालूम हो रहे है, किंतु कुछ ही काल बाद इन सबका परिणाम कितना महगा और दुर्गम होगा। महापुरुष तो वह है कि ऐसी लुभावनी स्थितिमे जब कि सर्व प्रकारके इन्द्रियविषयोंके समागम प्राप्त हो रहे हैं, अपने मनको वश करें और विशुद्ध ज्ञानपथकी ओर मनको ले जायें, यह है आन्त-

रिक तपश्चरण। ऐसे अपने आत्महित की शुद्ध प्रतिज्ञाकी दृष्टि जिनकी बनी रहे उनका तो जन्म सफल है और जहाँ अधम पुरुष विषय कषायोके प्रेमी आत्महितके कार्यसे चलित हो जाते है समझिये कि इस संसाररूपी कर्दमसे उनके निकलनेका फिर कोई अवसर नही रहता। इससे हम शास्त्रस्वाध्यायमे और यथाशक्ति संयममे अपना जीवन बिताये तो इसका फल अपनेको अच्छा ही प्राप्त होता है।

अदयै संप्रयुक्तानि वाक्छस्त्राणीह भूतले।
सद्यो मर्माणि कृन्तन्ति शितास्त्राणीव देहिनाम् ॥५५२॥

खोटे वचन तीक्ष्ण शस्त्रके समान— दयाहीन पुरुषोके द्वारा चलाये गए दुर्वचनरूपी शस्त्र इस पृथ्वीतलपर जीवोके मर्मको तीक्ष्ण शस्त्रोके समान तत्काल धारण करते है। असत्य वचनोके समान दूसरा कोई तीक्ष्ण शस्त्र नही है। जितने भी विवाद झगडे देश विदेश समाज घरके उत्पन्न होते है उन सबका कारण खोटा वचनालाप है। व्यर्थ ही खोटे वचनो के प्रयोगसे खुदको दु खित बनाया जाता है और जगतको दु खित बना दिया जाता है। वचनोका भण्डार तो बहुत है। अभी उस भण्डारमेसे जिस मनुष्यका जैसा उपादान है वह अपने उपादानके अनुसार उसका प्रयोग करता है। जिसमे अज्ञान भरा है, कषाय भरी है, खुदगर्जी भरी है, इन्द्रियविषयोकी वासनाये भरी है कषाये बढी हुई हैं तो ऐसे मनुष्य शिष्ट वचनोका कहाँसे प्रयोग कर सकेंगे।

जैसा उपादान वैसा परिणमन—जैसा उपादान है वैसा ही उनका परिणमन होता है। किसी तोतले पुरुषको कितना ही सिखाया जाय कि तुम यो शुद्ध बोलो, वह तोतला पुरुष उस प्रकार शुद्ध बोलना भी चाहता है मगर वह तो वैसा ही बोल सकेगा जैसा उसका उपादान है। कोई पढाने वाले बडे ऊचे शास्त्री जी थे। बडे शुद्ध लेखक थे, पर वे जरा तोतले थे। स को ट बोला करते थे। तोतले पुरुषोसे स नही बोला जाता है, त भी नही बोला जाता है। सायद जो दती स्थानके शब्द है त थ द ध न स ल ऋ ऐसे जो दतस्थानके शब्द है वे तोतले पुरुषोसे नही बोले जाते हैं। लेकिन वह पडित जी व्याकरण और शब्दशास्त्रके अच्छे ज्ञाता थे। तो वह शिष्योसे कह रहे थे कि देखो बोलना था उन्हे सिद्धिर्भस्तु, पर स की जगह ट बोल पाते थे टिद्धिर्भस्तु। वह बहुत समझाये—देखो हम कुछ भी कहे पर तुम टिद्धिर्भस्तु समझना। तो जो जिस उपादानका है उससे वैसे ही शब्द निकलेगे। कोई चौथी कक्षाका छोटा विद्यार्थी हो उसे कोई सोचे कि हम अच्छे पढे लिखे मास्टरसे मिडिल का कोर्स पढ़ाये तो वह विद्यार्थी मिडिलका कोर्स पढ जाय, यह कैसे हो सकता है। और, फिर पढा देने से ही कुछ नही हो जाता है, कुछ व्यवहार भी तो देखा जाता है। बच्चेको केवल विद्या ही तो नही सिखायी जाती, कुछ व्यवहार भी तो सिखाया जाता है।

व्यवहारकी बात सीखनेकी शिक्षा—आजकल लोग पढाईमे प्राय विद्याकी और ध्यान देते हैं। यह किसी तरह पास हो जाय यही पढाने वालेका मुख्य उद्देश्य रहता है। यह विद्यार्थी कुछ व्यवहार भी सीखे, इस ओर ध्यान कुछ कम है। चाहिए तो यह कि वह पढाईके साथ कुछ व्यवहार भी सीखे। किसीने पढाई बहुत पढली और वह व्यवहारशून्य है तो उसकी भी तो आगे गति नही है। तो ऊची सगतिसे विद्या भी, व्यवहार भी सभी बातो की शिक्षा मिलती है। जैसा उपादान होता है उसके अनुसार परिणमन चलता है। जो छली है, कपटी हैं, विषय साधनोंके ही अभिलाषी है ऐसे पुरुषोसे जो वचन निकलेंगे वे कपटभरे, मर्मछेदनहारे वचन निकलेंगे।

उपादानके अनुसार परिणतिमूलक दृष्टांत—एक कोई पडित जी थे तो किसी देहातमे कथा बाँचने चले गए। गाँवके सब पटेल जुडे, कथा वार्ता शुरू हुई तो वे संस्कृतके श्लोक १५–२० मिनट तक धाराप्रवाहसे बोलने लगे। उन्होने सोचा कि इस देहाती जनता पर हमारा रोब बैठ जायेगा। सो जो उन्होने १५–२० मिनट तक अपना सुनानेका काम जारी रखा कि एक आदमीको यह सदेह हो गया कि पडित जी को बाय तो नही लग गया। बायकी बीमारीमे ऐसा ही होता है। बाय वाला व्यक्ति शुद्ध नही बोल पाता, अटपट बोलता है। उस पुरुषको वे पडित जी के वचन कुछ अटपटसे लगे, सो सोचा कि पडित जी के बाय लग गयी है, दिमाग बिगड गया है, पागल हो गए है, इसकी दवा करवाये। सो झट तकुवा वालेके पास गया, कहा कि पडित जी को बाय लग गया है, उनके लोहेके दो चार गरम तकुवा लगा दो ठीक हो जायेगा। बाय रोग वाले को तकुवासे दागा जाता है। सो झट पडित जी के हाथ पैर पकडे और दो तीन जगह तकुवासे दाग दिया। पडित जी अभी भी श्लोक छाँट रहे हैं। जब दो चार जगह तकुवासे दागा तो पडित जी अपना माथा ठोकने लगे। उस आदमी ने समझा कि अभी शिरका बाय नही गया सो सिरमे भी दो चार तकुवे दाग दिये। तो जिसमे जो योग्यता है वह उतने ही तो विचार बनायेगा, उतनी ही तो क्रियायें करेगा। किसी मूर्खको नौकर रखले और वह मिले कुछ सस्ता सा तो आप उससे ज्यादा नुक्सान पायेंगे। तो जिसका जैसा उपादान होता है उसके अनुसार ही उसकी परिणति और वचन होते है। तो होते हैं ठीक है किन्तु असत्य वचन और असम्बद्ध वचन बोलने वालेका उपादान उत्तम नही है और ऐसे लोग सत्य विचार नही बना सकते। आत्माका ध्यान नही कर सकते। दुखोके दूर करनेका उपाय नही सोच सकते। जिन्हे सकटोसे दूर होनेकी वाञ्छा है। वे आत्मध्यानकी ओर दृष्टि देते हैं और वे आत्मध्यानके पात्र होते हैं जिनका व्यवहार समीचीन हो। हम वाणी अच्छी बोलें, हितकारी बोलें, अधिकाधिक मौनसे रहे, ऐसी वाणी वाले व्यक्ति आत्मध्यानके पात्र होते है।

व्रतश्रुतयमस्थानं विद्याविनयभूषणम् ।
चरणज्ञानयोर्बीजं सत्यसंज्ञं व्रतं मतम् ॥५५३॥

स्वच्छ हृदयसे आत्मोन्नति––सत्य नामका व्रत समस्त व्रतोका, श्रुतोका, यम नियम का साधन है। जो पूजा करे, तपश्चरण करे, और मनमे कपट हो, हृदय अशुद्ध हो, वाणी भी असत्य बोले, अप्रिय बोले तो काहेका व्रत रहा, काहेका पूजा रहा, क्या तपश्चरण रहा। हृदयमे सरलता आना और सब जीवोके लिए अपने हृदयमे स्थान होना यही है सबसे उत्कृष्ट आन्तरिक उन्नति। कही दो चित्रकला वाले कारीगर आये, मान लो कोई जापान का है और कोई चीनका है, तो दोनो कारीगरोने राजासे कहा कि महाराज हम बहुत बढिया चित्र बनाना जानते हैं। आप अपनी हालमे चित्र बनवाये और परीक्षा कीजिए। तो बडे हालमे बीचमे एक पर्दा डालकर एक साइड जापानी चित्रकार को दे दिया और एक साइड चीनी चित्रकारको दे दिया। तो अब जर्मनी कारीगर तो उस भीतको साफ करनेमे लग गया। बढिया कौडीके चूनेसे खूब घुटाई किया। ६ महीने तक उसने केवल भीतकी घुटाई ही की। और, जापानी कारीगरने ६ माह तक खूब रग बिरंगे चित्र बनाये। जब ६ माह पूरे हो गये, राजाने परीक्षा की तो जर्मनी चित्रकारने कहा, महाराज परीक्षा तब होगी जब आप बीचमे पडा हुआ पर्दा हटा दे। जब राजाने उस पर्देको हटाकर देखा तो जिस भीतमे केवल घुटाईकी गई थी उस पर दूसरो भीतकी सारी चित्रकारी चमकने लगी और जापानी चित्रकारने जो रगबिरगे चित्र बनाये थे वे बिल्कुल रूखे दिख रहे थे। तो आप यो ही समझिये।

निर्मल परिणाम बिना शारीरिक क्रियायें व्यर्थ––जो अपने ज्ञानाभ्यास द्वारा परिणामोको स्वच्छ बनाता है, बार बार तत्त्वका विचार करके अपने हृदयको जो स्वच्छ बनाता है उसकी स्थिति भली है उसे धर्मलाभ होता है। और जो अपने हृदयको स्वच्छ बनानेका तो यत्न न करे और शारीरिक क्रियावोसे व्रत, साधना, तपश्चरण, बहुत-बहुत यत्न कर डाले तो इससे कुछ सिद्धि नही हो सकती। कर्मबन्ध रुक जाय यह तो सिद्धिकी बात है। कर्म जड पदार्थ है, और उनके बन्धनका यही निमित्त है कि आत्मामे जैसा परिणाम बने उस प्रकारसे वह बध जाता है। तो कर्मबन्धका सम्बन्ध आत्मपरिणामसे है। आत्मपरिणाम जिसका स्वच्छ है उसे तो कर्मबध नही होता और जिसका दूषित परिणाम है उसे कर्म बँधते है।

परिणाम स्वच्छता पर दृष्टान्त—गुरुजी सुनाते थे कि कटनीमे दो भाई थे—एक बडा और एक छोटा। छोटा भाई तो खूब पूजा करे, धर्मध्यान करे, दुकान वगैरहके कोई काम न करे, बस धर्मध्यान, स्वाध्याय, पूजन इन्ही प्रसंगोमे रहे। सारा कारोबार बडा

भाई करता था। तो छोटा भाई बडेको समझाने लगा कि कुछ धर्मध्यान तो करना चाहिए पूजा, स्वाध्याय वगैरह भी तो कुछ करना चाहिए। तो बडा भाई बोला कि तुम करते हो और हम खुश होते है, तुमको रोकते नही है, कभी कोई काममे लगाते नही हैं, यह हमारा धर्म नही है क्या ? तुम धर्म धर्म चिल्लाते हो, तुम धर्म करो और समय पाकर बता देंगे कि तुमने कितना धर्म किया। दो चार बार ऐसी बाते हुईं, अंतिम समयमे छोटे भाईकी जब मृत्यु होने लगी तो छोटा भाई कहता है बडेसे कि भाई ये छोटे-छोटे लडके अब तुम्हारे सहारे है, हम तो जा ही रहे है, तो बडा कहता है कि तुमने तो बहुत बहुत धर्म किया है, अब इस ममतामे तुम मरोगे क्या ? तुम हमें बहुत समझाते थे। और, कहा देखो--तुम्हारे कहनेसे हम सब कुछ कह दें कि तुम्हारे बच्चोको पालेगे पोषेंगे और फिर हमने न किया तो तुम्हारा कहना तो व्यर्थ ही है। तुम तो ममताको त्यागो और अपना शुद्ध परिणाम करो। और, तुम्हे कोई शल्य हो तो जितना वैभव है सिवाय एक इस कुटीके कहो सब तुम्हे लिख दे अथवा तुम जिसे कहो उसे लिख दे। छोटे भाईकी समझमे आ गया। कहा-भाई हमारा कुछ नही है, अब हमने समझ लिया। वह छोटा भाई गुजर गया तो उसके नाम पर ३०—४० हजार रुपया निकालकर कोई संस्था बना दी और उनके वशज आराम से अब भी है। तो प्रयोजन यह है कि धर्म नाम है किसका ? बडे भाईका कितना स्वच्छ परिणाम था। विशेष धर्मकार्योंको न करके भी वह धर्मात्मा है और अन्तमे उसने बता भी दिया, अपने भाईका मरण भी सुधार दिया।

अन्तरङ्ग परिणामोंसे धर्म---धर्मकी बात अन्तरङ्गसे होती है। किसी भी प्राणीका अहित न सोचे, धर्ममे सबसे पहिले तो यही आवश्यक है। इसे जो प्रेक्टिकल कर सके। भाई ने दुखी कर डाला हो, रिस्तेदारोने भी अनेक धोखे दिया हो, अथवा अन्य पडौसियोंने बडी विपदा डाली हो इतनेपर भी सबका हित ही सोचें, किसीका अहित न विचारे। वहाँ है धर्म गध और इसी प्रकारसे धर्मपालन करने वाले दुखी नही होते। उनका काम उनके साथ है, अन्याय करने वालोका काम उनके साथ है। हाँ, इतनी बात जरूर है कि अन्याय आक्रमण करने वालेके प्रति सावधानी पूरी रहनी चाहिए नही तो विवेक ही फिर क्या रहा। वह अपनी सावधानी तो पूरी रखे, पर हृदयसे किसीका अहित न विचारे। इन दो बातोसें जीवन मे सुधार होता है। अपना बचाव रखे, उसके बहकाये न मे आयें, अपनी सम्हाल बनाये, कोई कितना ही विरोध करे पर अन्तरङ्गसे किसीका अहित न सोचे कि इसका अकल्याण हो जाय।

हितके चिन्तनमें जीवनकी उन्नति---इसका यो बुरा हो जाय ऐसी सावधानी और हितका चिन्तन इन दो बातोसे जीवनकी उन्नति होती है। और, यही एक अपना सत्य कदम

है, ऐसा पुरुष सत्यव्यवहार रखता है, यही सत्यव्रत विद्या और विनयका भूषण है। ज्ञान खूब हो, विद्वान खूब हो गए और झूठ बहुत बोले तो लोकमे उसकी शोभा होती है क्या ? इसी तरह कोई विनय तो बहुत करे, मगर झूठ बोले, कपट रखे तो उसके विनयमे कुछ शोभा है क्या ? विद्या और विनय सत्य वचनसे ही शोभाको प्राप्त होती है, अर्थात् सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रका बीज सत्य वचन ही है। सत्यव्यवहार निशक रहता है। खुद का पाप, खुदकी बात खुद तो जानते ही है, दुनिया जाने अथवा न जाने। जब खुदका पाप खुदकी दृष्टिमे है तो उस दृष्टिके कारण वह अपनेमे-कायर बन जायगा, बलहीन हो जायगा। तो अपनी भलाईके लिए ऐसा व्यवहार रखे जो न्यायपूर्ण हो, किसी भी प्राणीको कष्ट पहुंचानेके संकल्प वाला न हो।

न हि सत्यप्रतिज्ञस्य पुण्यकर्मावलम्बिन ।
प्रत्यूहकरणे शक्ता अपि दैत्योरगादय ॥५५४॥

सत्यप्रतिज्ञा वाले पुरुषोंके दुष्ट दैत्य और सर्पादि भी बुरे करनेमें असमर्थ—जो सत्यप्रतिज्ञा वाले पुरुष है, पुण्य कर्मका जो आलम्बन लेते है, धर्ममे जिनकी वृत्ति है, ऐसे पुरुषो को दुष्ट दैत्य और सर्प आदिक भी कुछ बुरा करनेमे समर्थ नही है। कथावोमे सुना होगा—सोमा सती अपने धर्मसे रही शील व्रतसे, रात्रिभोजनत्याग व्रतसे अनेक सयमोसे रही और उसका पति रात्रिभोजन करने वाला और ऐसे ही उसपर जोर देने वाला था, धर्मकार्यको रोकने वाला था। बहुत-बहुत तरहसे सताया, अन्तमे गुस्सा होकर उसने एक उपाय रचा कि सपेरेसे एक विषधर सर्प एक मटकेमे रखवा दिया और ऊपरसे पत्ते फूल अच्छी तरहसे सजा दिया, और कहा कि इस मटकेमे हार रखा है उसे निकाल लो। अतिशयकी बात है कि वहाँ से फूलोका ही हार निकला। तो ऐसी अनेक घटनाएँ पुराणो मे है और कुछ घटनाएँ अब भी यत्र तत्र होती है।

दृष्टांत—एक बार बरुवा सागरमे जब गुरुजी ७ वी प्रतिमामे ही थे, चले जा रहे थे तो लडके लोग गुल्लीडडा खेल रहे थे। तो यो ही खेल खेलमे उन्होने ही कोई गुल्ली उठा कर यो फेकी कि वह एक लड़के के शिरमे लगी। और, वह लडका था बडी लडाकू माँ का। ऐसी मा का लडका था जो बहुत लडती थी। गुरुजी तो चले आये, बादमे वह लडाकू माँ बाईजी के पास आयी। गुरुजी सोचने लगे कि आज तो यह हजारो गालियाँ सुनायेगी और न जाने क्या क्या कहेगी। जब वह आयी तो कहने लगी बाईजी से कि आज तुम्हारे भैया ने हमारे लडकेका भला किया। क्या भला किया ? शिरमे जो वर्षोका रोग था वह बिल्कुल खतम हो गया। किसी नस पर ऐसा डट कर लगा कि वह रोग समाप्त हो गया, सो कोई जान कर या अन्जानेमे आघात भी करे और उदय अनुकूल हो तो

विगाड नही होता। आप व्यापार आदिक सिलसिलोमे भी देख ले, उदय अनुकूल है तो कभी कभी उस विरोधसे भी फायदा उठा लिया जाता है और उदय प्रतिकूल है तो मित्रजन सलाह देते है, फिर भी वह मित्रोकी सलाह काम नही करती है। और, नुक्सान होता है, तो जो मनुष्य सत्यप्रतिज्ञा वाले हैं, पुण्यकर्मका आश्रय लेने वाले हैं ऐसे आदमीको तो दुष्ट दैत्य और सर्प आदिक भी रच बुरा करनेमे समर्थ नही होते है। और प्रथम बात तो यह देख लो।

सत्य निर्विकल्प ज्ञानस्वरूपपर दृष्टिवानके रंच भी विपदा नहीं—जब हम अपने आपके उस सत्य निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप पर दृष्टि देते हैं तो वहाँ दूसरोकी परिणतिको अपनाया ही नही जा रहा है, वहाँ कष्ट ही क्या है ? कष्ट तो लोगोको दूसरोकी परिणति के अपनानेका है। जो जैसा चलता है उसके मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहे तो उसमे रच भी विपदाकी बात नही है। तो जो सत्य तत्त्वकी रुचि रखते है, अपने उस सत्यस्वरूपका निरीक्षण करते है और सत्य व्यवहार रखते हैं ऐसे सरल कोमल हृदय आदमियोको दुष्ट आदमी भी सर्प आदिक भी कुछ भी करनेमे समर्थ नही है।

चन्द्रमूर्तिरिवानन्द वर्द्धयन्ती जगत्त्रये।
स्वर्गिभिर्ध्रियते मूर्ध्ना कीर्ति सत्यो त्थता नृणाम् ॥५५५॥

सत्चरिवानत्रोंकी देवताओं द्वारा कीर्ति—सत्य वचनोसे उत्पन्न हुई मनुष्योकी कीर्ति को देवता लोग भी मस्तक पर धारण करते हैं। लोग लौकिक वैभव को तरसते है, पर यह सोचिये तो लौकिक वैभव किस स्थितिमे होता है। अनेक पुरुष ऐसे भी मौजूद हैं एक दो जगह हमने भी देखा है, लखपती पुरुष हैं पर स्वय कुछ खा पी भी नही सकते, कुछ बुद्धि भी नही है, और शरीरसे भी बेहूदे है, लार गिर रही है, पागलपन जैसा छाया है। हम पूछते है कि उनको लौकिक वैभव क्या मिला ? लौकिक वैभव तो उसे कहते हैं जो हजारो पुरुष मान लें कि धन्य है इनका चरित्र और धन्य है इनका महत्त्व। यह बात सत्य व्रतके प्रतापसे अनायास बनती है। जो नेता ऐसे हुए हैं, जिन्होने जनताके उद्धारकी ही बात सोची है। न अपने नामके यशकी बात सोची और न धनसचयकी कल्पना उठी, जिनके मरणके बाद न कोई घर, न कोई सम्पदा, ऐसे नेतावो का आज भी कितना बडा यश है। जैसे वर्तमानमे महात्मा गाँधी हुए, किदवई हुए, लालबहादुर शास्त्री हुए, सभी जानते हैं कि उनको पैसेसे कुछ मोह न था, उनके चित्त मे धनसचयकी भावना नही रही, अपने नाम की चाह नहीं रही, उन्हे लोग कितनी प्रशसा की दृष्टिसे देखते है। तो करोडो अरबोके लौकिक वैभवसे भी बढकर उन सतोका, उन नेतावोका सत्चरित्र है। जो सत्यव्य वहार रखने वाले है ऐसे मनुष्योकी कीर्तिको देवता भी मस्तकपर धारण करते है।

सती सीताका दृष्टांत—भला जब सीताको अग्निकुण्डमें कूदनेका हुक्म दिया गया जो फर्लांगों लम्बा चौडा कुण्ड था, जहाँ बहुत सा ईंधन जलाया गया था। अग्नि जाज्वलित हो गयी। अब सीता नमस्कार मत्रका ध्यान भर और यह सकल्प कर कि मैंने स्वप्नमे भी यदि अपना मान डिगाया हो तो ऐ अग्नि तू मुझे भष्म कर दे और ज्यो ही कूदी तत्काल होता क्या है सत्य प्रतिज्ञा और पूर्वकर्मका फल कि दो देवता कही जा रहे थे केवलीके दर्शन करने, उन्होने वह दृश्य देखा और अवधिज्ञानसे जाना कि तो बड़ा अनर्थ होनेको है, ऐसी शीलवती सत्यव्यवहार वाली सतीका यदि यो ही मरण हो गया तो लोकमे धर्मकी प्रभावना न रहेगी। तो विक्रियासे उस कुण्डको जलमय बना दिया। तो अग्नि, सर्प, दुष्ट दैत्य ये कोई भी एक पुण्यकर्मके आलम्बन वाले सत्यप्रतिज्ञ आत्माका कुछ कर नही सकते और उनकी कीर्ति बडे-बडे देवतावोके द्वारा भी मस्तकपर चढाई जाती है।

सत्यतत्त्वकी ज्ञानवृद्धिका उपदेश—हमारा कर्तव्य है कि हम एक सत्यतत्त्वका ज्ञान बढायें, वह है अपना स्वरूप। स्वाध्यायमे विशेष चित्त दें और व्यवहार भी अपना समीचीन रखे, ऐसा करके अपने इस लोकका भी जीवन सफल करें और भविष्यमे भी हम धर्ममार्गका आश्रय करे और निर्वाणको प्राप्त करे। यह एक लक्ष्य रखे कि इन समागमोमे मोहभरी दृष्टि न बनाये।

खण्डिताना विरूपाणां दुर्विधाना च रोगिणाम्।
कुलजात्यादिहीनाना सत्यमेक विभूषणम् ॥५५६॥

असत्यके आग्रहसे अशान्ति—जगतके सभी जीव शान्ति चाहते है और दुःखोसे निवृत्त होना चाहते है। और, जितने भी उनके प्रयास है इस ही के लिए है कि शान्ति मिले। जो कुछ भी करते है प्राणी ये सब मनुष्य वह सब शान्तिके लिए करते है। गृहस्थ धर्मका पालन करना, साधुधर्मका पालन करना और आजीविकाके साधन बनाना, परस्पर का व्यवहार बनाना सबका प्रयोजन शान्तिलाभ है। यहाँ तक कि कभी अपना भी कोई घात कर डालता है स्वय वह भी अपने विचारानुसार शान्तिके लिए अपना घात करता है। पर शान्तिके कार्य करते हुए भी शान्ति नही मिलती इसका कारण क्या है ? इसका कारण है असत्यका आग्रह। जीवोने सत्यका आग्रह नही किया, असत्यका ही आग्रह किया, यही कारण है कि अनेक श्रम करके भी शान्ति प्राप्त नही होती।

सत्यको ज्ञात करनेकी जिज्ञासा अति आवश्यक—अपने आपमे सत्य क्या है, इसकी जिज्ञासा होना चाहिए और इसमे ही सन्तुष्ट होना चाहिए। यह बात जब मनुष्यमे आ जायगी तबसे शान्तिका मार्ग प्राप्त होने लगेगा। मैं क्या हू सर्वप्रथम इसका ही सत्य निर्णय करना चाहिए। मैं हू एक ज्ञानमय पदार्थ। जो पदार्थ होता है वह अनादि अनन्त हुआ

करता है। जितने भी सत हैं सब अनादि अनन्त हैं। मैं भी अनादिसे हूँ अनन्त काल तक रहूँगा। ज्ञानमय हूं तो अपने स्वरूप की सीमामे परिणमता रहूँगा। यह मैं ज्ञानमय पदार्थ इस ज्ञानरहित देहसे निराला हू और जितने भी पदार्थ है उन सबसे निराला हू। मेरे साथ जो कुछ भी विजातीय पदार्थ लग गए है, जिनके कारण नाना दशाए हो रही हैं, अनेक जन्म, अनेक स्थितियाँ बन रही हैं। स्वरूपज्ञान करनेके लिए ऐसी तर्कणा करें कि यदि मेरे साथ कोई पर-उपाधि न हो तो मैं किमात्मक रहूगा इस प्रकारकी तर्कणासे अपने आपके स्वरूपका परिचय होता है।

उपाधियोंसे नाना अवस्थायें—मेरे साथ उपाधियाँ हैं। द्रव्यकर्म, ज्ञानावरणादिक अष्टकर्म जो अत्यन्त सूक्ष्म है और द्वितीय उपाधि है देह। इन दोनो उपाधियोंके सम्बन्धसे मेरी दशा विचित्र हो रही है और एक भ्रम आ गया है, इन्द्रिया प्राप्त हुई है, ज्ञान दब गया है, उन इन्द्रियोंसे ज्ञान उत्पन्न होता है और मुझ आत्मामे ही लौकिक ज्ञान और आनन्दके साधन इस समय हमारी इन्द्रिया है। अतएव हम इन्द्रियोमे बहुत अनुराग रखते है, बस यह है असत्यका आग्रह। सत्य है मेरे लिए मेरा स्वरूप। उस स्वरूपका तो आग्रह किया नही किन्तु मेरे स्वरूपसे भिन्न जो देहादिक है, धन वैभव आदिक है, उनमें आग्रह किया, हठ किया, अनुराग किया यही कारण है कि शान्तिके अनेक यत्न करके भी हमे शान्ति नही मिलती।

निज सत्य पदार्थकी दृष्टि होना एक भूषण—ऐसे सत्य निज पदार्थकी दृष्टि होना और इस ही सत्यका प्रतिपादन होना यह एक बहुत बडा भूषण है। जिन पुरुषोने इस सत्य की खोज की, सत्यकी रुचि बनाया, सत्यके लिए ही अपना जीवन समझा ऐसे पुरुष लोकमे एक शृङ्गाररूप है, आभूषणरूप हैं। कोई पुरुष खण्डित हो, जिसके हाथ नाक आदिक अवयव कुछ कट गए हो, कोई पुरुष विरूप हो, सुन्दररूप वाला न हो, दरिद्री हो, रोगी हो, कलासे भी हीन हो, जातिका भी हीन हो लेकिन उसकी दृष्टि सत्य पर जाती हो, सत्य का ही प्रतिपादन करता हो तो ऐसे सत्यके रुचिया और सत्यके भाषणकर्ता इस लोकमे शोभाको प्राप्त होते हैं। कोई पुरुष सम्पूर्ण अग अवयव वाला हो, सुन्दर हो, स्वस्थ हो, धनिक भी हो, किन्तु उस आत्माको सत्यकी रुचि नहीं है, भाषण भी सत्य नही करता लोक व्यवहारमे भी असत्यप्रलापी है तो असत्य प्रलाप करने वालेका लोकमे न यश रहता, न आदर रहता। सत्यका कितना महत्त्व है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें अपना हितपना—हमारा कर्तव्य होना चाहिए कि हम अपना जीवन केवल धन कमानेके लिए, परिवारको उन्नत बनानेके लिए ही न समझें। धन वैभव क्या वस्तु है ? यों ऐसे वैभव अनेक भवोमे मिले, इससे भी कई गुना वैभव प्राप्त

हुआ, आखिर उन सबको छोडकर जाना ही पडा। यही हाल अबका भी है। जो भी समागम मिला है उस समागमको छोडकर आगे जाना ही पडेगा। इस महत्त्वसे अपना महत्त्व न कूते। इतनी बात तो जरूर होनी चाहिए कि अपना महत्त्व कूतें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके पालनसे। मैं अपने आपको सही समझ लूँ, मैं अपने आपका सत्य श्रद्धान करूँ और जो मेरा सत्य सहजस्वरूप है समस्त परवस्तुवोसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दमात्र, जहाँ मात्र जानन ही जानन है ऐसे उस स्वरूपसे कुछ प्रतीति बने इसमे अपना महत्त्व समझना चाहिए।

स्वरूपदृष्टिके हेतु सब क्रियायें—हमारे इन चौबीस घंटोमे कुछ समय तो अपने आपके आत्माकी चर्यामे जाना चाहिए। हम दर्शन करते है तो दर्शन भी उस पद्धतिसे करे जिसमे प्रभुके गुणोपर दृष्टि जाय और अपने आपके ही स्वरूप पर दृष्टि जाय। इस जीव को वास्तविक शरण ज्ञान और वैराग्य ही है। जब-जब भी इस जीवको सुख होता है तो अज्ञान और रागकी कमीके कारण होता है। जितने भी कारण है लोकव्यवहारमे वे इच्छा के अभावसे हुआ करते है। लोग तो मोहमे यो समझते है कि इच्छाकी पूर्तिसे सुख होता है, पर वहाँ तथ्य यह है।

इच्छाके अभावमें सुख—इच्छाके अभावसे सुख होता है। पूर्ति नाम किसका है? जैसे बोरेमे गेहूं भरे जाते है भर दिया, क्या इस तरह आत्मामे यह इच्छा भरे, यो इच्छा भरनेका नाम इच्छाकी पूर्ति होना है। इच्छाके न रहनेका नाम ही इच्छाकी पूर्ति है। खूब ध्यानसे सोच लीजिए। भोजन किया, भोजन कर चुकने पर कहते है कि आज हमारी इच्छाकी पूर्ति हो गयी। उसका अर्थ क्या? उस समयकी स्थिति क्या है जिस स्थितिको यह कहा है कि हमारी इच्छाकी पूर्ति हो गयी? वह स्थिति है इच्छाके अभावकी। अब खानेकी इच्छा नही रही उसका ही नाम है इच्छाकी पूर्ति। इच्छाके न रहनेका नाम है इच्छाकी पूर्ति। आनन्द इच्छाके अभावसे होता है कामके होने से नही होता। किसी पुरुष को कोई झोपडी बनवानेका काम था और उसने छोटा सा घर बना लिया। घर बनानेके बाद जो उसे कुछ शान्ति आयी, कुछ विश्राम हुआ वह घरकी ईंटोसे निकलकर नही हुआ किन्तु जो यह भाव अब बना है कि मेरे करनेको यह काम नही रहा उस कृतार्थताका आनन्द है उसे। प्रत्येक जीवको जो कुछ भी आनन्द होता है वह इच्छाके अभावसे होता है। प्रत्येक जगह घटा लो इच्छाके न होने से आनन्द होता है। इस जीवका स्वभाव है केवल ज्ञानस्वरूप रहना।

सत्य परिणमनमें आनन्द—तो ऐसे ही केवल एक सत्य परिणमन हमारा रहे तो उसमे शान्तिका मार्ग प्राप्त होता है। उस सत्यकी जिनकी रुचि जगी है और सत्यका ही

जो भाषण करते है ऐसे पुरुष इस लोकके भूषण ही है, चाहे रूप न हो। अग अवयव भी भग्न हो, दरिद्र हो, रोगी हो, कुल जाति हीन हो, लेकिन सत्य वचन बोलते हो तो उनकी सब कोई प्रशसा करते हैं। अपने आपको आनन्दमे रखने के लिए यह कर्तव्य जरूरी है कि हम अपने को सबसे न्यारा अकेला निज स्वरूपमात्र श्रद्धान करें ऐसा ही उपयोग बनाएँ और ऐसी ही रुचि जगायें कि मैं अपने ही इस स्वरूपमे मग्न होऊँ, सब विकल्प तोड दें ऐसा यत्न हो तो उस यत्नमे शान्तिकी प्राप्ति होती है और निर्वाणका मार्ग प्राप्त होता है।

यस्तपस्वी जटी मुण्डो नग्नोवा चीवरावृत ।
सोऽप्यसत्य यदि ब्रूते निन्द्य स्यादन्त्यजादपि ॥५५७॥

सत्य भाषणका महत्व—सज्जन पुरुषोकी गोष्ठियोमे भी इन दो तत्त्वोका बडा आदर किया जाता है-एक असत्य और एक सत्य। लोक प्रसिद्ध युक्ति है-सत्यमेव जयते सदा। सत्यकी सदा विजय होती है। सत्यसे आत्माकी विजय होती है। कोई पुरुष बडा तो तपश्चरण करता हो अथवा कोई पुरुष जटाधारी हो, मुड हो, अथवा कचलोच भी करता हो अथवा नग्न हो या वस्त्रधारी हो, किसी भी भेषमे हो, कोई सा भी धर्मका भेष बनाया हो पर एक असत्यकी रुचि हो, असत्य बोलता हो तो वह जगतमे प्रशसनीय नही माना जाता है, किन्तु लोग घृणाके साथ देखते हैं। सत्य भाषणमे लोकमे कितना विशेष महत्त्व है। और जो सत्य भाषण करता है उसका आशय विशुद्ध है अतएव वह पुरुष आत्माके ध्यानका पात्र है।

आत्म स्मरण द्वारा परमात्म तत्त्व निकालनेकी शिक्षा—लोकमे शरण आत्म-स्मरण है और वह भी परमात्म तत्त्वके रूपमे आत्म स्मरण है। देखिये जो परमात्मा बने हैं उन्होने कौनसी नई चीज बनाई जिससे वे परमात्मा कहलाये ? जैसे कुम्हार मिट्टीका खिलौना बनाता है, तो वह मिट्टी, पानी वगैरह चीजे जोड जोडकर खिलौना बनाता है, क्या इस तरहसे कोई परमात्मा बना है ? अथवा जैसे पत्थरमे मूर्ति बनायी जाती है तो वहाँ कारीगर कुछ जोडकर मूर्ति नही बनाता किन्तु हटा हटाकर मूर्ति बनाता है। जिस पाषाणमे कारीगर मूर्ति बनाना चाहता है उस पाषाणमे कारीगरको मूर्ति समझमे आ गयी कि यह चीज इसमे से निकालना है। अब कारीगर उन पाषाणोको हटाता है जो पाषाण मूर्तिका आवरण करने वाले है। बस उन पाषाणोको निकालने का ही काम वह कारीगर करता है। पहिले बहुत बडे-बडे पत्थर निकाला, फिर छोटे छोटे टुकडे निकाला, फिर महीन छेनीसे बिल्कुल छोटे छोटे कण निकाले जाते है। निकालने निकालनेका ही काम वह कारीगर करता है मूर्ति प्रकट हो जाती है। ऐसे ही समझिये कि परमात्मा बनानेके लिए

केवल निकालने-निकालने का ही काम पडा है, कुछ जोडनेका काम नही पडा है क्योकि परमात्मा होने पर जो बात प्रकट होती है वह निकालने निकालने से ही प्रकट होती है, जिस चीजपर मैल चढा हो उसको धोकर निकाल दो वह चीज साफ हो गयी। किसी चीजको साफ करने के लिए कुछ चीज लायी नही जाती किन्तु केवल हटाने हटाने का काम किया जाता है। बेचपर मान लो बीट वगैरह लगा है तो उसके साफ करने का अर्थ है कि जो परवस्तु लगी है उसे बिल्कुल हटा दें। चूंकि केवल छुडानेसे बिल्कुल नही हटता तो पानीसे धोकर हटाया जाता है हटाने से चीज वह वही केवल रह गयी, उसमे दूसरी उपाधि नही रही, इसीके मायने परमात्मा हो गया।

असत्यके निकल जाने पर ही सत्यकी प्रगटता—तो अपने आपमे खोजिये कि हममें कौन कौनसे तत्त्व असत्य पडे हुए हैं, उन्हें निकालिए। असत्य तत्त्वके पूर्णतया निकल जाने पर यह आत्मा केवल रह जायेगा और वही परमात्मा कहलायेगा। उस सत्यका जिसने आग्रह है वह सत्यकी दृष्टिके प्रतापसे निर्वाणको प्राप्त हो जाता है, शान्त होता है। सुखी होता है। और जिन्हे इस सत्यकी खबर नही है, सत्यका भाषण नही करते, लोकव्यवहार मे ही असत्य बोलते है, आत्मतत्त्वकी खबर भी नही है ऐसे पुरुष चाहे किसी भी प्रकारके धर्मका भेष रख ले किन्तु उनका हित नही होता। वे लोकमे निन्द्य ही है। असत्य सम्भाषण करने वाले की लोकमे भी प्रतिष्ठा नही है। अपने आपको सत्यका रुचिया बनायें और यह प्रकृति पडी है जीवमे कि वह सत्य जानना चाहता है।

दु खोंके दुर करनेका उपाय यथार्थ परिज्ञान—अपना क्या है, यथार्थ क्या है, यथार्थ तत्त्वका परिज्ञान हो जाना बस यही सर्वदु खोंको दूर करनेका उपाय है। भ्रम किया है इससे यह दु खी है। भ्रम दूर हो जाय, दु ख दूर हो जाय। दु ख किन्ही अन्य कारण कलापोसे दूर नही हो सकता किन्तु भ्रम समाप्त हो गया दु ख दूर हो गया। जैसे आप अपने मकानमे बडे आरामसे सोये हुए है और उस निद्रामे ऐसा स्वप्न आ जाय कि हम कही जगलमे जा रहे है, सामने से सिंह आ गया अथवा अमुक सर्प लिपट गया या कोई शत्रु मार रहा ऐसा स्वप्न आ जाय तो उस कालमे आप दु खी होते है या नहीं ? पर वहाँ न सर्प है, न सिंह है, न शत्रु है, केवल एक भ्रम हो गया है, एक स्वप्न आ गया है तो ऐसे स्वप्नसे जो दु ख उत्पन्न होता है उस दु खको क्या उस कमरेमे लगा हुआ पखा दूर कर देगा, अथवा वहाँ जो सेवक लोग बैठे हो अथवा कोई मित्रजन बैठे हो आपसे बड़ी प्रिय बातें करनेके लिए तो क्या वे आपके दु खको दूर कर देंगे ?

सत्य स्वरूपकी दृष्टिमें ही आनन्द—अरे स्वप्नमे भ्रमसे ही दु ख उत्पन्न हुआ है तो स्वप्न टूट जाय, निद्रा खुल जाय और चेत हो जाय तो तब समझमे आयेगा कि वह तो कुछ

नही था, मैं तो बडे आरामसे अपने घरके कमरेमे लेटा हू, उसके वे दु ख दूर हो जाते है। त्यो यो ही असत्यका हमने आग्रह कर रखा है, असत्यको सत्य माना है, शरीरको, वैभवको परिजन को अपना स्वरूप माना है, इनसे अपना महत्त्व माना है अतएव क्लेश होता है और जिन गृहस्थोको भी यथार्थ तत्त्वज्ञान है वे घरमे रहते हुए भी जलमे भिन्न कमल की भाँति अपनेको निर्लेप प्रतीत करते रहनेसे वे निराकुल रहा करते हैं। तो अच्छा यह है कि हम अपने आपके सत्य स्वरूपकी दृष्टि अधिकसे अधिक करें, क्योकि इस अशरण असार ससारमे केवल यह आत्मतत्त्व ही शरण है।

कुटुम्ब जीवितं वित्त यद्यसत्येन बर्द्धते।
तथापि युज्यते वक्तु नासत्य शीलशालिभि ॥५५८॥

आत्महितकारी वचनमें सत्यता--यदि सत्य वचनसे अपने कुटुम्बकी वृद्धि हो, जीवन और धनकी वृद्धि हो तो भी शोभित पुरुषोको असत्य वचन कहना उचित नही है। जो दूसरे प्राणियोका अहित करे ऐसे वचनोको असत्य वचन कहते हैं। ऐसा भी सत्य जो लोकव्यवहारमे तो जो पदार्थ जैसा है मायारूप, उसे वैसा कहे तो लोकमे कथनसे किसीका हित तो नही है और अहित है अनेकका तो ऐसे वचन भी असत्यकी कोटिमे आ जाते हैं। यद्यपि यह बात बहुत कम होती है। यथार्थ बात नियमसे प्राणियोके हितका ही कारण होती है। दूसरोके प्रति हितकारी वचन बोलनेमे अपना हित है। अहितकारी वचनोसे कुछ जीवन, धन वृद्धि भी होती हो तो भी वे वचन अग्राह्य हैं। जीवन क्या, आत्मा तो सदैव अमर है, स्वयं अनन्त आनन्दका धाम है। बाह्य पदार्थोमे इस आत्माका क्या वैभव, क्या समृद्धि है ? जो जितना है वह उतना ही रहता है। इस आत्मामे जो धर्म हैं, धन है, समृद्धि है वह आत्मासे कभी अलग नही होता। जो आत्माकी वस्तु नही है वह अनेक उपाय किये जाने पर भी आत्मामे आती नही है।

मोहका दुःख--मरणके समयमे जो लोग दु खी होते हैं वे मरणके कारण दु खी नही होते, किन्तु परवस्तुवोमे उन्हे मोह लगा है और वह है छोडकर जानेका समय तो उन्हे इस बातका क्लेश होता है कि इतना मोह करके, इतना श्रम करके तो हमने यह वैभव कमाया, दुकान मकान बनाया, इज्जत बढाया और अब ये छूटे जा रहे है, मरण समयमे परवस्तुके मोहके कारण दु ख होता है। जानेका दु ख नही होता है। कोई ज्ञानीपुरुष यथार्थ तत्त्व जानता है यह मैं आत्मा अमर हू, ये सब वैभव क्षणभगुर हैं, अहित हैं, पर हैं, इनसे मेरा कुछ सम्बन्ध नही है, परिचय भी नही है। जिन लोगोने मुझे पहिचाना, मेरे स्वरूपको नही पहिचाना किन्तु इस मायामयी मनुष्य पर्यायको उन्होने सब कुछ मान लिया।

सत्य ज्ञानकी संभालसे मरण समयमें समतापरिणामकी समर्थता—यह तो एक

ज्ञानमय पदार्थ हू ऐसी अपने ज्ञानकी संभाल कोई करले तो उसको मरण समयमे क्लेश नही होता। मरण सबका आयेगा। कर्तव्य यह है कि हम ऐसा ज्ञान बनायें कि मरण समय तत्त्वज्ञान रहे, समाधिपरिणाम रहे, रागद्वेष मोहका फसाव न रहे और अपने स्वरूपके स्मरण सहित, प्रभुके स्वरूपके स्मरण सहित प्रभुके स्वरूपके स्मरण सहित मेरा यहाँसे जाना हो इस बातका यत्न होना चाहिए और जब मरणका आये तो तब दूसरोको इसी प्रकारका यत्न कराये, उन्हे सम्बोधें। दूसरोंको जो समाधिमरण करते है उनको समतापरिणाम उत्पन्न करनेका उपदेश देते है, उनमे ऐसा आत्मबल प्रकट हो कि स्वयं अपने मरण समयमें समतापरिणाम बनानेमे समर्थ हो सकते है। क्या है, वैभव मिला तो, न मिला तो, यह जीवन रहता तो नही रहता, तो ये सब मायारूप चीजे हैं।

ज्ञानके बिगाड़में अपना अहित—मैं अपने आपमे यदि ज्ञानकी ओरसे बिगड गया तो बस यही मेरा बिगाड़ है। हे प्रभो! मेरेमे असत्यका आग्रह न जगे, सत्यके प्रति रुचि हो और सत्य भाषणका ही मेरा व्यवहार रहे, बस यही मेरे लिए एक वैभव है। यदि असत्य बोलकर कुछ भी बढा लिया मायारूप धन वैभव कुटुम्ब तो उसमे आत्माका क्या हित होगा? जो शीलवान पुरुष है, तत्त्वज्ञानी आत्मा है वह असत्य भाषणको कभी भी उपादेय नही समझता है।

एकत सकलं पाप असत्योत्थं ततोऽन्यत ।
साम्यभेव वदन्त्यार्यास्तुलाया धृतयोस्तयो. ॥५५६॥

असत्य आग्रहसे अंधेरापना—जैसे परमार्थमे एक विवेक तराजूके एक पलडेपर अज्ञानजनित पाप रख दे और एक पलडेपर हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील अन्यायसे शरीरकृत कार्योके पाप रख दें तो देखा जाय तो दोनो पाप समान होगे, अथवा यो भी कह सकेगे कि अज्ञान और मिथ्यात्वजनित पाप उन सब पापोसे भी अधिक पाप हुआ। यो ही व्यवहारकी बातोमे भी यही समझिये कि एक असत्य सम्भाषणका पाप विवेक तराजूके एक पलडेपर रखिये और एक ओर सकल पाप तो वे दोनो पाप उस तुलामें समान प्रणीत होगे। इस प्रकरणमे सत्य महाव्रतका वर्णन किया जा रहा है और प्रकरणानुसार असत्य पापका वर्णन किया गया है, वह कितना कठिन और जीवोका अहित करने वाला है। असत्यकी रुचि, असत्यका आचरण, असत्यका सम्भाषण ये जीवको अज्ञान अंधेरेमे डाल देते है। पापी पुरुष आत्माके ध्यानका पात्र नही रहता।

आत्मध्यानसे मानवजीवनकी सफलता—आत्मध्यान ही सर्वसंकटोके दूर करनेका एक मात्र उपाय है। हम प्रभुके दर्शन करते है, वहाँ हम क्या करना चाहते है। प्रभुके स्वरूपको चितारकर अपने स्वरूपकी खबर मिले, मैं भी ऐसा ही चैतन्यस्वरूप हू जो अनन्त

आनन्द, अनन्त चतुष्टय प्रभुमे प्रकट हुए है ऐसा ही मेरा स्वभाव है। भगवानमे निज सत्य की खोज कीजिए। तो सत्यसे प्रेम जगना, सत्यका ही भाषण करना, सत्यके लिए ही अपना आशय बनाना यह एक उन्नतिका उपाय है। सर्वकार्योंके होते हुए भी सत्यकी रुचि जगे तो वह आदमी धन्य है, उसका जीवन सफल है। हम समागमोके मोहमें न फसें, इसे एक गृहस्थीका कर्तव्यभर मानें और मुख्य कर्तव्य समझें। हम अपने आपके शुद्ध सहज सत्य स्वरूपका परिचय पायें और अपने ही अन्तस्तत्त्वके निकट रहकर अपनेमे सन्तोष करे, इसका यत्न हो और एतदर्थ ऐसा ही ज्ञानका अभ्यास चले तो इससे इस नरजीवनकी सफलता है।

मूकता मतिवैकल्यं मूर्खता बोधविच्युति ।
बाधिर्यं मुखरोगित्वमसत्यादेव देहिनाम् ॥५६०॥

असत्य भाषणसे इन्द्रिय विकलता—असत्य भाषण करनेसे पुरुषोको अनेक विपदायें प्राप्त होती है। जो पुरुष गूंगापन पाते हैं, मुखसे बोल नही सकते है ऐसी बात प्राय यह सम्भव है कि असत्य भाषणके फल मे मिली है। मनुष्यको ५ इन्द्रिय और विशिष्ट मन प्राप्त हुए है। इनका उपयोग यदि विषयकषायोमे ही करते है तो इसका फल यह है कि मानो कर्म यह सोचेगा कि इसको इन्द्रियकी आवश्यकता नही है। अमुक इन्द्रियका इसने ठीक उपयोग नही किया तो वे इद्रिया ही न मिलें, स्थावर बन जाय। जो मनुष्य असत्य भाषण करता है तो उसे मानो जिह्वाकी आवश्यकता नही है क्योकि इसने जिह्वाका दुरुपयोग किया। किसी भी व्यक्तिके सम्बन्धमे कोई असत्य बात कहे, किसी की निंदा करे, चुगली करे, झूठी गवाह दे ये सब बातें घोर अन्यायकी है। और, ऐसी सम्भाषण करने वाले लोग परभवमे गूगे बनते हैं। जो लोग मतिहीन देखे जा रहे हैं, जिनमे बुद्धि नही, दिमाग नही चलता, बुद्धि काम नही देती, दिमाग कमजोर है ऐसे कोई मनुष्य उत्पन्न होते है तो समझना कि असत्य भाषणका प्रताप है।

असत्य भाषणसे बुद्धिकी अप्राप्ति—असत्यभाषणसे जो खोटा आशय बनता है उस आशयमें ऐसा कर्मबध होता कि फिर अगले भवमे उसे बुद्धि नही प्राप्त होती और अगले भवकी बात क्या, असत्य सम्भाषण करने वाले के इस ही भवमे बुद्धि सिथिल हो जाती है। मनुष्यका दो बातोसे प्रयोजन है—एक तो आजीविका चले और एक धर्मका पालन हो। जिन बातोमे न तो अजीविकाका सम्बन्ध है और न धर्मपालनका सम्बन्ध है और फिर भी उन्हे किया जाय तो यह दुरुपयोग है बुद्धिका। हाँ कोई आजीविकामे बहुत भारी विघात होता हो तो उसका कुछ ध्यान रखें, या धर्ममे कोई बाधा होती हो तो ध्यान रखें, पर यह मनुष्य अपना शेष समय कितना व्यर्थकी बातोमे गवाता है। गप्पोमे, विकल्पोमे, व्यर्थके झगडोमे, विवादोमे पडनेसे क्या प्रयोजन। जो सज्जन पुरुष होते हैं वे व्यर्थकी बातोमे नही पडते।

जिनमे कोई खास प्रयोजन हो उनमे ही अपना उपयोग लगाते है। जो पुरुष अधिक बोलते है, असत्य बोलते है वे पुरुष बुद्धिहीन बनते है। मूर्खता भी असत्य भाषणका अभिशाप है। अज्ञानता भी असत्य भाषणसे मिलती है। बहिरे होना, मुखमे रोग होना ये सब बाते असत्य भाषणसे बधे हुए कर्मका फल है।

सत्य भाषणपना शुद्ध आशय बिना नहीं---सत्य भाषण वही कर सकता है जिसका आशय पवित्र हो, व्यर्थके राग विरोध न हो, इन परिग्रहोमे आशक्ति न हो। जिसे यह सही बोध है कि मेरा आत्मा केवल अकेला ही है, अकेला ही आया, अकेला ही जायगा, सर्वत्र अकेला है, सुख दु ख भोगता है वहा भी अकेला है, रागद्वेष करता है वहाँ भी अकेला, संसार मे रुलता है सो भी अकेला, मोक्ष पाये सो भी अकेला। इस आत्माका कोई दूसरा साथी नही है। उस ही आदमीकी ऐसी विरक्ति होगी कि वह असत्य भाषण न करेगा, जो असत्य बोलते है उन्हे आत्माकी सुध नही होती, न आत्माका ध्यान कर सकते। जगतमे अन्य किसी पदार्थका भी ध्यान करे, वैभव, मित्रजन, परिवार, यश कितनी भी चीजोका ध्यान करें, उनकी आशा रखें उसमे शान्ति तो न मिलेगी।

आत्माका शुद्ध ज्ञान शान्तिप्रदायक—खूब परख लो। शान्तिका कारण है आत्मा का शुद्ध ज्ञान। शुद्ध ज्ञान वह कहलाता जहाँ प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमे नजर आता है। अभी हम बोल रहे, आप सुन रहे इस प्रसंगमे कुछ लोग यह सोच सकते है कि वक्ता हमे समझा रहे है, लेकिन ऐसी बात नही है। वक्ता जो कुछ भी बोलता है वह अपने भावो के अनुसार अपनी शान्तिके लिए जो मनमे एक मदकषाय उत्पन्न हुई है उसकी पूर्तिके लिए अपनी चेष्टा करता है, श्रोताजन अपने ही परिणमनसे, अपने ही ज्ञान पौरुषसे एक मात्र निमित्त पाकर अपनेमे ही अपना निर्णय करते हैं। न कोई समझता है और न किसीके समझानेसे कोई समझता है। इसी प्रकार कोई सोचता हो कि मेरा अमुकसे राग है, मेरा मुझमे बडा प्रेम है यह बात भी असत्य है।

दो द्रव्योंमें असम्बन्धपना--- कोई मनुष्य किसी दूसरेसे प्रेम कर ही नही सकता। जो करता है प्रेम वह अपने आपमे अपनी कषायकी पूर्तिके लिए अपना परिणमन करता है। उसको देखकर दूसरा चूँकि वह अनुकूल परिणमन है यह मान बैठता है कि यह मुझसे राग कर रहा है। कोई जीव किसी दूसरे जीवका कुछ भी करनेमे परमार्थत. समर्थ नही है। केवल एक निमित्तनैमित्तिक परिणमन है, हो रहा है। यहाँ यह निर्णय कीजिए कि हमारी भलाई किसमे है। यो तो अनादिसे जन्म लिया, मरण किया, यों परम्परा चली आयी और आज हम मनुष्य हुए, लेकिन ऐसी जन्म और मरणकी परम्परा ही चलाते रहे तो तत्त्वकी बात क्या प्राप्त की ?

ज्ञानीके गृहस्थीमें निर्लेप रहनेकी बात—देखिये गृहस्थीका जीवन भी, गृहस्थका धर्म भी बहुत महत्त्वकी बात रखता है। घरमे रहते हुए भी घरमे निर्लेप रहना और गृहस्थीका निर्वाह करना, यह बात एक असाधारण है, किसी साधारण मनुष्यसे यह बात नही निभ सकती। ज्ञानी हो, समर्थ हो वही पुरुष इस बातको निभा सकता है और आनंद भी उस तत्त्वका आता है जो तत्त्व हमारी दृष्टिमे समाया है। गृहस्थ घरमे रहता है, रहे, किंतु वह ज्ञानी है और उसकी दृष्टिमे प्रभुका आत्माका शुद्ध स्वरूप समाया है तो उसका आनद विलक्षण है। कोई मनुष्य घर छोडकर एक त्यागभेष भी बनाये किंतु वह घर गृहस्थीकी लालसा रखे तो ऐसा त्याग करने पर भी उसने रस तो गृहस्थीका ही लिया। वहाँ आत्मीय आनद नही जगा।

दृष्टिके अनुसार आनन्द प्राप्तिपर दृष्टांत—स्थिति कुछ भी हो, भेष कैसा ही हो, किंतु दृष्टि जैसी होगी आनंद वैसा प्राप्त होगा। इसके लिए एक उदाहरण दिया जा रहा है। राजसभामे राजाने अपने मंत्रीको नीचा दिखानेके लिए एक बात छेड दी कि हे मत्री आज रात्रिको मुझे ऐसा स्वप्न आया है कि हम और तुम दोनो घूमने जा रहे थे, रास्तेमे दो गड्ढे मिले, एकमे मैला भरा था और एकमे शक्कर भरी थी, सो हम तो गिर गए शक्करके गड्ढेमे और तुम गिर गए मैलेके गड्ढेमे। तो मत्री बोला महाराज हमे भी ऐसा ही स्वप्न आया कि हम तुम दोनो कही घूमने जा रहे थे, सो शक्करके गड्ढेमे आप गिर गये, मैलाके गड्ढेमे मैं गिर गया, पर एक बात और देखी कि आप हमे चाट रहे थे और हम आपको चाट रहे थे। अब सोचिये कि मत्रीने तो चाटा शक्कर और राजाको चटाया मैला। तो ऐसे ही समझिये कि ज्ञानी पुरुष गृहस्थीमे भी रहता है किंतु उसे तात्विक निर्णय है कि समस्त समागम असार हैं, अहित हैं, भिन्न हैं, विनाशीक हैं, इनसे मेरा स्वरूप नही है।

ज्ञानीके आत्मस्वरूपमें हितपनेका निर्णय—मेरा हित, मेरा स्वरूप तो मेरे आत्मामे ही है। ऐसी अपनी प्रतीति रखता है तो वह स्वाद ले रहा है आत्मीय आनन्दका। कोशिश यह रखना चाहिए कि इस ज्ञानदृष्टिमे अधिकाधिक बढे, बडा होने से, वैभववान होनेसे, जैन शासनके सुयोग पानेका यही एक फल है कि हम ऐसी चीज पा लें जो चीज ससारमे अतीत दुर्लभ है। आप बारह भावनामे पढते हैं ना—धन कन कचनराज सुख, सबहि सुलभ कर जान। दुर्लभ है ससारमे एक यथारथज्ञान॥ सभी चीजें सुलभ है, बडे-बडे राजपाट भी सुलभ है पर आत्माका यथार्थज्ञान होना अतीत दुर्लभ है।

सत्य ज्ञानसे अपनी समृद्धि—अब देख लीजिए कि हम उस दुर्लभ ज्ञानके पानेके लिए—कितना तन, कितना मन, कितना धन और कितना वचन लगाते हैं, और जो असार

है उन विषयकषायोंकी पूर्तिके लिए भोगोपभोगमे हम कितना तन, मन, धन, वचन लगाते हैं, कुछ विवेक करना चाहिए और इस पर खेद लाना चाहिए कि हमारा ज्ञानार्जनके लिए विशेष पुरुषार्थ नही जग रहा है। कोशिश यह करें कि ज्ञानार्जनका विशेष पुरुषार्थ करे, सत्य ज्ञान होगा तो सत्य भाषरा भी होगा, और सत्य भाषरा होगा तो इस लोकमे भी समृद्धि मिलेगी और परलोकमे भी समृद्धि मिलेगी।

श्वपाकोलूकमार्जारवृकगोमायुमण्डला ।
स्वीक्रियन्ते क्वचिल्लोकैर्न सत्यच्युतचेतस ॥५६१॥

आत्माके उद्धारक वचन सत्य—सत्यका ऐसा रुचिया होना चाहिए कि उसे उस सत्यकी दृष्टिके सिवाय सब कुछ नीरस लगने लगता है। अपने आपको सोचो तो सत्य ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र। ऐसा ही सबको निरख कर व्यवहार करे तो हित मित प्रिय वचनसे व्यवहार करे। जो पुरुष सत्यसे डिगे हुए है उनकी प्रतिष्ठा नही होती। लोग चाहे पागल उल्लू, बिलाव कुत्ता आदिक निकृष्ट जीवोंको भी स्वीकार ले, उन्हे भी भला मान ले पर असत्य बोलने वालेको कोई भला नही मानता वह झूठा है, उसे कोई अपनी गोष्ठीमे भी नही जुडने देता। असत्यवादी इन सब जीवोसे भी अधिक निन्द्यनीय है, असत्य उसे कहते है जो दूसरे पुरुषोका अहित करे। विषय कषायोमे लगाने वाले वचन भी असत्य वचन कहलाते है। जो इन्द्रियपोषरणके लिए गप्प सप्प किए जाते है वे असत्य वचन कहे जाते है। आत्माका जिसमे उद्धार हो ऐसे वचन बोलना सो सत्य वचन कहलाता है परमार्थसे। ऐसा जानकर असत्यके आग्रहको तज दे।

सत्यके आग्रह द्वारा धर्म अधर्मका निर्णय—देखिये धर्मके नाम पर आजकल सभी लोग अपनी अपनी बात बोलते है, अपने धर्मको सत्य और दूसरेके धर्मको असत्य कहते है। यदि किसी कल्याणार्थीको यह शंका हो जाय कि जब सभी लोग अपनी तूती बजाते हैं तो हम किसको सत्य मानें ? तो मेरा कर्तव्य यह है कि सबके धर्मकी बात छोडकर जिस धर्मको अपने कुलमे भी माना जा रहा हो उसका भी विकल्प तोडकर यदि स्वय सत्यका आग्रह करके विश्रामसे बैठ जायें और आचरणोसे समस्त परवस्तुवोके विकल्पको त्याग दे, इतना तो ज्ञान होना ही चाहिए कि सभी परपदार्थ अहित है, उनके विकल्पमे लाभ नही है, ऐसा समझकर सबका ख्याल छोड दे, विश्रामसे बैठ जाये तो अपने आप ही अपनेमें वह अनुभव जगेगा, वह आनन्द प्रकट होगा जिसके अनुभव होने पर स्वय निर्णय हो जायेगा कि धर्म यह है और अधर्म यह है।

उत्कृष्ट समागम प्राप्त कर अपनेसे परिचय करना आवश्यक—देखिये कितना उत्कृष्ट समागम है। देव मिला हमे तो ऐसा मिला जो निर्दोष है, गुरणसम्पन्न है, जिसमें न श्रृङ्गार

का नाम है, न कौतूहलकी कथायें हैं, न विडम्बनाकी कोई बात है। एक आत्मदर्शन कराने वाली मूर्ति है। जिनशासनमे गुरु होते हैं तो निवृत्तिकी ओर बढे हुए होते हैं प्रवृत्तिका काम नही है। जिन शास्त्रोमे विषय कषायोके त्यागका उपदेश भरा है, कषाय करने का उपदेश नही है ऐसे देवशास्त्र गुरुका समागम पाकर हम अपने आपके आत्माको ज्ञानसे प्रकाशित न कर सके तो भला बतलावो फिर कल्याणके लिए और मौका कौनसा होगा ? हम अपने आपमे बसे हुए सत्य स्वरूपका आग्रह करे और उसी चर्यामे समय बितायें।

प्रसन्नोन्नतवृत्ताना गुणाना चन्द्ररोचिषा।
सङ्घात घातयत्येव सकृदप्युदित मृषा ॥५६२॥

एक बार भी असत्य प्रलापसे राजा वसुको नरककी प्राप्ति—कोई मनुष्य एक बार भी झूठ बोल दे तो बडे बड़े ऊचे गुणोके समूहको भी नष्ट कर देगा। एक राजा बसु हुए है जो सत्य बोलनेमे बडे प्रसिद्ध थे। उनके सत्य बोलनेके प्रतापका वर्णन ऐसा आता है कि उनका सिहासन भी पृथ्वीसे कुछ अधर रहता था। लेकिन एक बार जब पर्वत और नारद का विवाद हुआ तो नारदका कथन था कि अजै अस्तव्य, जिसका अर्थ है जो डगे नही ऐसे पुराने धानसे यज्ञ करना चाहिए और पर्वतका कहना था कि अज मायने बकरेसे यज्ञ करना चाहिए। इसका निर्णय करनेके लिए बसु राजाको दोनोने स्वीकार किया। पर्वतकी माँ राजा बसुके पास पहुची। कहने लगी कि हम तुमसे गुरु दक्षिणा लेने आई हैं, क्या तुम दक्षिणा दोगे ? हाँ हम देंगे। फिर पर्वतकी माँ ने सारा कथन सुनाया और कहा कि तुम यह कह देना कि जो पर्वत कहता है सो ठीक है। तो जब विवाद चला तो राजा वसुने कह दिया कि जो पर्वत कहता है सो ठीक है। यो एक बार झूठ बोलनेके प्रतापसे उसका सिहासन जमीनमे धस गया, बसुका प्राणात हुआ और नरक गया। एक बार असत्य बोलने का परिणाम यह हुआ। बहुतसे लोगो को असत्य बोलनेकी प्रकृति पड जाती है।

असत्य समागमोंसे मुख मोड़ो—जगह-जगह असत्य बोलते हैं पर उन्हे यह पता नही कि असत्य बोलनेसे अपना यह आत्मदेव ढका रहता है, परमात्मतत्त्वके दर्शन नही होते है। जिसे अपने निराकुल आत्मस्वरूपका भान नही है वह कहाँ दृष्टि लगाकर संसार के इन कठिन सकटोको दूर करे ? असत्य भाषणसे दूर रहे और असत्य जो ये समागम हैं इन समागमोका भी हठ न करे, इनमे ममता न करे, जो हैं सो ठीक है, उनके ज्ञाता द्रष्टा रहे।

न हि स्वप्नेऽपि संसर्गमसत्यमलिनै सह।
कश्चित्करोति पुण्यात्मा दुरितोल्मुकशङ्कया ॥५६३॥

सत्संगति हितकारी—जो सज्जन पुरुष हैं वे असत्य पुरुषोकी सगति कभी नही

करते, क्योकि जो असत्यसे मलिन पुरुष है उनके साथ संगति करनेसे असत्यकी कालिमा ही लग सकती है, इस भयसे सज्जन पुरुष स्वप्नमे भी असत्यवादी पुरुषोकी सगति पसद नही करते है। देखिये सत्यके मायने हित भी है। सत्य क्या है जो मेरे लिए हितरूप हो।

ज्ञानानन्दस्वरूपकी दृष्टिमें हित--मेरे लिए हितरूप क्या है? कुछ तो जीवनमे भी देख लिया होगा, स्त्री, पुत्र, वैभव इत्यादिके प्रसग, लौकिक इज्जत, लोगोको खुश करना यह सब क्या हितरूप रहता है, इसमे क्या निराकुलता मिल सकेगी? ये सब मायारूप है, असार है, एक अपने आपके ज्ञानस्वरूप की दृष्टि होना, सबसे निर्मल हूं मैं, केवल ज्ञानानन्द हू मैं, इस प्रकारका निर्णय रखना, सबके विकल्प छोडना ऐसा परम विश्राम कोई अपने मनको दे तो वहाँ सत्य नजर आयेगा। वह सत्य क्या? जो प्रभुके प्रकट हुआ है वही सत्य है।

दुःखके कारण अहंकार और ममकार--जीवको दुख देने वाले दो परिणाम है-- अहकार और ममकार। अहकारके मायने है कि जो मैं नही हू उसे मानना कि मैं हू, ममकार का अर्थ है--जो मेरा नही है उसे मानना कि मेरा है, यह ममकार है। अहंकारमे कर्तृत्वबुद्धि बसी है, मै सुखी करता हू, दुखी करता हू, यह बात अहंकारमे पडी हुई है। अहकारसे राग और द्वेष बढता है। आप सोच लीजिए--जरा-जरा सी बातमे जो क्रोध आने लगता है, घमड आने लगता है वह अहंकारका ही तो काम है। इस लोकमे घमंडके लायक कौन सी बात पायी है? यदि ज्ञान मिला है तो केवलज्ञानके सामने यह ज्ञान क्या चीज है, यदि धन मिला तो चक्रवर्तीके जैसे वैभवके सामने यह धन किस प्रमाणका है? कौनसी बात ऐसी मिली है जो अभिमानके लायक हो? सब विनश्वर समागम है। ये समागम गौरवके लिए नही है। ये तो आत्माको पतनमे ले जाने वाली चीजे है, जहाँ यह मैं ज्ञानसमुद्र अपने आपमे मग्न न हो सकूं और नाना तरगोसे विकल रहा करूं तो वह तो बरबादी की निशानी है। समागम वह श्रेष्ठ है जो एक दूसरेको धर्म मे लगाये। घर गृहस्थी वही उत्तम है जहा सभी व्यक्ति एक दूसरेको धर्ममे लगाये।

आत्माके अहितकारक विषय और कषाय--जो पापोमे लगाये वे बन्धु नही है वे तो शत्रु है, पाप है ये विषयकषाय। प्रभुके सामने हम यही तो कहा करते हैं कि हे प्रभो! आत्माके अहित विषय और कषाय है, इनमे हमारी परिणति न जाय। यही तो हम माँगते हैं, तो केवल कहने कहनेसे ही तत्त्व न निकलेगा। हम विषय कषायों की परिणतिको कम करें तब हमारी सिद्धि है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी आराधना यह प्रभु नही बने। तो प्रभुदर्शनसे हमे वह बात सीखनी है कि जो प्रभुने किया वही मैं कर सकता हूं। यह बात सम्भव है सम्यग्ज्ञानसे। सम्यग्ज्ञानके लिए अधिकसे अधिक यत्न करिये।

स्वाध्यायसे निराकुलता—अब सोचिये–लोग सोचा करते हैं कि हम अधिक पढे लिखे नही है ग्रन्थोका स्वाध्याय क्या करें ? तो जो भी पढे लिखे आज हैं और ग्रन्थोके पाठी है वे कही जन्मसे तो सीखे हुए नही है। किसी कामको कठिन मानकर उससे यदि दूर रहे तो वह काम कभी सरल नही बन सकता। कठिन है फिर भी उसमे प्रवृत्ति करें, अपने आप सीखे, दूसरोको सिखायें तो कुछ समय बाद वह चीज सरल बन सकती है। जिसके ज्ञान होगा वह अपने आपमे सन्तुष्ट हो सकता है, उसका समय निराकुलतामे बीत सकता है। जिसमे ज्ञान नही है वह खाली बैठा हुआ क्या करेगा ? विकल्प मचायेगा, उसका जीवन आनन्दमे कट नही सकता। ज्ञानसे बढकर और कुछ वैभव है ही नही। तो उस ज्ञानका हम यत्न किस तरहसे करे।

स्वाध्याय और सत्संगतिसे विषय कषायोंमें अनासक्ति—उसका उपाय एक तो स्वाध्याय है। दूसरे अपने ही गाँवमे नगरमे और कोई भी कुछ अधिक पढे लिखे हो उनको मानकर कोई किताब कुछ न कुछ रोज पढें, ये है ज्ञानार्जनके उपाय। कोई करे तो पा सकता है, न करे, यो ही मजाकमे टाल दे तो वह ज्ञान नही पा सकता। तीसरा काम यह है कि वर्षमे कमसे कम एक माह अपना घर छोडकर किसी ऐसे सत्सगमे रहे जहाँ ज्ञानकी बात मिलती हो। उससे कितना लाभ है ? मोहमे कुछ फर्क आ जाता है, ज्ञानमे कुछ उज्ज्वलता आ जाती है, बुद्धिमे भी बल बढ जाता है, बादमे फिर घरमे आकर भी ऐसा प्रकाश पाता है कि वह किन्ही विषय कषायोमे आसक्त नही हो सकता है तो ये दो विशाल उपाय है जिनको करना हमारा काम है। हम यदि ज्ञानदृष्टि बना सके, अपने आपको ज्ञान-रूप मान सके तो हम कर्मोंको काट सकते हैं, जिन कर्मोकी प्रेरणामे हम नाना दुर्गतियोमे जन्म लिया करते है। कर्मध्वस करनेके लिए ही तो प्रभु पूजा करते हैं।

ज्ञानाराधनासे कर्मोंका मोचन—स्वाध्याय, ध्यान आदि करना, पर्व मनाना, इन सबका प्रयोजन है हम अपने भव-भवके बाँधे हुए दु सह कर्मोंको काट दें, तो दु सह कर्म कटते हैं एक ज्ञानकी आराधनासे। अपने आपमे बहुत-बहुत बार जरा ऐसी भावना तो कीजिए कि मैं देहसे भी न्यारा केवल ज्ञानमात्र हू, ऐसी दृष्टि भी बनायें। मैं शरीरसे भी न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, मुझमे केवल ज्ञानप्रकाश है। ज्ञानज्योतिके सिवाय अन्य कुछ मुझमे नही है। न मुझमे रूप है, न रस है, न गध है, न स्पर्श हैं। मैं तो केवल ज्ञान-स्वरूप हूँ, ऐसी प्रतीति रखे तो इस प्रतीतिमे वह अद्भुत आनन्द जगता है जिस आनन्दसे ये कर्मसंकट सब दूर हो जाते हैं। यही अनुभव करना हमारा कर्तव्य है।

जगद्वन्द्ये सता सेव्ये भव्यव्यसनशुद्धिदे।
शुभे कर्मणि योग्य स्यान्नासत्यमलिनो जन ॥५६४॥

असत्यवादियोंको शुभकार्य करनेका निषेध—असत्य वचन बोलना इतना निन्द्यनीय है कि शुभ कार्योमें लोग असत्यवादी को सामिल नही करते है। जो शुभ कार्य है उनमे लोगोको विधवा स्त्री वगैरहका परहेज रहता है। वस्तुत असत्यवादी कोई मालूम पडे तो उसे कोई शुभकार्योमे हाथ नही लगने देते है। जो शुभ कार्य सारे जगतके द्वारा वदनीय है, कष्टोसे बचाने वाले है ऐसे शुभ कार्योमे असत्यवादी पुरुष योग्य नही गिने जाते है। जैसे कोई महायज्ञ हो, विधान हो, पचकल्याणक वगैरहका शुभ कार्य हो और मालूम पड जाय कि अमुक आदमी एकदम असत्यवादी है तो ऐसे पुरुषको लोग इन शुभकार्योमे सामिल नही करते। शुभकार्योमे झूठका अधिकार नही है। और, मान लो कोई लोकव्यवहारमे उसे सामिल करले तो वास्तवमे उस झूठे पुरुषको शुभकार्योमे सामिल होनेका अधिकार नही है। जैसे कोई व्यसनी आदमी, परस्त्रीगामी आदमी, वेश्यागामी आदमी पूजा करे तो उसे पूजा करनेका अधिकार नही है। ऐसे पुरुषोको शुभकार्योमे सामिल होना योग्य नही बताया है। देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, तप, दान, संयम वगैरह ये शुभकार्य है। जो लोग झूठे हो, पापी हो, अन्यायी हो, दगाबाज हो वे यदि दान करे तो भी वास्तवमे वह दान नही है। उनका दान केवल लोकमे पाप धोनेके लिए है। जो न्यायकी कमाई करे, सत्यवादी हो वह दान देनेका अधिकारी है, उसका ही दान वास्तविक दान है।

प्रभु पूजनमें स्वरूप ग्रहण—प्रभु पूजामे जो प्रभुका स्वरूप है सो अपना स्वरूप है, प्रभुके पूजनमे अपना ही स्वरूप पूजा जाता है। प्रभुपूजामे मुख्य काम है अपने स्वरूपका ग्रहण करना। अपने स्वरूपका ग्रहण क्यो नही हो पाता, उसका कारण है एक तो बाह्य परिग्रहोमे रागद्वेष ममता आशक्ति है। दूसरा कारण यह है कि प्रभुका और आत्माके स्वरूपका भली भाँति परिचय नही किया। तो अपने स्वरूपको ग्रहण करनेके लिए दो यत्न करना चाहिए। प्रथम तो यह यत्न करें अथवा ज्ञान रखकर, विवेक रखकर यह निर्णय रखे कि जब यह देह भी मेरा नही है तो फिर अन्य किसके लिए इतनी उछलकूद मचायें। घरमे जितने लोग है उन सबका उनके साथ अपना-अपना भाग्य लगा है। कोई माने कि मैं इन परिजनोंको पालता पोषता हू तो यह उसकी कल्पना है। यो कहो कि परिवारके लोगोका इतना पुण्य है कि जिसके पुण्यसे प्रेरित होकर मैं इतने विकल्प करता हू, इतने श्रम करता हू। तो पुण्य अपना नही उनका है जिनके पुण्यकी वजहसे रात दिन श्रम किया जाता है, खुद आरामसे नही रह पाते। तो जिनका इतना पुण्य है उनके लिए क्या चिन्ता करना ? तो कुछ साधारण विवेक इस प्रकारका रखे और आत्माके स्वरूपका परिचय करे। उसका परिचय ज्ञानाभ्यास से होगा और कुछ प्रयोगसे होगा। ज्ञानाभ्यासमे तो पदार्थका स्वरूप जानना चाहिए।

पदार्थ स्वरूपका ज्ञान उपादेय—६ जातिके पदार्थ है-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। उसमे जीव जाति सब एक समान है चैतन्य स्वरूप। जिसका यह चैतन्यस्वरूप निर्दोष हो गया, मलरहित हो गया वह परमात्मा कहलाता है, और मेरा चैतन्यस्वरूप अभी मलिन है लेकिन मुझमे वही शक्ति है जो प्रभुमे है। प्रभुके उस केवलज्ञानस्वरूपको देखे और उसके कारण अपने आपमे ज्ञानमात्रको निहारनेका यत्न करे तो हो स्वरूपका परिचय और एक हो साधारण सी विरक्ति। जब तक ज्ञान और वैराग्य ये दो न होगे तब तक आत्माकी पूजा नही बन सकती। तो ऐसा करनेके लिए मनुष्यको सब कुछ लगाकर करना चाहिए। लोग शान्तिके लिए बडा यत्न करते है, बडा श्रम करते है पर शान्ति जिसमे है उसका श्रम नही करते। शान्तिस्वरूप स्वय यह आत्मा है, उस आत्माको ऐसा शान्त निरखनेका यत्न नही करते। बाहरी पदार्थोंमे ममता लगी है उससे परेशानी मची है। अब आप यह समझिये कि २४ घंटेमे चौबीसो घंटा विकल्प ही तो करते है। है। रात दिन सोते समयमे भी विकल्प होते है तो निरन्तर ऐसे विकल्पोका लाभ क्या तुमने लूट लिया ? कामके समय खूब डटकर काम करो, व्यवसायमे, धनार्जनमे खूब दिल लगाकर काम करो पर रात दिन चौबीसो घटा धनार्जनके ही पीछे रहने से क्या लाभ मिलता है ?

ज्ञान बनाये बिना हमारा गुजारा नहीं—ज्ञान बनाये बिना किसीका गुजारा नही है। विवेक वही है कि कुछ तो विरक्ति हो। एकदम तो बाह्य पदार्थोंमे आशक्त न रहे। आ जाय खराब परिस्थिति तो आने दो, रामचन्द्र जी ने तो बनवास स्वीकार किया था, इससे बढकर और क्या बात होगी ? वहाँ भी वह आनन्दमें रहे क्योंकि उनके ज्ञान था। वे मोह ममताको फटकने न देते थे। अपना कर्तव्य समझते थे।

विवेक बिना मनुष्य पशु तुल्य—अपने कर्तव्यकी दृष्टि आये तो समझो मनुष्यका जन्म है, नही तो कमानेमे, आहारमे, निद्रामे जो पशुकी बात है सो अपनी बात चल रही है। लडके बच्चोसे पशु भी राग करते, उन्हे भी अपना मानते, उनके पीछे श्रम करते है, उनके पीछे अपनी जान लगा देते हैं, वही बात यहाँ मनुष्योमे हो रही है। धनकी बात यह है कि पशु धन कहाँ रखे, उनके घर नही, हाथ पैर भी उनके बेढगे हैं, बोली वाणी भी अक्षररूप नही है, अगर उनकी वाणी अक्षररूप होते, हाथ पैर ढगके होते तो वे भी धनार्जन करते, वैभवको महत्त्व देते। तो उसमे अन्तर यह आया कि मनुष्यने शृङ्गार साज रहन सहन ढंग कपडे सारी चीजे तो विलक्षण बना रखी है। मान लो पशुवोकी भाति ये मनुष्य भी नग्न रहते तो जंगलमे बन्दर भी तो फल फूल वगैरहसे पेट भर लेते हैं, यह मनुष्य भी फल फूल वगैरहसे जगलोमे पेट भर लेता। पर मनुष्यने तो अपना

शृङ्गार बनाया, भेषबूषा बनाया जिससे ये सारे उपद्रव करने पड़ते है और साथ ही मनुष्य मे एक ऐब यह लग गया कि वह दुनियामे अपनी नामवरी चाहता है। पशु अपनी नामवरी नही चाहते है। मनुष्य तो नामवरीके पीछे परेशान है। पेटके लिए धन नही जोडता। पेट पालनके लिए तो साधारण श्रमसे भी पेट पल जाता है मगर लोकमे मेरी इज्जत हो, नाम हो, हम सबमें शानसे रहे इसके लिए इतना धन कमाया जाता है। बतावो करोडपती बननेकी क्या जरूरत ? केवल दो रोटीसे पेट भरा जाता, इतनेके लिए करोडपती होनेकी क्या जरूरत है मगर करोड़पती अरबपती होना चाहते है, सन्तोष किसीको नही है।

इज्जत चाहनेकी विपदा—मनुष्यमे सबसे बडी विपदा यह लग बैठी कि यह मनुष्य नाम चाहता है, इज्जत चाहता है। तो जिस आत्माके ज्ञान नहीं है वह इज्जत ही तो चाहेगा। जिस आत्माके ज्ञान है वह धर्मको चाहेगा। दुनिया कुछ कहे, दुनिया किसी ढंगसे रहे, पर अपने आपमे सन्तोष है शान्ति है तो अपने आपका भला है। मनुष्य ज्ञानी हो तो वह नामवरी नही चाहता, आत्मानुभव चाहता है। अनेक-अनेक बार आत्माका अनुभव जगे इस ओर धुन रहती है, और जो अज्ञानी जन है उन्हे आत्मतत्त्वका परिचय तो मिला नही तो कही न कही लगेगा। आत्मामे तीन गुण है--दर्शन, ज्ञान और चारित्र। दर्शनका काम श्रद्धा रखना, ज्ञानका काम जानना, चारित्रका काम किसी न किसीमे लगे रहना, ये तीन बाते प्रत्येक जीवमे पायी जाती है। जिसका जैसा श्रद्धान होगा वैसा ही ज्ञान होगा और उसी जगह वह लगेगा।

ज्ञानीके सत्य आशय—ज्ञानी पुरुषको आत्माके सत्यस्वरूपका श्रद्धान है, मैं ज्ञानमात्र हू, देहरूप नही हू, ऐसा भावरूप नही हू। ज्ञान आत्माका स्वभाव है तो उसका ही ज्ञान करना चाहता है और उस ही ज्ञानस्वरूपमें लगनेका यत्न करते है तो ज्ञानी जन ज्ञान में लगते है, अज्ञानी जन अज्ञानमे लगते है। जिसने निज ज्ञानस्वरूपको पहिचाना उसने सत्यको पहिचाना। और, उसकी ही जो वार्ता करे वह सत्यवादी है। तो सत्यवादी जगतमे पूज्य है, वदनीय है, और जो झूठा है, निन्दक है, चुगुल है ऐसा पुरुष शुभकार्योंके करनेका अधिकारी नही है। भले ही अपनी नाक रखनेके लिए पूजा भी करे पर वह झूठ, दगाबाज, व्यसनी जन धर्मकार्य करनेका अधिकारी नही है, धर्मकार्योंके करनेका अधिकारी तब होगा जब वह अपना पवित्र आशय बनाये।

महामतिभिर्निष्ठ्यूतं देवदेवैर्निषेधितम् ।
असत्यं पोषितं पापैर्दुःशीलाधमनास्तिकैः ॥५६५॥

असत्यवचन थूकके सदृश—देखो बडे-बडे बुद्धिमान पुरुषोने तो असत्य भाषणको थूक की नाईं दिया, जैसे थूक गंदी चीज है तो लोग बेरहमीसे थूक देते है, कोई इस थूक पर

दया नही करता कि इसे धीरेसे थूकें, कही थूकको कष्ट न पहुंचे। लोग तो किसी तक्के से वेरहमीसे थूक देते है, तो जैसे लोग थूकको वेरहमीसे त्याग देते है ऐसे ही बुद्धिमान पुरुष असत्य वचनोको वेरहमीसे त्याग देते है। प्रभु वीतराग सर्वज्ञदेवने तो असत्य भाषणका निषेध किया। लेकिन जो नीच पुरुष हैं, नास्तिक है, पापी हैं, अज्ञानी है वे इन असत्य वचनोंका आदर करते हैं, उनका महत्त्व देते हैं, उनका प्रयोग करते है। महापुरुष तो असत्य वचनोकी प्रशंसा करते है।

नीच पुरुषोंके असत्यका आदर—नीच लोगोकी गोष्ठीमे देख लो कोई धोखेबाजीका काम कर लिया तो कितनी कलापूर्वक अपने उस कार्यकी प्रशंसा करते है। मैंने अमुकको यो धोखा दे दिया। जैसे रेलमे सफर करते हैं नीच लोग, विना टिकेट चलते है तो टिकेट चेकर जब पास आता है तो किसी तरह छिपकर इधर उधर निकल जाते है या उस टिकेट चेकर को एक अपनी शानसी दिखाकर पाससे निकल जाते है। तो असत्यवादी पुरुष इन असत्यवचनोंका आदर करते हैं, पर विवेकी पुरुष इन असत्य वचनोका परिहार करते हैं। वे असत्य वचन त्यागने योग्य हैं।

सुतस्वजनदारादिवित्तवन्धुकृतेऽथवा।
आत्मार्थे न वचोऽसत्य वाच्यं प्राणात्ययेऽथवा ॥५६६॥

अपना परम कर्तव्य आत्मरक्षा—आत्माकी रक्षा करना आत्माका परम कर्तव्य है, आत्माकी रक्षा होती है निर्मल आशय रखनेसे। पुत्र, कुटुम्ब, स्त्री, धन, मित्र अथवा अपने इन्द्रिय पोषणके लिए लोग असत्य बोलते हैं लेकिन इन कार्योंके लिए भी चाहे प्राण चले जायें पर असत्य न बोलना चाहिए ऐसा प्रभुका उपदेश है। जिन वचनोसे दूसरे जीवोका अहित होता हो ऐसे वचन न बोलना चाहिए। चूंकि ज्ञानी पुरुषको अपने ज्ञानका परिचय है तो वही वात सबके लिए चाहता है। सब सुखी हो, सब ज्ञानदृष्टिमे लगें, सबकी ज्ञान-दृष्टि सत्य बने, किसीको दुःख न हो ऐसी भावना ज्ञानी रखता है। जो दूसरोंके हितकी भावना रखे वह अहितकारी वचन कैसे बोल सकता है? अहितकारी वचन प्राण भी जा रहे हो पर न बोलें। जो व्यक्ति असत्य भाषण करते हैं, दूसरोकी निन्दा चुगलीमे लगे रहते है उनको न प्रभुका ध्यान है, न आत्माका ध्यान है। जो कल्याणार्थी नही हैं वे प्राप्त नही कर सकते है क्योकि उनका आशय ही खोटा है।

परोपरोवादतिनिन्दित वचो ब्रुवन्नरो गच्छति नारकी पुरी।
अनिन्द्यवृत्तोऽपि गुणी नरेश्वरो वसुर्यथागादिति लोकविश्रुति ॥५६७॥

असत्यके आदरसे नरकप्राप्ति—दूसरे मनुष्योकी प्रार्थनासे अन्य पुरुष अन्यके लिए जो अति निन्दनीय असत्य वचन कहते हैं वे नरकगतिको जाते हैं। स्वय भी असत्य न बोले

और दूसरा कोई बुलवाना चाहे तो दूसरेके अनुरोधपर भी असत्य न बोले। जिसके विषय मे यह निर्णय हो कि यह बड़ा सत्य पुरुष है तो उस पुरुषके निकट लोग कैसा विश्वासमे और उसका कैसा आदर करते हुए बैठते है। उसके प्रति लोगोंकी कितनी अच्छी श्रद्धा होती है, और जो असत्य बोले, चाहे दूसरोके छिपावसे भी बोले तो भी वह दुर्गतिको जाता है। राजा वसुका बहुत ऊचा आचरण था, गुणवान था, सत्यवादी था, परन्तु अपने सहपाठी पर्वतके लिए उसने झूठी गवाही दी। जो पर्वत कहता है सो ठीक है। विवाद यह था पर्वत और नारदमे कि नारद कहता था कि अजै अस्तव्यं मायने पुराने धानसे यज्ञ करना चाहिए और पर्वतका कहना था कि अजै अस्तव्यं मायने बकरेसे यज्ञ करना चाहिए। सो बसुने कह दिया कि जो पर्वत कहता है सो ठीक है। इतना कहने मात्रसे वह बसु नरकमे गया। पुराणोमे यह बडी प्रसिद्ध बात है। तो दूसरोके लिए जो झूठ बोलता है वह भी नरकमे जाता है।

असत्यका कारण कषाय—झूठ बोलनेमे बात तो थोडी सी लगती है पर झूठ तब बोला जाता है जब हृदयमे विषमतायें बहुत होती है, पापके आशय होते है, लोभकषाय होती है, लोकमे अपना मान करनेकी चाह होती है। तो जब कषाय बढी हुई होती है तब झूठ बोला जाता है। झूठ बोलनेसे पाप होता है, उसमे इसपर दृष्टि डाले कि कितनी कषाय की जाती है तब झूठ बोला जाता है। किसी आदमीको दुनियामे अपना नाम यश कमाने की इच्छा न हो, किसी आदमीको किसी भी परपदार्थका लोभ न जगता हो तो वह असत्य क्यो बोलेगा? असत्य बोला जाता है दो बातोसे। लोभसे और मानसे। खूब सोच लो— झूठ बोलनेके मूलमे दो ही कारण मिलेगे, या तो लोभ कषाय प्रबल है तो झूठ बोला जाता है, झूठ बोलने से इतना वैभव मिलेगा, यह आजीविका मिलेगी, इतना धन मिलेगा या लोभ कषाय जगी हो या अपना यश रखना चाहता हो तो उसके लिए उपाय करे, और उसमे जो करना पडे सो करने को तैयार रहेगे।

ज्ञानी पुरुषके लोभ और मानका अभाव—सो ज्ञानी पुरषको न तो नाम यश रखने का मनमे है, न किसी प्रकारके लोभकी बात मनमे है। ज्ञानी जन जानता है कि किनमे अपना नाम चाहना, ये सब खुद विनाशीक हैं, इनमे नाम चाहने से लाभ क्या? ज्ञानी जीवको न तो अपने नामकी चाह है और न किसी प्रकारका उसके लोभ लगा है। लोभ किसका करना? जो उदयमे है उसके अनुसार मिलता है। कैसी ही स्थितिमे कोई हो, सब उदया-धीन बाते है। अनेक चारित्र ऐसे पुराणों मे मिलेगे जो राजपाट छोड़कर चले गये, दूसरी जगह उन्हे फिर राजपाट मिल गया। पुराणोकी बात जाने दो, यही की बात देखो—जब भारत पाकका बटवारा हुआ उस समय अनेक लोग पाकिस्तानसे यो ही जान बचाकर चले

आये, संगमे कुछ भी न लाये थे, पर न जाने कहाँसे क्या विधि बनी कि वे आज लखपती हैं। चीज क्या हुई ? उनका भाग्य था वैसी विधिया मिल गयी। यहाँ भी समृद्धि चाहिए तो एक पुण्य कार्य करें, पवित्र कार्य करें। होता तो वही है जैसा उदय है। तो उदय अच्छा बनें उस ही पुरुषार्थसे तो काम निकलेगा। आये तो आये, जाये तो जाय, जो स्थिति बनेगी उसमे गुजारा कर लेगे, पर धर्मको न छोडेगे।

पवित्र आशयवानके सत्यवादिता—इतनी दृढ प्रतिज्ञा हो कि जो हमारा कार्य है उसे न छोडेंगे। कभी-कभी ऐसा होता है कि पूजामे मन नही लगता तब भी श्रद्धाके कारण जबरदस्ती पूजा करते है। चूँकि श्रद्धा है ना इस कारण जबरदस्ती पूजामे मन लगा रहे है। रही भगवानकी बात, मदिर की बात, मदिरमे प्रतिमा विराजमान है, उनकी पूजा हो तो, न हो तो, उससे प्रभुका कुछ नही बिगड़ता। कोई यह सोचता हो कि आज पूजन नही हुआ तो भगवान बिना पूजाके रह गए, यह बात गलत है, सोचना यह चाहिए कि हम बिना पूजाके रह गए। वह तो दर्शनीय है। स्वरूप निरखिये, अपनेमे उतारिये इसके लिए है। पूजा करना तो अपना कर्तव्य है। जो पूजा करता है उसकी श्रद्धा है तभी तो पूजा करता है। श्रद्धासे धर्म, ज्ञानसे धर्म, चारित्रसे धर्म है। तो जिसका आशय पवित्र है उसकी प्रत्येक क्रिया सत्य है और जिसका आशय अपवित्र हो गया उसके वचन असत्य ही निकलेगे और असत्य भाषणका फल है दुर्गति प्राप्त होना।

> चञ्चन्मस्तकमौलिरत्नविकटज्योतिश्छटाऽम्बरै-
> र्देवा पल्लवयन्ति यच्चरणयो पीठे लुठन्तोऽप्यमी।
> कुर्वन्ति ग्रहलोकपालखचरा यत्प्रातिहार्यं नृणा,
> शाम्यन्ति ज्वलनादयश्च नियतं तत्सत्यवाच फलम् ॥५६८॥

सत्यवादियोंका प्रताप—सत्य महाव्रतके प्रकरणमे यह आखिरी छद है। देखिये जो सत्यवादी आदमी है उनकी बड़े-बड़े देव भी पूजा करते हैं। जैसे यहाँ शास्त्रसभा होती है स्वर्गोंमे भी देव है, उनके भी धर्मकी चाह है, वहाँ भी शास्त्र प्रवचन चलते है, धर्मचर्चा चलती है। कोई कोई चर्चा यो चल जाती है कि मनुष्यलोकमे सत्यमे आज कौन प्रसिद्ध है, ब्रह्मचर्यमे कौन प्रसिद्ध है, अहिंसाव्रतमे कौन प्रसिद्ध है ? लोग बताते हैं। तो किसी देवके मनमे परीक्षा करनेकी आ जाती है और किसी ढगसे वे परीक्षा करते हैं। जब परीक्षामे उतर जाता है तो वह देव उस मनुष्यके चरण कमलको पूजता है, अपने देदीप्यमान रत्न-जडित मुकुटोके ज्योतिसे उस मनुष्यके चरणकमलकी शोभा बढाते हैं। जो सत्य बोलता है उसके इतना पुण्यका उदय होता है कि उसके प्रतापसे अग्नि जल वगैरहके उपद्रव भी शान्त हो जाते है। जैसे सीताकी अग्नि परीक्षामे अग्नि जलमय हो गयी। हुआ क्या, सो

वह भी एक पुण्यका ही प्रताप था। जाते हुए दो देवोंने विक्रिया की जिससे अग्नि जलमय हो गयी। अग्निसे सीता नास न हो सकी। यह था शुद्ध आचरणसे रहनेका प्रताप। जलके बडे प्रवाह चल रहे हैं उन नदियोंमे भी पुण्यवान पुरुष धसे तो भी वह पानी कम हो गया, और यो ही पार हो जाते है। तो यह सब सत्यकी महिमा है। जिन मनुष्योंकी सेवा बड़े बड़े प्रसिद्ध देव आदिक भी करते है।

सत्यवचनोंके प्रसादसे सर्वसिद्धि—ऐसे महान पुरुष तीर्थंकर चक्रवती आदिक होते हैं। ये बहुत बड़े वैभववान जो जन्मसे ही हो जाते हैं वे उनकी कमायी हुई चीजे है क्या? पूर्वजन्ममें अपना आशय निर्मल रखा, धर्मपालन किया, सत्यव्यवहार किया उसका यह प्रताप है कि वे चक्रवर्ती है, तीर्थंकर है, मंडलेश्वर राजा है, लोगोके द्वारा अभिनन्दनीय पुरुष है। तो इतना उत्कृष्ट वैभव उन्हे जो मिल गया है यह सब पूर्वकृत्य पुण्यकर्मका प्रसाद है। अग्निमे प्रवेश करे फिर भी देव सहायता करे, जलमे गिर जाय तो वहाँ भी देव सहायता करें। यह सब सत्य वचनोका प्रसाद है। जो सत्य वचन बोलता है,वह आत्माके ध्यान का पात्र है, आत्माका ध्यान करनेके लिए ध्यानके तीन अंग बताये है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। उसमे सम्यक्चारित्रके प्रकरणमे अहिंसा महाव्रतका वर्णन कर दिया गया था। यह सत्यमहाव्रतका वर्णन किया है। सत्यवादी ही आत्माके ध्यानके पात्र होते है।

॥ ज्ञानार्णव प्रवचन सप्तम भाग समाप्त ॥

अनासाद्य व्रतं नाम तृतीयं गुणभूषणम् ।
नापवर्गपथि प्राय क्वचिद्धत्ते मुनि स्थितिम् ॥५६७॥

अस्तेय महाव्रतका निर्देशन—सम्यक्चारित्रके प्रकरणमे तीसरा व्रत बताया जा रहा है। इसका नाम है अस्तेयमहाव्रत। यह व्रत गुणोका भूषण है। अस्तेय नाम है किसीकी चीजको न चुराना। जब तक अस्तेय महाव्रत अगीकार नही किया जाता तब तक मोक्षमार्ग मे कभी भी स्थिरता नही मिल सकती है। धनको व्यवहारमे ११वा प्राण कहा करते है। १० तो प्राण होते ही है। ५ इन्द्रिय, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु और धनको ११ वा प्राण सा मोहियोने माना है। किसीके धनको हर लेनेपर, नष्ट कर देनेपर जिसका धन नष्ट हुआ है वह कितना दुःखी होता है? तो यह कितना असभ्य व्यवहार है कि दूसरेकी वस्तुको आँखो बचाकर या किसी तरह चुराकर अपने कब्जेमे कर ले। चोरीके अनेक ढग होते हैं। कोई डाकू आये और बन्दूक दिखाकर किसीसे धन ले जाय तो वह चोरी है या नही? कोई कहे कि चोरी कैसे है? वह तो उसके हाथसे लेता है। डाकू तो कहता है कि सन्दूक अपने हाथसे खोलो, धन अपने हाथसे निकालकर दो। वह अपने हाथसे निकालकर दे देता है, इसमे चोरी कैसे हुई? तो कहते है कि नही, वह चोरी है, हाँ अगर अपनी इच्छासे दे तो वह दान कहलाये। वह डाकू तो जबरदस्ती ले रहा है। इसका नाम चोरी है। जब तक कुछ त्याग नही होता तब तक मोक्षमार्गमे स्थिरता नही होती।

प्रवृत्तिके पापोंकी पद्धति—यह लोक पहिले छोटे पापसे पापकी सीख सीखता है फिर बादमे बडा पाप आ जाता है। बड़ा पाप प्रारम्भमे कोई नही करता। यद्यपि अज्ञान महापाप है वह बात अलग है लेकिन बडी चोरी करना, बडा झूठ बोलना, बडी हत्यायें करना, ये काम एकदम कोई नही करता। प्रारम्भमे छोटा पाप करता है, उसको लोग प्रोत्साहन देते हैं तो फिर वह बडा पाप करता है। एक कहानी स्कूलकी पुस्तकमे लिखी है कि एक लडका पाठशालासे किसीका एक अच्छा सा चाकू चुरा लाया। उसकी माँ ने उसे मिठाई खिलायी और कहा—अच्छा चाकू ले आया। उसे प्रोत्साहन मिल गया। फिर और चीजे चुराने लगा। इस तरह वह एक बहुत बडा डाकू बन गया। एक डकैतीमे पकडा गया। वह फासीके तख्त पर जब चढता है तो अधिकारी पूछता है कि भाई तुम्हारी जो कुछ खाने पीनेकी इच्छा हो सो खा लो, जिससे मिलना चाहो मिल लो, तुम्हारे दिलकी

अन्तिम मुराद पूरी की जायगी। तो उसने कहा कि हमे कुछ न चाहिए, सिर्फ हमारी माँ से हमे मिला दीजिए। माँ से मिला दिया। तो उसने माँसे और कुछ नही कहा, झट उसी चाकूसे माँ की नाक काट ली। फिर जनताको कहा कि मुझे चोरी करनेका प्रोत्साहन इस मा से मिला और इस चाकूसे मिला। तो सबसे पहिले उसने चाकू चुराया, बादमे बडी बडी चोरियां करने लगा। ऐसे ही हिंसाकी बात है। एकदमसे बडे जीवोको मारनेका पहिले किसीका दिल नही चाहता। पहिले कीडा कीडी मुर्गामुर्गी वगैरहकी वह हिंसा करता है, बाद मे बडे जीवोकी हिंसाये करने लगता है। चोरी की भी ऐसी ही आदत है। पहिले कोई छोटी चोरी की, उससे प्रोत्साहन मिला, फिर और कुछ चुराया उससे प्रोत्साहन मिला, यो धीरे-धीरे वह बडी चोरिया करने लगता है। इस कारण अल्प पापसे भी बचनेका उपक्रम करना चाहिये।

चौर्यवृत्तिवालोंमें आत्मध्यानकी अपात्रता—जिसकी परधन चुरानेकी प्रकृति है ऐसे पुरुषका हृदय तो बडा कलुषित है। बहुत बडा पाप है किसीका द्रव्य चुरा लेना। तो उसका जब तक त्याग नही है तब तक वह आत्मा ध्यानका पात्र नही होता। इस ग्रन्थमे ध्यानकी सिद्धिका उपाय बतावेगे, उसमे सबसे पहिले ध्यानका पात्र कौन होता, उसका वर्णन है। ध्यानके अग है तीन—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जिन पुरुषोका रत्नत्रयरूप परिणमन चलता है वे पुरुष आत्माके ध्यानमे सिद्धि प्राप्त करते है। तो सम्यक्चारित्रमे अहिंसाका वर्णन किया है, सत्यका वर्णन किया है, अब यह अस्तेयका वर्णन चल रहा है।

य समीप्सति जन्माब्धे पारमाक्रमितु सुध।
स त्रिशुद्धयातिनि सङ्को नादत्ते कुरुते मतिम् ॥५७०॥

मुमुक्षुका परधनहरणमें अप्रवर्तन—जो पुरुष संसारसमुद्रसे पार होनेकी इच्छा करता है वह मनसे, वचनसे, कायकी शुद्धिसे अत्यन्त नि शङ्क होकर अपनी उपासना करता है और कभी भी दूसरेकी वस्तुको ग्रहण करनेकी बुद्धि तक भी नही करता। वैसे चोरीके अनेक रूप है, सरकारका हक चुराना भी तो चोरी है, टिकेट चुराना, टैक्स चुराना यह भी चोरीमे सामिल है। यद्यपि आजके समयमे बिरला ही कोई ऐसा मनुष्य मिलता है जो चोरीसे बहुत बचा हुआ है। किसी तरह व्यापारमें, लिखनेमे और कार्योंमे किसी भी तरहसे उसमे चोरीकी बात आती है, फिर भी किसी किसीके यह ध्यान रहता है कि किसी व्यक्तिपर हम अन्याय न करें। सरकारको तो लोग यह समझते है कि सरकार कोई चीज ही नही है। पहिले समयमे एक राजा होता था तो लोगोके चित्तमे यह बात रहती थी कि यह राजा है और कोई अन्याय करे, टैक्स चुराये तो समझा जाता था कि उसने राजाका धन चुराया है, ऐसी दृष्टि लोगोकी रहती थी। अब राजा किसे कहे ? कमेटी है, वही सरकार है। यदि कमेटी

के लोग भी ईमानदारीसे चलते होते तो लोगोका उन पर विश्वास रहता, लेकिन सब लोग जानते है कि कमेटीके प्राय सभी लोगोका आचरण यो ही खराब है तो जनता पर उसका विश्वास नही बनता। ऐसी परिस्थितिमे भी श्रावकोका ऐसा कर्तव्य है कि वे अपनी ऐसी सीमा रक्खे कि जिससे दूसरे व्यक्तिका चित्त दु खी न हो, और राज्यनियमोंके उद्देश्योका उल्लघन न हो, किसीका धन अन्यायसे न लें।

वित्तमेव मत सूत्रे प्राणा बाह्या शरीरिणाम्।
तस्यापहारमात्रेण स्युस्ते प्रागेव घातिता ॥५७१॥

परधनहरणमें प्राणहरण जैसे पापका कारण—शास्त्रोमे धनको जीवोका बाह्यप्राण कहा गया है, इस कारण जो धनका हरण करता है वह समझिये दूसरे जीवो के प्राणोका घात करता है। सफरमे मानलो टिकेटमे कोई बातकी साधारण सी गल्ती रह गयी और टिकेटचेकर आकर देखता है, उस मुसाफिरका टिकेट रख लेता है तो वह मुसाफिर कैसा उसके पीछे लगा लगा फिरता है। मानो उस टिकेटचेकरने उसके प्राण हर लिए हो, किसीका धन कोई हर ले तो मानो उसके प्राण ही हर लिए हो। इस धनको बाह्य प्राण कहा है। वैसे तो प्राण इन्द्रिय, आयु, बल और श्वासोच्छ्वास हैं, अन्न प्राण नही हैं, मगर कहा है कि अन्न भी प्राण है। कोई अन्न न खाये तो कैसे प्राण रहे? और अन्न मिलता है पैसोसे। पैसा न हो तो कैसे अन्न खानेको मिले? तो पैसा भी प्राण माना है। जिन्हे लोकमे यशकी, नामकी, इज्जतकी चाह है उनके लिए वैभव प्राण है। तो ये सब बाह्य प्राण कहे गए हैं। जो किसीका धन हरे तो समझना चाहिए कि उसने उसके प्राण ही हर लिए। तो चोरीका करना भी हिंसा है।

हिंसा पाप और अहिंसा धर्म--भैया! मूलमे तो पाप एक ही है हिंसा और व्रत एक है अहिंसा। एक हिंसामे ही सब पाप गर्भित हो गए। अज्ञान रहे, कोई विवेक न जगे, भेदविज्ञान न हो, आत्माका परिचय न हो तो वह हिंसा ही तो है। उसने अपने प्रभुकी हिंसा की। विकास रुक गया तो वह हिंसा ही तो हुई। हिंसाकी तो हिंसा हुई, झूठ बोला तो वह भी हिसा, जिसके सम्बन्धमे झूठ बोला प्रथम तो उसका प्राण दु खाया। कितना बुरा लगता है। कोई हमारे सम्बन्धमे झूठ बात बोल दे, जो बात हो ही नही तो उसको सुनकर कितना बुरा लगता है। तो झूठ बोलना भी एक प्राणोका घात है, दूसरेको सताया है। तो असत्य बोलना भी हिंसा ही है, चोरी करना भी हिंसा ही है। दूसरेका बाह्यप्राण हर लिया तो उसने उसका कितना दिल दुखा दिया, यह भी चोरी है। तो चोरी करना भी हिंसामे सामिल है, धर्म भी एक है अहिंसा। ज्ञान किया, भ्रम छोड़ा, आत्मतत्त्वको समझा तो वहाँ हमने क्या किया? अपनी दया की। अपने आपको संसारमे रुलनेसे बचा लेना, यह

अपनी दया हुई कि नही ? यही अहिंसा हुई। ज्ञान करे वह अहिसा, दयाका आचरण करे वह अहिंसा, सत्यका आचरण करें वह अहिंसा, परवस्तुको न चुराये यह भी अहिसा ही है। क्योंकि इसमे अपने चैतन्य प्राणोकी रक्षा की। ज्ञान, दर्शनका विकास न रुकेगा, तो ज्ञान, दर्शन प्राणकी रक्षा की, सो अहिसा ही है और दूसरो को भी निर्भय रखे तो वह भी अहिंसा है।

असत्प्रवर्तनमें आत्मध्यानकी अपात्रता--जो मनुष्य ईमानदार है, सत्य है, परधन नही हरता उसके प्रति लोगोंकी कितनी बडी आस्था रहती है। बडा सज्जन है, बड़ा सदाचारी है। तो व्रती पुरुषका लक्षण ही यह है कि जिसकी ओरसे लोग नि शंक रहे। तो जैसे व्रती पुरुषमे एक यह गुण होता है कि चोरी नही करता ऐसे ही यह भी गुण होना चाहिए कि वह झूठ न बोले। प्राय करके यह गुण तो बहुतोमे पाया जाता है कि दूसरेके धनकी चोरी नही करते, इसकी अपेक्षा कभी झूठ न बोलें इसमे कुछ कमी रह जाती है। किसी भी बात पर जरा सी बात पर झूठ बोल देते हैं। बच्चा कह रहा है कि पैसा दो, कहते है कि नही है पैसा। रखे हैं जेबमे पैसा पर झूठ बोल देते है कि नही है पैसा। किसी ने कुछ मागा तो कह देते है कि नही है, अमुक चीज और अपने पास वह चीज रखे है। यो झूठ बोलनेकी एक आदत सी बन जाती है। तो यह झूठ बोलनेकी शिक्षा धीरे धीरे छोटी छोटी बातोंसे मिलती है। बादमे बडी-बडी झूठ बोलनेकी आदत बन जाती है। तो इसमे अपने प्राणोका घात किया। आत्मातिरिक्त वस्तुको अपनानेके लिये जो प्रवृत्ति है असत्यभाषण है वह भी चोरी है। ज्ञाता द्रष्टा न रह सके, आत्माका ध्यान न कर सके, एकदम किसी वस्तुकी ओर आकर्षण है तब तो झूठ बोला, चोरी की। तो ऐसा पापरूप जो आचरण करता है वह आत्माका ध्यान नही कर सकता।

गुणा गौणत्वमायान्ति यान्ति विद्या विडम्बनाम्।
चौर्येणाकीर्तय पुंसा शिरस्यादधते पदम् ॥५७२॥

चौर्यवृत्तिमें गुणोंका विघात--चोरी करने वालेमे अन्य चाहे अनेक गुण हो लेकिन वे सब गुण गौण हो जाते है, नष्टसे हो जाते है। अभी किसीके सम्बन्धमे मालूम तो पड जाय कि इसने चोरी की और अपनी मित्रमण्डली गोष्ठीमे भी जो अपने संगमे रहता है तो सभी लोगो को उसके प्रति उपेक्षाभाव हो जाता है। चोरी करने वालेके सभी गुण गौणता को प्राप्त हो जाते हैं। विद्या कितनी ही पढे हो और चोरी करता हो तो उसकी विद्या विडम्बनारूप हो जाती है। उस ज्ञानका कुछ महत्त्व नही रहता। जैसे आजकल लोग जरा जरा सी बात पर कहने लगते कि ये तो पक्के पुराने पडित है। कोई गल्ती हो जाय तो उसके एवजमे लोग कहते है। तो उसकी विडम्बना ही तो बनी है। लोगोने अहाना बना

बताया तो राजाको विश्वास न हुआ। मगर रानी ने कहा कि हम इसका सही सही पता लगायेंगी। सत्यघोषको रानीने अपने यहाँ बुलाया, कुछ खेल खेलने लगी। सत्यघोषसे रानी ने चाकू भी जीत लिया, जनेऊ भी जीत लिया। चाकू और जनेऊ एक दासीको रानीने देकर कहा कि सत्यघोषके घर जावो और उसकी स्त्रीसे यह कहो कि सत्यघोषने देखो यह निशानी भेजी है और कहा है कि जो १० रत्न रखे हैं वे ले आवो। सत्यघोषकी स्त्रीने दसो रत्न निकाल कर दे दिए। वह दासी रानीको दसो रत्न जाकर दे देती है। लेकिन रानी ने उस सेठकी परीक्षाके लिए बहुतसे नकली रत्नोमे उन दसो रत्नोको मिलाकर कहा कि इनमे से जो तुम्हारे रत्न हो सो निकाल लो। सेठने अपने वे ही दसो रत्न निकाल लिए जो उसके थे। फिर उस सत्यघोष को तीन दण्ड दिये गए, जिनमे से उसे एक स्वीकार करना था। या तो थाली भर गोवर खाये, या मल्लके ३२ घूँसे सहे या अपना सारा धन दे। सत्यघोषको सबसे सस्ता लगा मल्लके ३२ घूँसे सहना। मल्लने एक ही घूँसा मारा तो उसकी दम निकलने लगी। हाथ जोडकर कहा हम मल्लके ३२ घूँसे न सहेंगे, हम तो थालीभर गोवर खायेंगे। उसे गोवर भी खिलाया, वह भी न खाया गया और अन्तमे उसका सारा धन भी जप्त कर लिया। तो जो सत्य बोलता है और एक भी झूठ बोल जाय तो उससे भी उसका और दूसरोका अधिक बिगाड है। जो बडे आचरणसे रहता है, चोरी नही करता है वह कदाचित एक बार चोरी करले तो उससे भी उसका और दूसरेका भी अधिक बिगाड है। जो अस्तेय व्रतका पालन नही करता है ऐसे पुरुषके धर्म कहाँ है और आत्माका ध्यान कहाँ है ? आत्माकी सिद्धिके प्रकरणमे यह अस्तेयका वर्णन इसीलिए किया जा रहा है कि ये सब ध्यानके अग है। अपना आचरण सत्य हो तो आत्मध्यानकी योग्यता हो सकती है।

परद्रव्यग्रहार्तस्य तस्करस्येह निर्दया।
गुरुबन्धुसुतान्हन्तु प्राय प्रज्ञा प्रवर्तते ॥५७४॥

तस्करोंकी निर्दया प्रकृति—दूसरेके द्रव्यको ग्रहण करना एक ग्रह है, पिशाच है, उससे पीडित जो चोर है उसको तो गुरु, भाई, पुत्र जिस किसीको भी मार डालनेकी इच्छा हो जाती है। जो दूसरेके द्रव्यको ग्रहण करनेका मनमे परिणाम रखता है वह दूसरेको मार डालनेका भी प्रयत्न कर सकता है और डाकू चोर तो ऐसा किया ही करते है। तो चोरी मे कितनी कलुषता पडी हुई हैं इसका अदाज कीजिए। चोरीकी प्रकृति वाले पुरुष अनेको की जान भी नष्ट कर सकते है। चोरोको दया नही रहती। चोरी साक्षात् हिंसा है। दूसरे का धन वैभव लोकमे उसके प्राणकी तरह है। जो अपने चित्तमे शान्तिके विरुद्ध विकारभाव लायगा वह सुखी हो ही नही सकता। रूखा सूखा जैसा मिले खा ले, पर दूसरोके द्रव्यको

हृडपनेका भाव न रखे। क्योकि उस आदतमे इसका नुकसान ही नुकसान है, आध्यात्मिक हानि है, कर्मबन्ध है और भविष्यमे भी उसे चैन नही है। जो चोरी करते है वे पुरुष निर्दयी होते हैं, उनके दयाका अश नही जगता। प्रथम तो उन्होने अपने आपपर निर्दयता की, अपने आपको शान्त नही रख सके, शुद्ध ज्ञानप्रकाशमे अपने को न रख सके, महान विकल्पोका अंधकार अपने आप पर चढा लिया। चोरीमे सब विवेक खतम हो जाते है। उसने अपनी तो हिंसा की ही, साथ ही उसमे दूसरोकी भी हिसा बसी हुई है।

पापनिवृत्तिका विवेक—वाल्मीक ऋषिका एक कथानक है कि पहिले वे जगलमे रहते थे। मार्गसे कोई निकलता तो उसका धन छीन लेते थे। एक वार उसी मार्गसे एक साधु जी निकले तो उस साधुसे भी बाल्मीकने कहा, खड़े रहो, तुम्हारे पास जो कुछ हो सब रख जावो। तो कमण्डल सोटा जो भी था रख दिया और साधु बोला कि ये सब चीजे रखी है घर ले जावो और एक बात तुम घरसे अपने कुटुम्बियोसे पूछकर आना। · क्या ? यह पूछकर आना कि तुम लोगोके पालन पोषणके लिए हम इतना तो अन्याय करते है, दूसरोंका धन हरते है, जान लेते हैं तो उससे जो पाप बँधेगा उसमे तुम सब भी आधा बाँट लोगे ? ··· अच्छी बात, पूछकर आयेंगे। बाल्मीक तुरन्त अपने घर आये, अपने माँ बाप स्त्री सबसे पूछा कि जो भी पाप हम तुम्हारे लिए करते है उनमे आधे बाँट लोगे ना ? तो किसीने पाप बाँटनेके लिए स्वीकार भी नही किया। सबने मना कर दिया। तब बाल्मीक को ज्ञान जगा—ओह ! जिनके लिए हम अनर्थ कर रहे है वे कोई भी पापके भागी नही बन रहे है, अब तो वास्तविकता इसीमे है कि परका विकल्प न बनाएँ। ये सभी भिन्न-भिन्न पदार्थ है, अन्य अन्य जीव है। तो जहाँ निर्दोष वृत्ति जगती है वहा विवेक जगता है और चोरी जैसा खोटा परिणाम वहां हो नही सकता। जो चोरीका परिणाम रखता है उसको किसीके मारने मे भी दया नही होती।

हृदि यस्य पद वत्ते परवित्तामिषस्पृहा।
करोति किं न किं तस्य कण्ठलग्नेव सर्पिणी ॥५७५॥

परधनकी इच्छासे अनर्थ—जिस पुरुषके हृदयमे परधनरूपी मांसभक्षण की इच्छा स्थान पा लेती है अर्थात् जो दूसरोंके धन हरने रूप माँस भक्षण करता है उसके कंठमे तो सर्पिणीके समान इच्छा लगी हुई है। जैसे किसीके गलेमे सर्पिणी पडी हो तो वह पुरुष अरक्षित है, कालके सन्मुख है, इसी तरह जिसके चित्तमे परधनको ग्रहण करनेकी इच्छा लगी है वह भी अरक्षित है, निरन्तर व्याकुल है। परधनासक्तिमे कितने विकल्प उठाये जाते हैं, क्या उपाय किये जाते है, कितने मायाचार किये जाते, विषय कषाय व्यसन सव उसमें स्थान पाये हुए है। तो इच्छा क्या क्या अनिष्ट नही करती, जितनी जो कुछ आपत्तियाँ हैं

वे सब इच्छाके कारण हैं। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है, अब भी वह आनन्दतृप्त है, उसे कोई क्लेश नहीं है मगर इस ज्ञानसमुद्रमे इच्छा तरग उठी कि सारा आत्मा विह्वल हो गया। अब उसे यह स्वप्न समान असार जगत भी सार दिखने लगा। विषयभोग सामग्री भी उसे सार नजर आने लगी और जो यत्न न करना चाहिए इस भगवान आत्मावो वे यत्न किए जा रहे है। तो इस जीवको दुख देने वाली इच्छा है।

आत्माका आनन्दस्वभाव—भैया। इच्छा न हो तो जीवको कोई क्लेश नहीं है। देख लो सब मनुष्य अकेले अकेले नजर आ रहे है। अकेला आत्मा अकेला ही देहके सम्बन्ध को प्राप्त है। सबकी अपने-अपने अकेलेपन की बात है, लेकिन भीतर क्या मैल पडा है, क्या विकार पडा है कि इन सब मोही जीवोके हृदय विकल्पोका भार लादे हुए है। कोई किसी तरहका विकल्प करता, कोई किसी तरहका। मान लो जिस तरहका विकल्प आपमे है उस तरहका विकल्प क्या हममे आ सकता है? वह विकल्प आपका आपमे है और हमारा हममे है। हम सोचें कि आप न विकल्प करें और आप हमारे प्रति सोचें कि यह विकल्प न करे तो ऐसा सोचने से क्या किसीके कोई विकल्प मेट देगा? कोई किसीके विकल्प मेटनेमे समर्थ नहीं है। अपना ज्ञान जगायें और अपने विकल्प मिटायें। निर्विकल्प ज्ञानस्वरूपमे अपना उपयोग जगाये तो अपना क्लेश मिट सकता है, अन्य कोई क्लेश मिटने का उपाय नहीं है। आत्माका तो आनन्द स्वभाव ही है, उसकी आस्था कीजिये। बाहरी पदार्थोंका सचय कर करके क्लेश मिटनेकी आशा करना अग्निमे घी और ईंधन डाल डाल-कर अग्निको शान्त देखनेकी इच्छाकी तरह है। यह कभी हो नहीं सकता कि हम परभावो का सचय कर करके तृष्णाको दूर कर लें या शान्ति पा लें। यह तो ज्ञानसे ही सम्भव है। ज्ञानी जीव अपने चित्तसे ऐसा विरक्त है, फकीर है कि उसे किसी परद्रव्यसे लेप नहीं है। वह तो अपने को शुद्ध अलिप्त ज्ञानमात्र मानता है।

इच्छाओंके त्यागसे ही शान्तिलाभ—जिसके हृदयमे परवस्तुकी तृष्णा लगी है और परधनको ग्रहण करनेकी इच्छा लगी है उसकी सब इच्छायें, उसके सब अनिष्ट कर्तव्य ये जितनी बडी बडी घटनाए है ये सब हैं क्या? दूसरोके धनको ग्रहण करनेकी इच्छाका परिणाम है। बडे नेता हो गए, मिनिष्टर हो गए, ऊचे अधिकारी बन गए, तिस पर भी धनकी लालसा लगी है, वैभव बढा रहे हैं तो उसका फल क्या होगा? कोई किसी तरह गुजरता, कोई किसी तरह। तत्त्व क्या निकला? कुछ भी नहीं। जैसा परिणाम किया, विकार किया उस भावके अनुसार वह अपना फल भोगता है, ससारमे रुलता है, तत्त्व कुछ भी नहीं है इन समागमोमे। जो ज्ञानी जितना अपने आत्माकी उपासना कर लेगा, प्रभु भक्ति, स्वाध्याय, अपने अन्तस्तत्त्वकी उपासना कर लेना वह उतना पवित्र है और वह

मोक्षमार्गी है, वही संसारसे छूट सकता है। शेष तो सर्वसमागममात्र अनर्थ है।

चुराशीलं विनिश्चित्य परित्यजति शङ्किता।
वित्तापहारदोषेण जनन्यपि सुतं निजम् ॥५७६॥

जननी द्वारा भी चोरका परिहार—जिसका स्वभाव चोरी करनेका हो जाता है ऐसे अपने पुत्रको माता भी यह जानकर कि यह चोर है, इसका चोरीका स्वभाव है, अपना धन हरे जानेके भयसे पुत्रको भी छोड देती है। चोरीकी आदत वाले पुरुष पर किसीका विश्वास नही रहता, उसे कोई निकट नही बैठने देता। माँ भी उस पुत्रका साथ नही देती है जो चोरी करता है और की तो कथा ही क्या है? और, धन ऐसी चीज है कि एक प्राणकी तरह है। सबको अपना-अपना धन-प्रिय है। मा भी अपना धन रखे है तो वह अपने पुत्र को नही दे सकती और ठीक भी बात है। कोई दूसरा पुरुष ऐसा विश्वासी नही है कि सारा धन उसे दे दो तो वह सेवा करता रहे। पुत्रका अगर भाव बदल जाय, माँ की खबर न रखे, तो यह भी तो हुआ करता है। ससारका निवास बडा कठिन है। क्या करे, किस तरह शान्त रहे, सुखी रहे? और कठिन भी कुछ नही। यदि सन्तोष है और एक ही उद्देश्य है– मैं मनुष्य हुआ हू तो रत्नत्रयधर्म पालनके लिए हुआ हू, मेरेको काम यही है कि मैं अपने आत्माका सही विश्वास रखूं, ज्ञान रखूं, उसमे ही मग्न रहू, उसमे ही प्रसन्न रहूं, इस प्रकारका उद्देश्य बनता है तो मनुष्यको कही क्लेश नही है।

परवैभवकी अप्रयोजकता—भैया! लम्बी चौडी बात है क्या, इतनी ही तो बात है कि थोडी भूखकी वेदना मिटानी पडती है। इसके अलावा और मनुष्यका अटका क्या है? अटका तो धर्मपालनका काम है। धर्मपालनके बिना न शान्ति मिले और न उद्धार हो सकता है। दुनियामे नाम, यश न हो तो क्या बिगाड है? न हो न सही वैभव अधिक न हो तो क्या बिगाड और इल्लतसे बचे। जितना वैभव होगा उतने विकल्प, उतनी चिन्ता और उतने ही क्लेश है, और उतना ही धर्ममे मन नही लगता। तो सन्तोष बिना तो कही भी गुजारा नही होता, चाहे धनी हो अथवा गरीब। ज्ञान ही इस जीवका शरण है। ज्ञान के सिवाय कोई अपना बन्धु, देव, मित्र, गुरु नही है। ज्ञान ही हमारा भगवान है, ज्ञान ही हमारी रक्षा करने वाला है, तो चोरी करनेके स्वभाव वाले पुरुष चित्तमे विह्वल रहते हैं, वे आत्माका क्या ध्यान करेंगे? लोकमें भी उनका कहीं ठिकाना नही है।

भ्रातर पितर. पुत्रा स्वकुल्या मित्रबान्धवा।
ससर्गमपि नेच्छन्ति क्षणार्द्धमिह तस्करै. ॥५७७॥

चोरके संसर्गकी अवाञ्छनीयता—चोरका कोई भी सगा नही है। चोर चोर भी चोरके साथी नही हैं। तो जो सज्जन है वह चोरका कैसे साथी बन सकता है। चोरका

चोरसे साथ नही, चोरका किसी सज्जनसे साथ नही। भाई हो पिता हो, पुत्र हो, स्त्री हो, मित्र हो कोई भी चोरका क्षणमात्रके लिए भी संसर्ग नही चाहता। चार चोर थे तो कहीसे मान लो २ लाखका धन चुरा लाये। तीन चार बजे रातको किसी शहरके बाहर किसी जगलमे छुप गए। उन्होने विचार किया कि यह धन तो बटेगा ही, पर ऐसा करे कि दो भाई चले जायें, शहरसे बढिया भोजन लायें, खूब खायें फिर आनन्दसे धन बाँट लेगे। तो उनमे से दो चोर चले गए शहरसे भोजन सामग्री लेने। अब जो भोजन सामग्री लेने गए उन चोरोंके मनमे आया कि ऐसा करें कि भोजनमे विष मिलाकर ले चलें, विष भरे लड्डू वे दोनो खा लेंगे तो मर जायेंगे। फिर हम तुम दोनों एक एक लाखका धन बाँट लेंगे। यहाँ तो यह विचार किया और उसी समय उस अड्डेपर बैठे हुए दोनो चोरोंने क्या सलाह किया कि उन दोनोको आते समय अपन बन्दूकसे मार दें; जब मर जायेंगे तो हम तुम दोनो एक एक लाखका धन बाँट लेगे। अब शहरसे वे दोनो चोर विषभरे लड्डू लाये और इधर दोनो चोर बन्दूक ताने बैठे। जब पासमे वे पहुचे तो दोनोंने उन्हे बन्दूकसे मार दिया। वे दो तो गुजर गए। अब वे दोनो सोचते है कि अब तो एक एक लाखका धन बाँट ही लेगे, पहिले यह जो मिठाई आयी है उसे खा लें। ज्यो ही उन दोनोने मिठाई खाई तो वे भी गुजर गए। यो चारोके चारों चोर गुजर गये और धनकी जगह धन पडा रह गया। तो चोर तो चोरके भी सगे नही होते, दूसरेकी बात तो जाने दो। चोरोकी परस्परमे क्या मित्रता ?

चौर्यवृत्तिसे अनर्थ––चोरी नामक पाप महा अनर्थका परिणाम है। चोरीका पूर्ण रूपसे त्याग साधुजनोंके पलता है, गृहवासियोके तो किसी न किसी प्रकारका थोडा बहुत चोरीका दोष लगता ही रहता है। इसीलिए गृहस्थोंके अचौर्य अणुव्रत बताया है, अचौर्य महाव्रत साधुके ही होता है। तो जहाँ चोरीका परिणाम रहता है वहाँ अनुमान कीजिए कि कितनी कलुषता रहा करती है, कितना गदा भाव बनता है और कितना अज्ञान भरा है। चोरीके परिणाम वाले पुरुषमे धर्मकी पात्रता नही जगती। वह क्या धर्म करेगा ? चोरी व्यसनमे भी है, पापमे भी है। चोरीकी आदत बन जाना भी व्यसन बन जाता है, और जिसके कोई नियम नही, आड़ नही ऐसा पुरुष कभी चोरी करले तो उसकी फिर आदत बन जाती है। कोई व्रती हो, किसीके प्रतिज्ञा हो, नियम भी हो और किसी कषायके आवेग मे रहकर कोई साधारण सी चोरी करले किसी कारण किसी परिस्थितिमे तो भी वह सभल सकता है। और जिसके व्रत नही है, चोरीकी इल्लत लगी है उसकी तो आदत बन जाती है।

चोरका शुभकार्योंमें सम्मिलित होनेका अनधिकार––जिसे चोरीकी आदत बन गयी

है वह व्यसनी है, उसे शुभकार्योंमे सम्मिलित होनेका अधिकार नही है। मंदिरोमे लिख भी दिया जाता है कि जो पुरुष व्यसनी है उसे पूजा करनेका अधिकार नही है। जिसको जुवा खेलनेका व्यसन लग गया है उसे भी धर्मकार्योंमे सम्मिलित होनेका अधिकार नही है। हा कोई सबके बीचमे इन व्यसनोको त्याग दे और कभी भी न करनेकी प्रतिज्ञा करे तो उसका वह पाप धुल जाता है, फिर उसके ऐसी स्वच्छता जगती है कि वह पूजा करने का पात्र होता है, ऐसे ही मद्यमास भक्षणकी जिनकी प्रकृति है वे प्रभुपूजा करनेके अधिकारी नही है, और करे कोई ऐसा तो यह कलिकालकी बात है। यह तो इस समय बात होती है, पर माँसभक्षी जीवको पूजा करनेका अधिकार नही है धर्मका अधिकार नही है। माँसभक्षण छूटे तो धर्म धारणकी पात्रता जगे। ऐसे ही जो मदिरापानसे बेहोश रहा करते है उन्हे भी क्या धर्मका अधिकार है ? वे धर्मधारण कर ही नही सकते। धर्मधारण करनेकी पात्रता उनमे ठहर ही नही सकती। ऐसे ही चोरी करनेका जिसका स्वभाव है उसमे भी धर्मकी पात्रता नही ठहर सकती। निरन्तर क्लेश संक्लेश रहते है और उसका तो चित्त ही स्थिर नही है। चोर जा रहा है, कही जरा सी पत्ती भी खुरकी तो झट वह भयभीत हो जाता है। कोई आ तो नही रहा, किसी ने देख तो नही लिया। तो ऐसी ही परस्त्रीसेवनकी बात है। ये सब व्यसन है, इन सब व्यसनो मे रहने वाले लोगोको शुभकार्योंमे हाथ बटाने का अधिकार नही है। तो चोरीकी जिसकी प्रकृति है ऐसे पुरुषका कोई साथी नही होता, कोई सगा नही होता।

न जने न बने चेत स्वस्थ चौरस्य जायते।
मृगस्येवोद्धतव्याधादाशङ्क्य बधमात्मन ॥५७८॥

चौरके चित्तकी सर्वत्र अस्वस्थता—चोरका चित्त कही भी स्थिर नही रहता। मनुष्योके बीचमे बैठा है तो भी उसके चित्तमे स्थिरता नही है, बनमे जाय तो वहाँ भी निश्चिन्त नही है। आप कहेगे कि चोर बनमे क्यो जायेगे ? तो वे रहे कहाँ ? वे बनमे ही तो छुपकर रह पायेगे। डाकुवोका स्थान बनघर है, साधुवोका भी स्थान बनघर है, पर डाकू तो बनमे भयभीत रहा करते है और साधु आनन्दमय रहा करते हैं। उन चोरो का चित्त बनमे भी निश्चिन्त नही रहता। जैसे किसी मृगके पीछे शिकारी लग जाय तो वह बहुत डरता है, विह्वल रहता है, पीडित रहता है, इसी प्रकार चोरोको भी अपने पकडे जाने का भय बना रहता है तो वे स्थिर नही रह सकते। चोरके बोलचालसे, उसके रहन सहन से भी प्रकट हो जाता है कि इसने चोरी की है। जो लोग चोर पकडनेमें कुशल हैं ऐसे पुलिसके लोग या समझदार लोग भाप लेते है कि इसकी चोरीकी प्रकृति है और यह कही से चोरी कर लाया है। चोरका चित्त स्थिर नही रह सकता। घरमे भी जो घरकी झोपडी

है उसमे भी उसका मन ठीक नही रह सकता। निरन्तर व्यग्रता है क्योंकि छुपकर पाप किया है।

अत्यन्त गोपनीय पद्धतिका पाप--यह समझ लीजिए कि जो काम इतना छुपकर करना पडता, जिसके सम्बन्धमे यह सोचा जाय कि यह किसीको मालूम भी न पडना चाहिए वह काम नियमसे पाप है। आप कहोगे वाह कोई मनुष्य टट्टी जाता है तो वह किवाड बद करके संडासमें शौच करता है तो क्या वह भी पापकी वात है ? अरे शौच तो वह वताकर भी जाता, लोगोको जताकर भी जाता, उसमें किसीका भी संकोच नही, सब लोग समझ जाते कि यह शौच करने गया है तो वह पाप कैसे हुआ। और, जो चोरी आदिक पाप हैं उनमे तो उन चोरोका यह विचार रहता कि लोग जानें कि यह वडा सज्जन है, ईमानदार है, पर चोरी करनेके लिए छुपकर जाता है, संकोच करता हुआ जाता है। ऐसी ही मैथुन प्रसगकी वात है। मैथुन प्रसंग करने वाला व्यक्ति छुपकर जाता है, संकोच करके जाता है पर घरके सभी लोगोको इस वातका पता रहता है कि यह इसका पति है, घर गया है, ऐसा सबको विदित रहता है। तो जिसके सम्बन्धमे किसी को पता भी नही पड सके किसी भी प्रकार ऐसे छुपकर जो कार्य होते है वे सब पाप हैं, अनर्थ है, जीवको सकटमे डालने वाले हैं।

चौर्यसे अनेक संकट—चोरी आदि अनर्थोंसे जीव पर सबसे वडा संकट यह है कि उसे निज ज्ञायकस्वरूप भगवानके दर्शन होनेकी पात्रता नही रहती। इस लोकमे कहाँ सुख है, किसमे आप चित्त लगाये, कौन ठिकाना, ऐसा है जो आपको शान्ति ला दे, खूब निरख लो वाहरमे। महल, फैक्टरी, दुकान या कोई भी समागम ऐसा है क्या जो जीवको शान्त बना सके ? यदि लोकमे बडी इज्जत हो रही है, बडी प्रशसायें हो रही हैं तो उनको सुनकर भी वह अपने मे आकुलताए ही मचाता है, अपने स्वरूपकी सुध खो बैठता है, उससे वडप्पन मानता है तो वहाँ क्या मिला इसे ? धन वैभव मिल गया तो क्या मिला इसे ? यह आत्मा तो अमूर्त है। भीतरमे इच्छावोका त्याग करे तो शान्ति मिले। वैभव कितना ही सामने आ जाय उससे क्या शान्ति होती है ? तो जिसको स्व और परका विवेक नही है, परके सचय मे, परके कारण ही अपना बडप्पन माने ऐसा पुरुष अज्ञान अंधकारमे पडा हुआ है, उसके विवेक नही है। ऐसे ही लोग परधनके हरण करनेका भाव रखा करते हैं। तो चोर पुरुष का चित्त न तो मनुष्योके बीचमें स्थिर रहता है और न अकेले वनमे, जंगलमे कही पडे रहनेमे स्थिर रहता है, वह निरन्तर भयशील रहता है। कोई जान न जाय, किसी को भेद प्रकट न हो जाय, कोई मुझे पकड न ले और उस शिकारी द्वारा पीछा किए गए हिरणकी नाई वह सदा भयभीत रहता है और जगह जगह भटकता रहता है। अपनी रक्षाके लिए

अनेक ठौर ढूँढ़ता रहता है।

अस्तेय महाव्रतसे आत्मध्यानकी पात्रता—चोर पुरुषको आत्मध्यानकी पात्रता नही होती और आत्मध्यान ही जीवका शरण है वास्तवमे। किसी अन्य पदार्थसे, किसी अन्य समागमसे जीवको कुछ लाभ नही है। तो वह ध्यान जगे उसके लिए यह आवश्यक है कि यह चोरी नामक पापसे अत्यन्त दूर रहे। सभी पापोसे दूर रहनेमे आत्माका कल्याण है। उसके ही प्रसंगमे यह चोरीके त्यागका प्रकरण चल रहा है। साधुजनोके अचौर्यमहाव्रत होता है, अतएव वे निर्भय और निरन्तर प्रसन्न रहा करते है और ज्ञायकस्वरूप निज भगवानकी उपासनाके लिए उनको उमग रहा करती है तथा अपने आत्माभगवानका दर्शन पाकर वे प्रसन्न होते हैं और कर्मोसे छूटनेका वे उद्यम करते हैं।

सत्रासोद्भ्रान्तचेतस्कश्चौरो जागर्त्यहर्निशम्।
वध्येयात्र म्रियेयात्र मार्येयात्रेति शङ्कित ॥५७९॥

अनादिसे परको शरण माननेकी भूल—अनादिकालसे लोकमे भ्रमण करते हुए इस जीवको आज तक कही भी कुछ शरण नही मिला। यद्यपि इस जीवने मोहवश प्रत्येक पर्यायोमे जो इसे मिला मोह करके शरण उसे माना। जैसे कि आजकल भी लोग अपने घरमे कुटुम्बको वैभवको शरण मानते हैं, उनसे हमारा हित है ऐसा विश्वास रखते है इस ही प्रकार इस जीवने भव-भवमे अनेक परद्रव्योको शरण माना है, किन्तु यह अब तक भी शरण नही प्राप्त कर सका। सबका वियोग हुआ, और जितने काल रहे परपदार्थ उतने काल भी वे मात्र स्वयमे परिणमते रहे, मुझमे कुछ उत्पाद व्यय न कर सके, मैं ही भ्रमवश शरणकी कल्पना करता रहा, तो वास्तवमे तो इस आत्माको बाह्यमे कुछ शरण है नही। इसका शरण तो केवल आत्मस्वरूपका ध्यान है। मैं यथार्थ क्या हू, इस प्रकारके सहज आत्मस्वरूपका श्रद्धान होना, ज्ञान होना और इस ही ओर लगना यही वास्तविक शरण है। यह इस जीवने अब तक किया नहीं। अब इतना विशुद्ध कुल पाया, शासन पाया, नरभव मिला, अब भी यदि अपने हितके लिए कुछ चेते, कुछ विचार करे तो भी भला है।

हमारा शरण आत्मदेव—हमारा शरण हमारे आत्मतत्त्वका ध्यान ही है। वह कैसे मिले, उसका उपाय इस ग्रन्थमे बताया जा रहा है। आत्मध्यानके अंग है तीन—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। यही है वास्तविक मूल निधि। यदि यह रत्नत्रय न प्राप्त हुआ और ध्यानके लिए प्राणायाम करना, श्वास रोकना, अनेक क्रियायें भी कर रहे तो भी मोक्षमार्गकी बात नही मिल सकती। मुख्य अग ये तीन है, सम्यग्दर्शनका अर्थ है स्वय जो सम्यक् है अर्थात् अपने स्वरूपसे जो यथार्थ है उसका उसही रूपमे श्रद्धान होना और उस ही रूपमे ज्ञान चलना और ऐसा ही उपयोग बनाये रहना, ये तीन अंग ध्यानके

पूरक हैं। उसमे सम्यक्‌चारित्रका यह वर्णन किया जा रहा है। सम्यक्चारित्रके प्रकरणमे अहिंसामहाव्रत और सत्यमहाव्रतका वर्णन किया गया है। जिसका मूल प्रयोजन है ज्ञानानन्द-स्वरूप आत्माका घात न होने देना और उस ही शुद्ध आत्माके हितके वचन बोलना, यही है अहिंसा और सत्य। अब अचौर्यव्रतमे यह कह रहे है कि जो पुरुष परधनको नही चाहता है उसके सम्बन्धमे विकल्प भी नही करता वह अचौर्यव्रतका धारी है और उसमे यह पात्रता है कि आत्मा ध्यान कर सके।

शङ्काशील पुरुषोंमें आत्मध्यानकी अपात्रता— जो पुरुष परधनके हरणका प्रयत्न रखते है, उनके सताप उत्पन्न होता है, वे शकित होकर जगह-जगह भटकते रहते है, मैं कही पकडा न जाऊँ, पीटा न जाऊँ, मारा न जाऊँ ऐसे चोरके चित्तमे सदैव शंका रहती है और शकाशील पुरुष ध्यानका पात्र नही होता। यद्यपि प्राय साधारण भी इज्जत वाला पर के धनको नही चुराता है लेकिन किसी भी अशमे चोरी सम्बन्धी विकार बना रहे तो निश्चय ही समझिये कि वह आत्मध्यानका पात्र नही है, और, चोरी पाप वही है सर्वत्र घटा लो कि जिस कार्यको करनेपर मनमे यह इच्छा बनी रहे कि इस कार्यका भेद किसीको न पडे वे वे सब चोरिया है। केवल पराया धन हरने भरकी बात नही है। जो जो भी बात गुप्त होकर करना चाहे, इसका किसीको रहस्य तक भी न मालूम हो, और किसीको इसका रच तक भी न मालूम पडे इस प्रकारकी इच्छा करके जो भी प्रवृत्ति की जाती है वे सब चोरिया है। जब कभी पदके विरुद्ध कोई कार्य करता है उसको भी छुपकर करनेका भाव रखता है वे सब चोरी हैं। जैसे जिसकी बडी पोजीशन है वह बाजारमे जाकर कही दूकानपर खडे होकर चाट खाने लगे तो उसके चित्तमे यह बात उठती है कि कोई देख न रहा हो, नही तो लोग क्या कहेगे कि इतने बडे साहूकार, इतनी पोजीशन वाले, ऐसे धर्मात्मा और ये बाजारमे चाट खा रहे है तो यद्यपि अपने ही पैसोसे खरीदकर खाया, किसीकी चोरी नही की जा रही है लेकिन छुपकर खानेका भाव बने तो वह भी चोरी है। यो ही हर एक बातमे समझिये।

मायाचरणमें चौर्यकी छाया—जो कार्य यह करता है वह किसीकी भी समझमे आये ऐसे कार्यमे निशकता रहती है। वह है एक साधुव्रत। तो जो पुरुष चिन्ताशील रहता है, शकाके कारण आकुल व्याकुल रहता है वह पुरुष ध्यानका पात्र नही है और जो सचेत रहता है, कोई नीच कार्य करनेका भाव नही करता है वह आत्मध्यानका पात्र होता है। इस चोरीके ही प्रसगमे इतनी भी बात समझ लें कि, धर्मकार्यके करते हुए भी जो अपनी मुद्रा अपने वचन अपनी चेष्टाको बदलकर और कुछ दिखानेका भाव किया जाता है उसमे भी चोरीका अश है। जैसे मान लो कोई पुरुष मदिरमे खडे होकर जैसा चाहे बोल रहा है, राग रागनीको छोडकर जल्दी-जल्दी यहाँ वहाँ निरखकर अटपट बोल रहा है, सिलसिले-

वार स्तुति नही कर रहा, लेकिन कोई दो चार आदमी आ जाये तो वह कैसा सावधान होकर बोलने लगता है, मुद्रा भी अपनी शान्ति और भक्तिकी बना लेता है। तो पुरानी जो चेष्टा हो रही थी एक सहजरूपकी उसको बदलकर एक बडा भाव प्रदर्शित करता है, तो आप बतलावो कि इसमे कुछ मन चोरी जैसा परिणाम पा रहा या नही ? तो आप समझिये कि हमारे व्यवहारमे कितने ढगसे कितनी तरहके चोरीके परिणाम आते है। तो इस प्रकारके परिणाम वालेको आत्माका ध्यान नही बनता है।

धर्मपालनसे निःशङ्कताकी उद्भूति——नि शंक वृत्ति होनी चाहिए, देखिये इसी कारण गृहस्थधर्म बताया गया है कि करना तो चाहिए महाव्रतका कार्य–हिसा, झूठ चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोका सर्वथा त्याग, पर इतनी सामर्थ्य न हो तो अहिंसाअणुव्रत पाले। जैसे गृहस्थोको अधिकार है कि ठाठसे भोजन बनाये और खाये, खिलाये। आरम्भ का उनके त्याग नही है। अहिंसाणुव्रत लिए हैं, और कोई साधु जिसने आरम्भका त्याग कर दिया है, अहिंसाका सर्वथा परिहार किया है वह यदि कही नदीसे या झरनेसे झरते हुए पानीको भी भरकर पीवे तो समझ लीजिए वह चोरी हुई। और, गृहस्थ वही कार्य करता तो वह चोरीमे नही आया। अचौर्य अणुव्रत उसने लिया है। तो गृहस्थ नही पाल सकता है महाव्रत तो अहिंसाणुव्रत, सत्य अणुव्रत, अचौर्य अणुव्रत, ब्रह्मचर्य अणुव्रत और परिग्रह परिमाण अणुव्रत ग्रहण किये है तो वह अपना कार्य तो नि शक कर सकता है। शका रहना तो आत्माकी उन्नतिमे बहुत बाधक बात है।

गृहस्थके दो मुख्य कार्य—गृहस्थके मुख्य दो ही काम है—न्यायसे आजीविका करना और धर्मसाधना करना। गृहस्थको इतना साहस होना चाहिए कि न्यायवृत्तिसे रहते हुए यदि हमे गरीबीकी परिस्थिति भोगनी पडे तो उसे भी सहन करेंगे, पर न्यायसे धर्मसे चूकेंगे नही। हमे किसको अपना रुतबा दिखानेके लिए धन सचय करना है ? कौन मेरा साथी है, कौन मेरी विपदामे सहायक है ? कोई प्रभु है क्या यहाँ ? फिर किसको अपना महत्त्व रुतबा दिखानेके लिए अटपट रूपसे धनका सचय किया जाय ? ऐसा उसका विशद भान रहता है अतएव न्यायसे ही उसकी वृत्ति चलती है। न्यायवृत्तिसे रहकर भाग्यवश जो कुछ प्राप्त हो उस ही में अपनी व्यवस्था बनानेकी कला गृहस्थ ज्ञानीमे होती है। तो चोरी करके छुप करके कुछ भी प्रवृत्ति करनेकी प्रकृति बन जाय तो वहा आत्माके उत्थानका और विकासका अवसर नही होता है।

आत्मरक्षा न दाक्षिण्यं नोपकारं न धर्मताम्।
न सता शसित कर्म चौर स्वप्नेऽपि बुद्धचति ॥५८०॥

परधनहरणके आशयमें आत्मरक्षाके समझकी भी अपात्रता—जो चोर पुरुष है पर-

धनका हरण करनेके स्वभाव वाला है अथवा स्पष्टरूपसे भी परधनका हरण नही किया, किन्तु किसी भी अन्य रूपसे परधनको हर लिया तो ऐसा पुरुष अर्थात् चोर पुरुष न तो आत्मरक्षाको जानता है कि हमारी रक्षा किसमें है और न उसमें चतुराई रहती है। न वह धर्म परोपकार आदिक कर्तव्योको समझ पाता है और संत पुरुषोका जैसा कार्य करनेकी तो स्वप्नमें भी उसे याद नही रहती है। चोरका चित्त निरन्तर चोरीमे परधनहरणमें मग्न रहता है, इस कारण वह उत्तम कार्य नही कर सकता। आत्मरक्षा है अपने आपको अधिकाधिक रूपसे केवल ज्ञानमात्र सबसे न्यारा प्रतीतिमें बनाये रहनेमें। यह बडी मूलकी बात कह रहे है। कितनी भी स्थितियाँ है, सबकी रक्षा करते, सबके बीच रहकर अनेक कार्य करने पड़ते, इतने पर भी सब ही भाइयोमे एक बात तो अवश्य समानरूपसे रहे और यह विचारें कि मुझे अपने आत्माके यथार्थ सहजस्वरूपमें ही निरखना है। वास्तविक और अन्तिम कल्याणभूत कार्य यही है, इस बातको वह पुरुष क्या जाने जिसका चित्त परधनके हरणमें बना रहता है। चोर पुरुष आत्मरक्षाकी बातको नही समझ सकता और न उसमे चतुराई आ सकती। चतुराई और विवेककी कला उसमे क्या होगी जिसके निरन्तर परधन हरणकी बात चित्तमे रहती हो। यो समझिये कि परधन हरणकी बुद्धि एक प्रकारसे अत्यन्त कलुषित है। और, जैसे मांसभक्षण करने वालेका चित्त निरन्तर कलुषित रहता है इसी प्रकार चोर पुरुषका चित्त कलुषित रहा करता है। वह पुरुष विवेक, बुद्धि, चतुराई, दया, परोपकार आदि सत पुरुषोके करने योग्य कार्यको कैसे कर सकता है।

आत्मातिरिक्त अन्यसंगोंमें असारता—अनेक भवोमे भ्रमण करते-करते आज मनुष्य भवमे आये हैं, तो यहाँ सारकी बात क्या है सो सोचिये। क्या महल खडे कर देनेमें कुछ सारभूत बात मिलती है, अथवा कोई धन वैभवकी वृद्धि कर लेनेमे सारभूत बात नजर आती है? लोगोके द्वारा कुछ अपना नाम, यश बढा है इसमे कोई सारभूत बात समझमे आती है? ये सब स्वप्नवत् बातें है, ये सब पराये है। किसी भी परसे मेरे आत्माका उत्पाद व्यय नही होता। प्रत्येक पदार्थ अपना अपना ही परिणमन रख रहा है। भले ही अशुद्ध उपादान वाले पदार्थ किसी अशुद्ध उपादान वाले पदार्थका निमित्त पाकर विकाररूप परिणम जायें इतने पर भी जो विकार रूप परिणमा वह अपने ही परिणमनसे परिणमा। किसी वस्तुका किसी भी वस्तुमे अधिकार नही है, ऐसा तो यह स्वतन्त्र जगत है, और यहाँ हम किन्ही मलिन पुरुषोंको प्रसन्न रखनेके लिए ही अपना विकारपरिणाम बनायें तो यह कोई विवेकका काम नही है।

आत्मोपयोगके अर्थ प्रभुपूजा—विवेक यही है कि जिस किसी भी प्रकार बने यह अनुभव जगे कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हू, ऐसा अनुभव जगने के लिए

प्रभुपूजा की जाती है। प्रभुका स्वरूप केवल है, ज्ञानानन्दमात्र है, न वहाँ शरीर, न वहाँ विकार, न वहाँ कर्म, न वहाँ कोई तरग है, ऐसी केवलज्ञानकी शुद्ध तरग चल रही है, जिसमे समस्त लोकालोक स्पष्ट प्रतिभात होता है फिर भी उस सम्बन्धी विकल्प नही है ऐसा प्रभुका शुद्ध ज्ञानस्वरूप हमारी दृष्टिमे आये तो अपने आत्माकी सुध होती है। तो अपने सहज आत्मतत्त्वकी सुध लेनेके लिए अर्थात् मैं केवल ज्ञानस्वरूपमात्र हू ऐसा ही अनुभव बनानेके लिए प्रभुपूजा की जाती है।

आत्मोपयोगके अर्थ गुरूपास्ति एवं स्वाध्याय--गुरुवोकी उपासनाका भी यही उद्देश्य है। गुरुजनोकी सेवा इसलिए की जाती है कि ये गुरुजन भी उसी एक पथपर चल रहे हैं, अर्थात् मेरे आत्माका मुझे दर्शन परिचय बना रहे, मैं अपना अनुभव किए रहूं, ऐसी बात इन गुरुवोके चल रही है तो इनके निकट बैठकर और इनकी सेवामें रहकर हमे भी वैसी ही दृष्टि प्राप्त हो जिससे हम भी अपनेको सब जगतसे न्यारा केवलज्ञानरूप मान सके। इसीलिए गुरुसेवा की जाती है। स्वाध्याय भी इसीलिए है। हम किन्ही भी अनुयोगके ग्रन्थोको पढे तो पढनेका उद्देश्य यह होना चाहिए कि मैं स्वका अध्ययन कर लूं, मैं यथार्थ निरपेक्षरूपमे कैसा हू, मेरा सहजस्वरूप क्या है ऐसा मैं अध्ययन करलूं उस बातका रहस्य निकाल लू ऐसी दृष्टि रखकर स्वाध्याय किया जाता है।

आत्मोपयोगके अर्थ संयमन--जो नाना सयम किये जाते है--इन्द्रियका संयम, अमुक चीज न खाना, अमुक इन्द्रियके भोगका त्याग करना आदिक प्रकारसे जो इन्द्रिय संयम चलता है उसका भी प्रयोजन यही है कि हमारा असंयममे चित्त न जाय। अविरतके काममे हमारा उपयोग न फसे, सयमरूप रहे तो मैं अपने आत्माकी सुध रख सकता हू। तब अपने आपको केवल ज्ञानमात्र अनुभव करनेका ही सबसे बडा काम है और आप इसे बिल्कुल सत्य निर्णय करके माने कि मै यदि यह अनुभवकी कला प्राप्त कर सका तो मैंने वास्तविक अमीरी प्राप्त कर ली। मोक्षमार्ग मिल जाना, इससे बढकर भी कुछ है क्या लोक मे ? बडे बडे जन भी राजा महाराजा करोडपती लोग भी प्रभुके चरणोमे आते है और मोक्षमार्गकी बात चाहते है और किसीको मोक्षमार्गकी बात मिल जाय, चाहे पूर्व कर्मवश परिस्थिति कैसी ही हो, दरिद्रता भी आ जाय लेकिन एक यह अनुभूति कला प्रकट हो जाय तो वही वास्तविक अमीरी है और वह ससारके सारे संकटोका त्याग कर अपने आपमे सत्य विश्राम पायेगा, निर्वाण पायेगा। तो संयम भी आत्मरक्षाके लिए किया जाता है।

आत्मोपयोगके अर्थ तपश्चरण—तपश्चरण भी आत्मरक्षाके प्रयोजनसे किया जाता है। विषय कषायोके विकल्पोमें चित्त बना रहे, यह दुखदायी है, इस परिणामसे हमे निवृत्त होना है तो क्या उपाय करे ? ऐसी प्रेरणा बनाना है कि बार बार जो विषयोमे चित्त

लगता है, क्या उपाय किया जाय कि इनसे उपयोग हटे। तो उसका एक उपाय तपश्चरण भी है। अनशन, ऊनोदर, कायक्लेश, गर्मी सर्दी आदिक सहन करना आदिक बातें केवल उपयोग बदलनेके लिए कारण बनती है। यदि अन्तरङ्गमे ज्ञान है तो वह आत्मध्यान वहाँ बन लेगा। तो तपश्चरण भी इसीलिए करना होता है कि मैं अपने आत्माको शुद्धज्ञानस्वरूप अनुभव करलू ।

आत्मोपयोगके अर्थ दान--दानकी पद्धति एक आत्मरक्षाके लिए है। जो वैभव निकट है उस वैभवसे ममत्व न रहे तब ही तो आत्माकी सुध रख सकते हैं। ऐसे गृहस्थकी बात बताई जा रही है जिसे इस परिग्रहसे ममत्त्व नही रहता। आवश्यककार्योमे द्रव्यप्रदान करनेमे रच भी हिचकिचाहट नही है क्योकि उसे परिग्रहसे मोह ही नहीं है, जो परिमाण करके रख रहा है वह गृहस्थीके कर्तव्यके नाते रख रहा है, सो उसे यह पूर्णतया विदित है कि जितना भी परिग्रह हो उतने मे ही गुजारा किया जा सकता है। कोई यह बता सकता है कि गृहस्थका गुजारा कितना वैभवशाली बननेपर हुआ करता है? उसकी बाहरी रूपरेखा है क्या? वह तो अपने मनकी बात है और मूलकी बात है, जो हजारपती है वे भी अपना गुज़ारा कर लेते है कि नही? जो करोडपती हैं वे भी यह महसूस करते हैं कि हमारा ठीक गुजारा चल नही पाता है। तो यह तो सम्यग्दृष्टि गृहस्थमे कला है कि जो कुछ भी वैभव प्राप्त हो उसमे ही वह धर्महेतु भी निकालता है और अपना गुजारा भी करता है। उसे परवाह नही है। वह किसी भी परिस्थितिमे अटक नही मानता। उसे तो केवल एक आत्मानुभूतिकी रुचि जगती है। तो समझ लीजिए कि मनुष्यभव पानेका मुख्य काम है आत्मरक्षा।

परधनाभिलाषामें आत्मरक्षाकी असंभवता—जो पुरुष परधनके अभिलाषी हैं वे आत्मरक्षा नही कर सकते, अतएव सूक्ष्मरूपमें भी अतिचाररूपमे भी हम चोरीके दोषके पात्र न बने, इस ओर हमारी दृष्टि होना चाहिए और वह दृष्टि तभी बनेगी जब हम सही निर्णय करलें और यह सकल्प करले कि हमे तो सही आचरणसे ही रहना है, हमे किसी अन्यको प्रसन्न नही करना है। हम अपने आपको प्रसन्न कर सकें, निर्मल बना सकें, अपने आपके स्वरूपमे उपयोग लगाकर अपने को प्रफुल्लित बना सके तो वह मेरा सही पुरुषार्थ है। सारे जगतको क्या बतलाना? कोई किसीको प्रसन्न कर ही नही सकता। कोई प्रसन्न होगा, कोई अप्रसन्न होगा तब ऐसी स्थितिमे जो सही काम हो वही किया जायेगा ना। उस सही कामके होने पर कोई प्रसन्न होता हो तो हो, हमे तो अपने आपके परिणाम निर्मल रखना है, सबका हित सोचना है और अपने आपको धर्ममार्गमे, ध्यानमार्गमे, अनुभवमार्गमे लगाना है, और सही ऐसा काम करने वालेके ज्ञानी पुरुष तो अवश्य अनुयायी होते हैं।

गुरवो लाघवं नीता गुणिनोऽप्यत्र खण्डिता ।
चौरसंश्रयदोषेण यतयो निधनं गता ॥५८१॥

चोर संसर्गसे लघुता—चोर पुरुषकी संगतिसे बडे बडे महापुरुष भी लघुताको प्राप्त हो गए और गुणी पुरुष खण्डित किए गए और मुनिजन चोरके ससर्गसे मारे भी गए। जहाँ चोरका निवास हो या जिस जगह साधु बिराजे हो वही चोर भी रहता हो तो चोरी के संसर्गसे उन साधुवोपर भी आपत्ति आ सकती है। होती है ना ऐसी कल्पना कि ये भी इसीमे सामिल होगे और इसीके छिपानेके लिए इन्होंने यह भेष रख लिया होगा। तो साधुजन भी गिरफ्तार किए जा सकते है। तो जो चोरी करने अथवा अन्य प्रकारसे भी दुष्ट प्रकृति रखते हों उनका ससर्ग भी दोषको उत्पन्न करता है। तो सत्संगतिकी भी बडी सावधानी रहनी चाहिए।

स्वाध्याय और सत्संगतिका विशेष कर्तव्य—हम आपको करने के लिए दो ही तो काम खास पडे हुए हैं। व्यवहारकी बात कह रहे है कि स्वाध्याय आदिकसे ज्ञानार्जन करना और सत्सगति करना यह व्यवहारधर्म पथ चलानेके लिए और आत्माकी सच्ची समझ लेनेके लिए ये दो कर्तव्य पडे हुए है। केवल एक धनके व्यामोहमें ही अपने इस जीवनको न गंवाया जाय। उसे ही मुख्य काम न समझा जाय। इतना ज्ञान उत्पन्न करना ही चाहिए, नही तो मनुष्य होकर कार्य क्या किया ? मेरा मुख्य काम तो धर्मसाधनाका है और यह काम भाग्यके अनुसार होता है। जो परिस्थिति होगी उसीमे ही गुजारा किया जा सकता है यह तो गुजारेके लिए है, पर धर्मकी बात न होगी तो यह आत्माके भव भवके संकटके लिए है। अतएव इस परिग्रहसे व्यामोह कम करना और धर्मके पथमे लगनेका उत्साह भरना यही करनेका हम आप सबका कार्य है।

तृणाङ्कुरमिवादाय घातयन्त्यविलम्बितम् ।
चौरं विज्ञाय निःशंकं धीमन्तोऽपि धरातले ॥५८२॥

आत्मदेवपर अन्याय—भगवानके समान विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव वाले इस आत्मा भगवानको किसी भी परपदार्थकी ओर रुचि जगना यह एक आन्तरिक पाप है, जिसे मोह और मिथ्यात्व कहते है। कहाँ तो इस आत्माका स्वरूप ही ज्ञान और आनन्दस्वरूप है और कहाँ ज्ञानानन्दस्वरूपसे चिगकर अपने को ज्ञानहीन और आनन्दहीन मानकर किसी परपदार्थ से आनन्दकी भीख चाहना, आशा करना, यह कितना महान पाप है और अन्याय है इस भगवान आत्मापर। इसके बाद अब द्वितीय श्रेणीमे चलिये तो लोकव्यवस्थामे जिसे धन समझा गया है अर्थात् जिस मकानमे रहते है, जो वैभव दुकानको सभाले है उन्हे तो लोकव्यवस्थामे माना जाता है कि यह हमारा धन है और जो दूसरे मनुष्यके आश्रय है, ऐसे घर

वैभव माने जाते है कि ये पराये है, यहाँ पर भी जो पराये वैभव पर, परधनके ग्रहण करनेकी दृष्टि लगाये, इच्छा करे और कदाचित् कोई प्रवृत्ति करे तो सोच लीजिए कि यह भी कितना महान अन्याय है, ऐसा अन्याय करने वालेको ही चोर कहते हैं।

परको निज मानना चोरी—परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो आत्माके निजस्वरूपको छोडकर देहको और घरको, परिवारको अपनाना, अपना समझना यह एक चोरी है क्योकि वहा परवस्तुको अपनानेकी कोशिश की है। व्यावहारिक चोरीमे भी और होता क्या है? दूसरेके घरमे रखे हुए धनको अपना लेना यही तो होता है। जो कल तक दूसरेकी चीज कहलाती थी आज उसको कोई हरले, अपनी बना ले तो इसे ही चोरी कहते है। परवस्तु को अपनी बना लेने का नाम चोरी है। परमार्थदृष्टिसे देखो तो आत्माका आत्माके स्वरूप को छोडकर सब कुछ पर है। उस परको अपना मान लेना यही है चोरी। आध्यात्मिक चोरी तो यह है। इस चोरीमे रहने वाले अर्थात् अज्ञानी मोही पुरुषोको भी आत्माके ध्यान की पात्रता नही रहती, और फिर जो व्यावहारिक चोरीमे भी चलते है वे तो ध्यानकी पात्रतासे अधिक दूर हैं।

चोरकी अप्रतिष्ठा—चोर पुरुषकी लोकमे प्रतिष्ठा नही होती। कोई जाननेमे आ जाय कि यह पुरुष चोर है तो उस पुरुषको बडे बडे बुद्धिमान पुरुष भी इस तरह पकड लेते हैं और उसे मारने पीटने लग जाते है। जैसे कि किसी तृणको कोई पकड ले और तोड कर फेंक दे, ऐसे ही चोर पर भी कोई दया नही करता। कोई चोरको पीटता हो और उसे बचाने वाला कहे कि भाई इसे क्यो पीटते हो, और वह पीटने वाला उसकी उस चोरीकी घटनाको बता दे तो वह भी यही कहता है कि ठीक है पीटना ही चाहिए। तो यह तो एक व्यावहारिक चोरीकी बात कही जा रही है। इसकी प्रकृति वाले पुरुषके और अध्यात्म चोरीका परिणाम रखने वाले पुरुषके आत्मध्यानकी पात्रता नही जगती।

आत्मध्यानरूप धर्मका शरण—लोकमे शरण केवल आत्मध्यान है। कहते भी हैं—केवलि पण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि, मैं केवली भगवानके द्वारा कहे हुए धर्मकी शरण को प्राप्त होता हू। वह धर्म क्या है जो केवली भगवानके द्वारा कहा गया है? वह है आत्माके ज्ञानानन्दस्वभावका अवलम्बन अर्थात् आत्माका ध्यान। एक आत्मध्यान ही शरण है, ऐसा निर्णय करके अन्य तत्त्वमे, अन्य समागममे अपने उपयोगको न फसायें। सब कार्यो को गौण समझें और एक आत्मरक्षाका आत्मध्यानका कार्य ही हमारे लिए मुख्य है ऐसा अनुभव करें।

विशन्ति नरकं घोरं दु खज्वालाकरालितम् ॥
अमुत्र नियतं मूढा प्राणिनश्चौर्यचर्बिता ॥५८३॥

परधनाभिलाषासे आत्मपतन—यह अचौर्यमहाव्रतका प्रकरण चल रहा है। ध्यान के अंगोमे ५ महाव्रतोका क्रमसे वर्णन हो रहा है, उसमे यह अचौर्यव्रतका प्रकरण है। चोरी करने वाला मूढ पुरुष नियमसे घोर दु ख वाले नरकमे प्रवेश करता है। परधनको हरनेके जो अभिलाषी है या अन्याय करके, दगा देकर किसी भी प्रकारसे जो परकी चीज को ग्रहण करनेके अभिलाषी हैं उनके ये बातें उन्हे आत्मध्यानसे पतित करने वाली है। इसको हम यो ही अनुभव करलें कि हमारा उपयोग किसी परपदार्थकी ओर अन्यायसे उसे ग्रहण करनेकी ओर चले तो हम अपने धर्म से कितना अधिक गिर गए। इसीलिए श्रावकों को सबसे पहिली बात यही कही है कि वे न्यायसे धन कमावें कदाचित् किसी परिस्थितिवश कुछ विवश होकर न्यायसे गिरना पडे तो भी यह ध्यान तो रखना ही चाहिए कि हम न्याय से गिर रहे है। इस ध्यानके रखनेमे वह अन्यायमे उतर नही सकता। और, कभी ऐसी भी स्थिति बन सकेगी कि वह अपने जीवनमे न्यायसे कभी चूक न सकेगा। तो प्रत्येक व्यवहारमे हमे न्यायप्रिय जरूर होना चाहिए। जिसे न्याय प्रिय नही है, अपनी स्वार्थवासना से अपने विषयपोषणके लिए अपने कषायकी पूर्तिके लिए यत्न करे, दूसरोंके प्रति कुछ भी न सोचे और अन्यायका भी प्रयोग करे तो भला बतलावो कि इस विधिमे उसने आत्माका कौनसा लाभ लूट लिया ?

न्यायप्रिय मानवमें कल्याणकी पात्रता—ये जगतके सब पदार्थ विनश्वर है और ये अन्यायसे नही मिलते, पूर्वकृत पुण्यकर्मका जो उदय है उसके उदयमे प्राप्त होते है। जो मिलने को है सो मिलता है, अन्याय करके तो और उस पुण्यमे कमी करली जाती है। जो विशेष मिलना था उससे यह कम रह गया। न्यायसे रहनेमे कदाचित पूर्व पापके उदय मे हमे वैभवमे सफलता भी नही मिलती तो भी आत्मसन्तोष तो उसके होता ही है और निकट कालमे ही उसके दु खके दिन भी खतम हो जाते है। मनुष्यको न्यायप्रिय होना चाहिए। न्यायप्रियता की जो प्रसन्नता अपने आपमे है वह इतनी उत्कट प्रसन्नता है कि इसके प्रसादसे प्रभुके दर्शन प्रसन्न हृदयवाला भी वही पुरुष हो सकता है जिन्हे इस तत्त्वका बोध होता है। उसपर चलने वाले उससे लाभ लेते है। केवल एक ज्ञान कर लेने मात्रसे वह आनन्द नही जगता। उस पथ पर अपना साहस बनाकर विपत्तियोंको झेलकर चलने वाले पुरुष उसका लाभ लूटते है। जैसे किसी वस्तुका ज्ञान कर लेने पर केवल एक जानकारी बना लेने पर उसका स्वाद नही आ जाता है, उसके खाने पर स्वादका अनुभव होता है। जानकारी भले ही हो जाय पर अनुभूति उसमे लगनेसे होती है, इसी प्रकार यह दृढ निर्णय करले कि इस मनुष्यका भला न्यायसे ही है—अन्यायसे नही है। अन्याय करने वालेका चित्त अन्तरङ्गमे दुखित रहता है और वह अपने आपको तो समझ ही रहा है कि

मैंने अन्याय किया है। कदाचित् कोई दूसरा पुरुष न भी जान सके उसके मायाचारको, उसकी अन्यायवृत्तिको, लेकिन यह खुद आत्मा भगवान जिसने अन्याय किया है वह तो समझता है कि मैंने यह अन्याय किया है। उसके प्रसन्नताका प्रसाद ओज नही चमक सकता है। तो अपने जीवनमे इस बातको समझे कि हमे न्यायप्रिय ही होना चाहिए।

न्यायप्रियतासे धर्मकी प्रभावना—धर्मकी प्रभावना भी न्यायप्रियताके कारण हो सकती है। जो धर्म जीवोका भला कर सकता है उस धर्मकी प्रभावना भी उस पुरुषने की समझिये जो न्यायप्रिय होता है। जो न्यायप्रिय होता है उसकी जनता भी प्रशंसा करती है और जनता कहती है कि यह उत्कृष्ट धर्मको मानने वाला है। न्यायप्रिय मनुष्य प्रभावना अंगका पालन करने वाला है। सम्यग्दर्शन के अंगमे अष्टम अंग है प्रभावनाका अंग। प्रभावना कैसे बनती है, प्रभावनाके लिए क्या करना चाहिए ?

इसके लिए दो प्रकारसे वर्णन किया है। स्वामी समंतभद्राचार्यने तो बताया है कि जनताको अज्ञानरूपी अंधकारसे हटाकर फिर यथायोग्य जैनशासनका माहात्म्य फैलाना इसका नाम प्रभावना है। जैसे किसी धार्मिक समारोहमें हजारो रुपया खर्च किया, बहुतसा समय भी लगाया पर लोगोके पल्ले कुछ नही पडा तो वह प्रभावना नही कही जा सकती। हमारे हितका मार्ग क्या है, धर्मका स्वरूप क्या है यह बात पल्ले पडे तो वह प्रभावना मानी जाय, नही तो उसे एक दिलबहलावाका काम समझिये। अमृतचन्द्र सूरिने तो सर्वार्थ सिद्धि मे कहा है कि आत्माका प्रभाव बढना चाहिए रत्नत्रयके तेजसे, इसीका नाम प्रभावना अंग है, अर्थात् अपना ऐसा शुद्ध ज्ञान और आचरण रखे कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रका हममे विकास बने, इससे अपने आत्माका भी प्रभाव बढता है और लोकमे भी प्रभावना अंग पलता है। तो आनन्द तो धर्मप्रभावनामे है।

अनात्मभावकी उपेक्षासे अचौर्यव्रतकी उपासना—जो पुरुष अपने आत्माको ही यह मैं हू और आत्मस्वरूपको ही यह मेरा स्वरूप है, यही मेरा वैभव है ऐसा मानकर परवस्तुवोसे उपेक्षाभाव करता है, परको पर समझ लेता है वह तो अचौर्यव्रतका एक महान उपासक है, और व्यवहारमे पराये वैभवको पर जानकर उसको ग्रहण करनेका भाव न रखे और उसे लेनेके लिए अन्यायकी भी कोई कल्पना न करे वह भी लोकमे महिनीय पुरुष है, इसके विरुद्ध जो चोरीकी प्रकृति वाले लोग हैं वे इस लोकमे भी दुःखज्वालासे पीडित होते हैं और परभवमे भी नारकादिक गतियोमे वे दुःख भोगा करते हैं।

सरित्पुरगिरिग्रामवनवेश्मजलादिषु।
स्थापित पतित नष्टं परस्वं त्यज सर्वथा ॥५८४॥

परपरिहारमें कल्याणसाधना—हे आत्मन्! यदि अपना कल्याण चाहते हो, आत्म-

प्रसन्नता चाहते हो तो सर्वत्र रखे हुए, गिरे हुए, नष्ट हुए, भूले हुए धनको मन, वचन, काय से ग्रहण करना छोड दो। नदी, नगर, पर्वत, गाँव, वन, घर जल, किसी भी जगह कोई परधन पडा हो, उसे ग्रहण करनेकी मनमे आशा न रखो। देखो---जब कभी सद्गृहस्थ केवल अपने ही वैभवसे प्रयोजन रखता है और सन्तुष्ट होता है, किसी भी मनुष्यके, किसी भी परके धनको ग्रहण करनेकी, छुडानेकी, लूटनेकी, कमानेकी या अन्याय करके ग्रहण करने की वान्छा नही रखता तो वह कितना सन्तोषसे घरमे निवास करता है। जिनके तृष्णा लगी है उनका यही तो भाव है कि जिस किसी भी प्रकार हो, दूसरेका धन हमारे कब्जेमे हो जाय। तृष्णाका और अर्थ क्या है ? मैं बहुत बडा वैभवशाली बन जाऊँ, ऐसी मनमें रटन लगाने वालेका और भाव क्या है, किसी भी प्रकारसे धनका सचय हो जाय। और, सद्-गृहस्थ वह है, पुण्यात्मा वह है जो केवल अपने जीवनमे एक धर्म धारण करनेका ही मुख्य कार्य समझता है। ऐसे पुरुषके अनायास ही सरल उपायोसे वैभव संचित हो जाता है और उस सचित वैभवका अधिकाश भाग पाठशालावोके चलानेमे, अन्य-अन्य प्रकारसे धर्मका प्रचार करनेमे व्यय होता है। धन वैभवकी तृष्णा करना एक सद्गृहस्थका मुख्य कार्य नही है, उसका मुख्य कार्य तो एक धर्मकी उपासना करना है।

चिद्चिद्रूपतापन्न यत्परस्वमनेकधा ।
तत्त्याज्यं सयमोद्दामसीमासरक्षणोद्यमै ॥५८५॥

परधनपरिहारसे संयमरक्षा—सयम प्रतिज्ञाकी जिन्हे रक्षा करना हो उनका कर्तव्य है कि चेतन अथवा अचेतन समस्त परधनका परिहार करें। देखिये संयम त्यागका और भाव है क्या ? उसका मुख्य भाव तो यह है कि अपने आत्माके गुणोके अतिरिक्त अन्य समस्त परभावोको और परपदार्थोंको पर जानकर उनमे अपना उपयोग न फँसाऊँ। केवल मैं अपने आत्माका ही ध्यान करके उसे ही दृष्टिमे लेकर उसके शुद्ध प्रकाशमें जो विशुद्ध आनन्द प्रकट होता है उससे ही तृप्त रहू, संयम और त्याग ग्रहण करनेका भाव यही हुआ करता है, फिर इसके विरुद्ध परवस्तुवोंका अपनाना भी चल रहा हो और परधनको ग्रहण करनेका मनमे भाव भी चल रहा हो, तृष्णा भी बहुत-बहुत बढ रही हो तो वहाँ सयम और मर्यादा की रक्षा नही हो सकती। और, साथ ही आसक्तिके कारण एक बहुत बडी बेचैनी बनी रहती है वहाँ आत्माकी सुध नही ले सकते।

आत्मपदार्थकी मंगलरूपता—देखिये जगतमे जितने भी मंगल पदार्थ हैं उन सबमे उत्कृष्ट मंगल पदार्थ है निज सहज ज्ञानानन्दस्वरूपमे देखा हुआ अपने आपका आत्मपदार्थ। इससे बढकर मंगलकी दुनियामे और कोई वस्तु नही है। खुद यदि प्रसन्न हो तो प्रसन्नता उसका नाम है। खुदके ज्ञान और साधनाके कारण खुद मे लगाव होने से जो

एक उत्कृष्ट सन्तोष प्रकट होता है उसमे जो आनन्द जगता है, वह तो एक खास वैभव है, वही मगल है। मगल उसे कहते हैं जो पापोको तो गला दे और सुखको उत्पन्न करे। भला आप बतलावो किसी भी परपदार्थमे ऐसी खूबी किसमे मिलेगी जो पापो को तो गला दे और सुखको उत्पन्न कर दे? बाह्यपरिग्रहोमे तो यह बात नही है। हमारा पाप हमारे ही शुद्ध भावोसे गल सकता है, किसी परपदार्थके समागमसे नही गल सकता है। जब हमारा उपयोग देवपूजा, गुरुसत्सग आदिक प्रसगोमे रहता है उस समय भी यह समझिये कि मेरे पापको गलाने वाले ये मदिर मूर्ति अथवा गुरु नही हैं, ये कारण हैं, निमित्त हैं, हम अपना ही परिणाम शुद्ध बना सकें तो पाप गलते हैं और हमे आत्मीय सुख प्राप्त होते है। प्रभु निष्पाप हैं, उनके कैवल्यस्वरूपको निरख करके हम अपने आपके स्वरूपका पता पाते है और विकारोसे हटते है तब हमे सुख उत्पन्न होता है और हमारे पाप दूर होते हैं। तो मगल लोकमे मैं ही हू।

आत्मपदार्थकी लोकोत्तमता व शरणभूतता—इस लोकमे उत्तम भी यह आत्मतत्त्व ही है। चाहे आत्मा कहो, आत्मतत्त्व कहो, आत्मधर्म कहो, या केवलीके द्वारा कहा हुआ धर्म कहो, सबका मतव्य एक है। लोकमे उत्तम केवली प्रभुके द्वारा कहा गया धर्म है। उन्होने क्या बताया कि प्रत्येक पुरुषको अपने आपका स्वभाव और उसका आलम्बन ही शरण है। तो निज स्वभावका आलम्बन करना यह केवली भगवानने धर्म बताया है। निज आत्मभगवान ही मगल है, लोकोत्तम है और शरणभूत है। उस आत्मतत्त्वकी हमारी निरख बहुत-बहुत काल बनी रहे, ऐसा उद्यम, ऐसा सत्संग बने तो इससे बढकर और कुछ वैभव की बात न होगी। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ परद्रव्योकी चाह करना यह हमे हमारे मार्गसे पतित कराने वाली बात है। अतएव जो मुक्तिके अभिलाषी है, आत्मकल्याण चाहते हैं, अपने सयम मर्यादाकी रक्षा करना चाहते हैं तो वे चेतन अचेतन समस्त परके आलम्बन को छोड दें, उनकी आशा न रखें, अस्तेयव्रतका पालन करें तो उनमे वह पात्रता बनेगी कि वे अपने आपका ध्यान बना सकेगे और आत्मा भगवानकी उपासनामे अधिकाधिक रह सकेंगे।

आस्तां परधनादित्सा कर्तुं स्वप्नेपि धीमताम्।
तृणमात्रमपि ग्राह्यं नादत्तं दन्तशुद्धये ॥५८६॥

विवेकियोंकी परसे परम उपेक्षा—बुद्धिमान् आदमियोको पराये धनको ग्रहण करनेकी इच्छा करनेकी बात तो दूर रही किन्तु अपने दात धोनेके लिए बिना दिये दातून तक भी परको ग्रहण करना योग्य नही समझते हैं। किसी की बिल्कुल मामूली कीमतकी चीज भी बिना दिये वे ग्रहण नही करना चाहते हैं। एक व्रत निर्वाहकी मर्यादा होती है। जब कभी

कोई आदमी किसी मर्यादासे पतित होता है या अन्यायमे लगता है तो किसी बड़े अन्यायसे या बडे पापसे शुरू नही करता। छोटी-छोटी बातोसे सीखता है और कभी बडे पापो को करने लगता हैं। अस्तेय महाव्रतके प्रकरणमे यह बात बताई जा रही है कि अन्य किसी बड़े वैभवको चुराना या उसकी इच्छा करना तो दूर रहो, तृण जैसी चीजको भी बिना दिये हुए ग्रहण नही किया करते है। पापसे बचकर रहनेमे आत्मामें एक सन्तोष और अनुपमबल प्रकट होता है। और, आत्मबल ही किसका नाम है? जितने अन्यायके कार्य है, पापके कार्य है उनसे दूर बने रहना और न्यायपूर्वक अपने आपका जीवन बने इसमे ही आत्मबल बढता है।

ज्ञानीका दृढ निर्णय—ज्ञानी गृहस्थ पुरुष सदैव इस बातमे सावधान रहता है और अपना यह दृढ निर्णय बनाये रहता है कि मेरा इस जगतमें मेरे आत्माको छोडकर अन्य कुछ शरण नही है। देखिये जितना अपने स्वरूपके एकत्वकी ओर आये उतना तो आत्म-हित है और जितना परवस्तुवोमे दृष्टि उपयोग गडाये रहे, उन्ही उन्हीकी चिन्तामे रहे, उनका ही मनमे भाव रहे तो सोचिये तो सही कि अपना यह उपयोग अपनी जगहसे हट गया या नही? अरे पर जगह लगा है तो यह अज्ञानवृत्ति कहलाती है। जो ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूपकी भावनासे हटकर अन्य अन्य पदार्थोमे जुटा रहे उसका ही नाम अज्ञान है। अब अपनी जीवन चर्यामे सोचें कि हम अज्ञानका आदर करनेमे कितना समय लगाते है और निज ज्ञानस्वरूप भगवानका आदर करनेमे कितना समय लगाते हैं।

निर्लेपतासे आत्मपवित्रता—मोहममता ही इस जगतके जीवोको बरबाद करने वाली वृत्ति है, उससे हटनेकी भावना और कोशिश अवश्य रहना चाहिए। यह तो एक गुप्त रहकर अपने आपमे की जाने वाली बात है। यह सब अपने आधीन बात है। सब कुछ बाहरी कार्य करते हुए भी हम अपने आपमे अलिप्त रह सकें, यह है अस्तेय व्रतका परमार्थ आदर। ऐसा क्या हो नही सकता? किसी सेठकी दुकान पर मुनीम कार्य करता है। उतनी चाहे सेठमे भी अकल न हो जितनी मुनीमके हो, दुकानकी सारी व्यवस्था, हजारो लाखोका बैंकका हिसाब सब मुनीम ही रखता है, सेठकी सारी सम्पत्तिकी रक्षा करता है लेकिन मुनीमके चित्तमे यह बात बैठी है कि इसमे मेरा कुछ नही है, मैं तो एक ड्यूटी बजा रहा हू। वह मुनीम उस सारी सम्पत्तिसे बिल्कुल निर्लेप रहता है। ऐसे ही ज्ञानी गृहस्थ बड़े-बडे वैभवोके प्रसगमे रहकर यह जानता रहता है कि मेरा मेरेसे बाहर कुछ भी नही है। केवल एक लोकव्यवस्थाके नाते चूँकि हम गृहस्थ है, अपना कर्तव्य निभाने के नाते इन सबकी रक्षा कर रहा हूँ, मैं परिवारके पोषणका कारण बन रहा हू, वस्तुत मेरा कहीं कुछ नही है; ऐसी निर्लेपता ज्ञानीसंत गृहस्थमे भी हुआ करती है। और,

इस भावनामे ही उसने वास्तविक अस्तेय व्रतका पालन किया है अर्थात् चोरी से वह वास्तविक मायने मे दूर रहा।

धर्मपालनकी मुख्यता—जो समस्त परवस्तुवोको अपने से भिन्न निहारता है और अपने आपके ही ज्ञानानद स्वरूपमे ग्रहण करनेका यत्न रखता है ऐसा पुरुष ही मोक्षमार्गी है और वह अपना जन्म सफल करता है। सच्चा पुरुषार्थ इतना ही है। हम सबका कर्तव्य है कि हम अपनी जिन्दगीका मोड बदलें और इतना तो निर्णय रख लें कि मनुष्यजन्ममे हम आये हैं तो यहाँ मुख्य कार्य हमारा धर्मपालन है, और, वह धर्मपालन भी यही है कि अपने सत्यस्वभावकी ओर झुके रहे, परकी चिन्ता विकल्पको दूर कर सकें। ऐसी आन्तरिक वृत्ति का यत्न करना ही वास्तविक धर्मपालन है। हम यह निर्णय बनायें कि पहिला काम तो हमारा धर्म है, इसके पश्चात् आजीविकाका काम है, परिवारकी रक्षाका काम है, सारी व्यवस्थाए करनेका काम है। ऐसा करनेसे न व्यवस्थामे अन्तर आता है और न धर्मपालन मे अन्तर आता है।

अतुलसुखसिद्धिहेतोर्धर्मयशश्चरणरक्षार्थं च।
इह परलोकहितार्थं कलयत चित्तेऽपि मा चौर्यम् ॥५८७॥

अस्तेयके सर्वथा परिहारीका निकटभविष्यमे कल्याण—अचौर्यमहाव्रतके प्रकरणमे आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि यदि अनुपम सुख चाहते हो, धर्म यश और चारित्रकी रक्षा करना हो, इहलोक और परलोकमे कल्याणकी प्राप्ति करना हो तो चौर्यपापमे रंचमात्र भी चित्तको मत लगावो। यह मनुष्य केवल परधनकी चोरीसे दूर रहकर समझे कि हम पापोसे अत्यन्त दूर हो गए, सो लोकव्यवहारमे तो दूर हो गए, लेकिन किसी भी प्रवृत्ति को अपने अन्दर छुपाये रहना और बाहरमे अपनेको निरपराध, बुद्धिमान, धर्मात्मा साबित करना यह भी तो चोरी है और वह अपनी अध्यात्मकी चोरी है, ज्ञान विवेक करके सर्व प्रकारकी सूक्ष्म स्थूल चोरियोसे दूर रहकर जो आत्मरसका पान करता है वह पुरुष मोक्षमार्गी है और अति निकटमे निर्वाणको प्राप्त होगा।

विषयविरतिमूल सयमोद्दामशाखम्,
यमदलशमपुष्प ज्ञानलीलाफलाढ्यम्।
विबुधजनशकुन्तैः सेवितं धर्मवृक्ष,
दहति मुनिरपीह स्तेयतीव्रानलेन ॥५८८॥

धर्मवृक्षकी व्रतमूलता—जिस धर्मरूपी वृक्षको मुनियोने बडी भक्तिभावसे सिंचित है, बढाया है वह धर्मवृक्ष परधनमे जरा भी चित्त जानेसे जल जाया करता है। धर्म-सा है ? जिसका मूल तो विषयविरक्ति है अर्थात् व्रत है। पाँचो पापोका त्याग करना

यह है धर्मकी जड। जड उसे कहे कि जिसके पोषणसे सारा वृक्ष हरा भरा रहता है। तो पापोके त्यागसे ही धर्म हरा भरा रहता है। धर्म नाम और किसका है ? जो छोड़नेके पाप है, उनका छोडना यही धर्मका मूलसे पालन है। तो धर्मरूपी वृक्षकी जड है व्रत भाव।

धर्मवृक्षकी संयम शाखायें—इस वृक्षकी शाखा क्या है संयमकी बडी बडी शाखाये, नाना प्रकारके संयम इन्द्रियसंयम। वे भी ६ प्रकारके संयम हैं। स्पर्शन इन्द्रियके वशमें न होना, अन्दरमे कामभोगकी ज्वाला जले तो उसके वशमें न होना, यह है स्पर्शनइन्द्रियका सयम। चटपट रसीले स्वादिष्ट भोजनकी आशा न रखना, उसकी तृष्णा प्रवृत्ति न करना सो है रसना इन्द्रियका संयम, और, घ्राणेन्द्रियके विषयसे विरक्ति रहना यह है घ्राणेन्द्रिय का सयम और नेत्र इन्द्रियके विषय है रूप आदिके देखना। उन रूप आदिकके निरीक्षणमे आसक्त न होना सो है नेत्र इन्द्रियका संयम। इन्द्रियके विषय हैं सुन्दर संगीत, राग भरे शब्द उनके श्रवणमे राग न करना सो कर्णइन्द्रियका संयम है। जगतमे अपने नाम और यशकी चाह बनाना, मेरी कीर्ति हो यह है मनका विषय, मेरा नाम अनेको वर्ष चले, इस प्रकारका परिणाम न होना यह है मनका सयम। तो इस धर्मरूपी वृक्षमे संयमकी ऐसी बडी बडी शाखाये निकलती हैं, एक होता है प्राणसंयम। एकेन्द्रिय आदिक समस्त जीवोंके प्राणकी रक्षा करना यह है प्राण संयम। तो धर्मवृक्षमे ऐसे संयमकी बडी बडी शाखायें हैं।

धर्मवृक्षके पत्र, पुष्प व फल—संयमवृक्षमे नियम आदिकके पत्र हैं। छोटे संयम बडे संयम। मूल गुणरूप उत्तरगुणरूप नियमोंका पालना ये है धर्मवृक्षके पत्ते और वृक्षमें फूल होते है तो ये फूल हैं समता शान्तिके फूल, और ज्ञानलीलाके फलोसे भरा हुआ यह वृक्ष है। आखिर ऐसे धर्मवृक्षसे फल क्या मिलते हैं, ज्ञानकी शुद्ध लीला। शुद्ध ज्ञानकी सहज लीलामे आनन्द ही आनन्द बसा है, धर्मका फल है शुद्ध आत्मीय आनन्द। उन आत्मीय आनन्दके फलोसे यह धर्मवृक्ष हरा भरा है, और वृक्षपर पक्षीगण बैठते हैं, वे पक्षी भी बडे शोभनीय होते हैं। ऐसे ही पंडित, विद्वान्, बुद्धिमान, विवेकी आत्मावोंके द्वारा यह धर्मवृक्ष शोभित है।

स्तेयके रंच परिणामसे भी धर्मवृक्षका विनाश—ऐसे धर्मरूपी वृक्षको चौर्यके रंच परिणामसे भी जला दिया जाता है, अन्य साधारणकी तो बात क्या, बडे बडे संत पुरुष भी एक चोरीका परिणाम आये तो उससे यह धर्मवृक्ष समाप्त हो जाता है। कितना सरल रहना चाहिए धर्मपालनके लिए उसकी झाँकी इस पद्यमे दी गई है। जगतके जीवोसे कुछ भी आशा न रखें और अपने जीवनमे केवल धर्मपालनकी मुख्यता मानें तो इस वृत्तिसे सरलता प्रकट होती है। सरल पुरुष ही धर्मधारण करके मोक्षमार्गमें चलता है और वह निर्वाणको प्राप्त कर सकता है।

विन्दन्ति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः ।
तद्व्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्धीरधौरेयगोचरम् ।।५८१।।

परम तप ब्रह्मचर्य—समस्त तपश्चरणोमें प्रधान तपश्चरण है ब्रह्मचर्य। आत्माकी पवित्रता ब्रह्मचर्यसे होती है। कर्मोंकी निर्जराका मुख्य साधन है ब्रह्मचर्य। जिस व्रतका आलम्बन करके योगीगण परमब्रह्म परमात्माको जानते हैं तो अपने को परमात्मस्वरूप अनुभवते हैं और जिस व्रतको धीर वीर पुरुष ही धारण कर सकते हैं, वह है ब्रह्मचर्य नामका महान व्रत। ब्रह्मका अर्थ है आत्मा। उस आत्मामे ही अपने उपयोगका लगाना सो है ब्रह्मचर्य। देखिये किसी भी इन्द्रियके विषयमें गिरे तो उसमे ब्रह्मचर्यका घात है अर्थात् आत्मामे रमण न कर सका, किसी बाहरी पदार्थोंमे लग गया।

कुशीलकी प्रबल पातकता—ब्रह्मचर्यके घातका नाम है व्यभिचार। व्यभिचार नाम तो सभी बाहरी प्रवृत्तियोका है। आत्मामे अपना उपयोग स्थिर न रहे, बाहरी बाहरी विषयोमे ही चित्त लगा रहे वे सब व्यभिचार हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, तृष्णा ये सबके सब व्यभिचार कहलाते हैं। लेकिन लोकमे रूढि एक स्पर्शन इन्द्रियके विषयसेवन मे अर्थात् मैथुन प्रसंगमे, कामवासनाकी पूर्तिमे लोग व्यभिचार शब्दका प्रयोग करते हैं। इससे यह जानना कि समस्त इन्द्रियोमे प्रबल और पातक विषय है स्पर्शनइन्द्रियका विषय अर्थात् कुशील नामक पाप ऐसा कठिन पाप है कि जिसमे रहकर मनुष्य रंच भी सावधान नही रह पाता। इसी कारण कुशील पापको ब्रह्मचर्य का घात बतलाया गया है। वहाँ तो आत्माके उपयोगसे हटकर किसी भी बाह्य पदार्थमे रति करना सो व्यभिचार है। फिर भी रूढ़िमे एक विषयसेवनको ही व्यभिचार कहते हैं। तात्पर्य यह है स्पर्शनइन्द्रियका विषय सबसे कठिन विषय है, उससे विरक्त रहकर एक परमार्थ ब्रह्मचर्यका पालन करना है।

परम हित ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य सब मनुष्योको हितकारी है, गृहस्थ हो उन्हें भी अधिकाधिक ब्रह्मचर्यसे रहना हितकारी है और ब्रह्मचर्यकी महिमा वहाँ है जहाँ मन, वचन, कायसे ब्रह्मचर्यकी साधना हो। किसी भी रूपमें मनको डिगाये नही, कभी रागभरी वाणी बोलकर अपना दिल बहलायें नही। कभी किसी प्रकारकी कायसे कुचेष्टा न करें। मन, वचन, कायसे ब्रह्मचर्यकी जो साधना करें उनका निर्दोष ब्रह्मचर्य है।

शीलका एक दृष्टान्त—एक पुराना कथानक है कि एक नगरमे कोई बडा राजा रहता था। कोई मुगल राज्यके समयकी बात है। उस राजासे किसी और बादशाहकी लडाई हो गयी। उस युद्धमे राजाके पुत्रने ऐसा कडा युद्ध किया कि शिर कट जाने पर भी धडमात्रसे १०-२० सिपाहियोको युद्धमे मार गिराया। ऐसा हो सकता है कुछ समयके लिए। अन्तमें वह मर गया। बादशाहने जब उसकी वीरताकी कहानी सुनी तो वह सोचता है कि वह

किसी बहादुर बापका जाया हुआ पुत्र था। जब वह पुत्र इतना बहादुर था तो उसका बाप कितना बहादुर होगा ? यही सोचकर उसने उसके बापको अपने राज्यमे बुलाना चाहा, इस लिए कि उसके द्वारा अपने यहाँ भी वीर संतानोंकी उत्पत्ति हो। किसी चतुर आदमी को उसके पास भेजा, वह राजासे जाकर कहता है कि बादशाहने आपकी यादकी है। वह चला, रास्तेमे राजा पूछता है कि आखिर बादशाहने किस बातके लिए याद किया है? उसने कहा-- महाराज बादशाहने यह निर्णय किया कि आपकी शादी हम अपने देशमे किसी कन्यासे करायेंगे और उससे वीर सतानोंकी उत्पत्ति होगी। तो उस बातको सुनकर राजा बोला कि यह तो तुम बतावो कि तुम्हारे बादशाहके राज्यमे मेरे लायक कोई कन्या भी है क्या ? कहा, महाराज एकसे एक हैं, राजा बोला–एकसे एककी बात नही कह रहे, जिस रानीसे वह पुत्र उत्पन्न हुआ था जिसने सिर कट जाने पर भी धडमात्रसे बीसो सिपाही मार गिराये, उस रानीका चरित्र सुनो ! जब यह पुत्र ६ माहका ही था, घरमें पालनेमें झूल रहा था तो रानीके कमरेमें पहुंचकर हमने कुछ शब्दोसे मजाक किया तो उस समय उस ६ माहके पुत्रने अपने हाँथोसे अपना चेहरा ढक लिया। तो रानी ने कहा कि तुम यहाँ मजाक करते हो, यह अन्याय है, देखो यहाँ पर पुरुष पडा है, उसने शरमके मारे अपना मुँह ढक लिया है। इतना कह कर रानीने अपनी जीभ निकाली और अपने ही दांतोसे पीसकर अपनी जान खो दी। इतनी शीलवती कन्या यदि तुम्हारे बादशाहके राज्यमे हो तो बतावो ? उसने कहा– महाराज ऐसी कन्या होना तो कठिन है। तो प्रयोजन यह है कि ब्रह्मचर्य व्रतका मनसे, वचनसे और कायसे पालन करें, यह धीर वीर पुरुषोका ही काम है।

ब्रह्मचर्यपालनकी अभीष्टता—जिन्होने अपने आत्माके सहजशुद्ध स्वरूपका बोध किया है और जो अपने ज्ञानानन्दस्वभावमे तृप्त रहा करते है, जिन्हे कभी अपने आपका अकेलापन निरखने को मिला है जिससे चुपचाप अन्दरमे वार्ता करके तृप्त रह सकते है, ऐसी अपनी निधि जिन्होने पायी है ऐसे धीर वीर सतोसे यह ब्रह्मचर्यव्रत पलता है। फिर भी ब्रह्मचर्य अणुव्रत गृहस्थजनोके होना अति आवश्यक है। जैसे जो पर्वके दिन हो अष्टाह्निका, दसलाक्षणी, सोलह कारण, अष्टमी, चौदस, ऐसे पर्वके दिनोंमे ब्रह्मचर्य व्रत रखे, और ऐसा नियम होना चाहिए कि एक माहमें २५, २६, २७ दिन ब्रह्मचर्यसे रहेगे। ब्रह्मचर्यकी अद्भुत महिमा है।

सप्रपञ्चं प्रवक्ष्यामि ज्ञात्वेदं गहनं व्रतम्।
स्वल्पोपि न सतां क्लेशः कार्योऽस्यालोक्य विस्तरम् ॥५९०॥

ब्रह्मचर्यके अतुल अधिकारी—इस व्रतके सम्बन्धमें बड़े-बडे सहस्र जिह्वाधारी भी हों कोई तो भी इसकी महिमाका वर्णन नही कर सकते और जो इसकी महिमा समझना

चाहते है वे इस ब्रह्मचर्यको अंगीकार करके ही समझ सकते है, फिर भी कुछ न कुछ वर्णन तो करना ही चाहिए। तो इस व्रतके वर्णनमे आचार्यदेव कहते हैं कि मैं विस्तारके साथ कहूगा, परन्तु सत्पुरुषोके इस व्रतके सम्बन्धमे अति विस्तारकी वार्ता सुनकर, देखकर रच भी क्लेश न करना अर्थात् रुचिपूर्वक इस व्रतकी महिमाको सुनना। जिसका होनहार उत्तम होता है वह पुरुष इस ब्रह्मचर्य व्रतमें, अंतरगसे प्रीति करता है। अकलंकदेव निकलकदेवका उदाहरण प्राय सबको विदित है। अकलंक निकलंकके पिता अष्टाह्निकाके दिनोमे किसी गुरुसे ब्रह्मचर्य व्रत ले रहे थे। अष्टाह्निकाके ८ दिनोमे, उसी समय कौतूहलवश, अपने दोनो नन्हे मुन्नोसे कहा कि तुम भी ब्रह्मचर्य व्रत लो। उन्होंने भी लिया। जब कई वर्ष गुजर गये तो उनके माता पिता उनके विवाहकी बात करने लगे। तो अकलंक निकलकने कहा कि हमे तो आपने ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था, अब यह चर्चा कैसी ? तब माता पिता ने कहा कि व्रत तो अष्टाह्निका पर्व तक था, इस पर दोनोंने यह कहा कि हमने तो ब्रह्मचर्य का पूर्ण व्रत लिया था। सदैवके लिए व्रत लिया था, अष्टाह्निकाके दिनोंके ही व्रतका भाव रखकर हमने ब्रह्मचर्य न लिया था। इस लोकमे, मेरा तेरा कहकर कौनसी सिद्धि मिलती है ? जिन्होंने धर्मके लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व न्यौछावर किया है ऐसे पुरुष ही स्वय अपने आपका और जगतके जीवोका कल्याण कर गए।

परमकर्तव्योंसे जीवनकी महिमा—जो जन्म लेते हैं वे मरते अवश्य है। अब मरने के बादमे जीवका कुछ लाभ रहे तब तो अच्छा है और मरनेके बाद पशु पक्षी कीडा मकोडा बन गए, तो उससे क्या तत्त्व निकला ? इसी प्रकार इस जीवनसे लोकका यदि उपकार बने तो उसके जीवनकी महिमा है। तो अपना जीवन सोपकार और परोपकारसे भरा हुआ होना चाहिए। रही यह आजीविकाकी बात, तो इसका भी खुद निर्णय रखिये कि जिन जिनके भोगोपभोगमे धन लगता है उनके पुण्योदयसे इसका अर्जन होता है। जीवन वही सारभूत है जिस जीवनसे अपना और परका उपकार हो। अन्य बातें तो सब पुण्य पाप कर्मों के आधीन है। कोई पुरष दिनभर खूब श्रम करके ८-१० आने ही कमा पाता है और कोई पुरुष थोडे ही प्रयाससे अपने कारोबारको निरखता है और उसके विशेष आमदनी चलती है। तो इसका कारण क्या है अन्तरङ्गमे ? वह है सब पुण्यका उदय अनुदय। तो उसकी ओरसे तो मुँह मोडना चाहिए और फिर चाहे जो स्थिति बने, सभी स्थितियोका मुकाबला कर सकते हैं ऐसा जिसके मनमे साहस हो, वही पुरुष धर्मका सेवन कर सकता है। जो सम्पदाकी चाह करे, विपत्तिसे घबड़ाये, ऐसा पुरुष कहाँ धर्मवृक्षका सेवन कर सकता है।

सावधानीकी अत्यावश्यकता—अपने आत्माको पवित्र बनाना यह सबसे ऊंचा काम है, इसका सम्बन्ध अपने आपसे है। आत्मलाभ इसीमे है। हम आज मनुष्य हुए, हमने

जैन शासन पाया, हृदयकी बात दूसरेको समझा सकते, इतना श्रेष्ठ समागम किसी पुण्योदयसे ही प्राप्त हुआ है, नही तो अनेक पशु कीडे मकोडे सब तो फिर रहे है, ये भी तो जीव है। जैसे हम है वैसे ही ये भी है। क्या हमने ये पर्याये न प्राप्त की होगी ? और, यदि अब भी न चेते तो क्या ये पर्यायें प्राप्त न होगी ? सभी जीव समान हैं, पर आज हमने जो एक विवेकयुक्त भव पाया है तो यों समझिये कि एक विशिष्ट पुण्य का फल मिला है। अब इस पुण्यफलको पाकर नही चेतते है तो उसी पुण्यपर हम कुठाराघात कर रहे है। यह सब व्रतो के सिरताज ब्रह्मचर्य व्रतकी बात चल रही है।

एकमेव व्रत श्लाघ्यं ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये।
यद्विशुद्धि समापन्ना पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥५६१॥

ब्रह्मचर्यकी उपास्यता—तीन जगतमे ब्रह्मचर्य नामका व्रत ही प्रशंसा करनेके योग्य हैं, क्योकि जिन आदमियोने इस व्रतको निर्मलता और निरतिचारपूर्वक पालन किया है वे बडे-बडे पूज्य पुरुषोके द्वारा भी पूजे जाते है। ब्रह्मचर्यके पूर्णधाम तो अरहंत भगवान है। जहाँ समस्त शील परिपूर्ण हुए है उन समृद्धिशाली पुरुषोकी पूजा मुनि और गणधर आदिक सभी करते है। ब्रह्मचर्यसे विवेक बुद्धि स्थिर रहती है, चित्तमे बल रहता है, और चूँकि वह एक परमतपश्चरण है, तो ब्रह्मचर्यके प्रतापसे कर्मोंकी निर्जरा चलती रहती है। ब्रह्मचर्यव्रतकी पूर्णता तो साधु महाराजके होती है और गृहस्थ पुरुषोके अणुव्रत होता है, इसका नाम स्वदारसन्तोषव्रत भी है, यह अति आवश्यक है गृहस्थोको कि वे केवल अपनी स्त्रीमे ही सन्तोष रक्खे। स्वस्त्रीके साथ भी कामकी आसक्ति न रखे और परस्त्रीके सम्बन्ध मे तो चित्त रच भी न डिगे, और अधिकाधिक समय ब्रह्मचर्यमें व्यतीत करे।

ब्रह्मचर्यसे निजब्रह्मोपलब्धि—ब्रह्मचर्यकी साधना इस ब्रह्म प्रभुको प्रसन्न करने के लिए है। जो ब्रह्ममे लीन होनेका यत्न करते है उन्हे परमात्मासे भेंट होती है। विषयकषायो मे फंसने वाले महापुरुषोंके प्रभुके दर्शन नही प्राप्त होते। जो परविषयोमे आसक्त रहते है उनको केवल क्लेश ही भोगनेको मिलते हैं। यह आत्मा ज्ञान और आनन्दसे भरपूर है। जरा अपनेको अकेला निरखो तो सही, शरीरसे भी न्यारा ज्ञानमात्र मैं हू ऐसी बारम्बार भावना तो कीजिए। इस निज भावनामें अतुल आनन्द बसा हुआ है। और इस ही आनन्द मे यह सामर्थ्य है कि अष्टकर्मोंको नष्ट किया जा सकता है। हम अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करे, अपने पैरोपर खडे हो, अपने आपकी दृष्टिका स्वावलम्बन पायें तो यह ही संसारमे हम आपका शरण है। किसी परवस्तुका मोह केवल दु खको ही उत्पन्न करता है।

ब्रह्मव्रतमिदं जीवाच्चरणस्यैव जीवितम्।
स्यु सन्तोऽपि गुणा येन विना क्लेशाय देहिनाम ॥५६२॥

ब्रह्मचर्यव्रतका जयवाद—ब्रह्मचर्य नामका महान व्रत जयवत प्रवर्तो। यह ब्रह्मचर्य महाव्रत चारित्रका एक मात्र जीवन है। इस ब्रह्मचर्य व्रतके विना अन्य जितने भी गुण हैं, अन्य जितने भी धार्मिक आचरण हैं वे सब क्लेशके ही कारण होते है। जीवको अपने आपमे सन्तोष मिले ऐसी प्रवृत्ति करनेमे ही जीवका हित है, बाह्यपदार्थोंकी दृष्टिसे सन्तोष सम्भव नही है, क्योकि बाह्यपदार्थ बाह्य है, उनका परिणमन उनके साथ है, उनका सदैव सग नही रहता है और यह उपयोग अपने आपमे केवल कल्पनाएँ बनाया करता है तो बाह्य पदार्थोंमे इसे सन्तोष नही उत्पन्न हो सकता। सन्तोष मिलेगा, आनन्द मिलेगा तो जीवको अपने आपमे ही मिलेगा। उस आनन्दकी प्राप्तिका उपाय है अपने ब्रह्मस्वरूपका सत्य ज्ञान करना, श्रद्धान करना और उसमे ही रम जाना, एतदर्थ यह आवश्यक है कि व्यवहारब्रह्मचर्य की साधना की जाय। ब्रह्मचर्यका विघात एक मोह और मूढतावश ही किया जाता है। ब्रह्मचर्य न हो और उपवास तपश्चरण क्लेश बडे बडे काम भी किये जायें वे सब निष्फल हैं।

नाल्पसत्त्वैर्न नि शीलैर्न दीनैर्नाक्षनिर्जितै ।
स्वप्नेऽपि चरितु शक्य ब्रह्मचर्यमिद नरै ॥५९३॥

दुर्धर व्रत ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य एक दुर्धर व्रत है, अपने आपको पवित्र बनाने वाला है, मोही मलिन प्राणियोंसे आशा न रखनेकी प्रेरणा देने वाला है। यह व्रत अल्प बल वाले पुरुषोसे नही निभ सकता है, इसके लिए बहुत विवेक चाहिए, ज्ञानबल चाहिए। जिनकी प्रकृति तुच्छ है, जिनका स्वभाव निम्न है ऐसे पुरुषोके द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत नही निभ सकता। जो पुरुष शील स्वभावसे रहित है, जिनके विचार उच्च नही हैं, तुच्छ जिनकी आकाक्षाये हैं ऐसे पुरुष इस ब्रह्मचर्य व्रतको नही निभा सकते। जिनका सत्सग अच्छा है, चाहे वह घरका ही सत्सग हो, वे पुरुष ब्रह्मचर्य व्रतकी भावना बना पाते है। जैसे अनेक घरोंमे जैसा पुरुष वैसी ही स्त्री, दोनो ही ब्रह्मचर्य व्रतके रुचिया हो तो उनका भी सत्संग सत्सग कहलाता है। जो शील स्वभावसे रहित पुरुष हैं वे ब्रह्मचर्यको निभानेमे असमर्थ हैं।

ब्रह्मचर्य व ब्रह्मचर्यघातके परिणाम—ब्रह्मचर्यसे विवेक बढता है, बुद्धि बढती है पुण्य बढता है, ससारके अनेक वैभव सुखसाधन बढते है। इस जगतसे आँखें मीचकर अपने आपमे अपने प्रभुको निहारकर एक इस ब्रह्मकी उपासना कीजिए और सही विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रतका पालन कीजिये। जो दीन पुरुष हैं, जो इन्द्रियके वश है उनके ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नही होता। दीन वे कहलाते है जो इन्द्रियके विषयोके आधीन है। जो दूसरोसे आशा रखें वे ही बुद्धिहीन कहलाते हैं। जो कामवेदनाके वश होकर अन्य पुरुष स्त्रीसे अपने सुखकी अभिलाषा रखते है उनके आत्मामे दीनताका भाव आ ही जाता है। बडी

शक्तिके धारक पुरुष ही ऐसे दुर्धर व्रतको धारण करनेमे समर्थ होते है।

पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम्।
योषित्सगाद्विरक्तेन त्याज्यमेव मनीषिणा ॥५९४॥

मैथुनप्रकारोंकी संख्या—ब्रह्मचर्य व्रतका प्रतिपक्षीभाव है, मैथुन, कामसेवन। यह एक स्त्रीसंगका ही नाम नही, किन्तु वह भी है और इसके पहिले भी १० प्रकारके भाव होते है, वे सब भी कामसम्बन्धी भाव समझना। इस कारण जो पुरुष स्त्रीसे विरक्त हैं अथवा जो स्त्री शीलसम्पन्न है उन सबको इन १० प्रकारके कामसेवनोंका परित्याग करना चाहिये। वे १० मैथुनप्रकार क्या क्या है? इसका वर्णन कर रहे है।

आद्य शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम्।
तौर्यत्रिकं तृतीय स्यात्ससर्गस्तुर्यमिष्यते ॥५९५॥

मैथुनका आद्य दोष—प्रथम मैथुन है शरीरका सजाना, शृङ्गार करना, बहुत बढिया बाल रखाना, और जैसे आजकल चल रहे है लिपिस्टिक पाउडर वगैरह लगाना, खूब तडक भडकके कपडोसे अपने शरीरको सजाना, ये सब शरीरके संस्कार है। खूब मल मलके शरीरको धोना, घटो तक स्नान करना, तेल फुलेल लगाना, बहुत-बहुत इस शरीरकी सभाल करना, बहुत-बहुत साज शृङ्गार करना, रूपक बनाना, ये सब ब्रह्मचर्यके दोष है। इससे ब्रह्मचर्य घातका किसी न किसी अशमे पाप लगता ही रहता है। फिर दूसरी बात यह है कि शरीर शृङ्गारसे बढ़कर फिर यह मनुष्य एक गरल वृत्तिमे बढ़ जाता है, इस कारण अपना जो नियत काम है उसे खूब कीजिये। आजीविकाका, परोपकारका, धर्मका काम करें, अपने हितकार्योंमे लगे रहे, शरीरको अधिक सजाने शृङ्गार करनेकी ओर दृष्टि न दें। हाँ स्वास्थ्यके लिए जितना लाभदायक है साधारण सात्त्विक भोजन करें, साधारण वस्त्र पहिने और धर्मधारणकी धुनमे रहे। शरीरका सस्कार करना यह प्रथम नम्बरका मैथुन बताया गया है।

मैथुनका द्वितीय और तृतीय दोष—दूसरा मैथुन प्रकार है पुष्ट रसका सेवन करना बहुत बढिया मिष्टान्न पकवान वगैरह खाना, अनेक प्रकारकी रसीली स्वादिष्ट चीजोका सेवन करना इस उद्देश्यसे कि खूब बल बढे और विषयसेवनकी अधिक उत्तेजना जागृत हो यह दूसरे नम्बरका दोष है। कामवासनाके उद्देश्यसे ये स्वादिष्ट रस भोगे जाते हैं। काम वासनाका परिणाम नियमसे कलुषित है। यह दूसरे प्रकारका मैथुन सेवन है। और बहुत बहुत रस रसायन स्वादिष्ट भोजन अनेक प्रकारकी औषधियोका सेवन करना भी पाप है। तीसरा मैथुनप्रकार बताया है गीत नृत्य आदिकका सुनना देखना। भगवानके भजनके समय जो गीत नृत्य आदिक होते है वे तो धर्मसे सम्बन्धित है, उनमे सुनने वालोंको धर्मदृष्टि रखना

चाहिए। यदि कोई वहाँ ही केवल रूप रंग गान तान कला इन पर ही दृष्टि रखे तो वह भी अपने उद्देश्यसे च्युत है। फिर अन्यत्र गान तान देखनेका शौक होना और जैसे अब तो अनेक प्रकारकी कम्पनी थियेटर वगैरह ऐसे चलते हैं जिनमे केवल रूप रग गान तानकी बात दिखती है, जिसमे केवल कामसेवनका प्रसंग है। वे सब तो अत्यन्त अयोग्य चीजें हैं, जिनकी प्रकृति गीत नृत्य आदिकसे अपने मनको प्रसन्न करनेकी रहती है तो समझिये कि वह प्रवृत्ति भी ब्रह्मचर्यके दोषरूप है।

मैथुनका चतुर्थप्रकार—चौथा मैथुन प्रकार है स्त्रीका संसर्ग करना अर्थात् बोलचाल रखनेका प्रसग रखना, इसमें ब्रह्मचर्यका दोष है। सीधा मार्ग तो यह है कि गृहस्थ हैं तो अपनी आजीविकाके कार्यमे रहे, शेष समय सत्सग और धर्मपालनमे रहे. यह कामसेवन, कामवेदनाका भोग एक बहुत बडे पापका फल है, जिसमे मनुष्य अपनी सब बुद्धि खो बैठता है और अपना सारा समय बरबाद कर देता है।

योषिद्विषयसंकल्प पञ्चमं परिकीर्तितम्।
तदङ्गवीक्षणं षष्ठ सस्कार सप्तमं मतम् ॥५६६॥

मैथुनका पांचवां प्रकार—पाँचवे प्रकारका मैथुन है स्त्री सम्बन्धी किसी प्रकारका संकल्प या विचार करना या याद रखना। इसको कहते हैं मनोज। कामका दूसरा नाम है मनोज। जो एक मनसे खोटी वेदना उत्पन्न होती है वह कहलाता है मनोज। जैसे किसी मनुष्यको भूख लगी है तो कोई खासकर समझमे आने वाली वेदना है, ठीक है उसकी पूर्ति करलें, खाकर भूख मिटा लें, वह वास्तवमे वेदना है। शरीरमे कोई रोग हो गया है, बुखार खाँसी वगैरह हो गयी है, हाँ वह वास्तवमे एक वेदना है, उसका इलाज करलें, फिर जैसे इस शरीरकी वेदनाएं हुआ करती है इस तरहकी कोई दिखनेमे समझमे आने वाली काम-वेदना है क्या ? वह तो एक मनका सकल्प है। जिस क्षण किसी भी समय अचानक उदय खराब हो जब मनमे कल्पना उठ बैठती है तो यह एक घृणित वेदना है, काल्पनिक वेदना है। इसके बिना शरीरका कुछ अटका नही है, शरीरके अन्दर कोई वेदना हो तो उसे दूर करे, लेकिन असद्विचारोसे, अविवेकसे जो एक कामभावना उत्पन्न हो जाती है वह एक घृणित भावना है और उसमे मनुष्य मरकर अपने जीवनके समयको बरबाद कर देता है।

मैथुनका छटवां प्रकार—६ वा ब्रह्मचर्यका दोष है स्त्रीके अगोका निरखना। इस प्रकरणमे यद्यपि पुरुषोको लक्ष्यमे लेकर समझाया जा रहा है क्योकि साधुवोंके समझानेके लिए यह ग्रन्थ है अतएव पुरुष जैसे समझ जायें उस प्रकारसे समझाने की दृष्टिसे वर्णन किया गया है, पर ब्रह्मचर्य तो दोनोके लिए आवश्यक है, तो उसके मुकाबलेमे स्त्रियोकी ओर से वर्णनका ढग भी समझते जायें। तो स्त्रीके अगोका निरीक्षण करना यह भी

ब्रह्मचर्यका दोष है ।

प्राप्त सुयोगकी दुर्लभता—देखो ये इन्द्रियाँ प्राप्त हुई है बडी कठिनतासे । अब तक के संसार जीवनमे अनन्त काल तो इस जीवका निगोदपर्यायमे व्यतीत हुआ, जहाँ पेड, पृथ्वी जल जितना भी इनका अस्तित्त्व न था । वहाँसे निकला यह जीव तो अन्य स्थावर हुआ, फिर दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय हुआ । क्रमश ये होना बडा कठिन था । असज्ञी पञ्चेन्द्रिय हो गया । तो मन बिना कुछ भी न करनेमे समर्थ रहा । विवेक ही नही है, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हुआ तो उसमे भी नाना खटपट हैं । उनमे प्रधान है मनुष्य । और, फिर भी जैनशासन मिला, पवित्र धर्म मिला तो यहाँ ऐसा उत्कृष्ट समागम पाकर हमे इन इन्द्रियोका सदुपयोग करना चाहिए ।

श्रोत्र और नेत्रोंका सदुपयोग--हमे कान मिले हैं तो हम चाहे अच्छी राग भरी बातें सुन ले या धर्मोपदेश सुन ले, जो चाहे कर सकते है, पर रागभरा द्वेषभरी बातोके सुननेसे तो जीवनका दुरुपयोग है । धर्मोपदेश श्रवण करने से विषयोसे निवृत्त होनेकी प्रेरणा मिले और अपने आत्मस्वरूपमे लीन होनेका संकल्प बने, ऐसी वाणी सुनना ही योग्य है । हमे कर्ण मिले है तो हम धर्मोपदेशके सुननेमे, धार्मिक चर्चाके श्रवणमे इनका सदुपयोग करे । नेत्र मिले है तो देवदर्शन, शास्त्रस्वाध्याय, गुरुदर्शन, गुरुसेवा, इनमे इन नेत्रोका उपयोग करें । इससे आत्मामे एक परिणति विशुद्धि जगती है और विशेष पुण्यका बंध होता है, धर्मका मार्ग मिलता है । हम इन इन्द्रियोका इस तरह सदुपयोग करे । तो नेत्रोसे स्त्रीके अगोका निरीक्षण करना यह ब्रह्मचर्यका दोष है । यह भी एक प्रकारका मैथुन है ।

मैथुनका सातवां प्रकार--ब्रह्मचर्यके ७ वे दोषका नाम है संस्कार बनाना । जैसे पुराणोंमे सुना होगा कि किसी राजपुत्रने किसी राजकन्याको देखा तो वह इतना विह्वल हो गया कि उसने खाना पीना तक छोड दिया और निर्लज्ज होकर स्पष्ट शब्दोमे यो कह दिया कि जब तक यह न मिलेगी तब तक हम भोजन न करेंगे । यह है इस संस्कारका परिणाम । देखिये जब कभी अपनेको दु ख आता है, चिन्ता होती है तो उसका बारबार स्मरण करें तो वह वेदना दूनी बढती जाती है । और, उस बातको भूल जाय, कही और जगह अपना उपयोग लगाये तो उसमे वह वेदना समाप्त हो जाती है । जिसके चित्तमे देखे हुए रूपका संस्कार बना है वह उसकी याद रखे तो वह एक कामवेगका ७वां प्रकार है ।

पूर्वानुभोगसभोगस्मरण स्यात्तदष्टमम् ।
नवम भाविनी चिन्ता दशम वस्तिमोक्षणम् ॥५९७॥

मैथुनका अष्टम नवम व दशमप्रकार--८ वे क्रममे बताया है कि पूर्वके भोगे हुए

भोगोका स्मरण करना भी मैथुन है। कितनी व्यर्थकी बाते है। जो समय गुजर चुका उस गुजरे हुए समयमे कैसे आरामसे रहता था, वैसे भोग प्रसंगमे रहता था, इन बातोकी याद रखना भी एक अपने हृदयको मलिन बनाना है। तो यह भी एक दोष है। ९ वा वेग है भविष्यकालमे भोगनेका चिन्तन करना, आशा प्रतीक्षा करना और उसका एक स्वप्न जैसा देखना, यह ९ वा कामका भोग है, १० वा भोग है विषयमे पतित हो जाना। ये १० प्रकार के मैथुन प्रसग जीवके अहित करने वाले है।

सर्वमैथुनोंसे निवृत्तिमें हित—जो आत्मकल्याण चाहते हैं वे इन दसो दोषोसे बचें और आत्मस्वरूपकी उपासनामे अपना चित्त लगाये। देखिये जगतमे अन्यत्र कही भी कोई अपना शरण रक्षक नही है। समस्त वाह्य पदार्थोके प्रसग एक विह्वलताके ही कारण बनते हैं, आत्मदयाके लिए अपने अमूल्य जीवनका कुछ समय जरूर लगाना चाहिए। केवल धन कमाने, अपना नाम पोजीशन रखने, अपने विषय कषायोकी पूर्ति करनेमे ही समय गुजर गया तो इससे आत्माका हित नही है। आत्महित है आत्माकी चर्या करनेमे, आत्माका स्वरूप समझनेमे। आत्मस्वरूप जिसने पाया है अथवा जो आत्मस्वरूपके ज्ञाता है ऐसे ज्ञानी पुरुषो का सत्सग करे, चित्त अपना धर्मके लिए रहे तो पवित्रता बनी रहेगी और कर्म कटेंगे, आकुलता दूर होगी। जितना हम इन चेतन अचेतन पदार्थोके ससर्गमे रहेगे, उनसे मोह बढाये, राग बढाये, उनसे आशा रखें तो इन दुर्भावनाओके कारण दूसरोके उपकारका भी बहाना बनायें, लेकिन ये सब दुर्भावनाए आत्माको पतित करने वाली हैं और नरक गतिमे पहुँचाने वाली हैं।

ब्रह्मचर्यका परमफल—ब्रह्मचर्य एक दुर्धर व्रत है, लेकिन इसका फल परम्परया नियमसे निर्वाण है। शुद्ध ब्रह्मचर्य की भावना ज्ञानी पुरुषोके ही बन सकती है। क्या करना है, क्या हमारा कर्तव्य है, किसलिए हम जी रहे है, जरा निर्णय तो कीजिए, मरण सबका आयेगा। जगतमे जो जन्मे हैं उनका मरण नियमसे है। मरनेके बाद फिर जन्म न मिले यह तो हो सकता है पर जन्मके बाद मरण न हो यह कभी नही हो सकता। जहाँ मरणके बाद जन्म नही होता उसही का नाम निर्वाण है और ऐसे आत्माका ही नाम परमात्मा है जिसका अब जन्म न होगा और न मरण होगा। तब सोचिये कि स्वप्नवत ससार है या नही। कुछ समयकी जिन्दगी है। कुछ समयको लोग दीख रहे हैं और यहाँ भी कोई रक्षक है नही, सभी अपने अपने स्वार्थमे रत है। ऐसे इस स्वार्थी ससारमे हमे दुनियाको क्या बताना है और यह कितने समयका बताना है? मरण होगा तब हम आगे क्या रहे, किस प्रकार हमारा जीवन व्यतीत हो, कुछ इसकी भी तो सुध रखना चाहिए। आत्मदया का नाम है आत्मकरुणा। विषयोसे दूर रहनेमें और आत्मस्वरूपके निकट रहनेमे आत्मकल्याण

भरा हुआ है। इसके विरुद्ध यह संसार अपने स्वरूपसे तो दूर हो रहा है और बाह्यपदार्थों के निकट पहुंच रहा है, यही इसके क्लेशका कारण है।

किं पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम्।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तप्रीतिदम् ॥५६८॥

मैथुनकी दुर्विपाकता—यह मैथुन प्रसग, यह काम भोग इन्द्रायण फलकी तरह है। इन्द्रायण फल देखनेमे भला, सूंघनेमे भला और खानेमे भला, किन्तु जो इन्सान इस फलको खा लेता है उसकी मृत्यु हो जाती है, उसमे हलाहल विष भरा हुआ है, इसी तरह यह काम मैथुन है। यह कुछ काल पर्यन्त सोचनेमे भला, भोगनेमे भला, कुछ सुखदायकसा मालूम होता है, किन्तु इसके विपाकके समयमे बहुत ही भय और क्लेश उत्पन्न होता है। सब धर्म एक ब्रह्मचर्यकी नीवपर खडे हुए है। इस धर्मके लिए जितना जो कुछ भी करे, दर्शन, पूजन स्वाध्याय, विधान, बडे-बडे उत्सव समारोह पच कल्याणक और अनेक व्रत तपश्चरण आदिक ये सब ब्रह्मचर्य होने पर शोभा देते है। ब्रह्मचर्यका तो व्रत न हो, अधाधुन्ध कामवासना बना करती हो और फिर इन व्यवहारिक आचरणोको करे तो उन आचरणोसे इस आत्मा का क्या हित होता है?

धर्मपालनका फल परमविश्राम—धर्मपालनका उद्देश्य तो यह है कि यह मैं आत्मा अपने आत्मस्वरूपमे स्थित होऊ, बाहरमे दुनियामे सर्वत्र विकल्प ज्वालायें बनी हुई है, संकट ही सकट समाये हुए है, हम अपनेसे च्युत होकर बाहरमे कुछ दृष्टि लगाते है, कुछ सम्बन्ध बनाते है तो वहाँ क्लेश ही क्लेश उत्पन्न होते हैं, सुख शान्तिका नाम निशान नही है। तब कर्तव्य यह है कि हम बाह्य पदार्थोंका संकल्प विकल्प तोडकर कुछ क्षण अपने आपमे विश्राम ले। देखिये—जब शरीर थक जाता है तो ढीलेढाले सोकर विश्राम लिया जाता है। सब काम रोककर शरीरको विश्राममे रखकर थकान मिटाई जाती है और जहाँ यह आत्मा नाना विकल्प मचामचाकर अनेक चिन्ताएँ शोक बना बनाकर, सोच सोचकर थक गया हो तो ऐसे आत्माके विश्रामका क्या उपाय है? सो बतावो। भले ही बडे कोमल गद्दे तकिया लगे हो, आसपास बडे सुगधित पुष्प आदिक सजाये गए हो, बहुत सुन्दर हवाका प्रबध हो, जलपानका अच्छा प्रबध हो, सब तरहके आराम हो, नौकर चाकर भी जीहजूरी मे खडे हो, सब तरहके आराममे रहकर भी धन वैभवके संचयकी चिन्ता है तो गद्दा तक्की मे पडा हुआ भी वह चिन्तित है। गद्दा तक्कीये वगैरहसे विश्राम किसीको न होगा। विश्राम तो सही ज्ञान होने पर मिलता है। तो अपना कर्तव्य है कि सर्व सकल्पविकल्पोको त्याग कर अपने आत्मस्वरूपको निरखे और एक बहुत बडा विश्राम प्राप्त करे। जो विलक्षण है, अनुपम आत्मीय आनन्दको देने वाला है ऐसा विश्राम करनेका ही नाम है परमार्थसे

ब्रह्मचर्य ।

ब्रह्मचर्यव्रतसे परमपवित्रता--तो जो परमार्थ ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहता है उसका कर्तव्य है कि वह मनसे वचनसे कायसे इस व्यवहार ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करें। ब्रह्मचारी सदा शुचि । ब्रह्मचारी पुरुष सदा पवित्र होता है। सूतक पातक निर्णयमे बताया है ना । किसीके जन्मका इतने दिनका सूतक है, मरनेका इतने दिनका पातक है किन्तु व्यभिचारी पुरुष और स्त्रीके सदैव सूतक पातक रहता है, वह कभी शुद्ध नही कहलाता । तब समझ लीजिए कि ब्रह्मचर्यके विपरीत कुशील करने वालेको सदैव पातक बताया गया है। ब्रह्मचर्यसे आत्मामे पवित्रता बढती है, आत्मबल बढता है, पुण्य बढता है, शान्ति मिलती है, और वह पुरुष अनेक लोगोके द्वारा पूजा जाता है । बस एक धर्मपालनका ही अपना निर्णय बनायें, उसके अनुसार ही अपनी समस्तचर्या बनायें । इस मार्गसे हम आप सबको कल्याण प्राप्त होगा । भविष्य काल भी हमारा धार्मिक प्रसगमे व्यतीत होगा, समीचीन मरण होगा । यदि समतापूर्वक मर सके तो हमारा आगेका भव भी सुखपूर्वक व्यतीत होगा । इन सबके लिए हमे इस ब्रह्मचर्यव्रतपर अधिकाधिक दृष्टि रखना चाहिए और इस ब्रह्मचर्यके पालनका अधिकाधिक यत्न रखना चाहिए ।

विरज्य कामभोगेषु ये ब्रह्म समुपासते ।
एते दश महादोषा,तैस्त्याज्या भावशुद्धये ॥५९९॥

मोहमें यथार्थ अन्तस्तत्त्वके भानका अभाव--इस ससारी प्राणीने रागद्वेष मोहके आधीन होकर काम और भोगमे अब तक प्रवृत्ति ही की, इससे विरक्त होकर समस्त परभावोसे विविक्त अपने आपके स्वरूपमे एकत्वस्वरूप निज चैतन्यका भान नही किया और यही कारण है कि यह जगतमे अब तक रुलता चला आया है । सभी जीव ज्ञान और आनन्दस्वरूप है । जैसे किसी चीजका विश्लेषण करना है तो उसमे उसकी चीज दिखाई जाती है ना ? चौकी कैसी है ? तो चौकीका जो कुछ गुण है, परिणमन है, आकार प्रकार है वह बताया जाता है ना, इसी तरह आत्मामे क्या है, इस बातकी खोज करें तो क्या बताया जायेगा ? वह कही पुद्गलकी भाँति, ढेला पत्थरकी भाँति स्पर्शरूप नही है, वह कही पिण्डरूप नही है, आँखों दिखनेकी चीज नही है, फिर इस आत्मतत्त्वको हम किस प्रकार बतायें और निरखें ? परपदार्थोंका सकल्प विकल्प तोड़कर बडे विश्रामसे क्षणमात्र भी इसमे ठहरें तो इसे अपने आपमे उस परमज्योतिके दर्शन होते हैं, जिससे एक विलक्षण आनन्दका अनुभव होता है । है यहाँ और कुछ नही, यह अमूर्त पदार्थ है, यहाँ केवल आनन्दका अनुभव होता है और वह आनन्दका अनुभव ज्ञानानुभूतिके कारण है इस कारण आत्मामे परखनेकी कोई चीज मिलेगी तो वह ज्ञान और आनन्द मिलेगा । आत्मा ज्ञानस्वरूप है व

आनन्दस्वरूप है। कई लोगोने आत्माको ज्ञानस्वरूप माना और कई दार्शनिको ने आत्माको आनन्दस्वरूप माना है। और, है यह आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप, यह स्वरूप मोहमे प्राणियोको विदित नही होता है।

आत्मतत्त्वकी प्रतीतिमें ही सत्य सूझकी प्रगति--जो जानन प्रकाश है उस प्रकाश स्वरूप यह आत्मा है। यह सबसे न्यारा है, इसे कोई क्लेश नही है। सब पदार्थ विविक्त है, किसीके कुछ भी परिणमनसे इस आत्मतत्त्मे कोई परिणति नही बनती है। यह आत्मा अपने आपमे ही अपनी कल्पनाएं बनाकर अपनी योग्यताके अनुसार परिणमन किया करता है। एक पदार्थका दूसरे पदार्थमे कर्तृत्व रंच भी नही है। ऐसा ही ज्ञानानन्दस्वरूप यह आत्मा जो संसारमे रुल रहा है और संसारके जिस किसी भवमे यह जन्म लेता है तो उस ही भवको एक अपना सर्वस्व समझता है और उस भवके योग्य जो व्यवस्थाये है उनकी पूर्तिमे ही अपनी बुद्धिमानी मानता है। यद्यपि गृहस्थावस्थामे व्यवस्थाकी पूर्ति करना एक कर्तव्य है लेकिन उसकी दृष्टिमे यह ही सर्वस्व नही है। इसे तो वह स्वप्न मानता है और गृहस्थीके सारे कर्तव्य उसे करने पडते है, पर चित्तमे लगन तो एक आत्मतत्त्वकी है।

ज्ञानका सौरभ आचरण—एक कथानक बहुत प्रसिद्ध है अरहदास सेठका कि होली की अष्टाह्निकाके दिनोमे जब कि जनता नाना प्रकारके आमोद प्रमोद किया करती थी, राजा ने एक बनलीलाका प्रोग्राम रचा और नगर भरमे यह घोषणा करायी कि सब लोग नगर खाली कर दें। नगरकी व्यवस्था सिपाही लोग करेंगे और बनमे दो निवास बने हैं--स्त्रियोका अलग और पुरुषोका अलग। सभी लोग बनविहारका आनन्द लूटेंगे। यह घोषणा सुनकर अरहदास सेठने सोचा कि हमने अष्टाह्निका महोत्सवमे पूजनका काम शुरू किया है, इस समय हम कैसे इसे छोडकर जंगल पहुच सकेंगे। तो राजाके पास पहुचा बड़े भेंट सम्मान सहित निवेदन करके कहा--महाराज हमने अष्टाह्निकामे पूजनका व्रत लिया है। हम रात दिन धर्मचर्चा मे लगे रहते हैं, इस बीचमे हम कैसे जगल पहुंच सकेंगे ? तो राजाने उस सेठके परिवारको बन जाने से छूट दे दी। अब सब जनता तो बनविहारके लिए नगर छोडकर पहुंच गयी, केवल अरहदास सेठके घरमे सभी लोग रह गए। रात दिन धर्मचर्चामे उनका समय व्यतीत हो रहा था। उन्ही दिनोमे राजाकी यह इच्छा हुई कि हम जहाँ रानियोका बनविहार है वहाँ जायें, तो मंत्रियोने बहुत मना किया--महाराज आपने ही तो यह व्यवस्था बनायी और आप ही अब बनविहारके स्त्री निवासमे जायेगे तो यह बात युक्त न होगी। महाराज चलो नगर चले, देखे कहां क्या हो रहा है ? सो मन्त्रीगण राजाका दिल बहलाते हुए नगरमे ले गए। रात्रिका समय था। अरहदास सेठके घरके पीछे छिपकर वार्ता सुनने लगे, वहाँ कोई वार्ता हो रही थी। अरहदास सेठ अपने सम्यक्त्वकी कथा सुना

रहा था। उसके ७ सेठानिया थी। सभी सेठानिया कहे बिल्कुल ठीक, पर सबसे छोटी सेठानी कहे बिल्कुल गलत। यो सभी सेठानिया कथा कहे तो सभी कहे बिल्कुल सही; पर सबसे छोटी सेठानी कहे बिल्कुल गलत। कुछ कथा ऐसी भी थी जो राजाके घटनाकी थी। सभी सेठानिया सही सही कहती थीं, पर वह छोटी सेठानी झूठ बतलाती थी। राजाने दूसरे दिन सेठके घरके सभी लोगोको बुलवाया और कहा कि रात्रिकी वार्तामे सभी सेठानिया तो सही-सही कह रही थी और छोटी सेठानी झूठ झूठ कह रही थी, इसका न्याय करेगे। राजा ने पूछा कि सभी सेठानिया तो उस कथाको सही कह रही थी और छोटी सेठानी क्यो झूठ कह रही थी ? तो छोटी सेठानी ने उत्तर कुछ भी न दिया, उसने सारे वस्त्र आभूषण उतार कर रख दिये और यो ही एक धोती पहिनकर मौन सहित वनको चली गयी। उसकी शान्त मुद्रा यह बता रही थी कि सत्य तो यह है।

प्रयोगसे ही प्रयोग्यका विकास—किसी भी बातमे उसका सही आनन्द तब तक नही आता जब तक कि उसमे कुछ प्रयोग नही बनता। कभी बने, यद्यपि जीवके साथ कषायोके वेग लगे हुए है, कभी चलित होता लेकिन कभी तो भान होना चाहिए जिसका स्मरण करके हम इस ससारमे भयभीत न रह सके। अपने आपमे नि शक और निर्भय रह सके यह बात हो सकती है तो सम्यग्दर्शन होने पर। जो पुरुष काम और भोगसे विरक्त होकर ब्रह्मचर्यकी उपासना करते है उन्हे आत्मध्यान होना सुगम है। एतदर्थ १० प्रकारके मैथुन त्याज्य होने चाहिए अथवा त्यक्त हो ही जाते हैं। कामवेदना एक ऐसी तीव्र व्यर्थकी वेदना है अटपट जिसकी न जड, न कारण, केवल मनोज है, मनमे कल्पना उठी और कामवासना हुई। उस कामवासनामे जो पुरुष रत है, ऐसे पुरुषके शुद्धि, पात्रता, ध्यान, ये नही बन सकते हैं, अत अपने आपकी पवित्रताके लिए यह आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य की अधिकाधिक उपासना करे, और इसकी उपासनाका उपाय यही है कि हम ऐसा अपना उपयोग बनाये कि जिससे हमारा उपयोग निर्मल बना रहे और गदी बातोंके लिए चित्त ही न जाय।

सम त्रिवर्गसाधनामें गृहस्थधर्मकी पूर्ति—पुरुषार्थ चार होते है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। गृहस्थोको तीन प्रकारके वर्ग बताये गए—धर्म, अर्थ और काम। मोक्षकी बात इसलिए नही कही कि इस समयमे मोक्ष पुरुषार्थकी साधना तो होती नही, निर्वाण होता नही, दूसरी बात–मोक्षके प्रसगमे आजकल जितनी बात की जा सकती है वह धर्म पुरुषार्थ मे सामिल हो जाती है। आजकल हीन संहनन होनेसे मोक्ष पुरुषार्थ बनता नही है। और, गृहस्थोकी बात कह रहे हैं–वहाँ त्रिवर्गकी प्रसिद्धि है, मोक्षको अपवर्ग कहा है, जहाँ तीन वर्ग नही रहते, केवल मोक्ष ही रहता है उसे अपवर्ग कहा करते हैं। तो तीन वर्ग हुए, धर्म, अर्थ काम। मोक्षकी एवजमे चौथी बात कोई और ले लीजिए, जिसके बिना आपका

काम न चलता हो और वह बात बडी सुहावनी भी लगे। चौथी चीज ले लीजिए निद्रा लेना, सोना। यह कितनी सुहावनी बात है। तो अब चार काम हो गए–धर्म, अर्थ, काम और निद्रा लेना। धर्ममे धर्म पुरुषार्थ, पुण्य कार्य, ऐसे ऐसे शुभोपयोगके कार्य करना जिससे उपयोग उनमे ही लगा रहे। अर्थके मायने आजीविकाका कार्य करना और कामके मायने पालन पोषण, परोपकार, दुनियाको सत्पथमे ले जाने का प्रयास, ये सब उनके पालनपोषण मे, कामपुरुषार्थमे सामिल है। तीन बातें तो यो हुई। चौथी बात कही है नीद लेना। दिन रातमे समय कितना होता है? चौबीस घटेका। और काम कितने है? चार। तो ६–६ घटेका समय चारो कामोमे बाट दीजिए, बिल्कुल ठीक विभाजन हो जायेगा। ६ घंटे धर्मके लिए, ६ घंटे अर्थके लिए, ६ घटे कामके लिए और ६ घंटे निद्रा लेनेके लिए। देखो सुबह ४ बजे जब नीद खुलती है तबसे १० बजे तक धर्मकार्योंमे रहे। इतने समयमे महिलाये जो किसी त्यागी व्रतीके लिए आहार दानका कार्य करती है वह भी धर्म पुरुषार्थमे सामिल है, १० बजेसे लेकर शामके ४ बजे तक खूब धनार्जनका काम करे, नौकरी पेशा वाले हो, चाहे व्यापारी हो, चार बजे शामसे फिर दस बजे रात तक कामपुरुषार्थमे रहे अर्थात् देशसेवा, समाजसेवा, गृहसेवा, तथा उचित भोगोपभोग वगैरहके जो भी कार्य है उनमे रहे, इसके बाद दस बजे रातसे फिर ४ बजे सुबह तक निद्रा लेने अर्थात् सोनेका काम करे। इस दिन-चर्यामे एक आध घटेका समय आगे पीछे भी ऐसा रख सकते है कि जिससे सभी काम ठीक ठीक निपटते जाये। मतलब सारा यह है कि उपयोग ऐसे काममे लगाये कि अपना उपयोग विशुद्ध रहे और ब्रह्मचर्यके विरुद्ध कामवासनाके समर्थक कोई विकार अपनेमे न जगें।

कर्तव्यशीलतासे सफलताका लाभ–'प्रश्नोत्तररत्न मालिका' मे लिखा है कि "को वैरी नन्वनुद्योग, इस जीवका बैरी कौन है? उत्तर देते है—उद्योग न करना, बेकार रहना। कोई लोग ऐसा सोचते है कि हमारा कुछ ऐसा उदय आया है कि कोई काम ही नही निभता, किसी काममे सफलता ही नही होती। कोई काम ही नही है करने को, खाली बैठे हैं। अरे क्यो खाली बैठे हो? कोई काम नही है तो शरीरसे दीन दुखियोका उपकार तो कर सकते हो। आजकल तो ऐसे सेवक मिलते ही नही, लोग परेशान रहते है। तो यदि आप खाली बैठे है, आपके पास कोई काम नही है तो आप शरीरसे दीन दुखियोकी सेवा कीजिए। उससे कितना लाभ होगा? समयका सदुपयोग होगा, लोगोकी दृष्टिमे इज्जत बढेगी और इससे ऐसा मधुर वातावरण होगा कि पुण्य भी शीघ्र उदयमे आयेगा। बेकार कभी भी नही बैठना चाहिए। किसी न किसी शुभकार्यमे अपना उपयोग लगाये रहे, पूजा, स्वाध्याय, उपवास, सत्संग आदि ये सब शुभ कार्य हैं। इनमे अपना उपयोग लगा रहे। धनोपार्जन भी करें। यह तो है गृहस्थोकी बात। और, साधु होकर, त्यागी होकर

जो रहे उन्हे भी ऐसे शुभ कार्योमे व्यस्त रहना चाहिए। इसीलिए ६ आवश्यक कार्य साधुवोको भी बताये गए है–पूजन, वदन, प्रतिक्रमण, सामायिक, स्तवन, स्वाध्याय। इन कार्योमे उन्हे व्यस्त रहना चाहिए। ऐसे कार्योमे उपयोग रहेगा तो ब्रह्मचर्यका निर्वाह सुगम होगा और फिर जिनकी दृष्टि अपने आत्मस्वरूपमे लगी हुई है उनको तो ये दुर्धर महाव्रत भी एक खीलामात्र है। काम और भोगोसे विरक्त होकर ब्रह्मस्वरूपकी उपासना करना अपना हितकारी कर्तव्य है।

स्मरप्रकोपसभूतान् स्त्रीकृतान् मैथुनोत्थितान्।
ससर्गप्रभवान् ज्ञात्वा दोपान् स्त्रीषु विरज्यताम् ॥६००॥

आत्माकी महनीयताका उपाय ब्रह्मचर्य––कामके प्रकोपसे उत्पन्न हुए विकारको जीतनेके लिए ऐसा ज्ञानाभ्यास, ऐसा उपयोग बने जिससे कामविषयक दोष और ससर्ग न हो अर्थात् स्त्रीजनोसे विरक्ति रहे, कामवाधसे विरक्ति रहे और एक ब्रह्मत्वकी उपासनाके लिए रुचि जगे। देखिये जिन सतोने, जिन महात्मावोने जो भी महिनीयता पायी है सभी महात्मावोकी महिनीयताका मूल कारण एक ब्रह्मचर्यव्रत मिलेगा। ब्रह्मचर्य व्रतके पालन का विवेक न हो तो फिर मनुष्यको मनुष्य क्या कहा जाय? मनुष्य तो उसका ही नाम है जिसका मन श्रेष्ठ हो, जो हितका और अहितका विवेक कर सके। फिर तो समझना चाहिए कुछ भी पालन करे, एक ब्रह्मचर्यकी ओर दृष्टि नही है, इसके विरुद्ध खोटी प्रवृत्तिया चल रही है तो वे सब व्यर्थ हो जाती हैं।

शुद्धात्मध्यानसे ही आत्माका हित––यह ग्रन्थ है ध्यानका। जीवोको शरण एक आत्माके शुद्धस्वरूपका ध्यान है। खूब बुद्धिका विस्तार करके परख लीजिए, कौनसा समागम इस जीवको शरण है। बाह्य समागमोमे यदि समागम मिल गए तो तृष्णाका तो अन्त है नही। और तृष्णासे व्याकुलता ही होती है। जो मिला उससे अधिक और मिलना चाहिए। हजार हुए तो लाख, लाख हुए तो करोड, इस तरहकी दृष्टि बढती ही जाती है। तो क्या उससे शान्ति मिली? उससे तो एक तृष्णा जगी, और दुखमे विशेष पड गए। और समागम न मिले तो उसकी तरस रहती है, हम दीन है, दरिद्र है इस प्रकारकी चित्तमे भावना रहती है। तो समागम मिले या न मिले, कितनी ही स्थितिया ऐसी होती है कि वहाँ शान्ति नही मिलती। यहाँ कोई भी समागम ऐसा नही है जो जीवको शरणभूत हो, सुखदायी हो। खूब निगाह डालकर सोच लीजिए। न स्त्री, न पुत्र, न नेतागिरी। ये सब स्वप्नवत् असार हैं। जब आत्माको अपने स्वरूपका परिचय हो और समस्त सासारिक समागमोसे अपने चित्तको निवृत्त करले, अपने आपकी ओर अपना चित्त लगाये, आत्मध्यान करें तो इस उपयोगमे उसे शान्ति प्राप्त हो सकती है।

यथार्थ विश्रामके उद्यमकी श्रेष्ठता—भैया ! उद्यम ऐसा ही करना चाहिए जिससे कि आत्माको यथार्थ विश्राम मिले । केवल एक गृहस्थीके नाते घरको ही बढाना, घरसे ही सुख समझना और पञ्चेन्द्रियके विषयोमे ही अपना मन लगाना, उसके ही साधन जुटाना, उसकी तरक्कीमे ही मेरी तरक्की है ऐसा समझना, ये सब बाते इस जीवको कहाँ तक साथ दे सकगी ? आखिर जीव का सम्बन्ध तो जीवके खुदसे है । वहाँ कोई ऐसा विचित्र फेर बने, परिवर्तन बने, जो एक अलौकिक और विलक्षण है वह तो लाभकी चीज है अन्यथा जैसे अनादिकालसे रुलते चले आये वैसे ही रुलते रहे तो मनुष्यभव पाकर भी तत्त्वकी बात कुछ न पायी । सच बात तो यह है कि वैभवमे जब तक मोह बुद्धि रहती है तब तक यह संसार ही बढता है और जहा मोहभाव हटा, ममता दूर हुई, भले ही व्यवस्था करते रहे किन्तु एक सत्यप्रकाश रहे कि मेरा जगतमे कुछ नही है । मेरा मात्र मैं ही हू । देहसे भी न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप मैं हू, ऐसी चित्तमे यथार्थ प्रतीति हो तो इस प्रतीतिके कारण इसे निर्भयता, नि शकता, निराकुलता, शान्तिपथ, ये सब प्राप्त होगे ।

कल्याणकी अप्रतीघातता.– कल्याणका उद्यम गुप्त रहकर भीतर ही भीतर करना है, इसे रोकने वाला कोई नही है । बाहरका काम हो तो कोई उसका रोकने वाला भी बने । स्त्री पुत्रादिक कोई भी न माने, कहे कि यह काम मत करो । बाहरके कामोमे कोई अधिकसे अधिक इतना ही तो कर सकेगा कि तुम घर छोडकर मत जावो, बनमे मत रहो, त्यागी मत बनो । कदाचित् अपनी कमजोरीसे या दूसरोके कहने से मान लो कोई अपने घरमे ही रहता है, त्यागी बनकर जगलमे नही रहता है तो अपने उपयोगको अपने आत्मा की ओर लगानेमे उसे कोई बाधा डाल सकता है क्या ? वह तो भीतरकी बात है । वह तो स्वतन्त्रताकी बात है । ऐसी ज्ञानदृष्टि इन २४ घटोमे कभी भी १०--५ मिनट बने, तो अपने ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपकी ओर अपना झुकाव बने तो उस आत्मस्वरूपके स्मरणके प्रतापसे ऐसा शुद्ध वातावरण बनेगा कि उसका सारा दिन शान्तिपूर्वक व्यतीत हो सकता है । हमारा कर्तव्य है कि हम पारमार्थिक ब्रह्मचर्यकी साधनाका उद्देश्य रखे और व्यवहारिक ब्रह्मचर्यकी साधनाको उस पारमार्थिक ब्रह्मचर्यके लाभके लिए निर्दोष करते रहे ।

सिक्तोऽप्यम्बुवरव्रातै प्लावितोऽप्यम्बुराशिभि. ।
न हि त्यजति सताप कामवह्निप्रदीपित ॥६०१॥

इन्द्रियविजयका उपाय—भगवानकी निश्चयसे भक्तजन यो स्तुति करते हैं कि हे प्रभो ! आपने अपने आपके ज्ञानस्वरूपको अधिक समझा और इसके प्रतापसे इन्द्रियो पर विजय पाकर जिन बने है, जितमोह बने है । इन्द्रियका विजय किस तरह पाया जाता है, इस सम्बन्धमे एक उपायकी बात सुनिये । विषयभोगोका सम्बन्ध तीन प्रकारके तत्त्वोसे

है। जिस किसी भी इन्द्रियका विषय भोगा जाता है तो वहाँ तीन प्रक्रिया चलती है–एक तो सामने विषयभूत पदार्थका सग मिलना। इन्द्रियके विषयभूत पदार्थ है धन, स्त्री, रूप, शब्द, स्पर्श, रस, भोजन आदि। उनका सग मिलना एक प्रक्रिया तो यह है, दूसरी बात यह है कि उनके भोगनेके लिए इन द्रव्येन्द्रियोका जो पौद्गलिक हैं हाथ, पैर, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत, यह सारा शरीर जो इन्द्रियरूप है इस शरीरकी प्रवृत्ति होना, और तीसरी बात बनती है अन्तरङ्गमे कल्पनाएँ बनना, ज्ञान बनना, उपयोग लगना। इसे सैद्धान्तिक शब्दोमे यो कहते है भावइन्द्रिय, द्रव्यइन्द्रिय और विषय, इन तीन पदार्थोंकी एक सम्मिलित प्रक्रियासे भोग उपभोग बनते हैं। तब इन इन्द्रियोके विजयके लिए क्या करना चाहिए, कितना काम करना चाहिए? बहुत काम नही करना है, केवल एक ही काम करनेकी आवश्यकता है। वह क्या? इन तीनसे प्रथक् अपने ज्ञानस्वभाव को समझना। इस भेद विज्ञानमे उन तीनोका ही विजय हो जाता है।

इन्द्रियविजयोपायका विवरण––इन्द्रियसे भी न्यारा यह मैं ज्ञानमात्र हू। ये इन्द्रिया पौद्गलिक है। इन भावेन्द्रियसे भी जुदा ज्ञानस्वरूप मैं हूँ. ये भावेन्द्रिय है भीतरमे ज्ञानरूप, ये खण्ड खण्ड जानती है। जिनकी जानकारी उपयोगमे है और बाकी अन्य कुछ भी उपयोगमे नही है। सर्वज्ञदेवका ज्ञान तीन लोक अलोकको एक साथ जानता है। अतएव उसके ज्ञानको खण्डज्ञान नही कहा। भावइन्द्रियसे अर्थात् इन्द्रियसे हम जो कुछ भीतरमे जानते है वह अश अश करके जानते है, लेकिन अश अश जानना मेरा स्वरूप नही है। यह कर्मोंके आवरणसे भेद बन गया है। मैं हू अखण्ड ज्ञानस्वरूप। अखण्ड ज्ञानस्वरूप अपनी भावना करके इस खण्डज्ञानरूप इन्द्रियको जीतना चाहिए। ये सब विषय हैं सब सग, किन्तु मैं आत्मा हू नि सग केवल ज्ञानानन्दस्वरूप। उस स्वरूपकी भावना करके विषयोके प्रसगको जीत लेना चाहिए। यो द्रव्यइन्द्रिय, भावइन्द्रिय और विषयोसे विरक्त होकर जो ज्ञानस्वभावमे अधिक अपने आपके स्वरूपको जानता है उसे जिन याने इन्द्रियोको जीतने वाला कहा है। कहते है ना जिनेन्द्रदेव। जिनका अर्थ है–कर्मोको जीते, विषय-कषायोको जीते तो इस स्तुतिमे जिन शब्दका अर्थ किया गया वह सम्यग्दृष्टि जीव, जो काम-भोगोसे विरक्त होकर निज ब्रह्मस्वरूपकी उपासना करता है। हे प्रभो! आप ऐसे जिन हो।

निर्मोह प्रभुस्वरूपकी उपासना––हे नाथ! आप जितमोह हो। आपने मोहभावसे जुदा केवल ज्ञानज्योति स्वरूप अपने अतस्तत्त्वका अनुभव किया है जिसके कारण आप जितमोह हुए है, फिर इसी निर्मोह ज्ञानानन्दस्वरूप अतस्तत्त्वकी उपासना करके आपने मोहका सर्वथा क्षय कर दिया है, अतएव आप क्षीणमोह हैं। यो भगवानकी स्तुति भगवान के गुणोके वर्णनसे की जाती है।

विवेकातिरिक्त जलावगाहादि अन्य उपायोंसे कामव्यथाके शमनकी असंभवता— प्रभुने जिन इन्द्रियविषयोको जीत लिया है उन इन इन्द्रियविषयोके उत्पातकी बात चल रही है। उन ५ विषयोमे भयकर अहितकर विषय है काम। इस काम-अग्निसे जो ज्वाला उत्पन्न होती है उस ज्वालाकी शान्ति समुद्र भर पानी सीच दिया जाय तब भी नही हो सकती है। ऐसा ही यह कामका वेग है, उससे निवृत्त होनेके लिए कर्तव्य यह है कि हम ऐसे धार्मिक कार्योमे अपने उपयोगको लगाये और गृहस्थीके योग्य आजीविकाके साधनोमे कुछ समय अपना चित्त दे, बेकारी अपने आपमे न रहे, अगर काम न मिले तो दुनियाका उपकार करे। उपकारका क्षेत्र तो बहुत पडा हुआ है। उद्योगहीन रहकर जीवन बिताने से अनेक दुर्गुण प्रकट हो जाते है। अपना समय धार्मिक कृत्योमे व्यतीत हो, विवेकसे चलें तो इसमे अपना लाभ है।

मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि भास्कर ।
न प्लोषति तथा लोक यथा दीप्त स्मरानल. ॥६०२॥

कामानलका प्रकृष्ट दाह— जेठका तो महीना हो, मूल नक्षत्रका दिन हो और बादल रहित आकाश हो, उस समयकी दोपहरमे जो सूर्यकी गर्मी होती है उससे जो संताप उत्पन्न होता है उससे कई गुना अधिक कामाग्निसे प्रज्ज्वलित होकर इस मोही जीवके संताप उत्पन्न होता है। एक दिमाग ही तो बदल गया अनुचितकी ओर बुद्धि लग गयी, उसमे जो मानसिक व्यथा उत्पन्न होती है उसकी दाह जेष्ठके मूल नक्षत्रके भयानक सूर्यसे भी अधिक है। धर्मकार्यमे रुचि रखने वाले पुरुषको सर्वप्रथम यह ब्रह्मचर्यव्रत आधार है। जिस पुरुषके मनसे वचनसे, कायसे, ब्रह्मचर्य व्रतका पालन है उस पुरुषके ही रत्नत्रयरूप धर्मविकासकी प्राप्ति होती है। एक जातिकी कषाय है, अन्यथा समीक्षा करके देखो तो उस कामविकार के भावसे और उसमे किए हुए यत्नसे इस आत्माको लाभ क्या होता है? बरबादी ही सारी पडी हुई है। जो पुरुष निर्दोष ब्रह्मचर्यकी साधना रखते है उनके ही उपयोगमे यह आत्म-तत्त्व हस्तपर रखे हुए आवलेकी तरह स्पष्ट प्रतिभात हो सकता है। जिन्हे आत्मध्यान होता है, आत्मस्मृति बनती है वे पुरुष एक परमार्थ पथमे लगे हुए होते है और सत्य शिव सुन्दर सर्वकल्याण उनको ही प्राप्त होता है।

हृदि ज्वलति कामाग्नि पूर्वमेव शरीरिणाम् ।
भस्मसात्कुरुते पश्चादङ्गोपाङ्गानि निर्दय ॥६०३॥

कामाग्निकी ज्वालाका दुष्परिणाम— कामरूपी निर्दय अग्नि प्रथम तो जीवोके हृदयमे प्रज्ज्वलित होती है। और जब यह कामाग्नि वृद्धिको प्राप्त होती है तो शरीरके अंगोपाङ्गोको भष्म कर देती है अर्थात् सुखा देती है। चिन्ता चितासे भी बढ़कर दु खदायी

है। किसी भी ओरकी चिन्ता हो, धन वैभवकी, इष्ट वियोगकी, अनिष्ट सयोगकी किसी भी प्रकारका शोक हो उस चिन्तामे मनुष्यका शरीर घुल जाता है और फिर यह बेहूदी चिन्ता है कामविषयक चिन्ता, जिसका न कोई आधार है, न रूपक है, न वास्तविकता है। केवल एक हृदयमे विकल्प उठ बैठा तो उस वेदनासे पीडित होकर यह जीव अपने शरीरको सुखा डालता है।

निष्काम कर्मयोगका ब्रह्मचर्यके साधनमें सहयोग—कामी पुरुषका जीवन बेकार है। निष्काम होनेके लिए कर्तव्यशील होनेकी बहुत जरूरत है। निष्काम कर्मयोग यह ब्रह्मचर्य की साधनामे बहुत सहायक उपाय है। क्या ? विना विषयसाधनालक्ष्यके जीवोका उपकार, कर्तव्यका पालन, उन कर्तव्योंसे अपने लिए कुछ चाहे मत। चाहे तो इतना ही चाहे कि हे भगवन् ! स्वप्नमे भी मुझमे विकार भाव न जगे। अपने आपको निर्मल पवित्र बना सकना यह बहुत ऊँचा कार्य है। कुछ भी परिस्थिति आये, दरिद्रता है तो क्या है, वह कुछ विपत्ति है क्या ? पदार्थ है, नही रहा यहाँ, किसीमे निकट रहा। जिसके निकट वैभव है वह वैभव से वैभववान नही हो गया, वह तो अब भी अकेला है, अपने स्वरूपमात्र है। और, जिसके निकट वैभव नही है उसका गया क्या आत्मासे ? आत्मामे गुण कम हो गए क्या ? कौनसी व्यथा आ गई ? पर मोहमे एक दृष्टि ऐसी बन जाती। ये जगतके मोही जन मुझे लोग भला कहे, बस इतने मात्रके काल्पनिक सुखके लिए जो कि असार है, असार ही नही विपत्तियोका कारण है इतने मात्र सुखके लिए इतने श्रम और विकल्प करते हैं मोहीजन। उनमे तत्त्व कुछ नही है। धर्मकार्य करें तो आत्मउद्धारमे लक्ष्यसे ही करें पारमार्थिक ब्रह्मचर्यकी साधनाके लिए ये सब धर्मकर्तव्य है——शीलसे रहना, उपवास करना, दर्शन करना, स्वाध्याय करना आदि।

ब्रह्मचर्यका सहयोगी विवेक—इन्द्रियके समस्त विषयोमे से कामविषय इतनी विकट विपत्ति है कि जिससे कह सकते कि इसका जीवन बेकार है। उस भावनाको बदलकर एक शुद्ध आत्मतत्त्वके निरखनेमे लगना, उसमे उपयोग जमा रहे इसकी वृत्तिमे यत्न होना चाहिए। रही गृहस्थावस्थामे आजीविकाकी बात, उसके सम्बन्धमे यह विश्वास बनायें कि परिवारमे जितने भी लोग है सबके साथ कर्मका उदय लगा है। जैसे हम है कर्मसहित वैसे ही घरके सब लोग है कर्मसहित। सभी अपने-अपने कर्मोंसे सुखी दुःखी होते हैं। उनका उदय अच्छा होगा तो हम या अन्य कोई उनसे पालन पोषणमे निमित्त बनेंगे। मैं किसीका पालन पोषण नही करता, मैं तो केवल अपने आपमे अपने विकल्प करता हू। ऐसी प्रतीति बनाये और धर्मकार्योंको मुख्य मानें और वह भी बनता है ब्रह्मचर्यकी भावना सहित। सो ब्रह्मचर्यव्रतको अधिकाधिक निर्दोष बनानेका प्रयत्न करे।

अचिन्त्यकामभोगीन्द्रविषव्यापारमूर्छितम् ।
वीक्ष्य विश्व विवेकाय यतन्ते योगिन परम् ॥६०४॥

कामविषमूर्छितोंको जगानेके लिये योगियोंका यत्न--देखिये जैसे किसी सर्प आदिक के डसनेसे किसीको विष चढ जाय तो उसके उतारनेके लिए मंत्रवादी प्रयत्न करते है, इसी तरह समझिये कि महावलवान कामरूपी सर्पके विषव्यापारसे मूर्छित हुए इस विश्वको निरखकर योगीजन विवेक सहित उनके विवेकके लिए प्रयत्न करते है। जगतमे इतना ही तो एक रहस्य है कि यह मनुष्य, यह जीव अपने आपको अपने स्वरूपमात्र नही मानता तो इसके परपदार्थोमे मोह उत्पन्न होता है। वस यही तो विपत्तिका मूल है, और जिस किसी भी उपायसे इसको अपने आपमे यह विवेक जग जाय कि मेरा तो स्वरूप एतावन् मात्र है जितना यह मैं अपने क्षेत्रमे अपने प्रदेशमे ज्ञानज्योति स्वरूप हू, आनन्दस्वरूप हू, जो कुछ मैं अपने आपमे प्रवर्तन कर रहा हू उतना ही मैं हू और मेरा प्रभाव, मेरी दुनिया, मेरा सर्वस्व मेरे स्वरूपमे ही है, इससे वाहर नही है, इतना ज्ञान विवेक श्रद्धान ज्ञानी पुरुष मे हुआ करता है, वह चाहे गृहस्थ हो अथवा साधु हो, मूलमे इतना ज्ञान हुए बिना वह मोक्षमार्गी नही हो सकता। अपने स्वरूपका परिचय होनेपर फिर इस ही उपयोगकी रक्षाके लिए वाहरमे जो भी काम करना पडता है वे सब भी काम कर्मयोग कहलाते है।

ज्ञानी गृहस्थकी प्रवृत्ति—ज्ञानी गृहस्थने चावसे गृहस्थी नही वनायी, किन्तु अन्य उपाय अपनी रक्षाका नही समझ पाया इसलिए गृहस्थी वनायी है। जो चावसे गृहस्थी वनाते है वे ज्ञानी नही है। इस आत्मतत्त्वसे परिचित ज्ञानी पुरुषने अपनी परिस्थितिके माफिक साधन जुटाया, सन्यास स्थितिमे अपना निर्वाह नही समझ पाया और साथ ही मैं व्यसनोमे विषयोमे पतित न हो जाऊं, यह भी भावना रखी, तो इन दो भावनाओके वीच की स्थिति है गृहस्थीका अगीकार करना।

ज्ञानी गृहस्थकी वृत्तिपर एक दृष्टान्त—ज्ञानी गृहस्थके क्या अन्तर्दृष्टि रहती है, इसे एक उदाहरणसे समझिये। किसी सेठकी मृत्यु हो रही थी। उसके केवल एक वालक था। घरमे और कोई था नही तो उसने गाँवके मुख्य ४-५ लोगोको बुलाकर उनके नाम ट्रष्ट्र-नामा लिख दिया। ये ये इस सारी सम्पत्तिके ट्रष्ट्री है और ये इस वालककी रक्षा करेगे। जब वालक अपनी उम्र पर आ जायेगा तो ये सारी जायदाद उसे सौंप देंगे। अब सेठका तो मरण हो गया। कुछ दिन गुजरनेके वाद वह वालक सड़क पर खेल रहा था, किसी ठगने उस वालकको देखा। उसके कोई वालक था नही, सो वह उसे अपने घर उठा ले गया। अपनी स्त्री ठगिनी को उसको पाल लेनेके लिए कहा। वह ठगिनी स्त्री भी उस सुन्दर लडके को पाकर वडी खुश हुई। खूव प्यारसे उसे पाला पोषा। अब वह वालक तो

यही समझ रहा था कि यह मेरी माँ है, यह पिता है, यह मेरी खेती है, उसीको अपनी जायदाद समझता था। जब १८–१९ वर्ष गुजर गए तो शहरकी एक गलीसे वह लडका निकला। एक ट्रष्टीने उसे पहिचान लिया और बोला–ऐ बालक, तू अभी तक कहाँ था ? तेरी यह १० लाखकी जायदाद हम कब तक सभालेगे ? अब तू इसे ले ले, इसकी रक्षा कर। उस बालकको इतनी बात सुनकर आश्चर्य हुआ। आखिर यही बात तीन चार लोगो ने और कही तो उसे विश्वास हो गया कि ये ठीक कह रहे होगे। उनसे वह लडका कहने लगा कि अच्छा फिर देखेंगे। झट अपने घर पहुचा। ठगनी माँ के पैर पकडकर वह शुद्ध हृदयसे गद्‌गद् होकर पूछने लगा कि माँ यह तो बतावो कि मैं किसका लडका हू ? ठगनी माँ उस बच्चेकी मोहनी मुद्राको निरखकर बोली कि तू अमुक सेठका लडका है। इतनी बात सुनकर उसके चित्तमे सब उजाला हो गया। वह समझ गया कि वे लोग ठीक ही कहते थे। जब मेरे माता पिता गुजर गए तो ये मुझे उठा लाये थे। उसके सही ज्ञान जग गया। ज्ञान जग जानेके बाद क्या वह ठगनीको ठगनी और ठगको ठग कहेगा ? वह तो ठगनीको माता और ठगको पिता ही कहेगा। वह वैसे ही उन्हे माता पिता कह रहा है। उन खेतोको अपनी खेती कह रहा है, उन खेतोमे कोई जानवर घुस जाय तो उसे भी वह खेद रहा है। सारी बातें वह पूर्ववत् कर रहा है, पर उसके चित्तमे यह बात बैठ गयी है कि यह मेरा घर नही, ये मेरे माँ बाप नही।

ज्ञानी गृहस्थकी उपेक्षामयी अन्तर्वृत्ति—ठीक ऐसी ही उपेक्षारूप स्थिति सम्यग्दृष्टि गृहस्थकी होती है। भेदविज्ञानसे जान लिया कि इस मुझ आत्माका कोई जनक नही होता। आत्मा स्वय सिद्ध है, अनादिसे है और इसमे उत्पाद व्यय करनेका स्वभाव है, जैसे कि सभी पदार्थोंमे होता है। यो उत्पाद व्यय करते हुए अनादिसे चला आ रहा हू, अनन्त काल तक चलता रहूगा, मेरा कोई जनक नही, मेरा वैभव मात्र वही है जो मेरा कभी साथ नही छोडता। वह है स्वरूप, वही मेरी विभूति है। इतना सब जानकर भी व्यवहार मे जो माता पिता है क्या उन्हे अपने माता पिता नही कहना ? जो भी वैभव है क्या उसकी रक्षा न करेगा ? वह दुकान सभालता है, सारे वैभवकी सभाल करता है, सबको अपना अपना भी कहता है, पर सब कुछ करनेके बावजूद भी उसकी दृष्टिमे पूर्ण उजेला है कि मेरा तो मात्र मैं हू।

विपद्धाम संसारमें विवेकीका कर्तव्य—यह ससार विपत्तियोका स्थान है। एक गहन बन है जिसमे क्लेशोकी दावाग्नि बहुत प्रज्ज्वलित हो रही है। इस परिस्थितिमे हमारा कर्तव्य यदि मात्र लौकिक निर्वाह ही रहा, परमार्थ काम न किया तो इसका परिणाम अच्छा तो नही निकलेगा। रही एक यह बात कि आजकल अनेक पुरुषोके

आजीविकाकी चिन्ता बनी रहती है, लेकिन चिन्ता करना यह सब अज्ञानका परिणाम है। अपनी आवश्यकताये घटा दे, अपनी सात्विक वृत्ति बनाये। उसमे इतना ही तो नुक्सान है कि लोग यह कह उठेगे कि यह इस तरहसे रहता है। इससे ज्यादा कोई नुक्सान है क्या? मगर जो बुद्धिमान है, विवेकी है वे उसके गुण गायेगे। यह कितना विरक्त पुरुष है, कितना सन्तुष्ट है, और साधारण वैभवमे व्यवसायमे सन्तुष्ट रहकर धर्मध्यानमे कितना समय लगाते है आप यह बतलावे? कोई पुरुष लौकिक इज्जत रखने के लिए रात दिन वैभव की चिन्ता और व्यवसाय करता है और कोई पुरुष अपनी लौकिक इज्जत की परवाह न करके केवल एक आत्मरक्षाके हेतु ज्ञानार्जन करता है, ध्यानसाधना करता है, अपने आपके उपयोग को अपने स्वरूपकी ओर अधिकाधिक लगाना चाहता है तो इन दो पुरुषोमे अन्तमे लाभमे कौन रहेगा? जो आत्मरक्षाके लिए यत्न करता है, आत्मदृष्टि संभालता है वह पुरुष लाभमे रहेगा। तो बजाय चिन्ता करने के इस ओर यत्न करे कि हमारा इस बिना भी काम चल सकता है।

साधुता—अपनी आवश्यकतावोको कम करनेके ही मायने साधुता है। साधुताका अर्थ और क्या है? गृहस्थोमे भी साधुता होती है और साधुवोमे भी साधुता प्रकट होती है। उनमे ये दो बाते मिलेगी—अपनी आवश्यकतावोको कम करना और उपयोगको आत्म-निरीक्षणमे अधिक लगाना। इसके विरुद्ध जो आवश्यकतावो को बढानेका यत्न रखते हैं और आत्मतत्त्वकी ओर उपयोगका कोई ध्यान भी नही करते है उनमे साधुता नही है। साधुका मतलब सज्जनपुरुष, मोक्षमार्गीपुरुष। इन सब कल्याणकी बातोको प्राप्त करनेके लिए काम और भोगोसे विरक्ति पानेकी आवश्यकता है और अपने ज्ञानस्वरूपमात्र प्रभुकी उपासनाकी आवश्यकता है।

स्मरव्यालविषोद्गारैर्वीक्ष्य विश्व कदर्थितम्।
यमिन शरण जग्मुर्विवेकविनतासुतम् ॥६०५॥

विश्वको कामविषकदर्थित निरखकर योगियोंका विवेकशरणगमन—देखिये पचेन्द्रिय के विषयोमे कुछ विषय तो ऐसे है कि जिनकी साधारणतया ससीम साधना कर लेना किसी पदमे आवश्यक है, किन्तु ऐसे ही दुर्गन्धित वातावरणमे रहनेसे शरीर अस्वस्थ हो जाता है, अतएव दुर्गन्धित वातावरणसे बचकर कुछ सुरभित वातावरणमे रहना आवश्यक है। यो कुछ बात प्रयोजक है तो किसी सीमामे, लेकिन यह कामवेदनाविषयक व्यापार तो इतना अहित करता है कि जिसके वश हुआ यह पुरुष अपने मन वचन काय सब बलोको खो बैठता है, चित्त स्थिर नही रह पाता, कभी एक लक्ष्य भी नही बन पाता। कामरूपी सर्पके विषसे पीडित इस जगतको देखकर सयमी मुनि विवेकरूपी गरुडकी शरणमे प्राप्त

होते है अर्थात् उन्होने विवेकको कामसे वचने का उपाय माना है।

कामकी विडम्बना--भैया ! गिरनेका थोडा भी कोई प्रसंग आये तो गिरना आसान है और फिर गिरते जाना भी आसान रहता है, किन्तु प्रारम्भिक गिरावटसे वचनेका यत्न हो जाय तो फिर वचनेका यत्न प्रबल होता जाता है। समयसारमे ५ इन्द्रियके विषयको काम और भोग शब्दसे कहा है। कामकी मुख्यता है स्पर्शन और रसनाइन्द्रियमे। भोगमे पदार्थका विगाड नही होता। वह तो ज्योका त्यो पूर्ण सुरक्षित होता है, किन्तु काममे पदार्थ दलमले जाते है। जैसे रसनाइद्रियका विषय है भोजन तो पदार्थको खूब दलामला जाता तव तो भोगमे आता है। भोगकी अपेक्षा इस कामको अधिक घृणित कहा गया है। उससे बचनेका उपाय एक विवेक है। जैसे एक स्वादकी वात ले लीजिए। किसी भोजनमे उत्तम स्वाद मिला तो स्वादके लिए ही सारे श्रम करने लगे कोई तो वतावो उसमे अन्तमे तत्त्व क्या पाया ? घाटी नीचे माटी। गलेके नीचे उतरा फिर उसमे कोई स्वाद नही रहता। एक थोडे सेकेण्डके सुखके लिए इतना परिश्रम करना और अपनी सारी जिन्दगी उलझनमे डाल लेना, इसे कोई विवेक नही कहेगा। ऐसे ही कामविषयक वेदनाकी पूर्ति, अनापसनाप साधन बनाना, इसे भी विवेक नही कहा।

कामविडम्बनासे वचनेका उपाय भेदविज्ञान--कामसे वचनेका उपाय विवेक ही है अर्थात् भेदविज्ञान है। जैसे कोई पुरुष यहाँसे विदेश चला गया, जव वह विदेशसे स्वदेश लौटता है तो विदेशके किनारे पहुचकर जब लोग पूछते हैं कि कहाँ जावोगे ? तो वह उत्तर देगा कि हिन्दुस्तान जायेंगे। हिन्दुस्तानमे जब प्रवेश करता है, मान लो किसी बम्बई आदिक बन्दरगाहपर आ गया तो वहाँ पूछे कोई कि कहाँ जावोगे ? तो वह कहेगा उत्तर प्रदेशमे जायेंगे। उत्तर प्रदेशके किनारेपर कोई पूछे कि आप कहाँ जावोगे तो वह कहेगा कि अमुक जिले जायेंगे। वहाँ बतावेगा कि अमुक गाँव जायेंगे, और उस गाँवमे आकर अपने घरमे जो विश्राम करनेका कमरा है उसमे पहुंचकर विश्रामसे बैठ जाता है। ऐसे ही समझिये कि मोह रागद्वेषसे पीडित होकर यह जीव विदेशमे पहुच गया, स्वदेश तो अपना आत्माराम है और जितने परपदार्थोंका संयोग है, उनकी उलझन है, यह सब तो विदेश यात्रा हो रही है। कोई पुरुष विदेश यात्रासे हटकर स्वदेश आना चाहे तो उससे पूछा जाय---भाई कहाँ जाना चाहते हो ? कहाँसे हट रहा है यह ? परभावोसे हटकर अपने वैभवकी ओर आ रहा है। लोकव्यवहारमे वैभव धन समझा जाता है। वहाँसे हटकर इन जड पुद्गलोसे हटकर चैतन्य-स्वभावमे आ रहा है। परिजन, मित्रजन, अब यहाँसे भी हटकर अपने आपके चैतन्यमे आ रहा है। यहाँसे और अन्दर जाकर एक आत्मपरिणतियोमे आ रहा है। वहाँ भी रागद्वेष मोहसे हटकर एक ज्ञानभावमे आ रहा है, और वहाँ भी तर्क वितर्क विचार क्षयोपशम

वृत्तियोसे हटकर एक शुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूपमे आ रहा है, यही है विश्रामोमे परमविश्राम। जैसे शरीरसे थके हुए लोग सो कर आराम करते है, ऐसे ही विकल्पोसे थके हुए प्राणी निर्विकल्प ज्ञानस्वभावकी उपासनामे आराम लिया करते है।

सहज परमविश्राममें आत्मकल्याण—विश्राम और शान्तिका परमधाम अपने आप के ही अन्दर अपने आपका स्वरूप है। उस स्वरूपमे जो मग्न रहते है वे ही परमयोगीश्वर है और इस ही पारमार्थिक आन्तरिक तपश्चरणके प्रसादसे अर्थात् इसी सहजआनन्दकी अनुभूतिके प्रसादसे ये कर्मकी बेडियां ध्वस्त होती है और अरहंत पदकी प्राप्ति होती है। तीन लोकके पति अर्थात् स्वामी पूज्यनाथ है, यह परमात्मा अरहंतदेव, इनके स्वरूपका ध्यान करके हम अपने स्वभावकी ओर आये और इस ब्रह्मका आचरण करके अपने परम ब्रह्मचर्यको सभालें। दस लक्षणके धर्मोंमे अन्तिम धर्म ब्रह्मचर्य है। उसका प्रसाद निर्वाण है, वह पूर्ण ब्रह्मचर्यका स्थान है। ऐसा आत्मस्वरूपकी आराधनाका मुख्य लक्ष्य बनाये और अपने दुर्लभ नर-जीवनको सफल करें।

एक एव स्मरो वीरः स चैकोऽचिन्त्यविक्रम।
अवज्ञयैव येनेद पादपीठीकृतं जगत् ॥६०६॥

काम द्वारा जगतकी अवज्ञा—इस लोकमे एक मात्र काम ही ऐसा वीर है कि जिसका अचिन्त्य पराक्रम है और जिसने अवज्ञासे ही अज्ञानमात्रसे इस जगत को पाव तले दबा लिया है। जैसे कोई किसीको वश करले, उसी प्रकारसे इस कामने लोकके समस्त प्राणियोको वश कर लिया है। जो कामके वश नही ऐसे योगिराज तीर्थंकर आदिक महा-पुरुष ही परमविजेता है। साहित्यमे एक जगह कविने लिखा है कि कामदेव और रती ये दोनो बनमे बिहार कर रहे थे कि एक जगह पारसनाथजिनेन्द्र योगिराजकी अवस्थामे ध्यानस्थ बैठे हुए थे। तब रतीने कामदेवसे कुछ पूछा और कामदेवने रतीको उत्तर दिया—कोऽय नाथ जिनो भवेत्तव वशी ऊँहू प्रतापी प्रिये, ऊँहूँ तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यावलेप-क्रिया। मोहोऽनेन विनिर्जितः प्रभुरसौ तत्किकरा के वयं, इत्येव रतिकामजल्पविषय पार्श्वो जिन पातु न ॥ रती पूछती है कि हे नाथ! अयं कः ? यह कौन है ? तो कामदेव उत्तर देता है कि जिन। ये जिनेन्द्रदेव हैं। तो रती पूछती है कि यह भी तुम्हारे वशमे है कि नही ? तो काम उत्तर देता है नही यह हमारे वशमे नही है। तब रती कहती है कि यदि यह तेरे वश नही है तो हे कायरमते! हे कायरकाम! अब तुम अपने विक्रमका अभिमान छोड दो। यह तो तुम्हारे वश ही नही है। तो काम उत्तर देता है कि इस नाथने मोहको जीत लिया है। तब हम किकर इन पर क्या अधिकार कर सकते है। इस प्रकार जिसके सम्बन्धमे काम और रतीकी वार्ता चल रही है वे पार्श्वजिनेन्द्र हम सबकी रक्षा करे।

दिखाया यह है इस कवितामे कि कामके जो वश न हो वह पराक्रमियोमे श्रेष्ठ माना गया है। यह सब बात बनती है विवेकसे, ज्ञानके प्रकाशसे, किन्तु विवेकशील पुरुष जगतमे अत्यन्त विरले हैं। इस कामदेवने जगतके सर्वप्राणियोंको अपने वश किया है। आत्मध्यानके पात्र वे पुरुष होते है जो ऐसे लोकविक्रमी काम पर भी अपने विक्रमका प्रयोग कर लें। जब तक कामवासना पर विजय नही प्राप्त होती तब तक धर्मपालनकी दिशामे विधिवत् प्रवेश नही होता।

एकाक्यपि नयत्येप जीवलोकं चराचरम्।
मनोभूर्भङ्गमानीय स्वशक्त्याऽव्याहतक्रम. ॥६०७॥

कामवशतासे महती व्याबाधा—यह काम जिसका कि पराक्रम अखण्ड है यह अकेला ही चराचरस्वरूप जगतको अपनी शक्तिसे खण्डित कर रहा है अर्थात् एक अकेला ही यह काम जगतके इन अनन्त असख्याते जीवोको अपने मार्गमे चला रहा है अर्थात् स्वाभाविक सन्मार्गमे हटाकर कुपथमे चला रहा है। पशु पक्षी मनुष्य सभी जगह देखो तो ये जीव इन्द्रियके वश होकर निरन्तर आकुलता पाते रहते है। संसारके प्रत्येक प्राणी शान्ति चाहते है और आकुलतासे दूर होना चाहते हैं। और, यावन्मात्र उनका प्रयत्न होता है। वह सब शान्ति प्राप्त करनेके लिए है। लेकिन अनेक प्रयत्न करने पर भी शान्ति प्राप्त नही होती। इसका कारण यह है कि वे सब प्रयत्न शान्तिके उपायभूत हैं ही नही। लोग कुछ थोडी सी, चतुराई पाकर इस लोकमे अपनी कलाये बता कर चतुराई पर गर्व करते है, करे, लेकिन इस असार संसारमे असार प्राणियोको असार चतुराईको दिखाकर यदि अपने मनका सन्तोष किया है तो वह मात्र मोहकी विडम्बना है। तत्त्व वहाँ कुछ भी नही है। इन्द्रियके विषयोके वशीभूत होकर और यश प्रशसा मनके विषयके वशीभूत होकर जो जो जीव प्रयत्न रखते है वे सब प्रयत्न तृष्णाको बढाने वाले है। शान्तिलाभ लेनेकी बात तो दूर ही रहो।

परमपुरुषार्थका अनुरोध—जो इस जगतमे अपने को निर्लेप और विविक्त रखना चाहते है, दुनिया जाने न जाने, माने न माने, एक अपना उपयोग अपने ज्ञानानन्दस्वभावी अत परमात्मतत्त्वमे लग गया है तो उस जीवने सब कुछ प्राप्त कर लिया। विषयोसे विरक्त होना और अपने ज्ञानस्वरूपमे लगाव होना ये दो बाते बडे ऊचे भवितव्यसे प्राप्त होती है अन्यथा ये कामनाये, नाना प्रकारकी वाञ्छायें जो जीवको आनन्दस्वभावसे पतित करके एक वैषयिक सुखमे लगा देती हैं बस ये विडम्बनायें जैसी अब तक चली आयी चलती रहेगी। नरभव पाकर दुर्लभ समागम पाकर ऐसी बुद्धि, ऐसे देव, शास्त्र, गुरुकी संगति, शास्त्रोमें जो गुरुजन मर्म लिख गए है उनके पढने समझने की योग्यता, सब कुछ

प्राप्त करके भी यदि स्वहितकी ओर अपना उपयोग नही दिया, बाह्य-बाह्य विषय प्रसगोमें ही उपयोग फंसाया तो भला बतलावो कल्याणका अवसर फिर होगा और कहाँ ? इन इच्छावोपर विजय करना एक सर्वोच्च पुरुषार्थ है।

कषायविजयमें सर्वविजय--एक राजाने अपने पराक्रमसे सब राजावो को वश कर लिया और उस राजाको सभी पब्लिकके लोग सर्वजीत कहने लगे। सब कहे सर्वजीत, मगर मा सर्वजीत न कहे। तो राजा अपनी माँ से बोला कि लोग मुझे सर्वजीत कहते है और तू क्यो नही कहती ? तो माँ बोली -बेटा अभी तू सर्वजीत नही हुआ। बेटा बोला--अच्छा बतावो अभी कौन सा राजा जीतने को शेष रह गया है ? माँ बोली–राजा तो तूने सब जीत लिये, लेकिन तेरेमे जो यह अहंकार है, तेरेमे जो ये अनेक इच्छाये जग रही है इनको तो तू ने अभी नही जीता याने तू ने अभी अपने आपको तो नही जीता। भले ही बाहरमे कुछ प्रतिष्ठा हो गई। जब तू अपने को और जीत लेगा तो मैं भी तुझे सर्वजीत कहने लगूंगी। तो प्रयोजन यह है कि अपने आपपर वश चल सके, अपने आपका अपने आपमे समाधान कर सके, विषयकषायोसे अपनेको विविक्त रख सके तो यही है शान्तिका पुरुषार्थ।

आत्मशान्तिका सुगम पथ--कितना सीधे शब्दोमे आचार्योने शान्तिका मार्ग दिखा दिया कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनकी एकता मोक्षका मार्ग है, शान्तिका मार्ग है। अपने आपके आत्माके सम्बन्धमे ऐसा निरखना कि मैं सहज जिस स्वरूप हू बस वही मैं आत्मतत्त्व हू। किसी परके सम्बन्धसे परका ख्याल करके जो कुछ विकार उठते है वे विकार मैं नही हू, मैं निर्विकार ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ऐसा श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है और ऐसा ही जानना अथवा ऐसे ही ज्ञानके लिए अन्य ज्ञान करना यह सब सम्यग्ज्ञान है और ऐसे ही ज्ञानमे निरन्तर रत रहना सम्यक्चारित्र है। इस उपायसे चले तो शान्ति प्राप्त होती है। ये उपाय उन्ही विजेता पुरुषोसे बनते जो कामसस्कारको विवेकबलसे खण्डित कर देते है।

पीडयत्येव नि शङ्को मनोभूर्भुवनत्रयम्।
प्रतीकारशतेनापि यस्य भङ्गो न भूतले ॥

विश्वकी कामपीडितता—यह काम निर्भय होकर तीन लोकको पीडित कर रहा है। सैकडो उपाय करने पर भी यह कामव्यथा दूर नही होती है। पुराणोमे यत्र तत्र देखने पढनेमे आता है कि अमुक राजा अमुक कन्याके लिए इतनी विकट लडाई लडा, और उस कन्याको लेकर सन्तोष माना। और-और जगह जो कातर पुरुष है उन्होने छल बलका ऐसा ऐसा यत्न किया। तो यह सब कामवासनाओका ही तो परिणाम है। गृहस्थोने इस ही कामके वश करने के लिए ब्रह्मचर्य अणुव्रतको अगीकार किया है, वह भी एक पुरुपार्थका

रूप है। कामसे आनुषंगिक सभी कामनाओंको ले लेना, इच्छावोपर विजय करना यह असाधारण पुरुषोका काम है, अन्यथा जीव तो इच्छावोके दास बनकर रहते है।

सत्य स्वरूपके योगका सत्य शरण—इच्छारहित रागद्वेषरहित मात्र चैतन्यस्वरूप का जिन्होने अवलोकन किया है वे ही तो अध्यात्मयोगी कहलाते हैं। बाहर सभी प्रकारके योग किये, इस जीवने अनेक सयोग बनाये, लेकिन अपने आपमे अपने आपका योग मिलना यह अध्यात्मयोग नही किया, उसका फल यह हुआ कि बाहर ही बाहर अपनी बुद्धि लगाकर अपनेको पीडित बनाया, दु खी किया। लोकमे शरण केवल अपनेको आपका ध्यान है इसी लिए भगवत्पूजा की जाती है। सिद्ध भगवतोका स्मरण करके हम भी अपने आपके उस स्वरूपको निरखे और वैसी भावना भरे, अनुभव करे कि जो सिद्धका स्वरूप है वही स्वरूप मेरा है। केवल एक विकार प्रसगका यह सब विपरीत परिणमन चल रहा है। सो स्वभाव की उपासनासे वे सब विपरीत कुसग दूर हटाये जा सकते हैं यह भावना भानेके लिए प्रभु की पूजा की जाती है। घरमे, दुकानमे, समाजमे दिन रात रहकर जो कालिमा उत्पन्न कर ली उस कालिमाको धोनेके लिए प्रभुके चरणोमे जाया करते हैं। वहाँ भी यदि परका सकल्प नही छोडा तो प्रभुका मिलान हो नही सकता। सर्व इच्छावोको भग करके इच्छा रहित, रागद्वेषादिक रहित निर्मोह अपने स्वरूपका ध्यान किया जाय तो उससे जीवको शान्तिका मार्ग मिलता है। इसके लिए चाहिए सहज वैराग्य जिसके बलसे सब गुण प्राप्त हो जाते है। वैराग्यके ही कारण उदारता प्रकट होती है। वैराग्यके कारण त्याग धर्म प्रकट होता है, वैराग्यके कारण अशान्ति दूर होती है।

सत्यस्वरूपकी उपासनामें समृद्धि अनायास—सहज वैराग्य प्राप्त हो यह मागना चाहिए प्रभुदर्शन करके। हे नाथ! मुझमे वह पराक्रम जगे जिस पराक्रमके द्वारा आपने कर्म शत्रुको भष्म किया और उत्कृष्ट नि शंक पूज्य परमात्मपद पाया, वह पद मुझे प्राप्त हो, यह भावना भरना चाहिए। उत्कृष्ट भावना होने पर साधारण बात तो अपने आप ही प्राप्त हो जाती है, उसकी माग क्या करना? कोई पुरुष छायावान बडे पेडके नीचे बैठा हुआ पेडसे हाथ जोडकर यो कहता हो कि हे वृक्षराज मुझे छाया दो, तो उसे देखकर आप शका कर उठेंगे कि कही यह बावला तो नही बैठा है। छाया वाले वृक्षके नीचे बैठा है तो छाया मिल ही रही है, अब उसकी मांग क्या करना? इसी प्रकार जो शुद्ध मनसे प्रभुभक्ति मे रत हो रहा है उसे सर्वसमृद्धि प्राप्त हो रही है। अब ऐसे उत्कृष्ट भावके समय सासारिक कुछ चीजोका क्या मागना। वे तो स्वयमेव ही आकर प्राप्त होती हैं।

पुण्य पुरुषोंकी लोकसम्पदासे परमोपेक्षा—जो पुण्यात्मा पुरुष हैं वे पुण्य सम्पदाको तृणवत् त्यागकर अपने योगध्यानसाधनामे रहते हैं, उसके प्रतापसे चारघातिया कर्म दूर

हुए, अरहंतपद प्राप्त हुआ और पुण्य सम्पदाने तब भी पीछा न छोडा, वहाँ यह पुण्यसम्पदा नाना रचनाओके रूपमे समवशरण आदिकके बहाने भगवान अरहंतके चरणोमे सेवा करने वहाँ भी पहुँची, लेकिन भगवान उससे चलित नही हुए। गंधकुटीपर पहुंच गए वहा भी पुण्य सम्पदाने रत्नजडित सिंहासन रच लिया, लेकिन उससे वे चार अंगुल ऊपर अंतरिक्ष बिराजे है। ऊपरसे अन्तरिक्षके रूपमे तीन छत्रके बहाने पुण्य सम्पदाने चाहा कि हम भगवान को छू लें लेकिन वह भी ऊपर ही लटकती रही। पुण्यसम्पदासे इस आत्माको शान्ति मिले ऐसा कभी सम्भव नही है। शान्ति तो विवेककी देन है।

निर्विकार अन्तस्तत्त्वकी उपासनामें परम निष्काम प्रभुके दर्शन—मै सबसे न्यारा, अपने आप समृद्ध प्रभु हू, कृतकृत्य हू। जगतके किसी भी अन्य पदार्थमे कुछ परिणमन करने को मुझे नही पडा है। किसी परमे मेरा कुछ कर्तव्य चलता ही नही। मै सर्वत्र अकेला अपने भावोको ही बनाता रहता हू। किसीके प्रति द्वेष भाव जगे तो वहाँ भी हम उसका अनर्थ नही कर पाते, किन्तु अपने आपमे व्यर्थ कषायभाव बनाते रहते है। इसी तरह किसी पर प्रसन्न हो जाये, किसी से मित्रता माने तो वहाँ भी हम किसीको कुछ सुख नहीं दे सकते। किन्तु हम एक अपनेमे कषायरूप परिणमन किया करते है। मेरा परमे कुछ करने को अटका ही नही है। मैं कृत-कृत्य हूँ। ऐसा जो अपने को परसे निर्लेप अनुभव करता है वह ज्ञानी कामवासनाओसे दूर रहकर आत्माका ध्यान करके निर्वाणपद प्राप्त कर लेता है। यह इच्छा दो क्षण को भी तो टले, फिर देखो उस इच्छारहित स्थितिमे प्रभुके स्वयं ही सहज दर्शन होते है।

कालकूटादहं मन्ये स्मरसंज्ञ महाविषम्।
स्यात्पूर्वं सप्रतीकार नि प्रतीकारमुत्तरम् ॥६०६॥

कामादिक विषोंकी परयोगोंसे निःप्रतीकारता—इस कामरूप विषको कालकूट विष से भी महान विष मानता हू क्योकि कालकूट विष भी उपाय करनेसे मिट जाता है, किन्तु कामरूपी विष उपायरहित है अर्थात् किसी परके द्वारा इलाज करनेसे काम रोग दूर नही होता। यहाँ पूजनमे द्रव्य चढानेका मत्र बोलते है तो कहते है कामवाणविध्वंसनाय पुष्पं। कामवाणके विध्वसके लिए मैं पुष्पोको चढाता हू। उस चढानेका अर्थ क्या ? अभी तक यह समझता रहा कि ये पुष्प व और और भी दिलचस्प साधन ये मेरी कामकी वेदनाको मेटेगे और इसीलिए इन साधनोको जुटाते रहे लेकिन उससे मिटे तो नही। तो अब हे नाथ ! मैं इन साधनोका परित्याग करता हू। जैसे अन्य मंत्रोमे कहते है जन्म, जरा, मृत्युके विनाश के लिए मैं जलका निर्वपन करता हू। हे नाथ, मैं अभी तक यह जानता रहा कि मैलको धोनेके लिए जल समर्थ है। इस मुझमे ये तीन मैल लगे है जन्म, जरा और मरण। तो

मैंने सोचा कि इस जलके प्रयोगसे मै इन मलोको धो डालूँगा, लेकिन कितना ही मलमल कर नहाया, ये मल धुले नही, तब यह समझमे आ रहा है कि जन्म जरा मरण जैसे कठिन रोगोको दूर करनेमे यह जल समर्थ नही है अतएव मैं इस जलकी उपेक्षा करता हू, चढाता हू, छोडता हू, संसारसंतापके नाश करने के लिए इस चदनका निर्वपन करता हू। भूलसे यह माना कि कोई संताप उत्पन्न हो तो चदन घिसकर लगा लें सताप दूर हो जायगा लेकिन संसारका सताप ऐसा विलक्षण है कि किसी भी शीतल पदार्थसे यह सताप दूर नही होता।

भेदविज्ञानसे ही संसारसंतापके शमन होनेकी शक्यता—कोई पुरुष तृष्णाके वशीभूत होकर बेचैन है उस पुरुषको यदि किसी बर्फखाने जैसे ठडे घरमे डाल दिया तो क्या उससे उसका क्लेश मिट जायेगा ? उस तापको दूर करनेमे समर्थ कोई भी शीतल पदार्थ नही है। इस ससारतापको दूर करनेमे समर्थ यदि कुछ है तो वह एक विवेक है, भेदविज्ञान है। कितने ही कष्ट आये हो, सबसे न्यारे अपने ज्ञानमात्र आत्माको निरख लीजिए तो वे सब सकट एक साथ दूर हो जाते है। तो इन सब वेदनाओं का इलाज है विवेक। भेदविज्ञानसे जब यह जान लिया कि मैं कामनाओंसे रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हू और इस ही स्वरूपमे अपने उपयोगको लगा दिया जाय तो ये समस्त ससारसकट दूर हो जायेंगे। इसी उपायपर हमे चलना चाहिए जिससे यह नरजीवन सफल हो जाय।

जन्तुजातमिद मन्ये स्मरवह्निप्रदीपितम्।
मज्जत्यगाधमध्यास्य पुरन्ध्रीकायकर्दमम् ॥६१०॥

कामज्वलन और उसके शमनका उपाय—आचार्यदेव कह रहे हैं कि मैं ऐसा मान रहा हूँ कि ये जीवोंके समूह कामरूपी अग्निसे जल रहे है, तभी तो स्त्री शरीररूपी कीचड मे प्रवेश करके डूबते है। एक परस्परका प्रसंगरूप कीचड इसलिए ही लपेटते है ये मनुष्य कि वे काम अग्निसे तीव्र जल रहे हैं और केवल एक स्पर्शन इन्द्रियकी ही बात क्या, सभी इन्द्रियोंकी इच्छायें इतनी तीव्र ज्वालाए हैं कि विवेक भी भष्म हो जाता है और उस विवेक रहित दशामे यही एकमात्र उपाय सूझता है कि विषयोके साधनोको जुटा लिया जाय। पर विषयोके साधनोंके सचयसे क्या यह कामनाओकी ज्वाला दूर हो सकती है ? जितने-जितने समागम मिलते जायें उतनी ही तृष्णा और बढती जाती है। जीवन तो समाप्त हो जाता है पर तृष्णा समाप्त नही होती। बुढापेमे भी जब कि यह शरीर शिथिल है मन भी काम नही देता, कमाते भी लडके लोग है, कमाईमे भी अब बुद्धि नही चलती है ऐसी स्थितिया हो जाती हैं, इतने पर भी तृष्णा दूर नही होती और इसी तृष्णाके कारण उन कमाऊ लडकोके बीच-बीच बोलते रहते है, पर लडके लोग मानते नही वृद्ध पुरुषकी बात, क्योकि

उन्हे जिस उपायसे लाभ हो वही तो करेगे। तब यह बूढा अपनी कल्पनाओसे एक दुःख यह बढा लेता कि मेरी बात कोई लडका मानता ही नही। तो तृष्णाका परित्याग होना यह बहुत ऊँचा तपश्चरण है। जिन्होने कामवासनाका परिहार किया, इच्छावोका परिहार किया और अपने आपके स्वरूपसे अपने आपमे संभालने की ही रुचि की, वे पुरुष संकटोसे दूर होते है। इस समय भी संकटोके ज्वलनोकी बाधा दूर करनेके लिए इसका ही प्रयोग करियेगा। चाहे थोडा ही हो सके। मैं सबसे न्यारा ज्ञानानन्दमात्र हूँ, इस आत्म-भावनाके प्रसादसे सर्वसंकट दूर होते है।

अनन्तव्यसनासारदुर्गे भवमरुस्थले।
स्मरज्वरपिपासार्ता विपद्यन्ते शरीरिण ॥६११॥

कामज्वरतृषा पीड़ित प्राणियोंकी विपन्नता—संसारके प्राणी कामज्वरकी दाहसे उत्पन्न हुई प्याससे पीडित होकर अनन्त आपत्तिके समूह रूप और असार इस दुर्गम संसार-रूप मरुस्थलमे यत्र तत्र घूमकर दुःख सहन करते है। पुराणोमे कथा पढी होगी पाडवके समयकी जब पाडव और द्रोपदी अज्ञातवासमे थे उस समय इन्होने किसी एक राजघरानेमें अज्ञात रह कर भिन्न भिन्न कार्योकी नौकरी करनी स्वीकार करली। वहाँ कीचक नामका एक योद्धा प्रधान था। उसने कामवश होकर द्रोपदीको कुछ अकबक कहना शुरू किया, तो यह चर्चा जब भीमको मालूम हुई तो दूसरे दिन भीम स्वयं एक साधारण स्त्रीके रूपमे वहा पड गए। जब कीचक आया तो उसकी खूब मुगदर आदि अनेक शस्त्रोसे खबर ली। यह तो एक पुराणकी कथा है लेकिन इस जगतमे इस तरहसे पीटे जाने वाले अनेक उदाहरण मिलते है। कामज्वरके वशीभूत हुआ यह प्राणी जैसे कोई ज्वरकी दाहसे उत्पन्न हुई प्यास से तो पीडित है और मरुस्थलमे यत्र तत्र प्यास बुझानेकी आशासे भ्रमण करता है, इसी तरहसे यह प्राणी है तो अन्य मानसिक कामव्यथासे पीडित, उससे उत्पन्न हुई है तृष्णा की वेदना, उसको मिटाने के लिए इस ससारमे यत्र तत्र भ्रमण करता है और जिन समागमोको यह अपनी शान्तिका कारण मानता है वे सब समागम इसकी तृष्णा और व्यथाको बढाते है। जैसे मरुस्थलमे प्यास मिटानेका क्या साधन है? बल्कि मरुस्थलका भ्रमण प्यासको ही बढाता है, इसी तरह संसारके ये समागम आन्तरिक वेदनाको मिटानेमे क्या समर्थ हैं, वल्कि इनके सयोगमे इनकी आशासे पीडित होकर दुःख ही होता है।

घृणास्पदमतिक्रूर पापाढ्य योगिदूषितम्।
जनोऽयं कुरुते कर्म स्मरशार्दूलचर्वित ॥६१२॥

कामवशी प्राणियोंका घृणित कार्योंमें प्रवर्तन—कामरूपी सिंहसे चबाया गया यह मनुष्य ऐसे ऐसे घृणास्पद कार्योंको भी करता है जो योगियोके द्वारा अति निन्दित है, पापसे

भरे हुए है, अत्यन्त क्रूरताका आशय जिनमे पडा हुआ है। अनेक घटनाए ऐसी हुई है कि कोई पुरुष किसी परस्त्रीमे आसक्त हुआ या कोई स्त्री परपुरुषमे आसक्त हुई तो अपने पति और स्त्रीको अपने पापकार्यमे बाधक जानकर उनको भी मार डालते है। कोई ऐसा घृणास्पद कार्य न होगा जो कार्य व्यभिचारी न कर सकता हो। जब सबसे निकृष्ट कार्यको व्यभिचारी ने कर डाला तो उसका सारा विवेक खतम हो गया, फिर तो उससे कौनसा घृणित कार्य नही हो सकता ? जिस अन्तरङ्गमे विकल्पोसे आशय दूषित बन गया है तो अन्य पाप इसके समक्ष और क्या है, जुवा खेलना, माँस खाना, मदिरापान ये भी ऐब उसमे आने लगते है। झूठ बोलना, चोरी करना ये कार्य तो उसके लिए न कुछ सी चीज बन जाते है। व्यभिचारी पुरुष पद पद पर झूठ बोलता है और साधन चाहिए तो उनके लिए चोरी करना भी उसे सुगम कार्य बन जाता है। ससारमे अन्य और क्या घृणित कार्य कहा जाय, जो कामवेदनावश होकर प्राणी न कर सके। व्यभिचारी आदमीमे दया होती नही। तो यह कामदाहसे चबाया गया मनुष्य अत्यन्त निन्द्य पापमय बडी क्रूरतारूप अनेक खोटे कार्योको कर डालता है। जिसके ऐसी खोटी वासना जगी हो वह धर्मकार्य क्या करेगा ?

ब्रह्मचर्यसे निष्कलुषताकी सिद्धि—ब्रह्मचर्यसे आत्मामे पवित्रता आती है। और इस ब्रह्मचर्यके प्रतापसे ही ऐसे शुद्धज्ञानका विकास होता है जिससे यह परसे भिन्न निज चैतन्य स्वरूपमात्र अपने आपके दर्शन पाता है। लोकमे अन्य किसीका भी दर्शन सुखदायी नही है, एक इस ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वका दर्शन ही सुखको उत्पन्न करता है—बाकी तो सब भ्रम-जाल है। ये दृश्यमान मायारूप मनुष्य स्वय ही सुखी नही है, संसारमे फिर किस दूसरेकी आशा करते हो कि इससे मुझे शान्ति प्राप्त होगी ? परजीवोसे स्नेहका करना नियमसे ही क्लेशका कारण है। मूढताकी बात तो यह है कि स्नेहसे लाभ कुछ नही है, पर बुद्धि हरी गई अतएव व्यग्र होकर वही परका ही ध्यान बना रहता है और वह इस दुर्लभ मानव जीवनको बरबाद कर देता है। ब्रह्मचर्य ही ऐसा तपश्चरण है जिसके प्रसादसे सकल कलुषतायें दूर होती है व सहज स्वरूप प्रकट होता है।

दिग्मूढमथ विभ्रान्तमुन्मत्त शङ्किताशयम्।
विलक्ष्य कुरुते लोक स्मरवैरिविजृम्भित ॥६१३॥

कामवशंगत प्राणीकी लक्ष्यभ्रष्टता—यह कामरूपी वैरी लोगोको दिशाभ्रम करा देता है। आगे चलना तो दूर रहो, दिशा तकका भी पता नही रहता है, चित्तको विभ्रमरूप कर देता है। जब यह जीव कामवश होकर लक्ष्यसे भ्रष्ट हो गया तो वह अपने अभीष्ट कार्यको कैसे सिद्ध कर सकता है ? यह कामी मनुष्य समस्त हितरूप कार्योको भूलकर एक

मात्र अहितकारी कामसाधनका ही चिन्तन किया करता है, यह मनुष्यपर बहुत बडी विपदा है। जो पुरुष, जो गृहस्थ गृहस्थके योग्यव्रतोका पालन करके अपने जीवनको व्यतीत करता है वह पवित्र है, कल्याणका पात्र है, शान्ति निराकुलता उसके निकट है। अयोग्य कार्य करने वालेको शान्ति कहाँसे मिलेगी? शान्तिका पात्र तो सदाचारी मनुष्य ही होता है।

ब्रह्मचर्यव्रतसे व्रतोंकी सफलता—मुख्य सदाचार है अहिसा और ब्रह्मचर्य। यद्यपि अहिंसाव्रतमे सभी आ गयें फिर भी जो शेष ४ व्रत और बताये जाते है वे अहिंसाके मुख्य साधन हैं, अहिसाकी पुष्टिके लिये भेद करके चार व्रत और बताये जाते है जिसमें ब्रह्मचर्य का भी खास स्थान है। कल्पना करो कि कोई मनुष्य द्रव्यरूपसे अहिसा भी पालता हो, किसी जीवको मारता नही, सत्य भी बोलता है, झूठका त्याग करता है, चोरी भी नही करता, परिग्रहके सचयकी भी कोई कामना नही है, इतने सब गुण होकर भी एक ब्रह्मचर्य व्रतका पालन न करता हो, परद्रव्य, परजीवमे स्नेह रख रहा हो, कामवासनाका निरन्तर उद्यम रहा करता हो तो उस मनुष्यका कोई धर्मकर्म रहा क्या? जब अन्तरङ्गमे चित्त ही कलुषित हो गया तो फिर धर्मपालन किसका नाम है? तो यह कामरूपी वैरी इस जीवको उन्मत्त बना देता है, भयभीत बना देता है।

न हि क्षणमपि स्वस्थं चेत स्वप्नेऽपि जायते।
मनोभवशरव्रातैर्भिद्यमानं शरीरिणाम् ॥६१४॥

जो कामबाणोसे बिंधा है ऐसे जीवका चित्त क्षणभरके लिए स्वप्नमे भी स्वस्थताको प्राप्त नही होता। कामबाणोसे विधा हुआ जीव, जिसे एक कामासक्तिका व्यर्थका विकार लग गया है उसका चित्त कैसे स्थिर हो सकता है, कही मन ही न लगेगा। कितना खोटा आशय है जिसका न कुछ आधार है, न कुछ लाभकी बात, बल्कि शरीरबल भी समाप्त करे, मनोबल भी समाप्त करे, वचन बल भी खराब कर दे, ऐसा यह कामरोग यह कामबाण जिसके लगा है उस जीवका चित्त क्षण भरके लिए भी तो स्वप्न तकमे भी स्वस्थताको प्राप्त नही होता। सोते हुएमे भी और जागते हुएमे भी उसका चित्त अस्थिर रहता है जिसका चित्त अस्वस्थ होता है। उसको निद्रामे स्वप्न आया करते है खोटे, वे उसकी खोटी वासनाओके सूचक है और जिनका चित्त स्वस्थ है, उन्हे धार्मिक भावनाओके सूचक स्वप्न आया करते है। स्वप्न तो एक दिलका नक्शा बता दिया करते है। कैसी वासना लगी हुई है; कहाँ चित्त लगा रहता है इन सबको प्रकट बता देने वाला एक यह स्वप्न है। स्वस्थ चित्तमे भी कामी मनुष्यका चित्त स्थिर नहीं रहता। ये सब दुराशय विवेकके बिना होते है।

सत्संगतिसे दुर्वासनाके परिहरणका अनुरोध—सत्सगति और स्वाध्याय, इन दो का

प्रयोग सुन्दर रहे तो उपयोग नियमसे शुद्ध और स्थिर होगा। स्वाध्याय भी एक परम सत्सग है, क्योंकि उसमे भी गुणी और गुणकी उपासना है। जिन्हे आत्मध्यानकी रुचि है उनका कर्तव्य है कि स्वाध्याय और सत्संगसे अपने चित्तको स्थिर रखें और शुद्ध ज्ञायकमात्र चैतन्यस्वरूप सिद्ध भगवतकी तरह अपने आत्मतत्त्वके दर्शनमे उपयोग लगायें। ससारमे अन्यत्र कही कुछ भी शरण नही है, चाहे सचेतन परिग्रह हो अथवा अचेतन परिग्रह हो किसी भी परिग्रहके समागमसे इस जीवको शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति।
लोक कामानलज्वालाकलापकवलीकृत. ॥६१५॥

कामज्वालादग्ध प्राणीकी अज्ञानता—कामरूपी अग्निकी ज्वालासे भस्म हुआ यह प्राणी जानता हुआ भी नही जानता, देखता हुआ भी नही देखता है अर्थात् वह ऐसा अचेत है, सत्य पदार्थके निर्णय और अन्तस्तत्त्वके परिचयसे इतना दूर है कि वह जान रहा है तो भी कुछ नही जान रहा। अटपट जाननेका नाम ज्ञान नही है। जो ज्ञान हितमे लगाये और अहितसे दूर करे ऐसे ज्ञानका ही नाम वास्तवमे जानना है। आत्माका हित है निराकुलता, और निराकुलता बसी है स्वयं आत्माके स्वरूपमे। निराकुलस्वरूप स्वय सहज आनन्दका धाम निज आत्मतत्त्वकी भी सुध न हो और फिर जो कुछ भी जानता है वह सब जानना उसका जानना नही है, वह कुबुद्धिका प्रसाद है। कामी पुरुष निहारेगा तो दुराशयसे, कुछ जानेगा तो दुराशयसे। उसका जानना देखना वास्तविक जानना देखना नही है। वह तो बेखबर है। उसे अपने आपकी भी कुछ सुध नही है।

भेदविज्ञानके बिना आत्ममांगल्यकी असिद्धि—भेदविज्ञानकी बडी महिमा है। भेदविज्ञान बिना यह जीव जिस चाहे चेतन अचेतन परिग्रहसे लगाव लगाकर अपने को विह्वल बनाये रहता है। शरण केवल आत्मदृष्टि है, ऐसा जानकर उस आत्मदृष्टिरूपी महान यज्ञ के लिए इन इन्द्रिय विषयोकी बलि करे, इनकी होली करें और जो आत्मतत्त्वका ज्ञान है, सत्य वैराग्य है, इन दो भावोसे अपनी प्रीति बढायें। यदि ऐसा किया जा सका तो हम कल्याणपथके पथिक है अन्यथा जैसे ससारमे अनादिसे रुलते आये वैसे ही रुलते रहना होगा। जानें देखे अपने आपको। अन्य सारी कुबुद्धिवश परविषयक व्यवस्थाका लक्ष्य न बनाये। यदि अपन आत्मव्यवस्था कुछ भी न कर सके तो समझिये मैंने अपना कुछ भी धर्मे जन, नही किया व्यमलिया और मनुष्यभवका अपना अमूल्य लाभ खोया। कर्तव्य है स्वाध्याय और सत्सगति बढावे। परपदार्थोंमे मोह ममता न जगे, ऐसा अपने अन्दरसे विवेक जगायें।

भोगिदष्टस्य जायन्ते वेगा सप्तैव देहिन ।
स्मरभोगीन्द्रदष्टाना दश स्युस्ते भयानका ॥६१६॥

कामदष्ट प्राणीके सर्पदष्ट प्राणीके वेगोंसे भी अधिक और भयंकर वेग—कामवेदनासे जो मानसिक व्यथाका वेग उत्पन्न होता है उस सम्बन्धमे कह रहे है कि सर्पसे काटे हुए प्राणीके तो ७ ही वेग होते है पर कामरूपी सर्पसे डसे हुए जीवमे १० वेग होते है जो बड़े भयानक हैं। किसी प्राणीको सर्प डस ले तो लोगोने देखा भी होगा और प्रसिद्ध बात है कि उसके ७ बार कुछ नई-नई दशा बेहोशीकी बनती है। किसी वेगमे बेसुध होकर कुछ अकबक बोलने लगता है। यो सर्पके डसे हुए प्राणीके ७ वेग होते है परन्तु कामरूपी सर्पसे डसे हुए प्राणीके १० वेग होते है। जिनके चित्तमे मनसे उत्पन्न हुई काम सम्बन्धी वेदना उठती है उन पुरुषोके ये १० प्रकारके वेग होते है। अर्थात् ऐसी १० स्थितिया होती है जिन स्थितियोमे चढाव चलता रहता है और अन्तमे उस मनुष्यका मरण हो जाता है। वे १० वेग कौनसे है, इसे अब क्रमश बतलाते है।

प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।
तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥६१७॥

कामका प्रथमवेग संपर्कचिन्ता—जिस पुरुषके काम उद्दीप्त हुआ है उसके पहिला वेग तो होता है चिन्ता। कामवासनारूपी सर्पने जिसे डसा है, जिसके कामवेदना होती है, इच्छा होती है ऐसे प्राणीको पहिले तो चिन्ता होती है। अब इस वेगको मनुष्योपर घटाया जा रहा है। कामवेग पुरुष और स्त्री दोनोमे सम्भव है तो दोनोमे अर्थ समझते जाना। यहाँ घटा रहे है पुरुषोपर। जिस मनुष्यको काम, इच्छा जगती है उसको पहिले चिन्ता होती है कि अमुक स्त्रीका सम्बन्ध कैसे हो ?

कामके वेगका एक पौराणिक उदाहरण—कभी पुराण चरित्रमे सुना ही होगा कि जब नारद जनकके घर गये तो उस समय जनककी पुत्री सीता दर्पणको देखकर अपने केश संभाल रही थी। बीचमे आ गए नारद। तो नारदका स्वरूप बाल बिखरे हुए एक चद्दर ओढे सितार लिए हुए था। ऐसी दर्पणमे उनकी छाया पडी। उस छायाको देखकर सीता भयभीत हुई और एकदमसे चिल्लाकर वह घरके भीतर चली गयी। उस घटनासे नारद जी ने अपना अपमान समझा। नारद ब्रह्मचर्यके अधिकारी हुआ करते है, कौतूहलप्रिय होते है। नारदको रानियोके आवासमे भी जानेका अधिकार रहता है। राजागण उन्हे अच्छी दृष्टिसे देखते है। किसीको उनके प्रति कोई शका नही रहती। वे अपनी कौतूहलप्रियतामे कभी किसीका भला करा देते है और जिसपर क्रोध आ जाय उसका बुरा करा देते है। तो नारदको उस घटनाको देखकर बहुत क्रोध आया और यह मनमे ठान लिया कि हम इस

बेटीको सजा देंगे। तब क्या उपाय रचा कि सीताका एक बहुत सुन्दर चित्र बनवाया और उसे ले जाकर विद्याधरके नगरमे जहाँ सीताका भाई भामण्डल रहता था, जन्मसे जो हरा गया था। भामण्डलके आगे पीछे कही जहाँ वह रहता था चलता फिरता था, वह चित्र डाल दिया और नारद किसी पेड पर जाकर बैठ गये। जब भामण्डलने उस चित्रको देखा तो एकदम वह कामव्यथित हो गया, उसे क्या पता था कि यह मेरी बहिन सीताका चित्र है। उस चित्रकी सुन्दरता देखकर और अनुमान करके भामण्डलका चित्त कामसे व्यथित हुआ और उसके चिन्ता उत्पन्न हुई, इसका सम्पर्क कैसे हो? तो काम-सर्पसे डसे हुए प्राणीको प्रथम वेग चिन्ताका उत्पन्न होता है। फिर आगे क्या हुआ, यह कथा तो आगे की है। आखिर उस भामण्डलके और और वेग हुए, सीतासे विवाह करनेके लिए ढूँढनेके लिए वह गया भी, पर रास्तेमे कुछ जातिस्मरण होने से उसे बोध हुआ कि यह तो हमारी बहिन सीताका चित्र है, फिर उस सकल्पको छोड दिया। तो कामसे डसे जाने पर प्रथम वेग तो होता है चिन्ता।

कामका द्वितीय वेग देखनेकी इच्छा—कामके द्वितीय वेगमे उस कामव्यथित पुरुष को देखने की इच्छा होती है और देखनेकी इतनी तीव्र इच्छा जग जाती है कि वह अपने को संभाल नही पाता। जैसे अजना सुन्दरीका पवनञ्जयसे विवाह निश्चित हो गया। विवाहके तीन दिन शेष रहे लेकिन यह दूसरा वेग, देखनेकी इच्छा इतनी तीव्र जगी कि उसने अपने मित्रसे कहा कि अब हमारे प्राण नही रह पाते है, अञ्जनाको देखनेमे ही प्राण रहेंगे मित्रने बहुत समझाया कि दो तीन दिन धैर्य रखो विवाहका निश्चय तो हो ही चुका है लेकिन वह न मान सका और मित्रके साथ ही रात्रिको चल उठा। तो वह उस वेगमे अपनेको संभाल तो न सका। फिर क्या हुआ यह बात आगेकी है, लेकिन देखना यहाँ यह है कि कामके उद्दीपन होने पर चिन्ताके बाद द्वितीय वेग देखनेकी इच्छाका हो जाता है।

कामका तृतीय वेग लम्बी निश्वासोंका चलना—इस कामरूपी सर्पसे डसे हुए मनुष्य के तीसरे वेगमे लम्बी लम्बी श्वासे निकलने लगती हैं। द्वितीय वेगमे तो देखनेकी इच्छा हुई थी, देख पाया हो या न देख पाया हो अथवा देख ही न पाया, अब तीसरे वेगमे बडी बडी श्वासें लेता है और जब कोई बडी चिन्ता और बडा सदमा पहुंचता है तो उस स्थिति मे यह होने लगता है हाय! सम्पर्क न हुआ, देख न पाया, ऐसी कल्पनाओंका साकाररूप श्वासोका निकलना होता रहता है। जैसे कभी किसीको देखा होगा कि कोई बडी चिन्तामे बैठा हो—चाहे किसी बातकी चिन्ता हो तो उस चिन्तामे उसकी लम्बी श्वासे निकलने लगती हैं। तो कामके तृतीय वेगमे यह मनुष्य दीर्घ श्वासें लेता है।

कामका चतुर्थ वेग ज्वर—जब कामका चतुर्थ वेग आता है तो उस चतुर्थ वेगमे

ज्वर आ जाता है। भला चिन्ता हुई, देखनेकी इच्छा हुई, दीर्घ श्वांसे खिचने लगी, इतना तीव्र अटपट बिना जड मूलका आक्रमण होता है तो उसमे ज्वर जैसी बात आना कोई असम्भव तो नही। तो कामव्यथाकी पीडासे चतुर्थ वेगमे ज्वर हो जाया करता है।

पञ्चमे दह्यते गात्र षष्ठे भुक्त न रोचते।
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥६१८॥

कामके पांचवें वेगमे शरीरका दग्ध होना—कामके ५वे वेगमे यह शरीर जलने सा लगता है। जैसे दाहकी उत्पत्ति हुई हो ऐसा शरीर दग्ध होने लगता है, क्षीण होने लगता है। तब समझिये कि जैसे किसी को पुराना ज्वर हो जाय, टी बी. जैसा कोई ज्वर हो जाय तो उसका शरीर कितना दुर्बल हो जाता है ? भीतरमे उसकी बडी तेज गर्मी होती है। चाहे शरीरके बाहर गर्मी न मालूम पडे, किन्तु जिसके पुराना ज्वर है, हड्डी पर ज्वर है, टी बी का ज्वर है उसके अन्दरसे तृष्णा उत्पन्न होती है। यहा तक कि उसके हाथ पैर भी बहुत जलने लगते है। तो यहाँ कामके वेगमे ऐसी हालत होने लगती है कि यह शरीर दग्ध होने लगता है।

कामके छठवें वेगमें भोजनका नहीं रुचना—फिर छठवे वेगमे भोजन भी इसे नही रुचता। कैसा उपयोग इसका खोटे विषयकी ओर तेजी से गया है कि जिस कुवासनाके कारण इसे भोजन भी नही रुचता। जो अन्न, जो भोजन प्राणोका आधारभूत है, शरीरकी स्थिति रखने का कारण है वह भी रुचिकर नही लगता। यो छठे वेगमे इसकी ऐसी दयनीय दशा हो जाती कि खाना भी छूट गया, मित्रजन परिवारके लोग मनाते है भाई खावो, जिस किसीको पता ही न हो वह समझायेगा क्या ? अगर पता हो कि अमुक कुवर साहब ऐसे ज्वरसे पीडित है तो परिवारके लोग भी उसके लिए अथक श्रम करने लगते। तो छठे वेग मे भोजन भी नही रुचता।

कामका सप्तम वेग महामूर्छा—जब कामका ७वा वेग आता है तो इसे महामूर्छा हो जाती है। बेहोश पड जाता हैं, ढीले ढाले हाथ पैर फेककर बडी लम्बी श्वास लेकर पड जाता है। कोई पूछे कि तुझे रोग क्या हुआ है, कौनसी पीडा हुई है तो कोई क्या बताये ? कोई रोग नही, पीडा नही, कोई पीटता नही, कुछ बात नही, बस मनकी एक कल्पना बना ली, उस कल्पनाके अनुसार सयोग न हो सका तो वह अचेत हो जाता, बेहोश हो जाता। कोई कुछ कहे तो सुनाई भी नही देता।

कामका अष्टम वेग उन्मत्तता—८ वे वेगमे यह पुरुष उन्मत्त हो जाता है, पागल हो जाता है। यहाँसे वहाँ दौडता घूमता है, हैरान होता है, परेशान होता है, यो कामके अष्टम वेगमे उन्मत्त जैसी चेष्टायें हो जाती है। जैसे पुराणोमे सुना गया है, कुछ पुरुषोके

बारेमे अथवा आधुनिक सनीमा थियेटर वगैरहमे भी घटनाएँ दिखती है कि अनेक मनुष्य इसीसे पागल हो जाते हैं। और, जब दिमाग ही फेल हो गया तब तो बेइलाज हो गया। जब तक बुद्धि ठिकाने है, ज्ञान सही है, दिमाग फेल नही हुआ तब तक तो किसीका समझाना भी काम करेगा। जब दिमाग ही उल्टा बन गया फिर समझानेका भी इलाज नही रहता। यो कामके ८वे वेगमे यह पुरुष उन्मत्त हो जाता है।

नवमे प्राणसन्देहो दशमे मुच्यतेऽसुभि ।
एतैर्वेगैः समाक्रान्तो जीवस्तत्त्वं न पश्यति ॥६१६॥

कामके नवम और दशमवेगमें प्राणसन्देह व प्राणवियोग—कामके ९वें वेगमे प्राणो का भी संदेह हो जाता है कि मेरे प्राण रहेगे भी या न रहेगे, जिन्दा रह सकेंगे या न रह सकेगे। व्यर्थकी केवल मनकी वासनासे दिलपर इतना तीव्र असर हो जाता कि उसे अब प्राणोका भी सदेह होने लगा। जैसे आर्थिक घाटा या इष्टवियोग या अनहोनी बात गुजरने पर दिल पर इतना तीव्र असर होता कि वह पुरुष यह अंदाज कर लेता है कि अब मेरा जीना कठिन है। तो यो कामके ९ वें वेग वालेके प्राणोका सदेह हो जाता है कि अब मेरे प्राण रहेगे या नहीं।। और जब किसी चीजमे सन्देह हो जाता तो जो बात अनिष्ट है उसपर ज्यादा बल देने लगता है। मैं अब जिन्दा रहूँगा या न रहूगा, ऐसा सदेह होने पर कि मै जिन्दा न रहूगा, इस ओर ध्यान ज्यादा जाता है। जो बात अनिष्ट होती है उसकी ओर बुद्धि विशेष जाती है सदेह होनेपर। तो यो कामके ९वें वेगमे इस मनुष्यको अपने प्राणोका भी सदेह हो जाना है और १० वे वेगमे अपने प्राण भी छोड देता है, मरण हो जाता है।

कामके वेगोंका अनर्थ—जैसे सर्पके डसने पर ७ वेग होते है, ७ बार मेहा फूटती है इसी तरह इससे भी कठिन वेग कामसे व्यथित मनुष्यके १० वेग होते है और अन्तमे वह अपने प्राण गवा देता है। ऐसे ही १० वेगोंसे आक्रान्त हुआ प्राणी इन वेगोंसे दबा हुआ है। वह मनुष्य यथार्थ तत्त्वको नही देख सकता। वस्तुका स्वरूप क्या है, इसकी ओर उसका चित्त नही जाता। जब लोकव्यवहारका ही ज्ञान नही रहता तो परमार्थका ज्ञान कैसे हो? कुछ समय पहिले लोगोमे इतना विवेक बना रहता था कि जिससे लोकलाज बनी रहती थी। कोई लडका माता पिताके सामने स्त्री सम्बन्धी बात न करता था, सगाई सम्बन्धी बात हो तो उसमे कुछ भी संदेश नही पहुचा सकता था। और, बच्चे हो जाने पर भी अनेक वर्षों तक माता पिताके सामने बच्चेको न लेता था, इतनी लोक लाज, इतना विवेक था, उनमे मोहका कम वेग रहता था। आज देखते है तो लडका ही कन्या देखे, सगाई पक्की करे, विवाह हुआ कि वे दोनो सडकों पर एक साथ घूमने जाते। और, और

क्या क्या बाते होती है ? भले ही वह आजकी सभ्यता मान ली जाय लेकिन यह तो कहना ही होगा कि इस सम्बन्ध वाली लाज नही रही ।

कामवेगोंमें परमार्थज्ञानकी असंभवता—यहाँ यह बात बतला रहे हैं कि जब कामके इस वेगमे लोकव्यवहारका भी ज्ञान नही रहा तब परमार्थका ज्ञान कैसे हो, आत्माके स्वरूप का बोध तो होगा ही क्या ? जैसे लोकलाज जब यहाँ व्यवहारमे न रही तो उसका दुष्परिणाम तो यह निकला कि माता पिताके आदरमे कमी हो ही गयी । कभी बहूका माँ से झगडा हो जाय तो वह लड़का अपनी माँ का ही दोष देखेगा । और स्पष्ट शब्दोमे माँ को ही बुरा कहेगा । कैसे ये बाते निकल आती है लडकेसे, दूसरे लोग इस पर आश्चर्य करते है, लेकिन जिसके लोकलाज ही नही रही, विनयभाव ही नही रहा और एक सम्बन्धकी ओर ही बेखटके प्रगति बनाये तो ये सब बाते होती है, वे माता पिताका क्या आदर करेगे ? यो ही समझिये कि जब कामवेगमे लोकव्यवहार भी नही रख सको, पागल बना, बेहोश बना और अन्तमे प्राण भी खो दिया तो ऐसे विकट वेदना वाले पुरुषके परमार्थ ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान कैसे हो ?

सकल्पवशतस्तीव्रा वेगा मन्दाश्च मध्यमा ।
कामज्वरप्रकोपेन प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥६२०॥

संकल्पानुसार कामवेगोंकी हीनाधिकता—ये कामसम्बधी वेग किसीको १० आते है, किसी को कुछ थोडे रह जाते है, किसीको मद होते है । तो यो सकल्पके वशसे कामज्वरके प्रकोप के तीव्र, मद, मध्यम होनेसे वेग भी अनेक प्रकारके हो जाते है । अतएव सबमे ये एकसे ही वेग हो यह नियम नही है । लेकिन जिसमे अधिक कामासक्ति है उसका अधिकसे अधिक क्या अनर्थ हो जाता है इस बातको इस वेगके ढंगमे समझाया गया है । कामी पुरुषकी यह स्थिति होती है कि प्रथम चिन्तासे प्रारम्भ करके अन्तमे अपने प्राणोको भी गवा देता है ।

अपि मानसमुत्तुङ्गनगशृङ्गाग्रवर्तिनाम् ।
स्मरवीर क्षणार्द्धेन विधत्ते मानखण्डनम् ॥६२१॥

लोकबलशाली पुरुषोंका भी कामवीर द्वारा मानखण्डन—कोई पुरुष अपने बलके कारण मानरूपी ऊँचे पर्वतकी शिखरपर चढा हुआ रहता हो, कोई पुरुष धन बलसे, विद्याबलसे अन्य-अन्य बलोसे शिखरपर चढा रहता हो, वह लोकबलमे उच्च भी हो, लेकिन ऐसे पुरुषका भी मान यह कामरूपी बैरी क्षणभरमे खंडित कर देता है । कामकी ज्वालाके सामने किसीका मान भी नही रहता । इतना निकृष्ट है यह काम भाव । यह काम नीचसे नीच काम कराकर ऐसे बडोको भी उसके मानरूपी पहाडको धूलमे मिला देता है । अनेक ऋषी जो अपने तपश्चरणमे कुछ बहुत ऊँची साधना तक भी पहुंच गए थे उनमे से कोई

कोई ऐसी इस विद्या सिद्धिके बहानेसे धीरे धीरे उस कामकी ओर बढकर पतित हुए कि उनका निर्वाण समाप्त हो गया। भले ही वे कुछ अपने चमत्कारके कारण लोकमे देवता रूपसे मान लिए गए हो, लेकिन श्रेयोमार्गसे तो च्युत हो ही गए। तो बडेसे बडे अभिमान-शाली पुरुषोका भी मान इस कामके वश होकर नष्ट हो जाता है। जो पुरुष इन्द्रियके विषयो मे आसक्त नही रहता वही पुरुष सुरक्षित रह सकता है, लेकिन जैसे ही कोई भी पुरुष इस मनोजविकारसे व्यथित हुआ कि उसका अभिमानरूपी पहाड सब धूलमे मिल जाता है। जो पुरुष कामव्यथासे अत्यन्त दूर होता है वही आत्मध्यानका पात्र होता है। इस तथ्यको बताने के प्रकरणमे इस कामकी निन्दा की जा रही है कि यह कामविकार कितना अहितकारी भाव है।

शीलशालमतिक्रम्य धीधनैरपि तन्यते।
दासत्वमन्त्यजस्त्रीणा सभोगाय स्मराज्ञया ॥६२२॥

कामपीडितोंकी नीचदासता—कामदेवकी आज्ञा इन तीन जगतके जीवोके शिरपर ऐसी चल रही है कि बडे-बडे बुद्धिमान पुरुष भी जिनके ज्ञानका साम्राज्य है लेकिन वे भी अपने शीलरूपी कोटका उल्लघन करके सम्भोगके लिए चाण्डालकी स्त्रीका भी दासत्व स्वीकार कर लेते है। याने कामके वश होकर बडे-बडे बुद्धिमान भी राजा महाराजा तक भी चाण्डालकी स्त्री तकके भी दास हो जाते है और जो जो भी वह नाच नचाती है वे सभी नाच उन कामी पुरुषोको नाचने पडते हैं। कुछ कथनमे तो ऐसा भी आया कि है तो बडे उच्च कुलका राजा वह किसी नीच कुलकी कन्यामे आसक्त हुआ तो विवाहके प्रसगमे यह प्रतिज्ञा कर डाली कि इससे जो बच्चा होगा उसे राज्य देंगे। जो कुलीन हैं, पटरानी हैं, बडे घरकी है उनकी वे उपेक्षा कर देते है। तो यह नाचनचना ही तो हुआ। जैसा नाच उसने नचाया वैसा नाच उन काम पुरुषोको नाचना पडता है। यो कामव्यथासे पीडित पुरुष आत्माकी सुध नही ले सकता। भैया! आत्मध्यान ही वास्तविक शरण है, जिन्हे आत्म-ध्यानकी अपनी प्रकृति बनाना है उन्हे इस ब्रह्मचर्यका मन, वचन, कायसे पालन करना होगा।

प्रवृद्धमपि चारित्र ध्वसयत्याशु देहिनाम्।
निरुणद्धि श्रुत सत्य धैर्यं च मदनव्यथा ॥६२३॥

कामव्यथासे श्रुत, सत्य व धैर्यका निरोध—जब कामव्यथा उत्पन्न होती है तो वह जीवके बहुत दिनोसे पाले गये चारित्रका भी विनाश कर देती है। एक इस मनोज वेदनासे इतना विह्वल हो जाते है प्राणी कि जो उचित काम है शास्त्रका अध्ययन, धैर्यका धारण, सत्यसम्भाषण ये सब भी उसके नष्ट हो जाते है अर्थात् कामवश ऋषिजन भी अपने चारित्र

का विनाश कर लेते है और जो जिस पदमे है उस पदके योग्य भी धर्मपालनका पात्र नही रह पाता, ऐसा यह निर्मूल कामव्यथाका प्रभाव है।

नाशने शयने याने स्वजने भोजने स्थितिम्।
क्षणमात्रमपि प्राणी प्राप्नोति स्मरशल्यत. ॥६२४॥

काम शल्य पीडितोंके चित्तकी अस्थिरता—जिनको कामवासनाकी शल्य बनी रहती है वे पुरुष कही भी तो स्थिर नही रह पाते, न स्थिरतासे बैठ सकते, न सो सकते, न चल सकते, न भोजन कर सकते। वे क्षण भर भी स्थिरतासे नही रह सकते, उनका चित्त डांवाडोल बना रहता है। आत्माका सर्वस्व उपयोग है, जब यह उपयोग बिगड गया, ज्ञानमे विकार आ गया, राग द्वेष मोहकी वेदना जग गयी फिर यह प्राणी विवश हो जाता है और उन्मत्तसा अस्थिर होकर यत्र तत्र डोलता है। उन्मत्त होनेके कारणमे प्रधान कारण है यह कामव्यथा। वैसे अन्य कारणोसे भी उन्मत्तता आ जाती है। जब तृष्णाका वेग होता है, परिग्रह की तृष्णा बढती है तो उसमे यह इतना अध हो जाता है कि वहाँ भी इसका ज्ञान बुद्धि सब जाते रहते है और जब अपने मनके अनुकूल धन सचय नही हो पाता अथवा कोई अधिक घाटा पड जाता है, तो उस समय ऐसी वेदना अनुभव करता है कि उसका ज्ञान बुद्धि सब विकृत हो जाते है। इसी प्रकार मान कषायमे भी वेग आये और मानके अनुरूप बात न बने तो वहाँ भी ज्ञान विकृत हो जाता है और पागलपनकी स्थिरता आ जाती है। जितने भी कारण है पुरुषको उन्मत्त बनानेके, उन सब कारणोमे प्रधान कारण है यह कामव्यथा। कामव्यथासे पीडित मनुष्य न पागल हो तब भी पागल हो जाता। फिर उसे न बैठनेमे, न सोनेमे कही भी स्थिरता नही रहती, वह निद्रा भी बराबर नही ले पाता, बराबर घबडाता रहता है, नीद उचट जाती है, न स्मरण करता है और जैसे कि ऊपर बताये गए कामके १० वेग होते है उन वेगोमे बह जाता है। आखिर कामी पुरुषकी अन्तमे दुर्गति ही होती है।

ज्ञानकी सुस्थितिमें समृद्धि—मनुष्यका भला अथवा मनुष्यको शान्ति एक शुद्ध ज्ञान बनाये रहनेमे प्राप्त होती है। इसके सिवाय जीवका और कुछ धन नही है। ज्ञान बिगडा तो सब बिगडा। जो उन्मत्त पुरुष होते है, घरके बडे रईस लडके है और किसी कारण उन्मत्तता आ गयी तो सब लोग कितना भी यत्न करते है उसको सुखी करनेके लिए, पर वह सुखी कैसे हो ? जब ज्ञान विकृत हो गया तो सुखका कोई साधन नही रहा। विकार हो गया। पागल पुरुषका जीवन कोई जीवन है क्या ? तो कोशिश यह होनी चाहिए सर्वत्र कि हमारा ज्ञान विवेकपूर्ण बना रहे, विषय और कषायोमे चित्त न उलझनेको ही विवेकका प्रवर्तन कहते है। कैसी भी स्थितिया आये अपने आपमे क्रोध न जगने दें, ऐसा ज्ञान बनायें

तो उस घटनापर विजय प्राप्त कर सकते हैं। कैसी भी प्रशंसा मिले, ऊँची स्थिति बने, वैभव मिले लेकिन मान न जगे तो उसका ज्ञान सत्पथपर विहार करने लायक रहता है। जहाँ किसी प्रसंगमे क्रोध जगा, मान जगा, माया लोभ चलने लगा बस वही उसका पतन होने लगता है।

सम्पदासमागममें विवेक—संसारमे मानके लायक वस्तु है क्या ? जो वैभव जिसे प्राप्त हुआ है उससे कई गुना वैभव अनेक जन्मोमे स्वयंने प्राप्त किया होगा। इसके तो मोहकी ऐसी बात है कि जब जो वैभव मिलता है उसे ही अपना लेता है और उस ममत्वके कारण विश्राममसे रह भी नही सकता और न धर्मपालन कर पाता है। और, कभी कोई पुरुष इसके विरुद्ध ऐसा भी चिन्तन करता है कि हम दीन है, कुछ भी नही है हमारे पास।

एक दृष्टिसे देखो तो जिसके पास जो भी द्रव्य है वह उसकी आवश्यकतासे कई गुना अधिक है, एक निहारने भरकी बात है। यदि आशंका हो कि हम कैसे समझें कि हमारे पास कई गुना अधिक है आवश्यकतासे तो उसका प्रमाण यह है कि जैसे हम मनुष्य है अथवा सभी मनुष्य हैं अथवा जिस बिरादरीके हम है उसी बिरादरीके अन्य लोग भी हैं। जिस देवता को, जिस शासनको हम मानते हैं उस ही शासनको मानने वाले अन्य लोग भी है। जितनी पवित्रता हम कमा सकते हैं उतनी ही पवित्रता ये अन्य गरीब लोग भी जिनके पास अपनेमे ५० वा भाग ही वैभव होगा वे भी अपना जीवन चलाते हैं, प्रसन्न रहते है और धर्मपालन करते हैं। केवल एक लोकप्रतिष्ठा अथवा पर्यायबुद्धिके कारण ऐसा लगने लगता है कि हम कुछ भी नही है, हम तो दीन हैं, यो विवेक करके अपने आपमे निराकुलता बना लेना यह खास चीज है। जो प्रयोग करेगा, अपने आपमें घटित करेगा वही तो निराकुलता प्राप्त कर सकता है। धर्मात्मा परोपकारी पुरुष किसी भी स्थितिमे हो, बाह्य वैभवकी दृष्टिसे उसका कही भी न अपमान है और न उसका अवनयन है। तो विवेक उसीको कहते है कि जिसमे अपना ज्ञान सही बने और जो जैनशासनने उपदेश किया है उसका हम पूरा लाभ उठाये।

सम्यग्ज्ञानकी हितकारिता व दुर्लभता—संसारमे अत्यन्त दुर्लभ चीज है सम्यग्ज्ञान। इससे और दुर्लभ कुछ वस्तु नही है। आत्मा अपने आप स्वय ज्ञानमय है, यह स्वय अपने ज्ञानस्वरूपको समझ ले, इतनी सी निज घरकी बात, अपने पते की बात इस संसारमे सबसे अधिक दुर्लभ है। बाह्य निमित्तनैमित्तिक भावोसे ऐसी सम्पदायें समागम मिल जाना ये सब सुलभ है, पर दुर्लभ है तो एक यथार्थ ज्ञान बनना ही दुर्लभ है। क्योकि एक इस जन्म की संगतिसे अथवा आवश्यक वस्तुवोंसे हमारा पूरा नही पड सकता। जो पदार्थ सत है उसका कभी नाश न होगा। हम केवल इस भवकी व्यवस्थावोमे ही उलझे रहे और इस

भवकी पोजीशन सम्हालनेमे ही उलझे रहे तो इससे कुछ पूरा तो नही पडनेका। न वर्तमान मे शान्ति मिलती और न परलोक भी सुधरता। इसके विरुद्ध उपेक्षा भावसे रहनेमे अपने आपके निकट बसनेमे इस लोकमे भी आनन्द रहता है और आगे भवमे भी आनन्द रहेगा, धर्मका समागम मिलेगा। तो सबसे दुर्लभ चीज है सम्यग्ज्ञान। और, उसके निकट दुर्लभ चीज समझिये धर्मका वातावरण मिलता।

आत्मतर्पणकी आवश्यकता—दिन रातमे कोई आध पौन घंटा धर्मकी बात सुननेको मिले, चर्चा करनेको मिले और धर्मरुचिया पुरुषोका यथा समय संग मिलता रहे, यह भी बडी दुर्लभ चीज है? केवल पुद्गलके ढेरसे ही, वैभवसे ही इस आत्माको क्या मिलेगा, शान्ति सन्तोष। इसको तो ज्ञानकी खूराक चाहिए। शरीरको तो चाहिए भोजनकी खूराक जिससे शरीर स्वस्थ रहे और आत्माको चाहिए ज्ञानकी खूराक जिससे आत्मा स्वस्थ रहे। हम अस्वस्थ और उद्विग्न रहते है, इसका कारण यह है कि हम अपनी खूराकपर दृष्टि नही देते हैं। जब कभी भी आप केवल अपने आपको आप ही शरण जानकर अपने आपको केवल आप ही जिम्मेदार मानकर, आपके आप ही स्वामी है ऐसा मानकर परसे चित्त हटाकर इस शरीरसे भी न्यारा मैं ज्ञानमात्र हू ऐसा अनेक बार चिन्तन करे और इस झुकावके साथ जैसेमे शरीरसे भी और भीतर हम कही अपनी दृष्टि लिए जा रहे है ऐसी प्रकृतिसे अपने आपको विचारे।

विशुद्ध अवलोकन—भैया! निजको तो यो निरखे मैं केवल ज्ञानमात्र हू, मेरा कार्य केवल जाननमात्र रहता है व व्यक्तरूपमे सर्वत्र निरखें तो यह निरखें कि सब कार्योंके प्रसंग मे भी मैंने केवलज्ञानका परिणमन बनाया, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ कार्य नही किया। मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञानका परिणमन होना यह मेरा कार्य है। और, ज्ञानका परिणमन जिस पद्धतिसे होता है उस पद्धतिसे सुख दुःख अथवा आनन्द भोगना यह मेरा अनुभवन है, इसके अतिरिक्त न कही सम्पदा है, न कही मेरा सत्त्व है। मैं केवल ज्ञानमात्र हू। इस प्रकार ज्ञानमात्र निजतत्त्वकी बारबार भावना बने तो परमविश्राम होनेके कारण अपूर्व विलक्षण आनन्द जगता है। यही आनन्द विविक्त साधुसंतोके निरन्तर रहा करता है जिससे वे अकेले रहकर भी निर्दोष व प्रसन्न रहा करते है। अहो, कहाँ तो आत्माका इतना विलक्षण स्वकीय आनन्द और कहाँ कर्मप्रेरणासे अशुचि शरीरमे स्नेह जगाकर कामवासनाकी व्यथा बढाने जैसी दुर्दशा? जो कामपीडित जन है उनका चित्त कहाँ स्थिर होगा और उनको आत्माके सुधका भी अवसर कहाँ मिल सकेगा?

धर्मके अवलम्बनसे समृद्धिका लाभ—इस ग्रन्थमे आत्मध्यानकी बात कही जा रही है। उस ध्यानका पात्र वही पुरुष होता है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप

अंगका पालन करता ते । ध्यानके ये तीन अंग हैं । मोक्षमार्ग भी यही तीनोकी एकता है । आत्मशान्तिका भी यही एक उपाय है । धर्मकी ओरसे शकित चित्त जब तक रहता है तब तक उसकी य; दशा है कि न यहाँका रहा, न वहाँका रहा । जो केवल अपने स्वभावपर दृढ निर्णय रखता है और धर्मपालनसे ही आत्माका उद्धार है, अपने आपके उस शुद्ध ज्ञा स्वरूप निहारनेके धर्मपालनमे ही आत्माका सत्य उद्धार है, ऐसा जिनका दृढ निर्णय है उनके पुण्यका बध तो अनायास होता ही है, जैसे कि खेती करने वाले किसानोको भुसका ढेर अनायास ही प्राप्त होता है । किसान भूसा पैदा करनेके उद्देश्यसे खेती नही करता, ऐसे ही जो धर्मके रुचिया हैं उनके विशिष्ट पुण्यका बंध तो स्वयमेव होता है । धन वैभवका मिलना हाथ पैर चलाने या कोई दिमागी कला खेलनेका फल नही है । धर्मकी रुचि होना इससे बढकर और कुछ आत्माका हित नही, वैभव नही । उसीके प्रतापसे इसका विवेक ज्ञान सब जागृत रहता है ।

वित्तवृत्तवलस्यान्त स्वकुलस्य च लाञ्छनम् ।
मरण वा समीपस्थं न स्मरार्त प्रपश्यति ॥६२५॥

कामार्त पुरुष द्वारा अनिष्टका अनवलोकन—विषय कषायोका वेग एक इतना गहन अंधकार है कि इस अधकारमे फंसे हुए पुरुष अपना धन चारित्रबल इनके नाश होनेको भी नही देखते, कलकको भी नही देखते और मरण भी निकट आ जाय तो उसे भी नही देखते, हित अहितका कुछ भी विचार उनके नही रहता । लौकिक सुखकी प्रधानता भी उसीके होती है जिसके कुछ ज्ञान जगता है तो ज्ञानका भी लौकिक सुखमे बडा हाथ है । जो लोग बडे बडे वैभवकी रक्षा और अर्चना करते हैं वे मनुष्य भी ज्ञानबलपर ही कर रहे हैं । सारे लौकिक कार्य भी ज्ञानकला पर ही निर्भर हैं । जहाँ अज्ञान है वहाँ विवाद कलह सारे मचे रहते हैं । अपने ज्ञानको सुरक्षित रखना है तो सत्सगति और स्वाध्याय आदिक द्वारा अपने ज्ञानको विषय और कषायोसे अधिकाधिक दूर रखने का प्रयत्न करें ।

ज्ञानसे आपत्तिके दूरीकरणपर एक दृष्टान्त—एक कथानक है कि एक सस्कृतका वृद्ध पडित, उसकी वृद्ध पत्नी, सबसे छोटा लडका और उसकी बहू किसी गावको जा रहे थे, रास्तेमे एक जगल पडा, उसमे करीब २ मील ही पहुँचे होगे कि शाम होनेको हुई । तो जो रास्तागीर वापस आ रहे थे उन्होने कहा कि यह जगल बहुत मील लम्बा है, इसमे बहुतसे भूत राक्षस रहते हैं, वे पहिले कुछ सवाल करते है अगर उनका उत्तर न दे सके तो वे प्राण हर लेते हैं । इसलिए आप यहाँ से लौट जावो इसीमे कुशलता है । उन सबने सोचा कि अब लौटनेका काम नही है । अब तो चल दिया तो चलते ही जायेंगे । देखेंगे कौन क्या प्रश्न करता है ? वे चलते गए, रास्तेमे चारो एक स्थान पर ठहर गये । जब सोनेका

समय हुआ तो चारोने सलाह किया कि रात्रिके चार पहरोमे अपनमे से हर एक व्यक्ति हर एक पहरमे जाग ले और तीन सोते रहे। पहिले पहरमे वह वृद्ध, दूसरे पहरमे वृद्धपत्नी तीसरे पहरमे छोटा लडका और चौथे पहरमे छोटी बहू जाग लेंगे, यह तय हुआ। पहिले पहरमे जब वह वृद्ध पंडित पहरा दे रहा था तो बडा भयंकर रूप रखकर एक राक्षस आया, उसने व्याकरणका एक सूत्र बोला--"एको गोत्रे", तो उस वृद्ध पुरुषने इसके उत्तर मे कहा—एको गोत्रे भवति स पुमान्, य कुटुम्बं बिभर्ति। गोत्रमे वही एक पुरुष प्रधान उज्ज्वल निर्मल श्रेष्ठ है जो समस्त कुटुम्बका भरणपषोरण करता है, और आप अनुभव भी करते होगे कि घरका मुखिया जो सबके भरणपोषणका आधार है वह कुटुम्बके बीच कितना श्रेष्ठ जचता है ? इस उत्तरको सुनकर राक्षस अति प्रसन्न हुआ और उसे बडा पुरस्कार देकर चला गया। दूसरे पहरमे बुढिया जगी तो वहाँ भी राक्षसने एक प्रश्न किया 'सर्वस्य द्वे", यह भी एक व्याकरणसूत्र है। उसने उत्तर दिया—सर्वस्य द्वे सुमतिकुमती संपदापत्तिहेतू। सब जीवोको ये दो चीजे सुमति और कुमति, सम्पत्ति और विपत्तिका कारण होती हैं। जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना, जहाँ कुमति तहँ विपत्ति निधाना। कैसा भी सकट हो, कैसा भी दारिद्रय हो यदि परिजन परस्पर सुमतिसे रहते है तो उनका समय बहुत अच्छा व्यतीत होता है, और जितना भी वैभव हो, किन्तु हो जाय परस्परमे कुमति, तो कुछ काल बाद उनका वैभव भी नष्ट हो जाता है और सभी प्रकारके आरामोसे वे पतित हो जाते है। तो सब जीवोको सुमति तो सम्पत्तिका कारण है और कुमति विपत्तिका कारण है। उचित उत्तर सुनकर उसे भी बहूमूल्य पुरस्कार देकर चला गया। तीसरे पहरमे छोटा लडका जगा, तब राक्षस आया व उसने प्रश्न किया "वृद्धो यूना", यह भी एक सस्कृतका सूत्र है। इसका उत्तर उस लडकेने यो दिया--वृद्धो यूना सह परिचयात्त्यज्यते कामिनीभि.। अर्थ यह है कि वृद्ध तो पति हो और उसकी युवती स्त्री हो, उस स्त्रीका जब किसी युवक से परिचय हो जाता है तो वह वृद्ध पुरुषको जैसे कोई घीसे मक्खी निकालकर फेक देता है इस तरहसे छोड देती है। उचित उत्तर पाकर उसे भी इनाम देकर चला गया। अब अन्त मे स्त्री जगी तो वहाँ भी राक्षस आया और प्रश्न किया—'स्त्री पुंवत्' तो उसने उत्तर दिया--स्त्री पुंवत् प्रभवति यदा तद्धि गेह विनष्टम्। जिस घरमे स्त्री पुरुषकी तरह चलने वाली हो जाती है वह घर नष्ट हो जाता है। ऐसा अनुकूल उत्तर पाकर उसे भी इनाम देकर गया।

ज्ञानबलसे सर्वाभ्युदय--भैया! ज्ञानबल है तो किसी भी जगह हो, किसी भी स्थितिमे हो वह अपने आपमे प्रसन्न रहता है, इस निजतत्त्वको तो कोई छुडा नही सकता ना? हम अपने आपके अन्तरङ्गमे सही ज्ञान बनाये रहे, धर्म करे तो इसे कोई छुडायेगा

क्या ? यही है सत्य विद्या। इस सत्य विद्याको न चोर चुरा सकते, न डाकू लूट सकते, न परिजन बाँट सकते, यह तो हमारा हमारे ही आधीन है। हम इस ज्ञानके द्वारा अपने इस ज्ञानका सिंचन करते रहें, अपने आपको सबसे न्यारा ज्ञानमात्र निरखना यही आत्मसिंचन है, यही धर्मवृक्षका सिञ्चन है तो इसके प्रतापसे यह लोक परलोक हमारा पूर्ण अभ्युदयमें व्यतीत होगा।

आत्मप्रकाशनकी लगनमें हित—भैया ! आत्मप्रकाशनकी ओर लगन लगनी चाहिए। धुनकी बात है। धुन लगना चाहिए। यह सोचना कि अभी हमारी स्थिति इस काबिल नही है कि हम धर्ममे ज्ञानमे समय अधिक दे सकें तो ऐसे विचार वाले को तो कभी भी परिस्थिति न आ पायगी। हर स्थितिमे कुछ न कुछ कमी ढूंढ निकालेगा। जिस की जो स्थिति है उसको ही पर्याप्त स्थिति मानकर धर्मपालनमे, ज्ञानार्जनमे जो आत्माके हितके कार्य है उन सब कार्योंमे अपना उपयोग लगायें, समय लगाये, बस यही भला है। धर्मके लिए आगे समयकी बाट जोहना उचित नही है। यह मोही पुरुष मैं करूँगा, करूँगा यह तो बहुत सोचता है, पर मैं मरूँगा, मरूँगा ऐसा कभी नही सोचता है। अचानक ही किसी दिन मरना तो अवश्य है। जो कोई भी मरते हैं क्या तिथि निर्णीत करके मरते हैं ? क्या किसीको निमत्रणपत्र देकर मरते है ? सभी यों ही किसी दिन अचानक गुजर जाते है। कलका भी तो ठिकाना नही है कि जीवन रहेगा कि न रहेगा। फिर जो अनेक वर्षों की चिन्ताएं अभीसे बनाये है उनसे क्या लाभ है ? जैन शासन जैसा सुयोग बारबार मिलना अति दुर्लभ है। बहुत कठिनतासे प्राप्त होता है। वीतराग ऋषी सतोने तत्त्वके मर्मकी जो बातें बतायी है उनका ज्ञान करें उनमे ही अपना उपयोग लगायें और अपने आपमे उन्हें घटित करके अपना जीवन सफल करे।

न पिशाचोरगा रोगा न दैत्यग्रहराक्षसा ।
पीडयन्ति तथा लोक यथाय मदनज्वर ॥६२६॥

मदनज्वरकी पीड़ा—जीवके स्वरूपको देखो तो समस्त जीवोका एक समान ही स्वरूप है। उस दृष्टिमे किसी भी जीवसे किसीका भेद नही है किन्तु उपाधिके भेदसे जीवोमे गुणकृत भेद भी नजर आता है और प्रदेशकृत भी भेद नजर आता है। देखो तो भूल भूलमे कितना भेद हो गया, कोई जीव कीट मकोडा है, कोई मनुष्य है, कोई पशु पक्षी है, कोई वृक्ष पृथ्वी आदिक स्थावर है। इतना अधिक अन्तर जो प्रदेशकृत आ गया है वह सब उपाधिका परिणाम है। गुणकृत अन्तर भी देखिये– कोई क्रोधी है, कोई मानी है, कोई मायावी है, कोई लोभी है कोई कामी है और उनमे भी असंख्यात प्रकारकी डिग्रिया है। इतने गुणकृत जो भेद हैं ये भी उपाधिकृत भेद हैं। उपाधिया विकारोके कारण है। सब

विकारोमे महान विकार है काम सम्बन्धी विकार। सभी शासनोमे ब्रह्मचर्यकी महिमा कही गई है। ब्रह्मचर्य व्रत ज्ञानहीन, बलहीन जीवोंसे नही धारण किया जाता है। सच्चा ब्रह्मचर्य तो वहाँ ही निभता है जहाँ निज ब्रह्मस्वरूपका भान है और उपयोग भी अपने आत्मस्वरूपकी ओर लग गया है ऐसे ज्ञानी संतोसे परमार्थ ब्रह्मचर्य भी पलता है और व्यवहारिक ब्रह्मचर्य भी पलता है। जो आत्मपरिचयसे रहित है, जिन्होने पर्यायको ही अपना स्वरूप मान लिया है, जो शरीर मिला उसीको ही 'यह मैं हूं' ऐसा जो समझते है वे शरीरके दास बनते हैं और इन इन्द्रियो ने जो कुछ चाहा उसकी पूर्तिमें उद्यत रहते हैं। कामका ज्वर इतनी पीडा पहुंचाने वाला है कि जितने कष्ट पिशाच सर्प रोग आदिक भी नही देते और न दैत्य ग्रह राक्षस भी इतनी पीडा नही देते जितनी पीडा कामवासनामें होती है।

ज्ञानोन्नत जीवनका साधन ब्रह्मचर्य--पुरुषका जीवन उत्तरोत्तर जो उन्नतिशील बनता है वह ब्रह्मचर्यके आधारपर बनता है। वर्तमानमे उन्नत जीवन इस ही का तो नाम है जो ब्रह्मचर्य, शुद्धभोजन और स्वाध्याय अर्थात् ज्ञानार्जन, इन तीन बातोसे भरा हुआ हो, उस ही जीवनको पवित्र जीवन कहते है। यदि ज्ञानार्जनका कोई साधन नही बना रखा, स्वाध्याय करके या गुरुमुखसे सुनकर कुछ चर्चा द्वारा कुछ सुनाते हुए तत्त्वके चिन्तन द्वारा यदि शुद्ध ज्ञानका अर्जन नही करते है तो ज्ञानशून्य जीवन चाहे लोककलासे लोकमे अन्य विद्यावोके कारण प्रतिष्ठा पा ले, लेकिन जिस ज्ञानसे आत्माको शान्ति मिलती है वह ज्ञान नही है अतएव शान्ति प्राप्त नही होती। जितना राग और मोहमे बढेगा यह जीव उतनी ही इसमे शान्ति बढेगी। यह सर्वत्र नियम देख लो। वह बडा सौभाग्यशाली पुरुष है जो सब कुछ समागम होते हुए भी राग और मोह जिसके नही बढता है, ज्ञान और वैराग्यकी ओर ही दृष्टि रहती है वह सुखी भी होता है, अन्यथा आत्मज्ञानशून्य पुरुष सभी प्रकारके विषय और कषायोमे अनुरक्त हो जाता है और दुःखी हो जाता है। तो ज्ञानशून्य जीवन उन्नत जीवन नही कहलाता। इस ज्ञानोन्नत जीवनका साध्य है।

अशुद्धभोजीके परमब्रह्मचर्यके लक्ष्यकी भी अपात्रता--इसी प्रकार शुद्ध भोजनके बिना यद्वा तद्वा माँस मदिरा आदिक भोजन किए जाते हो तो यह तो निश्चित है कि उनके आत्मबोध नही है। आत्मज्ञान होता तो वे सब आत्मावोको अपने आत्माकी तरह मानते। जो दूसरे जीवोको अपनी तरह मानता है जैसे खुदके कोई काटा चुभे तो दुःख होता है ऐसे ही दूसरे जीवोके प्रति भी समझता है कि इन्हे भी ऐसा ही दुःख होता है। जीवघात के बिना मास उत्पन्न नही होता। माँसभक्षी पुरुष और मदिरापायी पुरुषके भी आत्माकी सुध नही रहती है। मासमदिरा आदिक रहित जो भोजन है वह शुद्ध भोजन कहलाता है।

शुद्ध भोजन बिना भी जीवन उन्नत नही कहलाता। तीसरी बात है ब्रह्मचर्यकी। सब कुछ गुण आ जाये, लोकप्रतिष्ठा, लोकविद्या, वैभव सब कुछ भी आ जायें और धार्मिक पंथमे तपश्चरण सयम छुवाछूत ये सभी बातें भी करने लगे जो धर्मके नामपर की जाती हैं किन्तु एक ब्रह्मचर्य न हो, कामसे व्यथित जीवन हो तो उसका चित्त ही स्थिर नही रहता। धर्मात्मा तो वह बनेगा ही क्या ? तो यो जीवन वही उन्नतशील कहलाता है जहा ब्रह्मचर्य, शुद्धभोजन और ज्ञानार्जन ये तीन बातें पायी जाती है।

ब्रह्मकी उपासनामें ब्रह्मचर्य—यह प्रकरण ब्रह्मचर्यका चल रहा है। जगतमे जीवो को आत्मध्यान ही शरण है, ब्रह्मकी उपासना ही शरण है। अपने आपको शरीरसे कर्मोसे रहित जैसा कि अपने सत्त्वमे कारण स्वरूप है, यो ज्ञानानन्दमात्र निरखें इसीका नाम है ब्रह्मकी उपासना। मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हू इस प्रकारकी बारबार भावना करनेसे जो अन्य संकल्प विकल्प दूर होते है उस समय जो आनन्द है उसका अनुभव ही ब्रह्मचर्यकी सच्ची उपासना है। तो आत्माका ध्यान ही इस जीवको वास्तवमे शरण है। चाहिए इसे शान्ति और शान्ति मिलती है विकल्प छोडकर, परका मोह राग छोडकर अपने आपके स्वरूपमे अपना ज्ञान लगानेसे। आत्मध्यानका पात्र ब्रह्मकी रुचि रखने वाला पुरुष ही हो सकता है। इसलिए ब्रह्मचर्य सिद्धि पर यहाँ अधिक जोर दिया जा रहा है। ब्रह्मचर्यसे मनोबल, वचनबल और कायवल भी समृद्ध रहते है। इन सबके लिए भी ब्रह्मचर्यकी साधना आवश्यक है।

अनासाद्य जन कामी कामिनी हृदयप्रियाम्।
विषशास्त्रानलोपायै सद्य स्व हन्तुमिच्छति ॥६२७॥

कामवशतामें आत्मघनन—अज्ञानी मोहियोंके समूहमे अधिकर विवाद, झगडे उठा करते हैं वे इस ब्रह्मचर्यके अभावके कारण अधिकतर हुआ करते है। यह मनुष्य विषयोंसे आतुर होकर अपने मन प्रिय साधन स्त्री आदिककी चाह करता है, उसकी प्राप्ति न हुई तो कभी कभी वह इतने वेगमे आ जाता है कि शस्त्र, अग्नि आदिकसे अपने ही प्राणोका घात कर डालता है। कामव्यथासे पीडित पुरुष क्या अन्याय नही कर डालता ? अपने आपके सम्हालकी बात चल रही है। अपने आत्माकी सम्हाल रखना है तो मूलमे ब्रह्मचर्य की साधनाके लिए यह भी गुण आना चाहिए कि पुरुष कर्तव्यशील कर्मठ बने, अकर्मठता न आ सके।

कर्तव्यशीलतासे ब्रह्मचर्यकी साधना----जो मनुष्य बेकार होते है, जिनको उन्नत काम का प्रसग नही मिलता, बेकार रहते हैं उनके अनेक प्रकारके खोटे आशय बन जाते हैं। बेकारीसे बढकर इस जीवका कोई शत्रु नही है। गृहस्थ भी एक धर्मात्मा पुरुष है। घर

गृहस्थी हो तो क्या यहाँ धर्मकी आराधना कुछ कम है ? ज्ञानी साधु संतोकी अपेक्षा भले ही कम हो, लेकिन समयपर आजीविका करना और साधु संतोका आदर करना, व्यवस्था करना, सत्संगतिमे रुचि रखना और अनेक ढगोंसे परोपकार करना आदिक जो कर्तव्य निभाते है वे गृहस्थ भी धर्मात्मा पुरुष हैं। हाँ बेकारी यदि हो तो बेकारीमे गृहस्थ भी पतित हो जाता और साधु भी पतित हो जाता है। गृहस्थकी बेकारी गृहस्थके ढगकी है, साधुकी बेकारी साधुके ढंगकी है। जो साधु ज्ञानार्जन, तपश्चरण आदिक आवश्यक कार्योंमें न लगे वह साधु भी बेकार है। बेकार पुरुषमे खोटे भाव आ ही जाते है। अत उद्यमशील जरूर रहना चाहिए। कभी कुछ काम न भी मिले, कदाचित् ऐसी भी स्थिति आ जाय तो दीन दु खियोकी सेवा करनेका कार्य तो सदा मौजूद है, उसे कौन छुडा लेता है, उसे करे। किसी न किसी कर्तव्यमे अवश्य बने रहे पुरुष, अन्यथा बेकार रहनेमे खोटे आशय बनेंगे और अनेक तरहके विषयकषाय उत्पन्न होगे तो जो कर्मठ है, धर्मके रुचिया भी हैं ऐसे पुरुष ब्रह्मचर्यकी सुगम साधना कर लेते है।

दक्षो मूढ क्षुद्र शूरो भीरुर्गुरुर्लघु ।
तीक्ष्ण' कुण्ठो वशी भ्रष्टो जन स्यात्स्मरवञ्चित. ॥६२८॥

कामवञ्चनासे बिडम्बना—जो पुरुष विषयोकी अभिलाषा रखते हैं, कामवेदनासे पीडित है, कामके द्वारा ठगाये गए है वे पुरुष कई बातोमे चतुर भी हो तो भी मूर्ख हो जाते है। बहुत बहुत क्षमाकी प्रकृति रखते हो तो भी क्रोधी हो जाते है। जैसे आत्माका सार आत्मामे चैतन्यकी दृष्टि है, चैतन्य तत्त्व है इसी प्रकार शरीरमे शरीरका सार बलवीर्य है। शरीरके बलको बरबाद करना इससे यह मनुष्य निर्बल हो जाता है, और कमजोर पुरुषोके क्रोध आता ही रहता है तो जो कामी पुरुष हैं वे यदि क्षमाकी प्रकृति भी रखने वाले है तो भी क्रोधी हो जाते है, शूरवीर कायर बन जाते है इस कामके समक्ष। धन्य है वह सत्संगति जिसमे रहकर यह मनुष्य अपने ज्ञानको स्वच्छ और उज्ज्वल बनाये रहता है। जिसका ज्ञान बिगडा, जिसे कहते है दिमाग बिगडा, पागलपन आया उसका तो सारा जीवन बिगड गया। अब उसे क्या सुख ? जो हित अहितका विचार न कर सके ऐसी स्थिति पा ले उस मनुष्यका जीवन क्या जीवन है ? ऐसे ही समझिये कि हम हित अहितका विचार न कर सके और जो कुमार्ग है, व्यसन है, पाप है, हेय चीज है उनमे ही लगे रहे, उनकी आदत बन जाय, उन्हे छोड सके तो हमे भ्रष्ट कहा जायगा। ज्ञान काम ही नही करेगा। तो जिसका ज्ञान विषयोमे पापोमे प्रवृत्त होता है उसे आप ज्ञानवान कहेगे क्या ? वे भी एक तरहसे पागल है। जिन्हे अपने आपकी दया नही है, जो अपने प्रभुपर अन्याय कर रहे है ऐसे पुरुषोको आप ज्ञानी कहेगे क्या ? तो अपना ज्ञान स्वच्छ बना रहे, ऐसी कोशिश

रहना चाहिए। सत्सगति हो, ब्रह्मचर्य हो, ज्ञानार्जन हो, इससे बुद्धिकी स्वच्छता होती है। जो पुरुष कामातुर है वे कितने ही वडे हों, लोगोकी दृष्टिमे वडे माने जा रहे हो तो भी वे क्षणमात्रमें लघु वन जाते है। उद्यमी पुरुष भी आलसी हो जाते है।

ज्ञानयज्ञमें ब्रह्मचर्यकी साधकना—इस प्रसगमे मतलब यह है कि कोई पुरुष किसी अन्य स्त्रीमे आसक्त न हो, कोई स्त्री किसी भी परपुरुषमे आशक्त न हो। गृहस्थ है तो अपनी स्त्री अथवा पतिमे ही सन्तुष्ट रहे ऐसा सन्तोष जव रहता है तव धर्म भी होता है, कर्म भी कटते है, बुद्धि स्वच्छ रहती है, वही एक सौभाग्य है। ब्रह्मचर्यकी साधना होती है। ब्रह्म कहिये, आत्मामे चर्य कहिये रमण करना अर्थात् यह ज्ञान अपने आत्माके उस शुद्ध सहज निर्मल स्वत सिद्ध ज्ञानस्वरूपको जानता रहे, यही है महायज्ञ। यही है महातपश्चरण।

ब्रह्मचर्यका परमशरण—ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्वकी साधनाके लिए ब्रह्मचर्यकी साधना आवश्यक है। जो पुरुष ब्रह्मचर्यसे नही रहते, परस्त्रीकी ओर तकते है ऐसे जीवोका लोकमे भी आदर कहाँ है? और बल्कि सारा जीवन विषैला हो जाता है। एक केवल मनके भावो को न सम्हाल सके ये कामी पुरुष जिससे इतनी विडम्बनाएँ वन जाती हैं। ब्रह्मचर्यको परम तप कहा गया है। ब्रह्मचर्यं परम तप। इस लोकमे अपने आपका केवल आप ही शरण है, खूव निरख लीजिए। इतनी जिन्दगी हुई है अनेकोका सहारा लेते हुए, अनेकोपर विश्वास किया है। लेकिन सभी प्रसगोमे देख लो, कोई किसीका शरण होता भी है क्या? जव तक स्वार्थसाधना चलती है दूसरोको तब तक वे उसे सब कुछ मानते हैं पर जब स्वार्थ नही सधता तो फिर कौन किसका मित्र रहता है? सगा पुत्र भी तो किनारा कर जाता है। तो जगतमे इस जीवको शरण कुछ भी वाहरमे नही है, और, बढकर क्या कहा जाय, जब यह देह भी हमारा शरण नही होता, यह शरीर भी नष्ट हो जाता है तो अन्यकी तो वात ही क्या है?

क्लेशोंका साधन शरीर—जितने भी इस जगतमे क्लेश है वे सब इस शरीरके कारण है। शरीर एक अलग वस्तु है, जीव एक अलग वस्तु है। कल्पना करो कि इस जीव के साथ शरीर न लगा होता, यह केवल जीव होता तो भूख कहांसे लगती? शरीरके सम्बध से ही भूख प्यास, ठड गर्मी आदिककी वेदनाएँ होती हैं, और लोकमे जिसे सन्मान अपमान कहते है वे भी इस शरीरके सम्बन्धसे हैं। इस शरीरको ही तो निरखकर यह भाव करते हैं कि मेरा लोगोने बडा अच्छा सम्मान किया। इस शरीरको ही आप मानकर यह अनुभव करते हैं कि अमुकने मेरा बहुत अपमान किया। तो सम्मान और अपमानके भी कष्ट इस शरीरके सम्बन्धसे हुए। शरीरका सम्बन्ध न होता तो इस जीवको काहेका कष्ट था? खूब विचारते जाइये, जितने भी कष्ट हैं वे सब शरीरके सम्बन्धसे है।

शुद्धस्वभावके उपयोगमें धर्मपालन—शरीररहित जीवका मात्र ज्ञानानन्दस्वरूप है। यद्यपि यह जीव वर्तमान शरीरमे बँधा है तिसपर भी यह शरीरसे निराले स्वरूप वाला है। ज्ञानके द्वारा हम इस बन्धन अवस्थामे भी अपने आपको शरीरसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप निहार सकते है। यही है धर्मपालन। अपना धर्म पाल रहे है, अपना मायने अपने आत्मा का। और, आत्माका स्वभाव है ज्ञान और आनन्द, उस रूप अपनेको निहार रहे हैं, यही है आत्मधर्मका पालन। सब जीवोके पास यह धर्म है और इसकी दृष्टि करनी चाहिए। जिन्हे अपना उद्धार करना है उन्हे यह निर्णय कर लेना चाहिए कि धर्मसे ही उद्धार होता है, और धर्म वही है जो मेरे स्वभावमे बसा हो। जो बात मेरे स्वभावमे न हो, कोटि उपाय करनेपर भी जो बात मेरेमे लादी न जा सके वह मेरा स्वभाव नही है। मेरेमे स्वयं ज्ञान और आनन्दका स्वभाव है, इस स्वभावकी आराधना की जाय तो इस तरह शुद्ध ज्ञान और आनन्दकी धारा प्रकट होती है, वहाँ शुद्ध शान्ति और आनन्द मिलता है। यही है धर्मपालन।

व्यवहारधर्मपालनका उद्देश्य आत्मोपलब्धिरूप परमधर्म—धर्मपालनका सबकी आत्मासे सम्बन्ध है। यह बात जिन उपायोसे मिल सके वह उपाय कहलाता है व्यवहार-धर्म। व्यवहारधर्ममे कुछ काल्पनिक भेदसे भेद भी बन गया है। लेकिन व्यवहारधर्मके लिए ही तो धर्म नही पाला जाता है, निश्चयधर्मके लिए व्यवहारधर्म पाला जाता है। जैसे प्रभुपूजाका लक्ष्य यह है कि हम अपनेको प्रभुके स्वरूपकी तरह शुद्ध ज्ञानानन्दरूपमें निरख ले, ऐसा तो कोई यत्न करे नही और केवल पूजाकी जो बाहरी विधिया है घंटा बजाया, यहाँसे वहाँ पुष्प आदिक रख दिया और समझ ले कि मैंने प्रभुपूजा कर ली है तो उसकी समझ भूलभरी है। प्रभुपूजाका उद्देश्य है कि प्रभुका जो ज्ञानानन्दस्वरूप है उस स्वरूपका अनुभव हो जाना कि प्रभुमे यह माहात्म्य पडा हुआ है। प्रभुकी तरह अपने आप निरखना, यह जब तक नही किया जा सकता तब तक प्रभुके स्वरूपका दर्शन भी नही होता।

सत्य उद्देश्यमें धर्मपालनकी सफलता—मनुष्य जितने भी कार्य करते है उनका प्रभाव स्वयपर होता है। तो यो आत्मस्वरूपमे मग्न होना, इसकी दृष्टि बनाना, मैं केवल ज्ञानस्वरूप हू, सबसे जुदा हू, परिग्रहसे भी दूर हूँ, निर्लेप हू, केवल हूँ, ऐसा अपने आपका अनुभव करना यही है धर्मपालन, और इससे ही वास्तवमे शान्ति होती है और मुक्तिकी प्राप्ति होती है, यह मूल लक्ष्य बन जाना चाहिए। और जो व्यवहारिक भेद है, कोई किसी मजहबको मानता, कोई किसी मजहबको मानता, कोई किसी संन्यासीको मानता, कोई किसी प्रकारकी मान्यता रखता, ये सब ऐसा करते रहनेके लिए नही किए जाते, किन्तु ब्रह्म स्वरूप आत्मस्वरूपका परिचय पाकर उसमे ही समृद्धि प्राप्त करले, इसके लिए किया जाता

है। जब उद्देश्यसे हट जाता है मनुष्य तो फिर जो वह प्रवृत्ति करता है वह विडम्बना और हास्यकी चीज बन जाती है।

उद्देश्यभ्रष्टतामें विडम्बित प्रवृत्तियां—कोई एक चतुर सेठ था, उसके कोई विवाह-काज हुआ तो लोग जीमने आये। पातलें परोसी और साथमे तीन चार अगुलकी सीक भी परोसी दात खोदनेके लिए, ताकि लोग पातलसे सीक निकालकर पातलमे छेद न करें। एक कहावत है जिस पातलमे खाये उसीमे छेद करे तो यह कोई भली बात नही है। तो कोई पातलमे छेद न करे इस उद्देश्यसे उस सेठने अलगसे तीन चार अगुलकी एक-एक सीक भी साथ मे परोसवा दी थी। अब सेठ तो गुजर गया। जब उसके लडकोंके कोई कामकाजका अवसर आया तो इस शानमे आ गये कि हमारे पिताने जैसा काम किया था उससे हम दूना अच्छा काम करेंगे। सो सेठने ३ मिठाई बनवायी थी, लडकोंने ६ मिठाई बनवायी। सेठने ४ अगुल की सीक परोसी थी, लडकोने १२ अगुलकी सीक परोसी क्योकि वहाँ शान पडती है। जब वे लडके भी गुजर गए तो सेठके नाती पोतोका जमाना आया। उनके जब कोई काम पडा तो वे और भी शानमे आ गए। सोचा कि जैसा काम हमारे बापने किया था उससे दूना अच्छा हम काम करेगे। सो बापने ६ मिठाई बनवायी थी, उन्होने १२ मिठाई बनवायी। बापने १२ अगुलकी सीक परोसी थी उन्होने डेढ डेढ फुटका डडा परोसवाया। उन्होने उस सीक परोसनेका लक्ष्य ही न समझ पाया तो डेढ डेढ फुटके डडे परोसने तककी नौबत आ गयी, इतनी बडी विडम्बना बन गयी।

धर्मकार्यका प्रयोजन निर्दोषानुभूति—जब लक्ष्यसे भ्रष्टता हो जाती है तो सारी प्रवृत्तियाँ विडम्बनारूप बन जाती है। हम जितने भी धर्मके कार्य करें उनमे यही समझें कि ये सब काम रागद्वेष मोहको दूर करनेके लिए हैं, और देखें कि हम इन कार्योंसे रागद्वेष मोहसे दूर होते हैं या लगते हैं। यदि लगते है तो वे धर्मकार्य नही और यदि दूर होते हैं तो वे धर्मकार्य हैं। इसके लिए मूल काम यह करना होगा कि मेरे स्वभावमे रागद्वेष मोह नही हैं, केवल मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हू, ऐसी उपासना करनेसे रागद्वेष मोहको दूर करनेका अवसर मिलता है।

॥ ज्ञानार्णव प्रवचन अष्टम भाग समाप्त ॥

ज्ञानार्णव प्रवचन नवम भाग

कुर्वन्ति वनिताहेतोरचिन्त्यमपि साहसम् ।
नरा कामहठात्कारविधुरीकृतमानसा ॥६२६॥

कामार्तोंका अचिन्त्य दुःसाहस—कामवासनासे जिसका चित्त दुखित है ऐसा पुरुष स्त्रीकी प्राप्तिके लिए ऐसा भी काम करनेका साहस करता है जो चिन्तयनमे भी न आया हो । वैसे पुराणोमें कई जगह सुननेमे आया कि स्त्रीको पानेके लिए बडी-बडी लडाइयां भी लडी और आजकल भी छोटे कुलोमे कितनी ही ऐसी घटनाएँ बनती है जो अनेक मायाचार छल धोखा भी कर बैठते है । प्रयोजन यह है कि कामव्यथा एक ऐसी खोटी मानसिक व्यथा है जो व्यर्थकी है । कामव्यथा इतनी खोटी व्यथा है कि जिसमे अपने आत्मा की सुध रखना तो दूर रहो किन्तु बडेसे बडा निन्द्य कार्य भी कर सकता है । वैसे काम भी एक लोभकषायका अंश है । जैसे कषायें चार है क्रोध, मान, माया, लोभ तो वह भी लोभ का एक हिस्सा है । लेकिन यह इतनी कठिन कषाय है कि कषायके नामसे भी अलग नाम इसका रखा है । जहाँ बताया है कि जीवके ६ बैरी है वहाँ मोह काम, क्रोध, मान, माया, लोभ ये ६ बताये है ।

मोह और कामकी अहितकारिता—सर्व प्रथम वैरी मोहको बताया है क्योकि उसमे पदार्थके स्वरूपका सही ज्ञान भी नही रहता । मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानज्योति स्वरूप हू इसका भान मोहमे होता ही नही है । जहाँ भिन्न परवस्तुवोसे मोह भाव लगा है वहाँ आत्मतत्त्वका भान क्या ? मोहके बाद फिर कामका नम्बर रखा है । यद्यपि काम भी प्राय: मोहवश होता है लेकिन मोहका अतीव गहन अधकार है और उसके निकट का अधकार काम है । जितना विवेक क्रोधके समय भी रह सकता है उतना भी विवेक कामवासनाके समय नही रहता । क्रोध करते हुए भी पुरुष यह निहार सकता है कि मैं ठीक काम नही कर रहा हू और मुझे क्रोध न करना चाहिए । मान कषायमे भी हितका लक्ष्य कभी रखा जा सकता है, मगर काममे हितका बोध नही रखा जा सकता । इसी तरह कामके बाद फिर विकट कषाय है माया कषाय । काम इन कषायोमे सिरताज कषाय है । जो कामके वशीभूत है वे आत्मध्यानके पात्र नही हैं और जिनमे आत्माकी सुध लेनेकी पात्रता नही है उन पुरुषोको शान्तिलाभ नही मिलता है । शान्ति तो जितना आत्माके सहज स्वरूपके निकट आये उतनी ही प्राप्त होती है । परवस्तुवोकी ओर आकर्षण रहे तो जब अपना उपयोग

बाहरकी ओर गया है तो वह अशान्तिरूप रखकर ही गया है। तो आत्माके निकट आनेकी पात्रता उसही जीवके होती है जो कामासक्त पुरुष नही है। कामव्यथा न उत्पन्न हो सके इसके लिए चाहिए कि हम ज्ञानार्जन, गुरुसत्सगमे अपना समय बितायें और अपनी आजीविकाके कार्योमे भी समय लगायें। अच्छा उपयोग लगता रहे न्याय कार्योमे, तो ऐसे गदे विकार उत्पन्न होनेका अवसर नही आता।

उन्मूलयत्यविश्रान्तं पूज्य श्रीधर्मपादपम्।
मनोभवमहादन्ती मनुष्याणा निरङ्कुश ॥६३०॥

मनोज महादन्ती द्वारा धर्मवृक्षका भ्रंश—बहुत बहुत ज्ञान करके और बहुत साधना के द्वारा पूज्यश्री धर्मवृक्षको भी हरा भरा बनाया हो किसीने, सयम वृक्षको निर्दोष पालने का यत्न किया हो, चारित्र भी बढाया हो, लेकिन जिस किसी समय कामकी कुबुद्धि उत्पन्न होती है तो यह कामरूपी महान् हस्ती निरंकुश होकर ऐसे धर्मवृक्षको भी उखाड देता है। अनेक ऋषि ऐसे भी हुए हैं जिनका ऐसा उत्कृष्ट तपश्चरण था कि तपश्चरणके प्रभावसे श्रुतज्ञानके ११ अंग ६ पूर्वकी सिद्धि हो गयी, श्रुतज्ञान मायने आगम शास्त्र। शास्त्रो का विस्तार मूल मे १० अग और कुछ अग बाह्यो मे विस्तृत है। तो १२ अगोमे से ११ अंग और ९ पूर्व तकका अध्ययन अभव्य जीव के भी हो सकता है। कोई अभव्य जीव मुनि हो गया, तपश्चरण ठीक चल रहा तो ११ अग ६ पूर्व तकका ज्ञान उसके भी हो सकता है। कोई भव्य जीव इतना ज्ञान साधु अवस्थामे कर चुके तब ११ अग ६ पूर्वकी सिद्धि करनेके बाद जब आत्माकी विशुद्धि बढती है तो उस समय १० वे अंगकी सिद्धि होती है। १० वे पूर्वका नाम है विद्यानुवादपूर्व। उस समय बहुतसे देवी देवता अपना सुन्दररूप रखकर ऋषिके पास आते हैं और हाथ जोडकर उनसे बिनती करते हैं महाराज हमे आज्ञा दो, बहुत सुन्दर रूप सजाकर बहुत प्रेमपूर्वक ऋषिका अनुनय विनय करते हैं, उस समय यदि वह ऋषि विकार न करे और अपने शुद्ध लक्ष्यपर कायम रहे तो इसके बाद उसे फिर बाकी श्रुतज्ञान भी सिद्ध हो जाता है और वह निर्वाण का भी पात्र बन जाता है। लेकिन उन देवी देवतावोके अनुनय विनयको सुनकर उसके कोई इच्छा जग जाय तो उसका धर्मवृक्ष उखड जाता है और यदि कामविकार जग जाय तब तो अत्यन्त पतित हो जाता है तो बडी मेहनतसे सयमवृक्षको हरा भरा किया हो लेकिन यह काम संस्कार उस वृक्षको मूलसे उखाड देता है।

ब्रह्मचर्यकी महिमा—ब्रह्मचर्यकी बडी अद्भुत महिमा है, यह सबको लाभदायक है। गृहस्थोकी भी जब अधिक आयु हो गयी तो पति पत्नी दोनोको पूर्ण ब्रह्मचर्यमे रहना चाहिए। इससे मनकी शुद्धि बढती है। पर्व आदिकमे ब्रह्मचर्यसे रहे, यो भी अधिकाधिक

ब्रह्मचर्यसे रहे नो यो ब्रह्मचर्यसे जीवन व्यतीत करनेमे बहुत शान्ति प्राप्त होती है, धैर्य जगता है, चित्त अस्थिर नही होता। किसी भी कामको सिद्ध करने के लिए बुद्धि भी चलती है। सेठ सुदर्शनकी कथा बडी प्रसिद्ध है और स्त्रियोमे तो सतियोकी कथाये बहुत प्रसिद्ध हैं। सेठ सुदर्शनके रूपको देखकर एक रानी मुग्ध हुई। तो रानी ने किसी प्रकार धोखेसे उसे बुलाया और बहुत बहुत बाते कही, पर वह विचलित न हुआ। और बोला कि मैं तो पर-स्त्रीके लिए नपुसक हूँ। अन्तमे रानीने क्रुद्ध होकर उसको असदाचारका दोष लगाया और राजाने उसे शूलीका हुक्म दिया। जब शूलीपर चढाया गया तो उस समय देवोंने आकर उसकी रक्षा की और उसके बैठनेका सिंहासन बना। ऐसे ही सतियोकी घटनाओमे भी देवो ने सहायता की। सती सीताको अग्नि कुण्डसे बचाया, द्रोपदीका चीर बढाया, और और भी सतियोका महान महान प्रभाव हुआ। वे अपने शीलपर अडिग रही। तो जो अपने शीलसे अडिग रहता है संकल्प जिसका दृढ रहता है उस दृढ संकल्प वाले जीवके कोई अद्भुत शक्ति प्रकट होती है जिससे चित्त अस्थिर नही होता, धीरता प्रकट होती है और किसी भी समस्याको सुलझानेमे उनकी बुद्धि प्रबल रहती है।

ब्रह्मचर्यके प्रतापसे सुगम सुखसमृद्धिलाभ—ब्रह्मचर्य ही वास्तविक सुख है, तप है। स्वाध्याय है, यश है। बडे बडे वीर पुरुष बडी बडी वीरताकी बात कर लेते है किन्तु एक कामके समक्ष अपने घुटने टेक देते है, और जो पुरुष अपने ब्रह्मचर्य व्रतको सही निभाता है अध्यात्मदृष्टिसे वह बहुत बली मनुष्य है। गृहस्थीमे पातिव्रत्यधर्मकी बहुत बडी महिमा कही है। उसका मतलब ब्रह्मचर्य अणुव्रतसे है। पुरुष भी अपनी पत्नीको छोडकर अन्यत्र कही दृष्टि न दे स्वप्नमे भी ऐसा जो ब्रह्मचर्य अणुव्रत है उसकी भी बड़ी अधिक महिमा है और फिर जो साधुसंत ब्रह्मचर्य महाव्रतका पालन करते है उनको आत्मतत्त्वका दर्शन, प्रभु से मिलन ये सब सुलभ होते है और शीघ्र होते रहते है।

प्रकुप्यति नरः कामी बहुल ब्रह्मचारिणे।
जनाय जाग्रते चौरो रजन्या सचरन्निव ॥६३१॥

कामी पुरुषोंका निष्काम पुरुषोंपर कोप—कामी मनुष्य ब्रह्मचारी पुरुषोके लिए क्रोध करते रहते है। जैसे कभी किसी कषायी पुरुषको साधुके दर्शन हो जायें तो कषायी साधु को कोसता है कि यह साधु कहाँसे आ गया, आज तो शिकार मुझे न मिलेगा। जैसे रात्रि को चोरी करने वाले लोगोको जगने वाले लोगो पर क्रोध आता है, ऐसे ही कामी पुरुषोको ब्रह्मचारी पुरुषोपर क्रोध आता है, यह एक स्वाभाविक नियम है। जिसकी जैसी सगति है वह उसमे वैसे ही रमना चाहता है। संतजन संतोमे ही रमते है, कामी मनुष्य कामीजनो मे ही रमते है। तो जैसे संतोको कामी अधम पुरुष नही सुहाते इसी प्रकार अधम पुरुषोको

संत पुरुष भी नही सुहाते। पवित्र परिणाम रखने से आत्मामे एक ठोस लाभ पहुचता है। वह बहुत उत्कृष्ट पदमें ले जाता है। और नीच परिणाम जीवको निम्नपदमे ले जाता है। यह बहुत बडी विपत्ति है।

प्रारम्भसे ही संभालकी आवश्यकता--यदि कोई प्रारम्भसे ही अपने परिणामोंके सभालका यत्न बनाये रहे तो सावधानी रहती है, अन्यथा सभाल कठिन है। जैसे वर्षा कालमे कही रिपट वाली जगह पर थोडा भी रिपटे तो पूरा रिपट जाते है और शुरूसे ही धीरे धीरे सभलकर पग रखें, लम्बी डग न रखे तो बचकर निकल जाते हैं। ऐसी ही सोहबतकी बात है, इन परिणामोकी बात है। खोटे परिणाम शुरूमे हो और तभी अपनी सभाल कर ले तो सभल जाते है और प्रारम्भमे ही नियंत्रण न रख सके तो फिर पापोकी ओर ही नि शक प्रवृत्ति हो जाती है। और, पापोमे नि शक प्रवृत्ति होनेका ही नाम व्यसन है।

प्रारम्भिक असावधानीसे व्यसनकी विपदा—पाप ५ होते है—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। हिसाकी प्रकृति नही है, चाहते नही है और परिस्थितिवश कोई हिंसा करनी ही पडी ऐसा मनुष्य हिंसापाप तो करता है पर उसके हिंसाका व्यसन अभी नही लगा। और, जिसको हिंसा करनेकी प्रकृति बन गयी उसे कोई ग्लानि नही आती, उसे जरा भी रुकावट नही आती, क्योकि चित्तमे जीवहिंसाका व्यसन लग गया। उसीका नाम शिकार खेलनेका व्यसन है। कोई पुरुष किसी समय किसी खास परिस्थितिमे चित्त न चाहते हुए भी झूठ बोल गया तो उसने पाप तो किया, पर अभी झूठ बोलनेका व्यसन नही बना। जब दो चार बार झूठ बोला जाय और झूठ बोलनेमे फिर उसे झूठका व्यसन लग गया। इसी प्रकार कभी किसी बडी विकट परिस्थितिमे कोई चोरीका काम कर ले तो उसने चोरीका पाप तो किया पर चोरीका व्यसन नही हुआ। जो चोरी करनेका आदी बन जाय, चोरी करनेमे अपना भला माने, जैसे डाकू अथवा गुप्त अगुप्त चोर होते हैं तो वह चोरीका व्यसन कहलाता है। ऐसी ही कुशीलकी बात है। परस्त्रीसेवन व्यसनमे सामिल है। कभी किसी परिस्थितिमे कुशील बन गया तो वह पाप है, जब उसकी आदत बन जाय, उसमे निश कता हो जाय तो वह कुशील व्यसन बन जाता है। तो व्यसन लगनेपर फिर छुटकारा होना कठिन होता है। जैसे बीडी पीने वालोसे कहा जाय कि बीड़ी पीना छोड दो, उन्हे बडा कठिन मालूम होता है और आरम्भमे ही जब बीडी पीना शुरू किया है तब छोडनेको कहा जाय तो जल्दी ही छोड देते हैं। किसी चीजका व्यसन बनने पर उससे छुटकारा होना कठिन है, तो जो कामासक्त पुरुष है उन्हे कामका व्यसन बन जाता हैं और फिर वे उसे छोड नही सकते।

वस्तुतः परपदार्थोंका भोगना असंभव—संसारी प्राणियोकी हालत तो प्राय ऐसी ही है कि वे न परपदार्थोंको भोग सकते है और न परपदार्थोको छोड सकते है। अध्यात्म-दृष्टिसे विचार किया जाय तो कोई भी जीव परपदार्थको भोगता नही है, जो भी भोगता है वह अपने कषाय और भावोको भोगता है। जैसे कोई रूपवान वस्तु है उसे देखकर खुश हो रहे है, अपना दिल बहलावा कर रहे है तो यही कहा जाता कि इसने रूपवान वस्तुको भोगा, पर हुआ क्या कि वह परपदार्थ जहाँका तहाँ ही रहा, यहाँ इसने अपना ज्ञान बिगाड कर अपने आपमे कल्पनाए की, उसके अनुभवनका ही नाम भोगना है, परवस्तुको कोई नही भोगता है। आनन्द भी किसी परसे नही आता। आनन्दस्वरूप स्वयं है, किसी परका निमित्त पाकर स्वयं आनन्दरूप परिणाम जाते है। गहरी दृष्टिसे सोचा जाय तो भोजन करते हुएमे उस भोजनसे आनन्द फूटकर नही निकलता। उस भोजनके विषयमे जो हमारा ज्ञान बनता है उस ज्ञानका वह आनन्द है। कोई भी किसी बाह्य वस्तुको नही भोग सकता है।

इच्छाके अभावमें सुख—जितने भी सुख होते है वे सब सुख इच्छाके अभावसे होते है। इच्छा नही रही किसी वस्तुके प्रति तो सुख हो गया। इच्छाके पूर्ण होनेका नाम इच्छा की पूर्ति नही है, किन्तु इच्छाके अभावका नाम इच्छाकी पूर्ति है। इच्छाके मिटनेसे ही इच्छाकी पूर्ति होती है। बोरा तो गेहूवोके भरते-भरते पूर्ण होता है पर इच्छा इच्छावोके मिटनेसे पूर्ण होती है। जैसे कहते है ना कि हमारी इच्छा पूर्ण हो गयी तो उसका अर्थ यह है कि अब उसके उस वस्तुके प्रति इच्छा नही रही। जितने भी सुख मिलते है वे सब इच्छा के मिटनेसे मिलते है। एक ही जगह नही, सभी कार्योंमे आप देख लीजिए। किसी मित्रसे मिलना है तो जब तक उससे मिलनेका विकल्प है, मिलनेकी इच्छा है तब तक बेचैनी है और वह मित्र मिल गया तो अब उस मित्रसे मिलना है यह इच्छा नही रही, बस इस इच्छाके न रहनेका सुख मिला है, उसे मित्रसे मिलनेका सुख नही मिला है। किसी कामके करनेकी इच्छा हुई तो उस कामको करलेसे सुख न मिलेगा, उस कामको करनेकी अब इच्छा नही रही, इससे सुख मिलेगा। तो किसी भी कामसे किसी भी वस्तुसे सुख नही मिलता।

तत्त्ववेदीका प्रत्यय—जो यथार्थतत्त्वके वेत्ता है वे जानते है कि मैं यह ज्ञानस्वरूप हू, मेरा सर्वस्व मुझमे है, मैं आनन्दस्वरूप हू, मेरा ही आनन्द मुझमे प्रकट होता है, ऐसा जिसके दृढ निर्णय है वह बाह्यपदार्थोमे आसक्त नही होता। तत्त्वश्रद्धानका यही तो फल है। समस्त वस्तुओको स्वतत्र-स्वतत्र जान लेना बस यही तत्वज्ञानका फल है। द्रव्य ६ जातिके होते है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। दार्शनिक चर्चामे क्या बढे, इस प्रकारकी ये ६ जातिया बतायी हैं कि जिसमे कोई दोष नही आता। अन्य प्रकारसे बहुतसे दार्शनिकोने द्रव्योकी सख्या बतायी, किन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्यमे मिलकर

एक बन सकता था, कोई द्रव्य छूट गया, इस तरहसे अटपट संख्या बनी, किन्तु ये ६ जाति के पदार्थोंमे न तो कोई पदार्थ छूटा और न कोई किसीमे मिलता जुलता है। जीव—जिसमे चेतना पायी जाय वे सब जीव है। जीव कहनेसे सब जीव आ गए। और, जीवमे जीवको छोडकर शेष ५ द्रव्य नही आये। पुद्गल —जिसमे रूप, रस, गध, स्पर्श हो वे सब पुद्गल है, पुद्गलमे समस्त पुद्गल आ गए। पुद्गलके सिवाय अन्य कोई द्रव्य नही आया। ऐसी ही सब द्रव्योकी व्यवस्था है।

स्वरूपबाह्यके सम्बन्धकी कल्पनामें क्लेश—ये समस्त पदार्थ स्वय सत् हैं और अपने आप निरन्तर परिणमते रहते हैं। इसके आगे और कुछ नही होता। न परिवारका सयोग है, न परिवारसे सुख आता है, न शत्रुसे दु ख आता है। आज हमने जिसको शत्रु माना उसके प्रति अपनी मान्यतासे दु खी हो रहे है। किसीको अपना शत्रु न माने, नम्र बनकर रहे, मिष्ट वचन बोलकर रहे, हम कुछ त्याग और उदारताके साथ रहे तो मेरा कोई शत्रु ही नही है। हमारा मन साफ है, किसीको शत्रु नही मान रहे, चाहे कोई पुरुष मुझपर कितना ही उपसर्ग करे पर मैं दूसरेको शत्रु मानूँ तो उससे दु ख कई गुना हो जाता है। तो शत्रुता माननेसे दु ख बढता है, शत्रुसे दु ख नही बढता।

जीवका आन्तरिक शत्रु—एक राजा था तो जगलमे एक साधुके पास बैठ गया। कुछ उपदेश सुनने लगा। वह जा रहा था किसी शत्रुसे लडनेके लिए सेना को सजाकर। सेना कुछ दूर खडी कर दी और आप साधुके पास बैठ गया। कुछ चर्चा होनेके बाद शत्रु की सेना कुछ निकट आनेको हुई, उसे कुछ शब्द सुनाई दिये, सो राजाको कुछ क्रोध उत्पन्न हुआ, सो पहिले तो राजा कुछ ढीलाढाला बैठा था, अब कुछ और कडाई करके बैठ गया और तलवार भी हाथमे ले लिया। कुछ और भी शब्द सुन पडे तो तलवार भी तान ली। राजाकी ऐसी हालत देखकर साधु बोला—राजन् ! तुम यह क्या कर रहे हो ? तो राजा बोला—महाराज ! शत्रु ज्यो ज्यो निकट आता जा रहा है त्यो त्यो मेरे अन्दर क्रोधका वेग बढता जा रहा है, तो साधु बोला—तुम बडा अच्छा कर रहे हो, शत्रुका तो बिल्कुल विध्वस कर देना चाहिए और ज्यो ज्यो शत्रु निकट आये त्यो त्यो क्रोध बढना स्वाभाविक है। मगर राजन् ! एक शत्रु तो तुम्हारे बिल्कुल निकट आ गया, तुममे ही बसा हुआ है, उस पर क्रोध करो, उसे निकालो। राजा बोला—महाराज वह कौन सा शत्रु है ? साधु बोला—तुम्हारे चित्तमें जो यह बात बैठी है कि अमुक मेरा शत्रु है यही भाव तेरा वास्तविक शत्रु है तो उस बातको निकाल दो। तुम्हारा अन्य कोई शत्रु नही। यह बात राजाकी समझमे आ गयी, वह शुद्ध होकर ध्यानमे बैठ गया। अब वही सारी शत्रु सेना जब वहाँसे गुजरती है तो राजाको शान्तमुद्रामे ध्यान करता हुआ देखकर वे सब अति प्रसन्न हुए और उसके

चरणोमे नमस्कार करने लगे। तो जब तक हम किसी दूसरे जीवको अपना विरोधी मानेंगे अपना बैरी मानेगे तब तक हममे चैन नही है। चाहे कुछ भी हो जाय, पर किसी दूसरे जीवको हम अपना विरोधी न मानें।

स्वरूपनिर्णयमें उलझनोंकी परिसमाप्ति—भैया! जीवका जो स्वरूप है उस पर दृष्टि दें, सब जीवोको यो निरखें कि सभी अपने कर्मोंके आधीन होकर जैसी उनमे कषाय जगती है उस योग्यता माफिक वे अपनी परिणति करते है। मेरा कोई दुश्मन नही है। इसी प्रकार कोई मेरा मित्र नही है। हमारे ज्ञानकी सावधानी होगी तो हम ही अपने मित्र है और हमारे ज्ञानकी असावधानी होगी तो हम ही अपने शत्रु बन जाते है। बाहरमे कोई मेरा शत्रु मित्र नही है, ऐसा निर्णय जिन ज्ञानी सतोके होता है वे पुरुष परवस्तुवोसे सहज उपेक्षाभाव रखा करते है और ऐसे ही पुरुष कामवासना जैसे गंदे आशयसे विरक्त रहते है और निष्काम शुद्ध ज्ञायकस्वभावकी उपासना करके अपने आत्मविकासकी उन्नति करते है, ऐसे भी पुरुषोसे कामी पुरुष घृणा करते है, उनपर क्रोध करते है। यह काम संसारमे लोगो की ऐसी बुद्धि बिगाड देता है कि वे ऐसे ज्ञानी सत पुरुषोको भी घृणास्पदकी दृष्टिसे देखते है। हम ज्ञानार्जनसे, सत्सगतिसे, स्वाध्यायसे, परोपकारसे और गृहस्थ है तो धनार्जनसे कर्तव्य निभाकर एक शुद्ध मोक्षमार्गकी दृष्टि बनाये और यह निर्णय बनाये कि हमारा जीवन तो धर्मपालनके लिए है, बाकी तो जीवन निर्वाहके लिए करना पड रहा है, ऐसा शुद्ध लक्ष्य होने पर नियमसे अपना उद्धार होगा।

स्नुषा श्वश्रूं सुता धात्री गुरुपत्नी तपस्विनीम्।
तिरश्चीमपि कामार्तो नर स्त्रीं भोक्तुमिच्छति ॥६३२॥

जीवोंकी ज्ञानानन्दविकासेच्छा—हम आप सब जीव है और सभी जीवोका स्वरूप ज्ञान और आनन्द है। जैसे किन्ही बाह्य पुद्गलोमे हम निरखते है तो वहाँ रूप, रस, गध, स्पर्श नजर आता है ऐसे ही आत्मामे निरखें तो क्या स्वरूप नजर आता है? वह स्वरूप है ज्ञान और आनन्द। अतएव जीव स्वय सुखी है, इसका सुख स्वरूप ही है। जीवकी चाह दो प्रकारकी होती है। एक तो हमारा ज्ञान अच्छा बढे और एक आनन्द मिले। किसी भी परिस्थितिका प्राणी हो, ज्ञान और आनन्दकी इच्छा जीवके हुआ करती है। बालको को ज्ञानकी बात मिलती है और उन्हे तो प्राय सभी नई-नई बाते मालूम होती है तो उस ज्ञानमे वे बडा आनन्द पाते है। नया हिसाब, नया भजन, नई बात, नई कहानी सुननेका कितना चाव रहता है? तो ज्ञानकी इच्छा बालक, जवान, बूढे सभीको बनी रहती है। इसी प्रकार आनन्दकी इच्छा भी सबको रहती है। तो इतना तो भला है कि सब लोग अपने स्वभावकी बातको ही चाहते हैं, लेकिन ज्ञानोमे ज्ञान क्या है और आनन्दोमे आनन्द क्या है?

इसकी परखमे भूल हुई कि सारा पटरा उनका उल्टा हो जाता है।

पारमार्थिक ज्ञान और आनन्द—ज्ञानोमे ज्ञान वही श्रेष्ठ है जो ज्ञान ज्ञानका भी ज्ञान कर ले। मैं ज्ञानस्वरूप कैसा हू और ज्ञानका भी स्वरूप क्या है ? जो ज्ञान जानता है उस ज्ञानका स्वरूप क्या है इसका भी जिन्हे ज्ञान हो जाता है उनका ज्ञान ज्ञान है। और, आनन्दोमे वह आनन्द है जिस आनन्दको किसी परके सहारेकी जरूरत न पडे। जो किसी दूसरे पदार्थका सहारा तक कर आनन्द पाते हैं वह आनन्द आनन्द नही है, जो पराधीन सुख है, कर्मोके आधीन है, इष्टजनोके आधीन हैं, जिस आनन्दका अन्त है, जिस आनन्दके पानेके बीच-बीच अनेक दु ख भरे पडे हुए है वह आनन्द आनन्द नही है। आनन्द वही है जो निरपेक्ष है, स्वाधीन है, सहज है। वह आनन्द तब मिलता है जब ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूपको जानता है। जो ज्ञान अन्य पदार्थोंका विकल्प नही करता उस समयमे आत्मीय आनन्द प्रकट होता है। ऐसे ज्ञान और आनन्दकी झलक जिन्हे हो जाती है उनके धर्मरुचि है, धर्मका विकास है, वे मोक्षमार्गी है। वे मोक्षमार्गको पार करके निर्वाण प्राप्त करेंगे। यह पथ सब के लिए आदरणीय है। जैनशासनके उपदेशका सार यही है।

ज्ञानी गृहस्थका लक्ष्य—इस अतुल किन्तु गहन आत्मीय मार्गको जो नही पार कर सकते ऐसे ज्ञानी पुरुष विवेक सहित गृहस्थीको बसाते है। उस गृहस्थीको बसानेका प्रयोजन यही है कि हमारी अनर्गल हिंसामे प्रवृत्ति न हो, किसीकी यह चोरी न करे, किसी परस्त्री को, पर पुरुषको बुरे भावोसे न देखे। और, परिग्रहका भी अनाप सनाप संचय न करें। इन मोटे पापोसे हम बचे रहें, इसके लिए कुछ थोडेसे पाप उसने स्वीकार किए है। स्वीकार नही किए बल्कि स्वीकार करने पडते है।

ज्ञानी गृहस्थकी प्रवृत्तियोंका आधार—जैसे भोजनमे, आरम्भमे, उद्यममे कुछ हिंसा हो जाती है, किसी अन्यायीका शत्रुका मुकाबला करनेमे उन मनुष्योका घात हो जाता है तो ऐसी वृत्तिया बन जाती है गृहस्थीमे। इसके सिवाय अन्य हिंसाये छूट जाती हैं ज्ञानी गृहस्थकी। ज्ञानी गृहस्थ संकल्पसे हिंसा नही करता। असत्य सम्भाषण व्यापार आदिककी बात कहनेका दोष तो लगता है, वह तो असत्य है ही, पर व्यापार आदिककी कुछ बात बोलने को असत्य माना गया है, क्योकि वह आत्माके हितकी बात नही है। वह एक लौकिक बात है और फिर जो व्यापार आदिकमे झूठ बोले जाते हैं, वे महा असत्य हैं। और ज्ञानी गृहस्थ अपनी गृहस्थीमे काम चलाने के वचन व्यवहारके सिवाय और कुछ अनात्मीय वचन नही बोलता। इस प्रकार अचौर्य अणुव्रतमे स्थूल चौर्य त्याग रहता है, चीजोका धरना, उठाना, रक्षा करना, कभी अपनी ही चीजकी रक्षाके लिए कुछ झूठ भी बोल लिया जाता है, अपनी ही चीज छुपाकर रखी जाती है ये सब काम करने होते हैं,

पर ज्ञानी गृहस्थ मोटी चोरी नही करता। इसी प्रकार गृहस्थ कामवासनाका बिजयी न हो सकनेसे जिससे विवाह हुआ है उस ही स्त्रीमे संतुष्ट रहता है, अन्य स्त्रीजनोमे रच भी विकार भाव नही लाता। इसका कारण यह है कि वह अपनी स्त्रीमे भी आसक्त नही है। वह जानता है कि यह शरीर मल, मूत्र रुधिर आदि अपवित्र चीजो से भरा है, इसमे सार का कुछ नाम नही है जो प्रीति करनेके योग्य हो ऐसे ज्ञानी पुरुषको काम सताये तो उसके विवेक यह रहता है कि वह अपनी स्त्रीसे सन्तुष्ट रहता है। इसी प्रकार गृहस्थोके परिग्रहका परिमाण होता है। परिग्रहका परिमाण हुए बिना तृष्णाका महा दोष लगता है, सारे जगत के परिग्रहका दोष लगता है, जिसके परिग्रहका परिमाण नही है। कुछ तो परिमाण हो लाख दो लाख, १० लाख हजार, तो प्रमाण होने पर फिर इससे अधिक सम्पदा वालो को देखकर मनमे ऐसा विकल्प नही उठता कि मैं ऐसा नही हू क्योकि उसने नियम लिया है कि हमारा तो २ लाखका परिमाण है। करोडपती भी दिख जाय तो उसके चित्तमे तृष्णा नही जगती कि मैं ऐसा क्यो न हुआ ? साथ ही आश्चर्य भी नही होता है। वह तो जानता है कि यह सब पुण्यका फल है, सो भी सासारिक चीज है। सम्पदा भी एक तरहकी विपत्ति है उसे आश्चर्य भी नही होता। तो यो जो सम्यग्ज्ञान सहित रहते है उनका जीवन शान्ति और निराकुलतामे व्यतीत होता है। तो ऐसे पुरुष तो विवेक सहित अपना जीवन व्यतीत करते है।

कामार्तोंकी अधमेच्छा—जिन्हे तत्त्वके स्वरूपका बोध नही है, एक इस शरीरको ही अपना सर्वस्व आत्मा मानते है ऐसे पुरुषोके पापमे निरर्गल प्रवृत्ति होती है। सब विषयो मे प्रधान विषय है काम। पशु, पक्षी, मनुष्य सभी कामसे पीडित होकर जो चाहे काम कर लेते है जो काम चिन्तवनमे भी नही आ सकते। कामी पुरुषके योग्य अयोग्यका कुछ भी विचार नही रहता, वह पुत्रवधू, सास, गुरुकी स्त्री, तपस्विनी सभीके सग भोग भोगनेकी चाह करता है। तो उस चाहमे कितना अधेरा है कि जिस अंधेरेमे कुछ भान भी नही रहता। जगतमे स्व पर क्या है, हित अहित क्या है, यह कुछ उसे पता नही रहता।

ज्ञानकी स्वच्छताका वैभव—भैया ! ज्ञान सही बना रहे इससे बढकर और कोई विभूति नही है, कोई बडे धनिक घरानेमे पैदा हो जाय और उसका ज्ञान व्यवस्थित नही है तो उसका जीवन क्या जीवन है, उससे तो दरिद्र मनुष्य भला है, जिसके कुछ बुद्धि तो है, प्रभुका कुछ नाम तो ले सकता है। यदि अपना ज्ञान सही हो, बुद्धि धर्मकी ओर चले तो इससे बढकर और सम्पदा कुछ न समझिये। जिनके बाह्य सम्पदा है उनका चित्त अगर धर्ममे है तो सोनेमे सुगध जैसी बात है। धर्मशून्य मनुष्यका जीवन कोई जीवन नही है। कमसे कम दिन रातमे दो घटे तो धर्मरुचिमे, धर्मपालनमे, स्वाध्यायमे, ज्ञानार्जनमे ऐसे

लगाये कि उस समय कोई बाहरी विकल्प न आने दे। रात दिन किसी बातकी चिन्ता करते रहनेसे कोई सिद्धि नही हो जाती है। चित्त और व्यग्र रहता है, पर यह साहस ज्ञानी ही तो कर सकता है। अभी दुकानकी ड्यूटी दिया, मंदिरमे आया तो दुकानके सारे विकल्प छोडकर केवल एक धर्मकी धुन बनायी, यह बात ज्ञानी पुरुषोसे ही बन सकती है। तो धर्मकी धुन ही एक वास्तविक शरण है।

केवलीप्रणीत धर्मका शरण—हम आप रोज पूजामे बोलते है–केवली पण्णत्तं धम्मं सरण पव्वज्जामि। मैं केवली द्वारा बताये गए धर्मकी शरणको प्राप्त होता हू। प्रभुने धर्म बताया है कि हे भव्य आत्मन्! धर्म तुममे ही है। तुम अपने स्वभाव पर दृष्टि दो और धर्मकी शरण गहते रहो। प्रभुने यह उपदेश नही किया कि तुम्हे यदि ससारके दुख मिटाना हो तो तुम हमारी शरणमे रहो। उनका उपदेश है कि तुम्हारा शरण तुम्हारे स्वभावमे ही मौजूद है, उसकी दृष्टि करो, उसमे लीन हो और मुक्ति प्राप्त करो। भला जो इतना निरपेक्ष शुद्ध बिना लाग लपेटके सत्य उपदेश करे तो ऐसा उपदेश सुनने वाला तो प्रभुकी उपासनामे भक्तिमे गद्गद् हो जायगा। जब प्रभुके उपदेश किए हुए मार्गसे हम अपने आपमे कोई अद्भुत आनन्द पायेंगे तो हम प्रभुके कितने भक्त बनेंगे?

प्रभुताकी परम भक्ति—प्रभुका भक्त वही है सच्चा जो उसके गुणोको निरखकर उसके प्रति प्रेम बनाये। वही है वास्तविक प्रेम। और, गुण कुछ न मालूम हो लेकिन कहता रहे कि यह बडा ज्ञानी है, बडा महात्मा है, बडा त्यागी है, ऐसा बडा बडा सुनकर ही जो भक्ति की जाती है उस भक्तिमे अन्तर है। किसी साधुके किसी महापुरुषके गुण भी समझमे आ रहे हो, उनके भीतरकी दृष्टि भी अपने अनुभवमे आयी हो और फिर भक्ति जगे तो उस भक्तिकी अपूर्वता है और एक कहने सुनने मात्रसे भक्ति जगे तो वह एक रूढि भक्ति है। ऐसे ही प्रभुके गुण समझकर प्रभुका क्या स्वरूप है, कितना निर्दोष स्वरूप है, केवलज्ञान है, शुद्ध आनन्द है, जहाँ रागद्वेष मोहका निशान नही है, जिसका ज्ञान इतना स्पष्ट है कि समस्त लोक और अलोक एक साथ ज्ञानमे झलक रहे है ऐसी प्रभुके गुणोकी समझ आये और फिर प्रभुके भक्त बनें वह भक्त है अपूर्व, और चूकि प्रभुकी मूर्ति है, इस की वन्दना करनेसे पुण्य होता है। केवल एक ऊपरी बातोसे जो भक्त होता है उसमे वह अपूर्वता नही है इस कारण कल्याणार्थी पुरुषको सर्वत्र गुणग्राही होना चाहिए।

देवगुरुस्वरूपनिर्णेताका संकटहारी कदम—देवभक्ति करे तो देवके गुणोकी समझ बनायें। देव क्या चीज है? गुरुभक्ति करें तो गुरुके गुणोकी समझ आनी चाहिए। गुरुका अर्थ है ज्ञान और वैराग्यका पुतला। यो समझ लीजिए छोटे शब्दोमे। जहाँ स्पष्ट ज्ञान हो और ससारके मायाजालोसे विरक्ति भी हो, ऐसे आत्माका नाम है गुरु। और, देव—जो ऐसे ही

ज्ञान वैराग्य की उत्कृष्ट साधनासे जो पूर्वमे तो सर्वज्ञ हो गए है ज्ञान पूर्ण विकसित हो गया है और वैराग्य भी पूर्ण बन गया है, रागद्वेष का सर्वथा अभाव हो गया है, ऐसे सर्वज्ञ और वीतराग को देव कहते है । तो जैसे देव का हम स्वरूप सर्वज्ञ और वीतरागको जानते है ऐसे ही गुरुका भी स्वरूप है—उसमे सर्वज्ञताका लगार तो हो, वीतरागताका कुछ अंश तो हो । तो उनके गुणोको निरखकर जो भक्ति की जाती है वह सच्ची भक्ति है और वही सच्चा भक्त है । तो जिसे अपने स्वरूपका परिचय है देवगुरुके स्वरूपका परिचय है, शास्त्रमे क्या उपदेश है वह तथ्यभूत है, इन सबका निर्णय है ऐसा पुरुष ससारके संकटोसे दूर होनेका उपाय कर लेता है ।

कि च कामशरव्रातजर्जरे मनसि स्थितिम् ।
निमेषमपि बध्नाति न विवेकसुधारस. ॥६३३॥

कामजर्जरित मनमें विवेक सुधाबिन्दुके ठहरनेका अभाव—जो इच्छाके वाणोसे जर्जरित हो गया है और विशेषतर मदनवाणोसे जर्जरित हो गया है ऐसे मनमे रंचमात्र विवेकरूपी अमृतकी बूँद नही ठहर सकती है । जिसके हृदयमे तृष्णा बसी है उसके चित्तमे विवेक कहासे ठहरेगा ? जो इच्छायें करता रहता है, मनमे आशावोके पुल बाँधता ही रहता है उसे लोग शेखचिल्ली कहा करते है । मैं ऐसा करूँगा, फिर यो करूँगा, फिर यो करूँगा, यो पुलावा बॉधने वाले शेखचिल्ली कहलाते है । कामेच्छामे तो यह प्राणी शेखचिल्लीसे भी अधिक मूढ और विपन्न हो जाता है ही, किन्तु जिनके परिग्रहका परिमाण नही है उनकी भी बडी दुर्दशा है, क्योकि चित्तमे तो बडी-बडी बाते बनी रहती है । हालांकि कोई गरीब हो तो वह अधिकसे अधिक बात तो लाख रुपयेकी बात सोच ले, उसके ज्यादा बुद्धि ही नही है, पर लाख होनेपर फिर तो आगेकी बात सोचेगा । तो जिसको परिग्रहका परिमाण नही है उसमे शेखचिल्लीपना बना रहता है ।

तृष्णावोंका पुलावा—एक परिग्रह पापकी कथा श्मश्रुनवनीतकी पुराणमे दी गई है । एक मनुष्य था, जिसका नाम श्मश्रुनवनीत था, हिन्दीमे मूछमक्खन कह सकते हो । श्मश्रुका अर्थ है मूछ और नवनीतका अर्थ है मक्खन । वह प्रतिदिन श्रावकोके यहाँ मट्ठा पीने जाता था । एक दिन उसने मट्ठा पीकर अपनी मूछ पोछी तो हाथमे कुछ मक्खन लग गया । सोचा कि यह तो बहुत बढिया व्यापारका साधन निकल आया । रोज-रोज मट्ठा पीवेंगे तो कुछ दिनोमे काफी मक्खन इकट्ठा हो जायेगा । उसने ऐसा ही काम शुरू किया । रोज-रोज मट्ठा पीवे और मूछोको हाथसे पोछ कर मक्खन इकट्ठा करले । इस तरहसे साल भरमे ही दो तीन सेर घी जुड गया । वह झोपडीमे तो रहता ही था । एक बार जाडेके दिनोमे वह उसी झोपडीमे ताप रहा था । ऊपर सिकहरेमे घी का डबला टगा था । एकाएक ही शेख-

चिल्लीपनेका वेग दौडा। सोचा कि अब हम इस घी को बेचेंगे, करीब दस रुपये का हो जायेगा, फिर दस रुपये से खोमचा लगायेंगे, फिर १००) रुपये हो जायेंगे, फिर दुकान बनायेंगे, फिर हजार हो जायेंगे, फिर जमीन खरीदेंगे, बडी खेती करेंगे। भैया! है अभी झौपडीमे पर सोच रहा है इस तरहसे। फिर महल बनवायेंगे, विवाह करेंगे, बच्चे भी होंगे तो बच्चे आयेंगे मुझे बुलाने, कहेंगे कि चलो पिता जी माँ ने रोटी जीमनेको बुलाया है। वह सब बाते अपने मनमे गुन रहा है, है वहाँ कुछ नही। तो यो ही कह दिया कि अभी नही जाते। फिर कहेगा कि चलो दद्दा माँ ने रोटी खानेको बुलाया है तो फिर मना कर देंगे कि अभी नही खायेंगे। फिर बुलाने आयेगा तो लात फेककर बोला कि अबे अभी नही जाते। वह लात लगी डबलेमे, डबला आगमे गिर गया, घी जलने लगा, झौपडी जलने लगी। वह बाहर निकलकर चिल्लाने लगा–अरे दौडो हमारा मकान जल गया, स्त्री जल गयी, बच्चे जल गए, जानवर जल गये, सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी। लोग जुड गए। सोचते है कि अभी तक तो यह भीख मागता था और आज यह इस तरहसे कह रहा है ऐसी क्या बात है? तो लोग उससे पूछते हैं कि तेरे पास तो कुछ भी न था, भीख मागता था और इस तरहसे क्यो कह रहा है कि मेरे स्त्री, पुत्र, मकान, जानवर, सारी सम्पत्ति जल गयी? तो उसने बताया कि मेरे पास दो सेर घी था, उसे बेचता तो इस इस तरहसे इतने इतने धनी बन जाते इतने-इतने पुत्र, स्त्री, धन, सम्पत्ति हो जाते, पर आगमे वह घी भी जल गया और झौपडी भी जल गयी तो वे सब कुछ तो जल गए। एक सेठ जी समझाने लगे कि जला तो तुम्हारा कुछ भी नहीं, वे सब तुम्हारी कल्पना की ही तो बातें थी। तो एक समझदार सेठ जी से कहने लगा कि यही बात तो आपकी भी है। तुम अपने घरके चार प्राणियोको, धन वैभवको जिन्हे अपना समझ रहे हो वे भी तो तुम्हारे कुछ नही हैं, वे सब भी तो कल्पनासे मानी हुई बातें हैं। वे सब तुमसे अत्यन्त भिन्न चीजें हैं।

तृष्णामें विवेकका पलायन—भैया! इन बाह्य विभूतियोसे कोई धनिक नही कहलाता, ये सब तो आत्मासे भिन्न क्षेत्रमे है, भिन्न प्रदेशमे है। उनसे इस आत्माका क्या सम्बन्ध? कल्पनासे ही यहाँ बडे बन रहे। मान लो को कजूस आदमी है और बडा धनी भी है धन को खर्च नही करना चाहता, गाडकर रखता है, खुद भी नही ठीक ठीक खा पी सकता तो उसमे और गरीबमे अन्तर क्या है? हाँ इतना अन्तर जरूर है कि कजूसका कदाचित भाव बदल जाय तो वह अपनी सम्पत्तिको दान और परोपकारमे तो लगा सकता है, पर यह गरीब यदि दान करनेका भाव भी करे तो क्या दानमे लगावेगा? उसके पास धन तो है ही नही। ऐसा वर्तमानमे मात्र औपचारिक तो अन्तर है पर जिसके विवेक नही, परिग्रह परिणाम नही, सबसे न्यारा अपने आत्मतत्त्वको समझता नही उस पुरुषके सन्तोष नही

जग सकता। तृष्णा जगेगी तो सारे विश्वको चाहेगा और योग्य अयोग्यका कुछ भी विचार रखेगा। इच्छावोकी रानी है कामेच्छा। जो कामबाणसे जर्जरित है उनके मनमे विवेकरूपी अमृतकी बूँद रंच भी नही ठहर सकती। जैसे फूटे घडेमे पानी नही ठहरता इसी प्रकार कामवाणोसे जिसका चित्त छिदा हुआ है उस चित्तमे विवेकरूपी अमृत जल ठहर नही सकता।

कल्याणार्थीका प्रशस्त पथ—कल्याणार्थीका कर्तव्य यह है कि वह समस्त पदार्थोंका न्यारा-न्यारा स्वरूप समझे। घरमे जितने जीव है वे सब अपने अपने मालिक हैं। वे अपने आत्माके ही धनी है, स्वतत्र स्वतत्र उनका परिणमन है। भाग्य सबका सबके साथ है, उनका परिणाम उन उनके साथ है। यहाँ कुछ विवेकी पुरुषोका सग जुड जाय तो विवेकके कारण कुछ धार्मिक चर्चा कर ले, सो भी सब अपने-अपने भावकी बात करते है। कोई किसीका साथी नही है यह बात स्पष्ट निर्णयमे होनी चाहिए तब शान्ति प्राप्त हो सकती है। नही तो बाहरी चीजे जोड जोडकर कौन शान्ति पा सकता है ? वैभव कितना ही संचित हो जाय पर उसके संचयसे शान्ति नही प्राप्त होगी। इस वैभवको क्षणिक जानकर पुण्योदयसे जो वैभव प्राप्त होता है उसमे ही अपना बटवारा बना लें। इतना गुजारेके लिए है, इतना दान परोपकारके लिए है, इतना अन्य आवश्यक कार्योंके लिए है। और इसमे करना ही क्या है ? मनुष्य हुए है, थोडे दिनोका जीवन है, अन्तमे मरण होगा ही, इतने दिन स्वाध्याय ज्ञानार्जनमे चाव रहेगा। साधु संत गुरुवोकी आराधनामे चाव रहेगा तो हमारा भविष्य उज्ज्वल रहेगा और वहाँ ही अपने आपका दर्शन करके, प्रभुकी भक्ति करके वहाँ भी तृप्त रहेगे। यहाँके वैभव संग प्रसगसे बस आत्माको कुछ भी सन्तोष नही हो सकता, न आनन्द हो सकता। इस कारण ज्ञान और वैराग्यकी शरण लें। धन वैभवके सचयमे शरण न माने। ये समस्त वैभव बिनश्वर है, नष्ट होगे, इनसे मेरे आत्मा कुछ भी लाभ नही। परपदार्थोंसे राग द्वेष मोह हटे, अपने आपका शरण गहे तो समझिये कि अपने भगवानका दर्शन प्राप्त हो गया। यह सारा ससार तो मायाजाल है, यहाँकी सारी चीजे असार है।

हरिहरपितामहाद्या बलिनोपि तथा स्मरेण विध्वस्ता।
त्यक्तत्रपा यथैते स्वाङ्कान्नारी न मुञ्चन्ति ॥६३४॥

निर्विकार स्वरूपमें औपाधिक विकार—जीवका स्वरूप केवल ज्ञानप्रकाशमात्र है। अपने आपमे अपने आप ही खुद निरखे कि जिसमे यह मैं हू ऐसा बोध हो रहा है, उस सत् मे तत्त्व क्या है, उसका स्वरूप क्या है ? तो वहाँ रूप न मिलेगा, न रस, न गंध और न स्पर्श मिलेगा, वह केवल ज्ञानप्रकाशमात्र है। यह आत्मा अमूर्त है, ज्ञानस्वरूप है। जिस ज्ञानसे हम कुछ जाना करते है वही ज्ञान तो आत्मा है। इन ज्ञानपरिणमनोका आधारभूत

छूटता और अपने आपकी दृष्टि नही जगती। जब तक अपने आपकी दृष्टि अपनी ओर न लगे तब तक शान्तिका कोई अवसर नहीं मिल सकता है।

यदि प्राप्त त्वया मूढ नृत्वं जन्ममोग्रसंक्रमात्।
तदा तत्कुरु येनेय स्मरज्वाला विलीयते ॥६३५॥

नरजन्मके सुयोगमें कामज्वाला मेटनेका अवसर—हे प्राणी जरा विचार तो सही—जगतमे और और जीव भी तो हैं। जो तेरा स्वरूप है सो उन जीवोका स्वरूप है कुछ अन्य तो नही है। स्वरूप तो एक भाँति है। जैसे ये भैसा बैल घोडा आदि जीव नजर आते है, कितना बोझा लादे चले जा रहे है, हांफते जा रहे है फिर भी उन पर कोडे बरषते है। वे भी तो जीव अपने ही समान है। उन सब योनियोसे निकल कर आज मनुष्य हुए हैं तो हमने धर्मयोग्य अवसर पाया है, बात समझ सकते, मनकी बात बता सकते, दूसरोके मनकी बात सुन सकते, समझ सकते। कितनी ऊँची स्थिति पायी है। ससारके अन्य जीवोका मुकाबला करके देखो तो मालूम पडेगा कि हमने बहुत दुर्लभ जन्म पाया है। अब जो भव भवमे व्यसनोका काम करते आये, विषय कषायोको ही लेते आये, उन ही मे आसक्त रहे तो यह मनुष्य जन्म व्यर्थ समझिये, ऐसा काम करे जिससे विषयोसे अरुचि बने, कामकी ज्वाला नष्ट हो जाय।

विषयवेदनाके अनर्थ—एक कथानक है कि कोई अध पुरुष किसी नगरमे जाना चाहता था। उस नगरके चारो ओर कोट था और उस कोटका मुख्य द्वार एक ओर था। नगर छोटा था, पर बड़े लोग उसमे रहते थे। वह इस चाहसे जाना चाहता था कि इस नगरमे पहुचने पर मेरा जीवन अच्छा कट जायेगा। वह बेचारा अधा था और साथ ही शिर मे खाज भी थी। तो उसने सोचा कि इस कोटपर हाथ रखकर इसके सहारे चलते जायेगे और जहाँ दरवाजा मिलेगा वहाँसे प्रवेश करके चले जायेगे। वह चलता गया, बहुत देरके बाद जहाँ दरवाजा मिला वही अपने हाथोसे अपने शिरकी खाज खुजाने लगा और पैरोंसे चलना बन्द न किया। दरवाजा निकल गया, फिर चलता गया, फिर दरवाजा मिलनेके समय अपने हाथोसे अपने शिरकी खाज खुजाने लगा, फिर दरवाजा निकल गया। ऐसे ही समझिये—चौरासी लाख योनियोमे चक्कर लगाते-लगाते आज मनुष्य जन्म पाया है इसको अगर विषयकषायोकी खाज खुजानेमे ही अपना जीवन खो दिया तो फिर हितका मार्ग ढूढे न मिल पायेगा। राग, द्वेष, मोहकी, विषय कषायोकी तरग न उठे तो समीचीनता जगती है। उससे ही ऐसा अनुपम आनन्द जगता है कि जहाँ निराकुलता, शान्ति, विश्राम प्राप्त होता है। परकी ओर दृष्टि है तो विवाद होता है, कलह होता है, रागद्वेष बढते है, विकल्प बढते है। तो समझिये कि हम कुपथ पर बढ रहे है।

भेदविज्ञानसे समस्याओंकी सुलझन— भैया ! अपना समय दिन रातका २४ घंटेका का है, चौबीसो घंटा परपदार्थोंकी चिन्ता लादे रहनेसे तो सिद्धि नही होती । कुछ अपने दो चार मिनट तो निर्विकल्प, चिन्ता रहित, विश्रामसहित होकर तो बिताये, वहाँ ही पता पडेगा कि वास्तविक दुनिया क्या है ? जो आँखो दिखता है यह तो अधेरखाता है, इन्द्रजाल है, ज्ञानधर्मरूप तृतीय नेत्रसे अपने आपको जो निरखता है उसके ही सब कुछ समृद्धि है, यही वैभव है, यही आनन्द है और यही निर्वाणका स्वरूप है । ऐसा आनन्द जगेगा कि जिस आनन्दके प्रतापसे भव-भवके सचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं । कर्तव्य है भेदविज्ञान का । इस जीवने अब तक अनेक कार्य किये, पर भेदविज्ञानका कार्य नही किया । भेदविज्ञान का अर्थ है सबसे निराले अपने ज्ञानस्वरूपको पहिचान लेना । जब कभी आप जापमे, ध्यान मे यह अनुभव करेंगे कि यह मैं हू, ज्ञानमात्र हू, सबसे न्यारा हू, शरीरसे भी जुदा हू, ऐसा ज्ञानमात्र अपने आपको जब निरखेंगे तो सब समाधान अपने आप हो जायेगा । मैं किस लिए यहाँ आया हू, मुझे क्या करना है, सब समाधान अपने आप हो जायेगा । और, जो इस धुनमे रहता हो, उसके लिए न लौकिक दिक्कत रहती, न पारलौकिक दिक्कत रहती, सभी समस्यावोका हल हो ही जाता है, अपने आपको अपनी ओर अधिक ले जायें ।

क्लेशोंकी काल्पनिकता पर एक दृष्टान्त—यहाँ कोई किसीको दु खी करने वाला नही, कोई भी किसीका वैरी नही, विरोधी नही, किन्तु खुद ही अपनी कल्पनाएँ बनाकर दु खी हो जाते हैं । सभी चीजें जहाँ जैसी हैं तहाँ तैसी हैं, उससे मुझमे कुछ फर्क नही आता । मैं ही स्वय अपनी कल्पनाएँ गढता हू और अपने को दु खी कर डालता हू । जैसे कोई सेठ सो तो रहा है अच्छे कमरेमे जहाँपर सब प्रकारके आरामके साधन हैं, अनेक नौकर चाकर हैं, मित्रजन भी दिल बहलाने के लिए बैठे हैं उसे सोते हुएमे कोई ऐसा स्वप्न आये कि बडी तेज गर्मी लग रही है चलें समुद्रकी शैर करने । वह जब चलने लगा तो लडके, स्त्री, नौकर सभी समुद्रमे शैर करने जाने के लिए तैयार हो गए । सपरिवार सेठ समुद्रमे शैर करने चला । नावमे सभी बैठ गए । जब करीब एक मील पानीमे नाव तैर गयी तो एक बडी भयानक भवर समुद्रमे उठी । नाविक बोला कि अब नाव न बचेगी, डूब जायगी, मैं तो किसी तरहसे तैर कर निकल जाऊँगा । सेठ हाथ पैर जोडने लगा । बोला- १० हजार ले लो, २० हजार ले लो, ५० हजार ले लो, पर हमे किसी तरह पार कर दो । नाविक बोला कि जब हमारे ही प्राण न रहेंगे तो रुपये कौन लेगा ? सेठ बडा दु खी हो रहा है । ये सब स्वप्नकी बातें कह रहे है । सेठ बडा विह्वल हो रहा था । अब आप यह बताइये कि उसके दु खको क्या उसके नौकर चाकर मित्रजन अथवा सारे आरामके साधन मेट सकते है ? कोई भी उसके दु खको मेटने मे समर्थ नही है । उसके दु खको मेटने मे

समर्थ तो यही है कि वह जग जाय, नीद खुल जाय, लो सारे दु ख खतम हो गए। जहाँ देखा कि ओह ! वे तो सारी स्वप्नकी चीजें थी, न यहाँ समुद्र है, न कोई नाव डूब रही है, न कोई दु खकी चीज है, बस सारे उसके दु ख खतम हो गए।

ज्ञानसे क्लेशोंका प्रक्षय—ऐसी ही बात यहाँके मोही जीवोकी है, इनको मोहकी नीदके स्वप्ने आ रहे है, जिसके कारण ये सब दु खी हो रहे है। यह मेरा है, मैं इसका हू, यह आया, वह मिटा ऐसे सारे स्वप्ने जैसे ही तो दिख रहे है और इन स्वप्नोके फलमे क्लेश ही क्लेश है। सम्पदाका समागम हो, अथवा कोई भी समागम हो, सबमे कुछ न कुछ क्लेश तो रहता ही है। चाहे हर्षका क्षोभ रहे, चाहे खेदका क्षोभ रहे। मोहकी नीदमे जो कुछ समागम नजर आ रहे है ये सब क्षणभगुर है, अहितरूप है, पर ये मोही जीव इन्हे ही सच सच समझ रहा है। जैसे स्वप्न देखने वाला स्वप्नकी बातको झूठ नही समझता ऐसे ही मोहकी नीदमे यह मोही प्राणी इस मायाजालको झूठ नही समझ सकता। सच समझना है। अरे कोई गुजर गया तो मेरा ही तो गुजर गया, कैसे सुख मिलेगा, ऐसा वह बिल्कुल सत्य समझता है, इससे दु खी हैं। ऐसे दु खी पुरुष कैसे अपना दु ख दूर कर सकेगे ? इसका कोई उपाय है क्या ? कोई कुटुम्बी इस दु खको मिटा सकेगा क्या ? आत्माके भ्रमसे उत्पन्न हुए क्लेशको स्त्री पुत्रादिक कोई भी मिटा सकनेमे समर्थ नही है। वे मीठी-मीठी बातें भी करेगे, पर आपके दु खको नही मिटा सकते। खुदका ज्ञान ऐसा जागरूक बनाना पडेगा तब दु ख मिटेगा। तो इसे मोहकी नीदमे देखे गए स्वप्नसे जो क्लेश हो रहे है उन क्लेशोके मेटनेका उपाय केवल एक है। बहुत वैभव जुड जाय, परिजन मित्रजन बडी हंसीके शब्द भी बोले, रागके शब्द भी बोले, उससे दु ख नही मिटता, यह आत्माके भ्रमसे उत्पन्न हुआ दु ख है। यह दु ख तब मिटेगा जब जग जाय, ज्ञान हो जाय, भेदविज्ञान जग जाय। अन्य उपायोसे क्लेश नही मिटता।

अपने भलेका विचार—अब अपनी-अपनी सोच लीजिए कि हम शरीरके आराममे, विषयोके आराममे अपना कितना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व लगाते है और एक अपने ज्ञानप्रकाशके लिए, ज्ञानके अनुरागके लिए कितना तन, मन, धन, वचन लगाते है ? दो ही तो खुराक है—शरीरकी खुराक है भोजन भोग उपभोग और आत्माकी खुराक है ज्ञान। कोई पुरुष अज्ञान पीडित हो, तृष्णासे पीडित हो, कामसे पीडित हो, अन्य कषायोके वशीभूत हो जिससे अत्यन्त विह्वल हो रहा है। ऐसे विह्वल जीवोको कौनसे उपायोसे शीतल बना सकते है ? क्या उसे बर्फखानेमे डाल दिया जाय तो उसकी विह्वलता शान्त हो जायगी ? अरे उसके शीतल करनेका उपाय एक यही है कि वह अपने बारेमे ज्ञान करे, अपनी ओर दृष्टि दे, अपने आपमे लीन होनेका यत्न करे तो उसकी सारी विह्वलताएँ शीघ्र

ही समाप्त हो सकती है। अपनी प्रगतिके लिए, ध्यानके लिए, ज्ञानके लिए अपना सही विवेक बनाये। यो तो आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये सभी चीजें सभी ससारी जीवोमे लगी हुई है। मनुष्यमे ही क्या विशेषता है? मनुष्यमे विशेषता केवल धर्मकी है। धर्म न रहे, ज्ञानदृष्टि न रहे तो जैसे सभी जीव है वैसे ही यह मनुष्य है, कोई फर्क नही होता है। यह धर्मका काम स्वाधीन है, दिखावट, बनावट, सजावटसे परे है भीतर ही विचार करना है, सबसे न्यारा ज्ञानमात्र अपने आपको निरखना है, इसमें किसीकी आधीनता नही होती है, ऐसे गुप्तरूप उपायसे, गुप्तरूप कल्याणका कार्य कर जाये तो यही सच्ची कमाई है, शेष तो सब स्वप्नकी जैसी बाते हैं।

स्मरदहनसुतीव्रानन्तसताप विद्ध, भुवनमिति समस्त वीक्ष्य योगिप्रवीरा ।
विगतविषयसङ्गा प्रत्यहं संश्रयन्ते, प्रशमजलधितीर सयमारामरम्यम् ॥६३६॥

कामाग्निदाहसे बचनेका संतोंका यत्न—जैसे कोई पुरुष किसी बनके किनारे जलती आगको देखकर उससे बचकर सही रास्तेसे चलकर नदीके तटपर पहुच जाता है तो उसे अग्निका भय भी नही रहता है, अगर आयगी अग्नि यहाँ तक तो इस नदीके जलमे कूद जायेगे। यो उसके वहा नि शकता रहती है, ऐसे ही इस ससारमे इच्छाको अग्निको निरख कर, काम अग्निको निरखकर और उन इच्छावोके, कामव्यथावोके संतापोसे पीडित जीवोको निरखकर जो विवेकी पुरुष हैं वे सयमरूपी जलसे शोभायमान शान्त समुद्रके तटका सहारा लेते हैं।

ज्ञानी गृहस्थकी अन्तर्वृत्ति—जब एक गृहस्थावस्था है, घरमे रहते हैं तो यद्यपि सब निभाना पडेगा, पालन पोषण, दूसरोका ख्याल, व्यवस्था आजीविका कार्य, पर सब कुछ निरखकर भी ज्ञानी गृहस्थ अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप सबसे निराला निरखता रहता है। हू तो मैं इतना ही, पर करना यह सब पड़ता है। ऐसा ज्ञानी निरखता है, जब कि मोही पुरुष इस जगतके कार्योमे रुचि लगाकर आसक्त रहते हैं। बस इतना मात्र अन्तर है, ज्ञानी और अज्ञानी मनुष्यमे। वही काम ज्ञानी कर रहा है, वही काम अज्ञानी कर रहा है, लेकिन ज्ञानी तो उससे निर्लेप है और अज्ञानी उसमे आसक्त है। ज्ञानी तो जलमे भिन्न कमलकी नाई है। जैसे कमल जलमे ही पैदा हुआ, जलसे ही उसका जीवन है, बिना जलके जी नही सकता, इतने पर भी कमल जलसे अलिप्त बहुत ऊचे रहता है। और वही कमल किसी कारणसे पानीमे आ जाय तो वह सड जाता है। ऐसे ही यह ज्ञानी गृहस्थ है। यद्यपि वह घरमे ही पैदा हुआ, घरसे ही उसका पालन पोषण है, घरके कार्योको करता है फिर भी घरसे वह अलिप्त रहता है। उसका उपयोग परमात्मतत्त्वमे बसा रहता है। अगर घर के कामोमे वह बस जाय तो वह सड जायेगा अर्थात् अज्ञानी हो जायेगा। ससारमे रुलना

पडेगा।

समीचीन दृष्टि—ज्ञानी गृहस्थ संयम भी नही धार सक रहा, किन्तु उसके सम्यग्दर्शन है तो उसकी इन्द्र तक भी पूजा करते है, इन्द्र तक भी उसका आदर देते है। तो सबसे बडी विभूति है सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेकी। वह सम्यक्त्व भेदविज्ञानसे प्रकट होता है। भेदविज्ञान वस्तुके स्वरूपके यथार्थ जाननेसे प्रकट होता है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमे है। किसीका कोई नही है। प्रत्येक पदार्थ पुद्गल अणु अणु अपना अपना अस्तित्व रखते है। मेरेसे जो कुछ सुधार बिगाड है वह मेरे परिणमनसे हैं। किसी परपदार्थके परिणमनसे नही है। यो प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र स्वतत्र निहारनेकी जिसे दृष्टि बन जायगी बस वही क्षण सम्यग्दर्शनका है, इसीको ही सम्यक्त्वका अनुभव कहते है।

हितकारिणी दृष्टि—प्रत्येक पदार्थ स्वतत्र-स्वतत्र अपने स्वरूपकी सत्तासे रह रहे है। इस तरह दृष्टि बननेका नाम है सम्यग्दर्शन। इसके प्रतापसे वैराग्य प्रकट होता है, उपेक्षा प्रकट होती है, परमे अनासक्ति होती है, अपनी ओर रुचि होती है, और जिस समय यह जीव केवल हो जायगा, शरीरसे भी रहित, कर्मोसे भी रहित केवल ज्ञानानन्द प्रकाशमात्र रह जायगा उसीका नाम सिद्ध भगवान है। वे अनन्तकाल तकके लिए ऐसे ही आनन्दमग्न रहेगे। उन्हे आदर्श मानकर हम अपनेमे यह भाव भरे कि मुझे यह बनना है। यहाँके धनिक, नेतागिरी आदिकके पद कुछ भी मूल्य नही रखते हैं। मैं तो इस शरीरसे भी न्यारा, रागादिक भावोसे भी न्यारा केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपका अनुभव करूँ और जैसा मैं सहज हूँ वैसा ही मैं हो जाऊँ, बस यही स्थिति मुझे चाहिए अन्य कुछ न चाहिए। ऐसी रुचि जगे उस ही के मायने है ज्ञानका अभ्युदय। उस ज्ञानकी भावना होनी चाहिए और उसके लिए अपनेको अभीसे ऐसा मनन करने लगे कि मैं सचमुच देहसे भी जुदा हूँ और केवल ज्ञानस्वरूप हू। मेरे गुण मेरा वैभव है, मेरा परिणमन मेरी समृद्धि है, अन्य सब कुछ पर है, भिन्न है, मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ऐसा अनुभव करनेका यत्न करना चाहिए।

परमकल्याणका मूल ब्रह्मचर्य धर्म—ब्रह्मचर्य ही एकमात्र शरण तत्त्व है। ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञानपरिणति द्वारा ज्ञानस्वरूपमे ज्ञानरूपसे अवस्थित हो जाय, इसमे आत्माका सर्वकल्याण है यही परमब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्यके धारणसे शान्तिके सत्य मार्गमे गमन होता है। ब्रह्मचर्य ही योगिपूजित परम ब्रह्मधर्म है। ब्रह्मचर्य ही श्रेयोमार्गमे अनिवार्य और आन्तरिक तपश्चरण है।

॥ ज्ञानार्णव प्रवचन नवम भाग समाप्त ॥

ज्ञानार्णव प्रवचन दशम भाग

लोकद्वयविशुद्धचर्थं भावशुद्धचर्थमञ्जसा ।
विद्याविनयवृद्धचर्थं वृद्धसेवैव शस्यते ॥७६६॥

वृद्धसेवाके कर्तव्यका सदेश—जिन पुरुषोको इस लोक और परलोककी विशुद्धि चाहिए अर्थात् जो इस लोकमे भी धार्मिक वातावरण सहित शुद्धि और निर्दोषता सहित जीवन वितानेके इच्छुक है और परलोकमे भी धार्मिक वातावरण चाहते हैं, इस प्रकार जो शान्तिपथमे चलने के इच्छुक हैं उन पुरुषोको वृद्धसेवा करना चाहिये। वृद्धसेवाको प्रशंसा के योग्य कहा गया है। वृद्धका अर्थ है गुरुजन। जो ज्ञान और आचरणमे बढे हैं ऐसे गुरुजनोकी सगति व सेवा करना हितकारी है। जिन मनुष्योको अपने आत्माकी उत्तरोत्तर निर्मलता चाहिए, विषय कषायोसे हटकर एक निज ज्ञायकस्वरूपके चिन्तवनमे समय बीते ऐसी आन्तरिक परिणति चाहिए उन मनुष्योका कर्तव्य है कि वे गुरुजनोकी सेवा विशेषतया करे। इस ही प्रकार विद्या और विनय ये दोनो गुण भी लोकमे सुखको उत्पन्न करने वाले हैं। विद्यासे इस मनुष्यकी इस लोकमे भी उन्नति है और यह विद्या आत्मविद्याका रूप रखकर परमनिर्वाणका कारण बनती है, इसी प्रकार विनयभाव, विनयका अर्थ है विशेषरूपसे नय मायने ले जाना। मनुष्यको जो उन्नति मार्गमे विशेष रूपसे ले जाय उस भावका नाम है विनय। जितनी नम्रता होगी, जितना आत्माकी ओर झुकाव होगा उतनी ही पवित्रता बढती है। तो विद्या और विनयकी वृद्धि अति आवश्यक है, उसके लिए गुरुजनोकी सेवा प्रशंसनीय कही गयी है। बडोके निकट रहने से जिनको सासारिक विषयभोगोसे वैराग्य हुआ है और जो एक आत्माके हितकी ही कामना रखते है ऐसे बडोके निकट रहने से, उनका अनुगामी बननेसे यह लोक और परलोक सुधरता है, अपने परिणाम भी शुद्ध रहते है, विद्या विनय आदिक गुण बढते हैं, मान कषाय समाप्त होता है।

वृद्धसेवामें अहङ्कारविलयका पुण्य अवसर—गुरुजनके निकट अभिमान नही रह सकता क्योकि जिसे चाहिए अपना सन्मान, अभिमान, वह पद पदमे अपना अपमान महसूस करेगा, क्योकि प्रकृत्या यह बात है कि जितनी पूछ गुरुजनकी होगी उतनी साधारण पुरुषकी तो न होगी, यह तो एक लोकपद्धति है। जिससे किन्हीको कुछ लाभ मिलता हो, आत्महित का पथ मिलता हो वे लोग तो उसका आदर करेगे ही। अब साधारण पुरुष जिसे अभिमान है वह ऐसे गुरुजनोका सन्मान देखकर और अपना सन्मान नही हो रहा, यह देखकर दुःखी

रहेगा, वह साथ कैसे निभ सकता है। तो अभिमानको पहिले गलाना पडेगा तब गुरुजनके निकट रह सकते है। दूसरी बात---रहा सहा जो कुछ मानकषाय है वह भी गुरुजनके निकट रहनेसे दूर हो सकता है। और, जब अहंकार दूर हो गया तब ही वास्तविक विद्या अपनेमे प्रकट होगी। अहंकार तो एक बडा दुर्गुण है। अपनी पर्यायमे अपने आपके किसी भी भाव मे यह मैं हू, बडा हू, इस प्रकारके भावमे, इस प्रकारके अधकारमे तो प्रभुस्वरूप ढक जाता है। उसे प्रभुके दर्शन नही होते। तो जिन्हे भगवत् प्रभुके दर्शन करनेकी इच्छा हो उन्हे अहकार तो पहिले मिटाना चाहिए। जहाँ अहंकार रहे वहाँ भगवानके स्वरूपका बोध नही हो सकता।

अहङ्कारविनाश बिना परमात्मतत्त्वोपलब्धिकी असंभवता—एक गाँवमे एक नकटा रहता था। उसकी नाक कटी हुई थी। सो उसे सभी लोग चिढाया करते थे। वह जब तग आ गया तो सोचा कि किसी उपायसे अगर गाँवके सभी लोगोको नकटा बना दे तो फिर लोग मुझे चिढायेगे नही। सो जब कोई चिढाने लगा तो वह नकटा कहता है कि तुम क्या जानो इस नकटेपनका स्वाद? जब तक हमारे भी नाककी नोक थी तब तक हमें प्रभुके दर्शन नही हुए अब नाक कटा देनेसे प्रभुके साक्षात् दर्शन होते है। तो वह सोचता है कि अगर नाक कटा लेनेसे प्रभुके दर्शन हो जायें तो इसमे क्या नुक्सान? प्रभुदर्शनसे बढकर तो और कुछ नही है। सो उसने अपनी नाक कटा ली। जब नाक कट जानेपर भी प्रभुके दर्शन न हुए तो वह नकटेसे कहने लगा कि हमे तो प्रभुके साक्षात् दर्शन नही हो रहे? तो वह पहिले वाला नकटा कहता है कि तू बावला मत बन। नाक कटानेसे कही भगवानके दर्शन नही होते। अब तो नाक कट ही गई। तू अब सबसे यही कह कि नाक कट जानेसे प्रभुके साक्षात् दर्शन होते है। और, जो नाक कटावे उसकी नाक काटकर यही मत्र दिया कर। तो वह भी सबसे यही कहने लगा। इस प्रकार गाँवके सभी लोग नकटे हो गए। केवल गाँवका मुखिया बच रहा। तो एक दिन गाँवमे सभा हुई। सभी लोग जुडे। तो मुखिया कहता है कि तुम सभी लोग तो बडे अच्छे लग रहे, यह मेरे क्या टुनक सी लगी है जिससे हम अच्छे नही लगते? सो गाँवके सभी नकटे बोले कि मुखिया जी पहिले हमारी भी नाक ऊँची उठी हुई थी। सो जब तक नाककी टुनक थी तब तक प्रभुके साक्षात् दर्शन न होते थे। प्रभुके साक्षात् दर्शन करनेके लिए हम सभीने अपनी नाक कटा डाली। तो मुखिया भी नाक कटानेको तैयार हो गया। परन्तु, जो प्रथम नकटा था, जिसका सब षड्यन्त्र रचा हुआ था उसे उस पर दया आयी, उसने कहा, मुखिया जी हम तुमसे दो मिनट अकेलेमे बात करेगे। तो मुखियाको अकेलेमे उसने समझाया कि मैं नकटा था, सभी लोग मुझे चिढाते थे, सो मैंने एक ऐसा उपाय रचा था कि किसी तरहसे सभी लोग नकटे हो जाये तो फिर मुझे कोई

चिढायेगा नही। कही नाकके कटा लेनेसे भगवानके साक्षात् दर्शन नही हो जाते। एक आदमी तो सही रहना चाहिए कि कैसा होता है मनुष्य। प्रयोजन यह है कि नाकका अर्थ, अहकार कर दें। लोग कहते भी है कि उसने अपनी नाक ऊँची रखनेके लिये यो किया। नाकका अर्थ अभिमान कर दो तो सारी कथा ठीक वैठ जायेगी। जव तक अभिमान रहेगा तब तक प्रभुके दर्शन नही हो सकते।

वृद्धसेवाके लाभ—तो गुरुजनोकी सेवा करनेसे जो जो गुण प्रकट होते है वहाँ यह भी एक गुण प्रकट होता है कि उसके नम्रता बढती है, अभिमान दूर होता है और फिर उसके ज्ञानप्रकाश होता है। अहकारके अधकारसे ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश ढक गया है। गुरुसेवा की कितनी प्रशसा की जाय, सच पूछो तो इस आत्माका शरण ही गुरुसेवा है। जिसका कोई गुरु नही है, जिससे अपने हित की कोई चर्चा नही की जा सकती है ऐसा पुरुष एक किंकर्तव्यविमूढ रहता है, अपना जीवन यो ही निर्यापन किया करता है। वृद्ध-सेवासे समस्त व्रत विशुद्ध बनते है और खासकर ब्रह्मचर्य महाव्रतकी तो बहुत पुष्टि होती है। बडोकी सगति न करके छोटे रागीद्वेषी मलिन पुरुषोकी सगतिसे सभी प्रकारके विकार उत्पन्न होते रहते है। जिन्हे लोकमे अपनी सिद्धि चाहिए, परिणामोमे निर्मलता चाहिए, विद्या और विनयकी बढवारी चाहिए उन्हे गुरुसेवा करना अनिवार्य है।

कषायदहन शान्ति याति रागादिभि समम्।
चेत प्रसत्तिमाधत्ते वृद्धसेवावलम्बिनाम् ॥७६७॥

वृद्धसेवासे कषायदहनका शमन—गुरुसेवा करने वाले मनुष्यके कषायें शान्त हो जाती है, रागद्वेष मोहादिक विकार दूर हो जाते हैं। चित्त प्रसन्न और निर्मल हो जाता है। गुरुसेवा करनेसे क्रोध भी शान्त हो जाता है। अगर कोई गुरुके सामने क्रोध करे तो वह लोगोकी निगाहसे गिर जाता है। यो ही अगर कोई गुरुके सामने मानसे बैठा हो तो उसका मान भी खतम हो जाता है। गुरुजनोकी सेवामे रहकर मायाका कोई काम ही नही है। वहाँ कोई लालच तो होता नही। मायाचारका सम्बन्ध लालचसे होता है। किसी वस्तु की तृष्णा जग गयी हो, लोभ लालच हो तो उसकी प्राप्तिके लिए अनेक मायाचार किये जाते है। सो वहाँ लालचका तो कोई प्रश्न है नही। गुरुकी सेवामे रह रहे हैं तो मायाचार भी प्रकट नही होता। और, फिर गुरुजनोके गुणोके स्मरणके प्रतापसे परिणाम ऐसे निर्मल होते है कि ये कषाये स्वय शान्त हो जाती है। जव कषाये शान्त हुईं तो चित्त प्रसन्न हो जाता है। जैसे वर्षाकालमे अनेक जगह पानी भरा हुआ होता है, वह गदा होता है, निर्मलता उन तलैयोमे वैसी नही रहती है जैसी कि शरद ऋतुमे होती है। शरदऋतुमे जो भी कीच होता है वह सब नीचे वैठ जाता है तो जल पूर्ण निर्मल हो जाता है। इसी तरह

हमारे जो उपयोग चल रहे है इनके साथ कषायकर्दम लगा हुआ है, नाना प्रकारके रागद्वेष भाव चल रहे है, तब वहा यह चित्त, यह ज्ञान कैसे प्रसन्न रह सके, कैसे निर्मल रह सकता है ? जब बडे जनोकी सेवारूपी शरदऋतु आये तो यह कषाय कीच अपने आप शान्त हो जाता है और चित्त निर्मल हो जाता है। ज्ञान सम्यक् रहता है। यही तो सुख है। कल्पना करो कि वैभव खूब इकट्ठा हो जाय पर चित्तमे कालिमा बनी रहे तो उसे क्या सुख है ? लखपती करोडपती भी हो और किन्ही बातोसे किसीके बैरसे परिजनोंमे न बननेसे किसी को प्रतिकूल समझने से अनेक बाते होती है, यदि चित्तमे निर्मलता नही है, प्रसन्नता नही है, चिन्ता और शकाका भार लदा है तो वहाँ उसे क्या सुख है ? और, कोई बडा गरीब है, पर विवेकसे रहता है, न्यायसे अपनी आजीविका चलाता है, दूसरोसे अच्छा व्यवहार रखता है तो ऐसे पुरुषका चित्त निर्मल रहता है और वह सुखी रहता है, प्रसन्न रहता है। तो गुरुवोकी सेवा करने से यह प्रसाद प्रकट होता है, इस लिए वृद्धसेवासे समझिये कितनी शान्ति होती है, कितना चित्त प्रसन्न और निर्मल हो जाता है ?

निश्चलीकुरु वैराग्यं चित्तदैत्यं नियन्त्रय।
आसादय वरां बुद्धिं दुर्बुद्धे वृद्धसाक्षिकम् ॥७६८॥

गुणवृद्ध सत्पुरुषोंकी साक्षितामे वैराग्य और चित्तनियन्त्रणके कर्तव्यका संदेश—हे दुर्बुद्धि आत्मन् ! अर्थात् जिसका चित्त किसी विषयकषायोकी ओर लग रहा है ऐसे हे पुरुष, देख अपने आत्माकी भलाईके लिए अपने आत्मा पर करुणा कर। गुरुजनोकी साक्षी पूर्वक अर्थात् गुरुजनोके निकट रहकर तू अपने वैराग्यको निश्चल बना। राग एक बहुत मलिन परिणाम है। परपदार्थ अपने से अत्यन्त भिन्न है और उनसे कोई नाता भी नही है। सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपमे अपना अस्तित्व रखते है, फिर भी किसी परकी ओर राग पहुंचना यह कितना अधकार है ? इस रागमे ज्ञानकी प्रसन्नता नही रह पाती। जब किसी चीजमे राग न उठ रहा हो, शान्त मुद्रामे बैठे हो तबकी मुद्रामे देखो कितनी प्रसन्नता रहती है ? जहाँ दिखावट है, बनावट है, सजावट है वहाँ प्रसन्नता नही रह पाती। जब रागभाव जब रागभाव आये तो चित्तकी निर्मलता दूर हो जाती है। यदि प्रसन्नता चाहिए तो राग हटानेका प्रयत्न करे, यह बात मिलेगी गुरुजनोकी सेवासे, संगतिसे।

हे आत्मन् ! तू लेश मात्र भी सासारिक विषयभोगोसे राग मत कर। यह गुण प्राप्त होगा वृद्धसेवासे। लौकिक हिसाबसे भी देखो। जिस घरमे अपने माता पिता वृद्ध पुरुषोकी सेवा हो रही है उन बच्चोकी बुद्धि विकसित होती है और हर कामोमे उनकी बुद्धि काम देती जाती है। और, जो माता पिताको दुःखी रखते है उन पुरुषोकी बुद्धि भ्र अव्यवस्थित रहती है, काम नही कर पाती है, फिर जो मोक्षमार्गके गुरुजन है, सम्यग्दृष्टि

मनुष्य है, ज्ञानी जन है उनकी सेवा करनेसे, उनकी संगतिमे रहनेसे बुद्धिकी स्वच्छता अधिकाधिक बढती है, ससार देह भोगोसे वैराग्यकी प्राप्ति होती है। इस कारण वृद्ध पुरुषोके निकट रहकर अपने वीतराग भावकी वृद्धि करे, वृद्धसेवासे चित्तरूपी यह राक्षस जो कि अपनी स्वच्छन्दतासे जिस चाहे काममे पुरुषको लगा देते है उसका नियत्रण करें। इस चित्त का नियत्रण गुरुजनोकी सेवासे होता है। गुरुसेवा करके अपनी बुद्धिको अगीकार करें, निर्मल बनावें। ये सभी गुण गुरुजनोकी सेवा करनेसे प्राप्त होते है।

आत्मध्यान द्वारा आत्महित करनेमें वास्तविक आत्म-करुणा--देखिये आत्माका हित है आत्माके ध्यानमे। जीव सभी किसी न किसीका ध्यान करते ही रहते है। बालक, जवान, बूढे सभीको देखो वे किसी न किसीका ध्यान बनाये ही रहते है, पर यह निर्णय करें कि किसके ध्यानमे आत्म-सन्तोष मिलता है और किसके ध्यानसे आत्मामे विह्वलता बनती है? जो स्वय रागी द्वेषी मोही प्राणी है उनकी प्रीतिमे हित नही है, विह्वलता बढती है। और जो राग द्वेष मोहसे अलग है ऐसे गुरुजनोकी सेवामे रहने से एक शान्ति और सन्तोष प्राप्त होता है। और, सबसे उत्कृष्ट शान्ति तो रागद्वेषरहित केवल ज्ञानानन्द स्वरूप निज अन्तस्तत्त्वकी उपासनासे प्रकट होती है, अर्थात् आत्मध्यान ही इस जीवका वास्तविक शरण है। वह आत्मध्यान कैसे प्रकट हो उसके सम्बधमे इस ग्रन्थमे वस्तुका वर्णन किया गया है। आत्मध्यानका पात्र वही पुरुष होता है जिसे सम्यक्त्व जगा हो, यथार्थ ज्ञान प्रकट हुआ हो, अपना आचरण आत्माका अनुराग बना रहा हो उसे आत्मध्यानकी सिद्धि होती है। तो परमशरणभूत आत्माकी सिद्धिके लिए हमारा कर्तव्य है कि हम सम्यक्त्वका और ज्ञानका उपाय बनाये और ऐसे ही ज्ञानमे रत रहनेका उद्यम किया करें।

स्वतत्त्वनिकषोद्भूत विवेकालोकवर्द्धितम्।
येषा बोधमय चक्षुस्ते वृद्धा विदुषा मता ।।७६९।।

वृद्ध जनोका परिचय--वृद्ध पुरुषका लक्षण कह रहे हैं। वृद्ध अर्थ बूढा नही है। वृद्धका अर्थ है जो ज्ञानमे बढे है, जिनमे गम्भीरता बढी है, जो ज्ञान, आचारणमे बढे है, वैराग्यमे बढे हैं। ऐसे वृद्ध पुरुषोके निकट रहने से सर्व गुण प्रकट हो जाते है। वास्तवमे वृद्ध पुरुष वे हैं जिनमे आत्मतत्त्वरूपी कसौटीसे उत्पन्न हुए भेद विज्ञानसे ज्ञान बढा है, अर्थात् जिनका ज्ञानचक्षु प्रकट हुआ है। आत्माका ज्ञान स्वरूप है। यह ज्ञान प्रकृष्ट रूपसे बढे, ऐसी स्थिति प्राप्त होती है ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वके ध्यानसे। और ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वका ध्यान यह बनेगा भेदविज्ञानके उपायसे। जब हम अपने आपमे यह पिछान लेंगे कि रागद्वेष मोह परिणाम, ये तर्क वितर्क ये तो मैं नही हूँ, और मैं केवल शुद्ध ज्ञानज्योति हूँ, ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, ऐसा भेद करेंगे तब तो रागादिक भावोके छोडकर

अपने ज्ञानस्वरूपको अंगीकार करेंगे तो भेदविज्ञानके उपायसे ही ये समस्त कल्याण सिद्ध होते है। भेदविज्ञान बिना कुछ भी सिद्धि नही है। जितने भी महान आत्मा सिद्ध भगवत बने है, संसार सकटोसे छूटकर शुद्ध ज्ञानान्दका अनुभव करते है उन सबकी यह जो परमपदकी परिस्थिति है वह भेदविज्ञानके प्रतापसे है। वे भी संसार मे रागी द्वेषी मोही बनकर जन्म मरण किया करते थे। जब उनके भेदविज्ञान प्रकट हुआ और उसके प्रतापसे फिर परतत्त्वोको लगाकर स्वतत्त्वको ग्रहण किया। मै केवल ज्ञान मात्र हूँ, देहसे भी न्यारा केवल ज्ञान स्वरूप हूँ ऐसे ज्ञानस्वरूपकी जिन्होने निरन्तर भावना भाई है ऐसे पुरुष ही तो सिद्ध भगवंत महत हुए है। और, जितने भी जीव आज तक इस संसारमे बँधे पड़े है, जन्म मरण कर रहे है वे सब एक भेदविज्ञानके अभावसे ही ऐसा बन्धन पा रहे है। तो जिन्हे भेदविज्ञान प्रकट हुआ है ऐसे इस उपायसे जिन्हे अपना ज्ञान स्वभाव प्रतीतिमे आ रहा है मै ज्ञान स्वभाव मात्र हू ऐसा जिनका अनुभव चल रहा है वे पुरुष वृद्ध कहलाते है, केवल अवस्थामे वृद्ध होने को ही वृद्ध नही कहते है।

वृद्धसेवासे आत्मगुणोंका लाभ——आत्महितकर गुणोको संक्षेपसे कहा जाय तो वे है तीन——सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जिन गुणोके प्रतापसे हम उन्हे गुरु कहते है। गुरुका स्वरूप ज्ञान और वैराग्यकी मूर्तिरूप कहा गया है। जो विषयोकी आशाके वश न हो, आरम्भरहित हो, परिग्रहसे दूर हो, जिनका ज्ञान ध्यान और तपश्चरण ही कार्य हो रहा हो ऐसे पुरुष गुरुजन कहलाते है और ऐसे गुरुजनोकी सेवासे यह लोक भी विशुद्ध होता, परलोक भी शुद्ध होता अपने परिणामोकी निर्मलता भी बढती, विद्या विनय सभी गुण वृद्धि को प्राप्त होते है, जिनका फल परमशान्ति है। तृष्णासे व्याकुल हुआ पुरुष किसकी शरण मे जाय कि तृष्णाकी व्याकुलता दूर हो ? सीधा उत्तर है——जो तृष्णारहित हो, जो केवल ज्ञानमूर्ति हो, आनन्दको जो निरन्तर भोग सकता हो, ऐसे पुरुषके समीप बैठे तो वे सब व्याधियाँ दूर हो जाती है। तो जिन्हे प्रसन्नता चाहिए, आत्मकल्याण चाहिए उनका कर्तव्य है कि वे वृद्ध पुरुषोकी सेवामे रहे अर्थात् रत्नत्रयसम्पन्न गुरुजनोकी संगतिमे अपना समय बिताये।

तप श्रुतिधृतिध्यानविवेकयमसयमै ।
ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यन्ते न पुन पलिताकुरै ॥७७०॥

आत्मगुणोंकी वृद्धतामें पारमार्थिकी वृद्धता——चिरकालसे अनेक व्यसनो और पापो मे बसने वाले इन पुरुषोको आत्मोन्नति करनेका प्रथम व सुलभ सहज उपाय है सत्सग। किसी भी कुपथमे लगे हुए मनुष्यको सर्वप्रथम आलम्बन सत्सग मिलता है। जिस किसी भी मनुष्यका उद्धार होता है तो उसके उद्धारका सिलसिला सत्सगसे शुरू होता है। उस

सत्संगकी बात कह रहे हैं जो अपने इस लोकका सुख चाहते हो और परलोकका सुख चाहते हो, उनका कर्तव्य है कि वे गुरुका सत्सग करे। तो वे गुरु कैसे होते हैं उनका नाम है वृद्ध। वृद्धका अर्थ है बडा। जो बढा हुआ हो उसे वृद्ध कहते है। लोकमे तो बूढेका नाम वृद्ध है, पर वृद्धका अर्थ तो बढा हुआ होता है। जो अवस्थामे बढा है उसको भी वृद्ध कहते हैं। वृद्धोका सत्सग होना अनेक अवगुणोको दूर करता है। पर यहाँ वृद्धका मतलब सफेद बाल वालोसे नही है अर्थात् बूढोसे नही है किन्तु जो तपस्यामे बढे हो, ज्ञानमे बढे हो, जिनका धैर्य विशाल हो, ध्यान, विवेक यम, सयम ये सभी जिनके बढे हुए हो उन्हे वृद्ध कहते है। और वृद्ध मनुष्योका सत्सग होना बहुतसे गुणो को प्रकट करता है।

जो तपसे पतित हैं तपश्चरण जिन्हे सुहाता ही नही है, अन्य अन्य खोटे व्यसनोमे जो लगते हैं ऐसे व्यसनी पुरुषोका सग विपत्तियोका कारण है। और, जो व्यसनी नही हैं तथा व्रत, तपमे लगे हुए हैं ऐसे पुरुषोका सग हो तो शान्ति इस कारण मिलती है कि ऐसे सत्सगमे रहने वाले पुरुषके तृष्णायें कम हो जाती हैं। उनका दर्शन करके चित्तमे यह ख्याल होता है कि ये जगतके वैभव जो विनश्वर है और अनेक भवोमे प्राप्त किये हैं, जिनसे आत्मा का हित होना तो दूर रहो, पर तृष्णा मूर्छा ममता बढ बढकर इस परिग्रहके ही कारण ससारमे रुलना पडता है। ऐसा विवेक जगता है तपस्वी पुरुषोके सगमे रहकर तो जो शुद्ध तपश्चरणमे बढे हो उन्हे वृद्ध कहते हैं, ऐसे वृद्धोकी सेवा करना प्रशसनीय है।

मनुष्यके आचरणसे संगतिका परिचय—मनुष्यके आचरणसे सोहबतकी पहिचान हो जाती है और सोहबतसे मनुष्यके आचरणकी पहिचान हो जाती है। सत्सग जीवके उद्धार का एक बहुत बडा आलम्बन है। विषयकषायोके भोगनेमे ही तो जीवको कुछ लाभ नही है ना। ऐसे सगसे क्या लाभ जिसमे क्रोध, मान आदिक कषायोका पोषण हो। ऐसा जीवन तो बेकार है। समझिये वृक्ष तो फल प्राप्त करके झुक जाता है, नम्र हो जाता है और मनुष्य पुण्यफल पाकर, सम्पदा पाकर और ऊँची नजर करता है तो क्या कहा जाय उस मनुष्यको ? वह तो वृक्षसे भी पतित है। भला जो अभिमानके वश है, मायाचारके वश है, तृष्णाके वश है ऐसे पुरुषका जीवन क्या जीवन है ? जीवन तो वही सही है जो भविष्यमे भी सुख शान्तिका कारण बने।

सुखके प्रकार—सुख दो प्रकारके होते है—एक वैषयिक सुख और एक आत्मीय सुख। जो वैषयिक सुखोको ही सुख मानते है—विषयसेवन किया, स्वादिष्ट भोजन किया, बाह्य पदार्थोंका सचय कर लिया, किसी सुन्दर रूपको निहारते रहे, राग रागनीसे प्रेम बढाने वाले, कामव्यथा बढाने वाले शब्दोको सुनते रहे ऐसे विषयोमे जो सुख मानता रहे वह तो उसका भ्रमका सुख है। ये सुखाभास हैं, फिर भी सदा रहते नही और ऐसे सुख भोगने

से आत्मीय बल हीन होता है तो अन्तमे पछतावा ही हाथ रहता है। वैषयिक सुखोमे मग्न रहनेका फल भला नही है। और, वैषयिक सुखोसे हटकर जो आत्मीय सुखमे लगता है वह तो ज्ञानप्रकाशमे है, जो वैषयिक सुखोमे ही भूल रहा है वह भ्रममे है। जो लोग इन वैषयिक सुखोमे लगते है उनका ही तो यह संसार है। ऐसी श्रद्धा होना चाहिए कि मेरे आत्माका जो सहज सुख है वही मेरा वास्तविक सुख है, उस ही सुखका भोगना हमारा कर्तव्य है। ऐसी समझ यदि बने तो समझिये कि हम सही ज्ञानके मार्गपर है।

विषयसुखोंकी क्लेशरूपता— भैया! विषय सुख भोगने के बाद फिर तुरन्त तो अरुचि हो ही जाती है, और बादमे वह पछतावा भी करता है। भोजनकी स्वाद लेनेमे अभी तक अपना जीवन बिताया, पर तत्त्वकी बात उसमे क्या मिली सो बतावो? इसी प्रकार सभी विषय सुखोकी बात है। और उन विषय सुखोका भी क्या करे? आज पञ्चेन्द्रिय है तो उन पाँचो इन्द्रियोके विषय भोग रहे है, मरण करके यदि चार इन्द्रिय जीव बन गए तो आँख तकका ही विषय रह गया। तीन इन्द्रिय बन गए तो घ्राणइन्द्रिय तकका ही विषय रह गया। और, इन विषय सुखोका कुछ विश्वास भी है क्या? तो इन वैषयिक सुखोमे सार नही है। इन सुखोके बीच परस्परमे दौड मचाना, विवाद करना, दुखी होना, एक दूसरेको सताना यह कहाँ तक न्यायकी बात है? उदारताका आदर करे। किसी का यदि कुछ अधिक प्राप्त होता हो या हमारा कुछ जाता हो तो जितना हम सहन कर सकते हैं सहन कर ले और दूसरेको यदि हमारे थोडे से त्यागसे सुख मिलता है तो उसमे भी हम अपना आनन्द माने।

विनश्वर विषयसुखोंसे पराङ्मुख होनेमें लाभ—ये जगतके विषयसुख न साथ आये न साथ जायेंगे। बडे-बडे महाराजा चक्री हुए है वे भी इसे छोडकर गए। और आँखो सब देखते ही है, सभी लोग इस वैभवको छोडकर चले जाते है। हम आप सबका भी ऐसा ही हाल है। ये सब कुछ तो प्रकट न्यारे है, वैसे ही सब छूटे हुए है, और वियोग तो होगा ही। यह नियम है कि जिस पदार्थका संयोग हुआ है उसका वियोग नियमसे होगा। अब हम चाहे ज्ञान विवेक बनाकर उसे अपने आप छोड दे, अन्यथा छूटना तो सब है ही। चाहे त्याग दे या पाप उदयमे आनेसे यह सम्पदा हमारे जीवनमे ही छूट जाय, अथवा मरण हो जानेपर यो ही छूट गया, इन तीन प्रकारोमे से किसी भी प्रकार छूटे, पर सम्पदा छूटेगी सबकी। मर-कर छूटे तो उस छूटनेसे लाभ क्या और हमारे जीते जी किसीके लूटनेसे या किसी प्रकार छूट जाय तो उस छूटनेसे लाभ क्या? देखिये जब तृष्णा अधिक बढती है तो कुबुद्धि भी बढ़ती है, और कुबुद्धिके कारण ऐसा वातावरण बन जाता है कि हाथ आयी हुई चीज भी नष्ट हो जाती है। तो यो छूटनेसे कुछ लाभ नही। कुछ विवेक बनायें और अपने जीवनमे

अपने ही हाथोसे, अपनी ही भावनासे परपदार्थोंका त्याग करते रहे तो पुण्यवृद्धि होती है, धर्म प्राप्त होता है और इस जीवको भविष्यमे भी सुख समागम प्राप्त होता है।

सांसारिक सुखोंमें स्वतन्त्रताका अभाव—ससारके जितने भी सुख समागम है अथवा जितने सुखसाधन मिलते है उन सबका भाग्यके साथ अनुविधान है, और यह जीव कुबुद्धिसे हटकर अपने स्वभावमे आकर समस्त कर्मोंका नाश कर दे और मोक्ष प्राप्त कर ले उसमे पुरुषार्थकी प्रधानता है। तो जो बात कर्माधीन है अन्य-अन्य कारणोसे उत्पन्न होती है ऐसी सम्पदाके लिए हम क्यो चिन्तातुर रहे, पुरुषार्थ करके जो लाभ होता हो उसमे सन्तुष्ट होनेका प्रयत्न करें। और, उसमे भी कुछ त्याग करके दूसरोको दे करके यदि किसीको हम सुखी कर सकते है, किसीको दुखी कर सकते हैं तो उसका भी अपने मनमे संकल्प रखें, ऐसी उदारता होनेपर यह जीव इस लोकमे भी सन्तुष्ट रह सकता है। तो ये सब बुद्धियाँ हमारे प्रकट हो, उसके लिए हमे गुरुसेवा चाहिए। सत्सगसे ये सब विवेक जगते है। बुद्धि भ्रष्ट न हो पाये, यह सबसे बडी विभूति है। कल्पना करो कि कितना भी वैभव हो और बुद्धि चलित हो जाय, दिमाग वशमे न रहे तो वह समागम किस कामका ? उस विचलित आत्मा को तो शान्ति है नही। तो सबसे बडी विभूति बुद्धिका स्वस्थ रहना है। स्वस्थ बुद्धि वह कहलाती है कि जहाँ यह ज्ञान बना रहे कि यह बात हितकी है और यह बात अहितकी है। ऐसा भान जिस बुद्धिमे बन रहा है उसे स्वस्थ बुद्धि कहते हैं। यह स्वस्थता गुरुसेवासे प्राप्त होती है। सत्सगसे यह शान्ति सम्पदा प्राप्त होती है।

वृद्धसेवासे हेयहानकी और उपादेयोपादानकी सुगमता—जो तपस्यामे बढे हुए हो वे वृद्ध कहलाते है। उन वृद्धोकी सेवा प्रशसनीय है। जो ज्ञानमे बढे है उनका नाम वृद्ध है, केवल अवस्थामे बढ जाये और बाल भी सफेद हो जायें ऐसे वृद्धोको वृद्ध नही कहते, किन्तु जो गुणोमे बढे हो, उन्हे वृद्ध कहते हैं। ज्ञान वही बढा हुआ कहलाता जो ज्ञान अपने आपकी समझ बनाये कि यह मैं ज्ञानस्वरूप हू, दुनियाके समस्त पदार्थोंसे न्यारा हू, मेरा अन्य पदार्थोंसे कुछ सम्बन्ध नही है। मैं केवल ज्ञानका धनी हू और बिगड जाऊँ तो कल्पनाओ का धनी हूँ। इसके सिवाय मैं अन्य कुछ नही करता ऐसा जिनके विवेक जगा है वे वृद्ध मनुष्य है, उनकी सेवा करनेसे बुद्धि स्वस्थ रहती है। जो धैर्यके अधिकारी हैं उनकी सेवासे बडी शिक्षा मिलती है। एक मनुष्य चाहे वह गृहस्थीमे हो, यदि वह धीर है, सोचकर बोलने वाला है, बडी बातका आदर करता है, तुच्छ विचार नही रखता ऐसे धीर गम्भीर मनुष्यके पास आप बैठे तो आपपर भी कुछ असर होगा, अधीरता दूर होगी, धीरताका गुण आने लगेगा। तो जो मनुष्य धीर है वे वृद्ध है, गुरु हैं, उनकी सेवासे हममे भी गुण प्राप्त होने लगते हैं। जो मनुष्य आत्माके ध्यानका उद्यम करते है, जिन्हे ससार, शरीर, भोग नही

रुचते है ऐसे आत्मकल्याणार्थी संत मनुष्य कही मिले तो सही, उनके सत्सगमें बैठे तो अनुभव करेंगे कि बुद्धि कितना स्वस्थ होती है ? हम शुद्ध सत्संगसे निज मार्गके अनुरागी बन जायेंगे तो जो आत्मध्यानी मनुष्य है वे संत है, गुरु हैं, उनकी सेवासे हमारी बुद्धि स्वस्थ रहेगी।

सत्सङ्गमें आत्माकी भलाई--जो मनुष्य विवेकी है, हित अहितका विवेक रखते है, अपने द्वारा किसीको कष्ट न हो ऐसा जिनके विवेक रहता है ऐसे मनुष्योका संग अनेक गुणों को उत्पन्न करता है। जो व्रत सन्याससे रहते है, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पापोका जिन्होने त्याग किया है, जो किसी भी जीवकी हिंसा स्वप्नमे भी नही चाहते है, अपने इन्द्रियके विषयोकी ओर आसक्त नही रहते है, इन्द्रियकी आज्ञाके दास नही रहते है ऐसे पुरुषोका संग अर्थात् सत्संग एक श्रेष्ठ संग है। सत्सगसे अनेक गुणोकी प्राप्ति होती है। यदि हमे अपनी भलाई करना है तो सत्सगमे अधिक रहे। नगरमे रहकर भी, गृहस्थीके बीच रहकर भी गृहस्थीमे जो सत्पुरुष हो, जो अपने विचार ऊंचे रखते हो, जो दूसरोकी भलाई की ही बात सोचते है ऐसे गृहस्थ तो आपके गाँवमे भी मिलेंगे। ढूंढने लगो। प्रत्येक गाँवके लोग यह अनुभव करते है कि हमारे यहा सत्सग नही है, पर सत्संग मिलेगा प्रत्येक गाँवमे। चार पाच प्रतिशत लोग ऐसे मिल जायेंगे जिनके भाव बडे सुलझे हुए है, वे मायाको ही अपना सब कुछ नही मानते है किन्तु शुद्ध विचार, शुद्ध आचरण, आत्माकी उन्नतिको ही अपना सर्वस्व मानते हैं ऐसे पुरुष प्रत्येक गावमे मिलेंगे। उनका संग बनाये, उनकी आज्ञामे रहे। किसी भी समयमे कोई विचार करना हो अथवा किसी विवादमे उलझ गए हो उनका सहारा ले, अपनेको कुछ हानि हो जाय तो बाह्य पदार्थोंके प्रति, धन आदिकके प्रति विह्वल न हो, किन्तु तत्त्वज्ञानका सहारा ले और तब शान्ति उत्पन्न होती हो तो उसे सब कुछ माने। ऐसा यदि भाव बन जाय प्रत्येक गृहस्थोंमे, तो देखिये कितना प्रेमका साम्राज्य छा जाता है।

लौकिक सम्पदाके सङ्गकी अहितकारिता--भैया! यह सम्पदा तो पुण्यकी दासी है। जेसे छाया मनुष्यके पीछे पीछे फिरती है। कोई मनुष्य छायाको पकडनेके लिए बढे तो छाया दूर भागती है, पकडनेमे नही आती। और, मनुष्य अपनी छायासे मुख मोड ले और आगे बढे तो छाया उसके साथ-साथ चलती है, ऐसा ही इस सम्पदाका हाल है। जो मनुष्य तीव्र अभिमानी है, सम्पदाकी ही माला जपते रहते है ऐसे मनुष्योंके सम्पदा दूर भागती है और जो सम्पदासे मुख मोड लेते है, उसकी उपेक्षा कर देते हैं, अपने विचार आचरणसे ही प्रेम रखते है ऐसे मनुष्योके पुण्यफल बढता है। अपना लक्ष्य होना चाहिए शान्तिका। जिसका शान्तिका लक्ष्य होगा उसे सब ज्ञान आयेगा और जिसे केवल सासारिक सुखोंका

लक्ष्य ही होगा उसके शुद्ध ज्ञान नही जग सकता। आत्माकी स्वच्छता तो शुद्ध ज्ञानसे होती है, सम्पदाके सचयसे नही होती। तो ये सब बातें प्राप्त करनेको हम वृद्धोकी सेवा करें, गुरुजनोकी सेवा करे, सत्सगसे अधिकाधिक लाभ लें।

प्रत्यासत्ति समायातैर्विषयै स्वान्तरञ्जकै ।
न धैर्यं स्खलितं येषा ते वृद्धा विबुधैर्मता ॥७७१॥

वृद्ध पुरुषोंकी विशेषता—वृद्ध पुरष वे हैं जो मनको रजायमान करने वाले अनेक समागम भी निकट आ जाये तो भी उनके कारण जिनका धैर्य-स्खलित नही हो। धीरता बराबर बनी रहे। अब भी और कुछ पहिले समयमे ऐसे बुजुर्ग लोग होते थे और अब भी क्वचित् पाये जाते है कि जिनमे रागद्वेष मोहकी मात्रा बडी हुई नही है, अपने बच्चेका पक्ष लेना पसद नही करते, जिन्हे न्यायप्रिय है, सबपर जिनकी समान दृष्टि रहती है; यह मेरा है, यह दूसरेका है, यह भाई है, यह मेरा लडका है इस तरहकी पक्षपातकी दृष्टि जिनके नही है, किन्तु उन सबको समानदृष्टिसे निरखते हैं ऐसे बुजुर्ग अब भी क्वचित् पाये जाते हैं। देखो भैया! जो प्राचीन रीति रिवाज है, माता पिताके सामने बच्चेको कैसे रहना चाहिए, युवक हो जानेपर भी बालक माता पिताकी अनुनय विनय रखे रहे और घरमे बहुवें सास स्वसुर आदिकी अनुनय विनय रखे रहे, ये सब रीति रिवाज, ये सब बाते एक शान्तिका वातावरण रखनेमे सहायक है। जबसे ये अनुनय विनयकी बाते छूटी तबसे विवाद होना बहुत बढ गया है, हम जगतके वैभवको सुखका कारण न समझें, किन्तु मेरा ज्ञान सही रहे, मैं अपनेको पहिचान लूं, पापोसे दूर रहू, दरिद्रताको तो पसद कर लें किन्तु अन्याय न पसंद करें ऐसे आशयसे हमे सुख प्राप्त होगा। इन सब कल्याणकी बातोको पानेके लिए जीवनमे इतना तो अभ्यास कर ही लें कि हमारा सबके लिए वचनव्यवहार प्रिय बने। सबसे मुख्य बात है, क्योकि मनुष्यका धन एक वचन ही है। वचनोसे हम एकदम ज्ञात कर सकते हैं कि यह मनुष्य कैसा है?

हितमित प्रिय वचनव्यवहारसे समृद्धिलाभकी पात्रता—हमारे वचन हित मित प्रिय हो, ऐसी वाणी बोलनेका अभ्यास बनाये। अपनी भाषामे कुछ सुधार भी बनायें जिन वचनोको सुनकर दूसरे सुखी हो जाये वे वचन खुदको भी लाभ देंगे और दूसरोको भी लाभ देंगे। अभी गाँवमे या किसी भी जगह जितने भी झगडे उठते हैं निर्णय यदि करें तो उन झगडोमे मूलमे यही बात पायेगे कि उसने यो कह दिया तो उसपर बढते-बढते झगडा हो गया। यदि मर्मछेदी-वचन हो तो दूसरेके चित्तको ऐसी पीडा देते है कि जैसी पीडा कोई किसी शस्त्रसे भी नही दे सकता। लोग साहित्यिक ढंगसे मुखको कमल कहा करते हैं। आपके मुखारविन्दसे कुछ शब्द निकलें तो ऐसे निकलें कि सुनने वालोको प्रिय लगें। तो मुखारविन्द

मायने मुखरूपी कमल है । जैसे फूले हुए कमलसे मानो प्रसन्नता टपकती है ऐसे ही मुखसे ऐसे वचन निकलने चाहिएँ जिनको सुनकर दूसरेको प्रसन्नता प्रकट हो । ऐसे ही वचन मिलने वाले मुखको कमलकी तरह बताया है ।

अहित अप्रिय वचन व्यवहारसे सर्वत्र अहित--यदि किसीके मुखसे ऐसे वचन निकलें जो दूसरेके हृदयको पीडा देने वाले हो तो क्या ऐसे मुखको कोई कमलकी तरह कहेगा ? मुखको धनुष कह लो । जैसे जिस धनुषसे बाण छूट गया, तो जिसका लक्ष्य करके छूटा है वह उसके हृदयको छेद भेद देगा । बाण छूट जानेपर कोई कितनी ही मिन्नत करे कि ऐ बाण, तू भूलसे छूट गया, वापिस आ जा, तो क्या वह छूटा हुआ बाण वापिस हो सकता है ? नही हो सकता । वह तो जिसका लक्ष्य करके मारा गया है उसे छेद देगा, ऐसे ही जिसके मुखसे दुर्वचन निकल गए तो वे तो उसके हृदयको छेद भेद देंगे जिसका लक्ष्य करके वचन बोले गये है, वचन मुखसे निकल जानेपर कोई कितनी ही मिन्नत करे कि ऐ वचन तुम वापिस आ जावो, तुम भूलसे मुखसे निकल गए हो, तो क्या वे वचन वापिस हो सकते है ? नही हो सकते । इस मुखका भी आकार धनुषाकार होता है । जैसे धनुष दोनो ओरसे टेढा होता है ऐसे ही क्रोधदशामे मुखका भी आकार बन जाता है । तो इस बातसे हम अपने लिए यह शिक्षा ले कि मुखसे कभी भी खोटे वचन न निकाले, दुर्वचन न बोलें, सत्संगमे अधिकाधिक रहे, इन दोनो बातोसे हमारे जीवनके उद्धारका काम बन सकता है ।

न हि स्वप्नेऽपि संयाता येषा सद्वृत्तवाच्यता ।
यौवनेऽपि मता वृद्धास्ते धन्या शीलशालिभि. ॥७७२॥

शीलशाली वृद्ध जनोंका हितोपदेश--जिनके सदाचरण स्वप्नमे भी कभी मलिन नही होते ऐसे मनुष्य यौवन अवस्थामे भी वृद्ध कहलाते है । ऐसे शीलवान महापुरुषोने बताया है, मनुष्य जन्ममे एक सदाचारकी बडी विशेषता है । यदि सदाचार ही न हो तो फिर मनुष्यमे और पशुवोमे कुछ भी अन्तर नही है । सदाचार अपनी-अपनी परिस्थितिके अनुसार मनुष्योमे भिन्न-भिन्न श्रेणीरूप है, जैसे उन मनुष्योका सदाचार जिनके कुलपरम्परासे शिकार खेलना, मासभक्षण मदिरापान करना और सभी ऐब यो कहो कि जिनका जीवन पशुवत् परम्परासे चला आ रहा है ऐसे मनुष्योका सदाचार कमसे कम इन ८ बातोमे है कि वे मास, मदिरा, शहद तथा बड, पीपल, ऊमर, कठूमर, अजीर आदिक फलोका त्याग करे, जिनमे साक्षात् चलते फिरते त्रस जीव रहते है । यह बहुत प्रारम्भिक सदाचार है और इसका उपदेश उनको दिया जाता है जो परम्परासे सर्वप्रथमसे भ्रष्ट आचारमे रहे हैं । ये अष्ट मूल गुणके नामसे प्रसिद्ध है और उन नीच आचार विचार वालोके लिए यह सदाचार बताया है और जो मनुष्य कुछ थोड़ा बहुत परिपाटीसे

विवेकमें चल रहे है लेकिन अत्यन्त थोडा विवेक है ऐसे मनुष्योके सदाचरण इन बातोमे प्रारम्भ होता है। उतना तो आचरण हो ही जितना कि कमसे कम और अधम मनुष्योंके लिए बताया गया है उन्हे तो ७ व्यसनोका त्याग होना यह उनका सदाचरण है।

द्यूतक्रीडाके त्यागका कर्तव्य—जुवा खेलना, यद्यपि लोग दिल बहलावासे इसे शुरू करते हैं, लेकिन इनके व्यसन बढते-बढते यहाँ तक बढते जाते हैं कि अपनी सम्पदा तकको भी दाव पर लगा देते है, पर जिनके जुवेका व्यसन हो गया वे जीते भी हारे है और हारे तो हारे ही है। जुवा खेलनेके व्यसनमे जिनकी कुछ धन बनी है ऐसे पुरुषोको वडा मानना पडता है कि अनेक विपदाये आने पर भी वे जुवाका परित्याग कर सके और कदाचित तृष्णावश ही सही किसीके मनमे आ जाय कि अब इसे छोड दें, जो कुछ थोडासा पल्ले रह गया है, उसकी ही रक्षा कर लें तो अन्य जुवारी लोग उसे ऐसी अपमान भरी बात कहने लगते है कि उसे जुवेसे हटना कठिन हो जाता है। तो सदाचारकी बातमे एक यह भी सदाचार है कि जुवा खेलनेका परित्याग करें। इससे बरबादी ही है और मनकी अत्यन्त अस्थिरता है, चित्त कही भी लगता नही है, पैसा लगाकर जुवा खेलने की बात तो अधम है ही, किन्तु केवल तासके पत्तोकी ही बिना पैसोका दाव लगाये जो खेल खेलने मे लग जाता हैं वह भी समय पर भोजन नही करता, ऐसे मित्रोकी खोज करता है जो तास खेलनेमे साथ देंगे; और-और प्रकारसे वह अपने समयको बरबाद कर देता है। आवश्यक कामोसे भी मुख मोड लेता है।

मास मदिराके त्यागका कर्तव्य—दूसरा सदाचार है माँस भक्षणका परित्याग करना। मास भक्षणमे भी सभी ऐब आ जाते हैं। हिंसामे तो दोष लगा ही है। मास किसी जीवके घातके बिना उत्पन्न नही होता। तो जो मासभक्षण करते है उन्हे जीव घातका पाप तो लगा ही है, साथ ही मासमे चाहे वह कच्चा हो, चाहे पक गया हो, जल्दीका हो या पुराना हो उसमे सतत् असंख्याते त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं, जो इतने सूक्ष्म हैं कि आखो दिख नही सकते। उसमे हिंसाका भी बहुत बडा पाप बसा हुआ है। और, फिर मासभक्षणमे बुद्धि भी धर्ममे लगाने लायक नही रहती। तीसरा सदाचार है मदिरा त्याग करना शराब, गाजा, चरस, भग इत्यादि विशेष बेहोश करने वाले पदार्थ हैं ही। और, भी जो यद्यपि कम मादक हैं लेकिन जिनकी आदत बनने पर शरीरका स्वास्थ्य भी बिगडता है और व्यर्थका उपयोग भटकता है, जैसे तम्बाकू खाना पीना, पान, बीडी, सिगरेट आदि खाना पीना ये सब व्यसन हैं। इनका परित्याग होना यह भी साधारण गृहस्थ जनोका सदाचार है।

चोरीके परित्यागका कर्तव्य—चौथा सदाचार है चोरीका व्यसन न होना। अपने

अपने आपमे कितना स्पष्ट और न्यायप्रिय रहता है सदाचारी कि वह परधनको चाहे गिरा हो, पडा हो, भूला हो उसके हरण करने की भावना मनमे नही रखता। यह संसार ही सारा असार है। ये सारे समागम इस जीवका अहित करने वाले है। किसी भी समागमसे जीवका हित सम्भव नही है, स्पष्ट दिखता है लेकिन प्रथम तो कोई किसीका होता नही। कल्पनामे मान लिया कि यह मेरा पदार्थ है। लोकव्यवस्था भी कुछ कुछ ऐसी है, लेकिन विवेकपूर्ण विचारसे देखो तो जगतमे अनन्त जीव है, उनमे से कोई जीव तुम्हारे घरमे उत्पन्न हो गए। यदि वे जीव तुम्हारे घरमे न आये होते, कोई अन्य जीव तुम्हारे घरमें पैदा हो गए होते तो उन्हे अपना मान लेते कि नही ? तो जिस चाहेको कल्पनासे मान लेते कि यह मेरा है। फिर दूसरी बात यह है कि अन्याय करके, झूठ बोलकर, व्यग्र बनकर चिन्तावोमे घुलकर धनका सचय किया और अन्तमे मरण हो गया, वह यहाका यहाँ ही पडा रहा, खुदके लिए तो कुछ मददगार नही हुआ। रही दूसरोकी बात तो दूसरे तो सब भिन्न हैं। जिन्हे आप अपना परिजन मानते, जिनके पीछे आप चिन्ताएँ रखते वे सब भी अपना-अपना भाग्य लेकर आये हैं। अपनी-अपनी भाग्यके अनुसार, योग्यताके अनुसार, अपनी बुद्धिबलसे उन्हे भी सब कुछ प्राप्त होता रहता है, उनके पीछे चिन्ताएँ रखनेसे, व्यग्र रहनेसे इस अमूल्य नरजीवनको खो डालना यह तो विवेक नही है, सन्तोषवृत्तिसे रहकर प्रभुभक्ति और आत्मध्यान इनमे प्रगति करना सो तो विवेक है, इसके विपरीत चिन्तावोमे मग्न रहना, अपनेको परेशान बनाये रहना, दुखी अनुभव करना यह विवेक नही है। परधनको जो चाहते है कि किसी भी प्रकारसे मेरे पास आ जाय तो उसमे भी दयाहीनताका दोष लगा। सब वैभव मेरे पास आ जायें इसमे यह बात पडी हुई है कि और लोग चाहे कैसे पी रहे पर मेरे पास खूब धन आ जाय, तो इसमे दयाहीनताका दोष लगा। कर्तव्य तो अपना यह है कि गृहस्थीके नाते औसतन पुरुषार्थ करे और उसमे जो न्यायनीतिसे कमाई हो उसमे अपने कुटुम्बियोका पालन पोषण करे। जिन जीवोके चोरीका व्यसन लग गया है उनके चित्तमे धर्मकी पात्रता कहाँसे होगी ? तो गृहस्थजनोका सदाचार है कि चोरीका परित्याग करे।

आखेट, परस्त्रीगमन व वेश्यागमनके परित्यागका कर्तव्य—एक शिकार खेलनेका भी व्यसनका होता है, उसका त्याग करना भी सदाचार है। निरपराध पशु पक्षियोके प्राण लेना इसमे बहुत बडा अपराध है। किसी जीवको मारकर उसमे अपनी बहादुरी समझना इसमे कितना उस मारने वालेका उपयोग भटक गया। शिकार खेलनेका परित्याग यह सदाचार है। यह दूसरी स्थितिका सदाचार कह रहे है। पहिले तो निम्न श्रेणी वाला सदाचार बताया था, उसके बाद द्वितीय श्रेणीके अविरत मनुष्योका सदाचार कह रहे है।

उनका सदाचार है परस्त्रीगमनका त्याग करना अथवा स्त्रीजनोकी ओरसे परपुरुषका त्याग करना। परस्त्रीसेवनमे चिन्ता, व्यग्रता, निर्दयता, कायरता ये सभी ऐब आ जाते है। प्रथम तो परस्त्री है। कुछ कामी मनुष्यके आधीन तो है नही। सो हर समय मिलना तो असम्भव है, कभी गुप्त रूपसे चोरीसे अनेक यत्न करके मिलन होता है सो शेष समय मिलने का निरन्तर चित्त बना रहता है और हृदयमे कामव्यथा निरन्तर बनी रहा करती है और, ऐसी स्थितिसे वह धर्मध्यान क्या कर सकता है, और, फिर लौकिक आपत्तियाँ कितनी है, बुद्धि सब भ्रष्ट हो जाती है, चिन्ता है और खोटी बातके लिए व्यग्रता है। वहाँ बुद्धि सही काम कैसे कर सकती है ? तो परस्त्रीगमनका त्याग करना यह है गृहस्थजनोका सदाचार। और, सप्तम व्यसन बताया है वेश्यासेवन। यद्यपि निर्लज्ज होकर लाज छोडकर जो मनुष्य वेश्यागमनका पाप अपनेमे लादते है उनको परस्त्रीकी तरह यह तो भय नही है कि कोई जान जायेगा तो हमारी जान ले लेगा, लेकिन जो मायाचार करके सभी मनुष्योके साथ दुराचार कर सकती है ऐसी वेश्याके प्रति जो भाव रहता है, आकर्षण रहता है उसमे वह कितना पतित हो जाता है ? धर्मका वह पात्र कहा है ?

तृतीय प्रकारसे श्रावकोंके आठ मूलगुण—७ व्यसनोका परित्याग करना यह द्वितीय श्रेणीका मौलिक सदाचार है, इसके पश्चात् जो कुल परम्परामे जो उज्ज्वल आचरण वाले चले आये है, जिनमे धर्मकी परम्परा भी चली आयी है उनके सदाचारमे कुछ बातें बढती जाती है। इतनी बाते तो होती ही हैं, पर साथ ही धार्मिक कार्योंकी प्रवृत्ति भी बढ जाती है। जैसे प्रभुभक्तिमे अपना चित्त लगाना, देवदर्शन करना, जीवदयामे कुछ आगे प्रगति करना, रात्रिभोजनका त्याग करना, जल छान कर पीना, ये प्रवृत्तियाँ उनके लिए सुगम ही बढ जाया करती है। रात्रिभोजनमे हिंसाका दोष है। अब धर्मरुचि घट जानेसे लोग रात्रि-भोजन करने लगे है, पर कोई समय था ऐसा जिसमे रात्रिभोजन करने वालेको निश्चरो जैसा मानते थे। साथ ही यह भी देखिये कि भोजनकी आसक्ति दिनमे भी रहे, रात्रिमे भी रहे तो फिर चित्तको विराम कब मिले ? और फिर धर्मकार्योके लिए भी उनका समय नही निकल पाता। जिन लोगोके यहाँ रात्रिभोजन करनेका रिवाज नही है, सूर्यास्तसे पहिले ही भोजन कर लेते है उनके पास धर्म करने, धर्मोपदेश सुनने, चर्चा व्याख्यान सुनने आदिका समय खूब मिल जाता है, और जो लोग रात्रिभोजन करते है उन्हे कहा इन बातोके लिए समय मिल पाता है ? तो अनेक जीवदया सम्बधी बाते इन तृतीय श्रेणी वाले गृहस्थोमे और हो जाया करती है।

अणुव्रतोंके उत्तरोत्तर विशेषतया पालनका कर्तव्य—कुछ विशेष वैराग्य जगने पर श्रावकोके कर्तव्यमे पच अणुव्रतोका पालन आ जाता है, अहिंसाणुव्रत, सत्यअणुव्रत, अचौर्य-

अणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणअणुव्रत आदि ये सदाचार और बढ जाते है। इससे ऊपर जो गृहस्थजन धर्ममार्गमे चलते है फिर उनका प्रतिमारूप आचरण चलने लगता है जिसे श्रावकके ११ दर्जे कहते है। उन सब दर्जोमे उत्तरोत्तर त्यागकी विशेषता है। जितना परपदार्थोसे उपेक्षा बढती जायेगी उतना ही आचरण अहिंसक बनता जायेगा। यो श्रावकोमे उच्च दर्जो तक क्षुल्लक अथवा ऐलक पदके आचरण रहते है। जहाँ केवल एक दो कपडोके अतिरिक्त अन्य कुछ भी परिग्रहकी आवश्यकता नही रहती, और भोजन भी एक बार नियमित करके सन्तुष्ट रहते है, तो यह उपेक्षाकी ही तो बात है, और अपना शेष समय स्वाध्यायमे, चर्चामे, पठनमे, लेखनमे, ध्यानमे बिताया करते है। यहाँ तक बात कही है निम्नश्रेणीके पुरुषोसे लेकर उच्च श्रावको तकके सदाचारकी।

नैर्ग्रन्थ्य परम आचार--श्रावकोके आचरणसे ऊपर जो और उत्कृष्ट सदाचार चलता है वह है संत पुरुषोका। जो समस्त प्रकारके परिग्रहोका पूर्ण त्याग कर देते है, यहाँ तक कि ऐसी करुणाकी मुद्रा बन जाती है कि वस्त्र आदिकसे भी जिनका प्रयोजन नही रहता। नग्न दिगम्बर साधु सतोका आचरण एक सर्वोत्कृष्ट आचरण है। कुछ लोग ऐसा सोच सकते है कि यह कैसी वृत्ति है कि नग्न हो गए लेकिन सोचिये तो सही उसकी दृष्टिसे, जिसको आत्मतत्त्वका इतना उच्च परिज्ञान हो गया है कि जिसको अब परवस्तुविषयक विकल्प ही नही है, कामवेदना जैसी बात ही नही चलती उन पुरुषोका नग्न दिगम्बर हो जाना यह निर्विकारताकी सूचना देता है, कितना विकार विजीय है जिनमे रच भी काम-सम्बन्धी विचार नही उत्पन्न होता ऐसे ही पुरुष नग्न हो सकते है। यह बहुत ऊँचा तपश्चरण है, साथ ही करुणाकी मुद्रा है। जब कि कोई कोई संन्यासी लाठी चिमटा त्रिसूल आदि लिए रहते है, अपना भयकर भेष बना लेते हैं। उनसे लोगोको यह भय रहता है कि कही हमसे कोई अविनय सम्बन्धी बात बन जाय तो त्रिसूल लाठी वगैरह मार न दे। और, नग्न दिगम्बर साधुके हाथमे पिछी है जो आँखोमे कुछ जाय तब भी वह पीडा नही देती। एक कमण्डल पासमे रखे है जो शौच आदिकमे निवृत्त होकर शुद्धिक्रियाके लिए रखते है। ऐसी नग्न दिगम्बर शान्त मुद्राको देखकर किसीको भी भय नही उत्पन्न होता। जब उनके पास किसी भी प्रकारका परिग्रह नही है तो उनसे मार देनेकी शका किसीको उत्पन्न ही नही हो सकती। यो समझ लीजिए कि जिसे पता है कि यह सर्प विषरहित है तो उससे वह भय नही करता। ऐसे ही जो नग्न दिगम्बर साधु कुछ भी हथियार आदिक नही रखता उससे किसीको भय कैसे उत्पन्न हो सकता है? वह एक सदाचारकी ऊँची स्थिति है।

नैर्ग्रन्थ्य आचरणमें २८ मूलगुणरूप वृत्ति—जब गृहस्थोसे भी ऊपर उठकर सदाचारकी बात आती है तो वह द्विज कहलाने लगता है। यो समझिये कि उसका दूसरा जन्म

हो गया है, जिसने परिग्रहका पूर्ण त्याग कर दिया उसका तो दूसरा जन्म है। जैसे कोई मनुष्य मर जाय और दूसरा जन्म ले ले तो अब पूर्वजन्मका न सस्कार, न वासना, न परिचय न ममता, ये कुछ भी नही है, क्योकि दूसरा जन्म हो गया है। पूर्वजन्मसे अब उसका कुछ सम्बन्ध नही रहता, इस प्रकार जो गृहस्थ समस्त परिग्रहोका त्याग करके सन्यास धारण करता है उसका अब दूसरा जन्म हो गया है। पुरानी बातोका अब उसके सस्कार नही रहता। उसका आचरण है २८ मूल गुणरूप अर्थात् ५ इन्द्रिय और छठा मन, इन दो के विषयोमे नही लगता। देखिये यह कितना ऊचा आचरण है ? इसमे परदया यह है कि किसी दूसरे जीवके सुखमे रच भी बाधा नही डाला और स्वदया कितनी है कि विषयोमे अपना उपयोग लगेगा तो स्वय आत्मध्यानसे दूर हो जायेगे। और, वहा खोटे कर्मोका ही बध होगा। तो इन विषयोसे अपनेको दूर रखना यह उनका सदाचार है। ५ महाव्रतोका पालन पूर्णरूपसे अहिसा है। कोई चोर बदमाश, डाकू शत्रु अगर हमला भी करे तो उसपर भी उसे शत्रु समझकर उससे बदला लेनेका भाव मनमे न आने देना, यह है उनका उत्कृष्ट सदाचार। इससे पहिले गृहस्थावस्थामे इतनी अहिंसा न बनती थी। कोई विरोधी लडनेके लिए आये तो उसका मुकाबला करते थे और हिंसा भी हो जाय दूसरेकी तो उसे विरोधी हिंसा मानी जाती थी, संकल्पी नही, लेकिन अब सन्यास धारण करने पर इतना उच्च सदाचार हो गया। सर्वप्रकार हितकारी सत्य वचन बोलते, अत्यन्त निर्जन बनमे रहते, अचौर्यमहाव्रतके उच्च आदर्श हो जाते, ससारकी स्त्रीमात्रके प्रति पूर्ण ब्रह्मचर्य है। परिग्रहका पूर्ण त्याग है। देखकर चलना, जमीनमे पडे हुए जीवोको बाधा न हो, बोलें तो हित मित प्रिय वचन बोलें, कुछ भी चीज धरे उठाये तो देखभालकर धरते उठाते हैं। मलमूत्र पसीना, नाक, थूक वगैरहका क्षेपण करते है तो ऐसी जगह देखभालकर करते हैं कि जहा कोई जीवजन्तु न हो। यो उनका सदाचार रहता है और उससे भी ऊचा आचरण साधु संतोका यह है कि ऐसा मन बनता कि जिसमे किसी परपदार्थमे उपयोग ही न जाय, और वचनोका परित्याग करना, पूर्ण मौनसे रहना, शरीर हिले डुले नही, बैठे हैं तो ऐसे ही स्तब्ध और लेटे है तो बिल्कुल काठकी तरह ऐसा निश्चल शरीर बना, ये सब उच्च आचरण होते हैं। तो इस श्लोकमे कहा यह जा रहा है कि जो मनुष्य अपनी पदवीके अनुसार अपने आचरणमे जवानीकी अवस्थामे भी नही गिरता है वह मनुष्य धन्य है। बुढापा आने पर इन्द्रिया शिथिल हो जाती हैं और उनसे भोग उपभोग नही बन पाते है, विवश होकर उन्होने त्याग किया तो उसमे मानसिक विशेषता नही आयी, किन्तु, जवानी अवस्थामे भी जो कामके वेगसे दूर रहते हैं और दुराचारोसे दूर होते है वे पुरुष धन्य है और महात्माजनोने उन पुरुषोकी महिमा गायी है। वे ही वृद्ध है। ऐसे पुरुषोकी सेवा करना

उनकी सत्संगतिमे रहना ये सब लाभदायक बातें है। हम आप सबको सत्संगकी बहुत खोज रखना चाहिए। हमारा संग व्यसनी पापीजनोंका न बन जाय और हमारा भाव पतनकी ओर न मुड जाय ऐसा सत्सग बनानेका यत्न करना यह अपना परम कर्तव्य है।

प्राय शरीरशैथिल्यात्स्यात्स्वस्था मतिरङ्गिनाम्।
यौवने तु क्वचित्कुर्याद्दृष्टतत्त्वोपि विक्रियाम् ॥७७३॥

गुरुसेवा व वृद्धसेवाकी ब्रह्मचर्यसाधनता—समस्त व्रतोमे प्रधान व्रत है ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचर्यकी व्याख्या उत्कृष्टसे उत्कृष्ट होती चली गयी है। परम ब्रह्मचर्य है आत्मा आत्मामे लीन हो जाय तो ऐसा कार्य करनेके लिए व्यवहारके सदाचार भी हमे अच्छी तरह निभाने पडेंगे, तब इतनी पात्रता जग सकती है कि हम अपने स्वरूपमे लीन हो सकें। जो व्यवहारके सदाचारसे भी गिरा है उसमे यह योग्यता नही आ सकती कि वह आत्माकी सुध पा सके और व्यवहारकी सदाचारता आये इसके लिए मुख्य सहायक है सत्सग, गुरुसेवा, वृद्धसेवा। जो ज्ञानमे तपमे बढे हुए हैं, जो अपनी निर्मलतामे बढे हुए हैं, ऐसे पुरुषोकी संगतिसे वे सब गुण आ जाते है जिससे आत्मा आत्मामे लीन होनेका पात्र बन सकता है। तो यहा वृद्ध पुरुषोका लक्षण कहा जा रहा है। वृद्ध का अर्थ है बढा हुआ। अवस्थामे बढा हुआ हो उस ही का नाम वृद्ध नही। अवस्थामे चाहे बडा हो चाहे छोटा, जिसके ज्ञान ध्यान धैर्य विवेक व्रत सयम बढे हुए हो वे वृद्ध पुरुष कहलाते है और उनकी सेवासे ब्रह्मचर्य व्रत की साधना होती हैं।

मोहकी वैरिरूपता—जीवके बैरी है ६—मोह, काम, क्रोध, मान, माया और क्षोभ। जो जीव ऐसा समझते है कि हमारे अमुक पुरुष विरोधी है वह उनका बडा भ्रम है और बडा अज्ञान है और इस भ्रमोमे वे अपने आपको दु:खी कर डालते है। और विकट कर्मोंका बन्ध करते हैं, जितने जीव हैं सब अपने अपने कषायके अनुसार अपनी अपनी चेष्टा करते हैं। जिसे हम शत्रु मानते है वह भी जो उसमे बात कषाय आयी है उसकी शान्ति के लिए चेष्टा करता है, हम उसे प्रतिकूल समझकर शत्रु मान लेते है। जगतमे अनन्त जीव है और सभी जीवोका स्वरूप अपना-अपना जुदा है, अपनी-अपनी सत्तासे सव हैं। और, सत्ताका अर्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चार से है। हमारी सत्ता हममे है, दूसरे की सत्ता दूसरेमे है, तो हमारी करतूत परमे कैसे जा सकती है, हम कल्पनाएँ भर कर रहे है, और संसारमें रोग केवल यही है कर्तृत्वका रोग। यह मुझे करनेको पडा है ऐसी जो चिन्ता बनी रहती है यही संसारका महान रोग है। भगवान सर्वज्ञ कृतकृत्य कहलाते है, अर्थात् जिसने सब कुछ कर लिया, जिसे परमे कुछ करनेको नही रहा उसे कृतकृत्य कहते है। काम कर करके कृतकृत्य कोई नही बन सकता। कामसे निवृत्त होकर कृतकृत्य बन सकते है। जब कभी

हम आप लोगोको कोई सुख होता है तो वह सुख काम करनेसे नही होता किन्तु अब मुझे करनेको नही रहा, इस आशयका सुख है। जैसे आपने कोई मकान बनवाया तो बादमे जो आप सुखका अनुभव करते है वह मकान बनवानेका सुख नही है, किन्तु मकान बनवानेका काम अब नही रहा, इस बात का सुख है।

यदि कोई पुरुष परपदार्थको पर जानकर पहिलेसे ही सोच ले कि मुझे परसे करनेको कुछ है ही नही तो वह सुखी है। ऐसा सुख उन्हे भी नही हो सकता जो बडे-बडे मकान महल बनवाने वाले है, बडे-बडे राजपाट चलाने वाले है। सुख तो विश्रामका है। मन विश्राम पाये उसका आनन्द आता है। अब मन किसीका ज्ञान द्वारा विश्राम पाता है तो जिसका ज्ञान द्वारा विश्राम पाता है उसका तो स्थिर विश्राम है, क्योकि ज्ञान द्वारा विश्राम पाता है। जब चाहे ज्ञानका प्रयोग कर लें और अपनेको सुखी बना लें। और, जो परपदार्थोंकी परिणति बनाकर विश्राम चाहते है, प्रथम तो परिणति उनकी इच्छानुकुल बनती नही और बन भी जाय तो भी अपेक्षा होनेके कारण वह विश्राम नही मिल सकता जो कार्यकी निवृत्तिके आशयमे विश्राम मिलता है। जो पुरुष ज्ञानमे वृद्ध है, तपश्चरणमे वृद्ध हैं वे वृद्ध सत पुरुष है। उनकी सेवासे छहो बैरी, काम, क्रोध, मान, माया लोभ, मोह दूर होते हैं। मोह तो एक अज्ञानका नाम है। जब सत पुरुषोकी सेवामे रहे तो यह अज्ञान दूर होता है, मोह दूर होता है। जहा मोह दूर होने लगता वहाँ कुछ आत्माकी बात सुनने को जाननेको भी अपने आपको खबर होती है। मोह दूर हो।

कामविजयका महत्त्व—मोहके अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियोमे सबसे भयकर खोटी प्रवृत्ति है कामकी। क्रोध, मान, माया, लोभमे जितना बिगाड है, मनुष्यका उससे कही अधिक कामवासनामे बिगाड है। उसका मूलसे विध्वस हो जाय, भगवानसे वह प्रार्थना करे कि रही सही भी काम सम्बधी पुरानी वासना मेरी समाप्त हो और मेरे परम ब्रह्मचर्य प्रकट हो। वो पुरुष धन्य है जिन्होने जवानी अवस्थामे अपनी बुद्धिको स्वस्थ रखा, अपने आपकी सुध रखी उनके आत्मामे ज्ञानका बल भरा हुआ है। जीव स्वभावत निसर्गत पापोकी ओर दौडता है, बुद्धि पापोकी ओर जाती है। अनादिसे यह मलिन है। ऐसी स्थितिमे भी कोई ज्ञानी पुरुष बाह्यविषयोमे अपनी बुद्धिको न फसाये, अपनी ओर ही अपना चित्त रखे तो सोचिये उसका कितना बडा ज्ञानबल है? तो, शरीरके सिथिल होनेसे बुद्धि प्राय स्वस्थ हो जाती है, वह भी कोई नियम नही। शरीरके शिथिल होनेसे इन्द्रियके विषयोमे जोस नहीं रहता और ऐसी स्थितिमे यदि कुछ ज्ञान है तो शरीर जहा पडा है पडा रहने दो, यदि आत्मा अपने आपमे अपना गुन्तारा लगाये तो यह आत्मा तो आनन्दमग्न हो जायेगा। शरीर कही पडा है तो पडा रहे, उसके पड़े रहने से क्या हानि है? जो चीज दु खदायी

मालूम की जाती है लौकिक लोगोके द्वारा उस ही का ज्ञानमे उपयोग किया जाता है। लोग बुढापेको दु खदायी मानते है लेकिन ज्ञान है तो बुढापा हमारे हितमे बहुत कारण पड सकता है। जो गुण बुढापेमे आ सकते है बुढापेके कारण वे गुण जवानीमे कठिन है। यह विशेषता शरीरकी अवस्थासे भी चलती है। बहुत कुछ देख चुकनेके बाद उसकी इच्छायें भी कम हो जाती है। जिसमे थोडा भी विवेक हो तो उसमे बुढापेसे बडे गुण प्रकट होते है, इच्छायें कम होती है। जैसे जवानीमे एक नया पौरुष मिलनेसे बडी-बडी इच्छायें होती हैं लेकिन वृद्धावस्थामे उन सारी इच्छावोमे कमी हो जाती है और साथ ही इन्द्रियके विषयो की अभिलाषा भी कम हो जाती है। ऐसी स्थितिमे ज्ञानी पुरुष उस बुढापेका भी लाभ ले सकता है जो अत्यन्त अधिक लाभ है। नही तो एक समस्याका उत्तर दो। बुढापा यदि कष्टदायी चीज है तो जवानीमे भी तपश्चरण करनेसे लाभ क्या ? क्योकि बूढ़े बनेगे, बुढापे मे सारे तपश्चरण दूर हो जायेगे। फिर तपश्चरण क्यो करते है इसका उत्तर दो। इसका उत्तर यह है कि बुढापा कष्टकारी दु खकारी नही है, यदि ज्ञानी मनुष्य है और अपने ज्ञान को अपने आपमे कुछ निरखनेका उद्यम बनाये रहता है तो शरीर कैसा ही रहे उससे आत्माका अहित नही होता। समाधिमरण प्राय बुढापेमे ही होता है। तो समाधिकी पात्रता बुढापेमे विशेषतया है कि अपनी सारी जिन्दगीके अनुभव है। समाधिमरणमे आहार जल वगैरहके त्यागकी विशेषता नही है किन्तु समतापरिणामकी विशेषता है। नाना इच्छायें न जगे इसकी विशेषता है समाधिमरणमे। जब इच्छाए नही रहती तो फिर आहार जल आदिकका त्याग भी महत्त्व पाता है। मुख्य तो कषायोका त्याग है। तो वे मनुष्य धन्य है जो वृद्धावस्थामे भी अपनी बुद्धिको स्वस्थ रखते है और वे मनुष्य भी अधिक धन्य है जो जवान अवस्थामे भी अपनी बुद्धिको स्वस्थ रखते हैं। जिन्होने तत्त्वका स्वरूप जाना है, जो कुछ विकार उत्पन्न नही करते, जो युवावस्थामे भी चलायमान नही होते वे पुरुष धन्य हैं।

सल्लेखनाका अन्तरङ्ग आचार—सल्लेखनाका अर्थ है-सत् मायने भली प्रकार लेखन कहते है घिसनेको, कुदेडनेको। जैसे लोग कागजमे लिख देते कहते है, कि हमने यह निबन्ध लिखा, हमने यह भजन लिखा तो इसे लिखना नही कहते है। इसे कहते है लेपना। बोलना तो यो चाहिए कि हम निबन्ध लेप रहे हैं, भजनको लेपन कर रहे है। लिखना नाम उसका है जो ताडपत्रो पर लोहेकी कलमसे कुदेर करके फिर उसमे स्याही भरते है। ताडपत्रपर लिखा जाता है और कागजपर लेपा जाता है। चूंकि पुराने जमानेमे ताडपत्रपर लिखा जाता था, और आजकल चल गए कागज, तो कागजपर लेपन करनेको भी लोग लिखना कहते है। तो जो भली प्रकार कुदेरा जाता है उसका नाम है सल्लेखना।

कुदेरना होता है धीरे-धीरे, कुदेरना और कुदरे अशको दूर कर देना। जैसे ताडपत्र पर हम धीरे-धीरे कुदेरते है ऐसे ही अपनेमे जो अपनी परिणति बन रही है कषाय भावोकी उन कषायोका कुदेरना इसका नाम है सल्लेखना। और, सल्लेखना मरणका अर्थ है भली प्रकार से इन कषायोको फेंकते हुए, त्यागते हुए मरण करना। और संन्यासमरण किसका नाम है ? सन्याससहित जो मरण हो उसका नाम है सन्यासमरण।

अपने सहज स्वरूपका सहज विकास—अपने आपकी उन्नतिके लिए हमे अपने आपमे कोई नई चीज नही बनाना है। बनी बनाई चीज है, स्वरूप है अनादिसे है। केवल वह जो विकृत हो गया है उपाधियोके कारणसे उन उपाधियोको हटाने भरकी जरूरत है। जैसे पत्थरमेसे मूर्ति बनानी है तो कारीगर कुछ नई चीज नही लगाता है उसमे। केवल जो बनी बनायी चीज भीतरमे है जिसे कि वह प्रकट करेगा उसको ढकने वाले जो विकार है, पत्थर हैं उन पत्थरोको दूर करता है। उन विकारोको दूर करनेके बाद जो चीज प्रकट हो जाती है वह कारीगरने बनाया नही। उसीका ही अश प्रकट होता है। इसी तरह यह समूचा आत्मा परमात्मा है, स्वरूप है, ज्ञानमय है, चैतन्यमात्र है, वही केवल रह जाय उसी का नाम परमात्मा है।

परमात्मत्वका प्रयोजन—हमे परमात्मा होनेकी क्यो जरूरत है ? हम यह नही चाहते कि हमारे ऐसा ज्ञान प्रकट हो कि तीन लोक और अलोकको जान जायें। क्या गर्ज पडी है तीन लोक और अलोकको जाननेकी ? हम यह नही चाहते कि जो कहते आये लोग कि परमात्मामे अनन्त सुख होता है, यह भी कुछ चाहमे नही है, मुझे उस अनन्तज्ञानका भी लोभ, नहीं है। लोग कहते हैं कि परमात्मामे अनन्तशक्ति प्रकट हो जाती है। मुझे अनन्त शक्तिका भी लोभ नही है। ज्ञानी पुरुषकी भावनाकी बात कह रहे हैं। उसे न कोई लोभ है, न कुछ चीज है, न परमात्मपद चाहता है, किन्तु जब एक सही ज्ञान बन गया, भ्रम दूर हो गया तो अब भ्रम वाली बातको कैसे मनमे लाये ? इस कारणसे जैसा आत्माका सहजस्वरूप है वैसा उसकी निगाहमे रहता है। अब उस सहजस्वरूपकी दृष्टि बन जानेसे अपने आप ही केवलज्ञान होगा, अनन्तशक्ति होगी, अनन्तसुख होगा वह उसका फल है। वह तो केवल एक सत्यकी खोज है। जो सत्य स्वरूप है, आत्माका सहज भाव है वह निगाहमे आ गया तो उसीको दृष्टिमे लिए रहता है। मिथ्यावादको वह कैसे ग्रहण करे ? बस यह ज्ञानीकी वृत्ति चलती है कि मुझे चाह कुछ नही है तभी तो लिखा है कि जिसके मोक्षकी भी इच्छा नही है, मोक्षको भी नही चाहता वह मोक्षको प्राप्त होता है। तो मोक्ष को न चाहे ऐसा वह कौनसा ज्ञान है, बस यही ज्ञान है कि चाहना कुछ नही है। जो सत्य और सहजस्वरूप है उसका भान हो गया तो जब सत्यका ज्ञान हो गया तो फिर सत्यका

ज्ञान करते रहना है और कुछ नही करना है, मोक्षमार्गमे और करना क्या है ? जो सत्य-स्वरूप है उसका ज्ञान करते रहना यही मात्र एक काम मोक्षमार्गमे है। दूसरा नही है। पर ये अनेक काम जो बीचमे किए जाते है व्रत समिति पाले, यो आहार ग्रहण करे, यो पिछी ले, यो चले, यो उठे ये काम क्यो करने पडते ? यो करने पडते कि हमारे उस सत्य-स्वरूपके ज्ञान रहनेके काममे जब बाधाये आ जाती है तब अन्य इच्छाये होती है उन इच्छावोके समय हमारा ऐसा विवेक रहे कि हम एकदम तो विषयोकी इच्छामे न बह जाये, इसके लिए ये सभी प्रवृत्तियाँ करते रहनेके लिए नही है। करते रहनेका काम तो सत्यज्ञान है। जो सहजस्वरूप है, सत्यस्वरूप है उसका ज्ञान करते रहे, यही मात्र मोक्षमार्गमे करने का काम है और दूसरा काम नही है।

स्वरूपका यथावत् प्रकट होने अथवा ज्ञानके ज्ञानस्वरूपमें रहनेमें चारित्रकी प्रकट-रूपता—चारित्र किसी अन्य चीजका नाम नही, सिवाय इसके कि ज्ञान ज्ञानमे स्थिर बना रहे, ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको जानता रहे, यही चारित्र है और इसी कारणसे सिद्धभगवानमे चारित्रगुण नही बताया है सिद्ध प्रभुमे जो ८ गुण बताये है उनमे सम्यक्त्व तो अलग है—समकित, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघुत्व अवगाहना, सूक्ष्मत्व, अनन्तवीर्य, अव्याबाध, पर चारित्र कुछ अलग चीज नही है। ज्ञान-ज्ञानरूप रहे इसीका नाम चारित्र है। तो केवल एक ज्ञान करते रहना, यही तो है मोक्षमार्ग और एक ज्ञानरूप रह जाना, यही है मोक्ष। अब सिर्फ ज्ञानरूप रह जानेपर उसकी पहिचान कैसे बने, उस पहिचानके लिए अपेक्षा लगाकर और गुण बताये है। वैसे ८ गुण कुछ नही है अलगसे। केवल एक ज्ञानस्वरूप है वही एक महा-गुण है पर पूर्वकालमे मिथ्यात्व कर्मकी उपाधिसे सम्यक्त्व नही था। मिथ्यात्व था तो यह बतानेके लिए कि अब सिद्धोमे मिथ्यात्वका अश नही है, सम्यक्त्व गुण बताया है। ससार अवथामे यह आत्मा छोटा बडा कहलाता था। गोत्र नामकमके उदयसे नीचकुल उच्चकुल छोटा बडा कहलाता था, हम सिद्ध भगवानका परिचय पानेके लिए उस पुरानी स्थिति की अपेक्षा रखकर बतलाते है कि अब सिद्ध भगवान छोटे नही है। और न परस्पर कोई छोटे बडे हैं।

ससार अवस्थामें यह जीव कर्मोके विपाकसे नाना शरीरोमे रहा करता था। तब एक जीव दूसरे जीवमे न समा सकता था। आपका जीव वहाँ बैठे, हमारा यहाँ बैठे, कितना ही प्रेम हो, पर आपके जीवप्रदेशमे हमारे प्रदेश समा नही पा रहे। प्रेममे चाहे यह सोचें कि प्रदेशोमे प्रदेश समा जाये लेकिन नही समा सकते। अब सिद्ध भगवानमे यह दुराभाव नही रह पाया। जहा एक सिद्ध है वहा अनन्त सिद्ध समा सकते हैं। यह बात बतानेके लिए अवगाहना गुण बताया है। जैसे ससार अवस्थामे नाना प्रकारकी बाधाये होती थी कर्मोदयमे

अब वहाँ बाधाये नही है तो यो सिद्ध भगवानका परिचय करानेके लिए गुणभेद बताये गए है। गुण नाम उसका है जिसके द्वारा भेदा जाय, विशेषण किया जाय, परिचय कराया जाय। किसी मनुष्यका जब हम परिचय कराते है तो उसके गुणोका वर्णन करते है ना। तो नाना गुण इसलिए बताये जा रहे हैं कि लोगोंको परिचय हो जाय। वस्तुका परिचय करानेके लिए गुणोका कथन है। वस्तु तो अखण्ड है, स्वभाव अखण्ड है, उसका प्रतिसमय का परिणमन अखण्ड है। एक समयमे वस्तुका जो भी परिणमन है वह अखण्ड है। तो अखण्ड द्रव्यका अखण्ड वस्तुका परिचय करानेके लिए गुणकी कल्पना है, पर्यायोकी कल्पना है। वह तो जो है सो ही है। जो अनुभवद्वारा ही गम्य है, इन्द्रियसे अगोचर है ऐसा यह आत्मा जब सही रूपमे जैसा उसका अपने सत्त्वके कारण स्वरूप है वैसा ही रह जाय, बस इसीके मायने है परमात्मा हो जाना।

केवल होनेके लिये अपना कर्तव्य—सिद्ध अथवा केवल बननेके लिए हमे क्या करना है? अभीसे हम उस केवलस्वरूपको समझते रहे यही करना है। हमे अकेला बनना है, परमात्मा बनना है। रागद्वेष क्रोध, मान, माया, लोभ सब झझटोसे अलग रहकर केवल अपने स्वरूपमे रहना है, इसके लिए हमे यहाँ यह ज्ञान करना ही होगा कि ऐसा केवल मेरा स्वरूप है। यह स्वरूप जब हमे अपने केवलकी एकत्वकी निजस्वरूपकी श्रद्धा न हो तो बन कैसे सकता है? हम यहा तो यह मानते रहे कि शरीरको निरख कर यह ही मैं हू, द्वितीय भावमे, द्वितीय पदार्थमे अपने आत्मीयत्वकी श्रद्धा रखें और चाहे कि हम परमात्मा बन जाये, केवल बन जाये, यह नही हो सकता है। केवल बनना है तो केवलकी श्रद्धा अभी से करनी होगी। मैं केवल हू, अपने स्वरूपमात्र हू, ऐसी श्रद्धा अभीसे बनानी होगी तो उसी श्रद्धा और उसी ज्ञानके बलसे हम केवल बन जायेंगे। इन कर्मोंको हम हाथ पैरसे नही हटा सकते और कोई प्रकारकी क्रियासे दूर कर नही सकते। योगसे भी दूर नही होते। बस सबसे बडा उपाय निवृत्तिका है। एक कहावत है कि भली मार करतारकी, दिलसे दिया उतार। यह लौकिक कहावत है। जब कोई मनुष्य हमे अपने दिलसे उतार दे, वह हमारी चाह न करे तो हम कहते है कि इसने हमे बहुत बडी मार दी, इसने हमे दिलसे उतार दिया। तो दिलसे उतार देना यह सबसे बडी मार है। तो कर्मविकार रागद्वेष इन सबसे वडी मार यह है कि इनको हम दिलसे उतार दें। इनको हम अपने उपयोगमे न बसायें तो ये अपने आप नष्ट हो जायेंगे। विकारोसे उपेक्षा करना यह तब बनता है जब हम यह भान कर सकें कि मैं स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप हू, परिपूर्ण हू, मुझमे कोई अधूरापन नही है और न मुझे जगतमे कुछ करना है, मैं ज्ञानस्वरूप हू, इसे जानता रहू बस यही करना है। जानना भी नही करना है किन्तु ज्ञानस्वरूप है तो जाने बिना रहता तो नही ना, इसलिए

मैं केवल जानता भर रहू इतना ही मात्र करनेको मेरा काम पडा है, अन्य कुछ भी जगतमें मेरे करनेको काम नही पडा है। यो समझिये कि जगतके सब जीवोके लिए हमारी कोई सत्ता नही है। मैं हू ही नही। ये सारी बातें वृद्ध होने पर प्राप्त होती है। जो वृद्ध है अर्थात् जो ज्ञानमे, तपश्चरणमें बढ़े हुए है ऐसे संत पुरुषोंकी संगतिसे चित्तमे एक ऐसा उत्साह बनता है कि मैं केवल ज्ञानविकासके लिए ही हू, विकार भावोके लिए मैं नही हू ऐसा एक दृढ सकल्प बनता है। तो प्रभुभक्तिमे हम यही चाहे कि हे प्रभो मेरेमे परमब्रह्मचर्य प्रकट हो। सर्वसकल्प विकल्प मेरेसे दूर हो, जैसा मेरा सहजज्ञानस्वरूप है मैं वैसा ही रह जाऊँ। इसके लिए परमब्रह्मचर्यकी उपासना करना हमारा परम कर्तव्य है।

वार्द्धक्येन वपुर्धत्ते शैथिल्यं च यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणा विषयाशा निवर्तते ॥७७४॥

वार्द्धक्यसे शरीरकी शिथिलता होनेके साथ साथ विषयाशानिवृत्तिकी विशेषता— बुढापेके कारण जैसे जैसे मनुष्योका शरीर शिथिलताको धारण करता जाता है वैसे ही वैसे विषयोकी आशा भी घटती जाती है, परन्तु युवावस्थामे ही जिनकी आशा घट जाय, नष्ट हो जाय यह बात विशेषताकी है। वृद्ध पुरुषोका लक्षण कहा जा रहा है। अवस्थासे वृद्ध होने पर इन्द्रियाँ शिथिल हो ही जाती हैं और कुछ न कुछ सभी इन्द्रिया एक साथ शिथिल होने लगती है। और, जहाँ इन्द्रियाँ शिथिल हुई वहाँ विषयोकी आशा नही रहती। चाहे कोई बूढा मनमे इच्छा रखे, परविषय भोग लूँ, यह चीज मिल जाय, ऐसी आशा उनके नही रहती है। बूढे हो गए, दाँत गिर गए, कोई कडी चीज चख नही सकते तो उसके मिलनेकी आशा ही वे क्या करेगे ? यो ही वृद्धावस्थामे सभी विषयोके भोगनेकी आशा दूर हो जाती है, पर इस तरहकी आशा दूर अगर युवावस्थामे की हो तो वह सही मायनेमे ज्ञानबलके कारण होता है। छहढालेमे लिखा है—बालपनेमे ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणीरत रह्यो, अर्द्धमृतकसम बूढापनो, कैसे रूप लखे आपनो ? बालपनेमे तो ज्ञान प्राप्त नही किया, युवावस्थामे स्त्रीमे रत रहा, वृद्धावस्थामे अर्द्धमृतकसम रहा तो यह अपने स्वरूपको कैसे लख सकता है ? बालपनेमे तो ज्ञान न था, आत्मस्वरूप लखेगा ही क्या ? तरुण समयमे स्त्रीमे लीन रहा, उसीमे अपना बड़प्पन माना और बुढापेमे अधमरा जैसा शरीर रहा तो आत्मस्वरूपको कैसे लख सकता है ? इस सम्बन्धमे एक शका की जा सकती है कि जितने भी ऋषि सत मुनिजन होते है तो वे बूढ़े तो होगे ही, बूढे होनेपर वे आत्मस्वरूप तो लख न पायेगे तो क्या उन सबकी दुर्गति ही होगी ? तो इस श्लोकमे इसका अर्थ यों लगाना चाहिए कि जिस पुरुषने बालपनेमे ज्ञान नही पाया उसी पुरुषने तरुण समयमे स्त्रीमे आसक्ति रखा तो वही पुरुष जब बूढा होता है तो आत्मस्वरूप नही लख सकता। किन्तु जिन्होने ज्ञान

प्राप्त किया है और जवानीमे भी विषयोसे जिनकी अरुचि रही है वे बूढे हो जायें, अधमरे की तरह शरीर हो जाय तो भी वे आत्मस्वरूपको लख सकते हैं। तो वृद्ध नाम है उनका जो ज्ञानमे संयममे बढे हुए हो। मुख्य बात ती ज्ञानकी है और जिनका ज्ञान सही मायनेमे बना है, बढा है उनके सयम तो होता ही है अर्थात् ज्ञान ज्ञानरूप ही रह जाय इस तरहकी ज्ञानवृत्ति जिनकी चल रही हो उन्हीका नाम सयमी है। मैं ज्ञाता हूँ ऐसी श्रद्धाका नाम सम्यग्दर्शन है और अपने आपका ऐसा ज्ञान रखना इसका नाम है सम्यग्ज्ञान और अपने आपमे ज्ञानकी लीनता होना इसका नाम सम्यक्चारित्र है। ये तीनो धर्म ज्ञानपर अवलम्बित हैं सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र। इनको ही अमृतचन्द्रसूरि इस तरह कहते है कि पदार्थके यथार्थ श्रद्धानरूपसे ज्ञानके होनेका नाम सम्यग्दर्शन है और पदार्थोंके ज्ञानके रूपसे ज्ञानके होनेका नाम सम्यग्ज्ञान है और रागादिकका परिहार करते हुएके स्वभावसे ज्ञानके होनेका नाम सम्यक्चारित्र है। सब कुछ एक ज्ञान ही हो—धर्मज्ञान, चारित्रज्ञान, श्रद्धान ज्ञान, मोक्षमार्ग ज्ञान, मोक्षज्ञान सब कुछ ज्ञानमात्र ही तत्त्व है। अनेक जो संयम धारण करने पडते है वे ज्ञानमे भेद डालने वालेकी विभिन्नतासे भेद पडते है। तो जिनके ऐसा ज्ञानबल प्रकट है वे युवावस्थासे ही वृद्ध कहलाते है।

वृद्धोंके अनुभवकी प्रामाणिकता—वृद्धोका अनुभव सत्यार्थ हुआ करता है। लोकमे भी किसी भी बातकी सलाह बुजुर्गोंसे ली जाती है। छोटी अवस्था वालोका चित्त तो अपने दिलकी इच्छाके अनुकूल हुआ करता है। वे सही कोई बातका निर्णय करलें यह कुछ कठिन है, किन्तु जिनकी अवस्था अधिक है उन्हे चूँकि अनेक मार्गोंसे अपने जीवनमे गुजरना पडता है और सभी बातोंका अनुभव भी होता है तो वे सुलझी हुई बुद्धिके हो जाते हैं। यो ही जो ज्ञानमे वृद्ध है, विवेकशील मनुष्य हैं उन्हे अपने ज्ञानको सही रखने के सारे अनुभव होते हैं, उन्होने ज्ञानतत्त्वका अधिकाधिक अभ्यास किया है। उन्हे ज्ञानसम्बन्धी, धर्मसम्बन्धी, मोक्षमार्ग सम्बन्धी सारे अनुभव ठीक-ठीक होते हैं जिन्होने यह समस्त ग्रन्थ लिखा है, बाँचने मे ये सब उपदेश सीधे लगते हैं कि ऐसा तो जो चाहे उपदेश कर सकता, लिख सकता लेकिन अनुभव करने वाले संत पुरुषोंने जिस शैलीसे, जिस दृष्टिसे लिखा है वे सब शब्द भावोको जल्दी प्रकट करने वाले होते हैं। और साधारणजन उन्ही शब्दोको कहे तो उनका वह भाव प्रकट नही हो पाता है। तो प्रकरणकी बात यह कही गयी कि व्रती मनुष्य वे है जो विषयोसे निवृत्त है और ज्ञानका अधिकाधिक अभ्यास करते हैं, मैं ज्ञानमात्र हू ऐसी उस ज्ञानस्वरूपकी भावना जगना और इस तरहसे अपने आपका मनन करना और ऐसा मनन करना कि जिस अन्य किसी बातका मनन करनेपर यह केवल उस ही रूप सा बन जाता, इसी प्रकार मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा मनन करने पर अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवने लगे और

विकल्प दूर हो, इस शैलीसे जो अपनेको ज्ञानमात्र भावना करते है वे मनुष्य वृद्ध है। उनकी सेवा दुर्धर ब्रह्मचर्य व्रतके पालन करनेमे साधक होती है।

हीनाचरणसंभ्रान्तो वृद्धोऽपि तरुणायते।
तरुणोऽपि सतां धत्ते श्रिय सत्सङ्गवासित ॥७७५॥

सत्सङ्गसे उत्तमश्रीका लाभ—जो पुरुष वृद्ध होकर भी हीन आचरण रखनेसे व्याकुल होता हुआ भ्रमण करे वह वृद्ध होनेपर भी तरुण है। यहाँ तरुण शब्दसे अर्थ लिया गया है विषयोमे व्यग्र रहने, व्याकुल रहनेसे। जो हीन आचरणका हो, पतित हो उसका नाम है तरुणाई, और ज्ञानध्यान सयमव्रतमे चढे हुएका नाम है वृद्धता। जो पुरुष वृद्ध होकर भी हीन आचरणसे व्याकुल होकर भ्रमण करता फिरता है वह वृद्ध होनेपर भी तरुण है। और जो सत्सगतिसे रहता है वह तरुणाई पर भी सत्पुरुषो जैसी प्रतिष्ठा पाता है अर्थात् वह वास्तवमे वृद्ध है, बुजुर्ग है। यह सब बात अपने अन्दरकी है। यह आत्मा तो केवल एक उपयोग मात्र है, उपयोग लक्षण ही कहा गया है इस जीवका। जब यह उपयोग अपने ज्ञानस्वरूपमे लगाता है और ज्ञानस्वरूपको ही अपनाता है, यही मात्र मैं हू उसको अन्य सब परभावोंसे विरक्ति मिलती है। त्याग नाम ज्ञानका है। किसी भी वस्तुको पर जानकर परसे जब उपेक्षा करके अपने स्वरूपमात्रका ज्ञान करे तो ऐसे ज्ञानका ही नाम वास्तवमे त्याग है। किसी भी वस्तुका त्याग किया जाता तो उसके त्यागका प्रयोजन त्यागना मात्र नही है, किन्तु अपने आपके स्वरूपमे जुडनेका प्रयोजन है। अज्ञानी जन तो परम्परासे सुनते आये कि चीजोका त्याग करना चाहिए त्यागी बनना चाहिए, ऐसा ही जानकर परवस्तुवोका त्याग करके सन्तुष्ट हो जाते है, किन्तु परवस्तुवोका त्याग करना जिस प्रयोजनके लिए है वह प्रयोजन यदि न बना तो उस त्यागके मोक्षमार्गकी सिद्धि नही हो सकती है। समस्त त्यागका प्रयोजन है आत्माकी ओर लगना। चाहे कोई किसी वस्तुवोमें आत्माकी ओर नही लग पाता, पर आत्माकी ओर लगनेकी पात्रता तो बनती है। हिसाके त्यागसे, अभक्ष्यपदार्थोके त्यागसे, नाना पापोके त्यागसे आत्मामे लगनेकी पात्रता बनती है और जब इस पात्रताके बाद अपने अन्तरङ्गके विकारभावोका भी त्याग करते है अर्थात् उनसे मुख मोडते है तो आत्माकी ओर झुकाव होता है। त्यागकी दो श्रेणियाँ है—एक बाह्यपदार्थोका त्याग और एक अपने अन्दरमे उठने वाले औपाधिक भावोका त्याग। बाह्यपदार्थोके त्यागसे आत्माकी ओर लगनेकी पात्रता बनती है और अन्दरमे उठे परभावोके त्यागसे आत्माकी लगन बनती है। तो वहाँ भी बाह्य त्यागमे भी आत्माकी ओर झुकनेका प्रयोजन है।

त्यागका प्रयोजन पाये बिना मात्र परक्षेत्रसे बाह्यका त्याग होनेमें त्यागकी वास्त-

त्रिकताका अभाव— देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, तप आदिकके करनेका भी प्रयोजन अपने आपकी ओर झुकना है। कोई प्रभुस्मरण तो खूब करे और अपने आत्मस्वरूप की ओर कुछ भी झुकाव नही है तो इससे अपने को लाभ क्या मिला ? इसी तरह बाह्यवस्तुवो का जो त्याग किया जाता है उसका भी प्रयोजन है अपने आत्मस्वरूकी ओर झुकना। उस का लक्ष्य ही न हो और कोई अपनेको परवस्तुवोका त्यागी माने, मोक्षका अधिकारी माने तो वह उसकी कल्पना मात्र है। उसका परवस्तुका त्याग तो परवस्तुमे लगना हुआ। परवस्तुके त्यागमे किसी परवस्तुकी दृष्टि हुई तो यह तो परवस्तुमे लगना कहलाया। तो त्याग करके भी अज्ञानी जीव परवस्तुका ग्रहण कर रहा है। यह उसका कहना मात्र है कि मेरा अमुक चीजका त्याग है। वह बाहरी क्षेत्रमे परवस्तुका त्याग करके अन्दरमे परवस्तुका ही ग्रहण कर रहा है। उसके उपयोगमे उसका त्याग समाया हुआ है। मैंने बाह्य चीजका त्याग कर दिया मैं त्यागी हू इस आशयमे उसने बाह्य वस्तुको पकड रखा है। उस परवस्तुके त्यागसे जो आत्मलाभ होना चाहिए था, वह नही हो सका। और, ऐसी भिन्न-भिन्न परिस्थितिया होती है। जैसे भोजनके योग्य जो पदार्थ हैं उनमे कुछ भी पहिलेसे निर्णय नही बनता कि यह चीज खायेंगे, यह न खायेंगे। कुछ भी निर्णय न बनकर सहज वैराग्य होने पर जो मिले, बिना आसक्तिके उसीका उपभोग कर ले, अपनी क्षुधा मिटा ले एक तो यह भाव और अमुकका त्याग, अमुकका त्याग ऐसा त्याग, रखकर भोजनके समयमे कल्पनाएं जगाना, इसका तो त्याग है, यह ठीक है, यह ठीक है, एक यह भाव। तो कभी परपदार्थोंके त्यागका निर्णय न रखकर समयपर जो मिले अनासक्तिपूर्वक उपभोग करके समय निकले उसमे सहज वैराग्यकी गंध रह सकती है और वस्तुवोका त्याग करके फिर विकल्प बनाये तो उस विकल्पसे तो यह साबित है कि त्याग भी कुछ नही रहा और एक विह्वलता और बना ली। तो प्रयोजन यह है कि त्याग करनेका उद्देश्य आत्माके निकट आनेका है। बाह्यपदार्थोंका निर्णयरूपसे त्याग करना असली मायनेमे अगर कोई त्याग करे तो वह आसान नही है। जिसका त्याग करे उसका विकल्प न आ जाय और उसके कारण नाना विकल्प न आ जाये और उसके कारण नाना विकल्प न उठें, इस प्रकारकी तैयारीसे परवस्तुवोका त्याग होना वह त्याग है और यही वास्तवमे सयम है। यो भले ही कोई वृद्ध हो जाय, शरीर शिथिल हो जाय, इन्द्रियाँ भोग नही सकती, किन्तु मनमे कल्पनाएं बनायें और वे ही कल्पनाएँ बनाये और वे ही कल्पनाएँ अहित, माया, दुखके लिए। उन कल्पनाओसे व्याकुल हो तो वह वृद्ध होकर भी तरुण समझना चाहिए। जैसे लोकव्यवहारमे कोई बूढा पुरुष यदि कुछ रागभरा मजाक करता है तो लोग उसे कहते हैं कि देखो इस बूढेको, यह बूढा जवान बन रहा है, यो कहकर लोग उसकी मुखोल करते हैं। तो इसी प्रकार अध्यात्ममे उसकी यह

मुखोल ही है कि दृढ होनेपर फिर विषयोकी अभिलाषा बढाये, हीन आचरण रखे, कोई कामविषयक कल्पनाएँ उठाये तो वह वृद्ध होकर भी तरुण है और जो सत्संगतिमे रहे वह तरुण है फिर भी वृद्ध कहलाता है, सत्पुरुष जैसी प्रतिष्ठा वह प्राप्त करता है।

साक्षाद् वृद्धानुसेवेयं मातेव हितकारिणी।
विनेत्री वागिवाप्ताना दीपिकेवार्थदर्शिनी ॥७७६॥

माताकी भांति हितकारिणी वृद्धानुसेवा—कुछ श्लोकोमे वृद्ध मनुष्योका लक्षण बताया है। उन वृद्ध मनुष्योकी सेवा करना माताके समान हितकारिणी है? जैसे मा बच्चे का हित ही सोचती है। उस बच्चेके प्रति माँ का कितना गहरा प्रेम होता है? वह माँ अपने बालकको देखते ही सारे दु ख भूल जाती है। माँ जैसे बच्चेका हित करती है इसी प्रकार यह वृद्धसेवा भी साक्षात् हितको करने वाली है। माता शब्द है उसमे प्र उपसर्ग लगानेसे प्रमाता शब्द बन गया। प्रमाताका अर्थ है प्रमाण करने वाला, यथार्थ जानने वाला। और वही माताका अर्थ है। माताका दूसरा अर्थ है मापने वाला। जैसे बच्चेके सब भावोको माँ माप लेती है, उसके जरा-जरासे इशारेको देखकर माँ उसके मनकी बातको समझ जाती है और उसही के अनुरूप पुत्रको माँ जवाब भी देती रहती है। तो इस प्रकार जो वृद्ध मनुष्यो की सत्संगति है उसमे इतना अनुभव बढ जाता है कि वह सब स्थितियो को भाँप लेता है और उन सब परिस्थितियोमे जो अनुकूल आचरण होना चाहिए उन आचरणोको करके अपना हित साध लेता है। तो यह वृद्धोकी सेवा साक्षात् माताके समान हित करने वाली है।

जिनवाणीकी भांति विनेत्री दीपकवत् अर्थदर्शिनी वृद्धानुसेवा—जैसे जिनवाणी विनेत्री है, नायक है, सायक है, साक्षात् शिक्षामे ले जाने वाली है इसी प्रकार यह वृद्धसेवा भी साक्षात् शिक्षा देने वाली है। गुणी जनोका सत्संग, ज्ञानी संयमी पुरुषोका सत्संग एकदम महान उल्लासको पैदा कर देता है और विकार भावोको एकदम हटा देता है। बडे-बड़े स्वाध्यायोसे भी जो विकार न हट सके गुणीजनोके अपूर्व सत्सगसे अपूर्व मिलनसे वे विकार अनायास शीघ्र दूर हो जाते है। रामचन्द्रके पूर्वजोमे एक वज्रभानु हुए जिनके सालेका नाम था उदयसुन्दर। वज्रभानु बडा मोही पुरुष था। प्रथम ही बार विवाह होनेके पश्चात् जब साला बहिनके लिवाने आया तो वज्रभानु अपनी स्त्रीके साथ चल पड़ा, लेकिन जगलमे जब जाता है तो एक मुनि महाराजके दर्शन हुए। उनके दर्शनमात्रसे वज्रभानुका ज्ञाननेत्र खुल गया और सारा मोह एकदम दूर हो गया। जो अनेक बार उपदेश भी दिये जाते है और वहुत बार स्वाध्याय भी करते है तो भी जो बात नही बन सकती वह बात दर्शनमात्रसे बन गई। तो वृद्धसेवा साक्षात् शिक्षा देने वाली है, और यह वृद्धसेवा दीपकके समान पदार्थोको

दिखाने वाली है। दीपक बिना रागद्वेषके जो जैसा है तैसा दिखा देता है, चाहे चोर हो चाहे साहूकार, चाहे घर वाला हो, चाहे गैर, सबके लिए एक ही तरहसे यह दीपक पदार्थों को दिखाता है, उसमे रागद्वेषकी उत्पत्ति नही होती, ऐसे ही वह ज्ञान ही प्रशसनीय ज्ञान है जहाँ राग द्वेषकी उत्पत्ति नही होती। सबका सही रूपमे ज्ञान कर लेता है। ऐसी गम्भीरता, ऐसी निष्पक्षतापूर्वक ज्ञानकी प्रवृत्ति होनेकी बात वृद्धसेवामे अनायास प्राप्त होती है। गुणी पुरुषोके सत्सगमे रहकर जो आत्मकल्याणकी दिशा मिलती है, भावना बनती है उस आत्म-कल्याणकी भावना वाले पुरुषके अब बाह्यपदार्थोंमे राग और द्वेष नही रहता है। तो वृद्ध-सेवा माताकी तरह हितकारिणी है और जिनवाणीकी तरह शिक्षा देने वाली है। हितके मार्गमे ले जाने वाली है और दीपकके समान पदार्थोंको दिखाने वाली है। ऐसे वृद्ध पुरुषो की सेवामें यह ब्रह्मचर्यव्रत उसके निर्दोष पलता है। किसी कार्यमे लगे रहे तो विकारभाव हामी नही बनते है और यदि कोई सत्सग, जैसे वृद्धोकी सेवा जैसे पवित्र कार्यमे लगे रहे तो उनके विकार भाव नही जगते और ब्रह्मचर्यकी उनके अपूर्वसाधना होती है।

कदाचिद्दैववैमुख्यान्मातापि विकृतिं भजेत्।
न देशकालयो क्वापि वृद्धसेवा कृता सती ॥७७॥

दुर्लभतम वृद्धसेवाका लाभ लेनेकी प्रेरणा—अनादिकालसे विषयविकारोसे मलिन यह आत्मा अनेक दुर्गतियोमे जन्म लेता है और मरण करता है। यो जन्म मरणके चक्र लगे हुए इस जीवने जो सुयोगसे मनुष्य देह प्राप्त किया वह मनुष्यदेह मिलना अतीव दुर्लभ है। मनुष्य जन्मकी दुर्लभताकी बात प्राय सभी जानते है। इस जीवका आदि निवास जो कि अनादिनिवास है, निगोद रहा, जहाँ ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो शून्य सा कह सकते हैं। केवल एक इन्द्रिय, वह भी नही दिखती है, न उनका शरीर विशाल है, किन्तु नाममात्रका एक इन्द्रियसे ज्ञान हो रहा है, ऐसे निगोद भवसे निकल कर यह जीव अन्य स्थावरोमे जन्म लेता है और फिर कठिनाईसे दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रियमे, यो विकलत्रयमे जन्म लेता है। उत्तरोत्तर कितने दुर्लभ है ये स्थान ? इससे अन्दाज करलें कि यह ज्ञानमय जीव कहाँ तो केवल एक स्पर्शमात्रसे कुछ जानता रहता था अब यह रसना इन्द्रियसे भी ज्ञान करने लगा। दो इन्द्रिय जीवोमे रसना इन्द्रिय भी उत्पन्न हुई, रसका ज्ञान करने लगा तो केवल एक इन्द्रियके भवमे जिस प्रकारका ज्ञानका था उस ज्ञानसे कितना विशाल ज्ञान बन गया कि इस रसका भी ज्ञान होने लगा। फिर घ्राण इन्द्रिय भी मिली तो सुगध दुर्गन्धका भी ज्ञान करने लगा। चक्षुइन्द्रिय मिली तो सब कुछ दिखने लगा। मक्खी, मच्छर, भवरा, ततैया इनको आँखोसे दिखता है। तो कीडा मकोडा की अपेक्षा कितनी श्रेष्ठता इनमे रहती है। इसके बाद बडी दुर्लभतासे यह जीव पंचेन्द्रिय बना। पंचेन्द्रियमे भी असैनी बना तो

वहा भी कौनसा हित प्राप्त किया ? सैनी पचेद्रियमे भी मनुष्य जो उत्कृष्ट मन वाला है। जिसमे विवेककी अधिकता रहती है, जहाँके सयम धारण करके मुक्ति प्राप्त की जा सकती है ऐसे मनुष्यभवमें हम आपने जन्म लिया और मनुष्यभव पाकर भी हितकारी शासन न मिले, विषयकषायोंसे दूर हटनेके लिए बुद्धि प्राप्त न हो तो ऐसे मनुष्यभवसे भी लाभ क्या होता है ? तो ऐसा दुर्लभ जैन शासन भी पाया, अब जो कुछ उन्नतिके लिए हम कदम बढ़ायें। उन सब कर्तव्योमे प्रधान और प्रथय कर्तव्य है वृद्धसेवा। जो ज्ञान, तपश्चरण संयम मे बढे हुए हैं ऐसे सत पुरुषोकी सगति करना, उनकी सेवा उपासना करना वृद्धसेवा है। जो पाप बड़े बडे तपश्चरणसे दूर किए जा सकते है वृद्ध संत पुरुषोंके समागममे उनके दर्शन मात्रसे ऐसा अद्भुत आत्मामे प्रभाव बढता है कि भव भवके सचित विकार भी नष्ट हो जाते है।

वृद्धसेवामें अलाभके सन्देहका अभाव—यह वृद्धसेवा अर्थात् सत पुरुषोकी सगति ज्ञानी विरक्त सतपुरुषोंकी उपासना यह माताके समान हितकारिणी है। कदाचित् भाग्य विमुख हो, उदय प्रतिकूल हो तो माता भी पुत्रका अहित चाहने वाली बन जाय, पर वृद्ध-सेवा सतपुरुषोकी संगति यह कभी अहितमे ले जाने वाली नही होती है। इस जीवका सर्वोत्कृष्ट शरण है आत्माका ध्यान। ध्यान तो सबके लगा है। अब यह ध्यान कहाँ ले जाये, किस ओर लगाये कि आत्माको शान्ति प्राप्त हो ? खूब अनुभव भी किया हो, परिजनोमे, वैभवमे प्रतिष्ठावोमे किन्ही भी परतत्त्वोकी ओर ध्यान लगाया जाय तो वहाँ धोखा ही धोखा मिलता है आत्माको लाभकी बात कुछ नही मिलती। लाभ तो वह है जहाँ सन्तोष हो, तृप्ति हो, निर्विकल्पता हो और आत्मीय विशुद्ध आनन्दका अनुभवन हो। किन्तु, यह बात किसी भी परपदार्थका ध्यान करनेसे प्राप्त नही होती है। एक आत्माका ध्यान ही इस जीवको उत्कृष्ट शरण है। उस आत्मध्यानकी पात्रता कब जगेगी जब योग्यता बने कि मैं निज अन्तस्तत्त्वमे ध्यानमे मग्न हो सकूं, उस पात्रताके लिए कहा जा रहा है कि ध्यानके मुख्य अग तीन हैं —सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ध्यानके बाह्य अंग यद्यपि प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आदिक अनेक है, नियम लेना, व्रत करना, श्वाँस रोकना किसी एक लक्ष्यभूत पिण्डपर, बिन्दुपर दृष्टि जमाना, यो अनेक साधन किए जाते है पर शुद्ध साधन जिस बिना आत्मध्यान नही बन सकता है वह है सम्यक्त्व, ज्ञान और सम्यक्चारित्र। तो सम्यक्चारित्रके प्रकरणमे ब्रह्मचर्य महाव्रतकी बात चल रही थी कि इस जीवको हितकारी एक परमब्रह्मचर्य तपश्चरण है। मान लो सब कुछ संयम तप नियम भी किए जाये एक ब्रह्मचर्य न सधे, न बने तो उनकी क्या कीमत होती है ? इसको अस्थिरतासे जान सकते हैं। जिनके ब्रह्मचर्य न हो, चित्तकी शिथिलता होती है और उसमे चारित्रका पालन

नही बनता तो ब्रह्मचर्य व्रतकी इस जीवके उद्धारके लिए बहुत बडी प्रमुखता है। ब्रह्मचर्य व्रत उनके भली प्रकार निभता है जिनमे वृद्धसेवाकी रुचि है। जैसे आयुर्वेदमे कहते है कि आवला माताके समान अनुग्रह करने वाली चीज है। रोगमे खाये, बिना रोगमे खाये सदैव स्वास्थ्यमे सहायता देने वाला है। कदाचित् ये औषधिया स्वास्थ्यके प्रतिकूल बन जायें पर यह आवला स्वास्थ्यके प्रतिकूल नही बनता, यो ही लोकमे माता और पुत्रके विषयमे कहते है कि कदाचित माता भी पुत्रसे विमुख हो जाय, पुत्रका हित माता न चाहे, माता भी पुत्र की अहितकारिणी बन जाय किन्तु सत्संगति, वृद्धसेवा ये कभी अहितकारिणी नही बन सकते है। तिर्यंचोमे देखा जाता है कि सर्पिणी अपने बच्चेका भक्षण कर लेती है, कुत्ती भी विशेष क्षुधा होने पर अपने बच्चेका भक्षण कर लेती है, मनुष्योमे भी सब स्वार्थके नाते है. स्वार्थके विपरीत जब डोर अधिक खिंच जाती है तो कहाँ माता और पुत्रका भी नाता टूट जाता है, लेकिन सत्सगति कभी भी धोखा नही दे सकती है।

वृद्धसेवाके धाम—सत्सगतिका सबसे बडा रूप है समवशरण। जहाँ भूमिपर पग रहते ही मनुष्यके विषय कषाय दूर हो जाते है। कोई कितना ही अभिमानमे हो लेकिन उस भूमि पर पग धरते ही मानस्तम्भके निरखते ही अभिमान चूर हो जाता है। जहाँ अनेक देव देवियां मनुष्य बडे बलवान जीव अपनी पूर्ण कलासे सगीत गायन आदिसे भक्ति प्रदर्शित करते है, वहा जो कलावान मनुष्य पहुचते हैं उन सबकी यह इच्छा रहती है कि मैं उत्कृष्ट कलाका प्रदर्शन करके अपनी भक्तिभाव बढाऊ। उससे अधिक कला दिखानेका कहाँ चाव होता होगा। ऐसे स्थानपर समवशरणमे जहा प्रभु साक्षात् विराजमान होते हैं, उनकी सगति होती है, उनकी उपासना होती है, यह तत्काल ही इस जीव पर बडा प्रभाव डालती है और फिर उसके बाद मध्यम सग मुनिजनोका है, फिर अपने ही गाँवमे जो भी ज्ञानी पुरुष है जो संसार, शरीर, भोगो से विरक्त हैं जिनमे आत्मकल्याणकी रुचि जगी है ऐसे मनुष्यो की सगतिमे बैठें तो वहा भी औसतन बहुत प्रकारके विकार दूर हो जाते है। तो यह वृद्ध-सेवा किसी देशमे किसी कालमे भी की जाय तो वह अहित नही कर सकती है। मनुष्यका जबसे भी उद्धार प्रारम्भ होता है तब उसका आरम्भ सत्सगसे होता है। जिनका भी आज तक उद्धार हुआ है, जो अपनी समाज और देशके नायक बने है, जिन्होने सत्पथ दिखाया है उनका उद्धार किसी न किसी महापुरुषके सत्सगसे प्रारम्भ होता है और फिर सत्सगके प्रतापसे उद्धार बढ़ता जाता है और पूर्ण योग्यता आ जाती है। प्रयोजन यह है कि हम सबको यह निर्णय रखना चाहिए कि हमारे उत्थानमे सहायक प्रधानतया सत्सग है। हम कभी मोही, मलिन, निन्दक, अवगुणी पुरुषोकी सगतिमे न रहे। यह सत्सग किसी जीवको अहितके लिए तो प्रेरणा करता ही नही। और, प्रेरणा मिलती है आत्महितकी। अतएव

वृद्ध पुरुषोंकी सेवा अर्थात् ज्ञानी पुरुषोका सत्सग हम लोगोको अवश्य करना चाहिए।

'अन्ध एव वराकोऽसौ न सता यस्य भारती।
श्रुतिरन्ध्रं समासाद्य प्रस्फुरत्यधिकं हृदि ॥७७८॥

सत्सङ्गमें सद्वाणीश्रवणसे हृदयनेत्रके नैर्मल्यका अवसर—वे पुरुष अंध है जिनके कानोमे सन्त पुरुषोकी पवित्र वाणी प्राप्त नही होती और हृदयमें एक ज्ञानप्रकाश प्रकट नही होता। राग भरी बाते सुननेको बहुत मिलें और उनमे रुचि करें, बडे धीरेसे बोली हुई बात भी खूब ध्यानसे सुन ले तब वे वास्तवमे श्रोता सही नही है। जो पुरुष भगवत्वाणी ज्ञानमयी चर्चा जो आत्माको आत्माके निकट ले जानेमे प्रेरक हो वह चर्चा न सुनें, उससे रुचि न जगे तो वे पुरुष बहिरे ही है। और, ऐसे बहिरे पुरुष लाखो भी साथ रहे तो रहे आयें, भले ही लोकव्यवहारकी बात अधिक सुन लेवे, किन्तु जो हितकी बात है उसके सुनने मे तो सभी बहिरे है और दूसरेके अन्त की सही बातको कोई सुनने वाले नही है। दूसरेके स्वरूपकी बात कानोसे नही सुनी जाती, वह भी ज्ञानकर्णसे सुनी जाती है। एक विवेकसे, भेदविज्ञानसे दूसरेके स्वरूपकी चर्चा समझमे आती है, तो वही पुरष वास्तवमे सुनने वाले है जो सत्पुरुषोकी वाणी और वस्तुके स्वरूपकी चर्चा सुननेमे रुचि रखते है और वे ही पुरुष वास्तवमे सूझता है जिनमे अपने आपके ज्ञानस्वरूपका शुद्ध प्रकाश जगा हुआ है, ये सब बाते प्रकट होती है वृद्ध पुरुषोकी सेवासे। सत्पुरुषोकी वाणी मनुष्योके हृदननेयको खोल देती हैं। अन्य पुरुषोकी वाणी जैसे घरमे पुत्र स्त्री वगैरहकी, दूकानमे ग्राहकोकी वाणी अथवा अन्य व्यापारियोकी वाणी आपके हृदयनेत्रको खोलती है या पर्यायबुद्धि पोजीशन आदिक खोटी भावनाओको प्रकट करती है? अनुभव कर लीजिए। जिन पुरुषोने सत्सगमे अपनी रुचि बढाया है, सत पुरुषोके गुणोपर दृष्टि दी है वे पुरुष उन्ही गुणोकी वृद्धिको प्राप्त होते हैं। वृद्धोकी सेवामे स्वय भी वृद्ध हो जाते है। वृद्धके मायने बूढा नही किन्तु वर्द्धमान। जो अपने गुणोमे वढने वाले है उनकी संगतिसे सगति करने वाले पुरुष भी वर्द्धमान बन जाते है अर्थात् अपने गुणोमे बढे चढे हो जाते है। तो सूझते तब कहला सकते जब हम अपने आपके स्वरूपका प्रकाश भी पाते रहें।

मोहान्धता मिटाकर सत्यद्रष्टा होनेमें कल्याण—देखिये—सूझतेमे होता क्या है? अहितसे बचना और हितमे लगना। नेत्रोसे जो कुछ हम देखते हैं उस देखनेका प्रयोजन क्या है? हितमे लगें अहितसे बचे। जैसे कोई पुरुष आँखोसे देखते हुए भी कुवेमे गिर पडे तो उसे लोग यह कहते है कि तू क्या अध हो गया था? क्या अंध हो रहा है? अर्थात् जो अहितमे लगे उसे लोग अध कहा करते है। तो सूझने वाले पुरुष वही है जो अहितसे दूर होते हैं और हितमे लगते है। यह बात सम्भव है अपने आत्मामे स्वरूपका शुद्ध प्रकाश

पानेसे। अब तक यह जीव मोहमे अध रहकर अपने स्वरूपका विचार न करके अनेक विषयोमे लगा रहा, परन्तु सुख रच भी नही प्राप्त कर सका। तृष्णा ही वढाया, कहाँ सुख मिला ? जब यह दृष्टि बने कि मैं स्वय सुखस्वरूप हू और मुझे सुख पानेके लिए अन्यत्र कही कुछ काम नही करना है, लो यहाँ बैठे हुए ही यह स्वय ही सुखमय है। आत्मामे दु खका स्वभाव ही कहाँ है ? आत्मा स्वय ज्ञानानन्दस्वरूप है, यह बात जब प्रतीतिमे जगे और इस प्रतीतिके कारण बाह्यपदार्थोमे कुछ करनेकी बुद्धि न बने, दुर्बुद्धि न बने, तो इसे सुख प्राप्त हो सकता है लेकिन मोहवश मृगमारीचकी तरह विषयोमे सुखकी कल्पना किए हुए है। ये जगतमे जो प्राणी दिखते है इन प्राणियोको देखकर यह भी सही है अपने आपको देखकर मैं भी सही हूँ ऐसी जब मिथ्या प्रतीति करता है तो जन्म मरणके चक्रमे रहने वाला, विपदामे पडा हुआ, लोकमे यह अपनी पोजीशन बनानेकी चाह रखता है, ये लोग मुझे कुछ समझ जाये। अरे ये लोग भी मायारूप है और जिसे कहता है कि मुझे समझ जाये वह भी मायारूप है। परमार्थका परमार्थसे कोई नाता सम्बन्ध नही लगाया जा रहा है किन्तु माया की मायासे ही पहिचान हो रही है। मेरे पहिचानने वाला दूसरा है कौन ? यह सभीकी बात कह रहे है। अपने आपको ऐसा विचार करे कि मेरे पहिचानने वाला इस जगतमे दूसरा है कौन ? यदि कोई मुझे पहिचान जाय तो उसकी भली बुरी दृष्टि ही नही हो सकती। उसके लिए फिर मैं व्यक्ति ही नही रहा, उसके लिए तो मैं एक ब्रह्म हो गया। ज्ञानब्रह्मसे व्यवहार क्या ? और, जो मेरे साथ व्यवहार करता, रागद्वेष करता, वचनालाप करता, परिणति करता ऐसी स्थितिमे पडा हुआ पुरुष मुझे पहिचान नही रहा है तो मेरा जब यहाँ कोई पहिचाननहार भी नही है तो फिर उसका नाता कहाँ है ? यहाँ तो मायाकी मायासे पहिचान हो रही है। जिस समागमको जिस वैभवको देख-देखकर हम रीझ जाते हैं, जिस देहको देख देखकर हम आसक्त हुआ करते है यह क्या चीज है ? इसका कुछ अस्तित्व भी है क्या ? यह कितनी देरके लिए है, यह कोई सारभूत भी है क्या ? यह तो पानीके बबूलेकी तरह है। ये सारे जगतके समागम अत्यन्त असार है। जब तक जीवन है, जब तक मोहकी दृष्टि लगी है, जब तक मोहकी नीद आ रही है तब तक ये मोहके स्वप्ने सब सही मालूम हो रहे है। पर सही है कुछ नही। सब असार है। सार तो तब माना जाय जब वहाँ सन्तोष हो और आनन्दकी झलक हो। लौकिक वैभवकी प्राप्तिसे किसीको सन्तोष हो सकता है क्या ?

परिग्रहका परिमाण अथवा त्याग किये बिना सन्तोषका अलाभ—यहाँ सन्तोष हो सकता है सच्चे श्रावकको। जिसने परिग्रहका अन्तरङ्गसे परिमाण कर लिया है। परिग्रह परिमाणसे उसका हृदय विभूतिके प्रति कभी मलिन नही होता और किसीकी बडी विभूति

को निरखकर उसके आश्चर्य नहीं होता। उस सच्चे श्रावकके पास जो भी वैभव है उसीको आवश्यकतासे अधिक समझकर सन्तोष कर लेता है। जिस मनुष्यने परिग्रहका परिमाण नही किया, उसके तो वैभवके प्रति ऐसी तृष्णा लग जाती है कि वह उस वैभवके पीछे विह्वल रहता है, सुखसे वह नही रह सकता। जिस अज्ञानी मनुष्यके तृष्णा घर कर गयी है वह निरन्तर बेचैन बना रहा करता है। अगर वैभव कुछ पासमे है तो चोर, डाकू बदमास, रिस्तेदार, सरकार सभी सताते हैं। जिसके पास पर्याप्तमात्रामे वैभव है फिर भी उस वैभवके प्रति तृष्णा जगी है तो वह वैभव तो उसके लिए दुःखका कारण है, क्योंकि उस वैभवके कारण और भी वैभव पानेकी आशा लगी है। अरे भाई जैनशासनमे यह बताया है कि आत्माका धन तो ज्ञान और आनन्द है। उसकी वृद्धिका प्रयत्न करे। यहाँके ये लौकिक वैभव तो आज है कहो कल न रहे और जब तक है तब तक भी अत्यन्त जुदे हैं, उनसे न कुछ सुखकी किरण आती है, न ज्ञानकी किरण आती है। यह आत्मा खुद पर-पदार्थोंको विषय बनाकर अपने आपमे कल्पनाएँ गढता है और कल्पनाओसे अपनेको सुखी मानता है। अरे ज्ञानानन्द स्वरूपको निरखे और इसकी दृष्टिका ही अधिकाधिक यत्न करे, यह जैनशासनका एक सुगम सीधा उपदेश है। रही गुजारेकी बात। धर्म दो प्रकारके होते है गृहस्थधर्म और साधुधर्म। साधु धर्ममे तो चूँकि साधु अनासक्त है, अतएव भिक्षावृत्तिका उपदेश किया है ताकि वे निश्चिन्त होकर आत्मध्यानके पात्र रह सकें। और, गृहस्थोको उपदेश दिया गया है कि तुम पुरुषार्थ करो आजीविका चलानेका, किन्तु साधारणरूपसे पुरुषार्थ करो। भाग्यवश जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसमे ही गुजारा कर सकनेका साहस बनाये। आजीविका, धर्मपालन, दान, परोपकार आदिकके विभाग बनाकर उसीमे गुजारा चलाये। अपना दृढ सकल्प रखे धर्मपालनका।

दृष्टिकी समीचीनतामें ही वास्तविक अमीरी—देखिये कोई मनुष्य गृहस्थ ही हो और धनसे उसकी कोई अच्छी स्थिति न हो और ज्ञान ध्यानमे चित्त अधिक लगता हो, सत्पुरुषोने क्या-क्या उपदेश दिया है उन सब उपदेशोमे, उन सबके ज्ञानमे जिनकी अधिक रुचि बढी हुई हो, जो अपनेको वृद्ध करके सन्तुष्ट रहा करते है उनका जीवन कहाँ दुःखी है ? उनका जीवन तो प्रसन्न है। न हो कुछ भी धन वैभव तो न सही लेकिन ऋषि सतो द्वारा अपने जीवन भरके उग्र साधना द्वारा किए गये अनुभव जो लिखे गए है उनका जिन्होने परिज्ञान किया हो वे तो स्वय सन्तुष्ट है, अमीर है। सच पूछो तो जिनकी दृष्टि सम्यक् बन गयी है, इस आत्मतत्त्वकी ओर जिनकी रुचि जगी है वे ही पुरुष अमीर है और जिनकी दृष्टि बाह्यपदार्थोंकी ओर लगी हो वे पुरुष गरीब है। एक कथानक है कि किसी फकीरको एक पैसा कही पडा हुआ मिल गया। सोचा कि इसे ऐसे व्यक्तिको दूंगा जो दुनियामे सबसे

गरीब हो। उसने सबसे गरीब व्यक्ति ढूंढा पर कोई न मिला। देखा कि एक राजा हाथी पर बैठा हुआ किसी राजापर चढाई करने जा रहा है, सोचा कि यह है सबसे गरीब, सो उसके ऊपर वह पैसा फेंक दिया। राजा कहता है कि तुमने यह पैसा मुझे क्यो दिया ? फकीर बोला--राजन् यह पैसा मुझे पडा हुआ मिला था, मैंने सोचा था कि यह पैसा मैं ऐसे व्यक्तिको दूंगा जो दुनियामे सबसे गरीब हो। सो दुनियामे सबसे गरीब मुझे आप ही दिखे। राजा बोला--मैं गरीब कैसे ? तो फकीरने कहा--अगर आप गरीब न होते तो दूसरेका धन हडपनेके लिए क्यो जाते। राजाको बोध हुआ और वहीसे लौट गया। तो जो इच्छा-रहित मनुष्य है वही सुखी है। दुनिया चाहे मुझे कुछ भी कहे पर मेरा भवतव्य दुनियाके आधीन तो नही है। मेरा भवतव्य तो मेरे ही ज्ञानके आधीन है। सो अपने आपके ज्ञानमे रहकर प्रसन्न रहा करे इससे ही इस दुर्लभ मानवजीवनकी सफलता है।

सत्ससर्गसुधास्यन्दै पु सा हृदि पवित्रिते।
ज्ञानलक्ष्मी पद धत्ते विवेकमुदिता सती ॥७७६॥

सत्सङ्गसुधापूत हृदयमें ज्ञानलक्ष्मीका वास—सत्पुरुषोके ससर्गरूपी अमृतके झरनेसे जब मनुष्योका हृदय पवित्र हो जाता है तो उस हृदयमे उस मनुष्यमे विवेकसे मुदित हुई यह सम्यग्ज्ञान लक्ष्मी अपना निवास करती है। ज्ञानका स्वच्छ बना रहना यही है सबसे अपूर्व लौकिक सम्पत्ति। बाह्यमे जड पौद्गलिक पिण्डोका कितना भी ढेर लग जाय अथवा जहाँ ढेर लगा है वहाँ निकट यह स्वय पहुच जाय तो इतने सम्बन्ध मात्रसे निकटवर्ती होने से आत्माको शान्ति कहाँसे प्राप्त होती है ? शान्ति तो सम्यग्ज्ञानके साथ अविनाभाव रखती है, सम्यग्ज्ञान हो तो शान्ति मिलती है यह बात पूर्ण निश्चित है, अतएव जो शान्तिके अभिलाषी है उन्हे अपना हृदय बदल लेना चाहिए। पूर्व समयसे चला आया हुआ मिथ्या निर्णय बदल देना चाहिए। अपने आपमे शान्ति अपनी ही स्वच्छताके कारण प्रकट होगी, अन्य पदार्थोसे शान्ति प्राप्त नही होती। लोग लक्ष्मी श्रीविभूति आदि नाम कह कर धन दौलतकी लक्ष्मीकी उपासना करते है, किन्तु यह मालूम होना चाहिए कि जिन शब्दोको बोलकर हम लक्ष्मी की उपासना करना चाहते हैं वे समस्त शब्द आत्माके ज्ञानस्वभावके पर्यायवाची नाम है। जैसे श्री शब्द है। श्री का अर्थ है जो तादात्म्यरूपसे आश्रय करे वह है ज्ञानस्वभाव। मेरेमे मेरे अभेदरूपसे आश्रय करने वाला भाव कौन है ? ज्ञानभाव। तो ज्ञानका ही नाम श्री है। इसको दूसरे शब्दोमे लक्ष्मी कहते है। लक्ष्मीका अर्थ क्या है ? जो लक्षणका अर्थ है वही लक्ष्मीका अर्थ है। जो लक्षण हो उसका नाम है लक्ष्मी। चाहे लक्षण कहो, चाहे लक्ष्मी कहो, चाहे लक्ष्म कहो, सब एक शब्द हैं। तो मेरा जो लक्षण हो वही मेरी लक्ष्मी है। मेरा लक्षण है ज्ञानभाव, चैतन्य स्वभाव, उसका नाम लक्ष्मी है।

नाना उपासनाओं में ज्ञानलक्ष्मीकी उपासनाका संकेत—लोग लक्ष्मी कहकर किसी और की उपासना करते है। लेकिन शब्द लक्ष्मी एक ज्ञानका पर्यायवाची है। लोग विभूति शब्द कहकर लक्ष्मी धन दौलतकी तारीफ किया करते है पर विभूति शब्दका क्या अर्थ है ? विशेष रूपसे जो हो उसका नाम विभूति है। मुझमे विशेष रूपसे होने योग्य बात कौन है, जो सदैव रहे, जो अपने गाँठकी बात हो ? जो सहज अपने स्वरूपकी बात हो, परकृत न हो, औपाधिक न हो, ऐसी कौनसी विभूति है ? वह है ज्ञानपरिणति। तो सब एक इस ज्ञानके ही नाम है जिस नामको लेकर लोग जड पौद्गलिक पदार्थोंकी उपासना किया करते है और इतना ही नही किन्तु जिन देवी देवताओके नाम लेकर हम किसी और प्रकारके जीवोकी उपासना करते है उन देवी देवताओके नाम भी यहाँ बतलाते है कि ज्ञानानुभूतिके नाम है। देवीको प्रणाम हो। वह देवी कौन है ? ज्ञानानुभूति। अपने ही ज्ञानका अनुभव बने, स्वय ज्ञान ज्ञानको जाने ऐसी जो स्थिति है उसका नाम देवी है। कितने ही नाम लेते जाइये दुर्गा, चण्डी, मुण्डी काली, चन्द्रघटा, सरस्वती आदि ये सब ज्ञाननुभूतिके नाम हैं। दुर्गाका अर्थ है—दुखेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा—जो बडी कठिनाईसे प्राप्त हो, जो दुर्लभतासे जानी जाय उसका नाम दुर्गा है। वह दुर्गा कौन है, जो बडी कठिनाईसे प्राप्त होती है ? वह है अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी अनुभूति। कितनी खुदके अन्तरङ्गमे निकटकी बात है और इन जड पौद्गलिक विषयोमे मुग्ध होकर इतनी कठिन बात बन गई है। चण्डी नाम किसका है—जो रागादिक शत्रुवोका खण्डन कर दे उसका नाम चण्डी, कलयति प्रेरयति स्वहिते इति काली—जो हितकी कल्याणकी प्रेरणा करे उसका नाम है काली। चन्द्रघंटा—जो अमृतझराने मे चन्द्रसे ईर्ष्या रखती हो उसका नाम है चन्द्रघटा। तो कितने ही नाम लेते जाइये—ये सब इस आत्मानुभूतिके पर्यायवाची शब्द है। सरस्वती—जिसका बहुत वडा फैलाव हो उसका नाम है सरस्वती। दृष्टि विशुद्ध करके निरखो तो कि सबसे बडा फैलाव किसका होता है ? सबसे वडा फैलाव है ज्ञानका। तो इस ज्ञानके अनुभवका नाम है सरस्वती।

ज्ञानकी सूक्ष्मता और व्यापकता—यह ज्ञान अति सूक्ष्म है अतएव ज्ञानमय होकर भी आत्माके द्वारा यह ज्ञान जाना नही जा रहा है। सबसे अधिक सूक्ष्म है अतएव यह सबसे अधिक व्यापक है। जो चीज जितनी अधिक पतली हो वह उतनी ही अधिक व्यापक होती है। जैसे मान लो कि यह पृथ्वी एक वहुत मोटी वस्तु है, और इस पृथ्वीके मुकाबलेमे जल पतला है, इस बातको हर एक कोई जानता है। आजकलके वैज्ञानिक भौगोलिक लोग भी यही कहते है कि समुद्रका घेर ज्यादा है पृथ्वीका घेर कम है। लेकिन सिद्धान्त भी यही बता रहा है कि जम्बूद्वीप. खण्ड समस्त द्वीपका जितना विस्तार है उससे कई गुना अधिक विस्तार जल क्षेत्रका है। प्रथम तो जम्बूद्वीपके आगे दूना समुद्र है, फिर असख्याते द्वीप समुद्र

जितना विस्तार रखते है उससे भी कुछ अधिक विस्तार स्वयभूरमण समुद्रका है। तब जल ज्यादा हुआ ना ? पृथ्वीसे जल पतला है इसलिए जलका व्याप्य क्षेत्र अधिक हो गया, और, जलसे पतली है हवा तो जलसे अधिक क्षेत्रमे हवा है। आजकल भौगोलिक विज्ञानी भी इस बातको कहेगे और सिद्धान्त भी कहता है कि जहाँ पृथ्वी नही, जहाँ जल नही वहाँ भी हवा है। तो हवा व्यापक है। और, ये सब चीजें जल भी, पृथ्वी भी इन सबका जो समूह है उसका नाम है लोक। उससे आगे भी आकाश है। तो आकाश हवासे भी पतला है ना, तो वह इन सबसे अधिक व्यापक है, किन्तु एक बात और जानो कि इस आकाशसे भी व्यापक यह ज्ञान है जिस ज्ञानने पृथ्वीको जाना, जलको जाना, लोकालोकके समस्त आकाशको जाना और फिर भी उस ज्ञानमे ऐसा स्वभाव है कि ऐसे-ऐसे अनेक लोक अलोक हो तो उन सबको भी यह ज्ञान जान लेता है। तो सबसे महान फैलाव है ज्ञानका। और, अधिक फैलाव वाली देवीका नाम है सरस्वती। अपने ही आत्मामे जो ज्ञानानुभूति होती है, संकल्प विकार हट-कर जो अन्तरङ्गमे एक शुद्ध ज्ञानमात्र ज्ञानज्योतिका अनुभव होता है उस स्थितिका नाम है सरस्वती। जरा शब्दका मर्म तो पहिचानो।

ज्ञानलक्ष्मीके अनेक परिस्थितियोंमें व्यक्त अनेक रूप—ऐसा भी लोग कहते है कि वह एक ही देवी है तभी तो सरस्वतीका रूप रखती है और कभी प्रचण्ड क्रोधमय एक कालीका रूप रखती है, जैसे प्रसिद्ध भी है यह बात कि कभी तो अनेक नरमुण्डोकी माला पहिने खप्पर हाथमे लिए भुजावोमे हथियार लटकाये हुए उसका स्वरूप माना है तो कभी किसी पर्वमे किसी दिनोमे शान्तमुद्रामे हंस भी पास बैठा है, बडे बडे ऋषिजन जिसकी उपासना कर रहे हैं, ऐसी मुद्रामे उस सरस्वती देवीका स्वरूप माना है। तो वह सरस्वती कोई एक हो और समय-समयपर विलक्षण विभिन्न विपरीत नानारूप रखा करे ऐसा कौन है ? वह है यह खुदकी अनुभूति। यह अनुभूति जब मोहमे विकारमे बढ जाती है तो बडा प्रचण्ड क्रोधरूप अपना रख लेती है। सारे विश्वका विनाश करे ऐसी फैली हुई अनुभूति होती है और यह अनुभूति जब कषायें मद होती है, ज्ञानविकास बनता है तो शान्तमुद्रामे परके विकल्प दूर करके एक निज तत्त्वका ग्रहण करता रहता है। ऐसी ही होती है सरस्वतीकी मुद्रा। सब कुछ अपने अन्दरमे निरखिये। सबका अर्थ अपने अन्दरमे घटाते जाइये यह तो होगी कामकी बात और बाहर बाहर ही हम सब पदार्थोंको निरखनेका यत्न करें तो यह होगी उलझनकी बात। भगवान तक भी अपने आत्मामे प्रयोग करे तो अपने शुद्ध स्वरूपको देखेंगे। वे भी बाहरमे कही नही देखते। कल्पनासे कुछ भी देख लेवे, जिसको जिस बातकी धुन लगी है उसको वह मुद्रा आकाशमे भी दिख जाती है। जैसे किसी गृहस्थ को किसी भाईसे अत्यन्त अधिक मोह हो और वह गुजर जाय, जल गया, अब कुछ नही

रहा, लेकिन उसकी धुन उसके प्रति ऐसी लगी है कि उसे जब चाहे तब ही उसकी सकल कल्पनामे दिख जाती है। ऐसे ही भगवानके बारेमे बाहरमे उस रूप हम कल्पनाए बनाते हैं तो वह धुन बन जानेसे हमे यो लगता है कि आज तो भगवानने हमे छत पर दर्शन दिया। अरे भगवानके दर्शन किसी बाहरी जगहमें न होगे और कदाचित् साक्षात् भगवान भी सामने हों जैसे समवशरणमें प्रभु बिराज रहे है वहाँ पर भी भगवानके दर्शन इन चमडे की आँखोसे न हो जायेगे। वहा भी ज्ञानसे ही उस अनन्त चतुष्टयात्मक चैतन्यस्वरूपके दर्शन होते है।

सत्संगके फलमें ज्ञानप्रकाशका अनुपम लाभ—यह ज्ञानप्रकाश सत्पुरुषोके संगका ही फल है। कुछ जब स्वाध्याय करते है, सत्पुरुषोंकी वाणी मनमे समझते है वहाँ भी सच समझिये कि उत्तम सत्संग किया जा रहा है। तो सज्जन पुरुषोके संसर्गरूपी अमृतके झरनेसे जब पुरुषोका हृदय पवित्र होता है तब उस हृदयमे यह ज्ञानलक्ष्मी निवास करती है। शरण हम आप सबका यह सम्यग्ज्ञान ही है, खूब निरख लो, परख लो, किसी भी स्थितिमे जब भी आप सुखी होते है तो ज्ञानका प्रसाद मिलता है स्वयंका, उस प्रसादसे सुखी होते है। उस ज्ञानलाभके लिए जितना सुगम सीधा उपाय एक सत्संगतिका है उतना सीधा सरल उपाय अन्य कुछ न मिलेगा। ऐसा जानकर हम आपको वृद्धसेवाके लिए उत्साह बनाना चाहिए। बडोकी सेवा करे। जो तप, व्रत, ज्ञान, संयम, नियम, उदारता इन समस्त गुणोमे बढे हो ऐसे महान पुरुषोके सत्संगसे स्वय बहुतसे विकार दूर होते हैं। बहुतसी भूलें नष्ट होती है। अपने कर्तव्यका भान जल्दी हो जाता है, तो अपने कल्याणके लिए सत्सग करने का हमारा ध्यान निर्णीत बना रहना चाहिए।

वृद्धोपदेशधर्मांशु प्राप्य चित्ते कुशेशयम्।
न प्राबोधि कथ तत्र संयमश्री स्थितिं दधे ॥७८०॥

वृद्धोपदेशकिरणसेवित हृदयमें संयमश्रीका निवास—मनुष्योका चित्तरूपी कमल यदि वृद्ध पुरुषोके उपदेशरूपी सूर्यके निकट हो जाये, उसे प्राप्त कर ले तो उसमे संयमरूपी लक्ष्मी क्यो न निवास करेगी? जैसे कमल दिनमे प्रफुल्लित हो जाते है, सूर्यकी किरणोका ससर्ग पाकर कमल शोभाको प्राप्त होता है इसी प्रकार मनुष्योंका चित्त भी यदि वृद्धजनो का उपदेश प्राप्त करले तो उनका चित्त भी विकसित हो जाता है। ज्ञानका विकास है सयम। तो संयमरूपी लक्ष्मीका वहाँ निवास हो जाता है। जब चित्तमे संतजनोके वचन रहते है तब ही संयम दृढ रह सकता है अन्यथा यह जीव स्वभावत कुछ विषयकषायोकी ओर झुका ही रहता है, पतनकी ओर ही इसका चित्त चलता है। सत्पुरुषोका संग रहे, उनकी वाणी सुननेको मिलती रहे तो यह चित्तरूपी हस्ती स्वच्छन्दतासे निवृत्त हो जाता है,

फिर श्रोता ध्याता इस चित्तको वश कर ले और उसमे विवेकका साम्राज्य बन जाता है, सत्संगतिकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है। यह बहुत ही सौभाग्यकी बात होती है जब संसार, शरीर भोगोसे विरक्त ज्ञानब्रह्ममे मग्न होनेके उत्सुक जो ससारसे निकट कालमे मुक्त हो जायेंगे, कुछ ही भव पाकर मुक्त हो जायेंगे ऐसे ज्ञानपुञ्ज महान आत्मावोका ससर्ग कितना महत्त्व रखता है, उस महत्त्वका वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसीमे नही है। जो भी तिरे है वे किसी न किसी सत पुरुषका उपदेश पाकर तिरे है। किसीको चाहे पूर्वभवमे उपदेश मिला हो उसका ही सस्कार पाकर इस भवमे बिना उपदेश पाये भी तिर जाय। लेकिन देशनालब्धि तो सबको हुई है। तो उपदेश, सन्तपुरुषोकी वाणी समागम ये भव-भवके पाप कलकोको भी दूर कर देते है। इसकी एक धुनि होनी चाहिए।

आत्मरक्षाके पौरुषकी महनीयना—भैया! आत्मरक्षासे बढकर और पुरुषार्थ क्या हो सकता है? हम अन्य पदार्थोंकी रक्षाकी तो धुन बनाये और आपपर करुणा करे तो क्या यह कोई विवेककी बात है? जिस प्रकार जिस कल्याणवाञ्छाकी दृष्टिसे कल्याण प्राप्त करनेकी भावनासे संतपुरुषोके उपदेश सुने जाना चाहिए। ग्रन्थोमे निबद्ध संतपुरुषोकी वाणी हमे अपने हितकी भावनासे सुनना तथा पढना चाहिए। हम अपने अन्दरके रास्तेको खोल तो दें उस वाणीको अपने अन्दर प्रवेश करनेके लिए। ये क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा आदिके पत्थर जो अटक रखते हैं उन पत्थरोको हटाकर रास्ता साफ तो कर लें। लोकमे तो जो किसीको विषयकषायोमे लगा दे उसे मित्र कहते है, पर मित्र वास्तवमे वह है जो विषयकषायोसे दूर करे। जैसे माता अपने बच्चेका मुँह फाडकर भी रोगनाशक औषधि देती है ऐसे ही कदाचित् कुछ बात कष्टकर भी मालूम पडे पर विषयकषायोसे हटाने वाले उपदेश ज्ञानी सन्तपुरुषोके होते हैं। वे सन्तजन ही हैं अपने सही मित्र। जो विपदासे बचाये उसे मित्र कहते है। ये सासारिक समागम तो सभी विपदारूप है, सबके पास सब कुछ है अपने खाने पीनेके लायक, आरामके साधन भी हैं, लेकिन कौन ऐसा मानता है कि जो कुछ भी मुझे मिला है वह जरूरतसे कई गुना अधिक है? इतनेकी जरूरत न थी लेकिन मिल गया है ऐसा कौन अपनेको मानता है? सबके पास जरूरतसे ज्यादा वैभव मिला है इसका निर्णय करना हो तो बडे शान्त हृदयसे निरख लीजिए। जिनके पास आपसे ८वाँ हिस्सा वैभव कम है उनका भी गुजारा होता है कि नही? और कहो वे आपसे भी अधिक स्वस्थ हो, कहो आपसे भी अधिक निद्रा उन्हे आती हो। तो उनका कैसे गुजारा चल रहा है? और, और तरहसे भी इसका निर्णय कर लो। तो जिसे जो कुछ मिला है समझ लो जरूरत से ज्यादा है। ऐसा क्यो समझ ले? इसलिए कि इस तृष्णा डाइनसे अपना पिण्ड छुडा सकें, और अपना जो मुख्य लक्ष्य धर्मपालनका है, कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेका है उसमे

लग सके। मेरा केवल मेरे आत्मासे ही प्रयोजन है। जो भी पदार्थ है उनका स्वभाव है कि वे सदैव परिणमते रहते हैं। हमारा तो परिणमन करना काम है सो कर रहे है। हमारे परिणमनके लिए किसी अन्य पदार्थकी जरूरत नही है, बल्कि अन्य पदार्थोकी अपेक्षा न रहे, उनका सम्बन्ध न रहे तो हमारी परिणति ऐसी बनेगी कि जिस परिणतिको ही लक्ष्य करके सभी मनुष्य पूजते हैं।

सकल जीवोंमें अन्तःप्रकाशमान सहज परमात्मतत्त्वकी उपलब्धिके निमित्तभूत वृद्धसेवाकी उपास्यता—जिसमे देव माना है जिस किसी भी मजहब वालोने उन सबकी मूलमे आदिमे सर्वप्रथम वह बात थी कि जो निरपेक्ष है, अपने स्वरूपमात्र है, जिसका विलास अत्यन्त विकसित हुआ है ऐसा कोई भगवान, लेकिन जब भगवानके स्वरूपका परिचय नही रहा तो किसीने कुछ बताया, किसीने कुछ। तो जब बहुत दिन गुजर जाते है एक परिचय बिना तो बात होती है कुछ और फैल जाती है कुछ। यही बात प्रभुस्वरूपके बारेमे हो गयी है, अपरिचयका बहुतसा काल व्यतीत हो गया तो धीरे-धीरे कुछसे कुछ होते होते आज बडी विभिन्नरूपता आ गयी और जो ज्ञान भगवानमे सम्भव भी न हो सके ऐसी तक भी बात लोगोके जित्तमे समा गई है, पर भगवानका जो शुद्ध रूप है वह सब रूप हम आपमे समाया हुआ है, देखनेकी विधि चाहिए। जैसे कोई एक सेर दूध रखा है तो बतावो उसमे घी है कि नही है, पर उसका पारखी ही समझ सकता है कि इसमे इतना घी है। घी आँखो तो नही दिखता, पर पारखी लोगोको पता रहता है कि इस इतने दूधके अन्दर इतना घी मौजूद है। ऐसे ही हम आप सबमे परमात्मतत्त्व बसा है किन्तु परखने वाले ही उसे जान सकते है। ये सब बोध हमे सत्पुरुषोके सङ्गसे प्राप्त होते है, इस कारण सत्सङ्गके लिए, वृद्धसेवा के लिये हमारा बहुत-बहुत यत्न होना चाहिए।

अनुपास्यैव यो वृद्धमण्डली मन्दविक्रम.।
जगत्तत्त्वस्थिति वेत्ति स मिमीते नभ करै ॥७८१॥

वृद्धमण्डलीकी उपासनाके विना तत्त्ववेदनकी असंभवता—कोई मनुष्य अल्पशक्ति वाला है और सत्पुरुषोकी मण्डलीमे रहे बिना ही, सत्संगतिकी उपासना किए बिना ही यदि वह जगतके तत्त्वस्वरूपको जानना चाहता है तो वह मानो हाथोसे आकाशको मापना चाहता है। जैसे—हाथोसे कोई आकाशको माप सकता है क्या? अरे हाथोकी बात तो दूर रहो उसका हिसाब तो योजनोसे भी नही है। अनन्त योजन आकाश है। अथवा माप ही क्या आकाशका तो कही अन्त भी नही है ऐसे अनन्त आकाशको कोई हाथोसे मापना चाहे तो असम्भव बात है। इसी प्रकार सत्पुरुषो की मण्डलीकी उपासना किए बिना ही कोई अल्पशक्ति वाला पुरुष तत्त्वस्वरूपको जानना चाहे और उस मार्गमे लगना चाहे तो वह

असम्भव बात है। सत्पुरुषोकी सेवाके बिना अल्पशक्ति वाले पुरुषको जगतकी रीतिनीतिका भी ज्ञान नही हो सकता है। लौकिक कलाकारोमे भी देखा होगा जिस परम्परामें जिस कुलमे परम्पर्या बात चली आयी है किसी कलाकी, मान-लो काष्ठकलाकी या स्वर्णकलाकी अथवा सगीतकलाकी तो उस कुलमे उत्पन्न हुए मनुष्योंकी वह कला बडी सुगमतासे अभ्यस्त हो जाती है। क्या किसी विद्यार्थीको ऐसा भी देखा है कि सत्संगतिके बिना, गुरुवोकी सेवाके बिना, गुरुवोके उपदेश शिक्षा पाये बिना स्वयं ही निपुण बन गया हो ? ऐसा यदि कोई हो सकता है तो बिना सीखे ही विद्याका अधिपति हो जाय तो हो जाय, मगर स्वय ही सीख कर विद्याका अधिपति नही बन पाता है। तीर्थंकर जैसे महापुरुष बिना सिखाये ही ज्ञाता बन जाते है वह तो अलग बात है किन्तु किसी आधारके बिना स्वयं ही सीखकर कलाका अधिपति बने यह बात कठिन है, फिर अध्यात्मकी बात तो सत्सगतिसे इतना सम्बद्ध है कि कोई मद बुद्धि वाला पुरुष अभिमानमे आकर थोडासा ज्ञान पाकर यह हठ करे, अभिमान न करे कि मैं तो स्वयं ही अपने बलपर कल्याण कर लूँगा। ज्ञान क्या करे ? कुछ चारित्र भी तो चाहिए, सयमकी प्रेरणा भी तो चाहिए। वह बात सत्सगसे स्वय सिद्ध होती है।

वृद्धसेवासे अनूठे अनुभवोंकी प्राप्ति—वृद्धसेवाका बडा महत्त्व है। जो जिस कार्य मे अनुभवी है उस अनुभवी मनुष्यकी सगतिसे उस कार्यकी निपुणता प्राप्त हो सकती है। केवल शब्दोकी जानकारी कर लेने मात्रसे अथवा कुछ साहित्यकला याद कर लेने मात्रसे तत्त्वका मर्म नही पाया जा सकता है। कोई एक सेठ था, उसने एक जगह धन गडा दिया और बहियोमे लिख दिया कि ऐ पुत्रो ! तुम्हे कभी कठिन गरीबी आ जाय तो मदिरकी सिखरमे बहुत धन गडा है उसे तुम माह सुदी पूर्णिमाके दिन ४ बजे शामको निकाल लेना। सेठ तो गुजर गया। लडके गरीब हो गए। वह बही उनके हाथ लगी। सोचा कि माह सुदी पूर्णिमाको ४ बजे शामको इस सिखरमे से धन निकालेगे। वह चढ गया मदिर पर उसी दिन पौने चार बजेके करीबमे और सिखर तोडने लगा तो नीचेसे कोई बुजुर्ग जा रहा था। उसने पूछा—भाई तुम क्या कर रहे हो ? बोला—इसमे पिता जी ने लिख दिया है कि माह सुदी पूर्णिमाको ४ बजे दिनको इस सिखरसे धन निकाल लेना, सो मैं धन निकालने आया हू। वह वृद्ध पुरुष समझ गया, कहता है अरे मूर्ख नीचे उतर, हम तुझे बतावेंगे कि वह धन कहाँ है ? वह नीचे उतरा तो वह बूढा उसे उसके ही घर ले गया और जहाँपर उस सिखरकी छाया पड रही थी उस जगह खोदकर धन निकालनेको कहा। जब उस जगह उसने खोदा तो वह धन निकला। तो देखो उन शब्दोको ही समझकर उन लडकोने अर्थ लगाया था, उनकी समझ गलत थी क्या ? जैसा शब्दोमे अर्थ लिखा हुआ था उसीके अनुसार ही तो काम कर रहे थे। कोई गल्ती तो नही की थी, पर उनके अनुभव न था। वे इस

बातको न सोच सके कि यदि सिखरमे धन होता तो यह समय क्यों निश्चित करते धन निकालनेके लिए ? वह तो किसी भी दिन किसी भी समय खोदा जा सकता था। लेकिन वह वृद्ध पुरुष अपने अनुभवसे झट समझ गया। तो वृद्ध पुरुषोके सेवा बिना ये बातें प्राप्त नही होती।

वृद्धसेवामे वृद्धोंके अनुभवसे लाभ उठानेका अनुरोध—एक कथानक है कि कोई एक बारात कहींसे आनी थी। तो लडकी वालेने कहला भेजा कि हमारे यहाँ बारातमें सारे जवान लोग आयेंगे, कोई बूढा न आयगा। इस बातपर बुजुर्गोंने सोचा कि हम लोगोको बारातमे जानेके लिए क्यो मना किया गया है ? न ज्यादा खाते, न किसीको सताते, न हमारे ज्यादा इच्छायें पर हमे क्यो मना किया गया है ? सो एक बूढेने किसी जवानसे कहा कि एक सन्दूख ऐसी लावो जिसमे सास लेनेके लिए छेद हो, उसमे हमको बन्द कर देना और वही बारातमे लिए चलना, पता नही, कहो जवानोको तंग करनेके लिए ऐसा किया हो। सो बारातमे सभी जवान पहुंच गए। वह सन्दूख भी पहुंच गया। जब नास्ता करने का समय आया तो लडकी वालेने पूछा कि कितने बराती कुल आये है ? बताया मानो २५ बराती कुल है। तो लडकी वालेने करीब तीन तीन पावकी २५ भेली उनके सामने रख दी और कह दिया कि ये सब भेलिया एक एक नुम सबको खानी पडेगी। इस बातको सुनकर सभी हैरान हो गए। सोचने लगे कि ये तीन तीन पावके करीबकी भेलिया एक एक जवान कैसे खा पायेगा ? बादमे उसी वृद्ध पुरुषसे जाकर कुछ जवानोने उस समस्याको रख दिया। तो वृद्ध पुरुषने बताया कि तुम लोग ऐसा करना कि चलते फिरते खेलते कूदते हँसते बत-लाते सभी भेलियोमेसे थोडी थोडी नोच नोचकर खाना तो खा डालोगे, नही तो एक एक भेली नही खा सकते। तो उन सब जवानोने वैसा ही किया। सारी भेलिया थोडी ही देर मे खा गईं। तो वृद्ध पुरुषोके अनुभव कुछ विलक्षण ही किस्मके होते हैं। और, अनुभव होनेका कारण भी यही है कि सारी जिन्दगीभर सब खेलतमासे देखते रहते है। सब परि-स्थितियोका अनुभव कर डाला है तो उन्हे अनुभव तो होगा ही। ऐसे ही आत्मज्ञान और आत्मध्यानके सम्बन्धमे जिन वृद्धोने सब तरहकी स्थितियोका मुकाबला किया और आत्म ध्यानके योग्य अनेक वातावरण बना-बनाकर प्रयोग किया तो उन्हे सब स्थितियोके सब उपायोका अनुभव हो जाता है, ऐसे अनुभवी साधु सत पुरुषोके निकट बैठकर उनके जो उपदेश सुने उसे थोडी ही देरमे सारभूत तत्त्वकी परख आ जाती है। जो पुरुष मंद विक्रमी है, जिसके बल ज्ञानके, शरीरके कम हैं ऐसा पुरुष चाहे कि वृद्ध मण्डलीकी उपासना न करके, उनके निकट न रहकर, उनको अपना चित्त न सौपकर जगतके तत्त्वस्वरूपको जानना चाहे तो उसका कार्य ऐसा है जैसा कि वह हाथोसे आकाशका माप करे। तत्त्वके यथार्थ

परिज्ञानके लिए आवश्यक है कि हम ज्ञानी, तपस्वी, अभ्यस्त पुरुषोकी सेवामे अधिकाधिक रहे।

शीतांशुरश्मिसंपर्काद्विसर्पति यथाम्बुधि ।
तथा सद्वृत्तसंसर्गान्नृणां प्रज्ञापयोनिधि ॥७८२॥

सत्संगसे प्रज्ञाका विसर्पण—जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणोके सम्पर्कसे समुद्र बढता है उस ही प्रकार समीचीन चारित्रके धारण करने वाले सन्त पुरुषोके संसर्गसे मनुष्योका प्रज्ञारूपी समुद्र बढता है। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश जैसे शुक्लपक्षमे चन्द्रमाकी शीतल किरणोंके सम्पर्कसे समुद्रमे जलवृद्धि हो जाती है ऐसे ही समझिये कि सच्चरित्र पुरुषोके ससर्गसे मनुष्यका ज्ञानसमुद्र भी बढने लगता है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है ही, विकासकी भी बात क्यो कही जाय। यह तो स्वयं ही ज्ञानरूप है, किन्तु मोह रागद्वेष विकार परिणाम होनेके कारण ज्ञानविकास रुका हुआ है। स्वय यह ज्ञानमय है। ज्ञानको छोडकर आत्माका और स्वरूप क्या है ? जो लोग आत्माके अस्तित्त्वका निषेध करते हैं वे ऐसा ही तो समझना चाहते है कि जैसे खम्भा, चौकी, पुस्तक ये पिण्ड पदार्थ समझमे आ रहे हैं ऐसा पिण्डभूत कोई आत्मा होगा, और यों समझमे नही आता तो वे निषेध करते हैं, आत्मा कुछ चीज नही है। यदि इस दिग्दर्शनके साथ चले कि जो जाननप्रकाश है उस ही का नाम आत्मा है। इस दृष्टिसे आत्मस्वरूपको समझानेके लिए बढेंगे तो उन्हे आत्माके अस्तित्त्वका परिचय नही हो सकता। लोग वह निरखना चाहते हैं इन्द्रियोसे। जैसे आंखोसे ये सब पदार्थ दिखते है ऐसे ही इन स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र आदि इन्द्रियोके द्वारा इस आत्मतत्त्व को जानना चाहते है। जैसे हाथोसे छूकर हम बता देते कि यह हाथ है, यह पैर है, यह अमुक चीज है इस तरहसे इस आत्मतत्त्वको नही बताया जा सकता है। तब इस मार्गसे चलें कि जो जानन है उतनेका ही नाम आत्मा है। ऐसा भी सोचनेमे गडबड हो जाता है कि जिसमे ज्ञान है वह आत्मा है। क्योकि ऐसा सोचकर वह ज्ञानसे भिन्न किसी एकके निरखनेका यत्न करेगा कि किसमे ज्ञान है। और, सोचा तो यो विदित होगा कि देहमे ज्ञान है। तो इतना भी घूमकर जतलानेका यत्न न करें, किन्तु जो जाननप्रकाश है, ज्ञानप्रकाश है वही आत्मा है, ऐसी दृष्टि लेकर जब कोई जाननस्वरूपको ही जाननेमे लग जायगा तो उसे जाननप्रकाशका अनुभव होगा और उस अनुभूतिके साथ-साथ अपरिमित निरपेक्ष शुद्ध आनन्दका भी अनुभव होगा, और तब समझ लेंगे कि सर्व आनन्दमय पूर्ण प्रकाशमय तो यह मैं स्वय ही हू। ऐसा ज्ञानमात्र यह आत्मा है लेकिन अत्यन्त भिन्न असार परवस्तुवोमे जो झुकाव है, उलझन है, ममता है, रागद्वेष जगता है इन विकारोके कारण यह ज्ञानका विकास रुका हुआ है। ज्ञान बढानेके लिए साक्षात् उपाय यही होना चाहिए कि मोह राग-

द्वेष विकार हटें, गंदे विचार न जगे, विषयोके भोगनेके भाव न बने, लोकमे सबका मैं नायक रहूं इस प्रकारकी वाञ्छा न जगे, तृष्णा लालच परिग्रहका परिणमन न बने तो स्वयमेव ही यह ज्ञानविकासको प्राप्त हो जायगा। जिस किसी भी उपायसे हम ज्ञान बढाना चाहते है उस उपायमे भी यह तरकीब छिपी हुई है कि मेरे मोह रागद्वेष हट जाये। तो मोह रागद्वेष दूर होनेका एक सुगम उपाय है वृद्धसेवा। जो तपश्चरण ज्ञान सयम विवेक धैर्यमे बढे चढ़े है ऐसे पुरुषोके निकट रहना, उनकी सेवा उपासना करना इससे तत्काल प्रभाव होता है और मोह रागद्वेष दूर होते है। इन विकारोके दूर होनेपर यह ज्ञानविकास होने लगता है। तब समझ लीजिए कि जैसे चन्द्रमाकी शीतल किरणोके संसर्गसे समुद्र बढा, ऐसे ही वृद्ध पुरुषोके संसर्गसे ज्ञानकी वृद्धि होती है।

असत्संगकी अहितकारिता – असत्संगके समान लोकमे कोई विडम्बना नही है। लोकमे एक टूटी फूटी संस्कृतमे कहावत है कि पडित, शत्रु भलो न मूर्ख हितकारक। अगर समझदार है, पडित है, ज्ञानी है और किसी प्रसंगमे उससे कुछ विरोध हो गया है तब भी वह भला है, और कोई पुरुष मूर्ख है, बुद्धि प्रतिभा कुछ नही है, सही अर्थ भी नही लगा सकता ऐसा मूर्ख पुरुष चाहे हार्दिक मित्र हो तो भी वह हितकारी नही है। अपने अपने जीवन प्रसगमें कुछ न कुछ सभीने अनुभव कर भी लिया होगा। मूर्खोका सग हो तो वहाँ अनेक विडम्बनाएँ भोगती पडती है। वह मूर्ख यद्यपि मित्रके भलेके लिए कुछ करना चाहता है किन्तु उसके ही किए जानेसे मित्रका अनर्थ हो जाता है। तो असत्सङ्गसे बढकर और विडम्बनाकी बात क्या हो सकती है और सत्सङ्गसे बढकर लाभकी बात और क्या हो सकती है? जितने भी निसङ्ग तत्त्वमे लाभ होते है वे सब सत्संगके आधारसे पुष्ट होकर हुआ करते है। जिन्हे बचपनमे ही सत्सङ्ग बन जाय तो उनकी भावना उच्च बनती है और भावनामे ही समृद्धि है, उनके फिर सही चारित्र के कारण ये लोकके और परलोकके लाभ मिल जाते है, और जिन्हे बचपनमे असत्सङ्ग मिला उनकी असद्वृत्ति और प्रकृति बन जाती है। अन्तमे उन्हे दुःख भोगना पडता है। सभीकी यही बात है। जवानी अवस्थामे तो ज्ञानी संत पुरुषोका समागम प्राप्त होता रहे तो उससे मन काबू रहता है मन सत्पथपर चलता है। एक तो वैसे ही विडम्बनाकी जड जवानी है और फिर मिल जाय असत्सङ्ग तो वे शीघ्र पतनकी ओर चले जाते है। वृद्धसेवाका बड़ा महत्त्व है। सत्सङ्गके प्रतापसे मनुष्यका ज्ञान समुद्र यो बढता है जैसे चन्द्रमाकी शीतल किरणोके संसर्गसे समुद्र वृद्धिको प्राप्त हो जाता है। हमे अपनी ज्ञानोन्नतिके लिए यह कर्तव्य करना चाहिए कि हम ज्ञानी, तपस्वी, सयमी, विवेकी, धीर संत पुरुषोका समागम करते रहे और लाभ उठाये।

नैराश्यमनुबध्नाति विध्याप्याशाहविर्भुजम् ।
आसाद्य यमिना योगी वाक्पथातीतसंयमम् ।।७८३।।

सत्संगमें नैराश्यामृतके पानका अवसर—संयमीजनोकी संगतिसे योगी आशारूपी अग्निको बुझाकर निराशाका आलम्बन करते है। भाव दो प्रकारके है—एक आशा रूप भाव, दूसरा नैराश्यभाव। जिस परिणाममे किसी परवस्तुविषयक आशा लगती है उस परिणामका नाम है आशा और जहाँ समस्त विकारोंसे रहित चैतन्यमात्र निज अन्तस्तत्त्वका अनुभव होता है उस परिणामको कहते है नैराश्य। इस जीवपर संकट अज्ञानका छाया है। अज्ञान न हो फिर जीवपर कोई विपदा ही नहीं है। अज्ञानकी दो धारायें निकलती हैं—एक तो परवस्तुको यह मैं हू, इस प्रकार मानना और दूसरी धारा है परवस्तुको यह मेरी है यो मानना। इनका नाम है अहकार और ममकार। ममकार भावसे भी अहकार भाव विकट होता है। यह वस्तु मेरी है, ऐसा कहनेमे इतनी तो फिर भी वात आयी कि मैं मैं हू, यह यह है और यह मेरा है। इसमें कुछ थोडा सा फर्क आया। अज्ञान तो बरावर है लेकिन परवस्तुको यह मैं हू ऐसा मानना यह कोरा अज्ञान है, अहकार है। अहकार और ममकार इन दोनोके सम्बन्धसे आत्मामे आशा विकारका उदय होता है। आशारोगसे ग्रस्त यह मोही प्राणी कही भी अपने उपयोगको स्थिर नही कर पाता है, इसका कारण है कि पर तो पर ही है।

सत्संगमें शान्तिलाभका अवसर—ससारमे प्रत्येक जीव शान्ति चाहता है। जैसे मनुष्योंकी आकृति उत्पत्ति प्रकार आदिक सब एक समान है, चाहे वह भारतदेशका हो, चाहे विदेशका हो, ऐसे ही समझिये कि देहमे जो जाननहार आत्मा है जीव है तो जितने भी जीव हैं उन सव जीवोका स्वरूप एक प्रकार का है, इसी कारण किसी जीवसे किसी जीवमे कुछ अन्तर नही है और उपाधिके भेदसे जो अन्तर आया है ऐसा भेद और अन्तर भी एक समान प्रकारका है, विधिवत् है। जीवमे खोटे परिणाम आनेका साधन एक ही तरहका है। कर्मोका उदय हुआ, ससारके ये पदार्थ सामने हुए कि जीवको क्रोध आने लगता है। चाहे वह किसी भी देशका जीव हो, क्रोध आनेकी सामान्यपद्धति भी समान है, इसी तरह मान, माया, लोभकी भी पद्धति सवकी एक समान है। ससारके सभी लोगोंको देखो—दुकानदार, नौकरी करने वाले, रिटायर लोग सभी एक ढंगसे दुःखी होते है। सवके दुःखके मूलमे मोह रागद्वेष पडा हुआ है। जो भी जीव दुःखी है वे मोहके कारणसे दुःखी हैं। मोहमे जीव चाहता तो शान्ति है पर इस अशान्तिके काममे शान्ति कैसे मिले? खूनके दागको क्या खूनसे ही साफ किया जा सकता है? नही किया जा सकता। यो ही मोहसे उत्पन्न हुई इस अशान्तिको क्या इस मोहसे दूर किया जा सकता है? जिन्हे शान्ति चाहिए उन्हे

सर्व परसे न्यारे निज ब्रह्मस्वरूपका दर्शन करना चाहिए, यह तो है साक्षात् साधन और बाहरमे जो इस प्रकारके ज्ञानी विरक्त संयमी साधु हो उनकी संगति करना चाहिए। संयमी मनुष्योकी संगतिसे आशा नष्ट हो जाती है और निराशा प्रकट होती है, शान्ति प्रकट होती है। जहाँ आशा नही रहती है ऐसे पुरुषोके समीप बैठें, जहाँ पाप नही है ऐसे मनुष्योके समीप बैठें तो वहाँ पुण्य और शान्ति प्राप्त होती है। ऐसे ही पुरुषोका नाम है वृद्ध। अवस्थासे वृद्धताकी बात नही कह रहे, जो ज्ञानमे बढे हैं, तपस्यामे बढे है, जिनके गम्भीरता है, जो सभी जीवोको निरख कर समानताका बर्ताव करते है ऐसा जिनके ज्ञान है ऐसे पुरुषो का नाम है वृद्ध और उन सज्जनोकी सेवा करने से सर्व क्लेश दूर होते है और शान्ति निराकुलता प्रकट होती है।

क्षणमात्र भी परमार्थ सत्संगसे अलौकिक लाभकी संभूति—कोई साधु जगलसे जा रहा था नगरमे चर्या करने, तो एक लकडहारा, जिसके पास एक पतली धोती भर थी वह साधुके पीछे लग गया यह देखनेके लिए कि यह नग्न भेष वाला साधु देखे कहाँ जाकर क्या करता है? जब साधु नगरमे पहुंचा तो वहाँ लोग बडा स्वागत करने लगे। कुछ और निकट चलकर लकडहारे ने साधुमहाराजका वह स्वागत देखा। लोगो ने साधु महाराजको, विधिपूर्वक आहार कराया और यह जानकर कि इनके साथमे यह कोई ब्रह्मचारी होगा उस लकडहारेको भी आहार कराया। अब वह लकडहारा सोचता है कि यह तो बडा अच्छा काम है, इनके साथ ही हमे रहना चाहिए। सो उनके साथ ही वह जगलमे चला गया। साधु महाराजने तो एक दो दिनका उपवास किया। सो लकडहारा कहता है, महाराज कल की तरह आज फिर नगर चलो। साधु महाराज बैठ गये अपने ध्यानमे। वह बोला कि यदि आप नही जाते तो अपना पिछी कमण्डल दो मैं जाता हू। पिछी कमण्डल उठाकर वह नगरमे पहुंचा। नगरमे लोगोने देखकर उसका बडा स्वागत किया, पडगाहकर जब आहार करनेको ले गए तो उस दिन उसने बिशेष स्वागत पानेकी खुशीमे अल्प आहार किया। लोगोने सोचा कि आज शायद कोई विधि बिगड गई है इससे आहार कम किया है। दूसरे दिन फिर उस लकडहारेने वैसा ही किया। साधु महाराजका पिछी कमण्डल लेकर नगर पहुंचा। उस दिन करीब ५० चौके लगे थे, उस दिनके स्वागतकी विशेष खुशीमे उसने भोजन ही न किया और जंगलमें साधुके पास आकर बैठ गया। मुनि महाराजने अपने ज्ञानसे जाना कि यह बडा भव्य पुरुष है, मदकषायी है और निकट ही इसका मोक्ष होगा, इसको उपदेश देना चाहिए। साधुने कहा—अरे भव्य तेरे दो तीन दिन और शेष रह गए है, अब तू अपने भव्य परिणाम कर। समतासे रह और साधुव्रत अगीकार कर। तो उसने वहाँ साधुदीक्षा ली और फिर सोचा कि अब दो दिनकी आयु हमारी शेष है तो दो दिनके

लिए हमारा आहारका त्याग है। यो चार-पाँच उपवास उसने साधुव्रतमे किये, यो मरकर वह स्वर्गमे उत्पन्न हुआ। तो थोडीसी सत्सङ्गतिका यह परिणाम हुआ। सत्संगतिमे रहनेसे सभी काम स्वत बन जाते है। जो कुसगतिको छोडकर सत्सगतिमे रहता है, वृद्ध पुरुषोकी सेवा उपासना करता है उसको बाह्यसमागमोकी इच्छा नही रहती। सत्सङ्गतिका प्रभाव ही ऐसा है। सत्सङ्गतिको पाकर बडे-बडे राजा महाराजा भी साधुव्रतको लेकर आत्म-कल्याण करते है। तो सयमी पुरुषोकी सगतिमे रहनेसे अशान्ति दूर हो जाती है सत्सगति मे रहकर अपना भी अभ्यास कर लिया जाता कि मैं आत्मा क्या हू, क्या करना चाहिए, यह सब भी उसे भान हो जाता है तो उसे वास्तविक शान्ति प्राप्त होती है।

वृद्धानुजीविनामेव स्युश्चारित्रादिसम्पद ।
भवत्यपि च निर्लेप म ा क्रोधादिमलम् ॥७८४॥

सत्संगमें चारित्रसम्पदाकी वृद्धि—सत्पुरुषोकी सेवा करने वाले पुरुषोके चारित्र आदिक सम्पदा बढती है और क्रोधादिक कषायोका मैल दूर हो जाता है। जैसे प्रभुकी मूर्ति के भक्तिपूर्वक दर्शन करने जो जाता है उसके क्रोध कहा उत्पन्न होता है? वह तो सर्व कषायरहित प्रभुके दर्शन करने जाता है, ऐसे ही गुरुवोके सत्सङ्गमे जो रहता है उसके क्रोधादिक कषायें नही होती है। प्रयोगरूपसे भी देख लो, जब कभी हम आप किसी बडे साधुके निकट रहते है तो वहा कषायें दूर होती हैं, मन स्वच्छ होने लगता है, विषयोकी आशा नही रहती, तो मन स्वच्छ हो जाता है फिर मायाचार क्या करे? ये चारो कषायें सबसे अधिक मैली चीजें हैं। व्यवहारमे लोग इन नालियोको गदी मानते हैं जिनमे सारा मैल बहा करता है। उसे कोई छू ले तो वह अछूत मा ा जाता है, यह लोकमे रूढि है पर यह तो बतलावो कि मूलमे सबसे गदी चीज क्या है? तो दुनियामे सबसे गदी चीज है मोह। इस मोहके ही कारण यह जीव सारी चीजोका भोग उपभोग करता है, जो चीजें देखनेमे सुन्दर है उन्हे भी यह जीव घृणास्पद बना देता है। यदि इस जीवमे मोह न होता तो ये सारी चीजे कहा गंदी थी? वे सारी चीजें तो साफ स्वच्छ जैसीकी तैसी थी। जीव ने उन चीजोको ग्रहण किया, वे परमाणु फिर मास पिण्डरूपमे बन गए और आज इस स्थितिको प्राप्त हो गए। तो जिन्होने इस शरीरके परमाणुवोमे प्रवेश किया और जिनके प्रवेशसे यह शरीर गदा बन गया वे स्कंध गन्दे है, शरीर गदा नही होता। जो अशुद्ध जीव हैं वह जीव गदा है और उस अशुद्ध जीवमे भी गन्दा मोह है। दुनियामे सबसे गन्दी चीज है मोह। मोहके ही ससर्गसे ये शरीर बने, शरीरके ससर्गसे ये मल आदिक निकले जिन्हे लोग गन्दा कहते। तो इन सब गन्दगियोका मूल कारण मोह रहा। अब जगतमे अनन्त जीव है, किसीका कोई कुछ है नही, सब न्यारे न्यारे हैं, किन्तु मानते है कि ये मेरे हैं, इस

मोह परिणामके कारण ही इस जीवको अशान्ति हुई, परेशानी हुई, अन्यथा इसे कुछ परेशानीका काम न था। विषयोसे रहित रहे यह जीव, किसी प्रकारके सकल्प विकल्प न बने, किसीमे मोह न जगे तो वहाँ दुःख क्यों होगा? दुःखका कारण भी मोह है। मोहके सिवाय और किसीको किसी प्रकारका दुःख हो तो बतावो। किसीको वैभवमे मोह है, किसीको परिजनमे मोह है, किसीको इज्जतका मोह है, यो मोह होनेसे ही इस जीवको अशान्ति है। जिसे शान्ति चाहिए उसे मोह दूर करना होगा। मोही पुरुषोकी संगतिमे रहो तो मोह ममता जगेगी और सज्जन पुरुषोंकी सगतिमे रहो तो मनमे प्रसन्नता, अपने अन्दर उज्ज्वलता बढेगी। तो सत्सगतिकी बडी ऊँची महिमा है। जो पुरुष ऐसे सत्पुरुषोकी सेवा करते हैं उनके चारित्र आदिक प्राप्त होती है।

चारित्रकी परमसम्पदारूपता—सबसे बडी सम्पदा है चारित्र। अपनी करतूत सही रहे, परिणाम निर्मल रहे, करनी अच्छी रहे, यही है सबसे बडी विभूति। धन वैभव मानो नष्ट हो गया, कम हो गया तो कुछ नही गया, कुछ कम नही हुआ, ये तो सब पुण्यके सेवक हैं, पुण्यके अनुसार प्राप्त होते ही है, जितना भाग्यमे हो उतना प्राप्त हो ही जाता है तो वह कुछ नही गया किन्तु जब अपने भाव खोटे बना लिया, अपना पुण्य समाप्त कर दिया तो समझो सब कुछ गया। जो वैभव प्राप्त हुआ है वह भी तो कुछ दिनोमे मिट जायगा। तो जो चारित्र है अपना शुद्ध आचरण बने यह बडी भारी सम्पत्ति है। और, यह सम्पत्ति प्राप्त होती है ज्ञानी पुरुषोके सद्व्यवहारसे। जब भक्त पूजा करता है प्रभुकी और प्रभू पूजा करके जब अन्तमे अपनी भावना प्रकट करता है तो वह ७ बातें प्रभुसे मागता है—प्रथम तो उसकी भावना है कि मेरे शास्त्रका अभ्यास बढ़े अर्थात् ज्ञान बढे क्योकि सुख शान्ति ज्ञान मे ही है। अपना ज्ञान सही रहे, बुद्धि न बिगडे तो सर्व सुख मिलते है और बुद्धि बिगड गई, ज्ञान बिगड गया, दिमाग बिगड गया, अपने आपके वश न रहा तो लोग कहते है कि उसका जीवन रहना एक समान है। जैसे जो पागल है वह जगह-जगह जो चाहे बकता फिरता है, उसे कुछ भी विवेक नही है तो उसे देखकर लोग कहते है कि हाय इसका जीवन बेकार हो गया। घरमे अगर किसीका दिमाग खराब हो गया, पागल हो गया तो लोग उसे पागल समझकर, बेकार समझकर पागलखानेमें भेज देते है। तो है क्या वहाँ? बुद्धि खराब हो गयी। वहाँ अधिक बुद्धि खराब हो गयी तो लोग पागल कहने लगे, यहाँ रहते हुए कभी कभी बुद्धि खराब हो तो यह क्या पागल नही है। बुद्धि खराब हो जाना यही क्लेशका कारण है।

सत्संगमें बुद्धिकी व्यवस्थितता—बुद्धि व्यवस्थित रहती है सत्पुरुषोकी भक्तिसे, जहाँ वृद्ध पुरुषोके प्रति भक्तिभाव रहता है वहाँ बुद्धि व्यवस्थित रहती है। लोग शिक्षा देते है ना

बच्चोंको कि देखो माता पिताकी सेवा करो। माता पिता भी तो बच्चोकी अपेक्षा वृद्ध पुरुष है, ज्ञानी है अनुभवी है, दूसरे उनका लौकिक सम्बन्ध भी गुरुताका है। तो माता पिताकी जो सेवा करते रहते है उन बच्चोकी बुद्धि सही रहती है। उनके हर जगह बुद्धिकी प्रगति रहती है, और जो समर्थ होकर भी माता पिताको क्लेश पहुंचाते रहते हैं उनकी बुद्धि मलिन रहती है, तो उस बुद्धिकी मलिनताके कारण उनकी बुद्धि ऐसी अटपट हो जाती है कि जिससे उन्हे क्लेश, आकुलता, फँसाव बढने लगता है। तो वृद्ध पुरुषोकी, माता पिताकी, गुरुजनोकी सेवा करना और परमार्थतया जो ज्ञानी विरक्त संत पुरुष हैं उनकी सेवामे रहना, यह सत्संगति अनेक अवगुणोको दूर कर देती है।

पूजककी भावनामें सत्संगका उपयोग—पूजा कर चुकनेके बाद भक्त भावना करता है। उस भावनामे दूसरी भावना है जिनेन्द्र भगवानके चरणोकी सेवा। जिनेन्द्रका अर्थ है जो रागद्वेष मोहको जीत ले। सो जिन वे ही इन्द्र याने श्रेष्ठ। जैन शब्द किसी एक खास जातिका नाम नही है, किन्तु जो रागद्वेष मोहको जीत लेने वाले प्रभुको मानते हैं, उनकी वाणीपर श्रद्धान करते है उनका नाम जैन है। ऐसे जैनोके जो इन्द्र है, मुख्य है, तीर्थङ्कर देव है अथवा समस्त अरहंत देव है उनके चरणोमे हमारी नुति बनी रहे, मेरा हृदय उनके गुणोमे बना रहे वह दूसरी भावना वह पूजक करता है, तीसरी भावना है सत्सगति। सत जनोके साथ हमारा समागम बना रहे, वे आदि पुरुष है जो ससार, शरीर, भोगोसे विरक्त हैं। विषयोमें लगना महान अनर्थ है। जो विषयोमे लग रहे है उनकी सगतिसे आत्माको कोई लाभ नही प्राप्त होता। यह संसार ऐसे ऐसे शरीर धारण करते रहना, जन्म मरण होते रहना यह सब विषयोमे प्रीति करनेका फल है। यह आत्माराम तो केवल ज्ञानस्वरूप है, इसमे ज्ञान और आनन्दका स्वरूप पडा हुआ है। लेकिन आज इसकी यह विडम्बना बन रही है, जिस पर्यायमे जाता है उस ही पर्यायको आपा मान लेता है, ऐसी इसकी विडम्वना जो बन रही है इसके कारण यह नाना शरीरोमे भ्रमण करने लग गया है। जो पुरुष विषयो से विरक्त हैं, ज्ञानमे अनुरक्त हैं ऐसे नि स्वार्थ निष्काम पुरुषोके सगमे रहना चाहिए। तो तीसरी भावना यह पूजक सत्संगतिकी करता है।

गुणिगुणगान और दोषवादमौनकी भावनामें सत्संगका प्रभाव—चौथी भावना यह करता है ज्ञानी कि मेरे मुखसे सज्जन पुरुषोका गुणगान ही होता रहे। सत्पुरुषोंके गुणोका गान वही कर सकता है जिसे गुणोका प्रेम ही। जिसके स्वयके गुणोका विकास होनेको होता है वही गुणियोके गुणोका गान कर सकता है। गुणगान करनेसे गुणोपर दृष्टि रहती है। पूजक पुरुष यही तो चाहता है कि मेरा जो सहज गुण है ज्ञानानन्दस्वरूप वह प्रकट हो। तो इस भावनाको पुष्ट करनेके लिए गुणवान पुरषोके गुण गाये जाते हैं। जिसके गुण गाये

जाते है उसे गुण गाये जानेसे कोई लाभ नही मिलता, किन्तु जो गुणगान करता है उसको गुण गानेसे लाभ पहुच जाता है। तो अपने ही भलेके लिए हम संत पुरुषोके गुणोका गान करना चाहिए। पूजक इन चार भावनाओसे संत पुरुषोके गुण गान करनेकी इच्छा करता है। ५ वी भावनामे भा रहा है ज्ञानी कि मेरे परके दोषोके कहनेमे मौन रहे। दूसरे पुरुषो के दोष तभी कहे जा सकते है जब खुदको दोषोमे प्रेम हो। जो स्वय अपने दोष बढाते रहते है वही दूसरोके दोष देखेंगे। दूसरोके दोषोको देखनेकी क्यो दृष्टि हो ? उससे लाभ क्या मिलेगा ? दोष देखें तो दोषोमे उपयोग रहेगा, जो अज्ञानी हो, जिनके कषाय भरी हो ऐसे पुरुष ही दोषग्राही होते है। जैसे जोक गायके थनमे लग जाय तो भी वह दूध नही पीती किन्तु गंदा खून ही पीती है। ऐसे ही जिनके दोष ग्रहण करनेकी दृष्टि है, स्वयं दोषी हैं, स्वय कायर है तो वे दूसरे के दोषोको ही निरखते है और दोषोके कहनेमे सुख समझते है, लेकिन दूसरोके दोष देखनेमे अनेक अनर्थ हो जाते है।

खुदको दोष प्रेम जगा, खुदका उपयोग बिगडा और जिसके दोष कहे गए उसके द्वारा विपदा भी प्राप्त हो सकती हैं। लाभ कुछ भी नही है बल्कि सब नुकशान ही नुकशान है। यह पूजक भावना करता है कि हे प्रभो! दूसरोके दोषोके कथनमे मेरा मौन भाव बने। छठवी भावनामे भक्त कहता है कि सब जीवोके लिए मेरे प्रिय और हितकारी वचन निकलें। मुझमे ऐसी क्षमता हो। मनुष्यका धन वचन है, वचनोसे ही यह सुखी हो सकता है और वचनोसे ही यह दु.खी हो सकता है। दु खकारी वचन बोल देनेसे खुदको कुछ लाभ नही होता, किन्तु जब कोई स्वय अपने चित्तको दु खी कर लेता है तब दूसरोको दु ख पहुँचाने वाले वचन बोल सकता है। उसमे लाभ कुछ नही है, अशान्ति है, पर जब कषाय जगती है तो इन पुरुषोको यह विवेक नही रहता और जिसमे इन्होने अपनी शान्ति समझी है उस ही कार्यको करने लग जाते है। कुबुद्धिसे यह अप्रिय अहितकारी वचन बोलता है। किसीको यदि बडे सम्मानसे कह दिया, आइये साहब बैठिये तो ये कितने अच्छे वचन है और किसीने कहा जाओ वहाँ बैठो, आ जावो, बैठ जावो, भग जावो, इन शब्दोमे कहाँ सम्मानकी बात बसी है ? इसमे तो दूसरेको तुच्छ निगाहसे देखा। तो जो स्वय तुच्छ हो वही दूसरेको तुच्छ समझेगा। तो हे भगवन्! सब प्राणियोके प्रति मेरे हित मित प्रिय वचन निकले।

अन्तः सत्संगकी भावना—पुजारीकी अन्तिम भावना यह है कि हे भगवन्! इस निज आत्मतत्त्वमे मेरी भावना बनी रहे। आत्मतत्त्व है ज्ञानस्वरूप। जहाँ मात्र ज्ञान ज्ञानका ही प्रकाश है ऐसे आन्तरिक विलक्षण प्रकाशपुञ्जको आत्मा कहते हैं। उस आत्मा का तत्त्व है ज्ञानस्वरूप। तो यह भावना मेरी रहे कि मैं ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानमात्र हू, सबसे

न्यारा केवलज्ञानस्वभाव मात्र हूँ, ऐसी भावना जगे इसे कहते हैं आत्मतत्त्वकी भावना। यो पुजारी इन ७ बातोकी भावना करता है। वैसे एक सत्सगतिकी निगाहसे देखा जाय तो ये सबके सब काम सत्संगतिके हैं। जहाँ भगवानके प्रति भक्ति जग रही है, ज्ञानी सतपुरुषोके प्रति भक्ति जग रही है, ज्ञानी पुरुषोके सद्‌उपदेशोमे भक्ति जग रही है वहा समझो सत्सगति की जा रही है। दूसरोका चारित्रका जो गुणगान करे वह भी सत्संगति है। गुण सत् हैं और जिनका गुणगान किया जा रहा है वे संत पुरुष है। दोषोके कहने मे मौन रखे तो इसमे भी सत्सगति ही पैदा होती है, इस उत्कृष्ट सत्संगतिके प्रतापसे दोषोमे प्रवृत्ति नही बनती। सबसे हित मित प्रिय वचन बोलें तो इसमे भी सत्सगति पैदा होती है। जिससे बोलेगा वह भला मानकर बोलेगा और जिस प्रिय शुद्ध वाणीसे बोलेगा वह वाणी स्वय सत् है। उनका सग किया जा रहा है। तो ये सब सत्सग हुए। और जब अपने आत्मस्वरूपकी भावना की जाती है तो आत्मस्वरूप एक महान सत् है, उसका सग किया जा रहा है। उसकी उपासना है। तो जितने भी हमारे धार्मिक कर्तव्य है उनमे परोक्ष और प्रत्यक्ष सत्सग हुआ करता है। सत्सग करने वाले पुरुषोके चारित्र आदिकी सम्पदा प्राप्त होती है, कामादिक कषाये दूर होती है और सुलभ भी भोगोमे तृष्णा नही रहती। तब इस ज्ञानबलसे यह जीव अपने आपको शुद्ध आनन्दरूप अनुभव करता है।

सुलभेष्वपि भोगेषु नृणां तृष्णा निवर्तते।
सत्ससर्गसुधास्यन्दै शश्वदार्द्रीकृतात्मनाम् ॥७८५॥

सत्सङ्गसुधास्यन्दसे तृष्णादाहका शमन—सज्जन पुरुषोके ससर्गसे ऐसी अमृतकी झरना प्रकट होती है कि जिस अमृतके झरनेसे भीगा हुआ पुरुष इतना शान्त हो जाता है कि उसे भोगोमें तृष्णाका भाव नही रहता है। सबसे बडी ज्वाला है तृष्णा। तृष्णाको सभी जानते। तृष्णा कहो, लोभ कहो, लालच कहो, अपने आपके इन्द्रियविषयोकी पूर्तिके लिए जो भी बाह्यवस्तुओका सचय किया जाय उसका नाम तृष्णा है। तृष्णा एक कठिन ज्वाला है, तृष्णा करने वाला पुरुष रात दिन बेचैन रहता है। शरीरकी वेदनामे तो उसे सहनशीलता हो जाती है, पर तृष्णाकी वेदना जगे तो निरन्तर आकुलता रहती है। एक मनुष्य बाजारमे चला, उसे थी एक नारियलकी जरूरत। तो बाजारमे उसने पूछा कि नारियल क्या भाव दोगे? दुकानदार बोला—८ आने मे देंगे। तो वह कहता है कि ४ आने मे न दोगे? दुकानदार बोला—अगर चार आनेका चाहिए तो नागपुर चले जावो, वहाँ चार आनेका मिलता है। उसने नागपुर जाकर पूछा—नारियल कितनेमे दोगे? बोला चार आनेमे। दो आनेमे न दोगे? दो आनेका चाहिए तो बम्बई चले जावो। उसने बम्बई जाकर पूछा—नारियल कितनेमे दोगे? बोला दो आनेमे।

एक आनेमे न दोगे ?…एक आनेका लेना हो तो पासके देहातोमे चले जावो। वहाँ जाकर पूछा — नारियल कितनेमे दोगे ? बोला एक आनेमे देगे। आध आनेमें न दोगे ? अरे आध आना भी क्यों खर्च करते हो, पासमे वे पेड खडे है तो जितने चाहे तोड लावो। वह पासके पेडोमे पहुंचा, चढ गया, पर ऊपर उसके पैर फिसल गए, सो एक डार पकडकर लटक गया। अब वह सोचता है कि हम तो बिना मौत मरे। तृष्णा न करते तो यह हाल न होता। इतनेमे निकला एक हाथी वाला। उससे कहा भाई तुम हमे उतार लो तो हम तुम्हें ५००) रु० देगे। वह हाथी पर खडा होकर उसको पकडकर उतारना चाहता था पर उस तक पहुंच न पाता था, करीब एक हाथ ऊपर था सो उचककर ज्यो ही उसके पैर पकडा त्यो ही हाथी खिसक गया। वह भी उसीमे लटक गया। इतनेमे एक ऊट वाला निकला सो वे दोनो कहते है कि हम दोनो को उतार लो, तुम्हे पांच पाँच सौ रुपया देंगे। सो जब वह उन्हे उतारने चला तो वह भी पहुच न सका, ज्यो ही उचक कर पैर पकडा त्यो ही ऊँट खिसक गया और वह भी उसीमे लटक गया। अब इतनेमे निकला एक घोडा वाला, उससे वे तीनो कहने लगे कि हम तीनोको उतार लो, तुम्हे पांच पाच सौ रुपये देगे। वह भी जब उतारनेको हुआ तो घोडेके खिसक जाने से उसीमे लटक गया। तो यह एक तृष्णाकी बात बताई जा रही है। तृष्णा करनेसे बडी-बडी विडम्बनाएं बन जाती है। ऐसे तृष्णा-दहनका शमन सत्सगसुधाके झरनेमे स्नान किये विना कैसे हो सकता है ?

सत्संगमें तृष्णाविनाशसे शान्तिलाभका अवसर—तृष्णाके अनेक रग होते है, उनसे ठगाया गया यह प्राणी आपत्तियां ही पाता है। कभी कोई सब्जी खरीदने आप बाजार जाये तो अगर सस्ती चीज खरीदना चाहो अथवा कुछ तृष्णा करना चाहो तो उसमे चीज रद्दी ही मिलती है। वह चीज बेकार हो जाती है। जैसे सेब कई किस्मके होते है कुछ १२ आने सेरके मिल जायेगे और कुछ चार रुपये सेरके मिलेगे। तो तृष्णा करके अगर कोई १२ आने सेर वाले सेव खरीद ले तो उसके वे सेब ही बेकार हो जायेगे। बल्कि अच्छे वाले सेब अगर सेर भरकी जगह एक पाव ही ले आता तो वह उन्हे प्रेमसे खाता तो। तो यह तृष्णा करना योग्य नही है। इस तृष्णाके फलमे अशुभ समय देखना पडता है। यह तृष्णा इस जगतके जीवोको परेशान किए हुए है। तो भोगोकी तृष्णा ज्ञानी जीवोके नही रहती। वे भोग सुलभ भी हैं, अनायास प्राप्त होते है, पुण्यका उदय है तिसपर भी जिसे सच्चा ज्ञान जग गया कि इस जगतमे सारभूत कुछ नही है। अपने आत्माका सच्चा ज्ञान बने और इसमे ही अपना आचरण करें तो यही सारभूत चीज है। हमारे साथ रहने वाली समता है, और बाह्यमे तो ये समस्त पदार्थ लुभाने वाले है, ये सब अनर्थ करने वाले है। तो जिनका आत्मा सज्जन पुरुषोकी सगतिसे अमृतके झरनेसे गीला हो गया है अर्थात् ज्ञानकी चर्या और चिन्तन

करनेसे जिनका हृदय योग्य बन गया है ऐसे पुरुषोको सुलभ भोगोमे भी तृष्णा नही जगती है। जितना भी क्लेश है वह तृष्णाका है। तृष्णा दूर हो तो अवश्य शान्ति होगी। इन सब बातोके लिए हमे चाहिए कि हमे सत्सग मिलता रहे, दुष्ट पुरुषोका सग न करें। सत्सगतिमे रहनेसे यह जीवन भी सुखपूर्वक व्यतीत होगा और अगला जीवन भी सुखपूर्वक व्यतीत होगा।

कातरत्व परित्यज्य धैर्यमेवावलम्बते।
सत्सगजपरिज्ञानरञ्जितात्मा जन स्वयम् ॥७८६॥

सत्संगमें धैर्यलाभ—सज्जन पुरुषोका सग करते रहनेसे जिनका आत्मा ज्ञानसे रजायमान हो गया है ऐसे पुरुष अपने आप ही कायरताको छोड देते हैं और धैर्यका आलम्बन करते है। आत्मा विषय और कषायोमे लग जाय, पापोमे बुद्धि चले, यही है आत्माकी कायरता और विषयकषायोसे हटकर अपने ज्ञानस्वरूपकी भक्ति करें, भगवानकी उपासना करें तो यही है आत्माकी शूरता। जगतके जीव प्रत्यक्ष विषयकषायोमे रत हो रहे है। इन विषयकषायोका रुच जाना यही कायरता है जिसमे न मनोबल लगाना पडता, न आत्मबलकी जरूरत है। कुछ पुण्य सामग्री पाकर विषयकषायोमे लगे तो यह कायरता ही तो है। सज्जन पुरुषोके सगसे यह सब कायरता दूर हो जाती है। जब यह विषयभोगोकी कायरता दूर हो जाती है तो धैर्य प्रकट होता है। धीरतामे बुद्धि स्वच्छ होती है। जहाँ रागद्वेष नही जगता, समतापरिणाम रहता है वहाँ धैर्य प्रकट होता है, यह बात सत्सगतिसे प्राप्त होती है और सत्सगतिमात्रसे नही, किन्तु सत्सगतिसे जब आत्मा ज्ञानसे रजित हो जाता है तब धैर्य प्रकट होता है, तो सत्पुरुषोकी सगतिसे ज्ञान प्रकट होता है, कायरता नष्ट होती है। सत्सग बहुत आवश्यक तत्त्व है। कल्याणार्थीके लिए सत्सगति एक बहुत आवश्यक कदम है।

पुण्यात्मना गुणग्रामसीमाससक्तमानसै।
तीर्यते यमिभि किं न कुविद्यारागसागर ॥७८७॥

सत्संगमें गुणानुरागके कारण कुविद्याका परिहार—जिसका चित्त पुण्य पुरुषोके गुण समूहमे लग रहा है वह समझो सत्सगति कर रहा है। इस अज्ञानरूपी विषम समुद्रसे क्या वह तिर न लेगा? अवश्य ही तिरेगा। जिनका चित्त सज्जन पुरुषोके गुणगानमे लग गया है उनकी अन्य पदार्थोंसे प्रीति हट ही जाती है। इस जीवको चाहिए एक परमविश्राम। तो सज्जन पुरुषोके संगमे रहकर शान्ति मिलती है, उसका कारण यह है कि ज्ञानपर दृष्टि अधिक रहती है। ज्ञानकी बात सुननेको मिलती है। तो जो बात अधिकाधिक मिले उसमे यही जीव रम जाता है। तो ज्ञानमे रमण होनेसे परतत्त्वोके जो विषय प्रसग हैं उनसे इसका चित्त हट जाता है, तो पुण्य पुरुषोके सगसे ज्ञानप्रकाशका लाभ मिलता है। बारबार ऐसी

भावना भावो कि मैं देहसे भी न्यारा हू। देखिये आपका यह घरेलू मन्त्र है। जानना सोचना यह कोई कठिन बात तो नही है। अन्तरमे ऐसा चिन्तन करे कि मै देहसे भी न्यारा ज्ञान-स्वरूप हूं, इस ज्ञानस्वरूपकी बारबार भावना बनानेसे ये कषाये दूर होती है, और, जब कषायें दूर हुईं तो पुण्यबध भी बहुत होता है, धर्मका मार्ग भी मिलता है, उससे नियमसे जीवन सुखमय व्यतीत होता है। जिसे आप ज्ञानस्वरूप कहते है वही तो आत्मा है। मैं ऐसा करता हूँ, मैं यह करूंगा, यदि कर्ता कोई न होता हो फिर यह वाक्य कैसे बोला जाय और फिर वाक्योका अर्थ भी क्या रहा ? जैसे हम अन्य पुरुषोके लिए कहते है वह आया तो वह कोई चीज तो है जिसको देखकर आनेकी बात कह रहे हो। तो जो कुछ अपने आपमे मैं मैं के रूपसे जान रहा है, जो मैं की बात अपने मनमे करते है उसही का नाम तो आत्मा है। उस आत्माकी भावना बारबार की जाय वही मात्र एक शरण चीज है। जो अपनेको ऐसा मानेगा कि मैं इतने लडको वाला हू, इतने वैभव वाला हू, ऐसे मकान महल वाला हूँ तो ऐसी भावनाएँ बनानेसे वह विकल्प ही मचायेगा। कोई भी जीव किसी दूसरेके कुछ करनेसे भला बुरा नही बनता, स्वयका प्रभाव है, स्वयका ही उपादान है। जैसा संग मिले जैसा उपादान हो वैसा ही अपनेको आबाद अथवा बरबाद कर लेता है। जिन्हे बरबादीसे बचना है उनका कर्तव्य है कि सज्जन पुरुषोके गुणगानमे अधिक चित्त बसाये। क्योकि जब सत् पुरुषोके गुणोमे मन लग जाता है तब अन्य किसी पदार्थमे प्रीति नही रहती। जब बाह्य-पदार्थोका विकल्प नही रहता तो आत्मामे शुद्ध अनुभव जगता है, यह कोई कठिन बात नही है। सब लोग कर सकते है। अभी सोच लो कि मैं इस देहसे भी न्यारा ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा बारबार चिन्तन करके अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभवना यह जब बनता है तो भव भवके बाँधे हुए पापकर्म कट जाते है। तो अपना कर्तव्य है कि अपनेको ज्ञानस्वरूप ही माना करे। और, जो यह समागम मिला, गृहस्थी मिली इसे एक झंझट समझे। सद्गृहस्थ वही है जो घरमे रहता हुआ जलमे भिन्न कमलकी तरह रहे। जैसे कमल जलसे ही तो पैदा हुआ और जलका संग छोड दे तो कमल सूख जायगा। तो जलमे ही पैदा हुआ, जलके ही कारण वह हरा भरा है लेकिन जलको छूता नही है। जलसे बहुत ऊचे उठा रहता है। यदि वह जल छू ले तो कुछ ही समय बाद सड़ जायगा। तो जैसे पैदा होकर भी, जलमे रहकर भी कमल जलसे अलग है, निर्लेप है इसी तरह ज्ञानी गृहस्थ यद्यपि घरमे पैदा हुआ है और घर मे ही रह रहा है फिर भी वह अपनेको सबसे न्यारा अनुभव करता है। ज्ञानी पुरुषके उप-योगमे यह अंधकार नही है जो अपने ज्ञानस्वरूपको भूलकर और केवल इस मायामय विन-श्वर देहमे आपा मान बैठा। उसकी दृढ प्रतीति है कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हू। तो अपने आपके सत्यस्वरूपकी प्रतीतिमे महान बल है, बड़ा चमत्कार है। जो पुरुष

ऐसे संत पुरुषोंके ध्यानमें ही अपना चित्त रखते हैं उनके अज्ञान कभी नहीं ठहर सकता। जब अज्ञानमें चित्त नहीं रहा, विषयोंमें चित्त रहा तो अपने आप ही आत्माकी प्रतीति हो जाती है। प्रयोजन यह है कि सत्संगतिसे रुचि करें और असत्संगसे दूर रहें।

तत्त्वे तपसि वैराग्ये परा प्रीति समश्नुते।
हृदि स्फुरति यस्यांच्चैवं वृद्धवाग्दीपसंतति ॥७८८॥

सत्सङ्गसे तप, तत्त्व व वैराग्यमें परमप्रीतिकी संभूति—जिस पुरुषके हृदयमें सज्जन पुरुषोंके वचनरूपी दीपककी परिपाटी प्रकाशमान रहती है उस पुरुषके तत्त्वमें, तपमें, वैराग्य में उत्कृष्ट प्रीति बनती है। सब प्रीति का ही तो फल है। यदि तपस्वीके तपमें ज्ञानमें ज्ञानियोंमें प्रीति लग जाय तो उसका बड़ा मधुरफल मिलता है। ज्ञान स्वच्छ रहता है, चित्त प्रसन्न रहता है, शुद्धमार्ग सूझ जाता है, फिर वह अन्धकारमें नहीं रहता। और जिन पुरुषोंकी प्रीति विषयोंमें लग जाय, भोगविषयोंमें स्वादिष्ट भोजनमें, रागभरी बातें सुननेमें, रूपके निरखनेमें प्रीति जग जाय तो इस प्रीतिके कारण वह अपने को बरबाद कर डालता है, तो सब एक प्रीतिपर निर्भर है। हमारी प्रीति तपश्चरण, ज्ञान वैराग्यमें बने इसके लिए यह चाहिए कि जो वृद्ध पुरुषोंके वचन हैं, संतपुरुषोंकी वाणी है वही है दीपक की तरह। उस दीपकका प्रकाश अपने हृदयमें फैलाये तो अच्छे काममें रुचि जग सकती है। यह बहुत बड़ी विभूति है। और, जिनकी खोटी बातोंमें रुचि चले वे अपना मनोबल, वचनबल और कायबल सब समाप्त कर देते हैं। जिसके आत्मामें ज्ञानबल नहीं रहा, आत्मामें कमजोरी आयी तो उसे फिर विषयकषाय और सताने लगते हैं। तो इन संत पुरुषोंकी वाणी अपने हृदयमें रहे तो फिर कहीं भूलभुलैया नहीं है। है क्या, कहीं बैठे बैठे अपनेको मान लो कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूं, यह मैं ज्ञानमय पदार्थ अकेला ही उत्पन्न होता हूं और अकेला ही रहूंगा, अकेला ही सुख दुःख भोगता हूं। ऐसे ऐसे इस अकेले ज्ञानप्रकाशमात्र आत्माकी भावना बनायें और उस ज्ञानको अपने अन्दरसे देखें, अनुभवें तो अच्छे कार्योंमें रुचि जगेगी। शुभ कार्योंमें रुचि जगनेसे आत्मा प्रसन्न रहता है और विषयकषायोंमें रुचि जगनेसे वह कायर अप्रसन्न दुःखी रहा करता है। तो अपने आपको सुखी करनेका यही एक मात्र उपाय है कि हम सत्संग करें और अपने आपकी रुचि धर्ममें बढ़ायें, तपश्चरणमें बढ़ायें तो इसमें आत्मा पवित्र होगा और भावीकालमें हमें फिर भी धर्मका समागम प्राप्त होगा। और उस धर्मपालनके प्रसादसे हम अपने आपको पवित्र बना लेंगे। इससे कर्तव्य है कि हम ज्ञानी संत पुरुषोंकी रुचि करें, उनका अधिक समागम बनायें, उनके उपदेश श्रवण करें, और उन उपदेशोंका मनन करके अपनेको प्रसन्न बनायें।

मिथ्यात्वादिनगोत्तुगश्रृङ्गभगाय कल्पित ।
विवेक साधुसङ्गोत्थो वज्रादप्यजयो नृणाम् ॥७८९॥

साधुसंगसे उत्पन्न विवेकमें मिथ्यात्वपर्वतके भंग करनेकी क्षमता—ज्ञानी विरक्त साधु पुरुषोकी सगतिसे जो विवेक उत्पन्न होता है वह विवेक मिथ्यात्व मोह जैसे ऊँचे पर्वतके सिखरोका खण्ड करनेके लिए बज्रसे भी अधिक बलवान होता है। जैसे यह बात प्रसिद्ध है कि इन्द्रका शस्त्र बडे-बडे पर्वतोके सिखरोको चूर कर देता है उससे भी अधिक समर्थ वह विवेक जगता है जिस विवेकसे यह ज्ञानी मोह मिथ्यात्व पर्वतोके खण्ड खण्ड कर दे। मिथ्यात्व नाम है उल्टी धारणाका अर्थात् भ्रम हो जानेका। पदार्थ तो है और कुछ, समझ रहे है और कुछ, इस ही का नाम मिथ्यात्व है। ये जगतके जीव प्राय इस ही मोहसे ग्रस्त होकर अपने आपको बरबाद कर रहे है। यह शरीर सदा रहने वाली चीज नही है, आज शरीर का समागम है कहो कलको न रहे। और, जब तक शरीरका समागम है तब तक भी आत्मा न्यारा है, शरीर न्यारा है लेकिन शरीरमे यह जीव कैसी आत्मबुद्धि किए है कि यह मैं हू। और, शरीरमे जब आत्मबुद्धि कर ली कि यह शरीर मैं हूँ तो शरीरके ही खातिर जो और-और सम्बन्ध बने है उनमे भी यह ममता करता है कि यह मेरा फलाना रिस्तेदार है। अरे जीवका कोई रिस्तेदार होता है क्या ? जीवका तो शरीर भी कुछ नही है। फिर रिस्ता क्या चीज है ? लेकिन शरीरका तो शरीरसे रिस्ता चलता है ना। यह शरीर जिनके निमित्तसे जन्मा है वे तो कहलाये माता पिता। इस शरीरके निमित्तसे जो जन्मते है वे कहलाते है पुत्र पुत्री। इस शरीरको जो रमाती है उसका नाम है स्त्री। इस शरीरके जनकका जो भाई हो वह है ताऊ, चाचा। इस शरीरके उत्पन्न करने वाली माँकी जो बहिन हो वह है मौसी। सारे रिस्ते इस शरीरके कारण है। जब इस जीवने शरीरको मान लिया कि यह मैं हू तो ये सारे रिस्ते सही मालूम होने लगे। जिन भगवानको, गुरुवोको हम पूजते है उनमे और बात ही क्या थी, यही तो बात थी कि उनका ज्ञान सच्चा था, किसीसे रागद्वेष नही था, किसीसे मोह ममता न थी। वे अपने अनन्त आनन्दमे लीन रहे। ज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकको जानते रहे। यही तो विशेषता है जिससे हम प्रभुकी पूजा करते है, भक्ति करते है। हे नाथ ! जो गुण आपमे है वे गुण मुझमे प्रकट हो जायें, ऐसी मेरी निर्मल दृष्टि बने, विवेक जगे कि मैं सत्यको सत्य समझने लगूँ, असत्यको असत्य समझने लगूँ। यह सारा ससार प्राय असत्यकी ओर गया हुआ है। जीव जीव तो सब एक समान हैं। पर उनमे भी यह भेद डाल लेना कि ये मनुष्य मेरे है, ये गैर हैं, यह कोई विवेक की बात है क्या ? उन घरके चार जीवोंके अतिरिक्त अन्य जीवोकी ओर कुछ दृष्टि ही नही जाती। ऐसा जो खोटा परिणाम उत्पन्न हो रहा है, इस ही के कारण इस जीवपर अनेक

विपदाये है। इससे बढकर और क्या विपदा होगी कि सच न जानकर झूठके उपायोमे लगे रहते है। यही मिथ्यात्व है, इस मिथ्यात्व भावके कारण ही सब दुखी हैं। तो ऐसे विकट मिथ्यात्व पर्वतको भी विवेक चूर चूर कर देता है।

विवेककी सर्वसमृद्धियोंमें महनीयता—सबसे बडी समृद्धि है विवेक। यदि विवेक साथ है तो चाहे धन कम रह जाय, चाहे अन्य शारीरिक सकट आ जाये, चाहे कुछ भी स्थिति हो, सब स्थितियोको एक समान कर सकते हैं और सुखी रह सकते है। विवेक न हो तो सब कुछ होकर भी दुख ही दुख भोगना पडता है। इस ही भारत देशकी तो बात थी, पहिले जब कौरव और पाण्डव थे। उनके सब कुछ था, पर हो गया उनमे परस्परमे विद्रोह। यद्यपि पाण्डवोने कौरवोका अकल्याण नही सोचा गल्ती विशेष कौरवोकी ओरसे थी, पर कुमति जग जानेके कारण कौरव तथा पाण्डव दोनोको दुख भोगना पडा। अन्तमे महान युद्ध हुआ जिसमे लाखो मनुष्योका सहार हुआ। यह क्या विडम्बना है ? यह सब मोहका ही काम है। मोहके समान जीवका कोई दूसरा बैरी नही है। जिस ज्ञानीके चित्त मे दूसरे जीवोके प्रति प्रेम बना हुआ है, सब जीव एक स्वरूप वाले है, केवल जीवस्वरूप पर दृष्टि हैं, अपने आपमे ज्ञानप्रकाश सच्चा जग रहा हो उस पुरुषको तो सब समृद्धिया मिली हुई हैं। शान्ति सतोष हो तो इससे बढकर और धन क्या है ? जब सन्तोष धन हृदय मे प्रकट होता है तो ये सब हाथी घोडा धन वैभव मकान ये सब तृणके समान लगने लगते है। है क्या चीज ? अपना परिणाम सुधरे तो भाग्य सामने अच्छा आये। आज कल देख लो लोगोमे परस्परमे विद्रोह है, ईर्ष्याद्वेष है, दूसरोके प्रति दया नही है तो ऐसा परिणाम बननेसे देखिये समय भी किनारा करता जा रहा है। जब वर्षा चाहिए तब वर्षा नही होती जब वर्षा न चाहिए तब वर्षा होती, ककड पत्थर गिरते, एक ही क्या, अनेक प्रकारके बाहरी उपद्रव आते। भाग्य प्रतिकूल है तभी तो ये सारे उपद्रव आ रहे है। अब यह बतलावो कि धनको बढाने से, धनके लालच करनेसे क्या लाभ ? उदय अनुकूल नही है तो लाखोका धन भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। यदि हम उदारता न रखें, धनकी तृष्णा बढायें और हो जाय अचानक उपद्रव तो लो एक साथ क्यासे क्या हो गया ? किसीका कल भी पता नही कि क्यासे क्या हो जाय ? ऐसी कठिन हालतमे हम आप सबका यही कर्तव्य है कि अपने परिणामोकी सभाल करें, दयाका भाव भरे, सब जीवोके सुखोकी चाह करे, सब प्राणी सुखी हो, किसीको अपना बैरी विरोधी न मानें, इन परिणामोसे पुण्य बढता है और पुण्यसे सब कुछ साधन ठीक मिलते है। यह सब ऐसा पुण्यका परिणाम होना सत्पुरुषोके सगसे मिलता है। सज्जनोकी सगतिसे गुरुजनोके सगसे, उनकी सेवामे रहनेसे विवेक सही रहता है, कर्तव्यका भान रहता है। दूसरो पर दयाकी बात मनमे आती है।

सद्विवेकका प्रताप—सत् विवेकमे इतना प्रताप है कि जीवके बैरी मोहको चूर चूर कर देता है। देखिये घर वही है, रहना भी वही हो रहा, काम भी वही कर रहे हो, एक उसके साथ अज्ञान और लगा हो कि यह मेरा ही तो सब कुछ है, इससे ही तो मेरी तरक्की है, इससे ही मेरा हित है, बडप्पन है, यो अज्ञान बना रहे इन जडपदार्थोमे तो उसकी आकुलता देख लो कितनी तीव्र आकुलता रहती है? जरासा नुक्सान हो जाय तो छटपटा जाते है और एक वही काम किए जा रहे है कि हम ससारसे यत्र तत्र जन्म लेते रुलते आज मनुष्यभवमे आये है। जिन प्राणियोंसे हमारा कुछ भी सम्बन्ध न था वे प्राणी हमे परिवारमे मिले है, तो एक गृहस्थीके कर्तव्यके नाते हम यह सब कर रहे है लेकिन ये मेरे कुछ नही है, और, यह बात सच है कि अपना यहाँ है कुछ नही। यहाँसे मरकर न जाने कहाँके कहाँ पैदा हो गए, फिर यहाँका क्या रहा इसका? तो जो सच बात है उस सच बातकी दृष्टि बनी रहे तो गृहस्थी वही है, सब बात वही है लेकिन एक सम्यग्ज्ञान बननेसे आकुलताओमे कमी आ जाती है। विवेक सही रहता है तो अपना विवेक ज्ञान सही बना रहे यही है सबसे बडी सम्पदा। और इन जड वैभवोका सम्बन्ध यह कोई सच्ची सम्पत्ति नही है और फिर इनका भरोसा भी कुछ नही है। उदय अनुकूल हो, पुण्यका प्रभाव हो तो मनचिन्ती सम्पदा आ जाती हैं। और पापका उदय जगा तो आयी हुई सम्पदा भी खतम हो जाती है। बतावो तृष्णाका वेग उठता है कल्पनावोका क्या उठता है? तृष्णा करके थोडा उस ओर बढ़े, कुछ खेद किया तो समझो कि अपना कुछ न कुछ तो नुक्सान हो ही गया। अब कल्पनाएँ बनाये कि हमारा क्या होगा, ऐसा बन जायगा, यो बनेगा। कल्पनाओका उठना क्या? और, गनीमत है इस बातकी कि हम चाहे कि बडा नुक्सान न हो। अरे बडा भयकर कोई उपद्रव बने तो सब कुछ नष्ट हो सकता है। यो ही व्यापारकी बात है। हम सोचें, तृष्णा करे, धन जोडे, उसकी रक्षा करे तो कहाँ तक करेंगे? भाग्य अगर अनुकूल नही है तो वैभव सम्हाला न सम्हलेगा। अगर हमारा परिणाम पवित्र है, अपने भाग्यको सम्हाले हैं तो समझो कि अपना सब कुछ सम्हाला है। ये सब विवेक वृद्धसेवासे उत्पन्न होते है। ज्ञानी, तपस्वी, विरक्त संत पुरुषोकी संगतिसे ये परिणाम स्वयमेव प्राप्त होते हैं। विवेक जगता है उससे पुण्य बढता है और मिथ्यात्व आदिक मोह बैरियोका भी लोप होता है। तो सत्सगसे बढकर और कुछ वैभव नही है। ऐसे सुगम उपायसे हम अपने पापोको दूर कर ले। सत्संगके प्रतापसे भव-भवके पाप भी नष्ट हो जाते है।

अप्यनादिसमुद्भूत क्षीयते निबिडं तम।
वृद्धानुयायिना च स्याद्विश्वतत्त्वैकनिश्चय ॥७९०॥

वृद्धसत्सङ्गमें अनादिसमुद्भूत गहन अज्ञानान्धकारका भी प्रक्षय—जो पुरुष वृद्ध

पुरुषोके अनुयायी है उनका अनादिकालका उत्पन्न भी घोर अज्ञान अंधकार नष्ट हो जाता है और तत्त्वका पूर्ण सही निश्चय हो जाता है, जो जैसा है वैसा परखमे आ जाय इससे एक बडा विश्राम मिलता है। जैसे हम किसी बच्चे से कोई गणितका सवाल पूछें तो जब तक उस सवालको वह हल नही कर लेता तब तक बेचैन रहता है और जब सवालको हल कर लेता है तो तुरन्त उसका उत्तर वह बोल उठता है और प्रसन्न हो जाता है। तो भाई वह दु:खी क्यो हुआ था ? क्या उसे कोई शारीरिक कष्ट था, क्या उसे कोई मार पीट रहा था ? अरे सही ज्ञान नही हो पा रहा था, इससे वह बेचैन था, सही ज्ञान हो जाने पर उसकी बेचैनी दूर हो गई। उसके मुख पर प्रसन्नता आ गई। तो अज्ञानमे बडी वेदना होती है। ज्ञान जगने पर ही वह वेदना दूर होती है। तो सत्पुरुषोके सगसे ऐसा ज्ञान जगता है कि भव भव से चला आया हुआ अज्ञान भी दूर हो जाता है। कमसे कम इतनी असर तो तुरन्त ही पडी है सत्पुरुषोके संगमे, साधुवोके सगमे आनेसे कि मोह ममतामे कुछ ढिलाव हो जाता है। खूब देख लो—जब आप घरमे रहते हैं तो मोह ममता तीव्र बन जाती है और जब सत्सगमे आते हैं तो आपका मोह कम हो जाता है। भले ही वह जडसे न मिटे, थोडी देर बाद फिर हो जायेगा, लेकिन इतना प्रभाव तो तुरन्त मिलता है, कषायें कम हो जाती हैं। कितनी ही क्रोध करनेकी प्रकृति हो, महापुरुषोके सगमे रहने पर गुस्सामे कमी आ जाती है। यद्यपि गुस्सा जडसे नही मिटी, थोडी देर बाद गुस्सा आ जायगी लेकिन तत्काल यह असर होता है कि नही ? खामखा किसी बातपर गुस्सा करे और फिर उपयोग बदल जाता है, ज्ञानी पुरुषोंके दर्शनसे अथवा सत्संगसे एक यह उपयोग बदल जाता है, यह सत्सगका माहात्म्य दिखा रहे हैं कि वह कितनी हितकारी वस्तु है, उससे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भव भवके इस मोह अंधकारको दूर कर देता है।

सत्संगसे कषायविजयका लाभ—सत्सगमे निवास करनेका एक असर यह होता है कि मानकषाय नही रहती। लोग मानसे अपनेको उच्च समझते हैं लेकिन मान होनेसे मनुष्य पतित हो जाता है। किस बातपर अभिमान होना, ससारकी कौनसी विभूति ऐसी है जो अभिमान करने लायक है ? प्रथम तो जो मिला है उस सबका वियोग हो जायेगा चाहे हमारे जिन्दा रहते ही वियोग हो जाय। चाहे मैं मर जाऊ तो वियोग हो जाय, पर जिसका भी सयोग हुआ है उसका वियोग नियमसे होगा। फिर जिस चीजका वियोग हुआ है उसका क्या अभिमान ? और फिर मिली हुई जो ये जड सम्पदायें हैं ये तो जड ही हैं। ज्ञानरहित हैं, इनका क्या अभिमान करना ? यो मान लो कि जो कुछ तीन लोकमे पडा है है यह सब मेरा है एक मानने भरकी तो बात है, चीज तो आपकी नही बनती। यह मानते रहे कि यह मेरा घर है, यह मेरा वैभव है, यह मेरी चीज बैंकमे जमा है अथवा अमुक जगह

है, ऐसा मानते है ना। लोकव्यवस्थामे यद्यपि है वह आपकी चीज, फिर भी आपकी नही है। आपका तो यह शरीर भी नहीं है। तो इन सब जुदे पदार्थोपर काहेका अभिमान करना ? यह विवेक जगता है सत्पुरुषोंकी सगतिसे। मायाचार भी नही रहता सज्जन पुरुषो के सगमे। किस बातका मायाचार करना ? उन वृद्ध पुरुषो की संगतिमे रहनेसे एक ऐसा प्रभाव बनता है कि सरलता जग जाती है। लोभ लालच नही रहता। आप देखिये कि अब भी मनुष्योमे कितना धर्मप्रेम है कि धर्मके हित, परके उपकारके हित, अपनी सामर्थ्यके अनुसार जब तब व्यय करते ही रहते है। तो यह धर्मरुचिकी ही तो बात है। तो धर्ममय जो जीव हैं उनके सगमे रहनेसे लोभ लालचकी भी बात परिणाममे नही रहती है, ऐसा ज्ञानप्रकाश जगता है सज्जन पुरुषोके सगसे या धर्मात्मा पुरुषोकी सेवासे, वैयावृत्तिसे कि मोह अंधकार दूर हो जाता है और फिर तत्त्वका यथार्थ निर्णय हो जाता है।

स्वरूपनिर्णय और सत्संगवासे ज्ञानानन्दानुभवनके लाभका अनुरोध—मैं जीव हूँ, ये सब पदार्थ अजीव हैं। जब यह जीव इन अजीव पदार्थोंकी ओर झुकता है तो इसके कर्म बँधने लगते हैं और जब यह परको पर जानकर उससे विरक्त रहता है और अपनेको ज्ञानमात्र हू ऐसा ही अनुभव करता है तो इसका कर्मबन्ध दूर हो जाता है और अपने आपमें अवर्णनीय आनन्द प्रकट हो जाता है। भाई चाहिये तो आनन्द है ना, तो आनन्दका जो सच्चा रास्ता है उस रास्तेका ज्ञान जरूर करना चाहिए और अपनी शक्ति माफिक उस रास्तेपर चलना चाहिए। आनन्द पानेका रास्ता है अपनेको सबसे भिन्न समझ लो। परको पर समझ लो और यह निर्णय करलो कि किसी परपदार्थके कैसे ही परिणमन होनेसे मेरे आत्मामे सुख दुःख नही होता, किन्तु मैं ही अपने अज्ञानमे आ जाऊँ तो दुःखी होता हू और मैं ही ज्ञानमे आ जाऊँ तो सुखी होता हूँ। यह बात यथार्थ सत्य है, अतएव मैं परको पर जानकर उसमे मोह न करूँ और अपनेको आत्मस्वरूप परमात्मस्वरूप भगवानका रूप निरखकर अपनेमे प्रसन्न रहा करूँ, ऐसी यदि हम परिणति बना सके तो हमने इस मनुष्यजन्म का लाभ लिया और यदि विषयोमे, कषायोमे, क्रोध, मान, माया, लोभ, ममता, अहंकार, व्यसन, पाप हिसा इन ही बातोमे यदि अपना चित्त लगाया तो मनुष्य होना, पशु होना, पक्षी होना, ये सब एक ही प्रकारकी बातें है। मनुष्य होकर कोई खास लाभ न लिया तो क्या फायदा पाया ? समस्त लाभोमे लाभ है सत्संग करना। जो ज्ञान और तपस्यामे बढे हुए सत्पुरुष हो उनका संग करना इससे वे सभी गुण प्रकट होते हैं, वह ज्ञानप्रकाश जगता है जिस ज्ञानप्रकाशमे हम अपने शान्तिपथकी ओर चल सकते है। सत्संगमे रुचि करो और अधिकाधिक अपनेमे ज्ञान प्रकट करनेका यत्न करो।

अन्तःकरणज कर्म यः स्फोटयितुमिच्छति।
स योगिवृन्दमाराध्य करोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥७९१॥

सत्संगसेवासे कर्मभेदन कर आत्मावस्थितिका लाभ--जगतमे जो जीवोमे विचित्रता देखी जाती है, कोई पशु योनिमे है, कोई पक्षी, कोई मनुष्य और कोई किसी प्रकृतिका है, कोई किसी प्रकृतिका है। जो ये नाना भेद देखे जाते हैं। यह सब अपने अपने करनीके भेदसे हैं। सब जीवोकी जैसी करनी होती है उस करनीके अनुसार वैसा शरीर मिलता है, सुख मिलता है और उसही करनीका कर्म बधता है। तो ऐसे मनसे उत्पन्न हुए ये पापकर्म कैसे दूर हो उसका उपाय बताया जा रहा है, भव-भवके बाँधे हुए ये कर्म दूर हो सकते हैं। अपने आत्माके ज्ञानसे परपदार्थोमे मोह किया कि नाना कर्म बध जाते है। दूसरेके मोहकी बात तो झट समझमे आ जाती है कि यह कितनी गल्ती कर रहा है, यह इतना तेज मोह रखता है। भिन्न पदार्थोमे यह व्यर्थ मोह रखता है। यो दूसरे की बात तो जल्दी समझमे आ जाती है पर अपने मोहकी पहिचान जरा कठिन होती है। दूसरेकी मूर्खता जल्दी समझमे आ जाती है, यह कितना मूर्ख बन रहा है, कैसा क्रोध करता है, कैसा विषयलोलुपी है, यो दूसरे की गल्ती जल्दी मालूम हो जाती है किन्तु अपनी गल्ती अपने दिमागमे नही आती है, यह सब मोहका ही कारण है। अपने आपकी पर्यायमे इतनी ममता है कि इसे अपनी गल्ती समझमे नही आती। जैसे कोई बीमार हो तो वह परहेज न कर पाये तो लोग उसे धमकाते है और उसे समझाते है कि तू जरा भी जीवको वशमे नही कर पाता और दुःखी रहता है और स्वयका कोई परहेज हो तो बिरले ही लोग ऐसे हैं जो अपने खुश मनसे परहेज को कर लें, नही तो उस वस्तुकी चाह लगी रहती है कि खानेको मिले। और, रोग भी ऐसा होता है कि जिस रोगमे जो चीज अहितकारी है उसकी इच्छा होती है। तो दूसरे की गल्ती झट समझमे आती है, अपनी गल्ती बहुत देरमे समझमे आती है। अपनी गल्ती अपनी समझमे आ जाय तो यह भी एक बडा ज्ञान है। मनुष्यको चाहिए तो यह कि रोज एक बार यह विचार करले कि मैंने किसी को सताया तो नही। मैंने किसी पर क्रोध तो नही किया। अगर अपनी गल्ती समझमे आये तो अपनी गल्ती का पछतावा करें, मैंने यह कार्य अच्छा नही किया। इस असार ससारमे मैंने व्यर्थ ही किसी दूसरे को यो सताया या क्रोध किया उससे मुझे लाभ कुछ नही हुआ। बल्कि अपना ही बिगाड कर लिया। जिस किसी को भी सताया हो या उस पर क्रोध किया हो तो उसके समीप जाकर कहे कि भाई मुझे क्षमा करो। वीर धीर पुरुष ज्ञानी पुरुष अपने किए हुए अपराधमे क्षमा माग लेनेमे रंच भी संकोच नही करते है। हाँ किसीका अन्याय न सहें, यह भी मेरा काम है, पर अपने द्वारा किसी पर कुछ अन्याय हो गया हो तो उसकी क्षमा माग लेनेमे कोई हानि नही है। यही तो उसका बडप्पन है। जो मनुष्य अभिमानसे रहता है उसका जनतामे कुछ बडप्पन नही होता। जितनी नम्रतासे रहे, दूसरोके जितना उपकारमे रहे उतनी ही उसकी लोकमे

प्रतिष्ठा होती है।

अपने पारमार्थिक लाभ हानिके समझ लेनेका कर्तव्य—यह कर्तव्य है सबका कि अपना दिनभरका हिसाब देखे। जैसे व्यापारी लोग अपने व्यापारमे आय व्ययका हिसाब लगाते है, अपना नफा नुकसान देखते है ऐसे ही अपनी दिनचर्याका रोज हिसाब देखना चाहिए। यह काम तो सब कोई कर सकता है। रुचिभर चाहिए। इसमे धनी और गरीब की कोई बात नही है। अपनी रोजकी की हुई गल्तियोका परखना और अपनी की हुई गल्तियोपर पछतावा करना यह तो सभी लोग कर सकते है, सभी पुरुष, सभी महिलायें यह काम कर सकती है, उससे दूसरे दिन सावधान रहनेकी प्रेरणा मिलती है, अब ऐसी गल्ती कल न हो, उसके लिए मार्ग मिलता है। रोजकी चर्यामे रोज किसी समय अपना लेखा लगाना और जो गल्तिया हुई है उनका पछतावा करना, आगे दिन ऐसी गल्तिया न होने देनेका संकल्प करना यह जीवनको पवित्र बनाने वाला कार्य है। जब कभी हमारे किसी दुर्व्यवहारसे इन्द्रियके विषयोमे आसक्ति हो अथवा कभी मान आदिकके वशीभूत होकर अट-पट कार्य करनेसे जो भी कर्म बधते हैं उन कर्मोंको यदि नष्ट करनेकी चाह है तो उसका यह उपाय है कि अपने आत्माका ज्ञान करे। मेरा आत्मा जगतके समस्त पदार्थोंसे न्यारा प्रभुवत् ईश्वररूप है, ज्ञानानन्दस्वरूप है, इसमे कोई क्लेश ही नही। अज्ञान रागद्वेष मोह ये तो कोई विकार नही, ये तो उपाधिसे अर्थात् दूसरोके संगसे खोटे भाव होने लगते है। हमारा स्वभाव नही है ऐसा कि हम खोटे विचार बनाते ही रहे। तो आत्माका जो सत्य स्वरूप है, जिसके दर्शन करनेपर सब जीव एक समान नजर आते है, फिर मेरा न कोई किसीसे सम्बन्ध है, न किसीका कोई परिजन मित्रजन है, ऐसा विशुद्ध विचार रखने वाला पुरुष कर्मोको नष्ट करता है। तो ऐसे आत्माकी भावना सत्सगसे बनती है। जिन योगिराजोके साधुवोके साधुसंतोके संगमे रहनेसे ऐसी ज्ञानकला प्रकट होती है अपने आत्माका अनुभव जगता है, और उस अनुभूतिकी प्राप्तिसे कर्मोंका नाश होता है। यह है असली प्रोग्राम। बाकी तो सब बाते अपने भाग्यके उदयके अनुकूल चलती ही रहती है।

एकैव महता सेवा स्याज्जेत्री भुवनत्रये।
ययैव यमिनामुच्चैरन्तर्ज्योतिर्विजृम्भते ॥७६२॥

वृद्धसेवासे अनुपम विजय—महान पुरुषोकी-सेवा ही एक तीन लोकमे जयशील है। सब कामोसे विजीय परिणाम रखने वाली विद्या है बडोंकी सेवा। लोकव्यवहारमे भी जो बडे जन हो, गुरुजन हो, शिक्षा देने वाले हो, माता पिता हो, बुजुर्ग हो, अपने हितकारी कोई हो उनके सामने विनयपूर्वक रहना, भक्तिसे रहना इससे आत्मामे बडी योग्यता बढती है। और उसके पुण्य होता है और सुख समृद्धि उसके सामने आती है। बडोकी सेवा करना यह

बहुत बडा मूल गुण है, बडेके दिलसे कोई अशीष निकले, बडे पुरुष किसीके हितका चिन्तन करें तो उसके ख्यालसे आश्वासनसे बडे-बड़े सकट दूर हो जाते हैं। दुवा अशीषका भी तो कुछ महत्त्व है, जिसपर बडेकी दुवा नही है, अशीष नही है वे पुरुष जीवनमे सुखी शान्त नही हो पाते। और, फिर उद्दण्डता किस बातपर करनी ? यहाँ अपना क्या साम्राज्य गाड जाना है, क्या करना है, किनके लिए अन्याय करना है, अपने बडे बूढे माता पिता इनकी भक्ति करना, विनय करना, सेवा करना यह बहुत बडा गुण है, इससे बडी शान्ति मिलती है। उद्दण्डताका व्यवहार करना, इससे कुछ तत्त्वकी बात नही मिलती। और, फिर यहाँ लोकव्यवहारमे बडोकी सेवा करेंगे तो भगवानकी भी भक्ति बन सकेगी और यदि दुर्व्यवहार करेंगे तो उनसे भगवानकी भी भक्ति सेवा बन नही सकती। तो बडोकी सेवा ही इस लोकमे जयशील होती है। और, इससे ही बडे विचारशील मुनियोके मनमे ज्ञानरूपी प्रतीतिका प्रकाश विस्त्रित होता है। बुद्धि ही तो है। यदि अच्छी ओर लग जाय तो बुद्धि और स्पष्ट निर्मल हो जाती है और थोडा मलिन कामकी ओर बुद्धि लग जाय तो वह बुरा काम बुद्धि को मलिन कर देता है और जिससे बुद्धि बुरे काममे लगती ही चली जाती है। तो बुद्धि खोटे काममे न लगे, इसकी रोक करने वाली कोई और औषधि है तो वह है सत्सगति। सत्संगमे साधुसतोकी सेवामे रहने वाले व्यक्तिके कभी किसी पापोदयसे कोई मलिन परिणाम भी हो जाय तो फिर सम्हाल हो जाती है। मलिन पापोका कारण है यह धन परिग्रह। इससे मूर्छा हटे और सज्जन पुरुषोकी सगतिमे चित्त जमे तो उसका कल्याण अवश्य होगा।

परिग्रहसम्पर्कसे सद्भावनेभवका विनाश—एक कथानक है—दो भाई थे। दोनो धन कमानेके खिए परदेश चले गए। धन खूब कमाया और कई वर्ष बादमे सोचा कि चलो अपने घर चले, उतना धन कैसे ले जाया जा सके ? तो सब धन बेचकर दो रत्न खरीद लिए। दो रत्न लेकर चले, रत्न बडे भाईके हाथमे थे, समुद्रका रास्ता था। समुद्रमे नाव पर बैठे जब चले जा रहे थे तो बडा भाई सोचता है कि ये रत्न तो हमने कमाये। घर जाकर बट जायेंगे, एक ही रत्न मिलेगा, सो ऐसा करे कि इस छोटे भाई को समुद्रमे ढकेल दे। यह मर जायेगा तो हमे दोनो रत्न मिल जायेंगे। फिर थोडा सभला सोचता है, ओह मैंने यह क्या सोच डाला था इन रत्नोके कारण ? यह सोचकर वह अपने छोटे भाईसे कहता है कि ये रत्न अपने पास रख लो हम न रखेंगे। जब छोटे भाई ने अपने पास वे रत्न रख लिए तो उसके भी मनमे वही खोटे भाव आ गए। वह सोचता है कि ये रत्न कमाये तो हमारी बुद्धिसे गए हैं, घर जाकर बट जायेंगे, हमे एक ही रत्न मिलेगा, सो ऐसा करे कि इस बडे भाई को ढकेल दे, यह मर जायेगा तो हमे दोनो रत्न मिल जायेंगे। वह

भी सभला। सोचा—ओह मैने क्या व्यर्थ की बाते सोच डाला था इन रत्नोके कारण ? खैर, किसी तरह जब घर पहुंचे तो वे रत्न अपनी बहिनको दे दिया। वहिन भी सोचती है कि ये रत्न तो भाई हमसे ले लेगे, सो ऐसा उपाय कोई करे कि ये भाई मर जाये तो ये रत्न हमे मिल जायेगे, फिर वह सभली, उसने भी अपने पास उन रत्नोको रखना स्वीकार नही किया, आखिर वे रत्न मा के पास रख दिये। माँ भी सोचती है कि ये रत्न बडे अच्छे है पर इन्हे लडके छुडा लेगे, अगर इन्हे अच्छी तरह छिपाकर रहे तो बुढापा हमारा अच्छा कटेगा। न जाने बुढापेमे कोई सेवा करे न करे, सो उसने भी उन रत्नोको छिपाकर रखने की सोची, बादमे वह भी सभली। अपने बेटोसे बोली—यह क्या आफत लाये हो, ये तो बडी खराब चीज है। तुम इन्हे अपने पास रखो, हमे न चाहिए। आखिर सबने अपनी अपनी बात बतायी और अन्तमे यह तय हुआ कि इन्हे समुद्रमे फेंक दिया जाय। गरीबी अच्छी है पर यह चीज अच्छी नही है, ऐसा ही किया। तब सब सुखी रह सके। तो बुद्धि बिगडती है इस परिग्रहमें मूर्छा बुद्धि रखनेमे। आपसमे भाई-भाई लड जाते है। अरे भाई किसीके पास सम्पदा कम भी हो और भाग्य अच्छा हो तो कुछ ही समयमे सब कुछ सम्पदा आ जायगी, और अन्यायसे कुछ ज्यादा रख ले और भाग्य साथ न दे तो कितने दिन रहेगे ? अपने भाग्य पर भरोसा रखना चाहिए सासारिक कामोमे और अपने भाग्यको ठीक बनाये रखनेके लिए परिणाम उज्ज्वल रखना चाहिए।

विशुद्ध भावनासे अपना भविष्य विशुद्ध बनानेका अनुरोध—किसी भी मनुष्यको मेरे कारण कोई विपत्ति न आये, ऐसी शुद्ध भावना रखना चाहिए और अपने जान जितना बन सके दूसरे लोग सुखी रहे ऐसा उद्यम करे, थोडे खर्च भी करने पडें, शरीरसे सेवा भी करनी पडे तो ये सब करके दूसरो को प्रसन्न रखने की, सुखी रखनेकी हमारी ओरसे चेष्टा और इच्छा होनी चाहिए। जो सबका सुख चाहता है उसको सुख नियमसे मिलता है, और जो दूसरेका दुःख चाहता है तो वह दूसरा चाहे दुःखी न हो पर खुदको दुःख अवश्य हो जाता है। जैसे कोई पुरुष हाथमें आग लेकर किसी दूसरेको मारे तो वह मारने वाला तो जल ही जाता है और जिसके मारा है वह जले या न भी जले। जो दूसरेकी चीज हडपने की, दूसरे के साथ अन्याय करनेकी कोशिश करेगा वह पहिले अपना पुण्य तो खतम ही कर लेगा। तो विशेष बात यह करनेकी है कि अपने भाव अच्छे रहे। किसीका विगाड करने की बात बनमे न आये। ये सब बाते महान पुरुषोकी सेवा करनेसे मिलती रहती है। जो हमारे करने योग्य काम है हित अहित सबका विवेक महान पुरुषोकी सेवासे होता है। तो सत्सङ्ग एक ऐसा मुख्य साधन है कि जिससे हमे हित अहित की सुध रहती है और जिसमे हमारा हित हो उसमे लगे रहनेकी भावना और चेष्टा बनती है। इससे सत्सङ्गको बहुत

महत्त्वपूर्ण कार्य समझना चाहिए।

दृष्ट्वा श्रुत्वा यमी योगिपुण्यानुष्ठानमूर्जितम्।
आक्रामति निरातङ्कं पदवीं तैरुपासिताम् ॥७६३॥

सत्संगसे संतोंकी भांति सद्विकासका लाभ—जो सज्जन पुरुष होते है संयमी ज्ञानी मुनि उन संत पुरुषोंका आचरण देखकर अथवा किन्ही संत पुरुषोंकी कथा सुनकर खुदके परिणाम निर्मल होते हैं और ऐसी इच्छा जगती है कि उन योगीश्वरो जैसा कार्य करके ऐसे उत्कृष्ट सुखको प्राप्त करना है जिस सुखमे बीचमे कही उपद्रव न आना चाहिए। सत्संगका ऐसा असर होता है। एक कविने कहा है कि दो तोते थे भाई भाई, एक साथ पैदा हुए, उनमेसे एक तोता तो आ गया चाण्डालके घर जिसका हिंसा करनेका काम था, शिकार शिकारकी ही जिसमे रट थी ऐसे पुरुषके घरमे आ गया किसी ज्ञानी पुरुषके घरमे। तो कुछ समय बाद उन तोतोपर ऐसा असर पडा कि जो हिंसकके घरमे आया था वह तोता तो काटो छेदो आदिकी रट लगाये और एक तोता राम रामकी रट लगाये। तो देखो संगतिका ऐसा ही असर होता है। जब पशु पक्षियोपर भी सत्संगका असर लगता है तो मनुष्यपर क्यो न लगेगा? जिस मनुष्यको अपनी उन्नति चाहिए वह अपना सम्बन्ध अपनेसे बडोका रखे, संयमपूर्वक रहते हुए जो ज्ञानवार्ता करता हो जिसके चित्तमे ज्ञान समाया हो ऐसे मनुष्यके निकट बैठें, मन न लगता हो तो जबरदस्ती बैठें, कुछ समय बाद ऐसा प्रभाव होगा उस सत्संग का कि स्वयं अच्छे आचरणमे लग जायगा। सत्संगसे अधमसे अधम भी तिर गए, ऐसे बहुतसे कथानक मिलेगे। जब बड़ोका आचरण देखते है तो खुद भी वैसा ही आचरण करनेका प्रयत्न करने लगते हैं। यही एक कारण है कि अच्छे पुरुषकी सोहबतमे रहनेसे अपनेमे अच्छे गुण आ जाते हैं। जो पुरुष ज्वारी हो, मांसभक्षण, मदिरापान करते हो, स्त्री व्यसन करते हो, चोरी करते हो, झूठ बोलते हो, दूसरोकी निन्दा करते हो ऐसे पुरुषोका संग करने से खुद भी ये अवगुण आ जाते हैं तो आप अपनी जिन्दगीमे सिर्फ दो ही कामो पर दृष्टि डाले—एक तो कभी क्रोध न करे और दूसरे कभी दूसरोकी निन्दा न करे। मोहका छोडना यदि कठिन है तो हम उसकी बात अभी नही कह रहे लेकिन मोहके त्यागे बिना तो धर्ममार्ग मे कोई चल ही नही सकता, पर वह बडा कठिन लग रहा होगा, वह तो ज्ञान द्वारा दूर होता है। तो इतनी बात चित्तमे लावें कि कभी क्रोध न करें और दूसरोकी निन्दा न करे।

क्रोधमें स्वगुणदहन—देखिये क्रोधमे अपने समस्त विवेक खतम हो जाते है, अपनी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, फिर कभी हितकी बात नही सोच सकते। क्रोध करके तो यह जीव अपना सारा बिगाड ही कर लेता है। जिसपर क्रोध किया है वह तो तुरन्त सजा देनेकी

सोचेगा। अपना आत्मा तो आनन्दस्वरूप है, ईश्वरका रूप है। इस आत्माने क्रोध करके जो अपनेको सता डाला तो यह अपने आपपर अन्याय ही तो किया। दुनियामे देख लो, क्रोध करके किसीने कोई लाभ पाया ? बडे-बडे पुरुषोका चारित्र देख लो, क्रोध करके वे भी यत्र तत्र कितना पीडित रहे ? और, फिर सर्वत्र क्रोधमयी जीवनमे सार कुछ भी नही निकलता है। खुदको परेशान करना, दूसरे जीवोको दुःखी करना यह कोई भली बात नही है। पहिली बात तो जीवनमे समानी चाहिए कि हमे अपने जीवनमे क्रोध न करना पडे, क्रोध न करे और दूसरी बात बतायी है निन्दा न करना।

निन्दक और निन्दाकी निन्द्यता—निन्दा करने वालेको तो सबसे अधिक निन्दनीय बताया गया है। उसे एक तरहसे चाण्डालकी उपमा दी है। सबसे अधिक चाण्डाल पशुवोमे गधा, पक्षियोमे कौवा और मनुष्योमे निन्दक। जो पुरुष दूसरेकी निन्दा करता है वह दूसरोसे आदर नही पाता है बल्कि दूसरोकी निगाहमे गिर जाता है। लोग समझ जाते है कि इसका तो बडा तुच्छ हृदय है और यो कल्पनाएँ लोग कर लेते कि इसकी कुलपरम्परामे भी ऐसे ही दूसरोकी निन्दा करने वाले लोग होगे तो निन्दा करना बहुत खोटी प्रवृत्ति है, और, निन्दा करने वालेको बिना मतलबमे विपत्ति मिलने लगती है। जिसकी निन्दा की, वह भी अपनी मण्डली बनाकर उससे बदला लेनेकी बात सोचेगा। तो निन्दक पुरुषकी कोई इज्जत नही रहती। और, जो निन्दा करना एक बहुत बडा दुर्गुण समझते है, निन्दासे दूर रहते है वे मनुष्य होकर भी देवस्वरूप बन जायेगे।

क्रोध और निन्दा न करनेके कर्तव्यकी उन्निर्न्णको अत्यावश्यकता—एक तो क्रोध न करना और एक निन्दा न करना ये दो मुख्य गुण प्रत्येक व्यक्तिमे होना चाहिए। क्रोध न करनेके लिए थोडा यह विवेक जरूर होना चाहिए कि जगतके ये सब जीव है, उन सब के अपनी अपनी कषाये लगी है और अपनी-अपनी कषायोके अनुसार ही वे अपना काम करते है। उनसे मेरा क्या विगाड है ? मेरा ही भाव खोटा हो तो मेरा बिगाड होगा। अपना परिणाम क्यो विगाडे ? अपने परिणामोको निर्मल रखे तो मेरे क्षमा बनी रहेगी। क्रोध न होगा। ये दो दुर्गुण छूट जायें तो आत्मामे एक बहुत बडी शान्ति सन्तोष प्राप्त होगा। ये सब बाते मिलेगी किसी महान् पुरुषकी सेवामे रहनेसे। उनके पवित्र आचरणको देखकर यह इच्छा होगी कि मैं तो ऐसा ही आचरण करूँ और मैं भी इसी प्रकार शान्त सुखी हो सकूँ। तो महापुरुषकी सगतिका बहुत बडा माहात्म्य है। अपना श्रम करके सब कुछ न्यौछावर करके भी कोशिश यह करते रहे कि संत महतोका, ज्ञानी पुरुषोका संग अधिकाधिक मिलता रहे, उससे परिणाम निर्मल होगा। परिणाम निर्मल होनेसे पुण्यबध होगा और विशेष निर्मलतासे धर्मलाभ होगा। धर्मलाभ होनेसे सुख शान्ति प्राप्त होगी।

विश्वविद्यासु चातुर्यं विनयेष्वतिकौशलम् ।
भावशुद्धिः स्वसिद्धान्ते सत्सगादेव देहिनाम् ।।७६४।।

सत्संगसे विद्याचातुर्यका लाभ—सत्पुरुषोकी सगतिसे समस्त विद्यावोकी चतुरताकी प्राप्ति होती है । जो बाते वचनोसे नही मिलती, वे सज्जन पुरुषोके संगमे रहनेसे प्राप्त हो जाती है । सज्जन पुरुषोकी रात दिनकी चर्याके अवलोकनसे उनकी प्रयोगात्मक धीरता और गम्भीरताके अध्ययनसे जो बाते प्राप्त होती हैं वे बाते सीखनेसे सुननेसे भी प्राप्त नही हो सकती है । जो अनुभवपूर्ण ज्ञान सत्पुरुषोके सगमे रहनेसे प्राप्त होता है वह ज्ञान बडे बडे याद करनेसे, परीक्षा देनेसे, सीखनेसे भी नही प्राप्त होता जैसे तैरनेकी कला कोई वचनो से खूब सिखा दे, यो पैर फटकाना, यो हाथ चलाना, यो तैरनेकी सारी विधियाँ चार छ महीने तक कोई खूब पुस्तकोसे अध्ययन करा दे और बादमे परीक्षा करनेके लिए उन्हे किसी नदीमे ढकेल दे तो क्या वे बच्चे उस नदीमे तैरने लगेंगे ? कोई कहे मास्टरसे कि तुमने क्यो इन बच्चोको पानीमे ढकेला ? तो वह मास्टर कहेगा—वाह हमने तो इन्हे चार छ माह तक खूब तैरनेकी कलाका अध्ययन कराया । आज इनकी परीक्षा की । अरे भाई तैरने की बात वचनोसे नही आती, पानीमे गिरकर अनेक बार तैरनेका अभ्यास करनेसे तैरनेकी कला आती है । ऐसे ही रोटी बनानेकी कला है । कोई वचनो द्वारा रोटी बनानेकी कला खूब सिखा दे और फिर धर दे आटा उसके सामने कि साहब बनाओ रोटी, तो क्या वह रोटिया बना लेगा ? अरे शब्दो द्वारा रोटी बनानेकी कला नही आती । ऐसे ही समझ लो—जो बाते बहुत-बहुत वचनोंसे सिखानेपर भी नही सीखी जा सकती वे बाते सज्जन पुरुषोके सगमे रहकर सीख ली जाती है । उनकी चर्यासे, उनके विचारोसे, उनकी मुद्रासे जो अध्ययन मिलता है वह अध्ययन एक विलक्षण होता है और चित्तपर सीधा सही प्रभाव करने वाला होता है ।

सत्संगसे विनयकुशलताका लाभ—सत्पुरुषोके सगसे सभी प्रकारकी निपुणता प्राप्त होती है । पहिला गुण तो यह अतिशयपूर्वक प्रकट होता है । दूसरा गुण सत्पुरुषोके सगसे यह प्राप्त होता कि विनयमे अति प्रवीणता ऐसी हो जाती है जो लौकिक और पारलौकिक दोनो सुखोका कारण बनती है । भावोकी विनय कही परीक्षा करके सिखानेसे तो नही आ सकती । यो तो कसरत कहलाने लगेगा । इस तरह सिर नवावो, इस तरह बैठो, इस तरह झुको यह सब तो कवायत है । विनय नाम तो उस भावका है जो विशेषरूपसे सत्पथमे लग जाय । विनयमे दो शब्द हैं—वि और नय । वि तो उपसर्ग है और नय धातु है ले जानेके अर्थमे । जो आत्माको विशेषरूप हितपथकी ओर ले जाय उसे विनय कहते है । यह विनय-भाव उत्पन्न होता है सत्पुरुषो के सगमे निवास करने से । जब सज्जनो के गुण चित्तमे भा

जाते है और उन गुणो पर विशेष अनुराग जगता है तो उस गुणानुरागके कारण आत्मामे विशेष विनयभाव उत्पन्न होता है। तो विनयमे अति प्रवीणता सत्सगसे उत्पन्न होती है। भैया! विनय बिना कही सुख न मिलेगा। इस लोकमे भी जो पडोसियोसे, अन्य लोगोसे सद्व्यवहार अपनेको प्राप्त होता है वह विनयके कारण ही होता है। किसी पुरुषसे अविनय से बोले, अरे आदिक धुतकारनेके शब्दोका प्रयोग करे तो उसके एवजमे क्या मिलेगा दूसरे से, इसका अनुमान करलो। दूसरेसे अच्छा बोलेंगे तो दूसरे से भी अच्छा बोलनेकी आशा की जा सकती है। विनय बिना पुत्र भी पितासे सुख नही पा सकता, विनय बिना मित्रता भी नही रह सकती है। विनय बिना व्यापार भी नही चल सकता। लौकिक कार्य भी विनय पर निर्भर है, और मोक्षका कार्य तो विनय पर अधिक निर्भर है।

विनयके प्रकार व लाभ—विनय ५ प्रकारके कहे गए है–ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनय। ज्ञानी पुरुषोका और ज्ञानभावका विनय करना ज्ञानविनय है। ज्ञानी पुरुष और ज्ञानगुणका महत्त्व समाया रहे यही महान पुरुष है, यही महान्भाव है। ज्ञानसे ही इस ससारसागरसे तिरा जा सकता है। ज्ञानसे ही शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार ज्ञानका विनय रखना, यही है ज्ञानविनय। दर्शनविनय–जो श्रद्धानी जीव है, प्रभुके भक्त है ऐसे पुरुषोका विनय करना और सम्यग्दर्शन नामक गुणका विनय करना यही है दर्शनविनय। ये जगतके जीव इस निज श्रद्धानको नही पा रहे है अतएव ससारमे रुल रहे हैं। सत्य श्रद्धान प्राप्त हो तो इसका संसारका रुलना समाप्त होगा। यो सम्यक्त्वके गुण चिन्तनमे रखना यह सब दर्शनविनय है। जो मनुष्य चारित्रके धारी है, जिनका व्रत सयम जीव रक्षा करने वाला है ऐसे व्रती सयमी साधुवो की विनय करना सो चारित्रविनय है। तपश्चरण करने वाले साधु सतोका विनय करना और तप की महिमा जानना सो तपका विनय है। और, यहाँ व्यवहारमे एक दूसरेको देख कर उनसे विनय करना उपचार विनय है। जो जीव मोक्षमार्गी मनुष्योका विनय करते है वे अपने आपके ही उद्धारके लिए विनय करते है। ये सब विनय गुण भी सज्जन मनुष्योके सङ्गमे रहकर प्राप्त किए जाते है।

सत्सगके अन्य लाभ—सत्पुरुषोके संगसे तीसरा गुण यह अद्भुत प्रकट होता है कि अपने सिद्धान्तमे भावोकी शुद्धि बनती है। तत्त्वके सम्बन्धमे नि सन्देहता जगती है। कितनी ही ज्ञानकी बाते ऐसी है कि सुन सुनकर उनमे मजबूती नही आती। सन्देह बना रहता है और सत्पुरुषके सगमे रहनेसे सन्देह मिट जाता है। और, तत्त्वका ज्ञान सत्पुरुषो के सग रहने से दृढतापूर्वक होता है, सन्देहरहित होता है, वहा ज्ञानमात्र ग्रन्थोके अध्ययन

कर लेने से भी नही होता । तो सत मनुष्योके समागमसे ये तीन महागुण प्रकट होते है। समस्त विद्यावोमे चतुराई आना, विनयमे अत्यन्त प्रवीणता बनना ये गुण सत्सगसे प्रकट होते है।

यथात्र शुद्धिमाधत्ते स्वर्णमत्यन्तमग्निना ।
मन सिद्धि तथा ध्यानी योगिसंसर्गवह्निना ॥७९८॥

सत्संगसे सिद्धिलाभ—जैसे इस जगतमे अग्निके सयोगसे स्वर्ण अत्यन्त निर्मल हो जाता है इसी प्रकार योगीश्वरोकी सगतिरूप अग्निसे ध्यानी मुनि अपने धर्मकी सिद्धिको प्राप्त हो जाते है। स्वर्णमलिन हो तो अग्निमे तपानेसे स्वर्ण निर्मल बनता है ऐसे ही जो मलिन मनुष्य है, जो विषयकषायोसे मलिन परिणाम रख रहा है ऐसा मनुष्यो भी सत्सग मे रहकर अपनी मलिनताको छोड देता है, सत्सग विना जीवन क्या, फिर तो जैसे पशु पक्षी का जीवन है, उनका काहेका सत्सग है ? वे अपनी गोष्ठीमे रहते हैं, विषयकषायोमे मग्न रहा करते है। तो यह बात पशुवोमे भी है, मनुष्योमे भी है, अन्तर क्या आया ? अन्तर तो यह है कि मनुष्य तो सत्सग करता है और पशुपक्षियो मे सत्सग नही है। मनुष्य गुणी मनुष्योका समागम करके अनेक विद्यावोका लाभ प्राप्त करता है, मुक्तिका पथ इस मनुष्य-भवसे ही प्राप्त होता है। तो सत्सगसे सर्व प्रकारके सकट दूर हो जाते हैं, निर्वाणकी प्राप्ति हो सकती है। यद्यपि एक आत्मध्यानके करनेसे आत्मामे वह पवित्रता जगती है कि मुक्ति प्राप्त होती है लेकिन आत्मध्यान वह कर सका, ऐसी आत्मध्यानकी पात्रता उसे तभी तो जगी जब उसने सत्सगसे गुरुजनोसे कुछ अनुभव किया, इसके बाद वह आत्मध्यानमे निपुण बन सका। तो जितनी भली बाते है वे सब सत्सगसे प्राप्त होती है। जो परिणाम सत्सग मे पहुँचनेसे शीघ्र निर्मल हो जाता है, इस कारण महामनुष्योंके सगका अधिकाधिक ध्यान रखना चाहिए। यह सत्सग ऐसी विलक्षण अग्नि है कि जिस अग्निका सम्बन्ध पाकर विषय-कषायोकी मलिनता दूर हो जाती है और यह आत्मा शुद्ध स्वर्णके माफिक निर्दोष बन जाता है, मनुष्यका धन ही यह है कि वह अपना चारित्र निर्मल रखें, अपने चित्तमे विकार न आने दें, यही मनुष्यका धन है, यह धन यह ब्रह्मचर्य वृद्ध मनुष्योकी सेवा करनेसे प्राप्त होता है। जिसके ब्रह्मचर्य व्रत नही है उसके धर्मके नामपर किए गए सारे काम व्यर्थ है। व्यभिचारकी प्रकृति है तो उस मनुष्यको किसी भी धर्मका फल नही मिलता। ब्रह्मचर्यमूलक समस्त साधन और इस ब्रह्मचर्यकी सिद्धि सत मनुष्योके समागमसे अनायास प्राप्त हो जाती है। यह सत्सग मनकी शुद्धिका अद्‌भुत कारण है अतएव जो ज्ञानी मनुष्य है, ससार, शरीर, भोगोंसे विरक्त है, जिसका केवल आत्मकल्याण ही ध्येय है, जो आत्मनिरीक्षणका ही सदा उद्यमी रहता है ऐसे मनुष्यकी सेवा मिले, सगति मिले यह एक अद्‌भुत कार्य है।

भयलज्जाभिमानेन धैर्यमेवावलम्बते ।
साहचर्यं समासाद्य सयमी पुण्यकर्मणाम् ॥७९६॥

सत्संगसे संयमीका पुण्यलाभ—सत्संगमे रहनेसे मनुष्य बहुतसे पापोसे बच जाता है। कदाचित तीव्रका पापका उदय आ जाय, परिणाम बिगडने लग जाय तो भी सत्संगमे रहनेसे भय, लज्जा, स्वाभिमान आदिके कारण वह अनेक पापोसे दूर हो जाता है। वह सोचता है कि इस महान सगतिमे रहकर यदि मैं खोटा कार्य करूँ तो यह मेरे लिए धिक्कारकी बात होगी। लोग मुझे तिरस्कृत कर देगे। यो पापोके करनेसे उसे लज्जा आती है। वह लज्जावश, अपने गौरववश अनेक पापोसे दूर हो जाता है। मेरी प्रतिष्ठा है, लोग मुझे यो मानते है, यदि मैं कोई खोटा कार्य करूँ तो इसमे मेरी हँसी होगी। तो सत्सगमें रहकर लज्जा, भय, स्वाभिमान आदिके कारण वह अनेक पापोसे दूर हो जाता है। तथ्य तो यह है कि सत्पुरुषोकी प्रवृत्तिको निरखकर दिलपर इतना उच्च असर पहुंचता है कि यह पापोसे हटकर धर्मके कार्योमे अपने आप लग जाता है। तो सत्सग एक महान गुण है जिससे आत्माकी उन्नति बनती है, हम जितने भी धर्मके लिए कार्य करते है वे सभी सत्संग ही तो है। सत्सगोमे सबसे प्रधान है अरहतदेव, प्रभु सर्वज्ञदेव। जो प्रभुकी भक्ति करता है, भगवान के गुणोमे अनुराग करता है उसने एक महान सत्का आलम्बन लिया है। वह है परम सत्सग। जो मनुष्य आत्मशुद्धिके कार्यमे लग रहे, वह भी सत्सग है। जब कभी बडे मनुष्य सगके लिए न प्राप्त हो तो अपने ही पडोसमे, अपनी ही मण्डलीमे जो सत्मनुष्य हो उनका राग अपन विशेष करे। वह सग सत्सग है, सत्सगका चित्तपर अत्यन्त अधिक प्रभाव पडता है। उन्नति ही सत्संगसे होती है, इसीका नाम है वृद्धसेवा। जो वृद्ध मनुष्य हो, ज्ञानचारित्र मे बढे हुए हो, जो हितका उपदेश कर सकते है, जो हमें हितकी राह बता सकते है ऐसे मनुष्योकी विनय करना, सेवा करना, संगति करना सो सब सत्संग है। सत्सगसे आत्माके गुणविकासकी प्राप्ति होती है।

शरीराहारसंसारकामभोगेष्वपि स्फुटम् ।
विरज्यति नरः क्षिप्रं सद्भिः सूत्रै प्रतिष्ठित ॥७९७॥

सत्संगसे वैराग्यलाभ—सत्सगके द्वारा सूत्रमे बताये हुए, शिक्षित किए हुए मनुष्यकी शरीर आहार ससार काम और भोग आदिकसे तत्काल विरक्ति हो जाती है। कोई मनुष्य शरीरसे वैराग्य रख रहा है तो ऐसी बुद्धि उसे मिली कहाँसे ? उसने बचपनमे गुरुवोका सत्सग पाया, विद्याभ्यास किया तो उस ही की परम्परासे बुद्धि विकसित हो गयी और यह भान हुआ कि शरीर जुदी चीज है, मैं आत्मा जुदा पदार्थ हूं। शरीरके सम्बन्धसे, शरीरके रागमे आत्मामे कलंक बढता है और उनसे ऐसे पापोका बन्ध होता हैं जिससे अनेक अनेक

दुर्गतियोमे उत्पन्न होना पडता है। यह बुद्धि उसे जगी कब ? जब कि सत्संगमे रहा आया और उससे कुछ शिक्षा पायी। कामभोगोमे, विषयभोगोमे अरुचि बनी ज्ञानीके तो यो ही जन्मते तो नही बनी। जो भी मनुष्य धर्मात्मा बनते है वे जन्मसे ही तो नही बनते। जब उन्हे गुरुजनोका सत्सग मिलता है, उनका धर्मोपदेश मिलता है तो उसके प्रभावसे वे धर्मात्मा बनते है। दो भाई थे, जिनमे एक भाई तो साधु हो गया, छोटे भाईका विवाह हो गया। वह भाई सपत्नी रहता था। उसके यहाँ एक दिन एक साधुका आहार हो गया, वह साधु उसका बडा भाई ही था। तो आहार होनेके पश्चात् छोटा भाई अपने भाई मुनिको पहुँचाने के लिए गया तपोवनमे, तो वहाँ उस छोटे भाई ने देखा कि इस बडे भाईका तो बडा आदर हो रहा है। वह सोचता है कि यदि मैं यहांसे लौट जाऊ तो इसमे मेरी तौहीन होगी, लोग कहेगे कि इनका यह छोटा भाई कैसा है ? तो वह भी वही रुक गया और साधुदीक्षा वही ले ली। जब दसो वर्ष व्यतीत हो गए तो एक दिन उसके चित्तमे आया कि मैं अपनी नव-विवाहित पत्नीको छोडकर चला आया था, पता नही अब वह कहाँ क्या करती होगी ? तो एक दिन उसी नगरमे वह छोटा मुनि गया तो वहाँ जो पहिले हवेली थी वहाँ देखा कि उस स्थानपर जिनमन्दिर बना हुआ है, स्वाध्यायशाला बनी हुई है, वहाँ तो सारी काया पलट है। एक स्त्री स्वाध्याय कर रही थी। मुनिने पूछा कि यहाँ फलाने रहते थे ना ? उनकी स्त्री थी ना, जिसे वे विवाह होनेके थोडे दिन बाद ही छोडकर चले गये थे ? वह स्त्री कहाँ किस प्रकारसे रहती है ? तो वह वही खुदकी स्त्री थी। तो स्त्री बोली, महाराज आपको साधु हुए दसो वर्ष हो गए पर आपके चित्तसे अभी यह शल्य नही हटी। अरे वह स्त्री आपकी मैं ही हू। और, मैंने ब्रह्मचर्यका व्रत लिया है और सारा जीवन स्वाध्याय पूजन ज्ञानमे लगाती हू तो देखो उस स्त्रीका भी उस समय सत्सग कहलाया जिसने शल्य हटा दी, यो दोनो का उद्धार हो गया। तो सत्सगसे जो विरक्ति प्राप्त होती है वह विरक्ति अनेक शिक्षा देनेसे भी नही प्राप्त होती। सारा सुख वैराग्यका है, जितना राग हटा हुआ होगा उतना ही इस जीवको सुख है और जितना राग मोह लगा होगा उतना ही यह जीव क्लेश मे है। ऐसा जानकर हम देवपूजा, गुरुसेवा, सत्साग, इन कार्योमे अपना उपयोग लगायें और अपने को निर्दोष बनायें, प्रसन्न रखें और अगले भवमे भी- हमे धर्मका वातावरण मिले ऐसा ही यत्न रखे। धर्म ही वास्तवमे एक शरण है, वह न छूटे बाकी जो पदार्थ जैसा परिणमता है, उसके हम ज्ञाता रहे, उसमे ममता न बनायें, अपनी रुचि धर्मपालनकी बनाये।

यथा यथा मुनिर्धत्ते चेत सत्सगवासितम्।
तथा तथा तपोलक्ष्मी परा प्रीतिं प्रकाशयेत् ॥७९८॥

सत्सगसे तपोलक्ष्मीका प्रसाद--साधु सतजन जैसे जैसे अपने चित्तको सज्जन पुरुषोंकी सगतिमे लगाते है वैसे ही वैसे तपरूपी लक्ष्मीका प्रकाश करती है। तपस्याकी प्रभावना तपस्वी सातोके सगमे रहकर होती है। जैसा सग मिलता है वैसा ही भाव बनता है। जिन्हे खोटा सग मिलता है उनका खोटा भाव बनता है, जिनका भला सग बनता है उनका भला भाव बनता है। सगतिसे गुण उत्पन्न होते है और सगतिसे ही अवगुण उत्पन्न होते हैं। सज्जनो का संग मिले तो उससे गुण उत्पन्न होते है। जैसे फूलोंकी सगतिसे कीडा भी सज्जन पुरुषोके सिर पर आ बैठता है। कीडा फूलमे अन्दर छिपकर बैठ जाता है तो उस फूलके सगसे वह कीडा भी राजा महाराजावोके गले पर आ जाता है। जो मनुष्य तपस्वीजनोके सगमे रहते है वे उनके तपश्चरणको निरखकर खुदमे भी तपश्चरण का भाव जगा लेते है। सत्सगकी महिमा बतायी जा रही है। लोकमे सत्संगका बहुत बड़ा शरण होता है। एक तो वैसे ही अनादिकालसे मोह रागद्वेषकी वासनासे दु खी है, और फिर अगर सत्सग मिल गया तो विचार शुद्ध बनते है। ये जगतके प्राणी एक तो स्वयं दु खी है, पीडित है, इनमे अज्ञान फैला हुआ है, और मिल जाय अज्ञानियोका सग नो उससे यह जीव बरबाद हो जाता है। अग्नि एक शुद्ध तत्त्व है, उसको पीटनेकी कोई जरूरत नही है, लेकिन लोहेका सग पाकर अग्नि भी पिट जाती है। अकेली आगको कौन पीटेगा। लोहे का सग पाया तो अग्नि भी पिट गई। तो खोटा संग पानेसे खोटी आदत बनती है और भला सग पानेसे भली आदत बनती है। जो मनुष्य बचपनसे कुसग पड जाता है तो प्राय जीवनभर उस आदतका मिटाना कठिन है, इससे मनुष्यको अपने बचपनसे ही सत्संगका ध्यान रखना चाहिए।

न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम्।
प्रकटितपश्चिमभाग पश्यत नृत्य मयूरस्य ॥७६६॥

गुरुसङ्गसेवा विना विज्ञानकी विडम्बितता--सही मायनेसे ज्ञानकी प्राप्ति गुरुसे होती है। जैसे कोई बाते पुस्तकमे लिखी हैं और उस पुस्तकको भी पढकर ज्ञान कर लिया जाता है, पर जो ज्ञान गुरुमुखसे सुनकर जैसा अनुभवके साथ जगता है वह ज्ञान अपने आप यो ही सीख लेनेसे नही जगता, कितने ही अनुभव ऐसे होते हैं कि जिन्हे दूसरा कोई प्रकट ग्रहण नही कर सकता। गुरुवोके सगमे रहकर, गुरुवोकी सेवा करके उन तत्त्वोका मर्म प्राप्त होता है। बडे-बडे व्याख्यानोसे भी जो दृष्टि न बन सके गुरुवोके संगमे रहकर किसी भी समय साधारण वाक्योमे भी उस मर्मकी झलक हो जाती है। जो पुरुष गुरुकुलकी उपासना नही करते अर्थात् गुरुवोके समूहके बीच नही रहते, उनका ज्ञान करना चाहते है तो उनकी ज्ञानकला, उनकी चतुराई प्रशंसाके योग्य नही रहती। भले ही एक जानकारीकी

कला आ गयी, पर सही मायने मे नही आ सकती। जैसे नाचनेकी एक कला होती है। कोई किसी समझदारसे सीखे और कोई अपने आप सीखे तो उसमे तो कुछ अन्तर होता है ना ? एक मोटा दृष्टान्त ले लो। मयूर नाचता है तो वह कही सीखने तो नही जाता है, सो देखा होगा कि मोर जब नाचता है तो थोडा उसके मुखकी तरफ तो अच्छा लगता है और पीछे कैसा बुरा लगता है ? तो नृत्य करनेका विधान कोई शास्त्रानुकूल सुन्दर शृङ्गार सहित न सीखे तो उसका नृत्य प्रशसनीय नही होता। ऐसे ही समझिये कि तपस्वी अनुभवी गुरुजनोके निकट रहकर सीखे बिना जो क्रिया की जाय वह विधिवत ठीक नही होती। अपनेको विशेष ज्ञानी मनुष्योके संगमे रहकर ही विद्या सीखना चाहिए। अपने आप सीखी हुई विद्यामे उसका ठीक मर्म अनुभवमे नही आ पाता।

गुरुसंगप्रसाद बिना अनुभवी विज्ञानका अलाभ—एक शिष्यने गुरुसे लाठी चलाना सीखा। लाठी चलानेकी अनेक कलायें होती हैं जैसे सीधी, चौमुखी, जग आदि। जब सारी कलाये सीख ली तो शिष्यको कुछ घमण्ड आया और उस गुरुसे ही बोला कि गुरुजी हम तो आपसे लडेंगे। भला बतावो गुरु तो वृद्ध पुरुष और वह शिष्य नवयुवक कहने लगा कि हम तो तुमसे ही लाठीसे लडेगे। तो गुरु बोला कि अच्छा भाई लड लेना। १५ दिनकी मोहलत दे दो, १५ दिनके बाद अमुक दिन दोपहर को लाठी लेकर आ जाना। अब वह शिष्य सोचता है कि १५ दिनमे गुरुजी क्या करेगे, इसे देखना चाहिए। गुरू जी ने क्या किया कि एक १५-१६ हाथका मोटा बास अपने दरवाजे पर रख लिया और उसे रोज रोज खूब साफ करे, खूब तेल लगाकर उसे चिकना बनाये। शिष्य यह दृश्य देखकर सोचता है कि गुरुजी ने १५-१६ हाथका डडा रखा है सो मैं इनसे दूना लगभग ३०-३२ हाथका बास रखूंगा। रख लिया बास। जिस दिन लडाईका समय आया उस दिन शिष्य अपना ३०-३२ हाथका बाँस लाया और गुरुजी अपनी वही ३॥ हाथकी लाठी लेकर आये। अब वह उतना लम्बा बास कैसे उठाये, कैसे घुमाये, क्या करे ? आखिर गुरुजी ने अपनी लाठीसे उसे परास्त कर दिया। तो विद्या सीखी तो जाती है पर छोटेसे छोटे अनेक नुक्ते जो एक मर्म को लिए हुए होते है वे तो अनुभवसे ही प्राप्त होते है। पुस्तकें बहुत सी है जिनसे अनेक विद्याए सीख ली जाती है, पर मास्टरसे, गुरूसे, साधु सतोसे जो विद्या प्राप्त होती है वह अनुभवपूर्ण होती है। हमारा कर्तव्य है कि हम किसी भी बडेको, संतको जिससे अपना हित हो, विद्या मिले, आत्मलाभ हो, कलायें ज्ञात हो उनके सगमे रहे, उनकी उपासना करें और ज्ञानार्जन करे। लोकमे ज्ञानसे बढकर और कुछ भी सुखदायी तत्त्व नही है, खूब विचारते जाइये। ये लोकके प्राणी क्यो अपने आपको दु खी अनुभव कर रहे हैं ? सभी मनुष्योको देखलो—जिनके बडे-बडे ठाठ है वे भी अपने आपको कैसा दु खी अनुभव करते हैं, ऐसी सब

की हालत हो रही है। तो वह दुःख है क्या ? केवल एक कल्पना बनाया उसका दुख है। आपसे भी बहुत ज्यादा कल्पना बनायी उसका दुख है। आपसे भी बहुत ज्यादा दुखी हजारो और लाखों पुरुष होंगे, पर यह अनुभव नही किया जा पा रहा कि हम कितना सुखी है, कितना हम अच्छे वातावरणमे है ? सुख शान्ति धन वैभवसे तो नही मिलती, अगर सम्यग्ज्ञानका अभाव है तो सुख शान्ति कहासे मिले ? यहाँ क्लेश मिटानेका अन्य कोई उपाय नही, अगर एक ज्ञान है तो क्लेश मिट सकता है। जिस क्षण कभी भी अपने को एक निर्विकल्प ज्ञानस्वरूपका अनुभव बन जायेगा तो समझो कि सब कुछ पाया नही तो सब कुछ खोया ही समझिये। महत्त्व आकनेकी बात है।

ज्ञानीका ज्ञानमग्नतामें कल्याणलाभका निश्चय—एक यह दृष्टि बन जाय कि महत्त्व तो अपने आपको ज्ञानमग्न कर लेनेकी स्थितिका है। बाकी सब मायाजाल है और जो कुछ यह विचार कर रहा वह भी सब मायाजाल है। उसमे शान्ति नही बसी है। शान्ति तो मिलेगी, बाहरी विकल्प छूटे और अपने आपका एक ज्ञानमात्र अनुभव बने, मैं तो सिर्फ ज्ञानप्रकाशरूप हू, इतना भी विकल्प न उठाऊं किन्तु ऐसा अनुभव बन जाय तो शान्ति उस पदमे मिलेगी, ऐसा दृढ निर्णय होना चाहिए। चाहे कुछ भी करना पडे किन्तु ज्ञान कमजोर न होना चाहिए। बडे बडे साधु संतोका ज्ञान और गृहस्थोका ज्ञान तो एक सा ही होता है सिर्फ अन्तर यह रहता कि साधु सत तपश्चरण ज्यादा करते है, सयम ज्यादा करते है। उन्हे प्रभुभक्तिके लिए आत्मध्यानके लिए समय भी मिलता है, गृहस्थकी ये हर बाते कम कम है, पर ज्ञानकी दृष्टिसे जैसा ज्ञान बडे तपस्वीका है वैसा ही ज्ञान गृहस्थज्ञानीका भी है। ऐसा नही है कि साधु तो यह समझे कि आत्मा आनन्दरूप है और गृहस्थ यह समझे कि आत्माको आनन्द विषयोसे आता है। ज्ञान तो दोनोका एकसा है, यदि अपने निज अन्तस्तत्त्वकी श्रद्धा दृढतासे रहे तो यही एक मात्र सार है। इतनी स्पष्टता आ सके तो जीवन सफल है। फिर चाहे कैसी ही स्थिति गुजरो बाहर मे, उसका कुछ भी महत्त्व नही है। ये सब बाते प्रयोगात्मक रूपसे सत्पुरुषोके सगसे पायी जाती है, ऐसे सत्पुरुषोके सगमे रहनेसे सब मर्म स्पष्ट अनुभवमे आते हैं।

तप कुर्वन्ति वा मा वा चेद्वृद्धान् समुपासते।
तीर्त्वा व्यसनकान्तार यान्ति पुण्या गति नरा ॥८००॥

वृद्धसेवासे पुण्यगतिका लाभ—सत्सग करना यह एक बडा तपश्चरण है। जो मनुष्य शारीरिक शक्तिसे हीन है, व्रत नियम तपश्चरण अधिक नही कर पाते है किन्तु सत्सगकी रुचि है, सत्सगमे पड़े रहते है तो उस सत्सगकी उपासनासे वे पुरुष चाहे तप कर सके अथवा न कर सके लेकिन दुखरूपी बनको पार करके नियमसे अटल गतिमे पहुंच जाते

है। एक सत्यदृष्टिसे बात सोचें कि आत्माका सुख, आत्माका कल्याण ज्ञानी संत मनुष्योके संग से प्राप्त हो सकता है। परिजनोके संगमे रहनेसे उनसे मोहममता करनेसे तो क्लेश है, दुर्गति है। और, जो ज्ञानी संत तपस्वी जन है उनकी संगतिसे सत्यप्रकाश मिलेगा, अपने शुद्ध पथपर लगनेकी प्रेरणा मिलेगी, अनेक कर्म कटेंगे, भविष्य अच्छा बनेगा, लेकिन मोहमे यह बात कहाँ सूझती है? जो संग हमारे कष्टका ही कारण बनेगा, बन रहा है वह संग तो मोहमे रुचता है और जो संग हमारे कष्टका निवारण कर सके ऐसा ज्ञानी संतोका संग मोहियोको नही रुचता है। लोग परिजनोका महत्त्व देते है। पर सत्संगका महत्त्व नही देते।

असद्रुचिमें सत्संगमहत्त्वकी उपेक्षा—देखिये—जिसकी जहा रुचि जग गयी है वह वहाँ ही प्रसन्न रहना चाहते है। दो सहेली थी। एक थी मालिनकी लडकी और एक थी ढीमरकी लडकी। उनमे बडी मित्रता थी। तो मालिनकी लडकी किसी बडे कस्बेमे व्याही गयी। उसका काम था फूल चुनना, फूलोका हार बनाना और शय्या सजाना। ढीमरकी लडकी व्याही गई किसी तालाबके निकट एक छोटेसे ग्राममे। उसका काम था मछलियाँ पकडकर बेचना। उनकी गदी हवामे रहना। एक दिन ढीमरकी लडकी उस कस्बेमे गई मछलिया बेचने। जब शाम हो गयी तो सोचा कि आज रातको अपनी सहेलीके घर ठहर जायें और सवेरा होते ही चली जायेगी। सो जब वह मालिनकी लडकीके घर पहुची तो उसने अपनी सहेली का बडा आदर किया। शामको भोजन करानेके बाद बिस्तर लगा दिया, सुन्दर फूलोसे सजा दिया। ढीमरकी लडकी जब वहाँ लेटी तो उसे नींद न आये। मालिनकी लडकी पूछती है क्यो सहेली क्यो नींद नही आती? तो वह ढीमरकी लडकी कहने लगी, सहेली क्या बताऊँ, यहाँ फूलोकी बदबू इतनी है कि उसके मारे नींद नही आती। तो सहेली क्या करूँ? इन कपडोको बिल्कुल बदल दो, दूसरे कपडे इसमे बिछा दो, फूलोको बिल्कुल हटा दो, तब नींद आयगी। उसने वैसा ही किया तब भी उसे नींद न आये। तब फिर वह मालिनकी लडकी पूछती है सहेली अब क्यो नींद नही आ रही? तो वह बोली—सहेली यहाँ तो सारे कमरे मे फूलोकी बदबू भर गई है, अब काम यह करो कि वह जो मछलियोका टोकना रखा है उसमे थोडा पानी छिडककर मेरे सिरहाने रख दो तब नींद आयगी। उसने वैसा ही किया। जब मछलियोकी बदबू उसे मिली तब नींद आयी। ऐसे ही समझ लो जो मोही अज्ञानी मलिन लोगोके बीचमे रह रहे है उन्हे वे ही रुचते है, उन्हे ज्ञानी संत मनुष्यरुका संग नही रुचता है।

ज्ञानकी परमशरणरूपता—इस जीवका वास्तवमे ज्ञान ही शरण है। ज्ञानी तपस्वी मनुष्योकी संगति करके वह ज्ञान प्राप्त होता है। उनके निकट बैठनेसे सारे विषयो के विचार बदल जाते है। ज्ञानी साधु संतोकी संगतिमे रहने वालेके ऐसा उत्साह जगता है

कि मै अपनी पूर्णशक्ति लगाकर इन विषयविपदाओसे निवृत्त होऊँ और अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी आराधनामे लगूँ। इतना प्रबल प्रभाव सत्संगसे हुआ करता है। सर्वविकारो मे खोटा विकार है काम विकार। यह कामव्यथा इस जीवको ऐसी पीडित करती है कि काममे आसक्त मनुष्य आत्मध्यानका, आत्मज्ञानका पात्र भी नही रह सकता है। संसारमे हम आप तप सब जीवोको एक अपने आत्मतत्त्वका ध्यान ही शरण है। किसी भी पदार्थ की शरणमे जावो, सबसे धोखा ही मिलेगा। किसका सग सदा रहा करता है? स्त्री, पुत्र, मित्र आदि ये सब खूब मिल जुलकर रहे, पूर्ण प्रेमसे भी रहे फिर भा उसका महत्त्व क्या? प्रथम तो ऐसा होना कठिन है कि सदा मित्रता किसीसे रह सके। कषायके प्रतिकूल कुछ भी वात आये तो जरासी बातमे विगाड हो सकता है, और फिर मान लो रही आये मित्रता लेकिन मरण तो अवश्य होगा, वियोग तो जरूर होगा। वियोगके समयमे उससे भी अधिक दु ख होगा जितना कि प्रेम माना था तो ससारमे किसीके भी निकट जावो, किसीका भी शरण गहो, सब जगह धोखा मिलेगा, अशान्ति मिलेगा। और एक प्रयोग करके देख लो, अपने अन्दरमे साहस बनाकर निरख लो मुझे किसी भी परवस्तुसे कुछ प्रयोजन नही है। सभी परपदार्थ मेरे स्वरूपसे अत्यन्त जुदे है। मै इस समय अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी आराधनामे ही लगता हू, किसी भी परमार्थका विकल्प नही करता, ऐसा दृढ निर्णय और सकल्प करके जरा भीतर ही भीतर अपने अन्दर प्रवेश करते जाये। वाहरकी सब सुध भूल जाये, तो अपनेमे जब ज्ञानप्रकाशका अनुभव होगा तब विदित होगा कि बस परामर्थ तत्त्व तो यही है। आनन्दमयी कर्तव्य करनेका तो यह है, शेष सब मायाजल है, ये सब बातें ज्ञानसे ही प्राप्त होती है। वह ज्ञान ज्ञानी सत मनुष्योका सग करनेसे प्राप्त होता है। ज्ञानी सत मनुष्योके सग करने से सारे दुर्विचार खतम हो जाते है। अपने स्वार्थके लिए अपने इन्द्रिय सुखके लिए विचार बनाना वे सब दुर्विचार है और अपने सहज ज्ञानस्वरूपके अनुभवके लिए विचार बनाना सो सद्विचार है। ऐसे सद्विचार वाले मनुष्यो के समागम से ये सब कार्य सहज होने लगते है। अतएव सत्सग करना, वृद्धसेवा करना यह एक परम तपश्चरण है। हमारे जीवनमे अधिकाधिक सत्सगका लाभ हो ऐसी भावना रखना चाहिए और ऐसा ही उद्यम करना चाहिए। एक कविने लिखा है कि हे कल्याणी मनुष्यो यदि तुझ से तपश्चरण नही बनता तो मत कर किन्तु एक सद्विचार मात्रसे ये कषाय बैरी जीते जा सकते है, तो तू इतना विचार तो बना। ज्ञानसे सब सकट दूर होते है तो ज्ञानके करने मे भी कुछ क्लेश है क्या? सही सही पदार्थोका ज्ञान कर ले तेरे सारे सकट दूर हो जायेंगे। सकट लगा है मोहका, पर सही ज्ञान बनाने से सकट दूर हो जाते है। इस ज्ञानकी प्राप्ति के लिए सत्सगतिका यत्न करना चाहिए।

कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं विदन्नपि श्रुतार्णवम् ।
नासादयति कल्याणं चेद्वृद्धानवगन्यते ।।८०१।।

वृद्ध पुरुषोंके अवमननसे कल्याणलाभकी असंभवता—यदि कोई मनुष्य सत्पुरुषोका अपमान करता है, सतोकी आज्ञामे नही रहता है तो वह मनुष्य चाहे बहुत तप भी करे, चाहे बडे-बडे शास्त्रोका ज्ञान भी करले परन्तु कल्याण प्राप्त नही कर सकता। लोकमे परमपद ५ है। उन पदोमे जो स्थित होते है उन्हे परमेष्ठी कहते है। ससारके प्राणी विषय कषायोके ध्यानमे चल रहे है, नाना शरीर धारण करके दु ख भोग रहे है। ऐसे ये प्राणी क्या कर्तव्य करें कि इनका दु ख दूर हो जाय ? वह कर्तव्य जिन्होने किया है उनको ही परमेष्ठी कहते हैं। लोकमे नमस्कार करने योग्य कौन है ? इस पर विचार करें तो मन यह कह बैठेगा कि जिसमे दोष तो एक भी न हो और गुण पूरे हो वे नमस्कार करने के योग्य है। क्या जिनके ऐब है वे भी नमस्कार किए जाने चाहिए ? मन तो यही कहेगा कि ऐब वाला पुरुष नमस्कारके योग्य नही है। जिसमे अवगुण न हो, पूर्ण गुण प्रकट हो गए हो वही तो नमस्कार करनेके योग्य है। तो नमस्कारके योग्य वह आत्मा है जिसके दोष एक न हो और गुण पूरे विकसित हो। यह नमस्कार किए जाने वाले पुरुषोकी परिभाषा है। यहाँ भी लोकमे हम उसका आदर करते है जिसमे ऐब कम हो और गुण ज्यादा हो। यहाँ ऐसा मनुष्य कोई न मिलेगा जिसमे अवगुण रच भी न हो और पूरे गुण हो। जिसमे पूर्ण गुण प्रकट हो जाते है और दोष एक भी नही रहते है उस ही का नाम परमात्मा है। परमात्मामे दो शब्द है—परम और आत्मा। परमका अर्थ है उत्कृष्ट और आत्मा मायने जीव। जो उत्कृष्ट जीव है, जिसमे गुण पूर्ण प्रकट हो गए है, अवगुण एक भी नही रहे ऐसे आत्माको परमात्मा कहते हैं। तो नमस्कार करनेके योग्य सर्वोत्कृष्ट है परमात्मा। अब यहाँ देखिये कि आत्मामे गुण क्या हुआ करते है, और अवगुण क्या हुआ करते है, जिन गुणोमे पूर्ण बन जाय और अवगुण एक न रहे सो परमात्मा कहा जाय। तो आत्माके गुण है ज्ञान श्रद्धान चारित्र आनन्द और आत्माके अवगुण है मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषयोका अनुराग और इनका ही विस्तार बढाते जाइये। किसीसे ईर्ष्या करना, किसीसे छल करना, मायाचार करना, परिग्रहका लालच रखना, असद्व्यवहार करना, असत्यसम्भाषण करना ये सारे अवगुण कहलाते हैं। तो जिसमे अवगुण एक न हो और गुण समस्त हो उसे कहते है परमात्मा। सर्वोत्कृष्ट नमस्कारके योग्य है परमात्मा।

सत्सग किये जाने योग्य सतोंका विवरण—यहाँ सतोकी परिभाषा की जा रही है। सबसे उत्कृष्ट सत है भगवान, पर भगवान शब्द विशेष है अतएव उनमे सतका व्यवहार नही करते सतका सही अर्थ है अच्छा, उत्तम। परमात्माकी पूर्ण अवस्था और एक परमात्म

अवस्था ऐसी दो अवस्थाये होती है। कोई भी गृहस्थ यहाँ हम आपमेसे जो आजकल तो उत्कृष्ट अध्यात्मसाधना नही है, पर्वकालमे थी, कुछ विवेक पाकर ज्ञानरूपसे आद्र होकर जब एक आत्मसाधनाके लिए ही उत्सुक हो जाता है तो उसे बाहरी चीजोकी सुध नही रहती। घर बार छोडकर और समस्त शृंगार, आभूषण, वस्त्र आदि त्यागकर केवल शरीर मात्र रहकर एक अपने अन्त विराजमान आत्माका ध्यान किया करता है, इस साधनाका नाम है साधुता। जो ऐसा एकचित्त होकर परसे विरक्त होकर अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी साधना करता है उसका नाम है साधु। साधुजन सुख दु ख सम्मान अपमान इनमे समताभाव धारण करते है। साधुवोकी दृष्टिमे न कोई शत्रु है, न कोई मित्र है, सब जीवोके प्रति एक समान दृष्टि रहती है। ऐसे साधु जहाँ अनेक हो जाते है तो उन साधुवोमे व्यवस्थापक एक बनाना पडता है जिसे आचार्य कहते है। जो सब साधुवोकी साधना देखे, और उनसे कोई अपराध बने तो उनका प्रायश्चित्त दे, दण्ड दे, उनको शुद्ध करे, ऐसी जिनमे महिमा होती है उन्हे कहते है आचार्य। और, उन सब साधुवोमे जो विशेष विद्वान होते, जिन्हे आचार्य पढानेका काम सौंपते है उन्हे कहते है उपाध्याय। यो मुनियोमे ये तीन प्रकारके उत्कृष्ट पद है--साधु उपाध्याय और आचार्य। ये सब साधु जिन्हे किन्ही बाह्यवस्तुवोसे कुछ प्रयोजन नही रहा, केवल एक आत्मसाधनामे ही रत रहा करते है उनमेसे जिस साधुने परमसमाधि धारण कर ली, अपने आत्मरसमे गुप्त हो गया, और विलक्षण आत्मीय आनन्दका अनुभव किया वह मनुष्य चारघातिया कर्मोका नाश करके परमात्मा बन जाता है। इन सब परमेष्ठियो की उपासना सत्सग है।

अपराधकके कारणभूत कर्मोका विवरण—देखिये प्रत्येक जीवके साथ ८ प्रकारके कर्म लगे है, जिनमे ज्ञानावरण नामके कर्मके कारण ज्ञान ढका हुआ है। देखिये जीवोमे नाना तरहके ज्ञान पाये जाते है, किसीमे कम है, किसीमे विशेष है। तो ये जो थोडे बहुत ज्ञानभेद मालूम होते है यह एक कर्मकी उपाधिका प्रभाव है, नही तो हम आप सब आत्मा ज्ञानस्वरूप ही तो है। ज्ञान ही तो इनके पडा है, ज्ञानके सिवाय इसका और रूपक क्या है? जो ज्ञान नही है वह पूर्ण ज्ञानी नही रहा, इसमे कोई कारण तो होगा, वह कारण है कर्मका उदय। एक दर्शनावरण नामका कर्म है, इस कर्मके कारण यह आत्मा अपने आत्मा का दर्शन नही कर सकता। जैसे हम बाहरी चीजोको समझ पाते है। इस प्रकार हम अपने आत्माको समझ नही कर पाते। एक वेदनीय कर्म है जिसके कारण जीव सुख दु ख बनाया करता है। जब साताका उदय होता है तो जीवको सुखके साधन मिलते है और उसमे जीव सुख मानता है, और जब असाताका उदय होता है तो जीव दु ख मानता है, मोहनीय कर्मके उदयसे यह जीव परमे मोहित होता है। देखिये—पर बिल्कुल न्यारी चीज है, अलग जगह

है, स्त्री हो, पुत्र हो, मित्र हो, धन वैभव हो, ये सब बिल्कुल न्यारी चीजे है, अपने आत्मासे वैभवका क्या सम्बन्ध ? कोई वैभवको चिपकाकर लाया है क्या ? घरकी जगह घर पडा है, कुटुम्बकी जगह कुटुम्ब है, आप तो अपने शरीरमे अकेले है, कोई सम्बन्ध भी है क्या ? शरीर तकसे तो सम्बन्ध नही है, अन्य वैभवसे तो सम्बन्ध क्या होगा, लेकिन अत्यन्त न्यारे ये परपदार्थ है, उनमे इस जीवको मोह पैदा होता है, उनमे राग करता है, द्वेष करता है जीव ! यह सब मोहनीय कर्मका प्रभाव है । जीवके साथ आयुकर्म लगा है, जितनी जिस की आयु है उतने समय तक यह जीव इस देहमे बना रहता है । जब आयुका अन्त होता है तो यह जीव इस देहको छोडकर चला जाता है । जीवके साथ नामकर्म लगा है जिसके कारण अन्य-अन्य चित्र विचित्र शरीर प्राप्त हो जाते है । एक गोत्र कर्म है जिससे लोक व्यवहारमे कोई उच्च कुलका, कोई नीच कुलका कहलाता है । ऊँच नीच कुलमे जन्म होता है । अन्तराय कर्मके उदयसे विघ्न आया करते है । कोई चीज प्राप्त हो रही हो, अन्तराय आ जाय, दान देनेका भाव न हो सके, भोग उपभोग करनेकी शक्ति न आ सके, अपने आपकी शक्ति बिगडती जाय, यह सब अन्तरायके उदयसे होता है । तो ऐसे कर्मोसे आवृत यह जीव है ।

कर्मावृत जीवके अकल्याण व कल्याणकी विधि—कर्मावृत इस जीवको कल्याण मिले उसका उपाय क्या है, उसका उपाय सर्वप्रथम तो यह है कि सत मनुष्योकी आज्ञामे रहे । लोग मोहवश जितनी आज्ञा स्त्रीकी मानते है उतनी आज्ञा क्या किसी साधुकी कोई मानता है ? खूब सोच लो । कितना श्रृङ्गार करना, गहने बनाना, तिसपर भी चाहिए ऊपरसे अपने पोजीशनकी वजहसे स्त्रीके हाथ नही जोडते, मगर अन्दरसे इतना नम्र रहते है कि मानो हाथ जोडे ही बने रहते है । तो जितने मोही जीव है वे स्त्रीकी आज्ञामे अधिक रहते हैं, उसे वे अप्रसन्न नही देख सकते, उसके दुखी हो जानेपर आप खुद दुखी हो जाते है, पर यह बतलावो कि इन परिजनोकी आज्ञामे बने रहनेसे इसको लाभ क्या हुआ अब तक ? न परिणामोमे बल मिला, न आत्मामे कोई प्रभावकी बात जगी, न शान्तिका उदय हुआ । जितना दुखी १०-२० वर्ष पहिले थे उससे भी और ज्यादा दुखी आज मालूम पडते है, यह मोही जीवोकी आज्ञा शिरोधार्य करनेका ही तो फल है । सर्वप्रथम जिन्हे कल्याण चाहिये हो उन्हे आवश्यक है कि वे सत्पुरुषोकी अवज्ञा न करे और उनकी आज्ञामे रहे । जो मनुष्य सत्पुरुषोकी आज्ञामे नही रहता उसका कभी भी कल्याण नही हो पाता । पूर्णरूपसे आज्ञा साधु पाल सकते हैं । आचार्य महाराज यदि किसी साधुको यह हुक्म दे दें कि तुमको आज दिनभर इस गर्मीमे पहाडपर तप करना पडेगा तो वह तप करने लगता

है। जो प्रायश्चित्त दे, जो आज्ञा दे उसका वह पालन करता है क्योंकि उसे विदित है कि हमारी आत्माके रक्षक ये आचार्यजन है, ये संतजन है, तो जो मनुष्य सत्पुरुषोकी सेवा नही करते, बूढोका सम्मान नही रखते वे अधिक तप भी करे और बडे-बडे शस्त्ररूपी समुद्रका अवगाहन भी करें, फिर भी वे कल्याणको, शान्तिको प्राप्त नही हो सकते।

मनोऽभिमतनि शेषफलसंपादनक्षमम् ।
कल्पवृक्षमिवोदार साहचर्यं महात्मनाम् ।।८०२।।

महात्माओंके साहचर्यसे अभिमतसिद्धि—महापुरुषोका सग कल्पवृक्षके समान सर्वप्रकारके मनोवाञ्छित फलको देने वाला है। सच्चे मनुष्योकी सेवासे मनुष्योमे ऐसी उत्कृष्टता प्रकट होती है कि वहाँ अनेक पुण्यकर्मका बन्ध हो जाता है और उन पुण्यकर्मोंके उदय मे इस जीवको अनेक सुख साधन प्राप्त होते है। यहाँ जिन्हे जो कुछ समागम मिला है जरा विचार तो करो, जो कुछ जिसे वैभव प्राप्त हुआ है उसकी प्राप्ति क्या हाथ पैरोने की है या दिमागने की है ? यह सब पुण्यके उदयका फल है। एक कथानक है कि एक साधु कही जा रहा था, रास्तेमे उसे ब्रह्माजी मिले, उस समय ब्रह्माजी किसी लडकेका भाग्य बना रहे थे। साधुने पूछा—क्या कर रहे हो ब्रह्माजी ? तो ब्रह्मा बोले कि एक लडकेका भाग्य बना रहे है। कैसा भाग्य इसका आप लिख रहे हो ? ५ रु० और एक काला घोडा। इसे पैदा कहाँ करोगे ? एक लखपतिके घरमे। अरे आप यह क्या कर रहे हो ? यदि लखपतिके यहाँ पैदा करना है तो लखपति जैसा भाग्य बनावो, नही तो किसी गरीबके यहाँ पैदा कर दो। चुप रहो, तुम्हे इससे क्या मतलब ? हमारी जो इच्छा होगी सो करेंगे। तो साधुको क्रोध आया, बोला–तुम्हे जो इसके भाग्यमे लिखना हो सो लिखो, मैं उसे मेटकर रहूगा। अब वह लडका एक करोडपतिके घर पैदा हो गया। जब वह १०-१२ वर्षका हुआ तब तक सारी सम्पदा खतम हो गयी, वैभव समाप्त हो गया, मकान भी बिक गया, एक झोपडी बनाकर रहने लगा। उसके पास रह गया एक काला घोडा और ५ रुपये। बारह वर्षके बाद वही साधु महाराज उस नगरमेंमे निकले तो ख्याल आ गया कि यही तो वह लडका है जिसके भाग्यमे एक काला घोडा और ५ रु० लिखे गए थे और हमने यह सकल्प किया था कि उसके उस भाग्य को हम मेटकर रहेगे। सो पता लगाकर उस झोपडीके पास साधु पहुचा। साधुने कहा–बेटा जो हम कहेगे सो तुम करोगे ? ' हाँ हाँ महाराज जो आप कहोगे सो करेंगे। अच्छा तुम्हारे पास क्या है ? एक काला घोडा और ५ रुपये।' अच्छा घोडेको बाजारमे बेच आवो। वह बेच आया, अब १०५ रु० हो गए। साधु बोला कि इन १०५ रुपयोका घी, आटा, शक्कर वगैरह लावो और पूडियाँ बनाकर गाँवके सभी लोगोको खिला दो। उसने वैसा ही किया। जब रुपये और घोडा उसके पास कुछ भी न रहा तो ब्रह्मा दूसरे दिन फिर

५ रुपये और एक काला घोडा भेजते है। साधुने दूसरे दिन भी वही काम करनेको कहा। इस तरह करीब १५ दिन तक ब्रह्माजी काला घोडा और ५ रु० भेजते रहे, पर उसके बाद विचार किया कि रुपये तो चाहे जहाँसे टपका देंगे पर एक घोडा रोज-रोज कहाँसे लाये ? सो ऊबकर हाथ ब्रह्माजी उस साधुके पास आकर जोडकर कहते हैं महाराज माफ करो, अब तुम जैसा चाहो वैसा इसका भाग्य बनावेगे। सो साधु बोला—इसका वैसा ही भाग्य बनावो जैसा कि करोडपति इसका बाप था। आखिर वैसा भाग्य बनाना पडा। तो इस कथानकसे तात्पर्य वह निकालना कि सच्चा काम करनेसे भाग्य भी पलटा जा सकता है। जब परिणामसे ही भाग्य बना और भाग्यसे जब ये समृद्धियाँ प्राप्त हुई तो खोटे परिणामसे यदि पापका बध किया जा सकता तो अच्छा परिणाम करनेसे पापको रोका जा सकता है। पुण्यबध होगा और उदयमे सर्वसमृद्धिया प्राप्त होगी। तो अच्छा परिणाम सत्पुरुषोके समागमसे बनता है।

सच्चरित्रोंके चरित्रस्मरणमें सत्सङ्गरूपता—जब कभी लोग तीर्थयात्रा करते है तो जानते क्या है ? उन महापुरुषोकी जीवनी। इन्होने तप किया, मोक्ष पाया और इतने बडे बडे चारित्र पाले, यो उनके जीवन-चरित्रका स्मरण कराते हैं, तो वह उतोका चारित्र ही तो स्मरण किया गया, उससे विशेष पुण्यबध करते है। कही सत्पुरुषोके सगमे भक्ति-पूर्वक आप बैठें तो जितने भी अवगुण है मोहादिक उन सबकी शिथिलता हो जाती है। तब वहाँ विशेष पुण्यका बध होता और सर्वप्रकारके मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध हो जाते है, चिन्तनसे, शोकसे चिन्तासे अभीष्ट कार्य सिद्ध नही होते। किसी चीजकी परवाह न करे, जो भी स्थिति आये उसमे प्रसन्न रहे, ज्ञाताद्रष्टा रहे, अपने आपका अविक चिन्तन रखे, पर चिन्तन न रखे तो ऐसे उत्कृष्टकी प्राप्ति होती है और उस पुण्यके कारण सर्वमनोरथ कार्य सिद्ध होते है। वहाँ यह आत्मा स्वय धर्म है, कल्पवृक्ष है, इसकी छायामे रहकर जो आप चाहे सो मिल जायेगा। अगर कोई खोटी-खोटी ही कल्पनाए करे, इन जड वैभवोकी चाह करे तो बस उसको एक यह तुच्छ वैभव मिल जाता है और जो कार्य आत्माका, शान्तिका, मोक्षका है वह इसका हट जाता है। चाहिये यह कि हम चाहे तो सर्वोत्कृष्ट वैभव चाहे। सर्वोत्कृष्ट वैभव है मोह हटे और अपने आपको ज्ञानमात्र निहारा करे। दुनिया जाने या न जाने। सर्वप्रकारके विकल्पजालोको तोडकर मैं केवल अपने ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमे मग्न हो जाऊँ, ऐसा ही प्रयत्न रखना चाहिए।

सत्संगकी कल्पवृक्षसम उदारता—एक जगह एक कथानक लिखा था कि एक मनुष्य गर्मीके दिनो मे तेज धूपमे कही जा रहा था। गर्मीसे दुखी होकर उसने चाहा कि कोई पेड मिल जाय तो मैं उसके नीचे बैठकर कुछ देर आराम कर लूं। चलते-चलते रास्तेमे उसे एक पेड मिल गया। वह पेड था कल्पवृक्ष। उसके नीचे बैठकर जो चाहे सो मिल जाय। बैठ

गया। अब वह चाहता है कि छाया तो मिल गयी, मगर थोडी हवा चल जाय तो और अच्छा है, हवा भी चलने लगी। बादमे सोचता है कि प्यास लगी है, यदि थोडा पानी मिल जाता तो और अच्छा था। एक लोटा पानी भी आ गया। फिर सोचा कि भूख लगी है थोड़े फल मिलते तो अच्छा था। लो फलोसे सजा सजाया थाल भी आ गया। अब सोचता है कि यहाँ कोई है भी नही, दे कौन जाता है ? यहाँ कोई भूत तो नही रहता ? लो भूत भी आ गया। फिर सोचा कि यह मुझे खा न जाय, तो उसे खा भी गया। तो कल्पवृक्ष ऐसी चीज है कि जो चाहो सो मिल जाय। ऐसी ही कल्पवृक्ष जैसी निधि हम आपके पास है, अपना जो परमात्मतत्त्व है वही अपनी अमूल्य निधि है, वह अमूल्य निधि इस जीवको प्राप्त नही होती और बाह्यपदार्थोमे ही उलझे रहते है और अन्तमे मरण करके इस ससारमे भटकते रहते है। तो ये सब सुबुद्धि सत्पुरुषोंकी सगतिसे प्राप्त होती है। उनके गुणोका चिन्तन करे, अपने अवगुणोको दूर करे तो ये सब सग कल्पवृक्षके समान हमे उत्तम आनन्दको प्रदान करेगे।

जायते यत्समासाद्य न हि स्वप्नेपि दुर्मति ।
मुक्तिबीज तदेक स्यादुपदेशाक्षर सताम् ॥८०३॥

संतोंके उपदेशाक्षरमें मुक्तिबीजरूपता—सत पुरुषोके उपदेशका अक्षर मुक्तिका बीज होता है। एक साधुको आचार्यने सिखाया मा तुष मा रुष। इसका अर्थ है कि किसी पदार्थमे न तो द्वेष करो और न राग करो। वह साधु अधिक पढा लिखा था नही। श्रद्धा बहुत विशेष थी तो उसके अक्षरोपर ही श्रद्धा करके उनको जपने लगा—मा तुष मा रुष। कुछ दिन बाद वह भूल गया तो जपने लगा मासतुष मासतुष। मासतुषका भी कुछ अर्थ होता है पर उसे कुछ भी इसका पता न था। मास शब्दमे मूर्धनासकार है जिसका अर्थ होता है उडद। और तुषका अर्थ होता है छिलका। तो मासतुसका अर्थ हुआ उडदकी दाल और छिलका, और कोई उसका अर्थ नही होता, लेकिन उसकी श्रद्धा थी तो मासतुस मासतुस रटता रहा और वह समझता जाय कि गुरुने जो मंत्र दिया है वह बराबर हम निभा रहे हैं। एक दिन वह साधु नगरमे जा रहा था तो देखा कि एक महिला उडदकी दाल धो रही है। तो उसमे उडद अलग और छिलका अलग हो जाता है, तो उस दृश्यको देखकर उसे आत्मबोध हो गया। ओह ! जैसे यह उडदकी दाल और छिलका अलग-अलग हो गए है और शुद्ध स्वच्छ रूप रख रहे है इसी तरह आत्माकी बात है। यह आत्मा कर्म रागद्वेष मोह अनेक छिलकोसे घिरा हुआ है, वस्तुत आत्मा एक न्यारी चीज है और ये सारे विकार न्यारी चीज है। ऐसी बारबार भावना बने तो यह आत्मा शुद्ध स्वच्छ उज्ज्वल हो जायगा। इस प्रकारका आत्मज्ञान उस साधुके उसके गुरुके एक अक्षरमात्रसे हुआ। तो सज्जन पुरुषोके

उपदेशका असर भी मुक्तिका कारण बनता है। भेदविज्ञान हो, परपदार्थोंसे प्रीति हटे, आत्माका बोध हो वही तो मुक्तिका मार्ग है।

कैवल्यकी दृष्टि हुए बिना मुक्तिका अलाभ—मुक्तिका अर्थ है छुटकारा। कोई चीज किसी दूसरी चीजसे बिल्कुल छूटी हुई हो, तब वे दोनो चीजे न्यारी-न्यारी हुईं। एक ही चीजका सार, एक ही चीजका स्वरूप उससे कैसे छूटे ? जैसे जल गर्म हो गया तो जल गर्मी से छूट सकता है अर्थात् ठडा हो सकता है क्योकि गर्मी जलका स्वरूप नही, वह गर्मी जलमे अग्निका निमित्त पाकर आयी हुई है, पर अग्निकी गर्मी भी छूट सकी क्या ? अग्नि भी शीतल हो गयी क्या ? अरे अग्निका तो स्वभाव ही गर्मी है। अग्निसे गर्मी अलग कैसे हो सकती है, तो यदि हमे छुटकारा चाहिए है तो पहिले यह श्रद्धान तो आना चाहिए कि जिन जिनसे छुटकारा चाहते है उन उनसे न्यारा मेरा स्वरूप है। इसही का बोध न हो तो छुटकारा कभी मिल नही सकता। भेदविज्ञानकी बात जब किसी क्षण किसीको हो तो थोडेसे अक्षरो का सहारा लेकर ही हो जाता है, तो सत पुरुषोके उपदेशका एक अक्षर मुक्तिका बीज हो जाता है।

श्रद्धासहित कतिपय अक्षरोंकी आराधनाका प्रभाव—एक कथा विशेष प्रसिद्ध है कि एक सेठ वृक्षके सीकेपर चढा हुआ णमोकार मत्रकी सिद्धि कर रहा था। उसकी सिद्धिका विधान इस तरह था कि नीचे तो हथियार खडे थे तलवार बर्छी आदिक और ऊपर १०८ बार मत्रके पढनेमे जिस डोर पर बैठा था उसकी एक एक लर एक एक बारके मत्र पढनेमे कटती जायगी। वह पडित था, ज्ञानी था, पर उसे यह डर लगे कि १०८ बार मत्रके पढने पर ये सारी डोर कट जायेंगी, मैं उन हथियारोपर गिर जाऊगा तो मेरा क्या हाल होगा ? उसी समय वहांसे एक अजन नामका चोर निकला, उसने वह दृश्य देखकर सेठसे पूछा कि तुम क्या कर रहे हो ? वह सेठ बोला कि हम अपने मत्र विद्याकी सिद्धि कर रहे हैं, इस मत्रकी साधनाका यह प्रभाव है कि इसकी सिद्धि हो जानेपर आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जाती है, तो अजन चोर बोला—महाराज यह मत्र हमे भी बता दो, हम सीखेंगे और उसे सिद्ध करेंगे। उस सेठने वह मत्र बता दिया—णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण णमो उवज्झायाण, णमो लोएसव्वसाहुण। उसे यह मत्र थोडा थोडा याद हो गया पर थोडी ही देर बादमे भूल गया। सेठ तो चला गया। और इसे वह मत्र तो भूल गया, लेकिन इतना ध्यान रह गया—आण ताण कछू न जाण सेठ वचन परमाण। तो चूंकि उसकी श्रद्धा थी, इस कारण श्रद्धाके बलपर उसे उस मत्रकी साधना हो गयी। तो श्रद्धापूर्वक सतपुरुषोके उपदेशपूर्वक सतपुरुषोका एक अक्षर भी सुना जाय और साधनामे लाया जाय तो वह भी मुक्तिका कारण बन जाता है।

होती है, किसी छोटे बच्चेको भी पढाते है तो जो समझदार लोग हैं समर्थ हैं, वे यह नही सोचते कि यह तो दूसरी कक्षाका विद्यार्थी है तो कोई प्राइमरी पास अध्यापकसे पढावो। वह ऊँचा मास्टर रखता है ताकि वह बडे आसान तरीकोसे सिखा देता है, साथ ही आचरण की भी शिक्षा देता है। केवल ज्ञानमात्र कर लेनेसे आत्मशान्ति प्राप्त नही होती। किन्तु उस ज्ञानपर अमल करनेसे उसको प्रयोगरूप देनेसे शान्ति उत्पन्न होती है। ज्ञानने तो एक रास्ता बता दिया। अब उसपर चले तो काम बनेगा। फर्क यहाँ यह है कि जो ज्ञान किया वैसा ही ज्ञान बराबर बना रहनेका ही नाम चलना है। यहाँ कुछ और प्रवृत्तियाँ नही करना है। अध्यात्ममे ज्ञानका ज्ञानरूप बना रहना ही चलता रहता है। जो व्यवहार प्रवृत्तिया हैं वे है तो अवश्य, पर वे विषयकषायोसे उपयोग हटानेके लिए और इस ही ज्ञानरूपमे अन्त-र्वृत्ति बनानेके उद्देश्यमे है। ये सब बाते हमे सत्पुरुषोके उपदेशसे प्राप्त होती है और इसी कारण सत्सगका बडा महत्त्व दिया है। ब्रह्मचर्यकी पुष्टि, अहिंसाका आचरण जो जो कार्य हमारे भलेके लिए है वे वे सब विचार और प्रवृत्तियाँ सत्सगमे अनायास प्राप्त होती हैं, एक बडी प्रेरणा मिलती है।

तन्न लोके पर धाम न तत्कल्याणमग्रिमम्।
यद्योगिपदराजीवसश्रितैर्नाधिगम्यते ॥८०४॥

योगिचरणकमलाश्रयसे सर्वश्रेयका उपलम्भ—योगीश्वरोके चरणकमलोकी सेवा करने वालेको सर्वस्व कल्याण प्राप्त होता है, ऐसा कोई उत्कृष्ट स्थान नही है, धाम नही है जो योगीश्वरोकी भक्तिसे प्राप्त न हो। कोई ऐसा कल्याण नही है जो योगीश्वरोकी सेवा करने वालेको प्राप्त न हो। योगीश्वरोका भाव क्या है ? जो योग साधे और योगियोमे जो प्रधान हो उसे कहते हैं योगीश्वर। योगका अर्थ है जोडना। जैसे लोकव्यवहारमे भी कहते कि ७ और ७ इनका योग करिये जरा। तो योगका अर्थ है जोडना। इसी प्रकार जो सिद्धान्तोमे एक आध्यात्मिक उन्नतिके प्रसगमे जो योग शब्द आता है उसका अर्थ है जोडना। अपने ज्ञानको, उपयोगको अपने ज्ञानस्वरूपमे जोडना इसका नाम है योग, और ऐसा योग जो करते हैं उन्हे योगी कहते हैं। उन योगियोके चरण कमलकी सेवा जो करते हैं उन्हे समस्त प्रकारके कल्याणकी प्राप्ति होती है। सवप्रथम तो सेवा करने वाला भी बडा योग्य होना चाहिए, नही तो दो चार घटेमे ही भाग जायगा। जिसके पास न धन है, न कुछ लौकिक अधिकार हैं, परिमित तत्त्व या और कुछ तत्त्व जो स्वयं दूसरेकी शुद्ध वृत्तिसे प्रेरणा करते है उनसे कुछ मिलेगा नही तो वह उनका साथ छोडकर भाग जायगा। जो योग्य पुरुष हो वही उनके सगमे रह सकता है, जिसे स्वय अध्यात्मरसकी चाह है और जिसने योगियोके सब गुण देखे हो तो उन गुणोसे आकर्षित होकर उनकी सेवामे वह रह

सकता है तो जो योगीश्वरोकी सेवा कर रहा है वह अपने आपको भी योग्य बना रहा है और अपने आपमे अपने योगको बनाये इससे समस्त कल्याणकी प्राप्ति होती है। मतलब यह है कि अपने लिए जो बाहरी पदार्थोमे उपयोग बनाता है, झुकाव करता है, घर, वैभव, परिजन, पोजीशन, नेतागिरी आदिमे अपना मन लगाता है वह तो है बाहरी चीजोमे जुडना और उन बाहरी चीजोमे न जुडकर अपने आपके अन्तरङ्गमे निज ज्ञायकस्वरूपमे अपने मन को लगाना, विकल्प हटाना और अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपमे अपने ज्ञानका जोडना इसका नाम है अन्तर्योग। तो जो ऐसा अपने भीतर अपना झुकाव करते है उन पुरुषोको समस्त कल्याण प्राप्त होते है और जो केवल बाहरी बाहरी पदार्थोंकी ओर अपना झुकाव रखेगे उनका ससारमे रुलना ही बना रहेगा।

कल्याणलाभके लिये अन्तस्तत्त्वकी जानकारीका कर्तव्य—हम आप सब जीव है और सबमे ज्ञानका स्वभाव पडा है और सभी जीव सच जाननेकी इच्छा रखते है। कोई यह नही चाहता कि मेरी झूठी जानकारी बनी रहे। बस अपनको यही करना है कि वास्तव मे मुझे अपने सत्यतत्त्वकी जानकारी बनी रहे। इस सच्ची जानकारीसे ही समस्त सकट दूर होते है, क्योकि जिन्होने इस सच्चे ज्ञानको समझ लिया कि प्रत्येक पदार्थ जुदा है, अपना अपना स्वरूप रखते है, मैं अपना स्वरूप रखता हू, मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हू, मुझमे किसी परसे कुछ आता जाता नही है, मैं अपने आप ही सुखी हू ऐसा जिसे बोध हो गया वह जब चाहे कदाचित कुछ खराबी भी अपने चित्तमे हो तो जब चाहे अपने आपमे आ सकते है और सुखी हो सकते है। जैसे यमुना नदीमे बहुतसे कछुवे होते है, वे अपना सिर उठाये यत्र तत्र घूमा करते है। सैकडो पक्षी उस कछुवेकी चोचको पकडनेके लिए उसपर झपटते है, वह कछुवा घबडाकर यत्र तत्र भागता है। अरे कछुवे तू क्यो दुखी हो रहा है? तेरे पास तो ऐसी कला है कि जब चाहे तब अपने सकट मेट ले। पानीमे चार अगुल अपनी चोचभर डुबा लेना है, लो सार सकट समाप्त हो गए। ऐसे ही हम आप अपने उपयोगकी चोचको बाहरमे निकाले हुए है जिससे अनेक आपत्तिया है। अरे हम आपमे ऐसी कला है कि जब चाहे तब इन सारे सकटोको मेट ले। एक इस उपयोग चोचको बाहरसे हटाकर अपने आपमे अन्तर्मुखभर कर लेना है, लो सारे सकट शीघ्र ही दूर हो जाते है। देखो जैसे कोई मुर्दा पडा हो, उसके सिर न हो, मात्र धड हो तो उसे कोई पहिचान नही पाता, और धड़ साथ सिर भी लगा है तो शीघ्र पहिचान हो जाती है, इसी तरह आत्मा यदि अपने उपयोग को अपनेमे लगाये तो इसे अपने आत्माकी शीघ्र पहिचान हो जाती है। और, इसी कारण उपयोगो लक्षण कहा। ज्ञान ही जीवका लक्षण है। तो हम अपना ज्ञाननेत्र उपयोगनेत्र ज्ञानसमुद्रसे बाहर निकाले है तो पचासो संकटरूपी पक्षी हम आपपर मडरा जाते है। लोग

कहते मुझपर बडा सकट है। अरे क्या सकट है ? मूलमे यही बात मिलेगी कि किसी पर-पदार्थमे अपनी दृष्टि गडा रक्खी है, इसी कारण मनके अनुकूल बाहरमे प्रवृत्ति न देखकर लोग दुःखी रहते है। अरे स्वयमे क्या दुःख है ? बाह्यपदार्थोंके कारण केवल कल्पनासे ही तो दुःखी है, स्वयमे अपनी ओरसे कोई दुःख नही है। तो यह जो हमने ज्ञानउपयोगकी चोच बाहरमे निकाली है, संकट सता रहे है, कल्पनाएँ करके हम दुःखी हो रहे है तो वे समस्त संकट एक साथ दूर हो जायें ऐसी कला हम आपमे मौजूद है। प्रयोग करे उस कला का तो सकट दूर हो सकते है। प्रयोग यह करें कि जब बहुत हम अशान्त हो गये, बडे संकट सता रहे तो उस ज्ञानकलाका ऐसा प्रयोग करना कि कुछ क्षण तो हम विश्राम कर ले, सर्व परको भूल जाये, लो, सारे सकट एक साथ समाप्त हो गए।

अध्यात्मयोगके यत्नसे संकटोंका परिहार— भैया ! बाहरमे किस किस क्लेशको दूर करनेका उपाय करे ? एक दुःख दूर करते है तो दूसरा दुःख सामने आ जाता है। एक इस ज्ञानकलाका उपयोग कर ले तो फिर कोई अशान्ति न रहेगी। इस जीवनमे कितने ही झमेले लगे रहते है जिनके कारण ये ससारके प्राणी आकुलित रहा करते है, कभी भी अपने सत्य विश्रामको नही प्राप्त कर पाते है। तो कुछ क्षणके लिए तो अपने उस सत्य विश्रामको प्राप्त करे। उसका उपाय क्या है कि एक साथ ही समस्त परपदार्थ सम्बन्धी उपयोगको हटाकर विश्रामसे ठहर तो जाये, अपने ज्ञानसमुद्रमे अपनी उपयोग चोचको डुबा तो लें कि सारे सकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं। देखिये ये सब बातें अपने भलेकी है, एक यह अध्यात्म प्रयोग है, चाहे महीनेमे एक बार कर सके, चाहे रोज एक बार कर सकें, कभी भी बन जाय, सर्वपरको भूलकर, किसीको भी अपने ज्ञानमे न लेकर बडी स्थिरतासे विश्रामसे यो ही बैठ जाये कि अपने आप आपमे जो कुछ झलके सो झलके, पर हम जान जानकर किसी भी पदार्थको सोचना न चाहे। ऐसा एक ठोस कदम जरा अपना बढाये तो सही किसी भी समय किसी भी क्षण तो सच जानो कि यह एक ऐसा महान पुरुषार्थ होगा कि समस्त वैभव, समस्त कल्याण आपने प्राप्त कर लिए। इतनी बात यदि जीवनमे न कर सके तो पुद्गलोके ढेरसे होता क्या है ? हजारो लाखो करोडोका धन इकट्ठा हो जाय आखिर वे चीजे तो बाहरी है। उसके कारण यदि कुछ जीवोने थोडी प्रशसा कर दिया कि यह तो बडे आदमी है तो इससे इस आत्माने क्या लाभ पाया ? अरे उन परपदार्थोंसे कुछ भी लाभ न होगा। अपना ध्येय तो ऐसा बनायें कि मुझे तो केवल अपनी थाह लेना है। मैं क्या हू— उसमे रमना है, और ऐसा करनेमे जो कुछ हमपर बीतती हो वह मेरे लिए भली बात है। पराधीन रहकर, दूसरेकी दृष्टि रखकर, वैभवकी आशा रखकर कुछ भी स्थितियाँ गुजरें वे सब हितकारिणी स्थितिया हैं। अपने आप अपनेमे ठहरकर फिर जो मुझे प्राप्त हो वह

मुझे सब कुछ है, और अपनेसे अलग रहकर बाहर दृष्टि रखकर जो कुछ भी चीजें प्राप्त होती है वे मेरे लिए कुछ नही है ऐसा अपना निर्णय बनायें और मूल लक्ष्य अपना यह रखे कि मुझे तो आत्मज्ञान करना है और आत्मामे ही अपनेको ठहराकर प्रसन्न रहे। कोई प्रयत्न बनाता है यही है अध्यात्मयोग। ऐसा योग करने वाले सत पुरुषोके चरणोकी जो सेवा करते है उन पुरुषोके समस्त प्रकारके कल्याणकी प्राप्ति होती है।

अन्तर्लीनमपि ध्वान्तमनादिप्रभव नृणाम्।
क्षीयते साधुससर्गप्रदीपप्रसराहतम् ॥८०५॥

साधुसंगसेवासे अन्तर्लीनध्वान्तका भी प्रक्षय—साधुजनोके सत्संगरूपी प्रदीपसे आवृत होकर अनादिकालका अज्ञान अधकार भी नष्ट हो जाता है। यह जीव अनादिकालसे अज्ञानी चला आ रहा है। यदि यह जीव पहिले शुद्ध होता, निर्मल होता तो इसमे विकार और अज्ञान किसी भी प्रकार न आ सकता था। जैसे खानमे स्वर्ण शुरूसे ही अशुद्ध है, पहिलेसे ही मिट्टीरूप है। बादमे लोग उपाय करके भट्टीसे धौकनियोसे उसे शुद्ध करते है और उससे शुद्ध स्वर्ण प्रकट होता है किन्तु वह शुरूसे अशुद्ध ही था। इस ही प्रकार जगत के ये सब जीव अनादिसे अशुद्ध ही है। विवेक तपश्चरण आदि उपायोसे यह जीव शुद्ध बनता है। तो यो अनादिकालसे इस जीवपर अन्तरङ्गसे लीन अज्ञान अधकार चला आ रहा है, ऐसा विकट अज्ञान अधकार भी साधुजनोके संसर्गके प्रदीपके प्रकाशसे नष्ट हो जाता है। अज्ञान क्या है? मोह। और निर्मोह साधुवोको जब देखते हैं, उनका ज्ञान उनका चमत्कार जब हम विदित करते है तो एकदम अपने ज्ञाननेत्र खुलते है और मोह दूर हो जाता है। मनुष्यका जीवन सुधरता है बडोके सत्सगसे। एक तो यह जीव स्वय व्यसनोकी ओर लगा है और फिर मिले इसे व्यसनोकी ही सगति तो व्यसन छूटनेका क्या उपाय है? एक तो यह जीव विषयोकी ओर ही लगा हुआ है और फिर विषयोकी मिले संगति तो ये विषय कैसे छूट सकते है? सत्सग बिना दिमाग भी व्यवस्थित नही रह सकता।

धर्मके प्रसंग बिना जीवनमें निःसारताका अनुभव—धर्मकी कुछ पुट रहे बिना जीवन एक भारसा मालूम होता है। कोई अवसर काज भी धर्मकी पुट बिना भद्दे मालूम होते है, जैसे कोई विवाहका ही कार्य है। विवाहकी प्रक्रियामे धर्मकी कोई पुट न रहे, जैसे कि मदिर जाना, कुछ दान करना आदि जो भी कुछ धार्मिक प्रसंग होते हैं, ये न होते तो वह समारोह नीरस हो जाता। मनुष्यके जीवनमे यदि धार्मिक बात न हो तो वह जीवन फिर दूभर हो जाता है। कैसा भी कोई प्राणी हो, किस ही प्रकारका मनुष्य हो, गरीब हो अथवा धनिक, कोई भी मनुष्य निरन्तर अधर्म अधर्ममे ही रहे, अपेक्षाकृत धर्मकी कुछ भी बात मनमे न आये। किसी भी ढंगसे तो उसका जीवन दूभर हो जाता है। कितना ही पापी पुरुष हो,

कितना ही व्यसनासक्त हो, उसके भी जीवनमे किसी न किसी क्षण योग्यताके माफिक अपेक्षाकृत धर्मकी कोई चर्चा मनमे आती ही है। तो जैसे धार्मिक वातावरण मिले विना यह जीवन दूभर हो जाता है। ऐसे ही सत्संग मिले विना यह जीवन दूभर हो जाता है। खोटी सगति ही अहर्निस मिलती रहे तो जीवन दूभर हो जाता है–सत्सग मनको एक वडा विश्राम कराने वाला है तो साधुजनोकी सगतिसे अज्ञान अधकार नही रहता।

दहति दुरितकक्ष कर्मवन्ध लुनीते, वितरति यमसिद्धि भावशुद्धि तनोति।
नयति जननतीर ज्ञानराज्य च दत्ते, ध्रुवमिह मनुजाना वृद्धसेवैव साध्वी ॥८०६॥

वृद्धसेवासे पापोका दहन—यह प्रकरण चल रहा है ज्ञानी सतजनोकी सगति करने का। इसका सक्षिप्त नाम है वृद्धसेवा। वृद्धके मायने उमरमे वडे नही, किन्तु जो ज्ञान सयम तप इनमे वढे चढे हैं ऐसे पुरुषोको वृद्ध कहते है। उनकी उपासना करना, सगति करना, सेवा करने ये अनेक अनर्थोको, सकटोको दूर करते हैं और गुणोका विकास करते हैं और साक्षात् काम जैसे विकारोको सुगम उपायसे नष्ट कर देते है। सज्जन पुरुषोके सत्सगमे निवास हो, भक्तिपूर्वक उनकी सेवाका भाव हो तो उस अवसरमे कामविकार नही जगता। ब्रह्मचर्य व्रत के पालनके लिए सत पुरुषोकी सगति एक अपूर्व औषधि है। यहाँ सज्जन पुरुषोकी सेवा करना ही उत्तम है क्योकि यह वृद्धसेवा अर्थात् सज्जन पुरुषोकी सेवा उपासना पापरूपी वन को दग्ध कर देती है। वृद्धसेवाके प्रतिकूल कुसगका अनुभव देखिये—जव मोही जनोके बीच ही रात दिवस रहना होता है और उस ही रागद्वेषमे निरन्तर चित्त वना रहता है उस समय जीवन प्रगतिशील तो रहता नही, कुछ दूभरसा जीवन लगने लगता है और सत्पुरुषो की सेवामे निर्विकाररूपमे समयके व्यतीत होनेमे ऐसा आत्मवल प्रकट होता, भावशुद्धि प्रकट होती कि पापरूपी वन जल जाता है अर्थात् पापोका नाश होता है।

वृद्धसेवासे कर्मवन्धविनाश तथा भावशुद्धिविकास—यह सत्सगति कर्मोके वन्धनको काट देती है, और उपाय ही क्या है इस जीवकी उन्नतिके लिए? प्राथमिक उपाय यही है सत्सगति। जिन जिन मनुष्योने कुछ भी तरक्की की है उनकी तरक्कीका मूल कोई न कोई सत्सग रहा है, वडे-वडे पुरुषोके जीवन पढ लीजिए पुराण पुरुषोके चरित्र पढ लीजिए। आजके भी जो नायक पुरुष है, धर्मके नायक, समाजके नायक, देशके नायक उनके चरित्रको भी देख लीजिए—उनकी उन्नतिका प्रारम्भ किसी न किसी सत्सगसे हुआ है। यह सत्सग चारित्रकी शुद्धिको प्रदान करता है। अकेले रहनेमे या मोही जनोके बीच रहनेसे वीरताका भाव शिथिल होता है और चारित्रको भी नष्ट कर देता है। जैसे कितने ही लोग कहा करते कि अमुकने अमुक प्रतिमा ली, अमुक व्रत लिया, अमुक त्याग किया, कुछ दिन तो चला और वादमें फिर न चला, इसका मुख्य कारण क्या है? सत्सग नही किया। सत्सगति

न हो तो धीरे-धीरे वह भाव शिथिल हो जाता है और जब कुछ समृद्धि होती है, आनन्दके दिन कटते हैं, सासारिक मौजमे समय व्यतीत होता है तो व्रत नियमकी ओर उत्कठा नही रहती, शिथिल हो जाते हैं। किसी जगलमे एक पुरुष एक खजूरके पेडपर चढ गया, चढ तो गया, जब बिल्कुल ऊपर पहुच गया और नीचे निगाह डाली तो उसे बडा भय लगा, कही मैं गिर न जाऊँ, कैसे उतरेंगे। जब दिलमें भय बैठ जाता है तब कुछ शूरता नही रहती, बल काम नही देता। तो सोचने लगा कि हे भगवन्! यदि मै अच्छी तरहसे उतर गया तो १०० ब्राह्मणोको जिमाऊगा। थोडा साहस किया तो वह कुछ दूर खिसक आया। अब सोचता है कि १०० तो नही, पर ५० ब्राह्मणोंको जरूर खिलाऊंगा, जब और कुछ नीचे खिसक आया तो सोचता है कि ५० तो नही पर ५ ब्राह्मणोको जरूर खिलाऊगा। जब बिल्कुल नीचे उतर आया तो सोचता है—वाह उतरे तो हम हैं, क्यो हम ब्राह्मणोको खिलाये? यह एक दृष्टान्त मात्र कहा है। जब कोई आपत्ति आती है तब धर्मकी बड़ी भावना होती है। जैसे जब कभी रोगादिकमे या किसी घटनामे जब यह सन्देह होता है कि प्राण न बचेंगे तो सोचते है कि इस बार अगर हम बच गए तो खूब धर्म करेंगे, इस सारे जगजालसे कुछ मतलब न रखेंगे, पर जब उस आपत्तिसे बच गए तो फिर वे सारी बाते भूल जाती है, और जैसाका तैसा रवैया फिर चलने लगता है। तो यह जीव अनादिकालसे विषयोकी ओर लगा है, वही चित्तमे पडा है, उसका ही सस्कार है तो उस सस्कारसे हटना एक बहुत बडा काम है। यह अपने आप अकेला अपने मनके अनुकूल कुछसे कुछ गुनता रहे जिससे कि भावोमे निर्मलता जगे। कुछ समय सत्सग भी चाहिए, उससे फिर अपने आपका बडा सवेदन बढता है। तो यह सवेद्य भावोकी शुद्धिको उत्पन्न करता है और अधिक क्या फल बताया जाय, सत्सगतिके प्रतापसे भावोकी निर्मलताका परिहार होता है जिससे ससार से पार होकर ज्ञानसाम्राज्यको यह आत्मा प्राप्त कर लेता है। सत्संगतिके प्रतापसे उत्तरोत्तर निर्मल भावोको बनाता हुआ यह जीव सदाके लिए सकटोसे छूट जाता है, निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मचर्यकी सिद्धिके प्रयोजक सत्संगसे होने वाले लाभोंके वर्णनका समापन—यह प्रकरण सत्सगतिका चल रहा था, यहाँ समाप्त होनेको है। सत्सगका प्रकरण इसलिए दिया गया है कि ध्यान साधनामे अंग है एक सम्यक्चारित्र। उससे ब्रह्मचर्य व्रतका वर्णन चल रहा है। ऐसे ब्रह्मचर्य व्रतकी सिद्धि सत्संगसे होती है, ऐसा बतानेके लिए सत्सगका वर्णन किया था। ससारमे भ्रमते हुए हम आप सब जीवोको केवल अपने आत्माका ध्यान ही शरण है अन्य कुछ समागम शरण नही है। अनेक बाते तो जीवनमे ही अनुभव कर ली गई हैं कि कौन शरण होता है? सब अपने अपने विषय और कषायोके भावोकी प्राप्तिके

लिए प्रयत्न करते है, हमारा उनसे कुछ हित नही है। ऐसी बात सुनकर कोई सोचे कि ये तो सब मतलबी है, स्वारथके साथी है, इन्हे ठुकरावो, इनसे घृणा करो, ऐसी बात नही कही जा रही है, यह तो एक वस्तुका स्वरूप बताया जा रहा है। कोई भी पदार्थ कुछ भी बनता है तो वह खुद अपने लिए बनता है। जीव अजीव सबकी भी यही बात है, प्रत्येक पदार्थ अपने प्रयोजनके लिए परिणमता है। जीव जो भी कार्य करता है वह अपनी शान्तिके लिए करता है और इन भौतिक पदार्थोमे जो जिस रूप परिणमता है वह अपना अस्तित्व रखने के लिए परिणमता है, क्योकि परिणमे बिना वस्तुकी सत्ता नही रहती तो समस्त पदार्थो का प्रयोजन खुद अपने आप है, यह वस्तुका स्वरूप है। तो इन जीवोने अपने ही स्वार्थके लिए काम किया, अपनी ही कल्पना की, अपने ही सुख शान्तिके लिए किया, इसमे घृणा करनेकी कोई बात नही है, यह वस्तुका स्वरूप है, जान लीजिए कि प्रत्येक पदार्थ स्वय अपने प्रयोजनके लिए परिणमता है। इससे यह शिक्षा लेना है कि जब जगतका ही ऐसा स्वरूप है, प्रत्येक जीव जो कुछ करते है वे अपने लिए ही करते हैं, तो मैं भी जो कुछ कर रहा हू अपने लिए कर रहा हू। अब मैं ऐसा कौनसा काम करूँ जो अपने लिए हितकर हो ? तो इसका सीधा उत्तर है कि रागद्वेष मोहका जो हमने परिणाम किया है, परवस्तुवो से ममता की है वह अपने बुरेके लिए ही किया। मैं केवल अपने इस कारणपरमात्म-तत्त्व ज्ञानमात्र निज स्वभावकी दृष्टि करूँ और यह मात्र मैं हू ऐसी उपासना करूँ तो यह कार्य है अपने पूर्ण भलेके लिए। और, इसके बीच जितने भी पुण्यकार्य हैं वे इसको इस बातका पात्र बनाये रख सकते हैं कि उनमे यह धर्मकार्य कर सके।

विरम विरम सगान्मुञ्च मुञ्च प्रपञ्च, विसृज विसृज मोह विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम्।
कलय कलय वृत्त पश्य पश्य स्वरूप, कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतो ॥८०७॥

ज्ञानकी प्रियतमता—हे आत्मन् ! निर्णय तो कर कि तुझे क्या चाहिए ? एक बात पर रहना, बदलना मत। जो भी तुम्हारी निगाहमे जचे कि हमे यह करना है, फिर वही वही करते रहना, बदलना नही। निर्णय करो आपको कौनसी बात प्रिय है ? अच्छा देख लो, जब बच्चा छोटा होता है साल ६ माहका तो उसे सबसे प्रिय होती है अपनी माँ की गोद। जब कभी उसे कोई सताये तो झट अपनी मा की गोदमे पहुच जाता है। अपनी रक्षाका उसे एक वही उपाय सूझता है। लेकिन वही बच्चा जब ५-६ सालका हो जाता है तो फिर उसे वह मा की गोद प्रिय नही रहती, उसे तो खेल खिलौने प्रिय हो जाते हैं, कुछ और बडा हुआ तो उन खेल खिलौनोंसे भी उसे प्रीति नही रहती, उसे तो खेल कूद प्रिय हो जाता है, कुछ और बडा हो जानेपर उसे विद्यासे प्रीति हो जाती है। विरले ही लडके ऐसे होगे जो विद्यासे डरें। उन्हे तो अब पुस्तकें प्रिय हो गयी, नई-नई विद्यायें प्रिय हो गयी।

कुछ और पढ लिख जानेपर, बडा हो जानेपर उन विद्यावोसे भी प्रीति नही रहती है, उसे तो केवल परीक्षामे पास होनेकी चाह रहती है, कुछ और बडा होनेपर उसे डिग्री मिलनेकी चाह हो जाती है। अब तो चाहे कुछ आये जाये नही, पर किसी न किसी प्रकारसे डिग्री मिले, इस बातकी चाह हो जाती है। जैसे अभी कुछ पहिले चला था कि चाहे कुछ भी पढे लिखे न हो लेकिन वैद्यभूषणकी डिग्री तो मिल ही जायगी, ऐसे ही डिग्री प्राप्त करनेकी ऐसी चाह हो जाती है कि चाहे कुछ भी न पढे लिखें, कुछ भी न आये जाये, पर डिग्री मिलनी चाहिए। उस डिग्रीके मिल जानेपर फिर उससे भी प्रीति हट जाती है। अब चाह हो गयी शादी करनेकी, अर्थात् अब स्त्री प्रिय हो गयी, वह डिग्री भी प्रिय नही रही। अब स्त्री हो गई, पुत्र हो गए तो उसपर भी वह प्रेम न डटा रहा। स्त्री पुत्रकी भी प्रीति छूट गई, अब धन प्रिय हो गया। किसी आफिसमे वह कोई काम कर रहा है। एकाएक फोन आ गया, फोन क्या आया, यह तो फिर बतावेंगे। पहिले उसकी चर्या सुनो। और और दिन तो वह सबसे दो दो मिनट बैठकर बातें भी कर लेता था, लेकिन उस दिन फोनके मिलते ही तुरन्त अपने घरकी ओर रवाना हुआ। जब वडी जल्दीसे वह अपने घर पहुचता है तो देखता है कि घरमे आग लगी हुई है, सारी सम्पत्ति जली जा रही है, लोगबाग कुछ सामान निकाल रहे है। फोन भी इसी बातका पहुंचा था। उस घरकी जलती हुई स्थिति को देखकर उसे क्या सूझता है कि सारा धन जाय, तो जाय, पर मेरे परिजन निकल आये। वह लोगोसे कहता है कि मुझसे जो चाहे धन ले लो पर मेरे परिजनोको किसी तरह निकाल लो। अब उसे धन प्रिय नही रहा। वे परिजन उसे प्रिय हो गये। आग बहुत बढ गई, सभी लोग निकल आये पर एक बच्चा अभी रह गया। अब वह सिपाहियोसे कहता है कि मेरे बच्चेको आगसे निकाल दो हम तुम्हे ५० हजार रुपये देंगे। अरे भाई तुम क्यो नही निकालते ? अरे अब तो उसे अपने बच्चेसे भी प्रिय अपनी जान हो गई। वह बच्चेको नही निकाल सकता, क्योकि उसे तो अपनी जान प्रिय है। तो अब उस बच्चेसे भी अधिक प्रिय हो गयी अपनी जान। थोडी देर बाद उस पुरुषको ज्ञान जगे, सारे परिग्रह त्यागकर सन्यासी बन जाय, बनमे तपश्चरण करने चला जाय। तपश्चरण करते हुएमे कोई शत्रु अथवा सिहादिक क्रूर जानवर उसे मारे काटें छेदे, त्रास दे तब भी उसे अपने प्राणोकी परवाह नही। अब उसे सबसे अधिक प्रिय हो गया ज्ञानध्यान। कोई शत्रु चाकूसे छील भी रहा हो, लेकिन वह यही यत्न करता है कि इस शरीर तकका भी मुझे रंच विकल्प न जगे। यदि रच भी इसके प्रति विकल्प जगा तो फिर जन्म मरण धारण करने पडेंगे, बस ससारमे रुलना पडेगा। मैं अपने आपके स्वरूपमे ही रत रहू, मग्न रहू, ऐसे ज्ञान और ध्यानका वह यत्न करता है। तो जीवको अधिकाधिक प्यारा रहा ज्ञान। तो

अपेक्षाकृत अभी वहुतसी बाते बताया, उन सबसे क्रम क्रमसे प्रीति छोडकर एक ज्ञानसे प्रीति की। सर्वोत्कृष्ट प्रिय है जीवको ज्ञान।

अन्तः ज्ञान व निर्वृत्तानन्दके लाभके लिये परिग्रह एवं मोहके परिहारका उपदेश– अन्त ज्ञानका प्रारम्भ होता है सत्संगसे। अतएव सत्सग एक बहुत बडी हितकारी बात है। इससे ब्रह्मचर्यकी सिद्धि होती है, परम ब्रह्मचर्यका पालन होता है, लोकमे शरण एक यही स्यिति है कि मैं ज्ञानस्वरूप ज्ञानोपयोग वाला यह मैं अपने ही ज्ञानस्वरूपमे मग्न हो जाऊ, निस्तरगरूपसे ठहर जाऊ, ऐसी स्थिति ही लोकोत्तम है, शरणभूत है, परम ब्रह्मचर्य है। उस स्थितिमे जो आनन्द होता है वह आनन्द अन्य किसी भी स्थितिमे नही है और उस आनन्दसे निर्वाणके आनन्दका पता चलता है कि मोक्षमे किस प्रकारका आनन्द है, जिसमे यह शंका है कि आखिर मोक्षमे होता क्या है, आनन्द कहाँ है तो वह अपने इस अनुभवको करे, उससे उसे विदित होगा कि शान्ति अपने आत्मामे स्थित होनेसे होती है। इसके लिए हे भव्य जीव, इन परिग्रहोको छोडो छोडो। इस निर्वाणके आनन्दकी प्राप्तिके लिए हे भव्य जीव ! तू इन मायामय प्रपचोको छोड छोड। इस आत्मीय आनन्दकी प्राप्तिके लिए हे भव्य प्राणी, तू मोहको दूर कर दूर कर। इस विशुद्ध स्वानुभवसे उत्पन्न हुए आनन्दका निरन्तर अनुभव करते रहनेके लिए हे भव्य जीव तू आत्मतत्त्वको जान जान, अन्य कार्य मत कर। आत्माके आचरणसे ही उत्पन्न होने वाले इस आनन्दकी प्राप्तिके लिए हे जीव तू शुद्ध आचरणोका ही सग्रह कर। शुद्ध चारित्र बना और अपने ही स्वरूपको देख, ऐसे पुरुषार्थको हे भव्य जीव कर कर। यहा प्रत्येक क्रिया दो दो बार कही है। जैसे जब किसी से कहते है कि चल चल, तो इसका अर्थ क्या हुआ कि उसे बहुत प्रेरणा दी गई है कि तू यहाँ एक मिनट भी मत ठहर, चल चल। और, कोई कहे कि चल तो उसका यह अर्थ है कि चलना जरूरी है, थोडी देर ठहरा भी रहे तो कोई आपत्ति नही है। दो दो बार क्रियावोके बोलने से उसकी विशेषता होती है। एक विशुद्ध स्थिति पानेका उपाय है इन परिग्रहोका त्यागना। मेरे पास और वैभव जुड जाय ऐसी भावनाओको त्यागे। किसी दूसरी वस्तुको मानना कि यह मेरी है, यह मैं हू, इसमे मेरा हित है, इससे मेरा बडप्पन है, इस प्रकारके मोहको त्यागने से और इस आत्मतत्त्वके निर्णायक ऐसे पुरुषार्थको करनेसे भव्य जीव मुक्तिको प्राप्त करेंगे।

अतुलसुखनिधान ज्ञानविज्ञानबीजम्,
विलयगतकलङ्कं ज्ञानविश्वप्रचारसबीजम्।
गलितसकलशङ्कं विश्वरूप विशालम्,
भज विगतविकार स्वात्मनात्मानमेव ॥८०८॥

अतुलानन्दनिधान अन्तरात्मको भजनेका आदेश––हे आत्मन्! तू अपने आत्माको आप ही स्वयंको भज। वस्तुत सदैव आत्मा आत्माको ही भजता है। चाहे मिथ्यादृष्टि हो, चाहे सम्यग्दृष्टि हो, कोई भी आत्मा किसी परपदार्थको भज नही सकता, लेकिन मिथ्यात्व अवस्थामे यह आत्मा आत्माको देहादिक पदार्थोरूपसे जानता है और सम्यक्त्व अवस्थामे आत्मा, अपने उस ज्ञानानन्दस्वरूपको भजता है। तो यहाँ आत्माको ही भजो, ऐसा कहनेमे यह बात बतायी है कि तू अपने आपको ज्ञानस्वरूपमें भज। इसीके विवरणमे अनेक विशेषतावोसे बताया है। यह आत्मा अतुल सुखका निधान है, ऐसा आनन्दस्वरूप है यह आत्मा, जिस आनन्दकी ससारकी किसी भी स्थितिमे तुलना नही की जा सकती। वैषयिक सुख भोगनेमे जितने भी प्रधान पुरुष और देव हुए है और भूतकालमे जितने हुए हैं, भविष्य मे जितने होगे उन सब सुखियोका सुख भी सचित कर लिया जाय तब भी उस सुखसे तुलना नहीं हो सकती है आत्माके आनन्दस्वरूपकी। यो अतुल आनन्दका निधान है इस रूपमे आत्मीय आनन्दका परिचय करना हो कि वह किस प्रकार होता है तो उसका किसी अशमे अनुभवन करके ही जाना जा सकता है।

अनुभवनसे अतुलानन्दका विशद परिचय—एक शब्दोसे जान लेना और एक अनुभवसे जानना, इन दोनोमे अन्तर है। अनुभवपूर्वक जानना तो है प्रमाणभूत और यो ही जान ले यह है अप्रमाणभूत। जान लिया किन्तु उसमे दृढता नही है, चाहे उस ही अनुरूप हो। जैसे कभी चर्चा आती है ना किसी तीर्थक्षेत्रकी जैसे शिखरजी पर नन्दीश्वरद्वीपकी रचना बडी सुहावनी है। इतने ऊँचे पर्वत बने है, इतनी ऊँची प्रतिमा है, इस इस ढगसे है, यो खूब बता दिया जाय, एक तो यह शब्दो द्वारा खूब ज्ञान कर लिया जाय और एक वहाँ जाकर आँखोसे साक्षात् दर्शन कर लिया जाय, एक यह ज्ञान, तो इन दोनो ज्ञानमे अन्तर है या नही? विशदता और अविशदताका अन्तर है। गोमट स्वामीकी मूर्ति, बाहुबलीकी मूर्ति जो ससारमे एक आश्चर्य मानी जाती है, और आज कोई बनाये तो शायद वैसी बनाई भी नही जा सकती है उसका आकार प्रकार ऊँचाई खूब भली प्रकार बता दी जाये, फिर भी जो सुनकर चित्र देखकर बाहुबलीकी मूर्तिका जो ज्ञान होता है और वहा जाकर कोई दर्शन करे तो उस समयके होने वाले ज्ञानमे अन्तर है। तो ऐसे ही सब चीजोका समझिये। जैसे किसीने इमरती न खाया हो और उसे इमरतीके स्वादका ज्ञान कराया जाय, देखो जलेबी खाया है ना, उससे भी बढिया स्वाद है, यो किन्ही भी शब्दोमे सुन ले, और कोई पूछे तो उन शब्दोमे बता भी सकता है, चाहे दूसरे लोग यह समझ ले कि इसने इमरतीका बडा स्वाद लिया है, बडा अच्छा वर्णन कर रहा है, लेकिन अनुभवात्मक ज्ञान कुछ नही है कि क्या है। भैया! सभी प्रसंगोकी यही बात है। तो अनुभवात्मक ज्ञानमे विशदता होती है

और केवल शाब्दिक ज्ञानमे विशदता नही होती। चित्र बनाना कोई शब्दोसे सिखा दे—यो पेन्सिल हाथमे ली जाती है, फिर धीरेसे जिस ढगका चित्र बनाना हो वहाँ वहाँ पेन्सिल ले जाई जाती है, यो कोई शब्दोसे चित्र बनानेका ज्ञान करा दे और बादमे धर दे कागज पेन्सिल कि लो अमुक चित्र बनाओ, तो क्या वह बना सकता है ? अरे जब तक तीन चार कागज न बिगडे, खूब अभ्यास न किया जाय तब तक वह कला नही सीखी जा सकती है। यो ही समझिये कि आत्मीय आनन्द कैसा होता है ? इस बातको समझानेमे समर्थ शब्द नही है। कुछ तो समझाते ही हैं, मगर यथार्थ अनुभव आ जाय कि लो यह है इस तरहकी बात, शब्दो द्वारा समझमे नही आ सकती, तब आत्मीय आनन्दका सत्य परिज्ञान करनेके लिए स्वय से परका विकल्प तोडकर अपने आपमे विश्रामसे स्थित होनेका अभ्यास करना होगा, और उस क्रियामे आनन्दका पता चलेगा कि आत्मीय आनन्द वास्तविक कैसा है ? वह आनन्द अतुल है, ऐसे इस अतुल आनन्दका मैं निधान हू, इस रूपमे अपने आपका सेवन कर। आत्मा को भज।

ज्ञानविज्ञानबीजरूप अन्तस्तत्त्वको भजनेका आदेश—यह आत्मा ज्ञान और विज्ञान का बीज है। जो ज्ञान अनेक पदार्थोकी जानकारी कर रहे हैं उन ज्ञानोका नाम है विज्ञान और जो ज्ञान अध्यात्ममे आत्मतत्त्वका ज्ञान कर रहा है वह कहलाता है ज्ञान। और विज्ञान है विविधज्ञान। तो ज्ञानके जितना विस्तार है और विज्ञानके जितने विस्तार हैं उन सबका बीज है कारण है आत्मा। अर्थात् वह समस्त ज्ञान और विज्ञान इस आत्मासे उत्पन्न होता है। अपने आपको इस रूपसे अनुभवें कि मैं समस्त ज्ञान विज्ञानका एक स्वरूप बीज हू अथवा ज्ञान तो हुए सभी और विज्ञान हुआ भेदविज्ञान। जिसमे विशेष विशेष ज्ञान किया जाय अर्थात् प्रत्येक पदार्थोकी विशेषताको ज्ञानमे रखकर जो बोध हो उसे कहते हैं विज्ञान। उस ज्ञानका और भेदविज्ञानका भी मैं बीज हू, इस प्रकार ज्ञानस्वरूप एक ज्ञानस्वभाव चैतन्यमात्र अपने आपको भज। यह शिक्षा दी जा रही है परम ब्रह्मचर्यकी साधनाके लिए। यह ब्रह्म अर्थात् आत्मा ब्रह्ममे ही, आत्मस्वरूपमे ही चर्या अर्थात् रमण करे, लीन हो जाय, मग्न हो जाय, निस्तरगता हो जाय उसे कहते है ब्रह्मचर्य। मुक्ति और अनुभवसे भी कुछ विचार कर लीजिए। हम ज्ञान कर रहे हैं। कोई सम्बन्ध ऐसा नही रहता कि जब यह जीव ज्ञान न करे। ज्ञानकी छुट्टी कर दे ऐसा एक भी क्षण नही गुजरता। पर, कोई पर-पदार्थोका ज्ञान कर रहे हैं, कोई आत्मतत्त्वका ज्ञान कर रहे है, कोई किसी ढगसे कर रहे हैं, अब जरा उनमे यह अन्तर तो देखो कि जब हम किन्ही भी परपदार्थोका ज्ञान कर रहे हैं तो उसका ज्ञान करनेमे हमे स्थिरता मिलती है या नही ? हम परपदार्थोका ज्ञान कर रहे हैं तो वे वे परपदार्थ तो स्थायी हैं ही नही, मिट जाने वाले हैं, वियोग हो जायेगा

और परपदार्थ है अनेक तो इस ही परके ज्ञानमे ज्ञान एक पदार्थको छोडकर दूसरे पदार्थका ज्ञान करने लगता है। तो यों परपदार्थोका ज्ञान बनाते रहनेमे यह आत्मा निर्विकल्प नही हो सकता। इसके तरग उठते रहेगे और फिर कभी किसीमे राग किया, कभी किसीमे द्वेष किया, कभी किसीमे मोह किया यो विविधताएँ चलती रहेगी।

ज्ञानविज्ञान बीज अन्तस्तत्त्वके अनुभवकी स्थितिका अवधिगम—अब जरा आत्माके ज्ञान करनेकी स्थितिका परिज्ञान कीजिए कि वह कितना सुखद है, आत्माका असाधारण लक्षण है ज्ञान और ज्ञानका लक्षण है ज्ञान। वैसे आत्माके बारेमे हम और और कुछ भी जानकारिया बना सकते है—यह आत्मा सूक्ष्म है, यह आत्मा रूपादिकमे रहित है, यह आत्मा अनन्त शक्तिमान है। इसके बारेमे हम अनेकानेक जानकारिया और भी बना सकते है, वहाँ भी हम और-और बातोंकी जानकारी बनाये वहाँ स्थिरता न मिलेगी। चाहे वह हम आत्माके बारेमे ही जानकारी बना रहे हैं, लेकिन जब हम अपने आत्माको ज्ञानस्वरूप-मात्रसे जानने लग जायें। तो चूकि जानने वाला भी ज्ञान है और जो जाननेमे आया वह भी ज्ञान है। यो ज्ञान और ज्ञेय दोनो एक हो जानेसे फिर वहाँ तरंग नही रहती। निर्विकल्पता पानेका उपाय यह है कि यह ज्ञानस्वरूप अपने आपका अनुभव करे। तो हे आत्मन्! यदि परमब्रह्मचर्यकी उपासना करना है तो अपने आत्माका, इस प्रकार अनुभव करे कि यह मैं ज्ञान और विज्ञानका बीज हू। जैसे बीजसे अकुर निकलता है और उन अकुरोमे भी बीज बनकर उनमे भी अकुर निकलेंगे, एक बीजसे अनेक बीजोकी परम्परा चलती रहती है, इस ही प्र ार इस ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्वमे अनेक ज्ञानोका निवास है। यह ज्ञानसे कभी खाली नही होता। आत्माको स्वरूपदृष्टिसे देखो और भगवानको सब दृष्टियोंसे देख लो। स्वरूपदृष्टिसे भी देखो और व्यक्त परिणमनकी दृष्टिसे भी देखो, वैसे तो भगवान अन्तरङ्गमे और बहिरङ्गमे एक रस है। हमारी हालत यह है कि हमारा अन्त प्रभुकी ही तरह है क्योकि स्वरूप एक है, लेकिन बाह्यमे उपाधिकृत भेद हो गया है। तो उपाधिकृत भेदपर हम निगाह ही न दे और केवल उस स्वरूपदृष्टिसे स्वरूपको ही निहारे तो क्या किसी क्षण हम ऐसा कर नही सकते? आत्मामे हम आत्माके परिणमनोंको नजरमे न ले, और केवल उसके स्वभावको नजरमे ले। ऐसा हम कभी कर तो सकते है, और इस ही प्रयोगके आधारपर परमात्मतत्त्वका विकास होता है।

अन्तस्तत्त्वकी परम परिपूर्णता—जब हम अपने आपको स्वरूपदृष्टिसे निहारते है तो उस समय कोई अधूरापन नजर नही आता। मै आत्मा तो परिपूर्ण हू। क्या ऐसा है जैसे कोई घडा बनाये तो अभी आधा बना है और ठहर जावो, पूरा बन जाने दो, क्या इस प्रकार यह आत्मा है कि अभी आधी है अभी और आधी बनेगी। प्रत्येक पदार्थ परिपूर्ण

सनातन सत् है। स्वरूपदृष्टिसे अपने आपको निहारे कि मैं पूर्ण हूँ और वह भगवान भी पूर्ण है। अच्छा अब और आगे चलिए—इस पूर्णमे से जो कुछ बात निकलती है, क्या वह उस कालमे अधूरी है ? वह भी उस कालमे पूरी है। प्रतिसमय हमारा जो परिणमन बनता है वह परिणमन प्रति समय पूर्ण ही है। वह पूर्णमे से पूर्ण निकल जाता है, फिर भी रीता नही बनता, मैं पूर्णका ही पूर्ण रहता हू। तो जैसे मैं परिपूर्ण हूँ ऐसे ही मैं एक बीजस्वरूप हूँ, चैतन्यमात्र अन्तस्तत्त्व हूँ। ऐसा अपने आपका अनुभव करे। इस अनुभवमे अर्थात् जब यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपको जानने लगे तो वहाँ आत्मा आत्मामे निस्तरग, निर्विकल्प निर्भय हो जाता है, यही है परमब्रह्मचर्य।

निष्कलङ्क अन्तस्तत्त्वके अनुभवनका आदेश—भैया ! अपने आपको निष्कलक अनुभव करे। जैसे जो जौहरी है, पारखी है, सर्राफ है वह किसी भी सोनेके आभूषणको लेकर कसकर उसके शुद्ध स्वर्णपर दृष्टि रखता है कि इसमे इतना स्वर्ण है, बाकी सब गैर तत्त्व है क्योंकि उसे शुद्ध स्वर्णका परिचय है और उसको शुद्ध स्वर्णकी रुचि है, इसी प्रकार जिस जिस तत्त्ववेदीको अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका परिचय हुआ है और उसकी ही रुचि है तो वह इस सहजस्वरूपमे अर्थात् जो कुछ भी भाव गुजरा, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक गुजरे इन सबको वह यह मैं नही हू, ऐसा जानकर हटा देता है। देखो रुचिका प्रताप है। स्वर्णमे तो फिर भी इतना भेद है कि किट्ट कालिमा स्वर्णसे अलग है और तपाकर यह दिखाया जा सकता है कि लो यह तो निकली कालिमा और वहाँ तो स्वर्णमे और कालिमा मे इतना प्रकट भेद है और देख सकते है कि लो यह कालिमा है और यह शुद्ध स्वर्ण है। वहाँ तो दो पदार्थ है, और यह मैं आत्मा अकेला हू, इसमे कोई भी दूसरा पदार्थ नही है। रागादिक पदार्थ इससे अलग है। हमारे आत्मामे उस कालमे रत्नत्रयरूप है वह विकार तिसपर भी रुचिका ऐसा प्रताप है कि उन रागादिक विकारोको आत्मा माना ही नही है। इस प्रकार अपने आत्माको निष्कलक अनुभव करे।

शान्त निष्प्रपञ्च विशाल अन्तस्तत्त्वके अनुभवनका आदेश—अपने आपको ऐसा शान्त अनुभव करे कि इसमे विश्वके सब प्रपच शान्त हो गए हैं, देखो थोडा जबरदस्ती भी अपनेको सुखी बना सकते है। मानो कोई इष्ट गुजर गया, उसके पीछे बडे दु खी हैं तो थोडी देरको अपने को उस इष्टसे अत्यन्त भिन्न निरखने लगें, उसकी सत्ता उसमे है, मेरी सत्ता मेरेमे है ऐसा अनुभव करने लगें लो सारे सुखोकी झलक वहाँ आ जायगी। और, बडा प्रेम है, सब तरहका मौज है लेकिन अपने को दु खी अनुभव करे तो दु ख आ जायगा। जिस महापुरुषको मुक्त होनेकी इच्छा है अर्थात् बधे हुए इन कर्मोंसे, शरीरसे अपनेको मुक्त होना चाहता है उसे आवश्यक है कि वह अपने मुक्त स्वरूपको निहारे। यदि अपनेको महा

प्रपची मायासक्त परिवार वाला निरखा और मुक्तिके स्वप्ने देखे तो उसकी वह मिथ्या कल्पना है। हे आत्मन् ! यदि तुम परम ब्रह्मचर्यकी उपासना करना चाहते हो अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रतका आनन्द लेना चाहते हो तो अपने को सर्व प्रपचोसे रहित केवल ज्ञान ज्योति मात्र अनुभव करे। अपने आपको निष्कलक अनुभव करे।' हे आत्मन् ! तू तो विविक्तरूप है, समस्त विश्वका ज्ञान तो तुम ही मे होता है। उस ज्ञानकी अपेक्षा तुम विश्वरूप हो, अत्यन्त विशाल हो, तुम्हारा विराट रूप है। इस ही ज्ञानमे समस्त लोकालोकका आकार समाया जा सकता है। प्रभुके ज्ञानमे समस्त लोकालोक प्रकट प्रतिभासमान होता है, तब बतलावो वह ज्ञान कितना बडा है ? क्या इस नगरसे भी बडा है ? क्या इन समुद्रोसे भी बडा है, क्या इन तीनो लोकोसे भी बडा है ? अरे तीनो लोक और अलोक इन सबको मिला दो उससे भी विशाल यह ज्ञान है। ये जगतके प्राणी अपने आपको तुच्छ अनुभव करते चले जा रहे है, भले ही ये कुछ मौज मानते हो घरमे रहकर, भले ही इन नाना इष्ट समागमोमे मौज मानते हो लेकिन वे अपनेको तुच्छ ही मानते है। अरे उस तुच्छताके अनुभवको छोड़ो, यह मेरा है, यह पराया है, इस प्रकारके विकल्पोको छोडो, ये तुच्छ बाते है। हे आत्मन् ! इस ममताके कारण तेरी प्रगति रुकी हुई है। अपनेको विशाल अनुभव करो, और मुझमे अब विकार नही रहे है, दूर हो गए है, विगत हो चुके है. इस प्रकार अपनेको निर्विकार अनुभव करो।

धारणापूर्वक ध्यानके कर्तव्यसे लाभ लेनेका अनुरोध—ध्यान करनेके लिए धारणा हुआ करती है। जरा अपने आपको इस तैयारीके साथ बनाये, सब ओरसे विकल्प हटावे। यहाँ प्रकृतमे जो तत्त्व कह रहे है उस पर ही ध्यान जमावे। यह मैं एक मेरूपर्वत जैसे विशाल पर्वतके ऊपर बैठा हू, यो समझिये कि यहाँ बड़े भारी समुद्र है उन समुद्रोके बीच एक जम्बूद्वीप है और उस द्वीपमे लाखो योजनकी ऊचाई पर, प्रभु विराजमान हू, और वही मै भी बैठा हू, अपने आपमे प्रभुस्वरूपको प्रभुकी पूरी शकलमे जैसी कि शान्तमुद्रामे प्रभु की मूर्तिके दर्शन करते है, लो यह मैं भी उस मूर्तिके ही समान निश्चल दशामे विराजमान हू, एक अपने आपके प्रभुस्वरूपको देख रहा हू, उस समय यो अनुभव करे कि मैं तो प्रभुके ही समान ज्ञानानन्दस्वरूप हू, निर्विकार हू, यों अपने आपकी निर्विकारताका अनुभव करने लगे। यही एक परम ध्यान है। इस परम, ध्यानके बीच बीचमे शुक्ल ध्यानकी अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। लो इस शुक्लध्यानकी अग्निने इन अष्ट कर्मोका विध्वस किया, मात्र शरीर रह गया, सारे विकार भस्म हो गये। लो ये सारे कर्म धूलवत उड़ गए। यो जरा ध्यान तो बनाओ। वहाँ आप अपने आपको निर्विकार अनुभव करने लगोगे, यो अनेक आत्मसाधनाके उपायोसे अपने आत्मारामके सम्मुख होकर अपने आपको शुद्ध ज्ञानानद मात्र

अनुभव करे, इससे ही इस परम ब्रह्मचर्यकी प्राप्ति होगी।

धन्यास्ते मुनिमडलस्य गुरुता प्राप्ता स्वय योगिन,
शुद्धयत्येव जगत्त्रयी शमवता श्रीपादरागाङ्किता।
तेषा सयमसिद्धय सुकृतिना स्वप्नेऽपि येपा मनो-
नालीढ विषयैर्न कामविशिखैर्नैवाङ्गनालो नै ॥८०९॥

निर्मलचित्त मुनिगणको धन्यवाद—ब्रह्मचर्य महाव्रतके प्रकरणमे अब ये अन्तिम प्रसंग आ रहे हैं। अन्तमे कहते है कि जिन मुनियोका मन विषयकषायोमे स्वप्नमे भी आरूढ नही होता वे मुनि धन्य हैं। यह जीव विषयोकी आशासे कायर बन जाता है। आत्मा केवल ज्ञाता रहे, जाननहार रहे, किसी भी इन्द्रियविषयमे अपनी रागवृत्ति न बने तो यह अमर ही है, वीर ही है। वे मुनि धन्य है, वे सुमति धन्य हैं, जिनका मन विषयोमे नही विद्ध होता है, जो कामके बाण और स्त्रीके कटाक्षोसे जिनका मन स्खलित नही होता, जो विषयकषायोसे अत्यन्त दूर रहते है ऐसे सुमति धन्य हैं। प्रवृत्तियोमे बहुत कुछ निराकरण करनेसे आखिर एक सबसे बडी कठिन व्यथा यह विषयव्यथा रहती है। ब्रह्ममे लीन होनेमे बाधक यह मनोज वाञ्छा है, जिस अन्तर्वेदनाके कारण यह पुरुष अपने ब्रह्मस्वरूपमे मग्न नही हो पाता। जिन्होने समस्त इन्द्रियविषयोसे निवृत्ति पा ली है वे मुनीश्वर धन्य हैं। और, देखो यह मूल गुणमे शामिल किया है। पञ्चेन्द्रिय और मनका निरोध यह साधुवोका मूल गुण है, यदि अन्त से इनका निरोध न हो सका तो वहाँ साधुता नही है। पञ्चम गुणस्थान तक तो रौद्रध्यान बताया है। इससे ऊपर रौद्रध्यान नही है। आर्तध्यान तो सम्भव हो सकता छठे गुणस्थानमे, इष्टवियोगज, अनिष्टसयोगज और वेदनाप्रभव ये सम्भव हो जाते है किन्तु रौद्रध्यान सम्भव नही हो सकता। यद्यपि उन्हीं स्वाभाविक पञ्चम गुणस्थानवर्तीके लिए ऐसा विकट रौद्रध्यान नही है जो मोहमे सम्भव होता है, लेकिन जब तक परिग्रहका सम्बन्ध है तो उसके कारणसे हिसानन्द चौर्यानन्द, मृषानन्द और विषयसरक्षणानन्द ये चार प्रकारके किसी न किसी रूपसे चाहे उनका छोटा ही रूप हो, ये निहारे नही जा पाते हैं। जब तक घरमे रह रहा है कोई तो कुछ धनार्जनका भी कार्य है, कुछ रसोई आदिक परिग्रहोका भी कार्य है, कुछ अपनी स्वरक्षा बनाये रखनेका भी कार्य है। कोई घरमे रहे और बडी विरक्ति दिखाये, बाबा बन जाय, ले जावो, सब कुछ खुला है, तो ऐसा बाबापनेका काम तो घरमे नही निभ पाता, स्वरक्षा भी करना है, तो कुछ रौद्रध्यान सम्भव है पर छठे गुणस्थानमे रौद्रध्यान रहता ही नही है, वहाँ विषयसरक्षणाकी चिन्ता नही है।

निसङ्गतामें स्वातन्त्र्यविकास—नि सग साधुवोके विहारस्वातन्त्र्यको पक्षियोकी तरह

बताया है। जैसे देखा होगा कि पक्षी कही बैठे है, मन चाहा लो फुर्रसे उड गये। गृहस्थो को तो यदि कोई आफत आ जाय तो वे कहां भागकर जाये, उनके पीछे तो बडा झमेला है, कहाँ क्या लादकर ले जाये? साधुजन ऐसे होते है कि वे निष्परिग्रह है, नि सग है, उनकी जब मर्जी आयी तब जहाँ चाहे विहार कर जाते है। इन परिग्रहोके कारण कोई विकट परिस्थिति अनुभवी जा रही हो यह बात साधुवोमे नही पायी जाती है। हाँ कोई साधु यदि गृहस्थोकी भाँति बडा आडम्बर मुडियाये, उसकी चिन्ता रखे तो वह उसकी साधुता नही है। साधुता नि सग अवस्थामे ही बनती है, और, ऐसा नि सग होने के लिए मूलमे ब्रह्मचर्य की परम साधना होनी चाहिए। अच्छा यह विचार कर लो कि जो इतना परिग्रह लगा है, गृहस्थी बधी है, महल मकान है, दुकान है, वैभव है, जमीन है, तिजोरी है, ये सारी बाते जो गृहस्थीमे लगी है उनका मूल कारण क्या है? विचार करते जावो। इतना महान सग बनानेका कारण यह है कि ब्रह्मचर्यकी साधना नही रख सके और उसकी प्रतिक्रियामे विवाह करना पडा, उसके कारण फिर इतने आडम्बर रखना जरूरी हो ही जाता है। इन परिग्रहोमे व्यासक्ति होनेका कारण मूलमे ब्रह्मचर्य महाव्रतकी सिद्धि न रख सकना है, एतदर्थ सबसे अधिक जोर ब्रह्मचर्य महाव्रतपर दिया जा रहा है। जो परमब्रह्मचर्यकी उपासना करता है, कामबाधावोसे, नेत्रकटाक्षोसे जिनका मन कभी विद्ध नही होता ऐसे महा सत पुरुषोके ही सयमकी साधना होती है, और ऐसे योगीश्वर ही योगीश्वरोके समूहमे आचार्यपदको, प्रधानताको प्राप्त होते है। मुद्रा भी शान्त हो ऐसे परमयोगीश्वरोके चरण कमलोके अनुरागसे ये साधु निश्चय करके पवित्र हो जाते हैं। एक तो मोहीजनोके प्रति अनुराग जगना, मेरा तन, मन, धन, वचन सब कुछ हे स्त्रीदेवते! हे पुत्र महाराजो, तुम्हारे लिए न्योछावर है, उसका परिणाम निरख लो, क्या मिलता है। लाभ उससे कुछ भी नही प्राप्त होता है और एक ऐसे सत योगीश्वरोके चरणोमे यह चित्त अनुरागसे अकित हो जाय तो देख लीजिए उस पुरुषका हृदय कितना प्रसन्न और पवित्र हो जाता है? आखिर ये दुनियाके झझट जिन्हे मान रक्खा है ये झझट छूटते नही हैं। अभी इस भवमे इस तरहके झझट है, अगले भवमे अन्य तरहके झझट लग जायेगे। यो इन झझटोके मोल लेते रहनेका ही तो नाम ससार है। तो वे योगीश्वर धन्य है जिनका मन विषयोसे विद्ध न होता और परमब्रह्मचर्यकी साधना रखते हैं, और वे भक्तजन भी धन्य है जो ऐसे योगी सतोमे गुणोके अनुरागी बने रहा करते है।

येषा वाग्भुवनोपकारचतुरा प्रज्ञा विवेकास्पदम्,
ध्यानं ध्वस्त समस्तकर्मकवचं वृत्त कलङ्कोज्झितम्।

सम्यग्ज्ञानसुधातरङ्गनिचयैश्चेतश्च निर्वापितम्,

धन्यास्ते शमयन्त्यनङ्ग विशिखव्यापारजाता रुज ॥८१०॥

उपकारकोपदेष्टा विवेकी प्रज्ञ संतोंके ध्यानका धन्यवाद—जिन योगीश्वरोके वचन लोकके उपकारके आधार है और प्रज्ञा विवेकके साधन है वे योगीश्वर धन्य है। देखिये मनुष्यके विशेष करके दो ही तो धन है। भीतरमे विवेक और ऊपरमे व्यक्त होने वाले वचन। जिस पुरुपमे विवेक है और जिसके वचन लोकका उपकार करने वाले है वह पुरुष सत है, धन्य है। व्यक्त वचनोसे तो लोकका उपकार होता है और विवेकसे अपने आपकी रक्षा होती है—इन दोनो बातो पर जो विशेप उन्नति शील बना रहेगा वह उतना ही विशेष योग्य हो जाता है। विवेक का अर्थ क्या है? लोग यह समझते है कि विवेक मायने जानकारी। विवेकका सही अर्थ है—जो दो टुकडे कर दे इसका नाम विवेक है। जानकारी का अर्थ तो पीछे लिया गया है। जाननेकी बात विच्लृ धातुमे कुछ भी नही है, इसका अर्थ है दो टुकडे कर देना। जिससे ध्वनित होता कि भेद विज्ञानका नाम विवेक है। जिस आशय मे भेदविज्ञान नही बसा है वहाँ कितना भी ज्ञान क्यो न हो, उस ज्ञानके होने पर भी विवेक तो कहते नही, लोग भी नही कहते। कोई बहुत बडा ज्ञान प्राप्त करले अध्ययन करके किन्तु हित अहितकी परख न हो तो लोग उसे कहते है कि पढ तो गया, पर विवेक कुछ नही है। तो उस पढनेमे, अध्ययनसे और ज्ञानसे कुछ अलग बात है ना विवेक।

विवेककी अध्ययनसे विशेषता—देखिये छुपी हुई बातको भी कोई ज्योतिष गणितसे बता सकें ऐसे भी लोग होते है। ऐसे ही एक दृष्टान्तमे कहते हैं कि कोई चार मित्र थे। जो अपनी ज्योतिष गणितसी छुपी हुई बातको भी बता देते थे। चारोमे सलाह हुई कि चलो अपने राजा महाराजावोके पास चले और यह बात उनके दिलमे प्रवेश कर दे, अच्छा तो चले वे किसी नगरके महाराजाके पास। चारोने बताया कि महाराज तुम जो चाहे पूछो, हम अपनी ज्योतिप विद्याके द्वारा छुपी हुई बातको भी बता देंगे। तो महाराजाने क्या किया कि हाथमे एक चीज उठा ली और मुट्ठी बाँध ली, पूछा बतावो हमारी मुट्ठीमे क्या है? सो मुट्ठी मे क्या चीज थी उसे फिर बतावेगे। एकने गणित लगाकर बताया कि आपकी मुट्ठीमे कोई गोल गोल चीज है, दूसरेने बताया, महाराज गोल भी है और उसके बीचमे छेद भी है, तीसरेसे पूछा कि तुम बतावो क्या है? तीसरा कहता है महाराज वह चीज गोल भी है, उसके बीचमे छेद भी है और साथ ही वह लोगोके काम भी आती है। चौथेसे पूछा—अब तुम बतावो क्या चीज है? तो वह बोला—खोल दो महाराज मुट्ठी, इसमे चक्कीका पाट है। अरे था तो उसकी मुट्ठीमे जापकी मालाका दाना। उन तीनोने तो बिल्कुल ठीक बताया था पर उस चौथे ने बताया कि चक्कीका पाट है। अरे इसे तो देहाती मूर्ख भी समझ लेगा,

कि चक्कीका पाट मुट्ठीमे नही आ सकता है। तो पढ लिख लेना, अध्ययन कर लेना और बात है, विवेक जगना और बात है। किसी गाँवमे एक लालबुझक्कड नामका आदमी था। वह गाँवकी सारी समस्यावोको हल करता था। चाहे अट्ट बताये चाहे सट्ट, पर वह गाँवकी सारी समस्याए सुलझाता था। एक बार रात्रिमे वहाँसे एक हाथी निकला, गाँवके लोगोने सुबह देखा तो हाथीके पैरोके बडे बडे निशान बने हुए थे, लोग आश्चयमे पड गए कि यह क्या चीज है ? यह बात लालबुझक्कडके पास पहुची। सभी लोगोने कहा—लालबुझक्कड़ महाराज, हमारी इस समस्याको हल कर दो। तो लालबुझक्कडने उस स्थानको आगे पीछे देखा और कहा-तुम लोग घबडावो मत। कहा देखो—लालबुझक्कड बुझ सके और बुझे ना कोय। पैरमे चक्की बाँधके हिरणा भागा होय। एक हिरणाने अपने पैरमे चक्की बाँध ली और यहाँसे निकल गया, उसके ये निशान है। युक्ति तो बिल्कुल ठीक दी। चाकके पाट बराबर ही वे निशान थे और हिरण जब उछलता है तो दूर दूर पैर धर कर उछलता है। बाते तो टीक थी, पर उसके यह विवेक न जगा कि ऐसा भी कही होता है क्या ? तो विवेक बिना चित्तमे शान्ति सन्तोष साता प्रकट नही होते है। तो वे योगीश्वर धन्य है जिन्होने प्रज्ञाके द्वारा अपने आपमे स्वाधीनता प्रकट की है और इन वचनोके द्वारा लोकका उपकार किया है।

कर्मविध्वंसक ध्यानके अधिकारीको धन्यवाद—वे योगीश्वर धन्य है जिनके ध्यानने कर्मबन्धरूपी कवचको नष्ट कर दिया है। जैसे कवच बडा मजबूत होता है, लोग उसे अपने शरीरमे ओढ लेते है तो बाण कोई मारे तो उसपर कुछ असर नही होता। तो इस जीवके साथ यह कर्मबन्धका ऐसा मजबूत कवच लगा हुआ है कि जिसके कारण सत्शिक्षाका असर नही होता। तो ऐसा शत्रुतारूप जो कवच है उस कवचको केवल ध्यानके बलसे तोडा जा सकता है, ये रागद्वेष मोह आदिक भावके बन्धन, ज्ञानावरणादिक कर्मोके बन्धन एक आत्मध्यानसे ही तोडे जा सकते है। लोग शान्तिके लिए बाहरमे बडी खोज करके व्यग्र होते जा रहे है, पर शान्ति बाहरी खोजसे मिल नही सकती। वह सत्सग धन्य है जिस सत्संगमे रहकर बुद्धि ऐसी व्यवस्थित रहती है कि जिस बुद्धिके द्वारा यह पुरुष अपने आपमे अपने अन्तस्तत्त्वके ध्यानसे ही शान्ति और सन्तोषका अर्जन करता है, और वे योगीश्वर भी धन्य है, पूज्य है जिन योगीश्वरोके गुणोका स्मरण करनेसे अपने आपमे निर्मोहताका उत्साह जगता है और आत्मध्यानकी प्रेरणा मिलती है, यो यह आत्मध्यान ही कर्मबन्धनको तोड़ने मे समर्थ है।

निष्कलङ्क ज्ञानस्वरूप योगीश्वरोंको धन्यवाद—वे महायोगीश्वर धन्य है जिनके चारित्र कलकरहित है। कलक क्या है ? विषय और कषाय। कहते है कि आत्मके अहित

विषय कषाय, इनमे मेरी परिणति न जाय। विषय और कषाय ये दो जीवके विकार हैं। प्रभुसे हम आप यही प्रार्थना करते है कि हे प्रभो ! इन विषय और कषायोमे मेरा उपयोग न जाय। मैं रहू आपमे आप लीन । सो करहु होऊँ ज्यो निजाधीन। कवि दौलतरामजी ने बताया है कि आत्माके अहित करने वाले ये विषय और कषायके परिणाम है, इन रूप मेरी परिणति न हो। मै अपने आपमे ही लीन रहूँ और हे नाथ ! यदि तुम कहते ही हो कि माग लो कुछ हमसे तो मैं यह मागता हूँ कि सो करहु होऊँ ज्यो निजाधीन। ऐसा काम बना दो कि मैं निजमें लीन होऊँ। जिनको धर्ममे रुचि है वे धर्मतत्त्वके वेत्ता चाहे गृहस्थ हो, चाहे साधु हो, चाहे आचार्य हो उत्तरोत्तर विशेषता तो जरूर है, मगर धर्मकी रक्षा करने वाले पुरुष, ज्ञानकी रक्षा रखने वाले पुरष ज्ञानवत पुरषोमें अपूर्व गुणानुराग रखते हैं और इतना अधिक गुणानुराग होता है कि कदाचित् किसी एक बातमे जहाँ सैकडो बाते बतायी है कदाचित् किसी एक तत्त्वके अप्रयोजनभूत निर्देशमे थोडा स्खलन हो जाय तो भी उतने के कारण उन ज्ञानी सतोमे गुणानुराग कम नही करते है । जैसे माताका पुत्र मे इतना अधिक अनुराग होता है कि कभी कदाचित् थोडा अपराध भी हो जाय तो पुत्रसे कितना स्नेह रखती है। हा कदाचित् असह्य अपराध हो जाय तो माता भी जो न्यायवती है वह पुत्रको छोड देती है। छद्मस्थ जन है फिर भी कितना विशेष ज्ञान था उन सतजनो का जिन्होने किस किस तरहसे इस तत्त्वका निरूपण किया है, यह उनके साहित्यका अनुसधान करने पर विदित होता है। जो कोई तालाबकी अवगाहना करेगा वही तो तालाब की गहराई माप सकेगा। अवगाहन किये बिना केवल ऊपरके देखने से गहराईका पता नही पडता है। एक लौकिक कथानक है कि राम रावणके युद्धमे बदरोने समुद्रको लाँघ लिया था और लकामे पहुँच गए थे। तो भले ही कल्पना कर लो कि वानरोने समुद्रको लाँघ लिया मगर समुद्रमे क्या रत्न पडे हैं इसका पता क्या उन वानरोको हो सकता है ? नही हो सकता। इसी प्रकार पोथी पन्नोके अध्ययन कर करके एक इस ज्ञानसमुद्रको कोई लाँघ भी ले, बदरोकी तरह पार कर ले, पर इस ज्ञानसमुद्रमे मर्म क्या पडे हुए है यह बात गुणानुराग की डुबकी लगाये बिना विदित नही हो सकती। वे योगीश्वर धन्य है जिनका चित्त सम्यग्ज्ञानरूपी अमृतके तरगोसे अशान्त हो गया है। मोह रागद्वेषसे व्यथित हृदय वालेको क्या कोई ठडा घर शान्त कर सकता है ? अरे मोह रागद्वेषकी अग्निसे सतप्त हृदय वाला ज्ञानरूपी अमृतकी तरगोसे ही शीतल किया जा सकता है। ज्ञानमे ही ऐसी सामर्थ्य है कि उन विक्रमके सतापोको क्षणमात्रमे नष्ट कर देता है। एक विचार ही तो है। बाह्यमे कुछ परिणमन हो गया हो, हम मनके अनुकूल नही समझ रहे हैं तो हो गया परिणमन। जब हम उसको अपने आपमे मोहवश अधिक महसूस करते है तो हम दुखी होते है। और जब यह

विचार बन जाता है कि क्या है, ससार असार है, सब भिन्न है, हो गया जो कुछ हो गया। वे मुझसे तो सब न्यारे ही है। मैं तो देहसे निर्मल केवलज्ञान हू, मैं इतना ही हू, मेरा क्या बिगाड हुआ ? एक विचार ही तो बनाया कि वे सारे सकट क्षणमात्रमे नष्ट हो जाते है। तो मोह रागादिक उपद्रवोसे सतप्त हृदयको शीतल करने वाला सम्यग्ज्ञान ही है।

आत्मपोषणके कार्यमें सलग्न होनेका अनुरोध—अब अपने आपके बारेमे थोडा स्वय विचार तो कर लो कि यहाँ काम दो ही तो है—शरीरका पोषण करना और एक अपने आत्माका पोषण करना। इन दो कामोमे शरीरके पोषणमे कितना तन, मन, धन, वचन व्यय करते हैं और इस आत्माके पोषणमे अर्थात् ज्ञानार्जनमे कितना इन तन, मन, धन, वचनोका उपयोग करते है। वर्षमे बारह महीने होते है, इन बारहो महीनोमे शरीरके पोषणमे कितना समय व्यतीत होता है और ज्ञानार्जनके काममे कितना समय व्यतीत होता है ? इस पर जरा विचार तो करे। वर्षमे एक दो माहके लिए किसी सत्सगतिमे ज्ञानार्जनके उद्देश्यसे रहना चाहिए। योग्य सत्सगसे ज्ञान और ध्यानकी प्रेरणा मिलती रहती है। शेष ११ महीनोमे एक दो घटा नियमित ज्ञानकी साधना और उपासनामे लगाये। इस प्रकार अपने ज्ञान द्वारा अपने आपके पोषणके लिए सभी प्राप्त हुए समागमोका अधिकसे अधिक सदुपयोग कर लें। इन सर्व प्राप्त हुए समागमोसे अपने आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका उपाय बना लिया जाय तो इससे बढकर भी कोई पुरुषार्थ हो सकता है क्या ? ऐसे ही उपायोसे प्रारम्भ करके जिन्होने आत्मध्यान और नि सगताका आलम्बन लिया है वे योगीश्वर धन्य है, और ऐसे योगीश्वर इस कामवाणसे उत्पन्न हुई पीडाको शमन करे। यह ब्रह्मचर्य व्रतका प्रकरण है ना, तो जिसका प्रकरण हो उसका ही तो पालन किया जाता है। ऐसे योगीश्वरोके ध्यानसे मेरे चित्तमे कामविकारकी गध भी न रहे, ऐसी वाञ्छा रखते हुए भक्तजन उन योगियोके गुणोका अनुराग कर रहे है।

चञ्चद्भिश्चिरमप्यनङ्गपरशुप्रख्यैर्वधूलोचनै—
र्येषामिष्टफलप्रद कृतधिया नाच्छेदि शीलद्रुम ।
धन्यास्ते शमयन्तु सन्ततमिलदुर्वारकामानल—
ज्वालाजालकरालमानसमिद विश्व विवेकाम्बुभि ॥८११॥

अखण्ड शीलवंत संतोंको धन्यवाद—जिन मनुष्योका शीलरूपी वृक्ष कामकुठारसे नही छेदा गया वह महाभाग धन्य है। शील तो स्वभावका है, परम निश्चयसे देखा जाय तो आत्माका शील है आत्माका चैतन्यभाव। चिन्मात्र सच्चिदानन्दस्वरूप। वही है शील और उस शीलकी रक्षा करनेके लिए व्रत परिणाम करना, सयमसे रहना ये सब साधन है और उन सब साधनोमे सर्वोच्च साधन है ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य महाव्रतके धारणसे जिनका शीलरूपी

वृक्ष इन चंचल और चमकते हुए काम कुठारवत् स्त्रीनेत्रोसे नही छेदा गया वे महाभाग धन्य है। प्रकरण साधुवोको समझानेका है। यो तो शीलव्रतको जो मनुष्य जो महिला पाले वे धन्य है। शीलपालनसे एक ऐसी चित्तमे स्थिरता आती है कि यह शील इष्ट फलको देने वाला है। इष्ट क्या है जीवको ? शान्ति। शान्तिमे साधक है यह ब्रह्मचर्य। एक अद्भुत विशेष साधकतम् है। जो पुरुष कामी होते है, चित्तमे विकारभाव रखते हैं अथवा उस विकार पोषणका यत्न करते है ऐसे पुरुषोका चित्त अस्थिर रहता है, और अस्थिर चित्तमे आत्माके शुद्ध परिणामकी वृत्ति नही जगती है। ऐसे मुनिराज, ऐसे योगिराज निरन्तर मिलने वाली जो काम-अग्निकी ज्वाला, उसके समूहोसे जो जल रहा जगत इसको वे विवेकरूपी घडेसे शीतलता प्रदान करे। जिस मनुष्यके पास बैठो तो बहुत काल तक सगति करनेसे उसका कोई न कोई गुण अपनेमे आ जाता है अर्थात् उसकी तरह अपनी भी आदत बन जाती है। परम ब्रह्मचर्यके पालन करने के लिए एक तो ब्रह्मचर्यकी जो मूर्तिया हैं ऐसे साधु सतजनो के समागममे रहे और अपना उपयोग किसी न किसी कार्यमे लगाये रहे। जैसे गृहस्थजन है तो धन कमानेके समय धन कमाया, उपकारके समय उपकार करें और धर्मके समय धर्म करे, और, और भी जान जानकर कोई उत्साह समारोह और अनेक प्रकारके उद्यम बनाये रहे। उपयोग लगा रहेगा तो ये काम विकार उसे न सता सकेंगे, और फिर दसलक्षण धर्मोमे अन्तिम धर्म बताया है ब्रह्मचर्य। और, सभी धर्मोकी एक एक जाप होती है, तो ब्रह्मचर्य धर्मकी जाप है—ओ३म् परमब्रह्मचर्ये उत्तमधर्म धर्मांगाय नम। इस मन्त्रका भी जाप रखे। जिस किसी भी प्रकार हो चित्तमे ऐसी रुचि जगे कि मेरे निष्कामता अधिकाधिक प्रकट हो। उस ही प्रसगमे ब्रह्मचर्य व्रतके प्रकरणको पूर्ण करते हुए आचार्यदेव कह रहे है कि ऐसे योगिराज उनका सत्सग, उनके वचन, उनके विवेकरूपी घडे से मुझे शीतलता प्राप्त हो।

दुःखोंका आधार इन्द्रियविषयरुचि—मनुष्यको और दुःख क्या है, सिवाय पञ्चेन्द्रिय के विषय और छठा मन। इन ६ विषयोसे यह सारा जगत पीडित है, किसीको भी निरख लो, स्पर्शनइन्द्रियका विषय तो है कामविकार। वैसे और भी विषय है—ठडी, गर्म, कोमल, कडी आदि चीजे सुहाना ये भी सब विषय हैं। और, विषय तो परिस्थितिवश होते है पर कामविकार सम्बन्धी विषय तो व्यर्थ ही मनमे विचार हुआ, जिसकी न जड, न शाखा, न पत्र, न फूल, न फल, केवल एक भाव जगा और व्यथित हो जाते हैं। रसनाइन्द्रियका विषय है स्वादिष्ट चीजका रस लेना। मनुष्यको ऐसी तृष्णा लग गयी है कि उसे यह मालूम पड जाय कि अमुक चीजमे ज्यादा खर्च होता है तो उसका उसे ज्यादा स्वाद आता है। वहाँ कोई बहुत ईमानदारीसे सोचे तो साधारण सात्त्विक जो भोजन है सूखी रोटी उसके स्वाद

को हलुवा पूडी ये नही पा सकते। कुछ थोडा शान्त होकर देखो तो। इसका एक मुख्य प्रकरण तो यह है कि पेट भर जाने पर अभी रोटी साग थोडा खाया जा सकता है पर हलुवा पूडी तो पेट भर जाने पर तनिक भी नही चलता। अनुभव करके सोचो तो जिसमे अधिक पैसा लग गया है उसमे यह अधिक स्वाद मानता है। तो इस स्वादमे आसक्त होना यही है रसनाइन्द्रियका विषय। घ्राण इन्द्रियके विषय है--इत्र तेल फुलेल, सुगंधित पुष्प, और और भी सुगंधित चीजे। इन विषयोके भोगनेके लिए यह जीव अनेक प्रकारके साधन जुटाता है। नेत्रइन्द्रियका विषय है रूपवान पदार्थको निरखना। यह भी कितना उजड्ड विषय है। पदार्थ दूर है और नेत्र इन्द्रियसे देखकर अपने विषयका पोषण करता है। सनीमा वगैरहमे क्या है? एक पर्दा लगा है, उस पर जो चित्रोकी छाया पडती है उसीको निरखकर लोग खुश होते है? अनेक पुरुष तो ऐसे हैं कि जो अपनी क्षुधा को नही मिटा सकते, पर सनीमा देखे बिना उन्हे चैन नही पडती। सनीमा हालमे देखो तो जितनी संख्या रिक्शा चलाने वालोकी या मजदूरोकी मिलेगी उतनी सख्या रईस लोगोकी न मिलेगी। तो जो व्यर्थ व्यय कर रहे है यह उनकी उद्दण्डता ही तो है। श्रोत्रइन्द्रियका विषय है राग रागनी की बाते सुनना। जिससे चित्तमे राग उत्पन्न हो, मोह उत्पन्न हो ऐसे वचनोका श्रवण करना सो कर्णइन्द्रियका विषय है।

मनोविषयकी दुःखरूपता व विषयविजेताओंको धन्यवाद—मनका विषय तो इन सब विषयोसे भी अधिक उद्दण्ड और खोटा है। इस मनकी प्रेरणा इन पचेन्द्रियोसे मिलती है तो और उत्तरोत्तर जागृति होती जाती है। मनका विषय क्या है? इज्जत चाहना, यश चाहना, नाम चाहना, यह सब मनका विषय है। इस मनके विषयने भी इन जगतके जीवोको पीडित कर रखा है। ये साल दो सालके बच्चोका भी मन देखो कितना विकट है? गोदसे अगर माँ नीचे उतार दे तो वह भी उसमे अपना अपमान महसूस कर रोने लगता है। तो मनके विषयसे ये बच्चे जवान, बूढ़े सभी सताये गए है। यो छहो विषयोके आधीन होकर यह सारा जगत दुखी है। यह विषयोका भार न रहे तो यह इसी समय प्रभुताको पाया हुआ है। प्रभुता नाम किसका है? विकारभाव न जगे इसीका नाम प्रभुता है। पूर्णरूपसे स्वच्छ हो जाय वही परमात्मतत्त्व है। न इन विषयोके आधीन रहे, न इन रागादिक भावोके आधीन रहे, केवल शुद्ध ज्ञानमात्र अपने आपका परिणमन करे तो वही उसकी स्वाधीनता है। इन विषयोको जिसने जीता है और एक ज्ञानमात्र स्वात्मारामसे मग्न रहा करते है वे योगीश्वर इस सतप्त हुए जगतको विवेकरूपी घड़ेसे शीतलता प्रदान करे अर्थात् उन योगिराजोके वचनोसे विवेक उत्पन्न हो और इन संसारके संतापोको दूर करें।

यदि विषयपिशाची निर्गता देहगेहात्,
सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेकः ।
यदि युवतिकरङ्के निर्ममत्वं प्रपन्नो,
झगिति ननु विधेहि ब्रह्मवीथीविहारम् ॥८१२॥

विषयपिशाचसे दूर होकर ब्रह्मवीथीमें विहार करनेका अनुरोध—हे आत्मन् ! यदि तेरे देहरूपी घरसे विषयरूपी पिशाचिनी निकल गई हो तो तू ब्रह्मकी गलीमे यथेष्ट विहार कर, तुझे किसी भी प्रकारका विघ्न न होगा। कोई अटपट बोले तो उसे निरखकर लोग कहा करते है कि इसके पिशाचिनी लग गयी, भूत लग गये। और, आजकल तो यह बात बहुत देखने सुननेमे आने लगी है कि जिस चाहे के भूत लग जाता है। और भूत लगने के साधनभूत है ऐसे कुछ तीर्थक्षेत्र। वे भूत लगवाते रहते है, जिस तरह यह बात फैल गई कि वहाँ जावोगे तो भूत मिट जायेगा, सो पहिला भूत तो यह मनमे आ गया और फिर जरा सी अटपट बात बनी तो फिर उस पर भूतका सन्देह हो जाता है। और, यह दिलका रोग ऐसा होता है कि झट इस बात पर दृष्टि जाती कि अरे भूत लग गया। और, भूत लगता अधिकतर किन्हे ? महिलावोके। ऐसे सुननेमे आया है कि पुरुषोके तो यह भूत कम लगता, पर महिलावोके ज्यादा लगता है। महिलावोके भूत लगनेका कारण शायद यह हो कि देवरानी जेठानीको छकानेका उपाय बना लेती हो। भूत लग गया, अटपट बोलने लगी, लो देवरानी जेठानी सभी हाथ जोडकर सामने बैठ जायेंगी। अरी तू कौन देवी है, बता तो सही, तू कैसे मेरा पिण्ड छोडेगी। तो शायद इस बातके लिए भूत सवार हो जाता हो। और, कुछ वह दिलका रोग इस किस्मका होता है कि उसे कुछ नही सुहाता, भौचक्का सा हो जाता है। कुछ ऐसी परिणति हो जाती कि जरा-जरा सी बातमे इस इस तरहके भूतो का सन्देह लोग बना लेते है। पर असली पिशाचिनी कौन है ? वह है विषय। पञ्चेन्द्रिय और मनका जो विषयभाव जगता है पिचाचिनी तो वह है। यदि यह पिशाचिनी इस आत्मारामसे निकल गई है, देहरूपी घडेसे निकल गई है तो हे आत्मन् ! अब ब्रह्मचर्य अगीकार करनेमे ढील मत कर। ब्रह्मचर्यरूपी किलेमे बिहार कर अर्थात् ब्रह्म मायने आत्मामे आत्मस्वरूपमे तू अपने उपयोग को निर्विघ्न होकर लगा, तेरे ध्यानकी सिद्धि होगी। यदि मोहरूपी निद्राका व्यतिरेक दूर हो गया हो तो तू इसके स्वरूपमे बिहार कर।

मोहनिद्रा भंग करके ब्रह्मवीथीमें विहार करनेका अनुरोध—जब तक मोह लगा रहता है तब तक जीव बेसुध रहता है। वह अपनेमे आया कहाँसे ? मोहमे बुद्धि भ्रष्ट सी हो जाती है, न्याय और अन्यायका कुछ विवेक नही रहता। मोह नाम है पदार्थकी स्वतंत्रता नजरमे न आये और एक दूसरेका कुछ है, हितकारी है, इस प्रकारका सम्बन्ध समझमे आये, उस

सम्बन्धको ही तथ्यभूत मानना ऐसे परिणामका नाम है मोह। मोह और रागमे यही अन्तर है। यद्यपि लगता ऐसा है कि किसी चीजमे राग अधिक हो गया तो वह है मोह और राग कम है तो वह है राग, पर रागका स्वरूप और मोहका स्वरूप जुदा जुदा है। पदार्थ जिस भाँतिका है उस भाँति बोध न होना इसका नाम है मोह और प्रेमरूप परिणाम जगे तो उसका नाम है राग। अथवा यो कह लीजिए कि रागमे भी राग जगे, रागको हटानेका भाव मनमें न आये, उस रागको ही अपना स्वरूप माने उसका नाम है मोह। मोह न हो और राग रहे ऐसी भी स्थिति हो सकती है और मोह रहे, राग रहे ऐसा तो होता ही है। सम्यग्दृष्टि पुरुष ज्ञानी गृहस्थ, उसके भी राग है कि नही ? अरे घरमे रहे, घरके सारे व्यवहार करे, बोलचाल करे, तो राग तो है पर मोह नही है। मोहका सम्बन्ध अज्ञानसे है। रागका सम्बन्ध प्रीतिसे है। कोई रईस पुरुष बीमार हो गया, बुखार आने लगा तो उसके आरामके लिए कितने-कितने उपाय रचे जाते है—अच्छा कोमल बिस्तर मिले, समय पर औषधि मिले, मित्रजन खूब दिल बहलाये, नौकर चाकर बडी सेवा करे, डाक्टर भी बडी देखरेख करते है, बडे आरामके साधन जुटाते है, यदि समय पर दवा न मिले तो वह बीमार पुरुष झुँझलाता भी है, कितना राग है उसे उस औषधिसे ? पर जरा सोचो तो सही कि क्या वह चाहता है कि मुझे सदा ऐसी औषधिका सेवन करनेको मिले ? क्या वह चाहता है कि इसी प्रकार आरामसे हम रहे ? अरे वह तो चाहता है कि कब ये सारे झझट छूटे और मैं दो चार मील रोज रोज घूमूँ। तो उस बीमार पुरुषको उन सारी चीजोमे मोह नही है, हाँ रागाश अवश्य है। ऐसे ही जो निर्मोह गृहस्थ है उनके भी परिस्थितिवश राग लगा रह सकता है और यह राग भी उसके सूखनेके लिए रहता है, राग बढानेके लिए वह राग नही करता। ज्ञानी गृहस्थको तो राग कभी करना ही पडे तो करता है राग, पर वह अन्दरमे ऐसा भाव रखता है कि हे भगवन ! कब इस झझटसे मुझे छुटकारा मिले। वह तो उस रागसे निवृत्त होना चाह रहा है। वह राग करते रहनेके लिए राग नही करता बल्कि रागसे निवृत्त होने के लिए राग करता है। तो हे आत्मन् ! यदि तेरे मोहनिद्राकी तीव्रता विपीर्ण हो गयी हो तो तू अब ब्रह्मवीथीमे विहार कर। और, देख यदि युवतीके शरीरमे तू निष्पृहाको प्राप्त होता है तो शीघ्र ही इस ब्रह्मचर्यकी गलीमे विहार कर। यदि इस तरह की तेरी तैयारी है, तेरे हृदयमे स्वच्छता हुई है तो तू परमब्रह्मचर्यका पात्र है। अपने आत्मस्वरूपमे मग्न होकर समस्त संकटोको तू दूर कर ले।

स्मरभोगीन्द्रदुर्वारविषानलकरालितम्।
जगद्यै शान्तिमानीत ते जिना सन्तु शान्तये ॥८१३॥

जगज्जयी जिनेन्द्रदेवसे शान्तिकामना—यह इस प्रकरणका अन्तिम श्लोक है।

कामरूपी सर्पके दुर्निवार विषरूपी अग्निकी ज्वालासे जाज्वल्यमान इस जगतको जिन महात्मावोने शान्तरूप किया वे जिनेन्द्र, वे योगीश्वर शान्ति करने वाले हो अथवा मुख्यतया शान्तिनाथ, जिनेन्द्रनाथका स्तवन कर लो। शान्तिनाथका दूसरा नाम है जगन्नाथ। और, यह नाम क्यो प्रसिद्ध हुआ कि शान्तिनाथ भगवान कामदेव थे, चक्रवर्ती थे, ६ खण्डके अधिपति थे और तीर्थङ्कर भी थे। तो किसी दृष्टिसे ६ खण्डके अधिपति होनेसे बडे नाथ कहलाये और तीर्थंकर होनेसे तो तीन लोकोके नाथ कहलाये। शान्तिनाथकी जगन्नाथके नामसे भी प्रसिद्धि चली आयी है। जैसे चन्द्रप्रभुका दूसरा नाम है सोमनाथ। सोमवार अर्थात् चन्द्रवार। यह चन्द्रवार सोमवारका पर्यायवाची शब्द है। यहाँ शान्तिनाथ भगवानका स्तवन किया जा रहा है कि हे शान्तिनाथ भगवान आपने स्वय अपने आपका परम आनन्द पा लिया है। अतएव अब आपके स्मरणसे दुर्धर कामविषज्वालासे जलित ये समस्त जगत विकार आपके स्मरणके प्रसादसे दूर हो। यह ग्रन्थ ध्यानका है, इसमे ध्यानका वर्णन किया गया है कि कैसा जीव आत्माका ध्यान कर सकेगा उसे आगे कैसी तैयारी करना चाहिए, किस प्रकारका उपाय करना चाहिए, ध्यानके सम्बन्धमे करीव २ हजारसे भी अधिक श्लोको मे इस ग्रन्थमे वर्णन किया गया है। लोकमे एक आत्मध्यान ही शरण है। दृष्टि पसारकर चारो ओर निरख लो कोई भी वस्तु, कोई भी कुटुम्बी, कोई भी जीव इस जीवका शरण नही बन सकता। शरण तो क्या जितना स्नेह दिखाया उतना ही यह रीता होता गया, वहाँसे धोखा मिलता गया। तब खूब भटककर भी समझ लो कि बाहरमे अपना कोई शरण नही है, अपना शरण एक अपने आत्मस्वरूपका ध्यान है।

आत्मध्यानके प्रसादसे शाश्वत शान्तिके लाभ लेनेमें परमकल्याण—ध्यानोमे ध्यान आत्मध्यान ही है। वह आत्मध्यान कैसे प्राप्त हो? आत्मध्यानका पात्र कौन होता है, इन सबका वर्णन किया गया था। और, ध्यानके साधनोमे मुख्य तीन बातें बताई गई है। वे तीन बाते है--प्राणायाम, धारणा और प्रत्याहार। यम नियम आदिक बताये गए हैं ना, उनसे भी अधिक उपयोगी तीन साधन है--सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। अरे ध्यान करना है ना आत्माका तो पहिले उस आत्मतत्त्वका विश्वास तो बना ले कि यह मैं क्या हू, बया विश्वासके बिना भी किसी पदार्थमे चित्त एकाग्र हो सकता है? तो पहिले आत्मतत्त्वका विश्वास बनायें इस ही का नाम है सम्यग्दर्शन। क्या है आत्माका स्वरूप, इसका पूर्णरूप क्या अर्थात् रूप क्या? अर्द्धरूप क्या, इसके प्रदेश गुण पर्याय सबके बारेमे यथार्थ ज्ञान बनायें और फिर इस ही प्रकारका ज्ञान बनाये रहनेके लिए बाह्यमे सम्यक्चारित्ररूप प्रवृत्ति करें। उस सम्यक्चारित्रमे पचममहाव्रतोका वर्णन किया जा रहा था, उसमे यह चतुर्थव्रत ब्रह्मचर्यमहाव्रतका वर्णन है। जो पुरुष ब्रह्मचर्यव्रतकी दृढ साधना

ज्ञानार्णव प्रवचन एकादश भाग

यानपात्रमिवाम्भोधौ गुणवानपि मज्जति ।
परिग्रहगुरुत्वेन सयमी जन्मसागरे ॥८१४॥

शान्तिका प्रयास—इस लोकमें विषयकषायोके विषसे मूर्छित जगतके प्राणियोको कही कुछ भी शरण नही नजर आ रहा है । शान्तिके लिए अथक प्रयत्न तो करते है प्राणी, किन्तु बाह्य अर्थोमे दृष्टि बनाये रहते है, और इसका परिणाम यह है कि इतना श्रम करने पर भी जीव शान्ति प्राप्त नही कर पाता । शान्तिका मार्ग तो शान्तस्वरूप जो निज आत्मतत्त्व है उसमे दृष्टि जाना और अपने आपको सर्वसे विविक्त केवल ज्ञानप्रकाश मात्र अनुभव करना ऐसी मग्नता आये तो शान्ति प्राप्त हो सकती है । यह सब आत्मध्यानके प्रसादसे सम्भव है, अतएव जीवको केवल अपने सहज आत्मस्वरूपका ध्यान ही शरण है । इस शरणभूत आत्मध्यानके खास अग तीन है–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । तो सम्यक्चारित्रका यह वर्णन चल रहा है और उसी प्रकरणमे अब परिग्रह त्याग महाव्रतकी बात कह रहे है ।

परिग्रहभारसे भवसागरमें डूब—जिस प्रकार समुद्रमे या बडे तालाबमे कोई नाव गुण अर्थात् रस्सीसे भी बधी हुई है, लेकिन उसमे पाषाण आदिकका बोझ बढ जाय तो भले ही रस्सीसे बँधी हुई है तो भी वह डूब जाती है, इस ही प्रकार कोई साधु बहुत सयम धारण किए हुए है, गुणवान है तो भी यदि परिजनमे अथवा किन्ही परिग्रह भावोमे मूर्छाका परिणाम आया तो वह गुणवान होकर भी ससारसमुद्रमे डूबता है । जिस किसी भी प्रकारका त्याग किया, परिजनका त्याग, गृहका त्याग, सब कुछ त्याग करनेके पश्चात् भी यदि परिजनसम्बन्धी, वैभवसम्बधी, कुटुम्बसम्बन्धी मूर्छा जगती है तो वह त्याग त्याग तो नही होता । कारण यह है कि त्याग मूर्छारहित परिणामका नाम है, ऐसे मूर्छावोका भार यदि बढ गया हो तो गुणोसे बधा होता हुआ भी वह साधु अर्थात् अपने अन्य व्रत और सयमको भी निभाता हो तब भी वह ससारसागरमे डूब जाता है । तात्पर्य यह है कि आत्मध्यानकी पात्रता परिग्रहत्यागसे होती है और इसी कारण आत्मध्यानके विशिष्ट पात्र सयमी साधुजन होते है । परिग्रह शब्दमे दो शब्द हैं—परि और ग्रह, परि उपसर्ग है और ग्रह ग्रहण करनेमे आने वाली धातु है । जो चारो ओरसे ग्रहण करे, चारो ओरसे बाँध दे उसका नाम परिग्रह है । परिग्रह सम्बन्धका भार ससारसागरमे डुबा देता है ।

बाह्यान्तर्भूतभेदेन द्विधाते स्यु' परिग्रहा. ।
चिदचिद्रूपिणो बाह्या अन्तरङ्गास्तु चेतना ॥८१५॥

द्विविध परिग्रह—वे परिग्रह कितने प्रकारके है जिन परिग्रहोके भारसे दबकर यह प्राणी गुणवान होकर भी संसारसागरमे डूबता है, वे परिग्रह मूलमे २ प्रकारके है—एक बाह्यपरिग्रह और एक अन्तरगपरिग्रह । बाह्यपरिग्रह तो चेतन और अचेतन दो प्रकारके है, जैसे परिजन, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक ये चेतन परिग्रह है और घर, दुकान, धन, वैभव आदिक ये बाह्य अचेतन परिग्रह है, किन्तु अन्तरगपरिग्रह सिर्फ चेतन ही होता है । बाह्यपरिग्रह ये सब इस कारण कहलाते कि ये सब बाह्यक्षेत्रमे मौजूद है, इनकी भिन्न सत्ता है । इनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव यह चतुष्टय इनमे है । चूंकि इन बाह्य अर्थोमे ममत्व भाव बसा रक्खा है इस कारण ये परिग्रह कहलाते है, पर अन्तरगपरिग्रह तो आत्मपरिणमनरूप है, विकार भाव जगना आदि ये सब अन्तरंगपरिग्रह कहलाते है । यद्यपि जीव बाह्यपरिग्रहोको भी ग्रहण नही किए हुए है क्योकि जीव तो ज्ञानरूप है, इनके न हाथ है, न पैर है, न कुछ बनता है इन ढेरोमे जीवसे, क्योकि सब पौद्गलिक ढाचा है । जीव तो केवल एक ज्ञानरूप है, उसमे कल्पनाएँ जगती है विचार तर्क वितर्क होते है सो उन तर्क वितर्कोसे कोई बाह्यपदार्थ ग्रहणमे नही आता, छूनेमे नही आता, फिर भी जिन पदार्थोके सम्बन्धमे इसके मूर्छा जगती हो, मम इद—यह भाव बनता हो, इद अह—यह भाव बनता हो तो वह सब परिग्रह कहलाता है ।

मूर्च्छासे परिग्रहत्व—जैसे कि प्रकटरूपमे यह वर्णन चलता है कि मिथ्यादृष्टि तो परका कर्ता है और सम्यग्दृष्टि परका कर्ता नही है, इस सम्बन्धमे विचार कीजिए तो परका कर्ता कोई परद्रव्य हो ही नही सकता । यह वस्तुका स्वरूप है । मिथ्यादृष्टि भी परका कर्ता नही, सम्यग्दृष्टि तो परका कर्ता अन्तरग बहिरग किसी रूपसे भी नही है, लेकिन जिन बाह्य पदार्थोमे करनेका अभिमान रखता है मिथ्यादृष्टि जीव, सो करता तो है अपने विकार भावको किन्तु उन विकार भावोका जो विषय बना उन पदार्थोका उपचारसे, कहा जाता है कि यह इन पदार्थोका कर्ता है । इस ही प्रकार यद्यपि बाह्यपरिग्रह इस जीवमे लगे हुए नही हैं, अथवा कुछ ससर्गमे लगे भी है, जहाँ कर्म है, शरीर है, जहाँ जीव जाता है तहाँ बन्धन चलता है तिस पर भी यह निमित्तनैमित्तिक-रूप बन्धन है । आत्मा कही अपने किसी गुण को पकडे हुए नही है, छुवे नही है, पर ऐसा विशिष्ट निमित्तनैमित्तिक बन्धन है कि यह बन्धनमे पडा है, अलग नही हो सकता । प्रयोजन यह है कि आत्माकी प्रगति जैसी समस्त वस्तुवोमे होती है वैसी इसके भी है । जैसे समस्त वस्तुवे परसे विविक्त है, निरपेक्ष है, किसी का परिणमन किसी परमे नही जाता, किसी परके द्वारा उपादानरूपसे कुछ किया

नही जाता किसी परमे, इसी प्रकार इस आत्माकी भी बात है। तो मूलमे परिग्रहके दो भेद है—बहिरग परिग्रह और अन्तरंग परिग्रह, अब उन परिग्रहोका विवरण करते हैं।

दश ग्रन्था मता बाह्या अन्तरगाश्चतुर्दश।
तान्मुक्त्वा भव नि सगो भावशुद्धया भृश मुने ॥८१६॥

परिग्रहके चौबीस भेद—हे मुनि! अपने परिणामोकी निर्मलतासे तू निसग बन और १० प्रकारके बाह्य परिग्रह और १४ प्रकारके अन्तरग परिग्रह इनको दूर कर। इन दोनो प्रकारके परिग्रहोमे बलवान तो अन्तरग परिग्रह है इस जीवको सताने वाला यह अन्तरग परिग्रह है। अन्तरग परिग्रह बाह्यपदार्थोके ससर्गसे बनता है। कौनसे वे १० बाह्य और १४ अन्तरग परिग्रह है, इसका विवरण भेदके रूपमे कर रहे हैं।

वास्तु क्षेत्र धन धान्य द्विपदाश्च चतुष्पदा।
शयनासनयान च कुप्य भाण्डममी दश ॥८१७॥

दशविध बाह्य परिग्रहोंमें वास्तु और क्षेत्र परिग्रह—बाह्य परिग्रह १० हैं। प्रथम तो घर, दूसरा खेत, तीसरा धन, चौथा धान्य, ५ वा द्विपद, ६ वा चतुष्पद, ७ वा शयनासन, ८ वा यान, ९ वा कुप्य और १० वा भाण्ड। कही दूसरी तरहसे भी १० भेद कहे है, पर सब चीजें आ जायें यही भेदका मतलब है। इसमे भी सब परिग्रह आ गए। प्रथम तो घर परिग्रह है, क्योकि इस घरसे लोगोकी ममता रहती है, घरको बनाते हैं, सजाते हैं, उसके लिए कितने-कितने उपक्रम करते हैं, यह घर बाह्य परिग्रह है और यह घर इतना बडा परिग्रह है कि अगर खुदके पास घर न हो तो वह अपनेको रीता सा मानता है। और घर स्वयका हो, उसमे बसता हो तो उसमे वह अपने को समझता है कि मैं कुछ हू। यह घर परिग्रह प्रथम नम्बरसे रखा गया है। दूसरा परिग्रह बताया खेत। चाहे वह खेत अपने स्वामित्वमे हो, चाहे केवल लगान पर हो, चाहे किसी प्रकार साझेमे हो, पर जिसमे जितना ममत्वभाव है वह सब वहाँ परिग्रह है, तो दूसरा परिग्रह है खेत।

धन धान्य परिग्रह—तीसरा परिग्रह है धन। धनमे स्वर्ण, चाँदी, रकम सभी चीजें आ जाती है। फिर है धान्य परिग्रह। धान्यमे सब अनाज आ गए। देखिये धान्य शब्द यद्यपि चावल वाले धानका पर्यायवाची है परतु धान्य कहकर सब अनाजोका नाम आ जाता है। जितनी किस्म धान्यमे मिलेंगी उतनी किस्म औरमे न मिलेंगी। साहित्यके ग्रन्थोमे जहाँ शस्यामल भूमिका वर्णन किया है वहाँ धानकी प्रमुखताका वर्णन किया है। यह एक चिरकालसे परम्परासे चला आया हुआ भारतके एक विशेष अनाजोमे से प्रमुखता रखता है। इससे धान्य सभी अनाजोका नाम समझियेगा। वैसे कोई रातका अनाज छोडे हुए है तो उनमे कुछ बँटवारा कर लेते कि चलो तिल अनाज नही होता तो तिलके लड्डू खा लें,

अनाजका त्याग किया गया है तो उसका दोष न लगेगा। रजगिरा, चौलाई आदिक ऐसी चीजें है कि जिन्हे लोग अनाज नही मानते, पर कोई मनुष्य इनके भी खानेका त्याग कर दे तो वह झट समझ जायगा कि सब एक ही बात है। सब धान्यमें शामिल है। जब किसी यज्ञ पूजनमे ७ प्रकारके धान लेते हैं इस प्रकारका वर्णन करे तो उनमे तिल भी लगाते है तो ये सब खेती करके और इस ढगसे उपजाये हुए ये सब धान्य हैं। धान्य भी अनेक प्रकार के है, कितने ही नाम तो यहाँके लोग भी न जानते होगे। कोदो, समा, कावनी, फिकार, रोटका, चीना, आदिक अनाजोको तो शायद कुछ कुछ लोग भी न जानते होगे। मोटे अनाज भी बहुतसे है गेहू, चना, मटर, मसूर, मूंग, उडद, राहर, ज्वार, बाजरा आदिक। इन सब अनाजोका परिग्रह है धान्य परिग्रह।

द्विपद चतुष्पद परिग्रह——एक विकट परिग्रह है द्विपदका। जिसके दो पैर हो वह द्विपद हुआ। द्विपदमे सभी पशु पक्षी आ गए। ये पशु पक्षी भी तो लोगोके बहुत बडे परिग्रह बन जाते है। उनका व्यापार करते, उन्हे खिलाते पिलाते, उन्हे अपना मानते। तो वैसे देखो तो मनुष्य, पशु, पक्षी सभीमे चार साधन होते है, हाथ पैर जैसे। ये पक्षी अपने दोनो पख फैलाकर जैसे उड जाते है, एक स्थानसे दूसरे स्थानको भाग जाते है ऐसे ही यह मनुष्य भी अपने दोनो हाथ चलाये बिना कही भाग नही सकता। वह भी हाथोको फैलाकर लेफ्ट राइट करता हुआ आगे भागता चला जाता है। कोई अगर अपने हाथोको न चलाये, अपने हाथोंको कमरमे बाँध ले तो वह भाग दौड नही सकता। तो इस परिग्रहके प्रकरणमे बता रहे थे कि ये दोपाया, चौपाया सभी परिग्रह है। फिर परिग्रहोमे उपलक्षणसे शेष परिग्रह लगा लेना चाहिए। द्विपद, चतुष्पद परिग्रहमे मनुष्य, पशु, पक्षी सभीको ग्रहण कर लेना।

शयनासन यान परिग्रह——शयनासन परिग्रहमे देखो कितना-कितना कमरोको सजाया जाता है। किसी किसी आफीसरके यहाँ देखो तो कमरेमे जितना शयनासनका परिग्रह मिलेगा उतना तो रसोईघरमे भी न मिलेगा। कितनी-कितनी प्रकारकी कुर्सिया, मेज, कितनी ही प्रकारकी सजावट की अन्य चीजें ये सब शयनासन परिग्रह है। यान परिग्रहमे देखो——यान मायने सवारी। सवारीके परिग्रहमे बैल, घोडा, साइकिल, रिक्सा, तागा, मोटर, फटफट आदि आ जाते है।

कुप्य भाण्ड परिग्रह——वस्त्र परिग्रहमे देखो कितने-कितने प्रकारके वस्त्र पहिने जाते हैं। कुछ वस्त्र तो ऐसे होते हैं कि जिनमे किसी एक छोरमे आग लग जाये तो तुरन्त सारा कपडा जल जाता है और साथ ही वह शरीरसे चिपकता जाता है। जैसे लाइलोनके कपडे इसी ढगके होते है। और, कीमती कपड़ोसे शायद स्वास्थ्यको भी फायदा न होता होगा। जैसे खादीके कपडे गर्मीमे पहिन लो तो लू लगने का काम बहुत कम रहता है और रेशमी

कपडोके पहिनने से तो शरीरका स्वास्थ्य भी बिगडता है और साथ ही कही बैठना हो तो सहसा बैठ भी नही सकते। मन्दिरमे या सत पुरुषोके सामने नमस्कार करनेमे तकलीफ भी पडती होगी क्योकि कपडोके बिगडनेका डर रहता है तो सादे मोटे कपडे पहिनने से विनय गुण भी रह सकता है। अच्छे कीमती कपडे पहिनने मे विनय गुण भी नही है, और फायदा क्या ? कुछ भी नही। केवल दूसरोको यह जतानेके लिए कि हम भी अच्छे है, हमारा पोजीशन बढिया है। केवल इतना मात्र जताने के लिए इतना आडम्बर किया जाता है, और, इन वस्त्रोके सिलाईका भी एक व्यर्थका परिग्रह बन गया है। जितनेका कपडा हो कहो उतनी सिलाई देनी पड़े। आजकल तो ऐसे फैशनके कपडे चले हैं कि कहो कपडेसे भी अधिक सिलाई हो जाय। तो ये सब बाह्यपरिग्रह है वस्त्रके। १० वा परिग्रह है भाड बर्तन। भाड शब्द पुराना है, अब भी लोग बर्तन भाडे कहा करते हैं। लोहा, पीतल, ताँबा, काँसा, इन सबके बने हुए जो बर्तन है। वे सब भाडे बर्तन हैं। उनका भी एक परिग्रह है। ये १० प्रकारके परिग्रह है। जिनका आश्रय करके, जिनका विकल्प बनाकर यह जीव अपने अन्तरङ्ग परिग्रहका पोषण करता है।

नि संगोऽपि मुनिर्न स्यात्समूर्च्छ सगवर्जित।
यतो मूर्च्छैव तत्त्वज्ञै सगसूति प्रकीर्तिता ॥८१८॥

मूर्च्छासे परिग्रहकी सूति—जो मुनि नि सग हो अर्थात् बाह्यपरिग्रहोसे रहित हो, फिर भी परिग्रहोमे ममता करता हो तो वह निष्परिग्रह नही कहला सकता, क्योकि तत्त्वज्ञानी विद्वानोने ममत्व परिणामको ही परिग्रहकी उत्पत्तिका साधन माना है। जो परिग्रही है वह निष्परिग्रहताका भाव नही समझ सकता है। एक कथा आई है कि एक मुनिराज किसी नगरमे चातुर्मास कर रहे थे तो नगरसे बाहर किसी अच्छे स्थानपर किसी वृक्षके नीचे चातुर्मासका स्थान चुना। नगरका एक सेठ भी जो बहुत धर्मात्मा था उसने भी यह नियम लिया कि मैं चार महीने मुनिराजके समीप निवास करूँगा पर मेरा लडका कुपूत है और व्यसनी है, यह सोचकर उसने घरका जो कीमती द्रव्य था हीरा जवाहिरात सोना चाँदी वगैरह उसे एक हाडेमे भरकर उसी पेडके नीचे गाड दिया। यह बात किसी तरहसे उस कुपूतको मालूम हो गई थी, सो चातुर्मासके बीचमे ही किसी दिन मौका पाकर वह उस हडे को निकाल ले गया। जब चातुर्मास समाप्त होनेको हुआ, साधुके विहार करनेका अवसर आया तो सेठने उस स्थानपर देखा तो वह हंडा न मिला। सेठने सोचा कि यहा हम और इन साधुके अलावा कोई रहता न था, और कोई नही ले गया, इन्ही साधु महाराजकी ही इसमे कुछ करतूत है सो साधुसे वह खुले शब्दोमे तो न कह सका, पर कुछ कहानियोंके द्वारा उस बातको कहा। उसमे यही बात झलकती थी कि इन साधु महाराजने हमारा हडा खोद

निकाल लिया है। साधु सेठके मनकी सब बाते समझ रहा था। तो साधुने भी उत्तरमे कुछ कथाये ऐसी कही कि जिसमे यह भाव भरा था कि अरे सेठ वह तेरा भ्रम है। इतने दिनो तक तूने धर्मकर्म किया, पर अब तू अपने गुरुपर दोष लगाकर इतना अपराध कर रहा है कि जिसे कुछ कहा नही जा सकता।

अविवेचित कार्यमें पछतावा—उस सेठकी और उन मुनिराजकी कहानियां बडी रोचक है जिनमे से एक कथा सुन लीजिए—कोई घरकी मालकिन पानी भरनेके लिए कुवे पर गई, घर पर उसका बालक सो रहा था। वही एक पालतू नेवला रहता था, वह बडा स्वामिभक्त था, खूब साँप छछूदर आदि जीवोसे घरकी रक्षा करे। बालक सो रहा था आगनमे, वहाँ एक सर्प आया तो नेवलेने उसके टुकडे-टुकड़े कर दिये और यह सोचकर कि मैने बडा अच्छा काम किया है, इस सर्पको मारकर अपनी मालकिनके बच्चेको बचा लिया है, मालकिन मेरे ऊपर बहुत प्रसन्न होगी, वह अपने वैसे ही मुँह जैसा उस खूनसे लाल हुआ था, दरवाजे पर आ गया। जब मालकिन जल भरकर लाई तो देखा कि नेवलेका मुख खूनसे लथपथ है, सोचा कि मेरे बच्चेको इसने काट डाला होगा, सो झट हाथमे जो घडा लिए थी उसे उस नेवलेके सिर पर पटक दिया। नेवला मर गया। जब मालकिन अन्दर जाकर देखती है तो चारपाईके पास सर्पके खण्ड-खण्ड पडे है और बच्चा चारपाईपर खेल रहा है। ऐसी अपनी करतूतपर मालकिन बहुत पछताई।

विरक्तिकी घटना—सब कथा सेठका वह कुपूत लडका भी सुन रहा था। उस कथा को सुनकर उसके एकदम वैराग्य जगा कि धिक्कार है इस परिग्रहको जिस परिग्रहके पीछे गुरुजनपर भी शका की जाती है, एकदम विरक्ति आयी और हाथ जोडकर बोला—महाराज! वह घडा तो मैंने खोद लिया था, घरमे रखा हुआ है, अब सेठ जी जायें, घरमे रहें और उस वैभवकी रक्षा करे, मुझे तो अब उस वैभवसे कुछ प्रयोजन नही रहा, मुझे तो आप दीक्षा दीजिए, मेरा भाव इस ससारसे विरक्त हो गया है।

निष्परिग्रहतासे समृद्धिलाभ—प्रयोजन यह है कि यह परिग्रह ऐसा है कि जिस भाई के पास पहुचे वह दूसरे भाईके प्रति नाना विकल्प करता है। ये तो १० प्रकारके परिग्रह है। इन परिग्रहोमे जो मूर्छाका परिणाम आये, विकार भाव जगे, वे सब हैं अन्तरगपरिग्रह। शल्य तो अन्तरगपरिग्रहकी होती है, पर अन्तरगपरिग्रह न रहे ऐसी स्थिति लानेके लिए बाह्यपरिग्रह छोडे जाते है। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि परिग्रह तो अन्तरग ही कहलाते। बाह्यपरिग्रह बने रहे तो भी ऐसी स्थिति बन जायगी कि उसमे मूर्छा परिणाम न जगे, आत्मध्यानके पात्र बने रहे, यह सोचना छलपूर्ण तर्क है। जो साधु इन बाह्य तथा आभ्यतर २४ प्रकारके परिग्रहोको त्याग कर नि सग है वे मोक्षमार्गी है। निष्परिग्रहतासे चिन्ताए दूर

होती है, और जिसका निश्चिन्त जीवन हो वही आत्माका ध्यान कर सकता है। जो इस आत्माका ध्यान कर लेता है उसको सर्वसिद्धियां प्राप्त होती है। जीवनमे एक आत्मध्यान ही शरण है, अन्य कुछ शरण नही है।

स्वजन धनधान्य दारा पशुपुत्रपुराकरा गृह भृत्या ।
मणिकनकरचितशय्या वस्त्राभरणादि वाह्यार्था ॥८१९॥

परिग्रहकी ग्रहरूपता—वाह्यपरिग्रह कौन कौन हैं ? इस सम्बन्धमे यद्यपि १० भेद वता दिये थे, अब १० या किसी भेदमे सीमा न रखकर उपयोगमे आने वाले अनेक पदार्थों को वता रहे है कि ये वाह्य सब परिग्रह कहलाते है। स्वजन कुटुम्ब, यह तो परिग्रह सब परिग्रहोमे एक विकट परिग्रह है। वाह्य जड पदाथ तो इन्हे हम अपना माने, इनका हम सग्रह करे तो परिग्रह बनते है, किन्तु ये स्वजन उनको हम अपना मानते हैं, और अपनी ओरसे कुछ ऐसा व्यवहार करते हैं कि हमारा उनकी ओर आकर्षण हो सके। और, अचेतन पदार्थ तो अपनी ओरसे कुछ कहते नही। लेकिन हम अपने ही भावोसे उनको परिग्रह वनाते हैं। यद्यपि स्वजनमे भी अपने ही भावोसे परिग्रह वनाते हैं लेकिन उनकी ओरसे कुछ चेष्टा होती है रागभरी, जिससे यह शिथिल भी होता हो कभी तो पुन उत्तेजित हो जाता है ममत्व करनेमे। वैसे तो रचमात्र भी परिग्रह हो तो उस परिग्रहके आधार पर और और परिग्रह बढाकर वहुत परिग्रही वन जाते है। एक साधु था तो उसकी लगोटीको कोई चूहा उठा ले जाता था तो उसने सोचा कि एक विल्ली पाल लें तो चूहोसे रक्षा हो सकेगी, सो उसने एक बिल्ली पाल लिया, अब विल्लीको चाहिए दूध सो दूधके लिए एक गाय पाल ली, गाय चरानेके लिए एक नौकरानी रख ली। सयोगकी वात कि बिल्लीके भी बच्चे हुए, गायके भी बच्चे हुए और दासीके भी बच्चे हुए, अब सबकी भीड लग गई। आजीविकासे परेशान होकर एक दिन किसी गाँवमे रहनेके लिए सोचा, सो सारी भीड भडक्कर लेकर चल दिया। रास्तेमे एक नदी पडी, जब उस नदीमेसे निकल रहे थे तो एकाएक वाढ आयी, सब बहने लगे तो गाय, बछडा, बिल्लीके वच्चे, दासीके बच्चे सभी उससे चिपटने लगे। तो साधु सोचता है कि यह तो बडी आफत आयी, हम भी डूबेंगे, ये सब भी डूबेंगे, उसने सोचा कि इस सारे परिग्रहका कारण एक लगोटी है, यदि यह लगोटी न होती तो आज यह आफत न आती। आखिर साधुने उस लगोटीको भी खोलकर फेंक दिया, फिर तो वह साधु भी बच गया और वे सब भी बच गए। तो अल्प मात्र परिग्रहसे भी बढ वढकर एक विशाल परिग्रह बन जाता है। धन, धान्य, स्त्री, पशु, पुत्र, नगर, गाँव, घर, नौकर, माणिक रत्न, स्वर्ण, चाँदी, सय्या, वस्त्र, आवरण, शृङ्गार ये सभीके सभी पदार्थ वाह्य परिग्रह कहलाते हैं। अब देखिये बाह्य परिग्रहोमे ऐसा क्या है जो इस मनुष्यके लिए अत्यन्त

आवश्यक हो ? ऐसे बहुत कम है। अनावश्यक परिग्रह लोग रखा करते है, वह शल्यका ही कारण है। जिस चीजकी जरूरत भी नही है, जो व्यर्थमे जगह घेरे पडी रहती है ऐसी ऐसी चीजोका परिग्रह लोग रखा करते है। जैसे बच्चे लोग एक माचिसमे न जाने कितनी कितनी चीजे रखकर खेला करते है--एक आध माचिसकी काडी, एक दो पैसे, कुछ गोम्ची, कुछ इम्लीके बीज, यो अनेक चीजे एक छोटी सी माचिसके अन्दर रखते है। उस छोटी सी माचिसको ही एक पसारीकी जैसी दुकान बना लेते हैं, ऐसे ही बिना मतलब की चीजोका परिग्रह लोग रखा करते है।

मिथ्यात्ववेदरागा दोषा हास्यादयोऽपि षट् चैव।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्था ॥८२०॥

परिग्रहकी हिंसारूपता--अब आभ्यतर परिग्रह बतला रहे हैं। आभ्यतर परिग्रह १४ प्रकारके है--मिथ्यात्व, ३ वेद, और हास्यादिक ६, क्रोध, मान, माया, लोभ ४, इस तरह अन्तरङ्गके १४ परिग्रह होते है, इन्हे परिग्रह कहो अथवा हिसा कहो, इसमे कोई अन्तर नही है, यदि स्वरूप देखा जाय। हिसाका अर्थ है जो प्राणोका बध करे, जो प्राणो का घात करे उसका नाम है हिसा, और जो परिग्रहका भाव है, मूर्छाका जो परिणाम है वह अपने आपकी हिंसा करता है, अपने चैतन्यस्वरूपका विकास रोकता है तो परिग्रह भी एक हिसा है। जो ५ भेद किए गए है पापके वे प्रकृतिकी मुख्यतासे किए गए है, परिणामकी दृष्टिसे तो पांचोके पाचो पाप हिसा कहलाते है। हिंसामे बाह्य प्राणोके घातकी मुख्यता नही है, किन्तु स्वयके विकार होनेसे स्वयकी शान्तिका घात होनेसे स्वयके ज्ञानदर्शनके विकास होनेका नाम हिसा है। जो जीव प्राणियोके प्रति विरोधका भाव रखते है, दूसरेके प्राणोका घात विचारते है उन्होने हिसा तुरन्त कर ली। अब कैसे प्रयत्न बने, और कदाचित् दूसरे प्राणीकी हिंसा हो वह भविष्यकी बात है। कभी कभी तो हिंसाका बन्ध पहिले हो जाता और बाह्यमे हिसा साबित होती है और यहाँ तक कि हिंसाका बन्ध भी हो जाय और उसका फल भी भोग ले और जिसकी हिसा करनेका फल मिला है उसकी हिंसा उसके बाद हो, यहाँ तक भी सम्भव है। जैसे कोई पुरुष किसीकी हत्या करना चाहता है तो चाहता है बस इस भावमे ही उसे हिसाका पाप लग गया और उसकी स्थिति जुडी अबाधाकाल छोडकर उस बाँधे हुए कर्मका फल भी भोगने लगे अब उसे मारनेका अवकाश मिले चाहे ५०-६० वर्ष बाद लेकिन उस हिंसाके परिणामका फल तुरन्त भोग लिया। तो इससे यह निर्णय करना कि हिंसा करना अपने पापपरिणामका नाम है। दूसरेका अपघात विचारना, हिंसा विचारना इसका नाम है हिंसा अथवा अनेक प्रकारसे अहित विचारना, अपने आपको विषय और कषायोमे लगाना यह भी हिसा है। तो जितने प्रकारके परिग्रह हैं उनमे जो ममत्वका

भाव है, मूर्छा है वह सबका सब हिंसा है।

चतुर्दश अन्तरङ्ग परिग्रहोंमें मुख्य मोह परिग्रह—अन्तरङ्ग परिग्रह १४ प्रकारके है। मिथ्यात्व मायने मोह। समस्त पदार्थोंसे भिन्न अपने आत्माका स्वरूप ज्ञानमात्र अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जो है ऐसा यह मैं सबसे न्यारा हू लेकिन ऐसे विविक्तपनकी प्रतीति न करके बाह्यपदार्थोमे आत्मप्रतीति करना, उनमे ममत्व रखना ये सब मोह कहलाते है। मोह सब पापोमे प्रथम है और सबकी जड है, जैसे कर्मोंमे सव कर्मोंकी जड मोहनीय है, जब मोहनीय कर्म नही रहता तो वाकी कर्म कव तक रहेगे, वे भी धीरे-धीरे सब शिथिल होकर नष्ट होकर समाप्त हो जाते है। मोहनीय कर्म सबसे पहिले दूर होता है और इसी बातकी सूचनामे तत्त्वार्थसूत्रके दशम अध्यायमे जो सूत्र आया है मोहक्षयाज्ज्ञाना दर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम्, मोह और ज्ञानावरणके क्षय होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तो इसमे जो चारघातिया कर्मोंमे मोहको सर्वप्रथम बताया है उसका कारण यह है कि जीवके चार-घातिया कर्मोंमे सबसे पहिले मोहनीयका क्षय होता है, और उस मोहनीय कर्ममे भी सबसे पहिले मोहनीयका क्षय होता है, पश्चात् चारित्रमोहनीयका क्षय होता है, फिर इसके बाद ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अतराय इन तीन घातिया कर्मोंका एक साथ क्षय हो जाता है, यो चारघातिया कर्मोंका क्षय होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है। तो सर्वपापोमे पाप है मोह। सर्वबैरियोमे बैरी है मोह। समस्त अनर्थोंमे मूल है मोह। ससारमे अनेक दुर्गतियोमे अनेक योनियोमे जो भ्रमण करते चले आ रहे है, उन ही प्रकारके वहाँ सक्लेश चलते है, उन सबका आधार मोह परिणमन है। तो अन्तरग परिगहोमे प्रधान परिग्रह मोह है।

क्रोध, मान, माया, लोभ नामक अन्तरंग परिग्रह—अब चर्चामे ४ कषाये ले लीजिए— क्रोध, मान, माया, लोभ। कोई पुरुष समस्त बाह्य परिग्रहोका त्यागी होता है, बनमे रहता है, एकान्त है, एकान्त निवास है, व्रत और तपश्चरण भी करता है, किन्तु चित्तमें क्रोधभाव जगता है और उस क्रोधको अपनाता भी है तो वह परिग्रही है। देखनेमे ऐसा मालूम होता कि कोई भी परिग्रह नही है किन्तु कषाय लगी है तो वह परिग्रह है और कषायोको अपना रहा है तो वह महापरिग्रही है, फिर तो वह मिथ्यादृष्टि हुआ। कषाय जगती है क्रोधवश, पर उन कषाय परिणामोको यह ही मैं हू, मैं ठीक कर रहा हू इस प्रकारकी धुन हो तो उसे कहते हैं मोह। तब हो जाता है मिथ्यात्व अन्यथा मोह तो है नही। कभी कदाचित कषाय जगी, उसे अपनाते नही है तो वह विकार है, लेकिन मोह परिग्रह अभी नही हुआ। मोहके सम्बन्धमे यह कषाय महापरिग्रहका रूप रख लेती है, इसी प्रकार मान कषाय, अभिमान, मनुष्योमे मान कषायकी प्रधानता बताया है।

चार गतिया है—उनमे नरकगतिमे प्रधान क्रोध, तिर्यञ्चमे प्रधान माया, देवमे

प्रधान लोभ और मनुष्यमें प्रधान है मान । यद्यपि ये कषायें चारो गतियोमे पायी जाती है पर प्रधानताकी दृष्टिसे यह बात बतायी गई है और प्राय जन्मते समय इन गतियोमे उन्ही कषायोंका उदय आता है । यह मनुष्य तो इस मानका पुतला बन गया है, जरा जरासी बात पर यह अपना मान बगराता है । बालक हो, जवान हो, बूढा हो सभी इस मानकषायको लिए बैठे है । तो यह मानकषाय भी परिग्रह है । माया कषाय, छल कपट मायाचार, मनमें कुछ है, वचनमे कुछ है । करते कुछ और है, इस प्रकारके जो वक्रभाव है वे है मायाचार । और मायाचारोमे बडा मायाचार तो वह है जिसकी मायाचारी भी प्रकट न हो सके । जचे यो कि यह बहुत सीधा है, सरल है, पर मायाकषाय बडी गहन पडी हुई है । तो मायाचार परिग्रह है, लोभकषाय, तृष्णा, लालच, ये तो प्रकट परिग्रह है । लोकव्यवहारमे भी लोग लोभको परिग्रह जाना करते है क्रोध, मान, मायाको परिग्रह कहने वाले कम है लेकिन जैसे लोभ कषाय परिग्रह है ऐसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय भी परिग्रह कहलाते है ।

नोकषायरूप आभ्यन्तर परिग्रह—शेष आभ्यन्तर परिग्रह है नोकषाय । इसमे जो आसक्त होता है वह इन चार कषायोके ससर्गसे इनमे बढती है । हास्यकषाय—दूसरेकी बात पर हसी आना, मजाक कर देना ये सब परिग्रह है । परिग्रह कहो, हिंसा कहो, इनसे अपने आपका विघात होता है । जिसकी हसी करनेकी प्रकृति होती है वह हंसीमे झूठ भी बोल सकता है, लडाई भी कर सकता है और कहते भी है लोग कि लडाईकी जड हाँसी और रोगो की जड खासी । बडे बडे रोग होते है वे खासीसे प्रारम्भ होकर बडे बन जाते है । जैसे जीर्णज्वर है, टी बी है, अनेक ऐसे रोग है जो खाँसीसे प्रारम्भ होते है । उसमे कुछ ज्यादा तकलीफ न हो तो उपेक्षा कर देते है । यह खाँसी बडे रोगोकी जड बन जाती है । इसी प्रकार यह हसी जरासी बातमे दूसरोसे लडाई करा देती हैं । थोडे ही समय बाद वह हसी बडी लडाईका घर बन जाती है । तो यह हसी परिग्रह भी जीवकी हिसा करने वाली है । प्रीति जगने पर वस्तुमे प्रीति उत्पन्न होना, जैसे कभी सफरमे किसी टिकेटचेकरने कुछ गलतीके कारण टिकेट ले ली तो मुसाफिर उसके पीछे पीछे लगा फिरता है, ऐसे ही किसी पदार्थमे रति है तो वह पदार्थ भी उसके लिए विकट परिग्रह बन जाता है । जिसमे भी पराधीनताके अनुभव हो वे सब हिंसाके परिणाम है । दूसरेका भला देखनेकी प्रवृत्ति हो अथवा न हो किन्तु जहा अपने आपमे पराधीनताका भाव आया वहाँ स्वाधीन वृत्ति नही बन सकती । चित्तमे अनेक प्रकारके क्लेश और संक्लेश रहे तो वे सब हिंसा है । पर पदार्थोमे द्वेषका परिणाम होना सो अरति परिणाम है । यह तो प्रकट हिसारूप है, इसमे तो स्पष्ट आत्मघात की बात जच रही है । जब किसी प्राणीके प्रति हम द्वेष भाव रखते है तो वह द्वेष परिणाम हमको शल्यकी तरह चुभता है और उसमे अनेक प्रकारके विकल्प

और सकल्पकी बात सोचते रहते है। शोक रजका परिणाम हो उसे परिग्रह कहते हैं, और रजका परिणाम यह साक्षात् हिंसा ही तो है, अपने आपका उनके घात है। भय, डर होना, किसी अन्य पदार्थको अनिष्ट मान लेनेके कारण उनसे भयका परिणाम होना यह भी हिंसा है, परिग्रह है और परपदार्थोंसे ग्लानि करना, घृणा करना, आदिक भी परिग्रह हैं। इन सर्वपरिग्रहोंसे रहित जो मुनि है वे आत्मध्यानके पात्र होते है। जैसे लोग चाहते है कि मुझे आत्माका ज्ञान हो और आत्माका दर्शन हो, आत्माका ध्यान बने, उसीमे हम रग जायें, सब की यही इच्छा होती है कि कुछ भी जिसका धर्मकी ओर भाव हो वे चाहते हैं कि मैं आत्मामे मग्न हो जाऊ लेकिन नही हो पाते तो अनेक प्रयत्न करते। हम आत्ममग्न क्यो नही पाते? और उसका कारण यही है कि ये १४ प्रकारके परिग्रह अन्तरगमे लगे हुए है विशेष विशेष रूपसे इस कारणसे आत्मस्वरूपकी ओर ध्यान नही जमता है। आत्मध्यानकी विराधना करने वाले ये अन्तरग १४ प्रकारके परिग्रह है। और इन अन्तरग परिग्रहोंसे बचनेके लिए बाह्यमे बाह्य परिग्रहोका त्याग किया जाता है।

अन्तरंगपरिग्रहकी शल्यरूपता--कभी ऐसा भी हो जाता कि बाह्यपदार्थोंका त्याग तो कर दिया, बाह्यपदार्थोंको हम अपनी दृष्टिमे न लाये, ऐसा भाव करके भी त्याग दिया और कदाचित् उसमे दृष्टि पहुच गयी, नही भी परिग्रह है तो भी उसे परिग्रहका दोष लगता है और ध्यानकी विराधना होती है। पुष्पडाल मुनिकी कथा बहुत प्रसिद्ध है। जब पुष्पडाल मुनि आहार करके जंगल जाने लगे तो उनके पहिलेके मित्र वारिसेण उन्हे छोडने गए। जब काफी दूर तक सगमे वारिसेण चले गए तो रास्तेमे पुष्पडाल मुनिको याद दिलाया कि देखिये महाराज यह वही बाग है जहाँ हम आप पहिले खेला करते थे, इसलिए याद दिलाते थे कि महाराज यह समझ जाये कि अब काफी दूर आ गए, लौट जानेकी आज्ञा दे दें। लेकिन धीरे-धीरे वे जब उस जगल पहुँच गये तो वहाँ उनके वैराग्यता जगी और साधु हो गए। कुछ दिन तो ठीक चले, फिर एक बार ध्यान किया कि मैं अपनी स्त्रीको छोडकर चला आया था, कहकर नही आया था, वह न जाने वह कहाँ क्या करती होगी? वह स्त्री भी कानी थी। जब इस विकल्पमे वह पड़े हुए थे तो पुष्पडालने झट उनके मनकी बात को पहिचान लिया। पुष्पडालने सोचा कि कोई ऐसा उपाय करें कि इन वारिसेणको विरक्ति हो जाय। तो पुष्पडालने क्या किया कि अपनी माँ को सूचना दी कि कलके दिन हम घर आवेंगे, सभी रानियोको खूब सजाकर रखना। माता ने जब यह सन्देशा सुना तो सोचा कि मेरे पुत्रके शायद कोई विकारभाव उत्पन्न हो गया है। फिर ध्यान दिया कि शायद इसमे कोई राज हो। खैर, एक सोनेका सिंहासन सजा दिया और एक काठका, इस ख्यालसे कि अगर चित्तमे विकारभाव उत्पन्न हुआ होगा तो सोनेके सिंहासन पर बैठ जायेंगे और अगर

और कोई राजकी बात होगी तो इस काठके सिंहासन पर बैठ जायेंगे। दूसरे दिन पुष्पडाल मुनि अपने मित्र वारिसेण मुनिके संगमे राजदरबारमे पधारे। तो दोनो मुनि काठके सिंहासन पर बैठ गए। सभी रानिया आ गयी, सारा राजदरबार खूब सजाया गया था। उन सुन्दर रानियोको देखकर वारिसेण मुनि विचार करते है कि अहो! इस प्रकारकी सुन्दर रानियोको त्याग कर यह साधु हुए और मैं एक कानी स्त्रीकी चिन्ता करता हू, धिक्कार है मुझे। यो उनका उस स्त्रीके प्रति मोहभाव गल गया, फिर दोनो मुनि सहर्ष उसी जंगल चले गए। तो ये अन्तरंगकी जो १४ प्रकारकी कषाये है, विकार है ये जीवको शल्यकी तरह चुभने वाली, दु ख देने वाली है, जो इन अन्तरंग परिग्रहोको भी दूर करता है वह आत्म-ध्यानका पात्र होता है।

संवृतस्य सुवृत्तस्य जिताक्षस्यापि योगिन ।
व्यामुह्यति मन क्षिप्र धनाशाव्यालविप्लुतम् ॥८२१॥

धनाशामें बड़े पुरुषोंका भी पतन—जो मुनि सम्वर सहित है, उत्तम चरित्र सहित जितेन्द्रिय है उसका भी मन धनाशारूपी सर्पसे पीडित हो तो तत्काल वह मोहको प्राप्त होता है। किसी अच्छी स्थितिके बाद जब कोई खराबी आने लगती है तो वह समग्र खराबी तुरन्त नही आती, उसका प्रारम्भ पहिले कुछ छोटे कार्योसे होता है, और फिर उस अतिचार के बाद उस छोटे दोषके बाद बराबर वे दोष हों और उनसे फिर ग्लानि न रहे तो वे फिर अनाचारके रूप रख लेते है। जैसे जो लोग बडे चोर और डकैत बन जाते है वे एकदम किसी ही दिन बन गए हो ऐसा नही है, किन्तु पहिले कुछ छोटी चीजोकी चोरी करनेका शौक लगा, जैसे मान लीजिए किसीकी चाकू चुरा लिया। फिर इससे बढकर धीरे-धीरे वह बडी बडी चोरियाँ करने लगता है। यो ही सग त्यागकर, परिग्रह त्यागकर जो निर्ग्रन्थ हुए है, जो तपश्चरण करते है फिर भी कदाचित कभी किसी प्रकारकी आशारूपी सर्पसे पीडित हो जाय तो वह धीरे धीरे बढकर मोहकी अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। इस कारण प्रारम्भ से ही अपने आपको सावधान बनाये रखना चाहिए। गृहस्थावस्थामे परिग्रहको प्रमाण बताया गया है, उस प्रमाणसे गृहस्थकी एक सीमा बन जाती है। वह उससे अधिक अपनेमे कोई परिणाम नही लाता है तो वह सन्तुष्ट रहता है, उसके एक देश अणुव्रत है और जो साधु संत है वे परिग्रहके पूर्णतया त्यागी होते है, उनके परिग्रह त्याग नामका महाव्रत होता है। तो जो परिग्रह के त्यागी हैं वे ही ध्यानके पात्र हैं और आत्मतत्त्वका निरन्तर ध्यान बने तो यह ध्यान अवस्था आत्माके लिए शरण है। ध्यानसे ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है। निर्वाण प्राप्त करनेके लिए अर्थात् संसारके समस्त संकटोसे छूटनेके लिए अपना कर्तव्य है कि इन पच पापोका त्याग करे और आत्मध्यानका और अधिकाधिक यत्न करे।

त्याज्य एवाखिल. संगो मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभि ।
स चेत्यक्तु न शक्नोति कार्यस्तर्ह्यात्मदर्शिभि ॥ ८२२॥

कषायविजयमें सत्संगकी साधनता—मुक्तिकी इच्छा होने वाले साधु सतोको सभी प्रकारका परिग्रह छोड देना चाहिए और बाह्यपरिग्रह तो छोड ही देना चाहिए। कदाचित अन्तरगपरिग्रहमें से कोई परिग्रह विद्यमान रहे, किसी प्रकारकी कषाय रहे तो उनका कर्तव्य है कि जो बडे साधु हों, आत्मदर्शी हो उनकी संगतिमे रहे क्योकि मुनिको समस्त सगको त्यागकर ध्यानमे रहने के लिए कहा गया है। यदि ध्यानस्थ न रहा जाय तो आचार्योंके साथ संगमे रहे, मुख्य चीज तो साधुका ज्ञान है, उसके बाद ध्यान है, फिर तपश्चरण है और फिर सत्संग है। ज्ञानसे मतलब शास्त्रज्ञानसे यहाँ नही है क्योकि शास्त्र-ज्ञान ध्यानसे उत्कृष्ट चीज नही है। ज्ञानका अर्थ है कि यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपको जानता रहे, ऐसा निर्विकल्प आत्मदर्शन बना रहे, इस तरहका जो ज्ञान है स्वसम्वेद्य आत्मज्ञान यह सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है, जब ऐसे ज्ञानमे स्थित न रह सके तो साधुका कर्तव्य है कि ध्यानकी स्थिति बनाये। देखिये ज्ञान और ध्यानमे ज्ञान उत्कृष्ट है, ध्यान द्वितीय श्रेणीका है। यहाँ ज्ञानसे मतलब ज्ञाता रहनेसे है। केवलज्ञान रहे, जाननहार रहे, रागद्वेषसे निवृत्ति रहे, इस प्रकारकी स्थितिमे ज्ञान जो ज्ञानका ज्ञान कर रहा है वह ज्ञान सर्वोत्कृष्ट काम है। इसके पश्चात् फिर ध्यान है। आत्मतत्त्व मे एकाग्रचित्त होकर उपयोगी रहे, ध्यानस्थ रहे तो यह ध्यान ज्ञानसे द्वितीय श्रेणीका है। जब ध्यानमे भी मन न रहे तो तपश्चरण करे, अनसन, ऊनोदर आदि जितने भी तपश्चरण हैं यथाशक्ति उनको करें, और ये भी न बने तो सत्सग तो छोडें नही, क्योकि सत्संगसे अपने परिणामोमे विशुद्धि बढती है, ऐसा इन साधुजनोको उपदेश किया जा रहा है, क्या कि बाह्यपरिग्रहोका तो सर्वथा त्याग करें, वह तो एक बाह्य चीज है, किया जा सकता है, पर अन्तरगपरिग्रह तो मनका आत्माका परिणाम है, विकारभाव है, वह उठाया तो वह तो उस काल आत्माकी वस्तु है। उसका जानबूझकर परिहार कैसे किया जाय ? तो उस समय यह अन्य उपाय करे, सत्सगमे रहे। जैसे लोग कहते हैं कि इसको देवदर्शनका नियम करा दो कि रोज यह देवदर्शन करे, रात्रिके खानेके त्यागका नियम करा दो, न खाये, या अमुक चीज छुडा दो। और कोई कहे कि इसका मानकषाय छुडा दो तो मानकषाय कैसे छुडा दे, क्रोधकषाय कैसे छुडा दे? रखी चीज पर वश तो होता कि लो इसे छुडा दिया, पर इन कषायोके त्यागका नियम कोई कैसे दिला दे ? यह बात तो ज्ञानसे सम्भव है। ऐसा ज्ञान उत्पन्न करे जिसके होनेपर ये कषायें अपने आप दूर होती है, वह तो यत्न है, पर जैसे भाई कोटका त्याग कर दिया तो वह बाहरकी चीज है, पर इस क्रोधकषायके त्यागका नियम कौन दिला दे, वह तो नियम न बनेगा। वह

तो ज्ञानसाध्य बात है। ऐसा तो नियम दिलाया जा सकता है कि जब क्रोध आये तो मौन रह जाय, बोले नही। ओठसे ओठ मिला ले। यह बात तो नियममे दिलाई जा सकती है। कोई क्रोधके त्यागका नियम जबरदस्ती कैसे दे सकता है? वह तो ज्ञानसाध्य बात है। विचार इस तरहका बनाये, तर्क इस तरहका करें कि जिससे कषाय दूर हो। तो ये अन्तरंग-परिग्रह कषाय आदिक ही तो है। यदि अन्तरगपरिग्रह जग गया साधुके तव क्या करना चाहिए? उसके लिए यह उपदेश किया गया है कि वह सत्सग करे।

कषाय परिग्रहकी भयंकरता—एक मास्टर मास्टरनी थे, दोनो भिन्न-भिन्न स्कूलोमे पढाते थे। रविवारका दिन था तो सोचा कि आज बाजारसे कोई बढिया चीज लाकर बना कर खाना चाहिए। तय हुआ कि आज मूंगकी दालकी पकौडी बनना चाहिए। तो सामान जोडा, परिश्रमसे बनाया और वे पकौडी कुल २१ बन गयी। जब मास्टर साहब खाने बैठे तो मास्टरनीने उनको १० पकौडी परोस दी, अपने लिए ११ पकौडी रख ली। तो मास्टर कहने लगा कि हमने तो बाजारसे तमाम सामान लाकर जुटाया, कितना श्रम किया और मुझे १० ही पकौडी क्यो दिया? हम तो ११ खावेगे। मास्टरनी बोली कि हमने तो बनाने मे बहुत श्रम किया, हम ११ खावेगी, दोनोमे यह हठ पड़ गयी। आखिर यह तय हुआ कि कि अपन दोनो चुप रहे और जो पहिले बोल दे वही १० पकौड़ी खायेगा, दोनो हठ पकड़ कर घरकी साकर लगाकर चुप बैठ गए। यो दो तीन दिन बीत गए, मारे भूख प्यासके दोनो मुर्दासे पडे रहे। आखिर स्कूलके विद्यार्थी मास्टरके घर आये, किसी तरह दरवाजेके किवाड़ फाडकर घरके अन्दर घुसे। देखकर सोचा कि मास्टर मास्टरनी दोनो मर गए। लोगोको पता पडा तो आये। लोगोने सोचा कि इन दोनोको एक अर्थीमे बाँधकर ले चलो। सो दोनो को एक अर्थीमे बाँधकर मरघट ले गए। वहाँ लकडियोकी चिता बनाकर जब फूंकनेका विचार था तब वह मास्टर सोचता है कि मैं भी मरा, यह भी मरी, तो वह झट बोल उठा—अच्छा मैं १० खा लूंगा, तू ११ खा लेना। समयकी बात कि उस समय कुल आदमी भी २१ थे। तो लोगोने सोचा कि यह भूत तो हममे से १० को खायेगा और यह चुडैल ११ को खायेगी, यह सोचकर सब वहाँसे भाग गये। वे दोनो भी बादमे जिन्दा चले आये। तो अब भला बतावो इन कषायोका कैसे त्याग हो? इन कषायोका त्याग एक बहुत कठिन बात है। जरा जरासी बातमे हठ हो जाती है, अनेक व्यर्थकी हठ हो जाती है जिनमे कुछ तत्त्व नही। उन कषायोका परिहार ज्ञानबलसे ही सम्भव है। जब कभी कषाय जग जाय तो उस समय अपना कर्तव्य है कि सत्सगकी उपासना करे और ऐसा ज्ञान बनाये कि जिससे वे अन्तरङ्ग परिग्रह दूर हो जायें। देखिये अन्तरग परिग्रह है कषाय, वह यदि अधिक जग जाय तो मुनिका गुणस्थान नही रहता। लेकिन लोक और पूजक उपासक तो

उनकी मान्यता पूजा बराबर करेंगे। और, बाह्य परिग्रहमे गडबडी कर दे, रख ले कुछ तो फिर मान्यता पूज्यताके योग्य नही रहते है। अन्तरङ्ग कषायको कौन जाने? क्षण क्षण मे एकदम ऊंच नीच गुणस्थान हो जाते है, परिग्रह एक औपाधिक भाव है, कर्मकी प्रेरणा होती है, विकार भाव आते हैं, किन्तु उन्हें इस ज्ञानबलसे जीतना चाहिए।

नाणवोऽपि गुणा लोके दोषा शैलेन्द्रसन्निभा ।
भवन्त्यत्र न सदेह सगमासाद्य देहिनाम् ॥८२३॥

परिग्रह संसर्गमें दोषोंका जमाव—इस लोकमे परिग्रह होनेके कारण गुण तो अणुमात्र भी नही होता और दोष सुमेरू पर्वत सरीखे बडे-बडे हो जाते हैं। इसमे कोई सन्देह की बात नही है। परिग्रह नाम मूर्छाका है, किसी अन्य वस्तुमे यह मेरा है ऐसी जो परपदार्थमे मूर्छा जगती है वह परिग्रह है और ऐसी मूर्छाके समयमे आत्मामे गुणोका विकास नही होता और वहाँ अवगुण अर्थात् विकार भाव बढ जाते है। गृहस्थ भी जब सामायिक करता है तो उस समय वह निष्परिग्रहताका अनुभवन करना चाहता है और वही सामायिक है। गृहस्थको भी सामायिकके समयमें विचारसे मुनि कहा जा सकता है, भले ही भेष कुछ हो, लेकिन उपयोग जब अपने आपमे नि सग अनुभव करता रहता है मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र हू, जब ऐसा अपने आपको नि सग अनुभव करते हैं उस समय वह उपचारसे महाव्रती है अर्थात् परिणाम उसके बहुत उत्कृष्ट है। महाव्रती बन नही गया किन्तु उसके उपशम कषाय हैं उस समय ऐसी पवित्रता बन जाती है कि गृहस्थ निसगताका अनुभव करता है। बाह्यपरिग्रह कभी न भी हो किन्तु उनके विकल्प भी उठें उनकी आकाक्षा जगे तो उस समय भी अवगुण और क्लेश अनेक आ जाते हैं। कभी ऐसा स्वप्न आये कि बहुतसा वैभव प्राप्त हो गया या राज्य मिल गया, जैसे कि एक कथानक है कि किसी घसियारेको दोपहर के समय एक पेडके नीचे नीद आ गयी, उसके साथ अनेक घसियारे थे। उस घसियारेने स्वप्नमे क्या देखा कि मुझे राज्यपद मिल गया, अनेक राजा सिर नवा रहे है, हमारी आज्ञा मे भी हैं, और और भी अनेक आरामके साधन है, जिस समय ऐसा स्वप्न आया उस समय वह सुख मालूम कर रहा था, इतनेमे एक घसियारेने उसे जगा दिया तो उसने देखा कि यहाँ तो कुछ भी नही है। लो वह उस घसियारेसे लडने लगा—अरे तू मुझे जगा न देता तो मैं बडा सुख भोगता रहता। यद्यपि वहाँ था कुछ नही, पर सुख तो केवल मनकी कल्पनासे ही भाग जाता है। जब होता भी कुछ तो वहा भी कल्पनाका ही सुख है और स्वप्नमे भी जो दिखा है वह भी कल्पनाका ही सुख है। स्वप्नमे भी राज्य वैभव आदिक किसी भी परिग्रहका सम्बन्ध बने तो वहाँ भी यह जीव विकारोका ही अनुभव करता है, अवगुणका ही अनुभव करता है।

आत्मानुभूतिके लिये निःसगताकी साधनता—यहाँ परिग्रहकी आलोचना चल रही है, यह इसलिए है कि हे आत्मन्! यदि तुम आत्मानुभव चाहते हो तो अपने आपको नि सग अनुभव करो और वाह्य परिग्रह त्यागकर अपने आपको नि संग अनुभव करो। वह तो उत्तम है ही। वह तो साधु सतोका कर्तव्य है किन्तु इतना न करते बने तो प्रतीतिमे और किसी किसी समयमे सामायिक आदिकके कालमे अपने को निसंग अनुभव करना चाहिए। मेरा कही कुछ नही है। यह मैं ज्ञानमात्र हू। जितना हूँ उतना ही तो मैं करने वाला हू और जितना जान रहा हू उतना ही भोगने वाला हूँ और जो कुछ ये ज्ञानादिक है ये ही मेरे वैभव और धन है, इनके अतिरिक्त बाहरमे मेरा कही कुछ नही है। यो अपने आपको ज्ञानमात्र और निसग अनुभव करना चाहिए। यह ज्ञान बना ऐसा अनुभव कभी कभी वनता रहे तो मनुष्य जीवन सफल है और रात दिन केवल मोहरूप ही अपने को अनुभवा जाय, मै ऐसे परिवार वाला हू, ऐसी पोजीशन वाला हू, इतने बच्चो वाला हू इन सब रूप अपने को निरन्तर अनुभवा जाय तो उससे जीवनमे क्या सिद्धि होती है? समय निकल जायेगा, फिर मरण हो, जन्म हो, यह परम्परा रहेगी इससे रात दिनमे किसी समय एक मिनट भी यदि अपनेको नि सग अनुभवकर लिया जाय तो वह इतना पुण्य कमा लेता है कि जिस उदयमे आगे एक वातावरण अच्छा पायेगा और जिसमे धार्मिक संग बना रहे, ऐसी समृद्धि पायेगा।

अन्तर्बाह्यभुवो शुद्धयोर्योगाद्योगी विशुद्धयति।
न ह्येक पत्रमालम्ब्य व्योम्नि पत्री विसर्पति ॥८२४॥

अन्तरंग और बहिरंग दोनों शुद्धियोंसे योगमें विशुद्धता—अध्यात्मयोगी संतपुरुष बाह्य और अन्तरंग दोनो प्रकारकी शुद्धिके योगसे विशुद्ध हुई शुद्धि दो प्रकारकी कही है—एक वाह्य शुद्धि और एक अन्तरग शुद्धि। दोनो शुद्धि हो तो योग विशुद्ध होता है। एक प्रकारकी विशुद्धिका हठ रखकर शुद्धि नही हो सकती। जैसे पक्षी दोनो पखोके आलम्बनसे उड सकता है, फुदक सकता है ऐसे ही बाह्य और आभ्यंतर दोनो प्रकारकी शुद्धि किए बिना साधुपद निभ नही सकता। बाह्यशुद्धि क्या है? व्रत, नियम, त्याग, तपश्चरण, सयम, धारण, समितिमे रहना, शुद्ध व्यवहार रखना ये सब बाह्य शुद्धि है और अन्तरंग शुद्धि क्या है? अपने आपको ज्ञानमात्र निरखना, यही है उसकी अन्तरग शुद्धि, और साथ ही विचार शुद्धि भी चलती है। जैसे सदोष स्थानमे न बैठना, शौच आदिकसे निवृत्त होकर हाथ पैर आदिककी शुद्धि करना यह भी रहे और अन्तरग शुद्धिका भी उपक्रम रहे तो इन दोनो शुद्धिके योगसे योगविशुद्धि होती है। इसीको यो कह लीजिये–एक अन्तरगचारित्र और एक व्यवहारचारित्र। निश्चयचारित्र, व्यवहारचारित्र ये दोनो होना तो इसमे

आवश्यक बताया गया है। जो योगी पुरुष है वे व्यवहारचारित्रकी साधना करते हुए भी दृष्टि रखते है निश्चयचारित्रकी ओर। जैसे सीढियो पर हम आप जब चढते है तो चढते समय जिस सीढी पर पैर रखते है या अब दूसरा पैर रखेंगे उसे नही निरखते। सभी लोग सीढियोपर चढते, पर जिस सीढीपर पैर रखते है उसे ही निरखे और पैर रखें, ऐसा तो कोई नही करता। उसकी दृष्टि ऊपरकी सीढियो पर रहती है और वह सीढियो पर चढता रहता है। तो सीढी पर चढे बिना ऊपर तो नही चढ सकते और ऊपर दृष्टि रखे बिना उन सीढियोसे भी नही गुजर सकते। ऐसे ही साधुसतजन, व्रती महात्माजन व्यवहार-चारित्रको पालते है पर व्यवहारचारित्रपर दृष्टि रखे, यह ही मुझे उपादेय है, यह ही मेरा सर्वस्व है, ढगसे बैठना उठना, पिछी कमण्डल सोधकर लेना, इनसे चर्या करना, इतने पर ही जिसकी दृष्टि रहे और इतना मात्र कार्य करके अपने को सन्तुष्ट करले, मैंने व्रत खूब निभाया है, मैंने मोक्षमार्ग अच्छा निभाया है तो उसकी दृष्टि जैसे उस ही सीढीपर रहे तो वह आगे नही बढ सकता। और कोई पुरुष व्यवहार चारित्रका पालन न करे। है नीची स्थितिमे और केवल ऊपर निरखता ही रहे जो आत्माका स्वरूप है, उसका ज्ञान उसकी चर्चा इसमे ही लगा रहे तो उसकी भी शुद्धि नही बन सकती है। जो योगी बाह्य और आभ्यतर दोनो प्रकारकी शुद्धिका योग करता है वह विशुद्ध होता है। एक प्रकारकी विशुद्धि से सिद्धि नही होती।

साध्वीय स्याद्दहि शुद्धिरन्त शुद्धयात्र देहिनाम्।
फल्गुभाव भजन्येव बाह्या त्वाध्यात्मिकी विना ॥८२५॥

अन्तरंगशुद्धिसे बहिरंगशुद्धिकी श्लाघा—जीवोकी बाहरी शुद्धि तो अन्तरगकी शुद्धि को उत्तम बनाती है और फलदायक होती है अर्थात् अन्तरगमे अध्यात्मकी शुद्धि न हो तो बाह्यशुद्धि व्यर्थ रहती है। जैसे कोई कोयलाको कितना ही साबुनसे साफ करे उसमे स्व-च्छता न आयगी, वह तो काला ही बनेगा। बाह्यशुद्धि कितनी ही की जाय, पर अन्तरगशुद्धि न होनेपर बाह्यशुद्धि व्यर्थ बतायी गई है। कोई पुरुष बाहरी शुद्धि बहुत करे बडी छुवाछूत माने—जैसे बहुतसे रिवाज पहिले ऐसे थे कि चौकेमे जाना हो तो जो लकीर खिची हुई है उससे पार करनेमे दोनो पैर एक साथ चौकेमे रखते थे, चौकेमे लकडी देना हो तो सारी लकडी हाथमे लेकर उन्हे एक साथ छोडते थे। यदि पैर चौकेमे आगे पीछे पडे तो वे चौके को छूत मान लेते थे, लकडी अगर आगे पीछे गिर गईं तो मानते थे कि चौका खराब हो गया। ऐसा भी कभी जमाना था। लेकिन इस शुद्धिमें तत्त्व क्या है? मुक्त किसे कराना है? मुक्त करानेका अर्थ क्या है? यह आत्मा बन्धनमे पडा है, किसके बन्धनमे पडा है? विषय और कषायोके बन्धनमे। तो विषयकषायोके बन्धनसे छुटकारा दिला देना, बस यही तो

मुक्तिका मार्ग है, मुक्ति है। तो ऐसा करनेके लिए अपनेको नि सग अनुभव करे। मै सर्वसे विविक्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हू, ऐसी अन्तरभावना बनायें तो इस भावनासे शुद्धि प्राप्त होती है और उस अन्तरंगशुद्धिसे फिर बाह्यशुद्धिकी भी शोभा रहती है। जैसे कोई पुरुष छुवाछूत तो बडी निभाये और पग पगपर तीव्र क्रोध करे तो उसकी बाह्यशुद्धिकी कोई शोभा भी हुई क्या? अन्तरगमे कषाय तो वैसी ही तीव्र पडी हुई है, तो अज्ञान मिटना, मोह मिटना यही है आत्माकी अन्तरगशुद्धि। अन्तरगशुद्धि हो तो उससे बाह्यशुद्धि भी उत्तम होती है।

अन्तरंगशुद्धिकी शान्तिमूलता—दसलाक्षणीके जयमालमे दृष्टान्त दिया है अशुचिसे भरे घटका। जैसे स्वर्णका घट है, उसमे मैला भरा है तो चाहे कितना ही ऊपरसे उस घडे को पानीसे धोया जाय पर वह अशुद्ध माना जाता है, ऐसे ही यह शरीर अशुचिका घर है, २-२॥ ३-४ सेर मैला भरा ही रहा करता है, आयुर्वेदके सिद्धान्तसे मनुष्यके पेटमे दो ढाई सेर मैला बना ही रहता है। अगर यह मैला पेटमे भरा न रहे तो यह मनुष्य मरणासन्न हो जाता है। जब मनुष्य मरणहार हो गया तो इस मैलेका ताता टूट जाता है। फिर यह मैला पेटमे नही रहता। तो यह शरीर भी मलका घर है। इस मलके गेहको कितना ही जलसे नहाया जाय तो शुद्ध नही होता है। यद्यपि ये स्नान आदिक भी यथायोग्य करना एक ध्यान की शुद्धि है, एक मन स्वच्छ हो गया अथवा हल्का हो गया, इस शरीरमे विश्राम हो गया तो वह ध्यानके योग्य हो जाता है। थोडा बहुत सहायक है यह बाह्यशुद्धि, किन्तु वह ही सब कुछ नही है। अन्तरगशुद्धि जगे तो बाह्यशुद्धिकी उत्तमता होती है और तब ही यह बाह्य-शुद्धि भी फलदायक है। जैसे किसी पुरुषके प्रति प्रीतिका परिणाम है उस प्रीतिसहित कोई कार्य निभाये तो वह ममत्त्व रखता है। प्रीति होना वही फलदायक माना है। कोई पुरुष विरोध रखे और परिस्थितिवश कुछ विकार भी करे तो वह पुरुष उसका एहसान न माने तो यह ज्ञात होता है कि इसके परिणाममे हमारे प्रति प्रीति नही है। अन्तरग प्रीति हो तो उसके उपकारका भी महत्त्व होता है, ऐसे ही अन्तरगशुद्धि हो तो बहिरगशुद्धिका भी महत्त्व होता है। ध्यान देना चाहिए यह अधिक कि विषयकषायोकी अशुद्धि बढे नही, ऐसा सग करे, ऐसी चर्चा करें, ऐसा यत्न करें, ज्ञान करे जिससे विषयकषायोसे शिथिलता बनती जाय अन्यथा एक शल्य होती है, फँसाव होता है और उसीमे फिर बेचैनीका अनुभव करने लगता है। तो मोहकषाय विषयका त्याग करना यही है अन्तरगशुद्धि। अन्तरगशुद्धि हो तो आनन्द के अनुभव बनेगे अन्यथा बाह्यशुद्धि कितनी भी हो जाय? आत्मीय विशुद्धि आनन्दकी अनु-भूति नही जग सकती। हम अपनेको नि संग अनुभव करे, समस्त परिग्रहोसे रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हू, ऐसा अनुभव करके अपनी निर्मलता बढाये और अपनेको प्रसन्न और सुखिया बनाये।

सगात्कामस्ततत क्रोधस्तस्माद्धिसा तयाऽशुभम् ।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्या दु ख वाचामगोचरम् ॥८२६॥

परिग्रहसंगकी दुर्गतिबीजरूपता—सगसे अर्थात् परिग्रहसे काम होता है, अनेक प्रकार के वाञ्छा विकार होते है । जहाँ परिग्रह है वहाँ अनेक अटपट वाञ्छाये हुआ ही करती है और समस्त इच्छावोमे भी अत्यन्त खोटी इच्छा है मैथुन प्रसंगकी, सो इस काम महाविकार का भी मूल यह परिग्रह है । परिग्रहसे काम होता है । कामसे क्रोध होता है । कामवासना की पूर्ति न होने पर क्रोध ही तो जगेगा और ऐसा भी जगेगा जिसमे यह कामी स्वय तक की भी हत्या कर सकता है । क्रोधसे हिंसा होती है । क्रोधमे जीव पर-प्राणियोके घातमे भी सकोच नही करता और कहो अपना भी घात कर डाले, ऐसा भी अविवेक कर डालता है । हिंसासे पाप होता है, फिर उस पापके फलमे नरकगतिमे ऐसा कठिन दु ख भोगता है जो वचनोसे भी नही कहा जा सकता । वहाँ भूमिके स्पर्शमात्रसे घोर दु ख होता, ठड गर्मी से लोहा भी गल जाय ऐसी ठड गर्मीकी वेदना सहना पडती है । नारकी जीव एक दूसरेको देखकर शस्त्रघात अग्निदाह आदि नाना दु ख देते हैं । ये समस्त विपदायें परिग्रहके सम्बन्ध से होती है ।

सग एव मत सूत्रे नि शेषानर्थमन्दिरम् ।
येनाऽसन्तोऽपि सूयन्ते रागाद्या रिपव क्षणे ॥८२७॥

परिग्रहजालसे बचकर आत्मध्यानमें रत होनेका कर्तव्य—जीवोको निज विशुद्ध आत्माका ध्यान ही शरण है । जितने भी अनुभव होते है वे ज्ञान द्वारा होते हैं । यह ज्ञान जिस प्रकारका अपना विचार बनाये उस ढगसे उस प्रकारका सुख या दु ख अथवा आनन्द का अनुभव होता है । किसी भी परपदार्थका आश्रय लेकर जो भी विचार बनता है उसमे क्षोभ अवश्य है । चाहे वह सुखरूप हो अथवा दु खरूप अनुभव हो । सुखके अनुभवमे भी लोभ है अर्थात् आत्मा अपने ठिकाने नही रहता । अपने स्वरूपको त्यागकर अर्थात् स्वरूपकी दृष्टि छोडकर अटपट अनेक प्रकारकी तरगे उठा करती है उससे भी क्षोभ है और दु खका अनुभव है वहाँ भी क्षोभ है, और परपदार्थ चूंकि पर है, उनका जब चाहे वियोग हो सकता है तो उससे वियोगका भी खेद है । यो किसी भी प्रकारका सहारा लेकर, परकी शरण गहकर, परको उपयोगमे बसाकर आनन्द नही पाया जा सकता । आनन्द तो एक आनन्दस्वरूप निज शुद्ध आत्माके ध्यानमे है । वह ध्यान कैसे बनता है, उसके उपायमे बताया है कि ध्यानके यद्यपि बाह्य साधन अनेक है पर ध्यानमे अन्तरग साधन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है । कोई पुरुष प्राणायाम श्वास निरोध, प्रत्याख्यान, धारणा, यम, नियम अनेक प्रकारके उपाय बनाये और सम्यक्त्व न हो, आत्माका विशुद्ध स्वरूप क्या है,

स्थिर तत्त्व क्या है इसका उपाय न हो तो किसका उपयोग बनाकर यह जीव स्थिर और आनन्दमय बन सकता है ? स्थिर आनन्दस्वरूप निज अतस्तत्त्वका परिचय हो तो उसका सहारा लिया जा सकता और इसमे मग्न हुआ जा सकता, अतएव आत्मध्यान ही जीवोको शरण है और उसका अन्तरग सा ग्न है मुख्य सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ।

परिग्रहकी सर्वानर्थमूलत —इस प्रकरणमे सम्यक्चारित्रके स्थलमे परिग्रह त्याग महाव्रतका वर्णन चल रहा है, जिसमे बाह्य और आभ्यंतर पग्रिहका त्याग कर दिया है। धन मकान आदिक बाह्य चीजोको त्याग दिया है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह इन अन्तरंग विकारोका भी परिहार कर दिय। है ऐसा नि संग संत ही आत्माके ध्यानका पात्र होता है क्योंकि सगमे अनेक अनर्थ होते है। समस्त अनर्थोंका मूल परिग्रह माना गया है। वादविवाद कलह अशान्ति जितने भी अनर्थ है उन सबका मूल परिग्रह माना गया है क्योकि परिग्रहके कारण सभी शत्रु अन्तरग शत्रु रागादिक और बहिरग शत्रु ऐसे मनुष्यो की मडली जो इनके सगको परिग्रहको ग्रहण करना चाहे उसके वे सब शत्रु बन जाते है। परिग्रह आया और उसमे राग रूप ही अपने आपका अनुभव किया, वहाँ उस शुद्ध ज्ञान स्वरूपका ध्यान नही बन सकता है, मै नि सग हूँ, समस्त परपदार्थोसे बिल्कुल न्यारा हूँ, अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावसे हूँ, अपने ही प्रदेशोमे मेरा अपने आपका अनुभव है और यह अपने गुणमात्र है, अमूर्त है, नि संग है इस प्रकार नि संग अनुभव करने पर तो अपने शुद्ध स्वरूपका ध्या न ब । सकता है और जो अपनेको ससग अनुभव करता हो कि मैं तो ऐसी पोजीश न वाला हूँ, अनेक अनेक रूपसे अनुभव करे तो चूंकि उसके परभावोका अनुभव किया है तो परभावोका अनुभव कैसे हो सकता है और ये अनर्थ अपने स्वभावसे चिग गए. परपदार्थोमे व्यासक्त हो गए यह सब परिग्रहका फल है। गृहस्थ जनोको भी यद्यपि समय-समयपर परिग्रहका उपयोग बनाना पडता है, दूकान आदिककी व्यवस्था करनी पडती है, कमाई की बात सोचनी पडती है लेकिन ये सब करनेके बावजूद भी उनके पास काफी समय पडा हुआ है। दि न रातके २४ घटेमे कभी १०—५ मिनट तो अपने आपको नि संग अनुभव करनेका यत न किया जा सकता है। अपना उपयोग है अपने आपमे है, इसे किसीने बाँध नही रखा, भले ही गृहमे बहुतसे परिजन है पर किसीने भी हमारे उपयोगको बाध नही रखा है। ऐसा अपने आपमे निरखिये, हम भीतर तो स्वतंत्र ही है। विचार बनाने मे तो हम स्वतत्र ही है। जब कभी एक आध मिनट अपनेको नि संग अनुभव कर लिया जाय, मैं निष्परिग्रह हूँ ऐसा अपने स्वभावको देखा जाय तो खुद ही जो एक अनुपम शुद्ध आनन्द प्राप्त होना है वह रक्षा करने वाला है, और शेष जितने भी विकल्प उत्पन्न होते है वे साक्षात् विपदा है और आगामी कालमे भी झझटका कारण बन जाते है, और झंझट

ही विपदा है। विपदासे प्रारम्भ हुई विपदाका अनुभव करना अनर्थोंका मूल यह परिग्रह माना गया है। नि संग अनुभव करनेका जो यत्न करता रहता है वह ज्ञानी पुरुष है और अपने को मोक्षमार्गमे लगाने वाला है।

रागादिविजय सत्य क्षमा शौच वितृष्णता।
मुने प्रच्याव्यते नूनं सगैर्व्यामोहितात्मन ॥८२८॥

संगमुग्ध मुनिकी रागादि विजयच्युति—जिन साधुवोका परिणाम परिग्रहसे मोहित हो गया है उनकी ये बातें ये गुण नष्ट हो जाते है। रागादिक भावो पर विजय करना। परिग्रह केवल धनका ही नाम नही है किन्तु अपने स्वभावसे अर्थात् किसी भी परिणाममे मूर्छित होना 'यह मैं हू' इस प्रकारका वेसुध रहना वह सव परिग्रह है। जिसे नामकी, यश-की, प्रतिष्ठाकी चाह हो वह चाह भी परिग्रह है और इन धन आदिक परिग्रहोसे भी अधिक परिग्रह है। भला कितना अज्ञान अधकार है जिसकी अन्तरगमे ऐसी रुचि जगी हो, मेरा इस ससारमे यश, नाम, प्रशसा हो, उसे यह पता नही कि मैं किन जीवोमे यशकी चाह कर रहा हू, ये सव मलिन ससारमे भटकने वाले खुद असहाय है, खुद दूसरेकी आशा रखने वाले है, ऐसे कातर प्राणियोका यह समुदाय है और फिर ये विनाशीक है, अथवा यहाँ कुछ परम्परामे मान लो १००-२०० वर्ष तक कुछ यश गा दिया तो उससे इस आत्माका क्या हित होगा, वे परपदार्थ है असार है। इतने विशाल ससारमे मरण करके कहीके कही उत्पन्न हो जायेंगे, फिर यहाँके किसी परपदार्थसे क्या हित होगा ? किसी भी परपदार्थसे हमारा हित न होगा। हमारा हित तो हमारे ही ज्ञानसे होगा। अपने को ज्ञानमात्र सबसे निराला, सर्वसे अपरिचित, नि संग अनुभव करे। ऐसा अतरग मौलिक तपश्चरण करने वाले ज्ञानी पुरुष धन्य है। यह रुचि जि के नही जगी और इस बाहरी जड वैभव परिग्रहमे ही जिनकी आसक्ति जग गई है वे पुरुष रागादिक विकारो पर क्या विजय कर सकेंगे ? किसी परपदार्थके सामने अपने आपको झुका लेना यह कायरता है। अन्तरग शौर्य यही है कि अपनेको निर्लेप समझना और अपने गुण गौरवसे अपने आपको प्रसन्न बनाये रहना, यही है-आत्मशूरता। यह कैसे प्राप्त हो सकता है ? जिनको बाह्य वैभवमे आसक्ति हो गई है।

संगव्यामुग्ध मुनिकी सत्यादिगुणच्युति—जिनका मन परिग्रहसे मलिन है उनका सत्य धर्म भी निभ नही पाता। चाहे कितना ही सत्य बोलनेका उन्होंने नियम रखा हो किन्तु जब परिग्रहोमे मन हो जाता है तो जितनी भी बातें बोलेंगे उनमे कुछ न कुछ असत्य अहित मिथ्या बाते हो जायेगी। जिनको परिग्रहमे व्यासक्ति हो गई है उनको सत्य धर्म नही निभता है। फिर वे आत्मध्यान कैसे कर सकेंगे ? ऐसे परिग्रहासक्त जीवोके क्षमा भी नही निभ सकती, क्योकि बाह्य जड पदार्थोंके संचय करनेका भाव है और वह अपने आधीन

बात नही है, उसमे अनेक बाधाये समायी है, जब अनेक बाधाये आती है तो वहा क्रोध आना सम्भव है। जहा क्रोध है वहाँ क्षमा नही है। परिग्रहके सम्बन्धसे क्षमा गुण भी नष्ट हो जाता है। और, एक गुण है शौच धर्म। तृष्णा रहित होना यह तो सम्भव ही नही है। तो इन परिग्रहोकी व्यासक्तिसे आत्माके गुण नष्ट हो जाते है। जहाँ यह आत्मा अवगुणोका धाम बने तो उसे आत्माका ध्यान कैसे हो सकता है? लोकमे करने योग्य काम सर्वोपरि एक मात्र शुद्ध ज्ञानमात्र मैं हू ऐसी प्रतीति रखना है, इससे बढकर कोई कार्य नही है हितका। यही करने योग्य है, इससे ही हमारे अन्तरगका नाता रहे ऐसा निर्णय रहना चाहिए। जिसका ऐसा निर्णय है उसे फिर और कुछ समझानेकी बात नही रहती। सारी समस्या उसके इस प्रायश्चित्तसे ही हल हो जाती है। लोकव्यवहारमे जो बड़ी बडी समस्याये कहलाती है, किसी बात पर विवाद हो गया, झगडा मच गया तो कहते है कि बडी समस्या हो गयी, इस बडी समस्याको भी ज्ञानी पुरुष अपनी ज्ञानकलासे तुरन्त हल कर लेते है। ज्ञानबलसे जहाँ जा ा कि यह तो मेला झमेला है, पुण्य पापके अनुसार सग हो रहा है उससे हमारा हित कुछ नही है, ऐसा जिसके निर्णय है उसके उदारता प्रकट होती है और उस उदारताके फलमे यदि तुरन्त कुछ बाह्य वैभवका परिहार भी कर लिया जाय, दूसरोको भी दे दिया जाय, वे शान्त हो जाये तो इतनेसे भी उसका लोकव्यवहारकी अपेक्षा भी घटता कुछ नही है। जब निर्मल परिणामकी निधि अपने पास है तो उस निधिसे कितना वैभव निकलता रहता है, कोई अनिष्ट सयोग हो गया, इष्टवियोग हो गया, जो अपना परम इष्ट था उसका मरण हो गया, ऐसी अनेक परिस्थितिया भी आये तो अज्ञानी को वडी समस्या बन जाती है। अब मेरा जीवन कैसे चलेगा? मेरी दुनिया लुट गयी, यो दिल कमजोर बनाकर वह सक्लेश मरण करता है। लेकिन ज्ञानकी ऐसी महिमा है कि वह बाहरी किसी भी परिस्थितिसे अपने आपमे कुछ विपदा ही नही मानता है। वह ज्ञानी पुरुष तो अपने ज्ञानस्वरूपसे चिगकर परकी ओर झुकाव करनेमे विपदा मानता है।

जीवकी पारमार्थिकी समृद्धि--इस जीवकी समृद्धि मात्र इतनी ही है कि अपने आपके सही स्वरूपको समझकर उसके निकट ही स्थित रहा करे, अपने उपयोगको अपने ही निकट बनाये रहा करे, यही एक उत्कृष्ट समृद्धि है। कदाचित कोई तीसरा पुरुष यह कह सके कि फिर तो लोकमे जीना क्या, जब तक कोई दूसरोके काम न कर सके, पार्टी वगैरह न बना सके, लोकमे अपना कुछ करतब न दिखाये तो फिर उसका जीवन क्या रहा? अरे उनके लिए हमारा जीवन कुछ नही है तो मत रहो। मेरेको तो अनन्तकाल तक यात्रा करना है, हमारा तो उससे सम्बन्ध है, यहाँके लोगोसे सम्बन्ध नही है, ये सब दृष्टिकी बातें है। जब इस ओर दृष्टि रखते है एक सामाजिक ढगसे तो जरूर यह लगता है

कि देशमे हमारा स्थान होना चाहिए, ठीक है लेकिन ज्ञानी उदार पुरुष हो तो इस प्रकारके स्थानोको तो वह थोडेसे प्रयाससे भी प्राप्त कर सकता है और उन स्थानोका अर्थ यह है कि जिस बातको सुननेकी जनता प्रतीक्षा करे वही बाते बोलना। ऐसा जो करता है वही नेता है। तो जो ज्ञानी पुरुष हैं, उदार पुरुष है, अनेक समस्यावोपर उनकी पूछ वही ही रहती है। उनके निकट बना रहना भी एक बडे स्थानको प्रकट कर देता है और फिर ये सभी बाते थोथी है, कुछ समयकी है, सारभूत नही है। सारभूत प्रयोजन तो एक आत्म-उद्धारका है। अपना उपयोग अपने आत्माके निकट रहे और यह बात हो सकती है अपने को नि सग अनुभव करनेसे। जब हम किसी पदार्थके ससर्गमे बडप्पन अनुभव कर रहे हो तो इस निसग ज्ञानानन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्वका अनुभव नही किया जा सकता। उसकी वहाँ सुध भी नही है। तो नि संगतासे ही आत्माका उद्धार है और नि सगता न भी बनी हो, लेकिन अपना स्वरूप तो नि सग ही है, इसमे तो रच सन्देह नही है। ये बाह्य वस्तुवें किसकी आत्मा से चिपकी है? और, बडे गौरसे देखो तो यह शरीर भी कहाँ आत्माको छुवे हुए है? जैसे एक रस्सी दूसरी रस्सीको जकडकर बाँध लेती है इस तरहसे यह शरीर आत्माको बाँधे हुए नही है, किन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा है कि यह आत्मा स्वय ही शरीरसे बँधा फिर रहा है। भला किसी अमूर्त पदार्थको कोई मूर्तिक पदार्थ कभी बाँध सकता है? क्या किसी पुत्र स्त्रीके शरीरसे किसीका शरीर बँधा हुआ है? अरे किसीसे किसीका कुछ भी बन्धन नही है, फिर भी लोग रागवश स्त्री पुत्रादिवसे बधे-बधे फिर रहे हैं। ऐसे ही समझ लो आत्मा भी शरीरादिक किसी मूर्त पदार्थसे रस्सीकी भाँति बँधा नही है किन्तु विकारका ऐसा प्रताप है, ऐसा निमित्तनैमित्तिक बन्धन बन गया है कि यह शरीरसे जुदा नही हो पा रहा है। इस समय भी हम चाहे कि शरीरसे अलग-अलग बाहर जरा चले जाये, बैठ जायें तो भी ऐसा नही कर पाते है। कितना विलक्षण निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है तो नि सग तो मैं कुछ भी हू। भीतर दृष्टि दे तो ऐसे रूग वाली स्थितिमे रहकर भी हम अपनेको नि सग पा सकते है, और जब नि सगताका अनुभव हो रहा हो उस समयका आनन्द भी बहुत विलक्षण है और उस ही आनन्दके अनुभवमे, उस ही नि सगताके अनुभवमे कर्मबन्धन ढीले होते है। तो परिग्रहोसे इन मोह रागद्वेषादिकका विजय करना, शुद्ध वृत्तिसे रहना, क्षमाभाव रखना, तृष्णारहित होना आदिक ये समस्तगुण उसके नष्ट हो जाते है।

सगा शरीरमासाद्य स्वीक्रियन्ते शरीरिभि।
तत्प्रागेव सुनि सार योगिभि परिकीर्तितम् ॥८२९॥

शरीरकी निःसारताका परिचय होनेपर परिग्रहकी निःसारताके परिचयमें सुगमता— ये ससारी जीव शरीरको प्राप्त होकर ही परिग्रहोका ग्रहण करते है अतएव योगी महात्मा-

जनोने इस शरीरको बहुत नि:सार कह दिया है। अपने आपके शरीरमे आत्मबुद्धि होती है कि मैं यह हू तो इस चेहरेको देखकर ऐसी आत्मबुद्धि होती है। प्राय शरीरके सब अगोसे एक चेहरेमे विशेष आत्मबुद्धि रखते है क्योकि इस मुखसे ही इस जीवकी पहिचान हो पाती है। बोलचालकी जितनी भी क्रियाए इस मनुष्यसे सम्भव हो सकती है वे सब एक इस चेहरे को देखकर की जाती है। अतएव ये सारी विडम्बनाए इन चेहरोके कारण ही हो जाती है। यह शरीर मैं हू तो शरीरका साधन भी चाहिए, शरीरके विषयोकी साधना भी चाहिए। यह शरीर मैं हू जब ऐसा सोचे तो ये कुछ कुछ इस शरीरके नामके लिए, यशके लिए, अनेकानेक विकल्प बनते है। किसीका नाम और यश लोग करते है तो फोटो बनाकर ही तो करते है, प्रतिमा बनाकर ही तो करते है। तो यश फैलानेका साधन उपाय एक इस शरीरकी मुद्रासे चलता है, अतएव इस जीवको अपने शरीरका नाम यश फैलानेका मनमे चाव होता है, फिर अनेक विपदाये इसी भूलमे आ जाती है। शरीरमे आत्मबुद्धि किया, शरीरको ग्रहण किया तो सारे परिग्रह फिर ग्रहण करने पडते है, और, फिर जो परिग्रह नही है उसका भी परिग्रह लगा हुआ है। किसी भिखारी पुरुषको क्या यह कहा जा सकता है कि इसके पास १० रुपयेका ही परिग्रह है ? अरे उसे तो सैकडो रुपयेकी मूर्छा लगी है। हाँ वह गरीब है, उसकी निगाह तुच्छ है तो वह ज्यादासे ज्यादा १००) की ही चाह करेगा। पर १००) हो जाने पर क्या उसे हजारकी चाह न होगी ? और फिर हजार हो जाने पर क्या लाखकी चाह न होगी ? तो उसे १०) ही होनेके कारण निष्परिग्रही नही कहा जा सकता। हाँ उसकी कल्पनामे १००) या हजार रुपये तक ही सीमित है पर उसके सस्कारोमे तो तीनो लोकके वैभवकी मूर्छा पडी हुई है।

अन्तर्वहिर्निःसंगतामें आत्मयाथात्म्यपरिचय—परिग्रहकी जो इतनी दौड है, होड़ है यह सब शरीरमे आत्मबुद्धि होनेके कारण है। शरीरमे यह मैं हू, इस प्रकारकी आत्मबुद्धि की, लो इसी गल्ती पर यह सारा परिग्रह आधारित हो जाता है। तब जिसे अपने आपको नि सग बनाना है, नि सग अनुभव करना है उसे यह अनुभव करना चाहिए कि मैं इस शरीरसे भी न्यारा और जो कुछ तरग विकार औपाधिक परभाव उत्पन्न होते है उनसे भी न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ, ऐसा कुछ प्रयोगात्मकरूपसे अनुभव करे और उस अनुभवकी वह निशानी है कि उस अनुभवके बाद फिर घरके ही परिजन पुत्र मित्रादिक ये सब ऐसे मालूम पडने लगते कि ये सब तो गैर है। जिस समय अपने आपमे नि सग और ज्ञानस्वरूपका अनुभव होता है उसके बाद उसे सब वैभव यो दीखने लगते है जैसे और लोगोको दूसरोके पुत्र दूसरे परिजन गैर दिखते है वैसे ही अपने घरके परिजनोको भी वह गैर देखने लगता है। जो मोहीजन है वे अन्य लोगो को तो गैरकी दृष्टिसे देखते हैं पर

अपने परिजनोको अपने हैं ऐसी दृष्टिसे देखते हैं। वे सब एक ढगसे नही दिख सके। यह ज्ञानी अनुभवी पुरुष सबको एक दृष्टिसे देख रहा है। यह है उस अनुभवकी निशानी। तो ऐसा नि सग अनुभव करनेसे आत्माको एक बडा शरण मिलता है, शान्ति मिलती है, कर्म कटने है, उसे सच्चे धर्मकी प्राप्ति होती है। नि सगताके अनुभवसे ही समस्त समृद्धिया प्राप्त होती हैं अतएव अपनेको नि सग अनुभव करे, और जिस प्रकार यह आत्मा अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव कर सके ऐसे ज्ञान द्वारा ज्ञानके गुप्त होनेका यत्न करना चाहिए। इस आत्मध्यानसे ही शान्तिका वातावरण मिलता है।

हृषीकराक्षसानीक कषायभुजगव्रजम।
वित्तामिषमुपादाय धत्ते कामप्युदीर्णताम् ॥८३०॥

धनामिष पाकर इन्द्रियराक्षसोंकी उद्दण्डता—परिग्रह सम्बन्ध होने से इन्द्रियरूपी राक्षसोकी सेना और कषायरूपी सर्पोका समूह धनरूपी मौजको ग्रहण करके ऐसी उद्दण्डता धारण करता है कि जो चिन्तनामे भी नही आ सकती। इन्द्रियरूपी राक्षस उस आत्माको बहुत सता डालते है जो आत्मा परिग्रहमे व्यासक्त है। परिग्रहमे ऐसी लालसा रखने वाले पुरुषोके एक क्या अनेक विपदायें निरन्तर बनी रहती हैं। प्रथम तो उसमे कोई बाधक बनता है तो उसे शत्रु मानता है और कदाचित् कोई बाधक न बने तो वहाँ विषयोके परिणामसे अपनेको बरबाद कर लेता है। ऐसे ही कषायरूपी सर्पके समूहसे यह डसा जाता है। परिग्रही पुरुष इतना व्यग्र रहता है कि उसे विषय कषाय ऐसा सताते रहते हैं कि वह क्षणमात्र भी शान्तिका रस नही ले पाता है। अपने आपको नि सग केवल ज्ञानमात्र अनुभव करते रहे तो यह विषय और कषायकी सेना इसे सता न सकेगी। हमारा यह मुख्य कर्तव्य है कि हम अधिकाधिक ऐसा ही अनुभव करें कि मैं ज्ञानस्वरूप हू और समस्त परभावोसे जुदा हू, ऐसा ज्ञानमात्र अपने आपको निरखनेसे ये विषय और कषायकी विपदाये समाप्त हो जाती है।

उन्मूलयति निर्वेदविवेकद्रुममञ्जरी।
प्रत्यासत्ति समायत सतामपि परिग्रह ॥८३१॥

परिग्रहसग निर्वेदोन्मूलकता—यह परिग्रह यदि कुछ निकट प्राप्त हो जाय तो सज्जन पुरुषोका भी वैराग्य विवेकरूपी वृक्षकी मजरियोका उन्मूलन कर देता है। जैसे कितना भी आममे बौर आये हो, बहुत अच्छी फसलकी आशा हो और बिजली ओला बौछार हो जाय तो वे सब मजरिया खतम हो जाती है, ऐसे ही सज्जन पुरुषोमे बहुत भी वैराग्य हो, विवेक हो किन्तु जब किसी समय परिग्रहमे मूर्छा भाव जग जाता है तो वैराग्य और विवेक खतम हो जाते है, परिग्रहका ऐसा सम्बन्ध है। एक ऐसी किम्बदन्तीसे

लोगोको समझाया गया है कि यह परिग्रह जहाँ भी पहुँचता है उसके निकटवर्ती महान आत्माको भी पतित कर देनेका कारण बन जाता है। एक ऐसा कथानक है कि गुड एक बार भगवानके पास गया और उनसे प्रार्थना करने लगा (होगे कोई ऐसे ही भगवान) कि महाराज हमपर बडी विपदा है। जब हम खेतमे खडे थे, गन्नेके रूपमे थे तो लोगोने मुझे तोड तोडकर खाया, और खेतसे बच गया तो घानीमे पेलकर रस निकालकर खाया, फिर वहाँसे बचे तो गुड बनाकर खाया, और मैं जब सड गया तो लोगोने तम्बाकूमे कूट कूटकर खाया। सो महाराज हमपर बडी विपदा है। यह सब गुड कह रहा है। तो भगवान बोले कि तू इसी समय मेरे सामनेसे हट जा क्योकि तेरी कथा सुनकर मेरे मुहमे पानी आ गया है। एक कथानकसे यह समझाया है कि बडेसे बडे पुरुष भी परिग्रहके व्यासगसे गिर जाते है। परिग्रह ही समस्त दु खोकी खान है। जीव सब दु खी है एक इस परिग्रहकी लालसाके कारण। उस वैभवसे ही लोग अपनी महत्ता आँकते है। यो परिग्रहका सम्बन्ध जगा तो इस जीवको समस्त विडम्बनाएँ फिर भुगतनी पडती है। तो यह परिग्रह निकट आ जाय तो बडे-बडे संत पुरुषोके भी वैराग्य विवेक मंजरियोको नष्ट कर डालता है। जो पुरुष अपने परिणामोको निर्विकार बनाये रहते है वे ही इस शुद्ध परमात्मस्वरूपके ध्यानके पात्र होते है और परमात्मस्वरूपका सग मिलना यही जीवको वास्तविक शरण है। मोही जीवो का सग मिलनेसे उनसे कोई शरण नही मिलता है। तो अपना शरण पानेके लिए इन परिग्रहोसे रहित होनेका भाव रखना चाहिए और परिग्रहरहित निज अतस्तत्त्वका ध्यान रखना चाहिए।

लुप्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणै।
रुध्यते वनिताव्याधैर्नर सगैरभिद्रुत ॥८३२॥

संगाभिद्रुत पुरुषोंकी दुर्दशा—जो पुरुष परिग्रहसे उपद्रवित हो जाते है वे विषय विषरूपी सर्पसे सदैव डसे जाते है। परिग्रहासक्त पुरुष विषयोसे व्यथित रहते है और काम के बाणोसे चीख जाते है। अर्थात् विषय और कषायोमे प्रधान बैरी है काम। इसके द्वारा वे सताये जाते है। साधु सत जो शीलकी परमनिर्दोष मूर्ति है उनकी इस शीलशालिता होनेका कारण क्या है कि वे इन समस्त परिग्रहोके कारण अत्यन्त दूर है। जो साधन थे, आश्रय था उसे तो त्याग दिया, अब किस आश्रय पर विकारभाव उठे ? जब आश्रय नही रहा तो विकार होनेकी भी गुन्जाइश नही रही। जैसे लोग कहते है--न रहे बास न बजे बासुरी। जब बास ही नही रहा तो वशी किसकी बने ? ऐसे ही जब परिग्रहका सम्बन्ध जिन साधुसतोने छोडा, एकाकी केवल अपने अतस्तत्त्वका ही भाव रखने वाले पुरुषोको विषय कषाय कहाँसे पीडित कर सकते है। जो जिनके परिग्रहका सम्बन्ध है उनके विषय

भी सताते है, कषाय भी सताते है और ऐसे परिग्रहासक्त पुरुषको स्त्रीरूपी शिकारी बाँध लेती है। ये समस्त विपत्तिया परिग्रहके सम्बन्धसे होती है। देखिये जीवनमे शान्तिका तो अवसर वह कहलाता है जहाँ धर्ममे, ज्ञानमे, प्रभुभक्तिमे अधिक समय बीते। जिसे थोडी बहुत इस धर्मसे रुचि है प्रभुभक्ति ज्ञानार्जन आदिक धर्मकार्योंमे जिनकी रुचि है वे यदि यह सोच लेते हैं कि थोडासा और उद्यम करके अपनी आजीविकाकी परिस्थिति और अच्छी बना ली जाय फिर तो बहुत सा समय धर्मपालनमे लगायेगे। ऐसे मनुष्य कुछ थोडी बहुत सम्पदा प्राप्त कर लेते है तो उसके बाद उनके फिर तृष्णा बढने लगती है। हजारपतिसे लखपति हुए, लखपतिसे करोडपति हुए, यो परिग्रह बढता जाता है, परिग्रह बढनेसे शल्य और चिन्ता भी बढती है। फिर धर्मपालनके लिए उन्हे समय नही मिल पाता है। तो यह परिग्रह एक पाश है जाल है। जैसे कोई जालमे से जितना निकलना चाहे उतना ही फसता जाता है ऐसे ही इस गृहस्थीसे कोई निकलना चाहे तो निकलता है, पर ऐसी प्रेरणा बन जाती है कि वह और अधिक फस जाता है।

किसीने सोच रखा हो कि हमारे कोई विशेष झंझट नही है, इतनी उम्रके बाद सब झझट त्यागकर बडी शान्तिसे अपना समय बितावेंगे, लेकिन कुछ परिग्रह सम्बन्ध होने पर फिर वे सब बाते भूल जाती है। नई नई आपत्तियाँ उसके सामने हो जाती है और प्रकट बात है। जब अकेले थे तब कोई विपदा नही थी, शादी हुई तो उसका एक सम्बन्ध जुड़ गया, अब उससे निकलते कैसे बने ? कुछ समय बाद बच्चे हो गए तो और विशेष ससर्ग हो गया, फिर तो उसे अवसर ही नही मिल पाता है धर्म और शान्तिके पालनका। तो यह परिग्रह एक जाल है । जैसे कफमे फंसी हुई मक्खी उसमे फसती ही जाती है, निकल नही पाती, फसी फसी अपने प्राण दे देती है इसी प्रकार परिग्रहरूपीमे कफमे फसा हुआ यह पुरुष विषयोसे, कामव्यथावोसे पीडित होता है और स्त्री पुत्रादिक परिजन उसे बांध लेते है। लोग कहते भी है कि भाई हम तो कुटुम्बसे बँध गए हैं, अब निकल नही पाते है। तो इन सब झझटोका कारण यह परिग्रह है। कितनी ही घटनाएँ तो ऐसी सुनने मे आ रही हैं कि डाकुवोने घर आकर सारा धन लूट लिया और घरके लोगोको जखमी कर दिया अलगसे, और कही कही तो मार ही डालते है। परिग्रहके सम्बन्धसे धोखा देकर, अलग बुलाकर, गला घोटकर भी लोग प्राणघात कर डालते हैं। तो इन परिग्रहोका सम्बन्ध तो सब अनर्थोंका मदिर है। सभी विडम्बनाएँ इसी परिग्रहके कारण हैं, लेकिन परिग्रह सचय बिना जी मानता नही है। मोहका ऐसा प्रबल उदय है कि चित्तमे वही धुन बनी रहती है जो। इस परिग्रहका त्यागकर अपने आपको नि सग अनुभव करता है वह पुरुष अपने आपकी रक्षा कर लेता है और जो इन परिग्रहोमे ही लीन हो गया वह पुरुष अपने

आपको विपत्तियोमे डाल लेता है।

य सङ्गपङ्कनिर्मग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते।
स मूढ पुष्पनाराचैर्भिद्यात्त्रिदशाचलम् ॥८३३॥

संगपङ्कनिर्मग्न प्राणीकी अपवर्ग चेष्टाकी व्यर्थता—कोई पुरुष फूलोका वाण बना कर सुमेरु पर्वतको ढानेकी कोशिश करे तो उसे लोग मूर्ख कहेगे ? कोई पतले डोरेमे फूल पिरोले उसे धनुष समझ ले और फूलको ही वाण समझ ले, और सुमेरु पर्वतको ढानेकी चेष्टा करे तो क्या पर्वत ध्वस्त हो सकता है ? नही। तो जैसे फूलोके वाणोसे कोई सुमेरु पर्वतको ध्वस्त करना चाहे वह मूर्ख है इसी तरह जो प्राणी परिग्रहरूपी कीचडमें फसा हुआ मोक्ष प्राप्तिके लिए चेष्टा करता है वह भी मूढ है। परिग्रही पुरुषके मोक्षकी प्राप्ति होना अत्यन्त असम्भव है। गृहस्थीमे भी सुखसे रहना है तो उन्हे चाहिए कि इस परिग्रहका परिणाम कर ले और जो कुछ पुण्योदयसे प्राप्त होता है उसमे ही सन्तुष्ट रहे, उसमे ही विभाग बनाकर अपना गुजारा कर ले। यह तो उनकी शान्ति और सन्तोषका साधन है, और केवल परिग्रहकी धुनमे ही रहे तो वह धुन इस जीवको केवल संक्लेश ही करने वाली है। तो यह परिग्रह एक कीचडकी तरह है। कीचडमे फंसा हुआ प्राणी जैसे विवश है, उससे निकलना कठिन है, उसीमे फसा हुआ वह प्राणी अपने प्राण गवा देता है ऐसे ही परिग्रहमें फंसा हुआ प्राणी मोक्षकी चेष्टा करे तो वह उसकी अत्यन्त मूढता है। परिग्रह रखकर यह मोक्ष कभी सम्भव नहीं हो सकता। परिग्रह है, विषयभोग है तो यह सब मूर्छा ही तो है। एक तलवार एक म्यानमे समाती है, दो तलवार एक म्यानमे नही समाती, अथवा जैसे एक सूई एक एक ही साथ एक ही समयमे दो दिशावोमे नही सिल सकती इसी तरह एक एक उपयोग एक ही समयमे दो तरफ नही लग सकता। ऐसा नही हो सकता कि सासारिक मौज भी भोगते रहे और मोक्ष मार्ग भी पलता रहे, ये दोनो बाते एक साथ सम्भव नही है। अब यह विवेक करलो कि दो बातोमे हमारे लिए हितकारी और उपयोगी कौनसी बात है ? विषयकषायोमे ही अपना उपयोग बसा रहे तो इससे अपना क्या हित होगा ? उनसे हटकर एक इस ज्ञानमात्र निज अतस्तत्त्वमे अपना उपयोग वसा रहे तो यह हितकारी है। धर्म ही इस जीवका रक्षक है, अन्य तो सब धोखा है। यहाँ की सर्व प्राप्त चीजोका वियोग अवश्य होगा। तो यह सब परिग्रहका सम्पर्क इस जीव को क्लेशका ही कारण बनता है।

अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत्।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्या विश्व न शान्तये ॥८३४॥

अणुमात्र भी ग्रन्थसे तृष्णाका विशाल विसर्पण—एक अणुमात्र भी परिग्रह हो तो

वह मोहकी गाँठको और दृढ कर देता है। थोडासा परिग्रह होकर भी तृष्णा ऐसी बढती है कि तीनो लोकोका राज्य भी प्राप्त हो जाय तो भी शान्ति नही हो पाती, इस आत्माका पूरा नही पड पाता। बहुत-बहुत साधनाएँ भी कर ले, धर्मपालन करके बहुत बडी योग्यता भी बना ले लेकिन अणुमात्र परिग्रहका भी सम्पर्क बन गया तो यह मोहकर्मकी गाँठको और तेज लगा देता है, इससे इस परिग्रहसे दूर रहनेमें ही श्रेय है। एक छोटीसी कहानी अखबार में छपी हुई थी कि किसी पुरुष और स्त्रीमे बडा झगडा हो रहा था। पुरुष तो कहता था कि हम बच्चेको इन्जीनियर बनायेंगे और स्त्री कहती थी कि हम बच्चेको डाक्टर बनायेंगे। दोनोमे बडा तेज विवाद हो गया, बहुत बडी कलह हो गयी। तो एक आदमी पूछता है कि भाई किस बातपर इतनी तेज लडाई कर रहे हो ? पुरुष बोला कि झगडा इस बातपर है कि हम तो चाहते हैं कि अपने बच्चेको इन्जीनियर बनावेंगे और यह स्त्री इस बातपर हठ करती है कि हम अपने बच्चेको डाक्टर बनावेंगी। तो वह पुरुष बोला कि हमे भी वह बच्चा दिखावो कौन है, उसको देखकर हम भी कुछ अपनी सलाह देंगे। तो पुरुष बोला कि अभी तो उस बच्चेके निकलनेमे ४ माहकी देर है याने बच्चा अभी गर्भमे है जिसके पीछे यह लडाई चल रही है। अरे भाई अभी तो यही नही पता कि वह बच्चा होगा या बच्ची होगी, पर व्यर्थका विवाद खडा हो गया। तो अणुमात्र भी परिगह हो तो इस मोहकी गाठको और दृढ कर देता है। एक स्त्री पुरुष एक चारपाईपर पडे हुए गप्पे छाट रहे थे। स्त्री बोली कि अगर एक बच्चा हो गया तो वह कहा लेटेगा ? पुरुष थोडासा खिसककर कहता है कि यहा लेटेगा। और अगर दूसरा हो गया तो ? तो कुछ और उचक गया और चारपाईसे नीचे जमीनमे गिर गया। उसका एक पैर भी टूट गया। और अगर तीसरा हो गया तो ? अरे अभी बच्चा नही है, सिर्फ कल्पनाभर किया तब तो एक पैर टूट गया और बच्चे हो जायेंगे तो न जाने क्या हाल होगा ? तो यह कल्पना भी बुद्धिको दूषित कर देती है। जितने भी लोग आज बडे जालमे फँसे हैं वे थोडी थोडी इच्छावोसे प्रारम्भ करके बडी बडी इच्छाये बना डाली है और फिर वे एक महान जालमे फस जाते है। तो समझिये कि रचमात्रके भी परिग्रहका सम्बन्ध जुडे तो मोहकी ग्रन्थि और दृढ हो जाती है।

परीषहरिपुव्रात तुच्छवृत्तैकभीतिदम्।
वीक्ष्य धैर्यं विमुञ्चन्ति यतय सगसगता ॥८३५॥

परिग्रहसंगत यतियोंका धैर्यविनाश—परिग्रह रखने वाले यती परिषहोके आने पर दृढ नही रह सकते, वे शीघ्र ही घबडा जाते है और अपने मार्गसे हट जाते हैं। जिनमे कुछ कायरता रहती है वह किस कारणसे रहती है ? परिग्रहकी लालसा है इस कारण कायर बनना पडता है। जो पुरुष परिग्रहसे दूर हैं, परिग्रहकी लालसा ही नही रखते वे तो स्वतत्र

है। वे एक प्रकारसे प्रभु है, समर्थ है। तो जितनी भी अधीरताए है वे सब परिग्रहके सम्बध से उत्पन्न होती है। जब कुछ न हो पास, कही हो तो कहा अच्छी नीद आती है और पास मे कुछ धन हो और कही सो जाय तो उसे नीद नही आती। कही कोई चोर न आ जाय, कोई छुडा न ले, यो चिन्तित रहता है। लोग एक कहावतमे कहते है—गाय न बच्छी, नीद आय अच्छी। यहा गाय बच्छीसे मतलब परिग्रहसे है। कुछ भी परिग्रह नही है तो वह सुख से सोता है और जहां परिग्रह है वहा सारे आराम दूर हो जाते है। किसी भी इन्द्रियविषय का शौक लग जाय तो सारा जीवन बरबादीकी ओर चलने लगता है। यह विषय यह परिग्रह जीवका महान बैरी है। बाह्यपदार्थोंकी बात नही कह रहे, वे तो जहाके तहां पडे है, किन्तु बाह्यपरिग्रहोमे जो मूर्छाका परिणाम जगता है, अन्त. मोहभाव बनता है ऐसा विकार इसे निज आत्मप्रदेशोमे स्थित नही होने देता है। इस जीवको परेशान करने वाली तृष्णा है। जीवन बना है प्रभुभक्तिके लिए, धर्मपालनके लिए, न कि जड वैभवोको बढानेके लिए। ऐसा लक्ष्य नही बना पाते मोही लोग। यदि यह लक्ष्य बन जाय, यह बुद्धि जग जाय तो फिर इतनी तृष्णामे यह नही पड सकता। एक अपना गुजाराभर करना है सो उदयानुसार जो कुछ प्राप्त हो उसमे ही सन्तोष रखकर अपने ज्ञान ध्यान तपश्चरण सयम इनमे अपनी प्रीति जगाये और इस दुर्लभ नरजीवनको सफल बना ले। ऐसी बुद्धि मोही जीवोकी नही जग पाती है। परिग्रहका सम्बन्ध होते ही और और भी बाधाये हो जाती है। यह परिग्रह इस जीवको बहुत हैरान करता है, मोहकी ग्रन्थिको बहुत दृढ करता है और इसी कारण यह मोही जीव ऐसा कायर बन जाता है कि जीवको फिर किसी भी परिषहके, उपसर्गके सहने की धीरता नही रहती। और कायर बनकर इस धर्मके पथसे हट जाता है, और अपने आपको सक्लेशमे डालकर दुखी बनाता रहता है। ऐसा यथार्थतत्त्व समझे और परिग्रहसे मूर्छाका परिणाम हटा ले, अपनेको निष्परिग्रह केवल ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभव करना चाहिए। इस आत्मानुभवसे ही इस जीवका उद्धार सम्भव है।

सर्वसगपरित्याग कीर्त्यते श्रीजिनागमे।
यस्तमेवान्यथा ब्रूते स हीन स्वान्यघातक ॥८३६॥

सर्वपरिग्रहत्यागमें ही परमार्थ संयतपना—श्रीमत् जिनेन्द्र भगवानके परम आगममे समस्त परिग्रहो के त्यागको ही महाव्रत कहा है। जो कोई इससे अन्यथा कहता है वह अधम है और अपना और परका घात करने वाला है। साधुता परिग्रहके त्यागमे ही होती है और परिग्रहोमे बाह्यपरिग्रह तो एक जितने भी अन्य पदार्थ है, शरीर तो एक छोडा नही जा सकता, इसके अतिरिक्त जितनी भी चीजे है वे सब बाह्यपरिग्रह है। जिन पदार्थोंमे मूर्छा जग सकती है वे सब पदार्थ परिग्रह है, एक पिछी कमण्डल और एक आध शास्त्र ये शास्त्र

के परिग्रह नही बताया है, क्योकि ये तीन उपकरण ऐसे है कि इनके बारेमे मूर्छा भी जग सकती है। ये एक गुजारेके उपकरण हैं, धर्माचरणके उपकरण है। शास्त्रसे स्वाध्याय करते, कमण्डलसे कायशुद्धि करते और पिछीसे जीवरक्षा करते। यदि कोई कमण्डलको खूब रग बिरगा सजाकर रखे, उसको निरखकर खुश हो, पिछीको बहुतसे पखोंसे खूब सुहावनी बनाकर रखे, शास्त्रको दिल बहलावाकी दृष्टिकोणसे खूब सजाकर रखे तो ये भी साधुके परिग्रह हो जाते हैं, अन्यथा ये परिग्रह नही बताये गए हैं। जितने भी बाह्य परिग्रह है उन परिग्रहोका जिनके त्याग है सो समझिये कि ये साधु है। किसी भी साधुको निरखकर झट यह समझ जाये कि वास्तवमे यह साधु है या नही तो यह देख लीजिए कि यह बाह्यमे क्या क्या चीजें रखा करता है? बहुत सी सवारिया हो हाथी हो, घोडा हो, मोटर हो, और और भी अनेक प्रकारके सामान हो, और उसके पीछे अनेक प्रकारके विकल्प रखता हो तो समझ लीजिए कि उसे साधु नही कह सकते। अथवा शरीरका शृङ्गार करनेके लिए अनेक बाह्य पदार्थ इकट्ठे किये हो, जुटाये रखे हो, शृ.ार बनानेके लिए ब.ुत सी मालायें पहिने हो, और और प्रकारके झाझ मजीरा चिपटा त्रिशूल, डमरू आदि रखे हो, शरीरको भस्म आदिकसे रमाये हो, ऐसी जिनकी बाह्य पदार्थोमे दृष्टि हो, प्रवृत्ति हो तो समझना चाहिए कि वह साधुता नही है। अपने आरामके लिए पैरोमे जूता पहिने हो, खडाऊ लिए हो आदिक कुछ भी बाह्य परिग्रह साथ रखते हो तो वहाँ साधुता नही है। परिग्रह त्याग ही महान् व्रत कहा गया है। कोई लोग इससे विपरीत कहते है। जैसे इतने कपडे रख लिया तो वह साधु हो जायेगा। इतने बर्तन रख लिया और उन्हे उपकरण मा. लिया कि ये भी सब उपकरण है तो वस्त्र बर्तन या अन्य कुछ भी किसीको उपकरण मानकर कोई रखे तो वहा साधुता नही है, ऐसा कहने वाले अपना भी घात करते हैं और दूसरे प्राणियोका भी अकल्याण करते हैं। खुद तो अन्यथा श्रद्धा किया। बाह्य पदार्थोमे अपना विकल्प बनाया, अपने को उलझाया इन कारणसे वे अपने घातक हुए और ऐसा उपदेश करके दूसरे लोगोको भी शिथिल बनाया, मोक्षमार्गसे भ्रष्ट क.ाया तो यो परके भी घात करने वाले हुए। परिग्रह त्याग ही साधुवोका महान व्रत है।

यमप्रशमज राज्य तपःश्रुतपरिग्रहम्।
योगिनोऽपि विमुञ्चन्ति वित्तवेतालपीडिता ॥८३७॥

धनपिशाच पीड़ित योगियोंकी यमप्रशमज राज्यसे वञ्चितता—जो पुरुष धनरूपी पिशाचसे पीडित है ऐसा योगी मुनि भी यम नियम प्रशम तपश्चरण शास्त्रस्वाध्याय इन सबको छोड देता है। जब मन परपदार्थोमे आसक्त रहता है तो यह उपयोग यह धुन उस परपदार्थके लिए ही रहेगी और ऐसे विकृत मनके होनेपर वहा यम भी लिया हो, कोई

प्रतिक्रम भी किया हो तो उसे भी छोड देता है क्योकि चित्त परपदार्थोंमे व्यथित हो गया। अब वह परपदार्थोंका संग्रह करनेमे ही अपना हित समझता है। जिसकी जिस ओर रुचि लग गयी वह उस ओर ही अपना हित समझता है। तो यह एक बडा सकट है जो परपदार्थोंमे मन लग जाय, स्नेह जग जाय। क्योकि उससे अशान्ति ही अशान्ति है। शान्तस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वकी वहाँ दृष्टि नही है और ऐसी बाहर पडी हुई दृष्टि वाले पुरुष विह्वल रहा करते है क्योकि अपने उपयोगको कही स्थिरतासे जमानेका झुकाव तो नही मिल रहा, तो ऐसे पुरुष आजीवन लिए हुए नियमको छोड देते है, और जो कुछ समयके लिए नियम लेते है वे भी छोड देते है। जिन योगीश्वरोने कदाचित कर्मप्रेरणावश अपनी शिथिलतासे कोई किसी बाह्यपरिग्रहकी आशा लग जाय और उस आशासे पीडित हो जाय तो वह प्रसम अर्थका भी परित्याग कर देता है अर्थात् शान्तिको दूर कर देता है। आत्मीय सत्य आनन्दकी प्रीति नही रहती। प्रतीतिमे केवल बाह्यपदार्थ ही बस गए ऐसे पुरुष तपश्चरणको भी छोड देते है। तपश्चरणमे उनको बडा कष्ट मालूम होता है। जो किसी भी विषय पिशाचसे पीडित हो गए हो या बाह्य धन वैभवकी इच्छा करने लगे हो उन्हे तपश्चरण क्या सुहायेगा, शास्त्रस्वाध्यायको भी छोड देते है। जिनके बाह्यपदार्थोंमे आसक्ति हो गयी उनके फिर ज्ञानवार्तामे मन नही लग सकता। जो पुरुष अपनेको निष्परिग्रह रखते है, अपनेको नि संग अनुभव करते है मेरा कही कुछ नही है, केवल यह गुणपर्याय ही मेरा है, मेरे आत्माके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शान्ति, आनन्द ये सब मेरे तत्त्व है, मेरा जो विशुद्ध परिणमन है वही मेरा वैभव है, मेरे गुणपर्यायके सिवाय अन्य कुछ भी चीज मेरी नही है। ऐसा जिनका अनुभव है वे योगीश्वर अपने आपमे विशुद्ध आनन्दका अनुभव करते है। इसके विरुद्ध जिनको धन की कोई आशा लग गयी, उस पिशाचसे जो पीडित हो गए वे आजीवन ग्रहण किए हुए नियमको भी छोड देते है, और अवधि लेकर ग्रहण किए हुए नियमको भी छोड़ देते है, श्रद्धा, शान्ति, तपश्चरण, स्वाध्याय सबका त्याग कर देते है। यह परिग्रह ही अनर्थका मूल है। जो परिग्रहसे दूर रहेगे वे ही पुरुष आत्मध्यानके पात्र बनेंगे और आत्मध्यान करके एक अपने आपमे अपने उपयोगको मग्न करके मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे।

पुण्यानुष्ठानजातेषु नि शेषाभीष्टसिद्धिसु।
कुर्वन्ति नियत पुसा प्रत्यूह धनजग्रहा ॥८६८॥

धनसंग्रहसे सिद्धिविघात—धनका सग्रह पुरुषोकी सिद्धिमे विघ्न करता है। आत्मा अतुल सत्यका भण्डार है। जितने लोकमे सातिशय चमत्कार कहे जाते है, ज्ञानका चमत्कार, विशाल ज्ञान हो और लुकी छिपी भूत भविष्यकी बातोको भी बता सके ऐसा ज्ञान हो, ऐसा ज्ञानका चमत्कार भी इस ही आत्माके भण्डारसे उत्पन्न होता है। लोकमे जितने अतिशयभूत

चमत्कार देखकर लोग आश्चर्य करे, जिनकी देव सहायता करे, ऐसे चमत्कार भी इस आत्माके ही ध्यानका फल है। जो एक आत्मतत्त्वको छोडकर बाह्य वैभवके संग्रहकी आकाक्षा करते है उनके समस्त मनोवाञ्छित फलकी प्राप्ति नही होती और एक इस सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी जो उपासना करते है उनको समस्त कार्यसमू की मनोवाञ्छितकी सिद्धि होती है, उनमे ऐसी सिद्धि प्रकट हो जाती है कि जो भी चाहते हैं उसकी सिद्धि अनायास प्रकट हो जाती है। और, जिसे जो कुछ मिला है वैभव सम्पदा वह सब भी इस आत्मसिद्धिके भण्डारसे ही मिला है। उसे यो समझिये कि जिस पुरुषके कुछ निर्मलता रहती है, दानकी परोपकारकी जिसकी भावना बनी रहती है, दूसरे जीव सुखी हो ऐसी जिसकी निरन्तर भावना रहती है, जिसकी कषाय मद हैं, विषयभोगोमे जिसकी उत्सुकता नही है ऐसे धर्म परिणाममे जो पुरुष रहता है उसके पुण्यबंध होता है, उसका ही परिणाम है कि लाखोकी विभूति उसके पास है। यह बाह्य जड विभूति भी इस आत्मभण्डारसे ही प्राप्त होती है। इस आत्मपरिणामकी निमलतासे पुण्यबध होता है, उसके उदयसे वैभव समृद्धि प्राप्त होती है तो इसका भी मूलकारण आत्मपरिणाम ही रहा। यदि आत्म-परिणामको सभाल सके तो समस्त मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसा अगर न कर सके, केवल बाह्य धनकी ओर ही आशा लगाये रहे तो समस्त सिद्धियाँ विघ्न उत्पन्न करती है। सब कुछ परिणामोपर निर्भर है। भगवानके गुणोमे अनुराग जगने से जो भगवानका भक्त बनता है उसके विशिष्ट पुण्यका बध होता है। और कोई धनकी आशा रखकर, मुकदमा जीतनेकी आशा रखकर या अन्य अन्य कुछ अधिकार प्राप्त कर लेनेकी आशा रखकर प्रभु पूजा करता है उसे पुण्यका बन्ध नही होता। वह तो भगवानमे भी अवगुण ही निरख रहा है। भगवान मुझे धनका लाभ करा दे, पुत्रादिकका लाभ करा दे, मुकदमा जिता दे, यह प्रभुमे अवगुण देखना ही तो है। तो जो लोग ऐसी आशा लेकर प्रभु की भक्ति करते है उनके पुण्यका बन्ध नही होता। जो प्रभुके गुणोका अनुरागी है, उनके स्वरूपको निरखकर ऐसा ही मेरा स्वरूप है, यही मोक्षमार्ग है, यो जो केवल उस शुद्ध तत्त्वको निरखता है ऐसे गुणानुरागकी दृष्टिसे जो प्रभुपूजन करता है उसके पुण्यका बंध होता है। जो प्रभुभक्ति करके चाहे कुछ नही उसके ऐसा पुण्य बनता है कि उसे मनो-वाञ्छित सिद्धिया प्राप्त हो जाती हैं। तो बाह्यपदार्थोकी चाह रखना यह समस्त सिद्धियोमे विघ्न करती है।

अत्यक्तसगसतानो मोक्तुमात्मानमुद्यत ।
बन्धन्नपि न जानाति स्वं घनै कर्मबन्धनै ॥८३६॥

परिग्रहवासनावासित पुरुषका अविदित घन कर्मबन्धन—जिसने परिग्रहकी वासना

नही छोडी है ऐसा पुरुष अपनेको मुक्त करनेके लिए उद्यम भी करता है परन्तु मुक्तिका काम रच भी नही होता और परिग्रहके कारण अपने आपको कर्मोसे दृढ बॉध लेता है, इस बातको नही जानता। कुछ भी आशा रखकर धर्म किया जाय तो वह जानबूझकर अपने को दृढ कर्मोसे बॉधता है। हाँ कोई तपश्चरण और ज्ञान ऊचा हो, परिणामोमें निर्मलता विशेष हो और किसी समय थोडा सा परिणाम गिर जाय और कुछ चाह ले कि मैं अमुक स्वर्गमे देव हो जाऊ तो वह बात हो तो जायगी, पर वह बात इस ढगसे हुई कि यदि वह न चाहता तो उससे भी कित ा ही उच्च पद प्राप्त करता। पर मन चाहने से कुछ होता नही है। तो जिसने देवगतिके सुख चाहा है उसने सासारिक सुख ही तो चाहा, वैषयिक सुख ही तो चाहा। जैसे मनुष्योके इन्द्रिय विषयोके सुख हुआ करते है वैसे ही वे भी सुख है। ऐसी उसकी चाह है तो वह पाप है। और, ऐसा पापका परिणाम रखने वाला पुरुष चाहे कितना ही धर्म भक्ति करे उसके पुण्यकर्म नही रहा, पापकर्म ही विशेष बधा। ऐसा तो कोई भी पुरुष न होगा जो केवल पाप ही पाप बाँधता रहता हो, कभी पापका बध अधिक किया तो कभी पुण्यका बध अधिक किया। ऐसा कोई भी मनुष्य न मिलेगा जिसने वीतराग होनेसे पहिले पुण्य ही पुण्य बाँधा हो, पाप जरा भी न बाँधा हो। चाहे साधु भी हो, पर उसने पहिले पुण्यकर्म बॉधा, और ज्ञानावरणादिक घातिया कर्मोका बन्धन तो चल ही रहा है, वे सब पाप प्रकृतिया है। तो जो पुरुष परिग्रहकी वासना रखे हुए है और अपने को मुक्त करनेके लिए कुछ धार्मिक श्रम कर रहा है तो वह यह नही जान रहा है कि मैं अन्तरंगमे तो दूषित परिणाम रखे हुए हू, मुझे मुक्ति कहाँसे मिलेगी ? मैं तो दृढ कर्मबन्धनको बाँध रहा हू। परिग्रहके लोलुपी पुरुष प्राय अन्धेके समान होते है। सत्य बात उन्हे दिखती न ी है। जो पुरुष विषयोसे अधा होता है वह आँखोके अधे पुरुषसे भी अधा है। आँखोका अधा पुरुष तो मात्र आँखोसे न देख पायेगा, पर उसका ज्ञान तो जाग्रित है, वह विवेक अविवेककी बात तो समझ सकता है। हित अहितकी तो जानकारी है लेकिन जो विषयोसे अध पुरुष है उसका विवेक नष्ट हो जाता है। हित अ ितका बोध नही रहता। तो जो विषयोका अध है वह आँखोके अधेसे भी अधिक अधा है, ऐसे पुरुषको आत्मध्यानकी कहाँ पात्रता हो सकती है ?

परमार्थ स्वगृहमें ही शरण्यताकी प्राप्ति—शरण इस जीवको अपने आत्माका ध्यान ही है। जैसे कोई पुरुष दूसरोके घरमे जाया करे और दूसरे लोग उसे मार भगाया करे तो कितने ही पर-घरोमे वह चला जाय पर उसे कोई न रखेगा, कोई उससे न कहेगा कि ठहरो यह तुम्हारा ही तो घर है। वह तो जब अपने ही घरमे पहुंचेगा तभी उसे विश्राम मिलेगा। पर-घर फिरते हुए कितना ही समय व्यतीत हो जाय पर वहाँ क्लेश ही क्लेश

पायगा, निज घरमें ही जब आयेगा अर्थात् जब निज ज्ञानानुभूतिमे आयेगा तब ही उसे विश्राम मिल सकता है। जो पुरुष परिग्रहकी वासना मनमे रखे है, परिग्रहके लोलुपी हैं वे तो आँखोके अंधेसे भी महान अंधे हैं। जिनके परिग्रहका त्याग है वे ही पुरुष साधु कहला सकते है। एक यह साधुताकी निशानी है। केवल शरीरमात्र ही जिनका परिग्रह रह गया, जो कि छोडा नही जा सकता था। और, तो सब परिग्रह छूट गए, पर इतनी उत्कृष्ट आत्मसाधना अभी नही कर पायी कि इस शरीर तकका भी परिग्रह त्याग दें। शरीरके परिग्रहका त्याग तो वह है कि फिर शरीर न धारण करना पडे। अभी तो इतना विवेक जग रहा है कि हित अहितकी बात समझ रहे हैं, वे इस शरीरका यो ही त्याग करना, अर्थात् आत्मघात करना पसद नही करते। यद्यपि वे जानते हैं कि शरीर सब दु खोकी जड है और शरीरसे ही इस आत्माकी बरबादी है, पर इस शरीरको व्यर्थमे मिटा देना अच्छा नही समझते। वे तो इस शरीरको सदाके लिए मिटाना चाहते है। यह शरीर मिटेगा रत्नत्रयके प्रतापसे। सम्यक्त्व सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी परिपूर्ण सिद्धि बने इस यत्न मे रहते है योगीजन। उनके बाह्य धन परिग्रहका कुछ भी विकल्प नही जगता। तो जो परिग्रहकी वासनासे दूर है ऐसे पुरुष ही सही मायनेमे साधु हैं और वे ही पुरुष इस नि संगता के कारण अपने आत्मतत्त्वका ध्यान करके अपने को मुक्त कर सकेंगे। जिन्हे अन्य पुरुषके परिग्रहकी लालसा है वे तो चक्षुसे अंधे पुरुषसे भी महान अंधे हैं। यह तो साधु संतोकी बात है पर गृहस्थोको भी जिनका निर्णय बना हुआ है कि परिग्रह तो साक्षात् दु खकी खान है, इसका सग अधिक करना तो अपने आपको झझटोमे फसाना है। वे गृहस्थ भी धन्य है जो अपना अधिक परिग्रह नही बढा रहे है, थोडा बहुत जो भी पासमे है उसीमे गुजारा करते हैं।

मोहके भ्रममें संकटोंका स्वामित्व—लोग तो व्यर्थमे इन परिग्रहोके पीछे होड लगा रहे है, उसमे यही बात पडी है कि वे लोग यह चाहते है कि मैं कुछ अच्छा धनिक पुरुष कहलाऊ। लेकिन सोचिये तो सही ऐसी आशा जैसी कि इन मलिन पुरुषोसे रखी जा रही है यदि प्रभुसे आशा रखी जाती तो उससे कुछ अपनी भलाई भी होती। जो पुरुष विषय-कषायोसे मलिन है, कर्मोके प्रेरे है, पापी है, अधम हैं, ससारमे रुलने वाले है ऐसे लोगोसे आशा रख रहे हैं कि ये लोग मुझे कुछ अच्छा कह दे यह कितनी बडी भूल है? यदि यह आशा रखते कि मैं भगवतोके ज्ञानमे अच्छा जच जाऊ, ऐसी आशा रखते तो भला था। इस मलिन मायामयी मनुष्य समूहसे अपने आपकी बडाईकी इच्छा रखना वह तो संसारमें पतन करने वाली वासना है। किसलिए धनसचयकी होड लगायी जाय? अरे पुण्योदयसे जो प्राप्त हो उसीमे विभाजन करके सहर्ष जीवन वितायें। धन वैभवकी आशा रखनेमे,

तृष्णा रखनेसे अनेक नुक्सान है, एक तो नुक्सान यह है कि वर्तमानमे जो मौजूद धन है उसको भी आरामसे नही भोग सकते है। और फिर दूसरेका धन ले लेना यही तो धन संचयका अर्थ है। जो दूसरेके पास है वह मेरे पास आ जाय, इसमे तो दूसरेको सतानेका भाव भरा हुआ है और फिर वह अपने आधीन नही है। जो आना होता है सो ही आता है ये जो अनेक विह्वलताए उत्पन्न हो जाती है वे ज्ञानकी कमीके कारण हो जाती है। अरे किसी तरहसे जीवन तो बीता ही जा रहा है। खूब धर्मपालन कर ले, ज्ञानार्जन कर ले और उस ज्ञानभावनासे हम अपने आपको विशुद्ध निर्मल बना लें। ऐसा जीवनका लक्ष्य होना चाहिए। इस ही लक्ष्यसे आत्माका कल्याण है। धनसग्रहकी भावना समस्त अनर्थोंका मूल है। यों परिग्रहसे विरक्त रहता हुआ गृहस्थ गृहस्थीमे रह रहा है तो वह मोक्षमार्गमे चल रहा है, उसका भविष्य उज्ज्वल है।

यदि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचल ।
न पुन संगसकीर्णो मुनि स्यात्संवृतेन्द्रिय ॥८४०॥

परिग्रहसंकीर्ण मुनिके सवृतेन्द्रियताका अभाव—मुनि भी हो और यदि परिग्रहसे सकीर्ण हो, कुछ परिग्रहका लेप हो तो वह भी जितेन्द्रिय नही हो सकता है। चाहे कभी सूर्य भी अपना प्रकाश छोड दे, और सुमेरुपर्वत भी अपनी स्थिरता छोड दे, चाहे यह सम्भव हो जाय परन्तु परिग्रहसहित मुनि कदापि इन्द्रियनिरोध करने वाला नही हो सकता। ऐसा यद्यपि सम्भव तो नही है कि सूर्य कभी अपना प्रकाश छोड दे, जैसे यहाँकी पृथ्विया हैं और और पदार्थ है वे प्रकाशहीन है इस तरह सूर्य भी कभी प्रकाशहीन हो जाय, यह तो न हो सकेगा, और सुमेरुपर्वत अनादिनिधन है, ज्योका त्यो रहता है वह वहाँसे हट नही सकता, घट बढ नही सकता, नष्ट भ्रष्ट नही हो सकता किन्तु आचार्यदेव सम्भावना अलकारमे कह रहे है कि चाहे यह असम्भव बात भी सम्भव हो जाय पर परिग्रहसहित मुनि इन्द्रियका सम्वरण नही कर सकता। और जो इन्द्रियविषयाधीन है उस पुरुषके चित्तकी स्थिरता नही बन सकती, और जब तक चित्तकी स्थिरता नही होती तब तक आत्माका ध्यान नही होता। कोई कोई लोग कभी शका करते है कि हम पूजामे बैठते है तो मन बीसो जगह जाता है उसका कारण क्या है? कारण यही है कि जब किसी एक पदार्थमे हम प्रयोगात्मक उपयोग नही दे रहे और बैठे भगवानका नाम भजन करनेके लिए तो उस समय चूंकि तत्त्वमे तो मन नही लग रहा, अतएव तत्त्वमे चित्त नही है और बाह्यपदार्थोंमे, कामकाजोमे हम अलग बैठे है ऐसी स्थितिमे यह चित्त उन सब जगह जायगा जहाँ अपनेमे संस्कार बसा हुआ हो। चित्त बाहर न जाय, अपने आत्मामे मग्न हो जाय उसके लिए विषयोको विजय करना होगा। इन्द्रियविषयोमे उपयोग न लगे और कषायोमे भी चित्त न जाय ऐसी स्थिति करनी

होगी। यह बात बन सकेगी परिग्रहके त्यागसे। जिस गृहस्थको जितना भी परिग्रह लगा है, लाख वाला लाख जैसी चिन्ता उद्वेग रखता है, करोड वाला करोड जैसी चिन्ता उद्वेग रखता है। इस परिग्रहका सम्बन्ध ही चित्तकी व्यग्रताको उत्पन्न कर देता है। राजा महाराजा लोग इतने व्यग्र हो जाते कि उन्हे रात्रिको निद्रा भी नही आती और एक गरीब जो चार आने आठ आने रोज कमा पाता है और उसमे ही गुजारा करके सन्तुष्ट रहता है, तो खूब अच्छी नीदसे सोया करता है। जिसे जितना वैभव मिला है उसकी उतनी अधिक तृष्णा बढती है और जब किसी भी बातकी तृष्णा रहती है तो चित्त उद्विग्न रहता है। चाहे धनकी चिन्ता हो, किसी भी प्रकारकी चिन्ता हो इस जीवको विह्वल बना देती है। जिसके साथ परिग्रह लगा है वह ध्यान करनेका पात्र नही बन सकता ऐसा यहाँ कह रहे हैं। इन्द्रियविषयोका विजयी भी नही बन सकता। जिन्हे आत्मध्यानकी चाह हो उनका कर्तव्य है कि वे परिग्रहसे पूर्ण प्रयत्न भर दूर रहे। लोकमे आत्मध्यान ही एक मात्र जीवका शरण है बाहरमे कहाँ दृष्टि दे? अपनेको निष्परिग्रह बनानेका अधिकाधिक प्रयत्न करे। गृहस्थावस्थामे यह परिग्रह दूर नही किया जा सकता है तो मान्यता तो सही बनायी जा सकती है। अणुमात्र भी मेरा कही कुछ नही है ऐसी बात सत्य भी है और इस रूप ही अपना निर्णय बना ले तो इस निर्णयके कारण गृहस्थीमे ही यथासम्भव आनन्द रह सकता है।

बाह्यानपि च य सङ्गान्परित्यक्तुमनीश्वर।
स क्लीब कर्मणा सैन्य कथमग्रे हनिष्यति ॥८४१॥

बाह्यपरिग्रहके त्यागमें भी कातर रहने वालेके निवृत्तिकी असंभवता--जो पुरुष बाह्यपरिग्रहको भी छोडनेमे असमर्थ है, कायर है वह आगे कर्मोकी सेनाको कैसे हनेगा? इस जीवपर कर्म छाये हुए हैं यह बहुत बडे सकटकी बात है। कर्मसेनाको दूर करनेका बहुत बडा काम इस जीवको पडा है क्योकि यह कर्म बैरी यदि जीवके साथ रहेगा तो भव भवमे जन्म मरण कराकर सुख दु ख भोगकर इस जीवको बरबाद ही करता रहता है। बहुत बडा काम पडा है कर्मसेनाको जीतनेका। पूजामे प्रारम्भसे अन्त तक यही तो पढते हैं कि मेरे समस्त भावकर्म एव द्रव्यकर्म नष्ट हो जाये, मेरे जन्म जरा मरण दूर हो, ससारका सताप दूर हो, अक्षय अविनाशी पदकी प्राप्ति हो, समस्त विकार मेरे दूर हो, अष्टकर्मोका विध्वस हो, मोहाधकारका विनाश हो, ये ही सब भावनाए तो हम प्रभुपूजामे करते हैं और इन्ही भावोको बनानेके लिए द्रव्यका सहारा लेते हैं। तो यह काम सबसे बडा करनेका है। लोकमे इज्जत चाहने, गृहव्यवस्था बनाने आदिके काम तो आवश्यक काम नही है। यह सब तो मायाजाल है। यहाँ जीवको करनेका सबसे बडा काम है कर्मरूपी सेनाको परास्त कर देना, कर्मका विनाश कर देना, इतने बडे कामको करनेके लिए यदि समस्त बाह्य एव आभ्यतर

परिग्रहोका त्याग कर दिया जाय तो यह कोई बडी बात कर ली क्या ? इत ा तो करना ही होगा । जो बाह्यपरिग्रहोका भी त्याग नही कर सकते वे कर्मबैरियोको आगे जीतेंगे ही क्या ? तो इन परिग्रहोके त्याग करनेसे भी बढकर कर्मबैरियोको जीतनेका एक उत्कृष्ट काम पडा हुआ है, साथ ही अपनेको अहकाररहित एकाकी चैतन्यमात्र अनुभव करना आदिक बडे बडे काम करनेको पडे है । बाह्यपरिग्रहोका त्याग कर देना इन सब कामोके मुकाबले बहुत सीधा और छोटा काम है । बाह्यपरिग्रहोका जो जीव त्याग न कर सके वह तो कायर है । अध्यात्मक्षेत्रमे मुक्तिके मार्गमे वह कायर मनुष्य फिर कर्मकी सेनाको कैसे दूर कर सकता है ? मुक्तिके कर्तव्यके लिए सबसे प्रथम और सीधा मामूलीसा यह काम है कि सर्व-परिग्रहोका त्याग कर दे । जो जीव मोक्ष प्राप्त करना चाहते है वे शुक्लध्यान प्रकट करे, जिसमे रागद्वेषकी कणिका भी न हो ऐसा पवित्र उत्तम ध्यान बनाये और उससे पहिले उत्तम धर्मध्यान बनाये, कषायोको जीते, विषयोके विकल्पोसे हटे, इतने विशाल काम करनेको पडे है । कोई मुनि बाह्यपरिग्रहका भी त्याग सही ढंगसे न कर सके तो फिर आगेके बडे कार्यो को करेगा ही क्या ? अपनेको सहज शुद्ध ज्ञानानदस्वभावमात्र निर्मल अनुभव किए बिना मुक्ति नही मिल सकती, और ऐसा ध्यान बनानेके लिए अपनेको नि सग अनुभव करना होगा । मैं तो मात्र मैं ही हू, अन्यरूप नही हू, मेरा अन्य कुछ नही है । मेरा स्वरूप मेरा स्वभाव सर्वस्व है, ऐसा अनुभव करनेके लिए सर्वपरिग्रहका त्याग करना आवश्यक है ।

स्मरभोगीन्द्रवल्मीक रागाद्यरिनिकेतनम् ।
क्रीडास्पदमविद्याना बुधैर्वित्त प्रकीर्तितम् ॥८४२॥

धनकी कामसर्पवल्मीकसदृशता—विद्वान पुरुषोने धनको कामरूपी सर्पकी बामी बताया है । जैसे बामी सर्पके रहनेका घर है । बामीमे बडी निर्भयतासे सर्प रहता है, ऐसे ही यह धन कामविकारका घर है । बामीमे बडी निर्भयतासे सर्प रहता है, ऐसे ही यह धन कामविकारका घर है । किनके लिए धन जोडा जा रहा है ? कुछ तो उद्देश्य होगा । मैं धन को जोडू और फिर खूब दान करूँ, ऐसा जिनके भाव है वे दानका सही स्वरूप नही समझे । वह तो एक यश जैसी प्राप्त करनेकी बात है । धनसंचय करनेका अभिप्राय विषय साधन है । यो कोई थोडा समझदार हो तो मनके विषयका साधन है । मनका विषय है यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, नामवरी आदिक । और, प्राय करके बहुतायतसे मनुष्य जो धनसचय करता है उसका प्रयोजन केवल कामसाधना, मौज मानना विषयोका साधन ही उनके धन सचय करनेका उद्देश्य है । जब यह बात बिल्कुल सही बैठ गई कि जैसे सर्पके रहनेका घर बामी होती है इसी प्रकार काम आदिक विकारोके बसनेका घर धन होता है । एक लौकिक कथामे बताया है कि एक सन्यासी नामका व्यक्ति एक नगरमे रहता था, वह सत्तू मागकर

लाता था और सत्तूकी पोटली खूटी पर टाग देता था, किन्तु उस झोपडीमे एक ऐसा बलवान तगडा चूहा रहता था कि वह उछलकर उसी पोटलीपर पहुच जाता और मनमाना सत्तू खाता था। सन्यासी रोज बडा हैरान रहता। वह नही समझ पाता कि मेरे सत्तू रोज रोज कौन बिगाड जाता। एक दिन तक कर देखा तो वही चूहा आते हुए दिख गया। समझ गया कि यह चूहा ही रोज रोज हमारे सत्तू बिगाड जाता है। सो उसने उस चूहाके घरको ही उजाड देनेकी सोचा। आखिर जब वह उस चूहे के गड्ढेको खोदकर बहाने लगा तो उसमे बडा धन मिला। वह धन चूहा कहीसे ले आया था। उस धनके ही कारण वह चूहा अपने को सुखी मानता था और खूब तगडा हो रहा था। जब मन प्रसन्न होता है तो स्वास्थ्य अच्छा बनता है। हालॉकि उस चूहेके काम वह धन नही आता पर धन तो सभी को प्रिय है ना। इन बच्चे लोगोको भी धन बडा प्रिय है, तो उस धनको उस सन्यासी ने बटोर लिया। जब चूहे को वह धन न मिला तो बडा चिन्तातुर हो गया, यहाँ तक कि उसका खाना पीना भी छूट गया। इतना उसे क्लेश पहुचा। कुछ ही दिनोमे वह अत्यन्त दुर्बल हो गया। तो यह धन नाना विषयोका साधन होता है। नाना कामविकारोका घर यह धन है। जब बहुत धन जुड जाता है तो राजा महाराजा लोग एक क्या सैकडो स्त्रिया रख लेते है। और, ऐसी ऐसी अनेक कहानिया भी मिलती हैं। तो यह धन कामादिक विकारो का घर है, जैसे सर्पका घर बामी है।

धनकी अविद्याक्रीडास्पदता तथा रागाद्यरिनिकेतनता—यह धन रागादिक शत्रुवोके रहनेका घर है। जैसे कोई लापरवाह पुरुष अपने आपके घरमे शत्रुको आरामसे रहने दे तो उसे कोई विवेकी न कहेगा। इसी तरह यह मलिन आत्मा भी रागादिक भावोको रहनेके लिए अपना घर दिए हुए है। अर्थात् आत्मप्रदेशोमे ही ये रागादिक बस रहे हैं, यह आत्मा इसीलिए मूढ कहलाता है, मोही है, अज्ञानी है और उन रागादिकके रहनेके लिए वे सुविधा पूर्वक रह सकें उसका साधन है धन। अतएव रागादिक दुश्योके रहनेका यह घर है धन और अविद्याकी क्रीडा करनेका स्थान है। जैसे कोई पार्क होता है, सभी लोग खेला करते है ऐसे ही यह धन भी अविद्याका अज्ञानताका खूब जी भरकर खेलनेका स्थान है। धनसे अविद्या बढती है। यो यह परिग्रह आत्माके अनर्थका कारण है ऐसा जानकर साधु सतजन जिन्हे आत्मतत्त्वकी उपासना की तीव्र उत्सुकता जगती है जिस कर्तव्यके सामने अन्य सब सासारिक कार्य झझट मालूम होते है ऐसे एक अन्तस्तत्त्वके अनुभवके रुचिया साधुसत पुरुषोको यह परिग्रह रच भी नही रुचता। वे तो अपनेको निष्परिग्रह रखते हैं, बाह्यपरिग्रहोका त्याग कर देते हैं और अपने अन्तरङ्गमे भी विषयकषायोके भावको नही आने देते। यो विद्वान पुरुषोने इस धन वैभवको कामरूपी सर्पकी बामी कहा है। रागादिक

दुश्मनोंके रहनेका ठौर बताया है और अविद्याकी क्रीडा करनेका स्थान बताया है। अर्थात् इस धनके कारण बडे बडे अनर्थ होते हैं, इस धन वैभवको त्यागकर साधुजन निजपरमात्मतत्त्वकी निरन्तर उपासना ही किया करते है।

अत्यल्पे धनजम्बाले निमग्नो गुणवानपि।
जगत्यस्मिन् जन क्षिप्र दोषलक्षैं कलङ्क्यते ॥८४३॥

धनपङ्कमें निमग्न गुणी पुरुषके भी कलङ्कितता—इस धनरूपी कीचडमे फसे हुए बडे गुणवान पुरुष भी दोषोसे कलंकित हो जाते है अर्थात् थोडे भी धनसे कालिमा लग जाती है। इस धनके कारण लोग कितनी ही शंकायें कर डालते है। किसीका बैंकमे रुपया जमा है तो वह सोचता है कि कही ऐसा न हो कि धन न मिले। धनके कारण आसपास ठहरे हुए लोगोके प्रति भी बडी बडी शकाये हो जाती है। अपने गुरुके प्रति, माता पिताके प्रति, भाई बहिनके प्रति इस धनके कारण न जाने कैसी कैसी शकाएं हो जाती है? कही यह मेरा धन रख न ले, चुरा न ले, यो अनेक शकाये हो जाती है। अरे भला बतावो माता पिता उस धन को रखकर करेगे क्या? कहाँ धन ले जायेगे, उनके तो जीवनके अन्तिम दिन निकट है पर उनके प्रति भी लोग शकाये कर डालते है। हाँ यदि कोई पुत्र कुपूत हो, अपने मा बापको दुख देता हो तो भले ही मा बाप ऐसा सोचें कि यह सारा धन अपने ही पास दबाकर रखो, इस पुत्रको न दो, नही तो शीघ्र ही गवा देगा। यह तो ठीक है, पर मां बापके प्रति भी लोगोकी जो दूषित भावनाए बनती हैं उन सबका कारण यह धन है। यदि धन समीप है तो लोग माँ बापपर भी अजीब शकाएँ कर डालते है। और, एक ही बात क्या, थोडा भी धनका सम्बन्ध बने तो लाखो ऐब उसमे आ जाते है। किसी दूसरेको अपने समान न निरखना, दूसरोको लघु समझना, खुदमे अभिमान आ जाना ये सारे ऐब धनके सम्बन्धसे आ जाते है। तो भला यह वतलावो कि धनका सम्बन्ध रहते हुए कोई साधु मुक्तिके मार्गमे चल सके, यह बात कैसे हो सकती है? साधु सतोके इस कर्तव्यको आचार्यदेव समझा रहे है, थोडासा भी धनरूपी कीचड हो, उसमे फंसा हुआ मुनि इस जगतके तत्काल लाखो दोषोंसे कलकित हो जाता है, अतएव धनका लोभ न रखे और एक विशुद्ध आत्मस्वरूपकी उपासना मे लगें।

सन्न्यस्तसर्वसङ्गेभ्यो गुरुभ्योऽप्यतिशक्यते।
धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न मुच्यते ॥८४४॥

धनरक्षाभिलाषी धनिकोंके गुरुजनोंपर भी शंकाका भाव—धनाढ्य पुरुष ऐसे गुरुवो पर भी शका करने लगते है जो गुरु समस्त परिग्रहोके त्यागी है, जिनका केवल अपने ज्ञान ध्यानसे प्रयोजन है, लेकिन वे गुरु भी निकट हो किसी धन वालेके पास तो वे धनाढ्य पुरुष

ऐसे गुरवोपर भी शका कर सकते है। हम जा रहे है सामान छोडकर जगल दिशा, कही हमारी अमुक चीज साधु ले न ले, ऐसी अटपट शकाए भी लोग कर डालते हैं। धनाढ्य पुरुष धनकी रक्षाके लिए रात्रिको सोते भी नही है, कोई मेरा धन न ले जाय ऐसी शका उनके निरन्तर बनी रही है। किसी एक सेठको किसी चोरने अपने घरमे स्वागतसे बैठाल रखा था, उस सेठके अगुलीमे एक अगूठी थी, उस अगूठीमे एक कीमती हीरा जडा हुआ था। वह चोर उस अगूठीका हीरा किसी प्रकारसे निकालना चाहता था। लेकिन वह सेठ भी बडा चतुर था। जब रात्रिको सोने चले तो उस चोरकी पोटलीमे अपनी वह अगूठी छिपाकर रख दे। रात्रिको वह सेठ खूब सोये। वह चोर सेठके सारे कपडे छान डाले पर कही वह अगूठी न दिखे। यो कई दिन बीत गए। अन्तमे सेठसे कहा चोरने कि सेठ जी अब हम तुम्हारा कुछ न करेगे, सिर्फ एक बात बता दो कि यह क्या बात है कि तुम्हारी अगुलीमे पडी हुई अगूठी रात्रिको तुम्हारे पास नही रहती और सवेरा होते ही तुम्हारे हाथ मे अगूठी दिखती है। इसमे क्या रहस्य है ? तो सेठने बताया कि इस अगूठीको हम सोते समय तुम्हारी अमुक पोटलीमे रख देते थे। तुम अपनी पोटलीमे तो देखते न थे, वह रक्षित रखी रहा करती थी, हम चैनसे सोते रहते थे और सवेरा होते ही झट पहिन लेते थे। तो यह धन जब तक निकट रहता है तब तक नीद नही आती, अनेक शकायें बनी रहती हैं, तो इस परिग्रहके रहते हुए धर्मध्यान सम्भव नही है। अत धर्मध्यान करने वालेको परिग्रहसे पूर्ण रहित होना चाहिए।

सुतस्वजनभूपालदुष्टचौरारिविड्वरात् ।
बन्धुमित्रकलत्रेभ्यो धनिभि शक्यते भृशम् ॥८४५॥

धनियोंके सर्वत्र शंकाका संताप— जिसके परिग्रह लगा हुआ है, धन वैभव अधिक है उसमे मूर्छा भी है ऐसा पुरुष पुत्रादिक सभी प्रकारके लोगोसे शकित रहा करता है। धनिको को अपने पुत्रोसे भी शका रहती है। कदाचित यह तृष्णावश बहुतसा वैभव जोड ले या कब्जेमे कर ले तो फिर न उतना बडप्पन रहेगा और न जीवन सुखसे व्यतीत होगा, ऐसा जो सदेह रहता है, पुत्रसे शकित रहता है वह धन वैभवके कारण ही तो रहता है। यहाँ परिग्रहका प्रभाव बतला रहे है कि परिग्रहसे कितने अनर्थ होते हैं। कोई पुरुष यदि अपने आपके विशुद्ध आत्मस्वरूपका निर्णय कर ले कि मैं तो इस देहसे भी न्यारा केवल ज्ञानमात्र हू तो उसे किसी भी परिस्थितिमे विघ्न नही आ सकता। जो लोग विकृत रहा करते हैं वह सब उनके अज्ञानका फल है। परिस्थिति क्या चीज है ? बडी बडी परिस्थितियोमे यह जीव अपना गुजारा कर लेता है, कीडा मकोडा पशुपक्षी ये भी तो जीव हैं, उनका भी गुजारा चलता है। कुत्ता बिल्ली आदिकका कोई स्वामी तो नही

लेकिन वे भी अपना गुजारा कर लेते है। मनुष्योमे भी जो गरीब है दरिद्र है वे भी येन केन प्रकारेण अपना गुजारा करते हैं। तो गुजारेकी चिन्ता उतनी नही है मनुष्यको जितनी अपनी लोकप्रतिष्ठा और बडप्पनकी चिन्ता है। मेरा लोकमे नाम हो, मैं वैभवशाली कहलाऊँ और यह पता नही कि इस समय भी यह वैभवसे जुदा है और मरण करके तो एकदम ही अलग हो जायगा। जहाँ धन वैभवका अधिक सम्बन्ध है वहाँ लोगोके प्रति अधिक शंकाये बनी रहा करती हैं, भाई बहिन आदिक ये कही हमारा वैभव हडप न ले, मैं निर्धन रहकर फिर इस लोकमे कैसे जीवन बिताऊँगा ऐसी शका किया करते है। राजासे धनिक लोग शंकित रहा ही करते हैं। एक तो टैक्सकी भरमार है, और अपना बडप्पन दिखाते है। अगर मालूम पड गया कि यह बहुत धनिक है, इसका कारबार अच्छा है ऐसा विदित होने पर और अधिक टैक्स देना पडेगा, और वैसे ही जब राजाको जरूरत हो तो न भी टैक्समे न्याय बैठता हो तो भी जितना चाहे ले सकते है। सरकारको यदि किसी आपत्तिके समय किसी भी पब्लिकसे जो भी जरूरत हो वह ले सकते है। कोई बडा मकान है, और और है, वहाँ किसीको ठहराना है या कुछ भी वैभव हो सब ले सकते है, तब शका वाली ही बात तो रही। भले ही मौका नही रहा कि सरकार सब छुटा ले लेकिन कानूनमे तो है कि सरकारको कभी आपत्ति आये तो सब कुछ जिस चाहेका ले सकती है। तो धनिक लोग राजासे भी शकित रहते हैं। दुष्टजनोकी शका हमेशा बनी रहती है। जो गुंडा लोग है, मरने मारने को तैयार रहते हैं ऐसे पुरुषोसे धनिकको सदा शका रहती है। कोई चोर हो गए, डाकू हो गए तो उनसे सदा शका बनी रहती है। अभी ही पासके कादला गाँवमे एक धनिकके यहाँ डाका पडा तो डाकुवोने घरके सभी लोगोको जख्मी कर डाला और जो कुछ भी धन था वह सब ले गए। अब सोचो उनका चित्त क्या कहता होगा ? सच पूछो तो गरीब जन बहुत सुखी है पर नही ऐसा अनुभव करना चाहते। अपनेसे अधिककी ओर दृष्टि रहनेसे अन्तरमे साताका परिणाम नही रहता। इस धन वैभवके कारण चोर डाकू बैरी इन सबसे शका बनी रहती है। बैरी न जाने कब अपना बैर भजाये, ये सब शकाये धन वैभवके कारण रहा करती है।

धनिकोंके स्वजनोंमें भी शंका—धन प्रसंगमे स्त्री तकसे भी शका रहती है। बहुत सी कीमती चीजे स्त्रीसे भी छुपाकर रखते है धनिक लोग। एक तो यहाँ तक अविश्वास कर डालते हैं, आखिर वह स्त्री ले कहाँ जायेगी, लेकिन यह शका हो जाती कि कदाचित इसका चित्त पलट जाय और मुझसे विपरीत हो जाय, अन्य जगह इसका चित्त लग जाय तो किसीको भी यह वैभव दे सकती है, यो अनेक शकाये हो जाती है। मित्रसे भी शंका हो जाती है। भले ही वह मित्र विश्वासपात्र है लेकिन किसी भी समय इसका चित्त बदल

सकता है और जितने लोग भी धोखा देते है वे विश्वासपात्र बनकर ही तो धोखा दे पाते है। आपका बडा विश्वासी कोई मैनेजर मुनीम बना है। आपके भलेकी ही बात वह सदा सोचा करता है, आपसे वडा अधिक प्रेम कर रहा है तो इतना अधिक प्रेम वह आपसे क्यो कर रहा है ? यदि कोई सीमासे अधिक प्रेम करे तो उसमे भी यही समझ लेना चाहिए कि इसमे कोई हमारे धोखेकी बात है। मित्रजन विश्वासपात्र बनकर ही तो धोखा दिया करते है। धन वैभवके कारण धनिक लोग इनसभी से शकित रहा करते है। परिग्रह ऐसी चीज है, और जो शका उत्पन्न करने वाली वस्तु है उसके रखते हुए आत्मा नि शल्य कैसे हो सकता है ? आत्मध्यानके लिए अपना प्रयत्न वह कैसे कर सकता है ? तो जो उत्तम शरण-भूत तत्त्व है आत्मध्यान उसमे महा बाधा डालने वाला परिग्रह है, इस कारण विवेकी साधुजन समस्त परिग्रहोका त्याग करके आत्मध्यानमे उपयोगी रहा करते हैं।

कर्म बध्नाति यज्जीवो धनाशाकश्मलीकृत ।
तस्य शान्तिर्यदि क्लेशद्बहुभिर्जन्मकोटिभि ॥८४६॥

धनाशासे मलिन होनेका परिणाम—यह जीव धन वैभवकी आशा रखकर मलिन बनकर जितने कर्म बाँधता है उन कर्मोकी शान्ति करोडो जन्मोमे बडे कष्टसे हो पाती है। एक जन्मका बाधा हुआ कर्म अनेक जन्मोमे वडे क्लेश भोगने पर ही छूटता है। देखिये गल्ती है एक सेकेण्डभरकी, कोई पापका विचार आ गया अब उस एक सेकेण्ड की गल्तीमे जितने कर्म बधे वे कर्म सैकडो जन्मोमे क्लेश देकर छूटेगे। और, अपराधोमे मुख्य अपराध है परपदार्थोकी आशा बनाये रखना। वैभवकी चिन्तामे जो आशा बन रही है उससे यह चित्त निज परमात्मस्वरूपसे विमुख रहा करता है। जहाँ बाहर-बाहर ही यह उपयोग रहा तो वही तो पाप है। अपनेको न समझना, परमात्मस्वरूपपर दृष्टि न रहना और बाह्य-पदार्थोकी ओर आकर्षण रहना यही तो पाप है, इसमे जो कर्म बधते है वे अनेक जन्मोमे बडे-बडे क्लेश भोगकर मुश्किलसे छूटते है। जिस परपरिग्रहके लिए मोहीजन इतना व्यग्र रहा करते है यह भी मिले वह भी मिले, कभी उनकी तृष्णाका अन्त नही रहता उस परिग्रहका यह फल है। और, तृष्णाका अन्त तब तक नही हो सकता जब तक ज्ञानका अभ्युदय न हो। मैं केवलज्ञान मात्र हू, मेरा किसी अन्य पदार्थमे कुछ कर्तव्य नही है, किसी परपदार्थकी परिणतिसे मेरेमे कुछ सुधार विगाड नही। प्रत्येक पदार्थ स्वतत्रता है। किसी परकी तृष्णासे मेरी महिमा नही, मेरा महत्त्व तो मेरे ज्ञान और आनन्दके विकास रहनेमे है। ऐसा निर्णय जब तक नही हो पाता तब तक परपदार्थोकी आशा बनी रहा करती है। इन परपदार्थोकी आशा बनी रहनेसे जो कर्मबन्ध होता है वे कर्मबध भव भवके दु खके कारण बनते है। फिर देखा होगा उसमे जो कर्म बध गया वह अनेक जन्मो के लिए बध

गया, इस तरह अज्ञानवश जीवमें जन्ममरणकी और उनके भोगनेकी परम्परा बनी रहती है। इन सब विपत्तियो का तांता तोडना हो तो केवल एक ही काम करे। निजको निज समझ लें। मैं मात्र ज्ञानज्योति स्वरूप हू मेरा कर्तव्य इस ज्ञानका जो परिणमन है उतना ही मात्र है। मेरा भोग उपभोग मेरे ज्ञानमे जो अनुभव बनता है उतना ही मात्र है। इससे बाहर किसी अन्य पदार्थका न मै कर्ता हूं और न भोक्ता हू। मैं सबसे न्यारा परमात्मस्वरूप हूँ ऐसा अपना अन्त ज्ञा र बने तो ऐसा पापकर्म दूर हो और आत्माका उद्धार हो।

सर्वसगविनिर्मुक्त संवृताक्ष. स्थिराशय ।
धत्ते ध्यानधुरा धीर संयमी बीरवर्णिताम् ॥८४७॥

निःसङ्गता और इन्द्रियविजयताके बलसे ध्यानधुराके धारणकी क्षमता—जो पुरुष समस्त परिग्रहोसे रहित हो और जिसने इन्द्रियका सम्हाल कर लिया हो अर्थात् इन्द्रिय-विषयोमे अपने मनको नही लगाया ऐसी जिसके स्थिरता जगी हो ऐसी स्थिरता चित्त संयमी पुरुष ही वीर पुरुषके द्वारा कहे हुए ध्यानकी धुराको धारण करनेमे समर्थ हो सकता है। ध्यानमे एकाग्र चित्त उसका ही तो रहेगा जिसका किसी परमे चित्त नही रहता, परकी चिन्ता नही रहती। परकी चिन्ता न रहने देनेके लिए परका त्याग करना होगा। तो जो परिग्रहसे रहित है वही ध्यानमे सफल हो सकता है। जिसे इन्द्रियविषयोमे आसक्ति नही है वही ध्यानमे सफल हो सकता है। आत्मध्यान कर लेना यह कोई कठिन बात नही है। आत्मा तो यह स्वयं ही है। स्वय यह अपने आपको न जान सके, स्वयं अपने आपके निकट न ठहर सके, यह तो एक अचरजकी बात है। बस जो गल्ती कर रहे है उस गल्तीको छोड दे। गल्ती यही है कि इन्द्रियके विषयोमे प्रेम जग गया है, स्पर्शनइन्द्रियके विषय कामसेवन, रसनाइन्द्रियका विषय, रसीले स्वादिष्ट भोजन, घ्राणेन्द्रियका विषय इत्र फुलेल सुगधित पदार्थोका रखना, उनका गध लेना, चक्षुइन्द्रियका विषय जो रूप सुन्दर लगे, मनको सुहावना लगे उसे निरखते रहना, राग भरी बातोके सुननेमे प्रीति जगना यही सब है अपराध। इन अपराधोके करते हुएमे आत्मध्यान होना तो अशक्य है। अपराधभर न करे फिर किसी भी प्रकारकी विपत्ति नही है। आत्मध्यान आपका आपके ही पास है।

गृहस्थावस्थामें भी विवेक होनेसे ध्यानकी एकदेश सिद्धि—गृहस्थावस्थामे यद्यपि कुटुम्बीजन अनेक है पर क्या तुम्हे उनके कर्मो पर विश्वास नही है। उनके साथ भी कर्म लगे है या नही ? बल्कि आपसे भी अच्छे कर्म है उनके। पुण्य विशेष है जो उनके आराम के लिए बडे-बडे श्रम करके चिन्ता करके विषय भोगकर क्लेश उठाकर उनका पालन पोषण करते है। तो सबके भाग्यका विश्वास रखो, चिन्ताकी क्या बात ? जिसका जैसा भाग्य है, होनहार है उसके अनुकूल अनायास जरासे श्रममे ही व्यवस्था बन जायगी, और फिर कर्तव्य

आपका काम है, उसमे भाग्यानुसार सब बातें होती है। हाँ कर्तव्य कुछ न करे, आलस्यमे आकर पडा रहे, उल्टा उल्टा ही चले और फिर दुःखी हो तो यह जरा मूर्खताकी बात होगी, फिर अपने सदाचारसे रहे, कर्तव्यका पालन करे तिसपर भी नही उदय ठीक आता है तो उसमे समतापरिणाम रखे तो यही एक बडा तपश्चरण हो गया। कर्मोकी निर्जरा होगी। है क्या ? यहाँ ससारमे कोई चीज विश्वासके योग्य नही है, आज जो छोटा है वह सदा छोटा ही रहे ऐसी बात नही है अथवा जो आज बडा है वह बडा ही रहे ऐसी भी बात नही है। यहाके ऊँच नीचका, छोटे बडेका क्या विश्वास करना, और क्या उसका अनुभव रखना। ये सब समय समयकी परिणतिया है। आत्मा तो सदा काल रहने वाला है, अमर है, स्वरक्षित है। वह तो जो है सो है। वहाँ कोई बाधा नही है, विपत्ति नही है। उस ज्ञानप्रकाशसे छिगे और बाहरके इस झूठे उजेलेमे जो कि वास्तवमे अधकार है उसकी ओर भागे कि सारी विपदाये सिरपर मडरा जाती हैं, जो इन्द्रियके विषयोमे प्रेम न करे और निर्विषय ज्ञानमात्र अपने आपकी प्रतीति रखे, सबसे निराला हू मैं, मेरी दुनिया सबसे निराली है, अलौकिक विलक्षण शान्तरससे भरपूर मेरा सर्वस्व मुझमे है, इस तरहकी प्रतीति करे तो उसको कहाँ क्लेश है। रही बाहरकी बातें, कुटुम्ब है, वैभव है, कुछ है अपना ? व्यवस्थाके समयकी बात अलग है। और, जहाँ आत्मचिन्तन, आत्मधर्मपालनका काम किया जा रहा है उस समयकी बात तो सबसे विलक्षण होना चाहिए। ठीक उसी भाँति हैं ये घर के लोग जिस भाँति दुनियाके सभी जीव है। जैसे ये मुझसे भिन्न है इसी प्रकार ये सभी सुजन मुझसे अत्यन्त भिन्न है। ऐसा सबसे निराला ज्ञानज्योतिमात्र अपने आपको जो निरखता है और इसी ज्ञानके कारण इन्द्रियके विषयोमे आसक्त नही होता है उसका चित्त आत्महितके लिए स्थिर होगा और वही सयमी साधु भगवानके द्वारा प्रणीत ध्यानकी धुरा को धारण करनेमे समर्थ है। तात्पर्य यह है कि परिग्रहके त्यागे बिना और इन्द्रियविषयोका परिहार किये बिना आत्मध्यानकी सिद्धि नही हो सकती। यह बात मुनिजन तो पूर्णरूपसे करते है, पर गृहस्थ भी तो उसे कहते हैं जो मुनिधर्मकी उपासना करे। आन्तरिक मोक्षमार्ग जो मुनि निभा रहे हैं उसे गृहस्थ भी तो अपनी शक्तिके अनुसार निभाये, ऐसा करनेके लिए सम्यग्ज्ञान बनाना चाहिए कि मैं स्वरूपसे निष्परिग्रह हू, परिग्रहमे ममता न रहे तो मैं अपने स्वरूपप्रकाशको अपने ज्ञानमे अनुभव सकता हू और इस ही ज्ञानानुभवमे ससारके सकटोका विनाश करनेकी सामर्थ्य है और यही मेरे लिए वास्तविक शरणभूत है।

सगपङ्कात्समुत्तीर्णो नैराश्यमवलम्बते।
ततो नाक्रम्यते दुःखैं पारतन्त्र्यैं क्वचिन्मुनि ॥८४८॥

परिग्रह पङ्कसे समुत्तीर्ण मुनिकी अदुःखरूपता—जो मुनि परिग्रहरूपी करदमसे निकल

गया हो वही निष्परिग्रहताका आलम्बन ले सकता है। निष्परिग्रहता, निराश्रता, किसी भी परपदार्थकी इच्छा न रही यह बात तब सम्भव है जब सम्यग्ज्ञान जगा हो, मूर्छा परिणाम हट गया हो, और परिग्रहका त्याग कर दिया हो। साधुजन परिग्रहके सर्वथा त्यागी होने से इतना निष्पृह रहते है कि वे अपने उदरपूर्तिके लिए भी कुछ परिग्रह नही रखते और साथ ही चूंकि आत्महितकी भावना है अतएव शुद्ध निर्दोष सविधि आहार मरनेकी प्रतिज्ञा रखते है। कदाचित कही विधिपूर्वक आहार मिल जाय तो अपने ही हाथमे ग्रास लेकर भोजन कर लेते, बर्तन तकका उपयोग नही करते। इतनी निष्पृहता है कि वे किसी भी परिस्थितिमे शरीरका शृङ्गार, आराम मौज मानना ये विकल्प नही रखते, केवल एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मप्रकाशके ध्यानमे ही धुन बनी रहा करती है, तो यह परिग्रहत्यागका ही तो फल है। जब निष्पृहता जग जाती है तो फिर वह मुनि परतत्रताके दुखसे नही घेरा जा सकता है। जीवोको दुख केवल परतत्रताका ही है। चित्तमे यह भाव आया कि मैं परतत्र हू, दूसरेके आधीन हू बस इस ही भावका फल है दुख। यह अज्ञानी यह विचार नही करता कि इस ससारमे स्वतंत्र है कौन, जिसको निरखकर मैं ऐसा मानूं कि यह देखो एकदम स्वतत्र है और मै परतत्र हू। यहाँ सभी परतत्र है। मालिक, नौकर, स्त्री, पुत्र, पिता आदिक सभी परतत्र है, और जो अधिकारीजन है, प्रधानमत्री है वे भी परतत्र है, उनका भी प्रोग्राम समिति बनाती है। इस समय यहाँ बैठेंगे, उस समय वहाँ जायेगे। तो स्वतत्र है कौन यहाँ जिसको निरखकर हम ऐसी कल्पना बनाये कि मैं बडा परतन्त्र हू, मुझे बडा क्लेश है। सब किसी न किसी ढगसे परतत्र है और इस संसार अवस्थामे इन दृश्यमान मनुष्योंमे, इन लौकिक महिमा वाले राजा महाराजाओमे जिनको हम आप स्वतंत्र समझते है वे इन दीन दरिद्र लोगोकी अपेक्षा भी अधिक परतत्र है, और परतंत्रताका ही दुख है। सबके दुख न्यारे-न्यारे किस्मके है, और जो जितना धनिक है, जो जितने परिग्रहका है या जो जितना प्रतिष्ठित है या जो जितना उच्च अधिकारी है वह उतना परतत्र है, उसका क्लेश और भी अधिक है। जहाँ परपदार्थोंमे व्यासक्ति हो, अपने नाम और यशमे प्रेम हो वहाँ परतत्रता आ ही जाती है।

परिग्रहपरिहार होनेके कारण प्राप्त नैराश्यामृतके पानसे पारतन्त्र्यका अभाव—मुनिजन सर्वसे अपनेको न्यारा अनुभव करते है, जो निष्परिग्रह है उन्हे परिग्रहकी कोई चाह नही, यश कीर्तिकी भी उन्हे रच चाह नही है। ऐसे निष्परिग्रह साधु ही नैराश्यके बलपर अपनी स्वतत्रताका आनन्द भोग सकते है। तात्पर्य यह है कि जब तक किसी परपदार्थकी आशा लग रही है तब तक पराधीनता बन रही है। जिस पदार्थकी आशा रखता, प्रथम तो उसीके आधीन यह बन गया, अब उसकी प्राप्तिके लिए जो जो साधन चाहिये, जिन जिन

पुरुषोंको प्रसन्न रखना चाहिये अब उन साधनोंका यत्न किया जाने लगा, तो जितनी भी परतन्त्रतायें है उन सबका कारण है परपदार्थोंकी आशा रखना। जो आशाका परित्याग कर देते है ऐसे मुनि स्वाधीन हैं, उन्हे परतन्त्रताका दुख नही है। और, देखिये ऐसी स्वाधीनता मिलने पर यदि कोई दुख भी आ पडे तो वह दुख तो अच्छा माना जाता है और परतन्त्रतामे रहकर कोई सुख भी मिले तो वह सुख अच्छा नही माना जाता। स्वाधीन रहकर क्लेश आये तो किसी पर नाराजी तो नही आ सकती कि इसने मुझे क्लेश दिया। आ गया, उदय है कर्मका, समतासे सहन कर लेगा जहाँ परका सम्बन्ध बना हो और फिर कोई क्लेश आये तो वहा दुख अनुभवा जाता है। यह सयमी मुनि समस्त परिग्रहोसे रहित है अतएव निष्परिग्रह है और निष्परिग्रह होनेके कारण अपने स्वाधीन स्वरूपका अनुभव करता है वह दुखसे नही घेरा जा सकता, वह सुखी है। चित्तमे यह भाव लाना चाहिए कि समस्त वैभव भिन्न चीजे है, उनमे मूर्छाका परिणाम रखने से शान्तिका मार्ग नही मिल सकता। अत सब परपदार्थोंकी मूर्छा तोडकर अपने आपको निष्परिग्रह ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र अनुभव किया करें।

विजने जनसकीर्णे सुस्थिते दुस्थितेऽपि वा।
सर्वत्राप्रतिबद्ध स्यात्सयमी सगवर्जित ॥८४९॥

निःसङ्ग साधुकी सर्वत्र अप्रतिबद्धता—जो परिग्रहके त्यागी हैं, सयमी है, वे चाहे निर्जन बनमे रहे, चाहे बस्तीमे रहे, चाहे सुखसे रहे, चाहे दुखसे रहे सभी जगह निर्मोह रहते है। परिग्रहका तो अन्तरग मूर्छासे सम्बन्ध है। जिससे मूर्छा है वह तो मोही है और जिसके मूर्छा नही वह निर्मोह है। निर्मोह रहनेमे निराकुलता है और मोहमे आकुलता है। जितने भी जीव दुखी हैं सब मोहके कारण दुखी हैं। किसीके भी दुखकी कहानी सुन लो सब मोहके कारण दुखी हैं। निर्मोह साधु किसी भी जगह हो, चाहे नगरीमे रहें, चाहे जगलमे रहे पर उनके सम्यग्ज्ञान है, आत्माका परिचय है, आत्माकी धुन है इस कारण वह सर्वत्र निर्मोह है। और जो निर्मोह है वह निराकुल है। जो निराकुल होगा वही आत्माका ध्यान कर सकेगा, आत्माका हित कर सकेगा।

दुखमेव धनव्यालविषविध्वस्तचेतसाम्।
अर्जने रक्षणे नाशे पुसा तस्य परिक्षये ॥८५०॥

धनसर्पविषदष्ट पुरुषोंको अर्जन, रक्षण व नाशमें सर्वत्र क्लेश—धनरूपी सर्पके विषसे जिसका चित्त बिगड गया है उस पुरुषको सर्वत्र दुख ही दुख होता है। धनका उपार्जन करनेमे कितना क्लेश होता है? व्यापार करे, खेती करे या किसी चीजका उत्पादन करे या सेवा करे किसी भी कार्यको करे धनार्जनके लिए उसमे दुख मानते है और धनार्जन

हो जाय तो उसकी रक्षा करनेमे दु ख मानते है, कैसे रक्षा करे, कहाँ रखे, घरमें रखे तो डाकू चोरो का डर है, बैंक आदिकमे रखे तो वहा सरकारका डर है। अन्यायका धन रख नही सकते। न्यायमे कमायी परिमित होती है अथवा न्याययुक्त भी कमाई हो तो सरकार के नये नये कानून बनते है। कहाँ रखे यह धन कि रक्षित रहे? बहुतसे डकैत लोग तो धनिक लोगोको पकडकर अपने गिरोहमे रखते है और उन धनिको के यहाँसे मनमाना धन मगा लेते है। तो प्रथम तो इस धनके अर्जनमे क्लेश है और धनका अर्जन हो जाय तो फिर उसकी रक्षा करनेमे क्लेश है। और, सुरक्षित भी रहे पर अन्तमे उसका नाश होगा, वियोग होगा। तो वियोगके समय तो महान क्लेश होता है। परिग्रहका सम्बन्ध प्रारम्भसे लेकर अन्त तक केवल दु ख ही दु खका कारण होता है।

परिग्रहसम्बन्धकी अनर्थता—देखिये विचारिये—किनके लिए धनका अर्जन करना? जिनके सुखी रखनेके लिए इतना श्रम किया जा रहा है वे आखिर है कौन? वे तो सब आप से अत्यन्त भिन्न जीव है, उनसे आपका कुछ भी नाता नही है। इस धन वैभवके कारण तो कही कही मृत्युका भी सामना करना पडता है। धनके इच्छुक अनेक जन है, वे कोई ऐसा जाल रच देते है कि उस धनिककी मृत्यु कर देते है। तो परिग्रहका सम्बन्ध प्रारम्भसे अन्त तक केवल क्लेश ही क्लेशका साधन बनता है। धनकी तीन दशाये बतायी है—या तो उस धनका भोग कर लो या दान परोपकार कर, या उसका विनाश हो जाय। दान, भोग, नाश ये तीन ही धनकी गति होती है। जिसने दान नही किया अथवा अपने भोगो-पभोगमे नही लगाया तो न लगाये, उसके हाथकी बात है। न दान करना चाहे न करे, न खाना पीना चाहे न खाये पिये, पर तीसरी दशा जो नाश है उससे तो बचनेका उपाय नही चल सकता। जैसे कोई कजूस यह सोचता है कि मैं इस धनको कुछ खर्च न करूँ और इसे बराबर बनाये रहू तो इस बातपर उसका कुछ बल भी चल जाता है। न करे खर्च एक जगह बनाये रहे, सोचे कि हम दान भी न करगे, अपने पास ही इसे बनाये रहेंगे तो दान न भी करे यह भी बात बन सकती है, पर यह सोचे कि मैं इस धन सम्पदा को नष्ट न होने दूंगा, इसे मैं अपने पास ही रखे रहूगा, इसे बेकार न होने दूंगा तो इसपर तो वश न चल सकेगा। तीसरी गति याने इस धनका विनाश तो निश्चित ही है। अतएव यो ही नष्ट क्यो हो जाय उसे अपने भोग आराममें उपयोग कर ले या दान कर ले तो ठीक है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि परिग्रहका सम्बन्ध क्षोभका ही कारण होता है। परिग्रहके सम्बन्धमे मनुष्य आत्माका ध्यान नही कर सकता। लोकमे आत्माकी सुध लेना ही वास्तवमे शरण है अन्य कुछ भी चमत्कार कर ले, झमेला बना ले, यह कुछ भी इसका शरण नही है।

स्वजातीयैरपि प्राणी सद्योऽभिद्रूयते धनी ।
यथात्र सामिप पक्षी पक्षिभिर्वद्धमण्डलै ॥८५१॥

परिग्रहियोंपर परिग्रहियों द्वारा उपद्रव--जैसे किसी पक्षीके मासका टुकडा हो तो और और भी अनेक पक्षी उसे पीडित करते है, उसपर झपटते है, इसी प्रकार धनाढ्य पुरुष भी अपनी जाति वालोसे दु खी और पीडित किया जाता है । तो परिग्रह एक ऐसी वस्तु है कि उस परिग्रही पुरुषपर अनेक लोग झपटते है, उससे अनेक लोग धन छीननेका यत्न करते है । धन वैभव तो एक क्षुब्ध वातावरण बनाने वाली चीज है । जो पुरुष इस धन वैभवमे आसक्त है उन पुरुषोको परमात्मस्वरूपका ध्यान नही बन सकता । और, परमात्मस्वरूपका जिनके ध्यान नही बना उनका जीवन क्या जीवन है ? यो तो अनादिकालसे यह जीव अनन्त बार जन्म धारण करता रहा, मरता रहा और उसी तरह अब भी जन्म मरण करता चला आ रहा है, ऐसे जीवनसे क्या भला है ? अनेक जीवन बने, उनमेसे एक यह भी जीवन आ गया । इस जीवनकी सफलता तब है जब कोई ऐसा उद्यम बन जाय कि यह ससारके सकटोसे सदाके लिए छूट जाय । यह बात तभी बन सकती है जब निष्परिग्रहताको अपनाया जाय । समस्त बाह्य परिग्रहोसे, परिग्रहोसे दूर रहकर अपने आपमे उठे हुए औपाधिक विकारोसे भी अलग बसे रहनेका प्रयत्न करे, अपने आपको परिग्रहरहित केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अनुभव करते रहे तो इस ससारके सकटोसे छूट सकते है । जो परिग्रहमे चित्त लगाये हैं वे इस ससारके चक्रमे छूट नही सकते । ज्ञानी गृहस्थ यद्यपि उसका जीवन परिग्रह मे ही बना हुआ है, परिग्रह छोडकर वह किस प्रकार रह सकता है ? परिग्रह छोड दे तो गुजारा बन नही सकता, फिर भी जो ज्ञानी गृहस्थ होता है वह परिग्रह से विविक्त होनेकी भावना बनाये रहता है । ज्ञानका तो यही काम है कि जो जैसी बात है उसको वैसी जता दे । तो ज्ञानसे ये सब बाते बन रही है, धीरता है, समता है । ज्ञान नही है तो बाह्यपदार्थोमे आसक्ति है, उनके न ध्यान बन सकता, न मोक्षमार्ग निभ सकता । वे ससारके सकटोसे छूट नही सकते ।

तत्त्वज्ञानीकी धर्मवृत्तिका हेतु--ज्ञानी गृहस्थ भी परिग्रहके बीच रहता हुआ अपनेको परिग्रही अनुभव नही करता । वे सब द्रव्य उसकी नजरमे हैं । यह मैं अकेला हू और ऐसा ही यह मैं अकेला इस शरीरको त्यागकर जब कभी भी चला जाऊगा । जिसकी यह बात नजरमे बनी हुई होती है वह परिग्रहमे क्या आसक्त होगा ? एक कविने कहा है कि विद्या और धन ये दो तो तब कमाये जा सकते हैं जब चित्तमे ऐसा भाव बना हुआ हो कि मैं तो अजर अमर हू, बहुत काल जिन्दा रहने वाला हू । जो कोई यह विचारे कि मैं तो न जाने कल जिन्दा रहूगा या नही, वह धन क्या कमायेगा ? जैसे कोई पुरुष मरणहार पडा

है, आजकलमे ही मरने वाला है उसको धन कमानेकी बात मनमे नही रहती, उसे तो यहाँ का सब असार दीखने लगता है। अब मैं चला, यहाँ कुछ तत्त्व नही है, यह सब उसे नजर आने लगता है। तो धनकी कमाई तब बन सकती जब यह मान ले कि मुझे तो वर्षो जीना है, इसी तरह विद्या भी तब पढी जा सकती है जब यह जान जाय कि मुझे तो वर्षो जीना है। विद्या एक दिनमे तो नही आती। ज्ञानध्यान समताकी बात तो तुरन्त कर ली जा सकती है पर किसी भी विषयको क्रमसहित विधिवत अध्ययन होना यह बात तो यो ही नही बन जाती। इसके लिए वर्षो चाहिएँ। तो जो ऐसा सोच ले कि मुझे तो अभी वर्षो जीना है वही विद्या पढ सकता है। छदशास्त्र, दर्शनशास्त्र, वैज्ञानिकशास्त्र, और और जो ऊंची विद्यायें है जिनमे वर्षोका समय लगता है। कोई ऐसी बात लेकर बैठ जाय कि मुझे तो कलका भी पता नही कि जिन्दा रहूगा या नही तो वह इन विद्यावोको नही सीख सकता है। लेकिन धर्मधारणकी बात, समता समाधिकी बात वही प्राप्त कर सकेगा जिसके चित्तमे यह बात बैठी हो कि मुझे पता नही कि मैं कब मर जाऊँ। धर्मधारण करनेका पात्र भी वही पुरुष हो सकता है जो यह समझ ले कि मुझे तो कलका भी पता नही कि मैं जिन्दा रहूगा या नही। यह धनका सम्बन्ध इस जीवकी विपरीत बुद्धि हो जानेका कारण होता है। जो बहुत बडा मित्र हो, बन्धु हो, स्वजन हो, बडा विश्वासपात्र हो वे सभी इस धनके हरण करनेकी इच्छा रखते है, और कभी वे धोखा देकर उस धनको अपना सकते हैं। तो इस अनर्थका घर जो धन है उसका सम्बन्ध जिसके बना हुआ है वह पुरुष आत्मतत्त्वके ध्यानका पात्र नही बन सकता। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसी अनुभूतिकी धारा उस पुरुषके न बन सकेगी जिस पुरुषको किसी भी परद्रव्यमे राग और स्नेह होता है। तो शरण है एक अपने आत्मतत्त्वकी सुध। उस आत्मतत्त्वकी सुधको बनानेके लिए कर्तव्य है कि हम परिग्रहो मे मूर्छा न रखे और आत्मतत्त्वकी अपनी रुचि बनाये।

आरम्भो जन्तुघातश्च कषायाश्च परिग्रहात्।
जायन्तेऽत्र तत पात प्राणिना श्वभ्रसागरे ॥८५२॥

परिग्रहके सम्बन्धसे आरम्भ और प्राणिघात जैसे अनर्थोंकी संभूति—जीवोके परिग्रह से इस लोकमे क्षोभ होता है। परिग्रहसे क्या क्या अनर्थ होते है, इस बातको इस छदमे बता रहे हैं। प्रथम तो क्षोभ होता है, साधुजन है उनके पास कोई परिग्रह नही तो वे आरम्भ क्या करेगे, चीज ही कुछ नही है। न बर्तन है, न पैसा है, न भोजनसामग्री है, कुछ भी चीज तो पास नही है। उनको शीत सताये तो अग्नि जलाकर ताप भी तो नही सकते। केवल शरीरमात्र जिनका परिग्रह है, अन्य कुछ भी पास नही है तो ऐसे साधु संत आरम्भ क्या करेगे? आरम्भ होता है परिग्रहसे। परिग्रह हो तो उससे हिंसा होती है, प्रथम तो

किसी भी वाह्यवैभवमे मूर्छाका परिणाम रखना यह ही एक हिसा है। हिसाका तात्पर्य है अपने आपके प्राणोका घात करना। अपने प्राण है ज्ञानदर्शन, चैतन्यप्राण। उसका विघात करना सो हिंसा है। जिसके परिग्रहकी मूर्छा लगी है उसने अपने चैतन्यप्राणका घात किया। अपना विकास रोक दिया, यही तो हिंसापरिग्रहके सम्बन्धमे होता है।

परिग्रहके सम्बन्धसे कषायोंका उद्रेक—परिग्रहके सम्बन्धसे कषाय उत्पन्न होती है। किसीके क्रोध जगे तो उसका भी कारण इस परिग्रहकी मूर्छा है। अभिमान प्रकट हो तो उसका भी कारण परिग्रह है। इस परिग्रहको दौलत कहते है, अर्थात् उसके दो लात है। जब यह वैभव आता है तो छातीमे लात मारता है जिसके कारण एकदम छाती अकड जाती है, अर्थात् जिसके पास धन वैभव होता है वह अभिमान करके छाती फुलाकर चलता है। तो हुआ क्या ? इस धन वैभवने, लक्ष्मीने आते ही छाती पर लात लगाया और जब यह वैभव नष्ट हो जाता है अर्थात् जब यह लक्ष्मी जाती है तो पीठपर लात मारकर जाती है अर्थात् जब निर्धन हो जाता है तो उस मनुष्यकी कमर झुक जाती है। फिर वह छाती फुलाकर अभिमानसे नही चलता है। तो अभिमान जगता है ता इस परिग्रहके सम्बन्धसे जगता है। लोग कहते हैं ना किसीको यदि ठड नही लगती तो कहते है कि इसके जेबमे रुपया पडा होगा उसकी गर्मी लग रही है। तो इस परिग्रहके सम्बन्धसे अभिमान जगता है। मायाचार जो दुनियामे फैला हुआ है उसका भी कारण यह परिग्रह है। परिग्रहका सम्बन्ध न हो तो सब एक प्रकारके हो गए। तो परिग्रहके सम्बन्धसे मायाचार जगता है और परिग्रहके ही सम्बन्धसे लोभ कषाय जगती है। यह वैभव जितना मिले उतना ही लोभ बढता जाता है। और उस तृष्णाकी धारामे बहकर यह जीव सभलना भी तो नही चाहता कि चलो जो है वही बहुत है। इससे आगे अब हमे और कुछ न चाहिए। सबसे महान कार्य इस मनुष्य जीवनमे आत्महित करनेका है। आत्महितमे ही हमारा जीवन लगे ऐसी भावना किसी ज्ञानी पुरुषके ही हो पाती है।

परिग्रहके सम्बन्धसे अनेक दोष धारण होनेसे दुर्गतिदायक क्लेश—जहाँ परिग्रहका सम्बन्ध है वहाँ ही यह सब विवेक उड जाता है। तृष्णा कषाय जगती है, यो परिग्रहका आरम्भ बनता है, हिंसा होती है, कषाय जगती है और फिर नरकोके दुःख भोगने पडते है। तो जो परिग्रह है वह अनर्थका मूल है। उस परिग्रहके रहते सन्ते कोई सुखका मार्ग निकाल लेना, शान्तिका रास्ता निकाल लेना यह तो अशक्य है। परिग्रहोमे मूर्छा न रहे तो उपयोग विशुद्ध रहेगा, और विशुद्ध उपयोग ही आत्माकी ओर ध्यान लगा सकता है। जिन्हे आत्मध्यानकी इच्छा है उन पुरुषोका सर्वप्रथम कर्तव्य है कि समस्त परपरिग्रहोसे मूर्छा भाव को दूर करें। पासमे परिग्रह हो तो उसमे मूर्छा न रखे। सुख शान्ति चाहने वाले पुरुषोको

इस परिग्रहकी उपेक्षा करनी होगी ।

न स्याद्ध्यातुं प्रवृत्तस्य चेत स्वप्नेऽपि निश्चलम् ।
मुने परिग्रहग्राहैर्भिद्यमानमनेकधा ॥८५३॥

परिग्रहपिशाचपीड़ित पुरुषकी ध्यानमें नितान्त अक्षमता--जिस मनुष्यका चित्त परिग्रहरूपी पिशाचसे पीडित हो गया है उसका चित्त ध्यान करते समय कभी भी स्वप्नमे भी निश्चल नही रह सकता है। परिग्रहमे अपनायतकी बुद्धि जाती है तो उसका मन निश्चल नही रह सकता। जो हितका पथ है, धर्मका तत्त्व है उसमे चित्त नही जा सकता। सो यह परिग्रह पिशाचकी पीडा है। इस परिग्रहके कारण सभी लोग उसे किसी न किसी प्रकारसे धोखा देकर उसका धन हडपनेकी बात सोचते है। उस परिग्रहके कारण महान क्लेश होता है। तो जिसका चित्त परिग्रहसे पीडित है उस पुरुषका चित्त कभी भी स्थिर नही हो सकता। जिस ज्ञानी संतका यह दृढ निर्णय है कि यह मेरा यह परमात्मतत्त्व शाश्वत निर्लेप है। कर्मउपाधिसे कुछ यह बिगाड हो गया है कि इस शरीरका बन्धन है, कर्मोका बन्धन है, कर्मोके उदयवश सुख अथवा दुःख भोगना पड रहा है लेकिन मेरा जो सहज स्वरूप है वह अत्यन्त शुद्ध है, वह ज्ञानानन्दमात्र है, ऐसे निर्णय वाले ज्ञानी संतका चित्त परपदार्थोमे नही बसता, अतएव स्थिर रहता है। और, जिसने आत्माका यह मर्म नही पाया वह पुरुष बाह्य पदार्थोमे ही हितकी आशा रख रखकर दुःखी होता है और अपना यह लोक भी बिगाडता है और परलोक भी बिगाडता है। तो चित्त स्थिर हुए बिना आत्मध्यान नही होता। आत्मध्यान बिना मुक्ति नही मिलती। अतएव रागद्वेष मोहादिक को हटाकर मैं ज्ञानमात्र हू, सबसे निराला हू ऐसी प्रतीति बनाये। जो ऐसी प्रतीति बनाता है उसे इस भवके भी सकट नही आते और परलोकके भी सकट नही आते। तो धर्म करनेके लिए केवल एक ही काम करना है। अपने आपको मै सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूपमात्र हू, एक यह श्रद्धा अपने अन्दर करनी है। यह श्रद्धा बन जाय तो आत्महितके लिए क्या क्या करना होता है, वे सब बातें इसके लिए सुगम हो जाती है। तो अपना कर्तव्य यह है कि सर्व परपदार्थोसे न्यारे केवल ज्ञानस्वरूपमे अपने आपको लगा लूँ और इस प्रतीतिके ही अनुसार मैं अपने उपयोगका प्रयोग करूँ तो इससे शान्ति मिल सकती है। परिग्रहमे चित्त बसानेसे, तृष्णा बढानेसे इस जीवनमे कभी शान्ति प्राप्त नही हो सकती। जो विवेकी पुरुष है वे परिग्रहको त्यागकर अपने विशुद्ध आत्माका ध्यान करते है और मुक्ति पानेका उपाय करते है।

सकलविषयवीज सर्वसावद्यमूल,
नरकनगरकेतुं वित्तजातं विहाय।

अनुसर मुनिवृन्दानन्दि सन्तोषराज्य—
मभिलषसि यदि त्व जन्मबन्धव्यपायम् ॥८५४॥

सकल विषयबीजभूत वित्तजालके त्यागमें ही भलाईका अवसर—ससारका यह प्राणी जन्मके बन्धनमे पडा हुआ दु खी हो रहा है। यह जिस शरीरमे पहुचता है उसीको अपना सर्वस्व समझता है और चित्तमे कभी यह बात नही आने देता कि इस शरीरको त्यागकर आगे भी कही यात्रा करनी होगी। इस शरीरके सम्बन्धसे जो कुछ वैभव है यह ही मात्र मेरा सब कुछ नही है ऐसी प्रतीति नही हो पाती है। फल यह होता है कि जैसे अनन्तकाल इस जीवने जन्मबन्धनमे बिताये, जब जब जो जो शरीर पाया तब तब उस शरीरमे ममता रखी, शरीरके बन्धनको अपना सर्वस्व वैभव माना, वही प्रकृति आज भी है, और यह रहा सहा थोडा सा समय बहुत ही शीघ्र गुजर जायगा, फिर आगे भी यही प्रकृति रखेगा ऐसा जन्म बन्धन इस जीवके बहुत भयकर लगा हुआ है। इसका विनाश करनेमे ही हित है। जो पुरुष सम्यग्ज्ञानी हुए है, जिनके विवेक जगा है, जिनका होनहार अच्छा होना है, उन्होने इस विवेकका आदर किया और जिनमे शक्ति थी इस जन्म बन्धको शीघ्र दूर करने वाले साधुजन, सर्व प्रकारके विकल्पोको त्यागकर केवल एक आत्माके ध्यान मे ही अपना उपयोग लगाया और जो पुरुष ऐसे थे कि इतना महान व्रत धारण नही कर सकते थे उन्होने भी निर्णय तो यही बनाया कि गृहस्थीमे रहे तब भी निश्चय तो यह रखें कि जन्मका बन्धन दूर करना चाहिए। ये समस्त बाह्य परिकर निःसार है, इनसे मेरे आत्मा के लिए कोई हितकी बात नही आती। निर्णय गृहस्थीमे भी यही रहे कि मैंने गृहस्थी किसी परिस्थितिवश अगीकार किया है, वहाँ कुछ वैभवकी जरूरत हुआ करती है तो इस वैभव के बीच रहते हुए भी, वैभवका रक्षण करते हुए भी श्रद्धा अपनी शुद्ध बनाये रहते हैं। यह धनसमूह यह समस्त वैभव समस्त विषयोका बीज है। एक कविने कहा है—जवानी, धन, सम्पदा, प्रभुत्व और अज्ञान ये चार अनर्थके कारण है। इनमे एक भी हो तो भी जीवको अनर्थकी ओर ले जाता है। जवानी शरीरकी युवावस्थाकी प्रकृति ही विकारोकी ओर बढाने की है। तो जवानी भी प्राय अनर्थके लिए होती है। यदि किसीके विवेक है, ज्ञान है, सम्हाल है, आत्मसम्बोधन सही है ऐसा कोई विशिष्ट पुरुष ही युवावस्थामे अपना विवेक रखता है और आचरणमे सही उतरता है। लेकिन प्राय करके ज्ञानीजन कहाँ रखे है अत-एव युवावस्था पाकर लोग अपना अनर्थ ही करते हैं इसी तरह धन सम्पत्तिकी भी बात है। प्राय जहाँ धन सम्पत्ति होती है उन पुरुषोको अभिमान रहता है, अपने आपको बडा सम-झते हैं और उस बडप्पनकी गधसे लोगोको तुच्छ समझकर उनपर अन्याय करते हैं और जिस चाहे उपायसे विषयसाधनमे लग जाते हैं। तो धन सम्पदा भी अनर्थका कारण है। इसी

प्रकार कुछ प्रभुता आ जाय, अपने पडोसमे, गाँवमे कुछ कला बन जाय उसे कहते है प्रभुता। प्रभुता मिल जाय तो वह भी अनर्थका कारण बनता है, और अज्ञान हो, अविवेक हो तो वह अनर्थकी खान है ही। तो ये चारो चीजे अनर्थकी खान है। यह धन सम्पत्तिका समूह समस्त विषयोका बीजभूत है। पचेन्द्रियके विषय भली प्रकार भोगे,, इसके लिए उत्साह देने वाला तो यह वैभव ही है।

सकलसावद्यमूल वित्तजालके परिहारमें ही श्रेयोलाभका अवसर—यह धन वैभव समस्त पापोका मूल है। जो भी करोडपति है, धनिक लोग है उनकी चर्या देख लो, उनका दिल ही जानता होगा। लोग धन वैभवको अधिकसे अधिक चाहते है किन्तु एक कविके कथनानुसार बात यह समझना है कि जैसे स्वच्छ पानीसे समुद्र नही भरा करता है इसी प्रकार शुद्ध धनसे विभूति भी नही बढती है। जैसे समुद्र मलिन नदियोसे मटमैले जलसे भरता है इसी प्रकार यह वैभव भी अन्याय वगैरह करके अधिक बढता है। अपना परिणाम मलिन करे, हिंसा करे, कुगतिमे ले जानेके काम करे तो एकदम वृद्धि हो जाती है। न्याय नीति से कमानेमे तो एक शान्तिके लायक वातावरण रहे, साधारणरूपमे गुजारा चले, यही बात बन पाती है। धनकी कोई सीमा नही है कि इतना वैभव हो जाय तो सुखी हो जाये। मनमे धनसचयकी इच्छा रखकर घोर श्रम किया जाय, उद्यम किया जाय तो यह धन बढता रहता है। यह धन सम्पत्ति नरकरूपी नगरकी ध्वजा है। जैसे किसी नगरमे ध्वजा लहराती है, उस ध्वजाका दर्शन पहिले होता है, फिर उस द्वारसे नगरमे प्रवेश करते है, इसी प्रकार नरकमे प्रवेश करानेमे लिए यह वैभव ध्वजाकी तरह है। देखिये आत्माका हित है, आत्मा अपने सहज शुद्ध स्वरूपकी ओर उपयोग दे इसमे आत्महित है। बडे-बडे महान ऋषियोने यह बात बतायी है कि अपना ज्ञान अपने आत्मतत्त्वकी ओर रहे, यही मात्र जीवका हित है, यही वास्तविक धर्मपालन है। ऐसा न होकर धन वैभवकी इच्छा करना, उनके जोडने की मनमे धुन रखना, इनमे यह उपयोग कितना दूर चला जाता है और धन सचयके लिये न्याय अन्याय कुछ भी नही गिनता है। लेकिन यह बात बिल्कुल युक्त है कि मनुष्य न्याय अन्याय कुछ भी करे, नियमसे उसका फल भोगना पडता है। यह तो एक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, किसीकी बनायी हुई बात नही है। यह जीव जो भी कर्म करता है उसका फल स्वय भोगता है। कभी कभी अन्याय करते हुएमे भी धनवृद्धि होती, खूब यश प्राप्त होता लेकिन यह एक पूर्वकृत पुण्यका फल है कि अन्याय करते हुए भी ये सब बातें दिख रही है। कोई छोटा मोटा पुण्यकर्म होता तो उस अन्यायके करनेसे तुरन्त नष्ट हो जाता, पर अन्याय करते हुए भी सम्पदाकी अधिक प्राप्ति हो तो समझना चाहिए कि यह पूर्वकृत किसी उत्कृष्ट पुण्यकर्मका फल है।

दुर्गतिबीजभूत वित्तजालका परिहार कर सन्तोषराज्यका लाभ लेनेका अनुरोध—सग सगम पुण्यफल तो है किन्तु इसका परिणाम होता क्या है कि यह धन वैभव पाकर यह जीव विषयोमे प्रवृत्त होता है, कषायोमे बढता है, अहकारमे बढता है, अपने आपको भूल जाता है। उस समय इसके ऐसे कर्मोका बन्ध होता है कि इसे नारकादिकके घोर दु ख भोगने पडते हैं। हे मुनि ! इस धन वैभवको दुर्गतिका बीज जानकर तू छोड दे, और जो मुनिसमूहको आनन्द देने वाला है ऐसे सन्तोष राज्यका अनुसरण कर। देखिये जो बात जैसी है उसे वैसी मानना ही चाहिए। धन हमसे भिन्न वस्तु है, इस धन वैभवके ससर्गसे इस आत्माको कुछ भी सिद्धि न होगी। आत्माका जो सत्य आनन्द है उसे प्राप्त करो। इस धन वैभवका ससर्ग तो इस ससारमे भटकाने वाला है। भले ही इस शरीर के सम्बन्धसे यह आवश्यक हो गया है कि भोजन करनेका साधन रखे। अपनी व्यवस्थाके लिए आजीविकाका ढंग भी बनाना पडता है, उदरपूर्तिके लिए अनेक साधन बनाने पडते है। यह सब करते हुए भी अन्तरगमे ऐसी भावना रहे कि ये सब क्रियायें तो मेरे आत्माके अनर्थके लिए है। किसी तरहसे ये सारे झझट भी छूट जायें, एक शुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाय यही बात उत्तम है। जो बात सर्वोत्कृष्ट है उसे ज्ञानसे अलग न करना चाहिए। जब भी कल्याण होगा तो इसी विधिसे होगा। तो यह मार्ग मुनिसमूहको आनन्द देने वाला है, इस ही आत्मनिष्ठासे सन्तोषका राज्य प्राप्त होता है। मुझे चाहिए कि उसका अनुसरण करे और जन्मबन्धके विनाशकी अभिलाषा रखे। कुछ भी स्थिति आये यह मानते ही रहे कि यह परिग्रह आत्माकी वस्तु नही है, इससे आत्माका हित नही है, सबसे निराले अपने आपके स्वरूपको निरखनेमे ही कल्याणकी प्राप्ति है।

> एन किं न धनप्रसक्तमनसा नासादि हिसादिना,
> कस्तस्यार्जनरक्षणक्षयकृतैर्नादाहि दु खानलै।
> तत्प्रागेव विचार्य विर्जय वर व्यामूढ वित्तस्पृहा,
> ये नैकास्पदता न यासि विपयै पापस्य तापस्य च ।८५५॥

परिग्रहसम्पर्कमें क्लेशोंका अधिकारित्व—हे मोही आत्मन् ! विचार तो करो, जिनका मन धनमे लम्पटी है उन्होने क्या हिंसा आदिक कार्योंसे पापोका अर्जन नही किया ? और, उस धनके उपार्जनमे, रक्षणमे, व्यय करनेमे दु खरूपी अग्निसे कौन नही जला ? धन के प्रसगमे किसे क्लेश नही होता ? उसका विचार करनेके समय भी क्लेश, उसके अर्जनमे भी क्लेश, उसकी रक्षामे भी क्लेश, और रक्षा करते करते नष्ट हो जाता है उसमे भी क्लेश। यह ससार क्लेशोका घर है, और जैसे शरीरके जितने रोग होते हैं उन रोगोमे कोई भी रोग आ जाय वही इस जीवको वडा मालूम पडता है। जैसे वडे तीव्र बुखारके

सामने हाथमे अथवा पैरमे कोई फुसी हो जाय तो वह कोई बडा रोग तो नही है लेकिन किसीको फुसी भी हो तो वह उसमे बडा कष्ट मानता है। तो जो भी रोग आये उसीको महान समझता है, ऐसे ही जिसको जितना घाटा हो, नुक्सान हो उसे ही वह महान समझता है। जैसे मान लो किसीको आज हजार रुपयेका नुक्सान हुआ तो जरा उनपर भी तो दृष्टि दो जिनपर जोरावरी और सताकर जबरदस्ती १०-२० हजार रुपये लूट ले जाते है, तो उनके दिलसे पूछो कि उन्हे क्या दुख है और उनसे भी बडे-बडे अनर्थ हो जाते उनके दिलसे पूछो। तो ससारमे सर्वत्र क्लेश ही क्लेश भरे पडे है। उस क्लेशका क्या बुरा मानना ? उसके तो ज्ञाताद्रष्टा रहे, हो गया यह, ऐसा ही होना था। क्या है यहाँ मेरा ? मेरा हित तो मेरे स्वरूपकी चिन्तना ही है। शेष तो सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति है।

महान् आत्माओंके परिग्रह परित्यागका विवेक—धनके विचारमे, अर्जनमे, रक्षणमे, विनाशमे यह जीव दुख अग्निसे जलता ही रहता है। इस ही कारण साधु संतजन उसको पहिले ही छोड देते है। जो नही छोड सकनेके योग्य है, गृहस्थ है भी यदि वे भी अपने ज्ञानबलको सम्हाले है तो वे किसी ऐसी परिस्थितिमे घबडाते नही है। बडे बडे राजपुरुष कौरव पाण्डवोको देखे, धन सम्पदाकी आशा रखकर ही उनका भी विनाश हुआ। पाण्डवोने अन्त मे कुछ अपना विवेक बनाया और सर्व लालसावोको त्यागकर अपने आपके आत्मचिन्तनमे लग गए। तो पाण्डवोने भी सम्पत्तिको छोडा, कौरवोने भी सम्पत्तिको छोडा। कौरव तो आशामे मरकर कुगतिमे गए और पाण्डवोने अपने आप ही विवेक करके त्यागकर आत्मध्यानसे तीनने निर्वाण पाया और दो सर्वार्थसिद्धि गये। तो ये सब समागम अनित्य है, इनका नियमसे वियोग होगा ऐसा मानते रहनेसे जीवनमे क्लेश नही आता। ठीक है उदयानुसार होता है जो भी होना है, ऐसा ज्ञानी पुरुष जब धन आ रहा हो तो भी हर्षमग्न नही होता और जब वियोग होता हो तब भी दुखमग्न नही होता। हे मुनि ! समस्त संगका, परिग्रह का परित्याग करके तू नि सग निष्परिग्रह ज्ञानानन्दस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वका ध्यान कर। विषय और पापका सग मत कर। यह सब कल्याणार्थी पुरुषोके लिए आचार्यदेवका शिक्षण है। न्यायवृत्ति न छोडे। न्याय छोडनेसे चित्त अस्थिर हो जाता है। अन्यायके परिणामसे चित्तमे सन्तोष नही रहता। जब चित्तमे सन्तोष न रहा तो इन जड पौद्गलिकके ढेरसे इसे लाभ क्या होगा ? धर्मसे रुचि होनी चाहिए। समयपर प्रभुका ध्यान आना चाहिए। अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका स्मरण होना चाहिए। ये बाते भी यदि चलती रहे तो गृहस्थावस्था मे सब कुछ किया जाने पर भी उसे शान्ति और सन्तोष प्राप्त होता रहेगा।

एव तावदहं लभेय विभव रक्षेयमेव तत-
स्तद्वृद्धिं गमयेयमेवमनिश भुञ्जीय चैव पुन ।

द्रव्याशा रसरुद्धमानम भृश नात्मानमुत्पश्यसि,
क्रुद्धयत्क्रूरकृतान्तदन्तपटलीयन्त्रान्तरालस्थितम ॥८५६॥

धन वैभवकी लालसामें अपने सर्वस्वविनाशकी योजना--हे बहिरात्मन् ! धनकी आशाके रससे तू भर गया है और उस आशारसके द्वारा तेरा मन रुक गया है अतएव तू ऐसा विचार करता है कि मै प्रथम तो धनका उपार्जन करके वैभववान बनूंगा और फिर उसकी रक्षा करूंगा, वृद्धि करूंगा और इस उपायसे उसे मै भोगूंगा ऐसी तू अपनी कल्पनाए बनाता है किन्तु तुझे यह पता नही कि यह यमराज किसी दिन उठा लेगा अर्थात् आयुक्षय किसी दिन अचानक हो जायेगा। कोई गर्भमे ही मर जाता है, कोई जन्मते ही मर जाता, कोई जवानीमे और कोई वृद्धावस्थामे मर जाता है। यहाँ मरणका कोई समय निश्चित नही है। मृत्यु हम आप सबके शिर पर मडरा रही है यह कहना अत्युक्ति न होगा। जब ससारकी ऐसी स्थिति है तो हे आत्मन् ! तू अनेक ऐसी कल्पनाए जोडता है कि कोई तो पञ्चवर्षी योजनाए बनाते है पर तू तो एकदमसे जीवनभरकी कल्पनाए बना डालता है। अरे जुलाहा भी जब कपडा बुनता है तो वह भी कुछ किनारा बुनने से छोड देता है पर यह मनुष्य अपने जीवनमे कभी भी इन कल्पनाजालोसे विराम नही लेता है। यह मोही जीव अपने जीवन भरका ऐसा ताना पूरता है कि यह अपनी जिन्दगीमे कभी विराम नही लेता है। हम आप भगवानकी मूर्तिके समक्ष आकर क्या शिक्षा पाते है ? अरे उन्होने इस रागद्वेष मोहका परित्यागकर अपने आत्मामे विश्राम पाया, ऐसा ही करना हम आपका कर्तव्य है, यही तो शिक्षा हम आप उस प्रभुकी मूर्तिसे लेते है। पर यहाँ तो क्या हो रहा है लोग यही कल्पनाजाल पूरा करते है कि मै यो यो धन कमाऊगा, यो यो खर्च करूगा, यो करूगा, यो करूगा ऐसा ही सोचते रहते है पर मैं मरूगा, मैं मरूगा ऐसा कभी नही सोचते। हे आत्मन् ! तू स्वरूपसे ज्ञानमय है, आनन्दमय है, तेरे स्वरूपमे कोई कमी नही है, ज्ञान ही तेरा स्वभाव है और निराकुलता ही तेरा वैभव है। यह कहीसे मागा हुआ गुण नही है, किसी परचीजसे प्रकट किया हुआ गुण नही है, यह आत्मामे स्वय ही है। जब तू स्वय ही ज्ञानानन्दमय है तो अब परकी ओर उपयोग देकर अपने मे व्यग्रता क्यो मचाये हुए है ? जो हो रहा है सो हो रहा है, होने दो। तू अपने आपकी ओर दृष्टि कर, अपने आप मे प्रसन्न रह, विश्राम पा। ये कर्म भी उन्हे ही सताते हैं जिन्हे धनकी आशा अथवा जीवनकी आशा लगी है। सभी मनुष्य अपने अपने हृदयसे सोच ले कि ये दो बातें लगी है-धनकी आशा लगी है और जीवनकी आशा लगी है। यदि यह कल्पना जग गयी कि कही धन न नष्ट हो जाय, जीवन न नष्ट हो जाय तो अन्दरसे एक घबडाहट सी मालूम होती है। तो आप यह समझिये कि इन दो बातोमे यह मोही जीव बडा कष्ट मानता है-धन न

रहे और जीवन न रहे। क्योकि कर्मोके और विकट उपद्रव हो ही क्या सकते है। लेकिन ये कर्म उनको ही सता सकेंगे जो धन और जीवनकी आशा रखते है।

अन्तस्तत्त्वके अतिरिक्त सर्व सङ्गकी आशासे रहित पुरुषोंको कल्याणलाभ—जिन सतोको न धनकी आशा है, न जीवनकी आशा है अर्थात् किसी भी चीजकी आशाको जिनके कोई गध नही है–जीवन रहे तो, न रहे तो इसलिए ये सतजन इस आशाका पूर्ण परित्याग कर देते है। और, ऐसे ही सन्तजन इन कर्मबन्धनोको तोड सकते है जिन्होने इस आशाका पूर्ण परित्याग कर दिया है। जो बाह्यमे सर्वकी आशाका त्यागकर मृत्युका सहर्ष स्वागत करे उनका कर्म क्या करगे ? किसी भी चीजकी आशा बनाना यह अपने अनर्थका ही कारण होती है। समस्त पापोका कारण है परिग्रहका सग्रह। इस परिग्रहके ससर्गसे अनेक कल्पनाए बनाना यह अनर्थका कारण है, समस्त पापोका कारण है ऐसा निर्णय रखना चाहिए। पूर्ण सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्रके पालनमे ही अपना हित है। कही वैभवकी आसक्ति होनेके कारण, उसके सचय हो जानेके कारण मेरा हित नही हो सकता है। ऐसा निर्णय रखने वाले पुरुष कभी दुखी नही होते। यहाँ आचार्यदेव मुनिजनो को समझा रहे है क्योकि उनको ही सम्बोधने के लिए यह ग्रन्थ बना है कि यदि निर्वाण चाहते हो, आत्महित चाहते हो, शान्ति चाहते हो तो आत्माका ध्यान करो। और, आत्माका ध्यान तभी बन सकता है जब किसी बाह्यपरिग्रह की ममता न हो। अतएव समस्त परका परित्याग करे और आत्मध्यान करके अपने आपमे प्रसन्न होवें। इससे अपन को भी यह शिक्षा लेना चाहिए कि इन बाह्य परिग्रहोको हटानेमे ही लाभ है और आत्माके शुद्धस्वरूप मे प्रवेश करनेमे ही लाभ है।

अथ सप्तदश प्रकरणम्

बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसगसन्न्याससिद्धये।
आशा सद्भिर्निराकृत्य नैराश्यमवलम्बते ॥८५७॥

कल्याणार्थी पुरुषों द्वारा आशाका निराकरण करके नैराश्यका आश्रयण—आत्माका वास्तविक आनन्द अपने आप आत्मामें है। जब किसी भी परपदार्थकी ओर दृष्टि नही रहती किसी परके विकल्प नही जगते तो ऐसे परम विश्रामके समय जो आत्माका मिलन होता है वह ही एक शरणभूत चीज है, इसके अतिरिक्त बाह्यमे जितने भी धंधे है, ससर्ग है, स्नेह है वे सब क्लेशके कारण है। इसी कारण ज्ञानी सत पुरुष आत्मध्यानके लिए ही सारा प्रयत्न करते है। आत्मध्यानमे सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि परिग्रहोका त्याग करे। जो परिग्रह संसर्गमे है उसका विकल्प अवश्य होगा और विकल्प रहते हुए की स्थितिमे आत्मा का ध्यान नही बनता। अतएव जिन्हे आत्मध्यान चाहिए उन्हे परिग्रहका त्याग प्रथम करना

होगा और परिग्रहके त्यागकी बराबर सिद्धि तब बनेगी जब आशाको छोड़कर निराशताका अवलम्बन किया जाय। आशाके परित्यागसे ही आशा छूटे और वैराग्यभावका आदर बने तो परिग्रहका त्याग निभ सकता है। निराशाके आलम्बनका अर्थ यह है कि चित्तमे यह निर्णय हो कि हे प्रभो! मुझे तो ऐसी स्थिति चाहिए जिस स्थितिमे किसी परपदार्थकी आशा न रखनी पडे। जब ज्ञान और विवेक जगता है तो उस ज्ञानकी अतरगमे एक वाञ्छा रहती है कि हे नाथ! मेरे किसी तरहकी वाञ्छा इच्छा आशा न जगे और मैं अपने परमात्मस्वरूपको निहारकर ही स्वाधीन रहू, प्रसन्न रहू, यही एक मात्र चाह रहती है, इसीका नाम है निराशताका आलम्बन। जो सत्पुरुष है वे बहिरङ्ग और अन्तरग समस्त परिग्रहोके त्यागकी सिद्धिके लिए प्रथम ही प्रथम यह उपाय करते है कि आशाको छोड़कर निराशताका आलम्बन करना है। आशा एक जाल है और व्यर्थका जाल है, किसी पर-पदार्थसे अपने आत्माका क्या सम्बन्ध है? पर है, भिन्न है, आज साथ है, कल न रहेगा। उससे मेरे आत्माका कोई वास्ता नही है, फिर भी उन परपदार्थोके प्रति आशाका परिणाम बनाये रखे तो वह एक महाविकट जाल है, इस आशाके जालमे सारा ससार दुःखी है। और, एक दूसरेको मूर्ख क्यो नही नजर आते? जो परकी आशा रखते है वे तो मूढ है पर यहाँ एक दूसरेको मूर्ख क्यो नही मानते? यो नही मानते कि सभी मूढ है, परपदार्थोंके मोहमे सभी पडे हुए है, इस कारण इन मोही पुरुषोके चित्तमे इस परिग्रहकी कीमत बनी रहती है, इसका महत्त्व बना रहता है इस कारण सबको ठीक सा जचता है, मूर्खता नही मालूम होती है, किन्तु यह मूढभाव इतना घोर विपत्तिका साधन है कि आज मनुष्य है, मनुष्य देह छूटेगी फिर अन्य जन्म लेगा, यो जन्म और मरणकी परम्परामे लगता रहेगा, यह सब आशाका कारण है।

यावद्याव च्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति।
तावत्तावन्मनुष्याणा मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् ॥८८॥

शरीराशा व देहबुद्धिमें मोह गाँठकी दृढ़ता—मनुष्योके जैसे जैसे शरीरमे और धनमे आशाका फैलाव होता है वैसे ही वैसे जड मोहकर्मकी गाठ और दृढ होती जाती है। हम भगवत् जिनेन्द्रदेवकी क्यो इतनी महिमा गाते है, उनमे कौनसा प्रधान गुण है? वह गुण है कि उनके आशाका अभाव हो गया है। अब भविष्यमे कभी भी उनमे आशा न जग सकेगी केवलज्ञान हो गया है, जैसा विशुद्ध आत्मा है केवल अपने स्वरूपसे वैसा प्रकट हो गया है। भगवानका और स्वरूप क्या है? अपने आपमे अपने प्रति ऐसा भाव बनायें कि मैं तो मैं ही हू, शरीर मैं नही, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, रागद्वेष मैं नही, केवल जो रागद्वेष है, जानकारी प्रकाश जो ज्ञान बनता है वही मात्र मैं हू ऐसा अपनेको केवल ज्ञानस्वरूपमात्र अनुभव करते

जाइये और इस धुनसे अनुभव करिये कि शरीरका भान तक भी न रहे, यह भी ज्ञात न रहे कि मैं किस जगह बैठा हू, क्या टाइम है इस समय ? न कालका भान रहे, न क्षेत्रका भान रहे, न पिण्डोका ध्यान रहे, क्या क्या वस्तुवे है इस जगह ? यहा तक कि अपने शरीरका भी भान न रहे, केवल ज्ञानमात्र अनुभव रहे तो यह ज्ञानानुभव मोह ग्रन्थिको तोड देगा। इसके विरुद्ध जहाँ परकी ओर दृष्टि जगती है, आशा जगती है तो यह मोहकी गाठ और और कठिन दृढ होती चली जाती है। जैसे लोग सोचते है कि हम करीब १०-१५ वर्षमे एकदम स्वतत्र और बेफिक्र हो जायेगे। हमारा जो बालक है वह पढ रहा है, कुछ दिनोमे उसका काम चल जायगा, हमसे फिर कुछ मतलब न रहेगा। उसे योग्य बना दे, फिर वह सारा काम सम्हाल लेगा, मुझे कोई चिन्ता ही न रहेगी, बेफिक्र हो जायेगे, मगर कुछ समय के बाद फिर आशा जगती है। अब बालकके भी बालक हो गया, इसे भी पढा लिखा दें और जितना मोह पुत्रसे पिताका नही होता, उतना मोह बाबाका हो जाता है। दादाका मोह पोतेपर अधिक होता है। और, कानूनमे भी यह बात है कि दादाकी जायदाद का अधिकारी पोता होता है, लडका नही। तो इससे ही अन्दाज कर लो कि दादाका पोते पर अधिक मोह होता है। लो अब मोह बना तो उस मोहका फंसाव बढने लगा। पोता बडा हुआ, उसकी शादी हुई, पोतेके सुखके लिए अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ करते। यो जिन्दगीमे कभी भी विराम नही मिल पाता। कोई बिरला ही ज्ञानी पुरुष ऐसा होता है कि स्वजनकी कैसी भी परिस्थिति हो, पर उनमे मोहभाव नही लाता। बिरला ही ज्ञानी संत पुरुष ऐसा कर पाता है, अन्यथा एकके बाद एक आशा बढती जाती है, उसे कही विराम नही मिलता।

धनादिकी आशामें मोह और आकुलताकी दृढ़ता—धनकी भी आशा बडी बुरी होती है। अब इतना धन हो गया, अब इतना हो गया, अब इतना और होना चाहिए, यो आशा-वश सन्तोष कहाँ जगता है ? तो धनकी आशाका भी बडा फैलाव होता है और धनकी आशाका फैलाव होता है त्यो त्यो मोहकी गाठ और भी दृढ होती चली जाती है, शरीर वृद्ध हो जाता है। तो वृद्ध शरीरके होनेका अर्थ तो यही है कि अब शरीर जलाने योग्य होगा इसका मरण होगा, मगर कितना भी जीर्ण शीर्ण शरीर हो जाय, शरीरकी आशा, शरीरका आराम हर एक कोई चाहता है। तो जब तक यह आशा फैलती रहती है तब तक मोहकी गाँठ भी दृढ हो जाती है। दुनियामे केवल मोहका ही तो दुख है, और कोई दुख हो तो बतावो। सब अकेले अकेले है, अपने अपने स्वरूपके धनी है, किसीका किसी परसे कोई सम्बन्ध नही है। प्रत्येक पदार्थ है जैसे वैसे ही यह आत्मा भी है, सत् है। जो चीज सत् है उसका कभी विनाश नही होता, वह सदैव रक्षित है, कोई भी चीज अरक्षित

नही है । चीज है, सदा रहेगी, चाहे किसी रूप रहे, अरक्षा तो हमारी यह है कि जो हम विकारभावकी ओर लगते है, विकल्पमे बहते है यह है हमारी अरक्षा । स्वरूपसे तो हम मिटेंगे नही, हम दु ख बनाते रहते है, आकुलित रहते है यह हमारी अरक्षा है, दु ख दूर हो जाये, आकुलता नष्ट हो जाय फिर हम स्वरक्षित ही है । स्वरूपसे स्वरक्षित तो हम सदैवसे है, कभी मेरा विनाश नही हो सकता, बस हम चाहते यही कि मुझे आकुलताएँ न उत्पन्न हो । मोह भाव मिटे तो आकुलता दूर हो ।

मोह मिटे बिना शान्तिकी असंभवता—पशु पक्षी, मनुष्य सभी इस मोहवश दु खी है । सभी जीवोका दु ख एक ही ढगका है । भले ही उनके विषयमे फर्क है, मनुष्य मनुष्यके बच्चेसे प्रेम करता, मकान महलकी चिन्ता है, धन वैभव जोडनेकी चिन्ता है, मनुष्यका मोह मनुष्यके ढगका है, पक्षियोका मोह पक्षियोके ढगका है, पक्षी भी अपना घोसला बनाते और अपने बच्चोसे प्यार करते । तो पक्षी भी मोह करते हैं, मनुष्य भी मोह करते है । तो सभी जीवोके दु खका कारण यह मोह है । मोह मिटे तो फिर कोई क्लेश ही नही है । अपने आपमे अदाज लगाकर देख लो, जब अपना ऐसा अनुभव चले कि जगतमे मेरा कोई कुछ नही है, अन्य किसीसे सुख नही होता, बल्कि अन्य पदार्थमे स्नेह जगानेका फल केवल क्लेश है । भले ही कल्पनावश हम थोडा मौज मान ले, किसीसे स्नेह करनेका परिणाम केवल क्लेश ही निकलता है और खुद अनुभव कर लेते है कि स्नेहके फलमे अन्तमे क्लेश ही तो मिला । खूब अपनी घटनाओका स्मरण कर लो तो जब सम्यग्ज्ञान बने और परपदार्थोकी आशा मिटे, मोह दूर हो तो आत्माको शान्ति मिल सकती है । यही सीखनेके लिए हम प्रभु के दरबारमे आते है, प्रभुकी पूजा करते हैं, गुणगान करते है, साधुजनोकी सगति करते हैं ताकि मुझमे भी वही गुण प्रकट हो जाये । तो इन गुणोके विकास रोकने वाला है मोह-भाव । यह मोह मिटे तो परिग्रहकी ममता दूर होगी, इस ममताके दूर होनेसे यह जीव सुखी हो जायगा ।

अनिरुद्धा सती शश्वदाशा विश्व प्रसर्पति ।
ततो निबद्धमूलासौ पुनश्छेत्तु न शक्यते ॥८५९॥

निरोधकी ओर उपयोग न होनेसे आशाका विश्वप्रसर्पण—यदि इस आशाको न रोका जाय तो यह आशा कहाँ तक फैलेगी ? समस्त लोक पर्यन्त फैल जायगी । जैसे कोई बेल होती है, उस बेलको न रोका जाय, उसे रास्ता मिलता जाय तो वह फैलती चली जायेगी, उसकी सीमा है मगर एक दृष्टान्त दिया कि वह बेल बढती चली जायेगी लेकिन आशा तो ऐसी बुरी बेल है कि इसे न रोका जाय तो समस्त लोक पर्यन्त बढती चली जायेगी । अर्थात् मनुष्य पहिले थोडी आशा करता है क्योकि उसकी बुद्धि अभी थोडी चल

रही है। अधिक धन भी कुछ होता है इसकी उसे पहिचान ही नही है। जब मनचाहा धन मिल जाता है तब यह पहिचान होती है कि इससे भी अधिक वैभव हुआ करता है, फिर उसकी आशा करता है। यो आशा कहाँ तक करते जाते कि सारा लौकिक वैभव मुझे मिल जाय यहाँ तक आशा कर डालता है, तो इस आशाकी बेलको यदि रोका न जाय तो लोकपर्यन्त यह फैल जाती है, और फैल ही जाय इतनी ही बात नही किन्तु उससे इसका मूल और दृढ होता जाता है। बेल जब ताजी है तो उसकी जड उतनी गहरी नही होती। ज्यो ज्यो बेल फैलती जायेगी त्यों त्यो उस बेलकी जड दृढ बनती जायेगी। ऐसे ही आशा ज्यो ज्यो फैलेगी त्यो त्यो इसकी जड भी मजबूत बनती जायेगी। जब आशाकी जड मजबूत बन जाती है फिर इसकी गाँठ कठिन होती जाती है, अतएव आशा जगे तो तत्काल यथा-शीघ्र उसको रोकनेका, काटनेका, नष्ट करने का, ध्यान रखना चाहिए, आशा फैल जायेगी, आशाकी जड मजबूत हो जायेगी तो फिर इसका निवारण करना कठिन है। देख ही तो रहे है, घर-घरमे अनेक लोग दु खी है। उन सबके दु खी होनेका कारण है स्त्री पुत्रादिकमे मोह भावका होना है। कभी बडा क्लेश मिलने पर सोचते तो है कि मैं इन सबको छोडकर चला जाऊँ लेकिन ऐसा कर नहीं पाते है। हाँ ज्ञान और वैराग्य इतना उत्कृष्ट जगा हो और फिर सबके परित्यागकी वाञ्छा बने तो त्याग कर सकते है, मगर कषायवश रूसकर, ईर्ष्यावश, वेदनावश चाहे कि मैं इन सबको छोड दूं तो छोड नही सकते। और, छोड देंगे तो उससे भी बहुत कष्ट पायेंगे। तो जब तक ज्ञान और वैराग्य दृढ नही बनता तब तक परिग्रहको कोई छोड नही सकता। ऊब कर छोडना छोडना नही कहलाता उसमे फिर क्लेश होगा। तो यह आशा ज्ञानशस्त्रसे काटी जा सकती है। क्या आशा करते हो ? किस पदार्थकी आशा करते हो ? ये सभी पदार्थ भिन्न है। इनके सग रहनेसे इनका परिग्रह रहने से कुछ आत्मामे आनन्द प्रकट नही हो जाता। आनन्द तो आत्माका अपने आप आत्मामे बसा है। जहाँ लोकेषणा जगी, लोग मुझे अच्छा जान लें, इस प्रकारकी जहाँ वासना उत्पन्न हुई कि लो अब कष्ट आने लगे। तो कष्टोको लोग जानबूझकर बुलाया करते है अज्ञानवश।

ज्ञानार्जन व सत्संगके उपायसे आत्मोद्धारके यत्नका अनुरोध—शान्तिके अर्थ यह अवसर चाहिये कि ज्ञान बराबर अपना ठीक बना रहे और वह बना रह सकता है सत्सग से। सत्सगमे निरन्तर बना रहे, और फिर ज्ञान सही बना रहे तो फिर उसे कोई कष्ट नही है। सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करे और आशाका अंकुर न उगने दें, इस उत्पन्न होने वाली आशाको शीघ्र नष्ट कर दे, इस उपायसे आत्माका कल्याण बन सकता है। इसके लिए चाहिए खूब ज्ञानका अर्जन और सज्जनोका सत्सग। लोग चाहते है कि मेरा कल्याण हो

पर कल्याणके सुगम उपाय ये दो है—खूब ज्ञानका अर्जन किया जाय, स्वाध्याय करके, अपनेसे अधिक पढे लिखे पुरुषोको गुरु मानकर उनसे अध्ययन करें और सत्सग बनाये रहे। सगका बहुत अधिक प्रभाव पडता है। ससारके जीवोको ये पापके व्यसन तो अपने आप रुच ही रहे है। अनादिकालसे व्यसन और पापोकी ओर इस जीवकी दृष्टि लग रही है और फिर मिल जाय कुसग, ऐसे ही व्यसनी पापी खोटे पुरुषोका सग तो फिर पतनमे क्या विलम्ब रहता है? बहुत बडा वैभव यही है कि अपनको सत्सग मिलता रहे, सत पुरुषोका समागम मिलते रहनेसे उसमे बुद्धि व्यवस्थित रहेगी और जहाँ बुद्धि ठिकाने रही तो अपने आप सभी पदार्थ इस तरह लगने लगेंगे कि जिससे इस लोकमे भी कष्ट न होगा और भविष्यमे भी कष्ट न होगा। हमे करना चाहिए सत्सग और ज्ञानार्जन। इन दोनो उपायोसे आशाको नष्ट करें और अपने आपमे सत्य विश्राम पाकर आत्मध्यान द्वारा आत्ममग्न होकर अपनी सच्ची प्रसन्नता पाये।

यद्याशा शान्तिमायाता तथा सिद्ध समीहितम्।
अन्यथा भवसभूतो दुखवार्धिर्दुरुत्तरा ॥८६०॥

आशाके शमनमें समीहितसिद्धि—यदि ऐसी शान्ति प्राप्त हो जाती है तो फिर समझिये कि उसी समय सर्व मनोवाञ्छित कार्योकी सिद्धि हो जाती है। मनमे कोई इच्छा न पैदा होना यह समस्त मनोवाञ्छित सिद्धिका देने वाला है, जो चाहा सो मिल गया। जब हम कुछ चाहे ही नही, कोई आशा न रखे तो हमे सब कुछ मिल गया। यदि हम चाह रखते है, आशा करते है तो जिसकी चाह रखी वह तो है ही नही, अन्यथा चाह किसकी कर रहे? तो चाहके मिटनेपर सब कुछ मिटता है और चाहके रहनेमे स्पष्ट ही है कि वह चीज नही मिली हुई है। यदि आशा शान्त हो जाय तो समझिये कि समस्त मनोरथ शान्त हो गए, और यदि आशा शान्त नही हुई तो फिर यह ससारसे उत्पन्न हुआ दुखरूपी समुद्र दुस्तर हो जायगा, तिरा न जा सकेगा अर्थात् ससारका दुख मिट न सकेगा। भ्रममे यही तो हो रहा है कि जिस कुबुद्धिसे क्लेश आते है उसी कुबुद्धिका प्रयोग करते हैं। तो जैसे खूनसे रगा हुआ कपडा कोई खूनसे ही धोना चाहे तो क्या वह धुल सकेगा? नही धुल सकता, वह तो और दगीला बन जायगा, ऐसे ही इच्छावोसे तो दुख उत्पन्न होता और उन दुखो को शान्त करनेके लिए हम इच्छा जगायें तो दुख शान्त होगा क्या? दुख तो बढेगा। तो हे प्रभो! मेरेमे ऐसी सुगति जगे कि किसी भी परपदार्थकी मुझमे वाञ्छा न उत्पन्न हो। निरीहताकी चाह होती है ज्ञानी पुरुषके। जब कि अज्ञानी अपनी सुख समृद्धिके लिए वैभवकी चाह करता रहता है और उस चाहमे उसे दुख ही दुख भोगना पडता है।

परिग्रहसम्बन्धका परिहार करके ही संतजनों द्वारा शान्तिका उपलम्भ—थोडा समा-

गम है धनका तो वहाँ थोडा क्लेश है। जब बहुत समागम हो जाता तो बहुत क्लेश है। काहेके लिए इतना अधिक वैभव जोडना ? किसको प्रसन्न करना चाहते हो ? कौन यहाँ तुम्हारा ईश्वर है ? तुम किसीको प्रसन्न नही कर सकते। दो प्रसन्न होगे तो दो अप्रसन्न होगे। ससारमे ऐसा कोई भी उपाय नही है जिससे ससारके सभी जीव हमपर प्रसन्न हो जाये और मान लो हो गए कुछ लोग प्रसन्न, तो तुम्हारे आत्माका उससे क्या हित हो जायगा ? प्रत्येक पदाथका स्वरूप अभेद्य है। किसी भी पदार्थमे कोई दूसरा पदार्थ कुछ प्रसन्नता नही कर पाता ऐसे सर्वपदार्थ अपने अपने स्वरूपमे मौजूद है। जब हम किसी भी परमे कुछ कर नही पाते, कोई भी पर जीव मुझमे कुछ कर नही सकता तो फिर ये व्यर्थके श्रम सचयके, वैभवके, यश बढनेके, नामवरी करके ये सब प्रयत्न मूढता नही तो फिर क्या है ? यह मोहभाव मिटे और आत्मामे ज्ञान जगे तो आत्माको शान्ति मिलेगी, परके मोहमे आत्माको त्रिकाल भी शान्ति नही मिल सकती। पुराणोमे पढकर देख लीजिए। वर्तमानके लोगोको देख लीजिए, मोह करके किसने सुख पाया ? रामचन्द्र जैसे महापुरुष जिनके विषय में सब लोग एक मत होकर श्रद्धासे देखते है ऐसे प्रभु राम भी जब तक विरक्त नही हुए घरमे बसते रहे तब तक यह बतलावो कि उन्होने कौन लोकव्यवहारमे माना जाने वाला सुख पाया ? प्रथम तो स्वयवरके समय ही कितने और प्रतिद्वन्द्वी खड़े हो गये। सीताका विवाह हुआ तो उसके बाद ही उन्हे और और तरहकी विपत्तिया आयी। जब राजतिलक होनेको था तो एकदम भरतको राज्य होगा यह हुक्म दिया गया। रामचन्द्रको बनवास हुआ। बनमे क्या वह विश्रामसे रहते थे ? अरे जगल तो जगल ही है लेकिन वहाँ भी पुण्यानुसार कोई न कोई राजा महाराजावोका आदर पाते रहे, यह उनके पुण्यविशेषकी महिमा है। लेकिन वही सीताका हरण हुआ उसके वियोगमे क्लेश पाया, यो और और भी क्लेश पाये। तो बडे बडे पुरुषोने भी पुण्यके प्रभावमे कष्ट ही पाया। तो यह आशा जैसे जैसे फैलती है वैसे ही वैसे क्लेश होता है, मोहकी गाँठ दृढ होती है, ऐसा सच्चा ज्ञान और वैराग्य जगे, परिग्रह का सम्बन्ध टूटे, अपने आपमे अपना ध्यान करनेकी धुन बने, स्वयं लीन होकर निर्मल और प्रसन्न रह सके यह कला जग जाय आत्मामे तो हमारा क्लेश दूर हो सकता है, परकी आशा मे, परकी भीखमे आत्माको शान्ति नही प्राप्त हो सकती।

यमप्रशमराज्यस्य सद्बोधार्कोदयस्य च।
विवेकस्यापि लोकानामाशैव प्रतिषेधिका ॥८६१॥

आशाकी महाविघ्नरूपता—जितने भी हित करने वाले सम्यग्ज्ञान है उनमे बाधा डालने वाली आशा है। किसीसे कहा जाय कि तुम अमुक व्रत लो, आजीवन पालो अथवा कुछ दिन नियम करके पालन करे तो उसका भाव नही होता, क्यो नही होता कि आशा

लगी हुई है। आशाका जहाँ भाव होता है वहाँ व्रत नियमका पालन नही किया जा सकता है। शान्ति वहाँ नही है जहाँ आशा लगी है, जो सामने चीज न हो उसकी आशा की जाती है। अनिश्चित चीजकी आशा है तो उस ही ओर धुन है, उसके प्रति अनेक चिन्ताए हुआ करती। यो आशा जिन्हे रहती है उन्हे शान्तिका साम्राज्य कैसे हो सकता है ? जहाँ आशा है वहा सम्यग्ज्ञान भी नही होता। यद्यपि मेरा स्वरूप सिद्ध समान है, अनन्त शक्ति, अनन्त-ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्दका निधान है, लेकिन एक आशाके वश होकर सारा सम्यग्ज्ञान खो दिया। जब सम्यग्ज्ञान नही रहा और आशाकी भीख रही आयी तो यह अज्ञान ही तो रहा। जहाँ आशा होती है वहाँ सम्यग्ज्ञान नही बनता। विवेकका विनाश करने वाला भी आशाका भाव है। जहाँ आशा है वहाँ विवेक नही रहता। क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए इस ओर चाहे बहुत कुछ भी सोच लिया जाय, अनेक बातें चित्तमे आये, अमुक कामसे मेरा हित है, अमुक काम मुझे करना चाहिए, लेकन जब आशाका भाव उदित होता है तो वह सब विवेक भूल जाता है। तो आशा विवेकका भी विनाश करने वाली है। आशा नष्ट हो तो सर्व सिद्धिया उत्पन्न हो सकती है। अपने आपमे निरखो, अपने स्वरूपमे कहाँ क्लेश है ? यह आत्मा समस्त वस्तुवोसे न्यारा है या नही, खूब निरख कर लो, क्या यह जीव घरसे मिलाजुला है अथवा ईंट मकानसे तन्मय है, अथवा जो परिजन है उनमे क्या यह आत्मा तन्मय है ? कोई सम्बन्ध तो नही है। सब अपना-अपना परिणमन करते है, सबका अपना-अपना भवितव्य है, निमित्तनैमित्तिक योग है। सब अपने उपादानसे ही अपना कार्य करते चले जा रहे हैं। सम्बन्ध तो कुछ नही है फिर यह आशाका भाव क्यो आता ? मेरा अमुक यो बन जाय, अमुक यो बन जाय, ऐसी आशा क्यो जगती है ? जब किसी परपदार्थसे इस जीवका कुछ सम्बन्ध नही तब आशा क्यो होती है ? उस आशाके होनेका कारण है अज्ञान। नही पहिचाना अपना स्वरूप, नही जान पाया सर्व पदार्थोको न्यारा-न्यारा, इसलिए आशा जगती है।

आशाके रहते हुए सुखकी नितान्त असंभूति—कोई कितना भी धनी हो, जो वर्तमान मे धन है उसका उसे सुख है नही, क्योकि उससे अधिकके लिए आशा चल रही है। जहा आशा जगती हो वहाँ आनन्द कहाँसे आ सकता है, सन्तोष कैसे हो सकता है ? और आशा फैली अवश्य है समस्त लोकभरमे, अर्थात् सारे लोककी इसको आकाक्षा उत्पन्न होती है, किन्तु जीव तो है अनन्त चाहने वाले। यह लोक किस किसके बटवारेमे जाय ? अथवा ऐसा होता ही नही है कि लौकिक वैभव किसी एकके पास आ जाय, पर चाह रहती है इसे समस्त लौकिक वैभवकी। अतएव यह दुखी होता है। तो आशा ही समस्त सुखोका विनाश करने वाली है। यह जीवन आशा करनेके लिए नही पाया, पदार्थोंका सग्रह करनेके लिए नही

पाया। यह जीवन विनश्वर है, इस जीवनसे कोई अविनाशी कार्यका प्रोग्राम बनाये तब तो वह भली बात है। वह प्रोग्राम हो सकता है आत्मशान्तिका, सम्यग्ज्ञानका। मेरे वह ज्ञान प्रकट हो जिसके प्रकट होने पर फिर शीघ्र ही समस्त कल्याण हो जाते है। लोग बडे-बडे व्यापार करते है, पर एक यह आत्मव्यापार नही करते। जैसे पहिले कोई फैक्टरी खोलता है तो पहिले उसमे १०-५ लाख रुपये खर्च करता है। काम चल जाने पर १०-५ वर्ष बादमे उसे बहुत अधिक आय होने लगती है, तो बडा लाभ पानेके लिए पहिले बडा त्याग करना होता है। यदि अनन्तकाल तक के लिए हम शान्तिका लाभ चाहे तो पहिले बडे-बडे त्याग करने होगे। उस ही उपायमे यह बताया है कि आशाका विनाश करे।

आशामपि न सर्पन्ती य क्षण रक्षितु क्षम.।
तस्यापवर्गसिद्धयर्थं वृथा मन्ये परिश्रमम् ॥८६२॥

आशाके क्षणभर भी निवारणमें असमर्थ प्राणियोंके मुक्तिश्रमकी व्यर्थता—जो पुरुष बढती हुई आशाको क्षणभरमे रोकनेमे असमर्थ है उनके मोक्षकी सिद्धिके लिए परिश्रम करना व्यर्थ है। जो क्षणमात्र भी आशाको नही रोक सकते, जो मनमे आया वह तुरन्त हो ही जाना चाहिए ऐसी जिनके अस्थिरता बनी रहती है, इन सासारिक कार्योमे, सासारिक लाभोमे जिनकी आशाकी प्रचुरता रहती है चित्तमे आया कि अमुक पदार्थ खाना है तो तुरन्त बनवाकर खाते है, चित्तमे किसी विषयके भोगकी प्रचुर आशाको नही रोक सकते है वे मोक्षके लिए क्या पुरुषार्थ कर सकेगे? उनके वे गुण मन बहलानेके लिए या लोकमे अपने धर्मात्मापनकी बात रखनेके लिए होते है। वे कुछ श्रम भी करे तो उनका वह श्रम करना व्यर्थ है। प्रथम तो यह विमर्श कीजिए कि यह आशा एक विकार है, जीवमे दुखके लिए उत्पन्न होती है। इसको नष्ट करना अच्छा है मान लो थोडी देरको आपको सिनेमा देखनेका भाव जगा, एक आशा लग गयी कि हम सनीमा देखें, अगर न देखे सनीमा, उस आशाको मिटा दे तो उससे नुक्सान क्या हुआ? शान्ति तुरन्त हो गयी। ऐसी ही समग्र विषयोकी बात है। हम आशाके वश न हो तब तो हमारा मोक्षके लिए पुरुषार्थ चल सकता है, यदि हम आशाके वशीभूत हुए है तो धर्मपालन वहाँ नही हो सकता। आशासे ही परिग्रह बढता है, अथवा आशा ही परिग्रह है। ये बाह्यपदार्थ रहे न रहे, वैसे ही हो वह परिग्रह नही कहलाता, किन्तु उनमे मूर्छा परिणाम जगना यही परिग्रह है। यह आशासे होता है, और जिसे परिग्रह लगा है वह अपने आत्माकी सुध नही रख सकता। जो आत्माका ध्यान नही कर सकते उन्हे मुक्ति नही प्राप्त हो सकती। सदाके लिए ससारके सकट छूट जायें यह तो सम्यग्ज्ञानसे ही सम्भव है।

भगवंतोंकी निरीह अपार कृपा—हम भगवानके इतने कृतज्ञ क्यो है? उनका समा-

रोह मनाते हैं, उनका गुणगान करते है, सारा विश्व उनका कृतज्ञ है, इसका कारण क्या है कि प्रभुने समस्त विश्वको वह उपदेश दिया जिस उपदेशपर चलकर हम सदाके लिए ससार के सकटोसे छूट सकते हैं। भला यदि एक ही भवके कुछ थोडेसे सकट मिट गये, धन वैभव जुड जानेसे क्षुधा आदिककी वेदनाएँ शान्त कर ली, कोई प्रकारकी तकलीफ नही रही पर ये विषयकषाय तो अभी नही टले। भगवान महावीर स्वामीने ऐसा उपदेश दिया कि वह कार्य यहाँ कर जावो कि फिर सदाके लिए सारे सकट टल जायें। और, ऐसा ही उपाय अनन्त तीर्थंकरोने बताया। जो सत्य बात है वह सदा एक ही रहती है। जो उपदेश महावीर प्रभुने दिया है वही उपदेश उनके पहिले जितने तीर्थंकर हुए उन्होने किया, वही उपदेश समस्त विदेहोमे तीर्थंकर किया करते है। जो सत्य बात है, जो अनादिसे स्वरूप पाया जाता है, जिसके सम्यग्ज्ञान हुआ है वह तो एक ही समान जानेगा। अनन्त तीर्थंकरोने वस्तुका स्वरूप सही-सही जाना और वैसा ही उनकी दिव्यध्वनि से प्रसारित हुआ, तो उनके उपदेशसे हमे वे उपाय मिले कि जिन उपायोसे चलकर हम सदाके लिए सकटोसे छूट सकते है। उनके उन उपायोमे सर्वप्रथम उपाय है भेदविज्ञान। जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा समझ ले, उसका सही स्वरूप समझ ले, यही है भेदविज्ञान। यह भेदविज्ञान हमारे मोक्षका प्रथम साधन है।

वस्तुस्वरूप समझनेका भागवत उपाय—वस्तुका स्वरूप क्या है कैसे हम जानें कि यह वस्तु सही हे स्याद्वादसे। अनन्त भगवन्तोने पदार्थोंके जाननेका उपाय स्याद्वाद बताया है। स्याद्वादका अर्थ है स्याद मायने अपेक्षासे, वाद मायने कहना। कोई अपेक्षा रखकर उस धर्मका उपदेश दिया जाय सो स्याद्वाद है। स्याद्वादमे पूर्ण निर्णय बसा हुआ होता है, सशय नही रहता है। जैसे लोकमे किसी युवकका परिचय दिया जाता है तो यो ही कहा जायेगा न कि यह अमुकका लडका है, इसमे ही और लगा दिया जाय तो हो गया—यह अमुकका लडका ही है। यही निर्णय हुआ और यही सच है, और जब यो कहा जायेगा कि यह अमुक का पिता ही है तो वह भी सच है। पिताकी दृष्टिसे पुत्र बताना और पुत्रके मुकाबले पिता बताना इसमे पूर्ण निर्णय भरा हुआ है। स्याद्वाद उपाय बताया वीर प्रभुने पदार्थोंका यथार्थज्ञान करनेमे समस्त पदार्थोंका अपना अपना स्वरूप होता है। स्वरूप रहित कोई पदार्थ नही है। स्वरूप ही नही तो उसका सत्त्व क्या? यदि कुछ है तो उसका स्वरूप भी तो होगा। प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना स्वरूप रखते है और स्वरूप मिलता है ४ बातोसे, उसका पिण्ड, उसका क्षेत्र, उसका समय, अवस्था और उसका गुण। इस स्याद्वादके द्वारा पहिचाने कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे हैं परके स्वरूपसे नही। मान लो दो मित्र हैं अथवा बहुत दिल मिले हुए पिता पुत्र है, पिता अनेक उपाय करता है पुत्रको सुखी करनेके लिए, मगर क्या

पिता पुत्रके आत्माके सुखरूप परिणाम जायगा ? नही परिणम सकता । वह पिता अपनी कल्पनाएँ बनाता है, कल्पनाएँ उसकी चीज हैं और कल्पनाओंरूप वह परिणम जाता है। यो प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपसे ही रहा करते है। यह वीरप्रभुके उपदेशसे हमे या-द्वाद मिला है और इस सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे ही यह विश्व वास्तवमे कृतज्ञ बनता है। हम वीरप्रभुमे इसीलिए कृतज्ञ है कि हम पदार्थके सत्यस्वरूपकी झलक कर लेते है। चाहे हम कर्मविपाकवश उस पथमे भी न चल सके किन्तु झाकी मिल गयी कि हमको इस पथसे चलना चाहिए। हमारा कर्तव्य इस मार्गसे चलनेका है। झाकी मिल जाना भी एक बहुत वडे सन्तोषको उत्पन्न करता है।

निःसंकट आत्मामें संकट बसा लेनेकी भूल—ससारमे जहाँ देखो वहाँ सकट ही सकट है। इस जीवके अज्ञान बसा है अतएव जीवने संकट समझ रखा है। इष्टका वियोग हो गया, अब मान लिया कि मुझपर बडा सकट छाया है। अरे सकट क्या है ? तुम तो पूरे के पूरे हो। यह दुनिया आनी जानी है। अभी यहाँ बैठे हो, कलको न जाने कहाँ चले जावोगे, यह तो ससारकी रीति है। यह तो पदार्थका परिणमन है, सकट क्या आया सो बतलावो ? पर दिलमे स्नेह बसा था सकट बना लिया। स्नेहसे इस जीवको कुछ भी लाभ होता हो तो परख लीजिए, निर्णय कर लीजिए। किसी जीवको चाहे वह स्वजन हो, चाहे मित्र हो, किसीसे भी स्नेह परिणाम करनेसे कुछ भी लाभ मिलता हो तो अन्तरमे दृष्टि देकर निर्णय कर ले। कैसा ही कोई स्वकीय हो, सगा हो, पुत्र हो, मित्र हो, स्त्री हो, कोई हो किसीमे स्नेह भाव जगानेसे इस आत्माको कोई लाभ मिलता हो तो ढूँढ निकालो। केवल एक विषयोके साधनकी यदि बात कहोगे कि किसीसे स्नेह करनेसे हमारे इन्द्रिय और मनके विषयोका साधन मिल जाता है, तो वह क्या लाभकी बात है ? अरे ये सब स्वप्नवत् बाते है, मायारूप है, इसी तरह यहाँ भी जो समागम मिले है वे सब निपट मायारूप है, जो दृष्टिगोचर होता है, जो यह अवस्था बनी हुई है इसे एक व्यापक दृष्टिसे विचार करो तो यह स्पष्ट विदित होगा कि इससे रच मात्र भी लाभ नही है। यहाँ जो एक दूसरेसे स्नेहका भाव किया जाता है इससे भी रच लाभ नही है। इन्द्रियके विषयोका साधन मिलना, मनके विषयोका साधन मिलना यह सब मायारूप है, और इस जीवको संसारमे भटकाने वाला है। स्नेह करके इस आत्माको कोई लाभ नही मिलता है।

आशाके परित्यागमें अन्य सब हितसाधनोंकी सुगमता—जब श्रीरामचन्द्रजी के दरबारमे उनका सेनापति कृतान्तवक्र यह बोला कि हमे तो इस ससारसे उदासी आयी है, अब मैं यहाँसे जाऊगा और मै अब अपने इस पदका स्तीफा देता हू और सर्वपरिग्रहका त्याग करता हू तब उसे अनेक लोगोने समझाया, श्री रामचन्द्रजी ने भी कहा कि अचानक तुम

ऐसा व्रत धारण करनेकी क्यो ठानते हो ? यह बडा दुर्धर व्रत है, मुश्किलसे पालन हो पाता है, तो कृतान्तवक्रने कहा कि हे प्रभु ! जब हम आपके स्नेहका परित्याग कर रहे है तो इससे कठिन और बाकी तपश्चरण नही हो सकते । स्नेहका परित्याग कर देना, आशाका परित्याग करना इससे उत्कृष्ट और क्या तपश्चरण हो सकते है ? तपश्चरणमे तो सिंह भी आक्रमण करे, बडे बडे शत्रु भी आक्रमण करे तो उन्हे भी समतासे सहन करना पडता है । तो जो आशाका विष, स्नेहका विष जीवोमे लबालब भरा हुआ है उस विष भरी हालतमे कुछ ऊपरी-ऊपरी कार्य करके एक सामाजिक ढगसे, पार्टीके ढगसे, मण्डलीकी पद्धतिसे कुछ धार्मिक कार्य करके अपने को सन्तुष्ट मान ले, हमने तो प्रभुका समारोह मना लिया, यह काम तो हमारा अच्छा भी बैठ गया । हमने कुछ किया यो हम सन्तोष करले तो जरा भीतरी दृष्टिसे विचारो तो सही, जो आशा विषसे, गहराईसे लबालब भरा हुआ है, उसमे धर्मकी गध कहाँसे आ जायेगी ? जब भेदविज्ञानकी झलक ही न हुई हो, एक क्षण भी परके विकल्प तोड कर निजमे आनेकी बात ही न आती तो ऐसे कठोर चित्तमे, अहकार भरे चित्तमे धर्मकी गध कहासे आयेगी ?

वीर प्रभुने आशाका सर्वथा परिहार किया था, और उनके चरित्रसे मालूम होना चाहिए कि उन्होने दुर्धर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके इस आशाका परिहार किया और निसग, परित्याग महाव्रत धारण करके समस्त आशावोका परित्याग किया । आज हम उनकी मूर्तिकी स्थापना करके उस मूर्तिके समक्ष इतने विनयसे रहा करते हैं, इतना आदर किया करते हैं, वह सब किसका परिणाम है ? भगवनने आशाका सर्वथा परिहार किया, जिसके कारण उनमे उज्ज्वलता बढी, विकास बढा, पूर्ण विकास हुआ, उसीसे यह विश्व उनका सेवक बन रहा है ।

भगवंतोके शासनसे अपने अनुशासनकी भावना—भगवतोके उपदेशसे हमे कुछ अपना भी अनुशासन सीखना चाहिए । मैं भी अब इस आशाका सर्वथा परिहार कर सकूंगा और विकार रहित शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभव करूँ, ऐसी अपनी भी तो इच्छा होनी चाहिए । भला इस कुटुम्बमे ही, इस वैभवमे ही आशा लगा लगाकर स्नेह बना बनाकर जीवन पूरा करनेमे लाभ क्या पा लोगे ? कुछ सोचना तो चाहिए । बहुत काल जाता है स्नेहमे, बहुत काल जाता है कषायोमे, बहुत काल जाता है विषयविकारोमे, तो क्या कुछ क्षण अपनेको निर्विकार अनुभव करनेमे कठिनाई न होना चाहिए । जो चीज एक बार देख ली गई है वह तो वैसीकी ही वैसी जाननेमे आया करती है । कितने भी अन्य अन्य प्रसग आये, अपना उपयोग कुछ बदल भी जाय, लेकिन देखी हुई चीज अन्यथा गलत नही होती । इसी तरह सत् पुरुषार्थसे, स्वाध्यायसे, सत्सगसे, किसी भी प्रकार अपने आपका सही अनु

भव जग तो जाय कभी, अनुभव जग जानेपर फिर कितने भी प्रसंग आये उनकी प्रतीति नही टाली जा सकती है। तो करनेका काम यही है, आशाये रखकर जीवन व्यतीत करना अपना कर्तव्य नही है। प्रभु वीर भगवानने हम सब जीवोको वह उपदेश दिया जिसपर चलकर हम सदाके लिए सकटोसे छूट सकते है, पर साथ ही यह भी समझे कि जो सर्वोत्कृष्ट उपदेश होते है उन उपदेशोकी शैलीमे पद पद पर वे भी दु खी रहते है जिससे हम लौकिक जीवन भी अपना सुखी बना सके।

प्रभुभक्तिकी वास्तविकताका आधार—हम प्रभुकी याद करते है तो उनकी यादमे हम एक यह शिक्षा ले, आज यह सकल्प करे कि हम अपने जीवनमे सद्भावना बनाये रहेगे। किसी भी जीवका हम बुरा न सोचेगे, धर्मका कोई कार्य होता हो तो अपने नामके खातिर अथवा उसमे नाम नही हो पाया, इससे कुछ बुरा मानकर उसमे विरोध करना यह अत्यन्त बुरी असद्भावना है, ऐसा असद्भाव न रखेगे, और यह भावना करे कि जो भी लोग इस हितकारी धर्मकी प्रभावनामे जितना जो कुछ अपनी सामर्थ्य करके प्रभाव बढाना हो बढाये और उसमे प्रसन्नता माने। परस्परमे किसी दूसरेके प्रति ईर्ष्याभाव न रखे, जितना बन सके सधर्मीजनोके सकट दूर करे, तन, मन धन, वचन सब कुछ यथाशक्ति लगाकर अपने सधर्मी जनोके सकट दूर करे, और विशेष क्या बताया जाय ? सम्यग्ज्ञानके ८ अगोमे हमे व्यवहारमे क्या करना चाहिए यह सब कुछ दर्शाया गया है। प्रथम तो हम धर्मके तत्त्वमे शका न करे। जो प्रभुने पथ बताया है उस पथ पर सन्देह न रखे। अपने शरीरकी पोजीशनके लिए मनचाही इच्छाये न बनाये। धर्मात्माजनोकी सेवामे हम घृणा न करे। ग्लानिको छोडकर हर सम्भव उपायोसे हम धर्मात्मावोकी सेवा करे। कभी किसी कुपथसे प्रभावित न हो जाये। मनमे यह श्रद्धा रखे कि मुक्तिका मार्ग तो यह विज्ञान वीतरागता है। सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रका ही पथ सकटोसे छुडाने वाला है। लौकिक चमत्कारोसे प्रभावित होकर अपने भीतरी निर्णयको न बदले। दूसरेके दोषोको प्रकट न करे अर्थात् निन्दा न करे। हम अपने गुणोको अपने मुखसे न बोले। कोई धर्मात्मा पुरुष किसी भी बातसे पतित हो रहा हो उससे घृणा न करे, किन्तु जैसे वह धर्ममे स्थिर हो सके वह उपाय बनाये। सधर्मीजनोसे भी निष्कपट भाव रखे और अपना चारित्र बढाकर अपना आचरण शुद्ध करके ईमानदारीसे रहकर, न्यायवृत्तिसे रहकर लोगोमे धर्मकी प्रभावना बढाये, ये सब कार्य प्रभुने बताये हैं। इन कर्तव्योपर चलते रहेगे तो लौकिक जीवनमे भी हम कष्ट न पा सकेगे। और परमार्थ पथका तो मुख्यतया उन्होने उपदेश किया ही है। हम आज अपनेमे यह संकल्प बनाये कि हे प्रभो ! मुझमे ऐसी सुमति जगे कि सद्भावना ही वर्तती रहे। सब जीवोके हितके लिए हमारा भाव बना रहा करे, किसीके हम विरोधी न बने, निन्दक न

बने। हे प्रभो ! हममे ऐसी सद्बुद्धि बने और उस ही शुद्ध आचरण पर चल सके तो हम प्रभुके सच्चे मायनेमे भक्त कहला सकते है।

आशैव मदिराक्षाणामाशैव विपमञ्जरी।
आशामूलानि दुःखानि प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥८६३॥

आशाकी सकलदुःखमूलता--ससारी जीवोकी आशा ही इन इन्द्रियोको उन्मत्त करने वाली मदिरा है और आशा ही विपको बढाने वाली मजरी है। जितने भी जिसे क्लेश होते है वे सब आशासे होते है। जीव तो स्वभावसे ज्ञानानन्दस्वरूप है किन्तु अपने स्वभावका दृढ परिचय न होनेसे स्वभावमे विश्राम तो नही हो पाता और आराम विश्रामकी ही इसकी प्रकृति है। कही न कही यह रमण करना चाहता है। सो अपना धाम तो इसे मिला नही तब बाह्यमे परवस्तुवोकी ओर जाता है, आशा करता है। तो परवस्तुकी आशा ही इसकी इन्द्रियको उन्मत्त करने वाली है। इन इन्द्रियोको जितना प्राप्त विपय बरबाद नही करते जितना कि अप्राप्त विषयोकी आशा बरबाद करती है। इस जीवमे न तो परपदार्थोके भोगनेकी क्षमता है और न परपदार्थोके त्यागनेकी क्षमता है। प्राप्त समागमसे जीव उतना बरबाद नही होता बल्कि कभी कभी तो पछतावा करता और अपने सत्पथपर ले जाता है लेकिन अप्राप्त विषयोकी जो आशा लगी रहती है जीवोको वह प्रमत्त करने वाली मदिरा है। आशा ही विषको बढाने वाली मजरी है। ससारके सारे क्लेश आशाके आधार पर हैं। सभी क्लेशोका विचार कर लीजिए, सभीके क्लेशोका कारणभूत यह आशा है। आशा न हो तो क्लेशोका कारणभूत यह आशा है। आशा न हो तो क्लेशोका यहाँ नाम ही न रहेगा। ऐसा जानकर आशाका प्रतिषेध करें जिससे परिग्रहके सही मायनेमे त्यागी बनें। और, परिग्रहके त्यागसे फिर आत्मध्यानकी पात्रता जगे, आत्माका ध्यान बन सके। लोकमे आत्मध्यान ही शरण है, ऐसे शरणभूत अतस्तत्त्वको पानेके लिए हम आप सबको परिग्रह त्यागके सकल्पकी भावना आवश्यक है।

त एव सुखिनो धीरा यैराशाराक्षसी हता।
महाव्यसनसकीर्णश्चोत्तीर्णः क्लेशसागरः ॥८६४॥

आशा नष्ट करने वालोंके ही क्लेशसागरकी उत्तीर्णता--जिन लोगोने इस आशारूपी राक्षसीको नष्ट कर दिया है वे पुरुष धीर वीर और सुखी हैं। महापुरुषोमे और साधारण पुरुषोमे एक यही तो अन्तर है, जिनके आशा लगी है वे है साधारण पुरुष और जिन्होने आशाका परिहार कर दिया वे हो जाते हैं महापुरुष। महापुरुषोकी और पहिचान क्या है ? कोई शरीरका ऊपरी चिन्ह ऐसा नही है कि जिसे देखकर समझ लिया जाय कि यह महा-पुरुष है। महापुरुषका परिचय तो नैराश्यसे है। जिसके आशा बस रही है वह है लौकिक

पुरुष। जो आशाके दास है, वे पुरुष धैर्य कहाँ धारण कर सकते है ? आशा जगती है और धैर्य टूट जाता है। किसी भी कामकी आशा हो, धन वैभवकी, यश प्रतिष्ठाकी, विषयसाधनो की इत्यादि, तो वहाँ धैर्य न ी रहता और आत्मामे वीरता भी नही रहती। वीरता तो वह है कि कोई क्षोभ उत्पन्न न हो। जो बलवान पुरुष होते है उनको क्षोभ नही उत्पन्न होता है, इसीके मायने तो बलवत्ता है। तो वास्तविक बलवत्ता वह है जहाँ क्षोभ उत्पन्न न हो। जहाँ आशा लगी है वहाँ यह बल नही प्राप्त होता। जिनके आशा लगी है उ के सुख भी नही है। वर्तमानमे है कुछ वैभव लेकिन इससे आगेके वैभवकी आशा लगी है तो सारा ज्ञान उस अप्राप्त विषयमे पहुच गया। प्राप्त समागमका अब सुख क्या रहा ? जैसे कोई खानेका तृष्णालु है तो जो भोजन कर रहा है उसका भी उसे सुख नही मिल रहा है क्योंकि उसको अन्य स्वादिष्ट भोजन पर दृष्टि है। तो अन्य वस्तुपर दृष्टि होनेसे भोगे जाने वाले विषय भी सुखकर नही हो पाते। यह आशा समस्त सुखो पर पानी फेर देती है। जो पुरुष इस आशा पर विजय कर चुके है वे ही धीर वीर और सुखी होते है। जिन पुरुषोने इस आशाका विनाश किया है वे पुरुष इस दु खरूपी संसारसमुद्रसे पार हो जाते है। हे आत्मन् ! प्राय रातदिवस किसी न किसी रूपमे किसी न किसी पदार्थकी आशा बसा बसाकर अपनेको परेशान कर देते हो। कभी १०-५ मिनट तो इस आशारहित निज ज्ञानस्वरूपकी उपासना तो करो। यह आशा क्यो जगती है ? यह आशा मेरी चीज तो नही है, मेरे स्वरूपमे तो नही है आशा। मैं तो प्रभुवत् ज्ञानानन्दस्वरूपका पुञ्ज हू। यह आशा राक्षसी क्यो जगती है ऐसा एक ध्यान बनाकर जरा आशारहित ज्ञानानन्दस्वरूप निज अतस्तत्त्वका ख्याल तो कर लो। समस्त कष्ट दूर हो जायेगे। दु खरूपी ससारसागरसे पार हो जावोगे। जितने क्षण आशारहित होकर निजज्ञानस्वरूपके ध्यानमे व्यतीत हो जायें उतने क्षण तो सफल है, इससे अतिरिक्त जो कुछ परतत्त्वोका आकर्षण बने, आशा बने वे सब तत्त्व बेकार है। यहाँके ये सब लोग मायारूप है, इनसे मेरा कुछ ि त नही। मुझे बा रमे किसीकी आशा नहीं करना है, अपने अन्दर ही अन्दर गुप्त होकर एक ज्ञानानन्दस्वरूपकी आराधनाका अमृत पीना है। यह मैं आत्मा अविनाशी हू, अमर हू, ऐसा भाव बनते रहनेका नाम है अमृतका पान करना। जो न मरे ऐसे स्वरूपको उपयोगमे लेना यही 'वास्तविक' अमृतपान है। जो पुरुष आशासे दूर होते है वे इस अमृतका पान करते है। वे दु खरूपी ससारसमुद्रसे नियमसे पार हो जाते हैं।

येशामाशा कुतस्तेषा मन शुद्धिः शरीरिणाम्।
अतो नैराश्यमालम्ब्य शिवीभूता मनीषिण ॥८६५॥

आशावान् हृदयमें शुद्धिका अभाव--जिन पुरुषोके आशा लगी है उ के मनकी

सिद्धि कैसे होगी ? जिन्हे सुख चाहिए उन्हे अपने आप पर बडा भरोसा रखना होगा। कैसी भी परिस्थिति आ जाय वहाँ यही समझना होगा कि मेरा कुछ नही गया। मेरा कुछ बिगाड नही हुआ। जरा जरासे बिगाडपर अपनेको चिन्तातुर बना लेना यह कहाँकी बुद्धिमानी है ? ससारके बिगाडोका कोई लेखा भी है क्या ? किसी परिवारमे धन भी मिट जाय, लोग भी गुजर जाये, वृद्धावस्था वाला कोई बूढा बच गया, न धन रहा, न कुटुम्ब रहा, उसे तो कमसे कम यह कह लो कि मेरी अपेक्षा यह ज्यादा दु खी है। अनेक आशाएँ ऐसी गडबड हो जाती है कि जिससे अधिक बिगाड इस जीवका हो जाता है। तो ससार तो बिगाडोका घर है। यहा की किसी बातको अनोखी क्यो समझते हो ? कोई सेठ किसी अपराधसे चला जाय जेलखानेमे और वहाँ पिसाई जाय उससे चक्की और वह अपने आरामोका ख्याल करे, कमरेमे ऐसे गद्दे पडे है, मैं ऐसे आरामसे रहता था, मेरे ऐसा लाखो करोडोका वैभव है, यो अपने वैभवका ख्याल करे और उस ख्याल करके वर्तमान कष्टोमे माने खेद तो उससे उसका खेद बढेगा कि मिटेगा ? बढेगा। और, कदाचित यह जान जाय कि घर तो घर ही है, अब तो यहाँ जेलखाने मे हैं। यहा तो ऐसा ही करना पडता है, न चक्की पीसे तो कोडो की मार सहेगे। यहाँ का तो यही हाल है, ऐसा समझ ले तो जेलखानेमे रहकर भी वह दु खी न होगा कुछ धैर्य रखेगा। यो ही समझिये कि इतने बडे विशाल बिगाड वाले जेल-खाने मे हम आप सभी रह रहे हैं, जहाँ अनेक परिणतिया अपने मनके प्रतिकूल हो रही हैं, जहा मनचाहे विषयसाधनोका अभाव बना रहता है, कोई किसीके आधीन नही है और यह चाहता है सबको अपने मनके माफिक, ऐसे इस बिगाड़मय ससारमे यदि कुछ भी बात गुजरे, कुछ भी बिगाड हो तो इतना साहस तो बनावे कि यदि भगवत जिनेन्द्र की भक्ति जगी हो और तुम सच्चे जिनेन्द्रके भक्त हो तो अन्त यह निर्णय कर लीजिए कि ससार ही सारा कुछसे कुछ बन जाय उस नक्से भी मेरा कोई बिगाड नही होता। मैं अपने आपमे अपने भावोको बिगाडूं, अपने स्वरूपकी पहिचानसे विलग रहूं तो यह कर रहा मैं अपना साक्षात् बिगाड।

नैराश्यके आलम्बनमें श्रेयोलाभ—जो परपदार्थोकी आशा न रखे वही पुरुष धीर वीर और सुखी होता है। और अनेक आपत्ति और कष्टसे भरे हुए दु खरूपी ससारसमुद्रसे पार हो जाता है। जिनके आशा लगी है उनके मनमे पवित्रता कैसे जग सकती है ? इसी कारण जो विवेकी बुद्धिमान पुरुष है वे निराश्यताका आलम्बन करते हैं और अपने कल्याण की सिद्धि करते है। जिन्होने आशाका परिहार किया उन्होने ही अपना कल्याण किया। फल चाहते तो है निर्वाण और दादा बाबा बच्चोकी आशा लगाये हैं तो यह बात कैसे हो सकती है ? केवल बनना है तो यहाँ इस केवल को जानना चाहिए। और, इस केवलरूप

से ही अपना आचरण बनाना चाहिए। बनना तो चाहे केवल और काम करे परपदार्थोंके आकर्षण, विकल्प, आशा भाव बनाये रहनेका तो कल्याण कैसे हो सकता है ? जैसे लोग कहने लगते है कि वाह पुरुष तो चाहते है कि हमारी स्त्री सीता बने और खुद क्या बनना चाहते है ? रावण। तो जैसे उन्हे धिक्कारते है ना, ऐसे ही धिक्कार योग्य बात यह है कि कुछ दिल बहलवानेके लिए, कुछ लौकिक यशके लिए कुछ कुल परम्परा है इसलिए कुछ रूप तो दिखाये निर्वाणपनेका और निरन्तर आशा का विष ही अपनेमे बसाये रहे तो इसमे कौनसी बुद्धिमानीकी बात है ? जो आशाका परिहार कर दे वे ही निर्वाणको प्राप्त करते है।

सर्वाशा यो निराकृत्य नैराश्यमवलम्बते।
तस्य क्वचिदपि स्वान्त सगपङ्कैर्न लिप्यते ॥८६६॥

सर्व आशावोंका निराकरण करके नैराश्यके अवलम्बनमें सत्य निर्ग्रन्थता—जो पुरुष आशाको दूर करके निराशाका आलम्बन करते है उनका मन किसी भी कालमें परिग्रहरूपी कर्दमसे नही निकलता है। जो आशाको छोड दे उनके परिग्रहरूपी मल फिर किस भावसे लगेगा ? अपने ही अन्दर कुछ निरख लीजिए। है तो यह ज्ञानस्वरूप। जिसमे कल्पनाएँ जगती, विचार बनता, तर्क वितर्क उठता है वह है कोई ज्ञानात्मक चीज। कल्पना भी तो ज्ञानका रूप है। विचार तर्क ये सब ज्ञानकी ही ती चीजे है। तो हम ज्ञानका कुछ परिणमन बनाये रहनेके अतिरिक्त और करते क्या है ? सो कुछ निरख लीजिए। सर्वत्र कही भी हो, मंदिरमे हो, दूकानपर हो, गलीमे हो, किन्ही भी परिस्थितियोमे हो, किन्ही भी स्थानोमे हो, सिवाय एक ज्ञानका परिणमन बनानेके यह जीव और कुछ नही करता। उस ही ज्ञानकी कल्पनामे समस्त पदार्थोंके कर्तृत्वका भार लादे है। केवल एक ज्ञानकी कल्पना-भर बनाता है यह जीव, और कल्पनाएँ ऐसी अटपटी बेढंगी बना लेता है कि जन्म मरणका होना, ऐसी अनेक कुयोनियोमे जन्म लेना, अज्ञान अंधेरा छाना, सत्पथ न मिलना, पर्यायको ही सर्वस्व समझना ये सारी विपत्तियाँ, विडम्बनाएँ उसपर सवार हो जाती है। केवल एक ज्ञानकी परिणतिको हम सही बना लें, कुपथसे अपनेको हटा ले, इतना भर काम हम अपने अन्दरसे कर सके तो कल्याणके लिए फिर जो कुछ कर्तव्य होता है वह सब यथार्थ बन जाता है। जो समस्त आशावोका निराकरण कर देते है, निराशाका आलम्बन करते है वे पुरुष निष्परिग्रह है।

इच्छाकी परिग्रहरूपता—इच्छाका नाम परिग्रह है। जिसके इच्छा है उसके अज्ञान-मय भाव है, अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नही होता। तो अज्ञानमय भाव न होनेसे ज्ञानी सदैव निष्परिग्रह रहता है। कही साथ जा रहे हो, दो चार मित्र साथ हो, नौकर भी

साथ हो, किन्तु पासमे रखे है धन थैलेमे अथवा ट्रकमे तो यह मालिक सबसे वचन भी ले लेता है। देखो भाई यह जगह डरकी है, यहाँ चोर लुटेरे बहुत आते है, सब लोग खूब जागते रहना, सो मत जाना, देखो हम कुछ अपनी नीद अच्छी तरहसे ले लें। सब लोग हाँ भी कह देते है, हाँ सेठ जी तुम खूब आनन्दसे सोवो, हम लोग बराबर देखते रहेगे, पर हाल क्या होता है कि वे सबके सब तो आनन्दसे सोते है और यह मालिक खूब वचन भी ले चुका तिसपर भी सोता नही है, जगता रहता है। कितना ही किसीसे कहलवा लो, कुछ प्रभाव तो भीतरी इच्छाका रहेगा। विवशतामे कुछ भी बात कहलवा लो। जिनके इच्छा है चिन्ता तो वे करेगे। वह सोचता है कि कह तो दिया इन लोगोंने कि हाँ हम जगते रहेगे पर ये सो गये और धन चला गया तो क्या होगा, सो इस चिन्तामे वह सो नही पाता है। इच्छाका ही नाम तो परिग्रह है, आशा कहो, इच्छा कहो, परिग्रह कहो, ये करीब हेरफेरसे लोभकषायके ही नाम है। जो आशाका परिहार करे उसे परिग्रह का मोह लग नही सकता। बडे बडे महापुरुषोके जो चरित्र हैं उन्हे देख लो, जब तक उन्होने सर्वपरिग्रहोका त्याग नही किया तब तक वे दुःखी रहे, सुख तो तब मिला जब सर्व-परिग्रहोका त्याग किया। लोग इच्छा बनाये है, आशा बनाये हैं इस कारण नैराश्य अमृतका पान नही कर पाते। जैसे नपुसक वेदमे जो अन्त पीडा है, वेदना है वह विचित्र है, न भोग सकते, न तृप्त हो सकते। ऐसे ही और नही तो कमसे कम वृद्धावस्थाका तो कुछ दिग्दर्शन कर लो कि जहाँ इच्छासे कुछ भी काम नही बनता है पर इच्छा लगाये रहते हैं तीन लोक की। जब बच्चे लोग समृद्ध हुए, खूब आराममे है फिर भी इस आशावश वे वृद्धावस्थामे भी दुःखी रहा करते हैं। न उनकी इच्छा पूर्ण हो पाती है, न उससे कुछ काम बनता है फिर भी इच्छा बनाये रहते है, यह एक बात इसलिए कही कि वृद्धावस्था तो बिना आशा के गुजारनेके लायक है। इन्द्रिया शिथिल हो जानेसे, किसी चीजकी चाह करनेसे लाभ कुछ नही है, लेकिन मनकषायकी शक्तिसे, प्रेरणासे जवान बना रहता है। जो पुरुष इस आशा का निराकरण करके आशारहित, समस्त विकाररहित ज्ञानस्वरूपका अपने आपमे अवलम्बन करते है वे पुरुष परिग्रहके मलसे लिप्त नही होते।

तस्य सत्य श्रुत वृत्त विवेकस्तत्त्वनिश्चय।
निर्ममत्व च यस्याशापिशाची निधनं गता ॥८६७॥

आशापिशाचीके दूर होने पर ही श्रुतकी सत्यता—जिस पुरुषके आशारूपी पिशाची निधनको प्राप्त हो गई है, नष्ट हो गई है उसका शास्त्राध्यन करना सार्थक है और जिसकी आशापिशाची नष्ट नही हुई उसका शास्त्राध्ययन भी कुछ मूल्य नही रखता। एक बहुत ऊचा पडित बनारसमे था। बहुत पुरानी बात नही दो तीन पीढी की ही बात है। उस

पडितका बडा यश फैल चुका था। खूब वृद्ध होने पर भी वह रात्रिभर शास्त्राध्ययन करते थे। लोगोने उनसे कहा कि पडित जी आप अब बहुत वृद्ध हो गए, आपका यश भी खूब फैल चुका है, अब तो आपको इतना श्रम करने की आवश्यकता नही रही। तो पडित जी बोले कि हमारा यश खूब फैल गया है। अब यदि हम किसीसे शास्त्रार्थमे हार गए तो हमे कुवेमे गिरकर ही प्राण देने होगे। सो कही हार न जाये इस कारण इतना श्रम अभी करते रहते है। आखिर एक दिन हुआ भी ऐसा ही। किसी जवान विद्वानसे शास्त्रार्थमे हार गए तो रात्रिको कुवेमें गिरकर अपने प्राण त्याग दिया। तो इस आशा राक्षसीका जिसके निवास है उसे अपने आपका लाभ कुछ नही सूझता। जो कुछ उद्वेगमे आया उसी कर्तव्यके करने पर उतारू हो जाता है। शास्त्राध्ययन उसका निरर्थक हो जाता है। जिसने आशा-पिशाचीको नष्ट किया वही पुरुष सम्यग्ज्ञानके द्वारा अपने इस स्वतंत्रस्वरूपको समझ पाता है। वस्तुके स्वतन्त्रस्वरूपकी समझ आती है सम्यग्ज्ञानसे। और, वह ज्ञान बनेगा द्रव्यगुरण पर्यायकी समझसे। सो द्रव्यगुरण पर्यायकी सही समझ बनाये तो उसकी परम्परासे फिर यह आशापिशाची दूर हो जायेगी।

आशापिशाचीके नष्ट होनेपर ही चारित्र विवेक निर्ममत्व व तत्त्वनिश्चयकी समीचीनता—यह आशाका गड्ढा इतना विलक्षरण है कि ज्यो ज्यो इसे पूरा करते जावो त्यो-त्यो यह और खाली होता जाता है। और, जमीनके गड्ढोमे तो यह बात नही है, उनको तो कूडा करक्ट डालते जाइये, भरते जायेंगे, पर यह आशाका गड्ढा ऐसा विचित्र है कि जितना ही धन वैभवका कूडा करकट डालते जावो उतना ही खाली होता जाता है। अनेक श्रम करके कभी कोई सुख और विश्रामका समय आये तो फिर झट कोई ऐसी आशा उपजती है कि सारा सुख किरकिरा हो जाता है। कभी बहुत अच्छा समय आये, सर्वसम्पन्न हैं लेकिन उस समय कोई आशा जगे तो वह सब कमाई हुई स्थिति बिल्कुल खतम हो जाती है, यह आशापिशाची जिसकी नष्ट हुई है वही सच्चे चारित्रको पाल सकता है। सच्चा चारित्र पालनेका प्रयोजन यही है कि यह आत्मा अपने स्वरूपमे मग्न हो जाय। यह बात तब बनती है जब किन्ही बाह्यपदार्थोंकी आशा नही रखी जाती है। आशाके भेदसे ही विवेक सार्थक है। आशावानको विवेक कहाँ जगता ? उसके तो पक्षपात अन्याय ये सभी प्रवृत्तिया चलती है। जिनके आशापिशाची जाग्रित है उनको तत्त्वका निश्चय नही होता, ममत्व परिणामका अभाव भी नही होता। आशा जिस पदार्थकी लगी हो उसको एक विलक्षरण बन्धन हो जाता है। जैसे गाय भैसको ले जानेके लिए एक बढिया उपाय यह है कि उसके बच्चेको उठाकर आप चल दें, फिर तो वह गाय या भैस अपने आप पीछे पीछे भागती चली आयगी, ऐसे ही जिस पुरुषको जिस पदार्थसे बन्धन है, आशा है वह पदार्थ

तो उसके बन्धनमे बँधकर यो ही चलता रहता है। जिसकी आशापिशाची नष्ट हुई हो वह स्वतत्र है, उसका शास्त्राध्ययन करना, चारित्र पालना, विवेक होना, तत्त्वका निर्णय होना, निर्भयता होना ये सब बाते यथार्थ है। आशा दूर करे और आत्मध्यान पाये और इसके प्रसादसे आत्मीय शुद्ध आनन्दका अनुभव करें।

यावदाशानलश्चित्ते जाज्वलीति विशृङ्खल ।
तावत्तव महादुखदाहशान्ति कुतस्तनी ॥८६८॥

आशाग्निज्वालत चित्तमें दुःखदाहशान्तिकी असभवता—हे आत्मन ! जब तक तेरे चित्तमे आशारूपी अग्नि नितान्त प्रज्ज्वलित हो रही है, स्वच्छन्दतासे बढ रही है तब तक तेरे मोह दुखरूपी दाहकी शान्ति कहाँसे हो ? जैसे जब अग्नि स्वच्छन्दतासे निरन्तर जलती बढती रहती है तो वहाँ दाहकी शान्तिकी आशा नही है। इसी प्रकार चित्तमे आशारूपी अग्नि बढती रहे, स्वच्छन्द जलती रहे तो दुखदाहोकी शान्ति अशक्य है। दुख सुख कोई बाहरकी बात नही है। अपने आपके आत्माके अन्दरकी कल्पना और वृत्तिका फल है। सर्व-पदार्थ स्वतत्र है, मैं भी स्वतत्र हू, किसीका किसीसे कोई सम्बन्ध नही है, आधीनता नही है किन्तु इस आशाका परिणाम करके परवस्तुके आधीन बन जाते हैं। आशा जिनके है उनके दुखकी दाह अवश्य है। जो भी महापुरुष भगवत हुए हैं उन्होने आशाका अभाव करके ही वह भगवत्ता प्राप्त की है। अन्य उपाय नही है पवित्र होनेका। आशाके अभावके लिए निजके परिचयकी प्रथम आवश्यकता है। समस्त पदार्थोके इस महत्त्वशाली तत्त्वका परिचय करना जरूरी हो जाता है। वह उत्तम तत्त्व है निज सहज ज्ञानस्वभाव। इस ओर दृष्टि दी जाय और परकी आशा समाप्त की जाय। आशा कहो, राग कहो, दोनो एक ही प्रकारके कषायोके प्रतिफल है। यह राग आग ससारके जीवोको जला रही है, यह दाह तभी मिट सकती है जब समतारूपी अमृतका सेवन किया जाय। सम्पत्ति विपत्ति, हित अहित सब कुछ अपने आत्मामे पडे हुए है। ये सब एक ज्ञानकी कलापर निर्भर है। हम किस पद्धतिसे अपना ज्ञान करे कि आनन्द मिले और किस पद्धतिसे ज्ञान करे कि क्लेश मिले, ये सभी बातें अपने ज्ञानकी कलापर निर्भर है। तो आप समझिये कि इतना उत्कृष्ट लाभ, इतना सस्ता उपाय और कुछ हो भी सकता है क्या ? जब ही परसे मुख मोडकर स्वके उन्मुख बनते है तो सर्वसकट टल जाते है। इतनी कला जिसके आ गई उसने सब कुछ पा लिया, जीवनका सार भी पा लिया। जब तक चित्तमे आशारूपी अग्नि स्वतत्रतासे जलती है तब तक दुखदाहोकी शान्ति नही हो सकती है।

निराशतासुधापूरैर्यस्य चेत पवित्रितम ।
तमालिङ्गति सोत्कण्ठ शमश्रीर्बद्धसौहृदा ॥८६९॥

नैराश्यसुधायुत जीवके शान्तिका लाभ—जिसका चित्त निराशतारूपी अमृतके प्रवाह से पवित्र हो गया है उस पुरुषको शान्तिरूपी लक्ष्मी उत्कठापूर्वक मिलती है। आशासे मलिन चित्तमे शान्तभाव नही आ सकता। खुद ही तो यह प्रभु है, खुद ही जानता है, खुद ही ससारमे डूबता है, कैसा विचित्र समन्वय है, कैसा विलक्षण संगम है कि यही तो निर्णेता है और यही अपराधी है। अपराध हमारा कोई दूसरा नही करता। हम ही अपना अपराध करते है और हम ही अपने अपराधका फल भोगते है। अपने सुख दुखका फैसला भी हम ही करते है। ऐसा विलक्षण संगम है, अब विवेककी आवश्कता है। अपराध हमारा न बने अर्थात् आत्मदृष्टि हमारी भंग न हो और उस प्रयोगके फलमे हमारा शुद्ध विकास बने, यो निरपराध बने, यो निर्णेता बने। ऐसा पुरुष आशाका अभाव करके नैराश्यरूपी अमृतके प्रवाह से पवित्र होता है उस ही पुरुषको उपशमभावरूपी लक्ष्मी बडी उत्सुकतापूर्वक मिलती है।

न मज्जति मनो येषामाशाम्भसि दुरुत्तरे।
तेषामेव जगत्यस्मिन्फलितो ज्ञानपादप ॥८७०॥

आशानदमें न डूबे हुए जीवके ज्ञानकी फलितरूपता—जिनका मन दुस्तर आशा-रूपी जलमे नही डूबता है उनका ही ज्ञानवृक्ष फलित होता है। जैसे कोई वृक्ष जलमे डूब जाय तो वह फल नही देता है इसी प्रकार जिनका मन आशारूपी जलमे डूब जाता है उनका ज्ञान फलित नही होता है, विकसित नही होता है। जिस मनमे आशा भरी है उस मनमे ज्ञानका विकास कैसे हो सकता है? अत ज्ञानविकासकी चाह करने वाले पुरुषोका कर्तव्य है कि वस्तु स्वरूपका यथार्थ बोध करके विशुद्ध भेदविज्ञानके विशुद्ध प्रयोगसे आशा विकारका विलय करे और अपने ज्ञान स्वरूपमे प्रवेश करके अनन्त ज्ञान विकास और अनन्त आनन्द विकासके अनुभवका मार्ग प्राप्त करे।

शक्रोऽपि न सुखी स्वर्गे स्यादाशानलदीपित।
विध्याप्याशानलज्वाला श्रयन्ति यमिन शिवम्॥८७१॥

आशाग्नि ज्वलित इन्द्रके भी सुखका अभाव—स्वर्गका भी इन्द्र हो, यदि आशारूपी अग्निसे जलता है तो वह सुखी नही है। लोभ कषायकी प्रबलता देवोमे पायी जाती है। अब आप देख लीजिए, धन वैभवके या शारारिक सुख दुखके झझट उनके नही है, फिर भी लोभ कषायके भारसे वे देव भी पीडित रहा करते है। देवोमे लोभ तृष्णा अन्य गतियोके जीवोसे अधिक पायी जाती है। तो इन्द्र भी हो कोई और आशाकी दाह यदि जल रही है तो वह सुखी नही है। क्या है, यह जीवन एक फिल्मका चित्र है। जैसे फिल्मके चित्रमे कुछ बताया ही तो जाता है जन्म लेकर अन्त तक। ऐसे ही यह भी एक फिल्म है। उस फिल्मको एक घरमे बैठाकर दिखाया जाता है और यहाँकी फिल्मको जहाँ चाहे बैठकर देख

लेते है। जैसे हम उन चित्रोमे यह सोचा करते कि यह बालक हो गया, यह इस इस तरहसे बडा हुआ, फिर इस तरहका बना, ऐसे ही यहाँ भी सभी लोग यही सोचा करते कि यह पुत्र पैदा हुआ, यह कैसे पले, कैसे यह समर्थ बने। उस बच्चेके पीछे कितनी ही चिन्ताएँ लादी जाती है। बच्चे लोग बडे बनने को तरसा करते है। वे भी बडोको देखकर यही चाहते है कि हम भी बडे बनें और इनकी तरहसे मालिक बने। लेकिन बडा बननेमे कितनी कितनी चिन्ताएँ लादनी पडती है। और, बडा कहलाता भी क्या ? पुण्यवन्तोकी सेवा करने का ही नाम बडा बनना है। पुण्यवन्त जीवोकी सेवा करते रहनेमे मोही जीव अपना बडप्पन मानते हैं। वहाँ भी अनेक आपत्तिया आती है। तेलमे जो बडा बनाया जाता है उसकी कुछ कहानी सुनो। घरमे रखे हुए उडद पहिले चक्कीमे दल दिये जाते है, फिर शामको पानीमे डाल देते हैं, रातभर फूलते हैं, फिर सुबह सिलबट्टेमे उन्हे खूब रगडा जाता है, फिर उनमे नमक मिर्च डाला जाता है। फिर उसे गोल मटोल बनाकर कडाहीमे जलते हुए तेलमे डाल दिया जाता है। उसमे खूब पक जानेके बाद भी वह छुट्टी नही पाता है। महिलाये कुछ लोहेकी सीक रखती हैं जिनसे बडोमे छेद कर देती है। तो इतनी बातें बनती है तब कही वह बडा कहलाता है। ऐसी ही बात घरके बडोकी भी है। एक नटखट नही, पचासो नटखट घर गृहस्थीमे चला करते हैं तब वह बडा कहलाता है। ये तो सब आशाके मूल कारणसे बाते उठी है। जहा आशाकी तीव्र अग्नि जल रही है वहाँ घर गृहस्थीमे मनके अनुकूल वातावरण भी मिल जाय, कुछ मौज भी मान ली जाय पर वहाँ भी विपत्ति है, और, वह मौज मानना विपत्तिया सहनेकी एक तैयारी है। अभी मौज मानेंगे तो आगे बडी आपत्तियोके क्लेश सहेगे। लगातार कोई आपत्तिमे रहे तो फिर आपत्तिसी नही रहती, सहन हो जाती है। यह मौज मानना तो उस आपत्तिका बीज है। कोई ऐसा हो कुटुम्बमे जिसकी वजहसे रात दिन कष्ट ही कष्ट होता हो, उसके कारण बहुतसी आपत्तिया ही आपत्तिया मिली हो तो उसके मरने पर कोई ज्यादा दुख नही मानता। और, जिसके कारण कुछ मौज आता हो उसके वियोगमे फिर यो लगता कि मेरी दुनिया ही नही रही। तो मौज बड़ी विपत्तिके भोगनेकी एक तैयारी है, भूमिका है। यह आशा जिसके लगी रहती है वह इन्द्र भी हो तो भी सुखी नही है। किन्तु मुनिगण आशाकी अग्निकी ज्वालाको बुझाकर मोक्षका आश्रय कर लेते हैं, शान्त हो जाते है, नैराश्यताका अलम्बन करके मुनिजन सर्वथा सुखी हो जाते है। मोहीजन जिन बातोमे सुख मानते हैं वे क्लेश है। आशा भोग वैभव सम्पदा ये सब मोहीजनो को प्रिय है, किन्तु है ये सब कष्टके स्थान।

चरस्थिरार्थजातेषु यस्याशा प्रलयं गता।
किं किं न तस्य लोकेऽस्मिन् मन्ये सिद्धं समीहितम् ॥८७२॥

आशाका प्रलय करने वाले जीवोंके समीहितकी सिद्धि--आचार्य महाराज कहते है कि जिस पुरुषके चित्त अचित्त पदार्थोंमे, सजीव अजीव वस्तुवोमें आशा नष्ट हो गयी है उसको इस लोकमे क्या क्या मनोवाञ्छित सिद्धियाँ नही होती, अर्थात् सर्व सिद्धिया हो जाती हैं। इच्छाकी पूर्ति होती है इच्छाके नाशमे। इच्छा अपने इस उपयोगके थैलामे भरते जायें रोज-रोज तो वह नष्ट नही होती, वह तो और बढती जायगी। इच्छा न रहे उसीके मायने इच्छाकी पूर्ति हो गयी। तो इस इच्छाके ही नाशसे समस्त मनोवाञ्छित कार्योकी सिद्धि है। किसी चीजकी इच्छा न रही, समझो सब कुछ मिल गया। जिसे कुछ चाह है उसे अभी वह चीज मिली नही है तभी तो उसकी चाह है। यह आशा नष्ट हो जाय तो समस्त मनोवाञ्छित सिद्धियाँ हो जाती है। एक कथानक है कि कोई ऐसा नगर था जिस नगरमे लखपति करोडपति लोग रहा करे। जिसके पास लाखका धन था वह एक दीपक जलाये, जिसके पास १ करोडका धन था वह एक ध्वजा अपने द्वारपर गाडे, जिसके पास २ करोडका धन था वह २ ध्वजा अपने द्वार पर गाडे। तो एक सेठके पास ९९ लाख रुपये थे। वह सेठ भी एक करोड वाली एक ध्वजा लगाना चाहता था। सो सोचा कि एक लाख रुपये किसी तरहसे और जोड ले तो एक ध्वजा लग जायगी। सो उसी दिनसे उसने खाने पीनेमे कमी कर दी, नौकरोमे कमी कर दी, फिर भी एक लाखका धन न जुड सका तो सोचा कि १ लाखका धन कमानेके लिए कही व्यापार करने चलना चाहिए। सो वह कही परदेश चला गया। यहाँ घरमे जब उस ९९ लाखका धन कोई सम्हालने वाला न रहा तो सब स्वाहा हो गया। वहाँ पर सेठने खूब धन कमाया तो एक करोड रुपये जुड गए। उस एक करोडके उसने ४ रत्न खरीद लिए २५-२५ लाखके और अपने घरके लिए चल दिया। समुद्री रास्ता था, डाकुवोका भय था, सो उसने क्या किया कि अपनी जाँघकी कुछ खाल खिचवाकर उसमे चारो रत्न भर लिया। जब वह बन्दरगाहपर आया तो वहाँसे आने के लिए अब तो उसके पास कुछ पैसा न था सो लोगोसे कुछ धन माँगा, पर वहां अपरिचित जगहमे कौन धन दे दे। एक गावका कोई व्यक्ति मिला, वह बोला कि हमारे साथ चलो, कुछ काम हमारे यहा करना तो हम तुम्हे धन देंगे। क्या काम करना होगा ? हम लोग रसोई बनाते है तो तुम बर्तन मांज लिया करना। बहुत अच्छी बात। अब वह सेठ बर्तन माजनेकी नौकरी कर रहा है। खैर किसी तरह वहासे छुट्टी लेकर जब वह सेठ घर पहुचा तो वहा कुछ भी न था। उन चारो रत्नोको खोला, जौहरियोको दिखाया तो बहुत-बहुत देखनेके बाद जौहरियोने यह तय किया कि इनमे तीन रत्न तो २५-२५ लाखके है और एक रत्न २४ लाखका है। लो सेठ सोचता है कि मैंने खाना पीना छोडा, सारे आराम छोड़े, परदेशमे भी खूब धक्के खाये, बर्तन भी माजने पडे, पर रहे ९९ के ९९

लाख । हाय हमारी ध्वजा न लग पायी । तो जो आशाके वश रहते है उन्हे लाभ क्या होता है ? जब जो होना है सो होता है । जिसकी आशाएँ नष्ट हो गईं उसके सर्वसिद्धि होती है । किसी हद तक गृहस्थके भी राग रहे, आशाये न जगने पायें तो उसके भी समझिये कि सर्वसिद्धिया हो गईं ।

चापल त्यजति स्वान्त विक्रियाश्चाक्षदन्तिन ।
प्रशाम्यति कषायाग्निर्नैराश्याधिष्ठितात्मनाम् ॥८७३॥

नैराश्यका आलम्बन करने वाले जीवोंके चपलता, विकार व कषायोंका परिहार— जिनकी आत्माने निराशताका आलम्बन लिया है उनका मन चपलताको छोड देता है, उनका मन चचल नही रहता और इन्द्रियरूपी हस्ती विषय विकारोको छोड देता है तथा विषयरूपी अग्नि शान्त हो जाती है, मन चचल होता है तो किसी जगह विश्राम नही मिल पाता, अपने लक्ष्यमे स्थिर नही हो पाता, उसका कारण है आशाका परिग्रहण । जिसे आशा लगी है उसका मन अचलित नही रह पाता और फिर दु खी होकर यत्र तत्र फिरता है । मेरा मन बडा दु खी है, चचल है, कोई ऐसा उपाय बतावो कि जिससे मन ठिकाने लग जाय । अच्छा, तो क्या उपाय बता दे । उनकी तो कल्पनामे यह उपाय है कि १०–५० हजारका वैभव दे दो तो मन स्थिर हो जाय । पर, कदाचित वैभव भी मिल जाय तो भी क्या मन वश हो जायगा ? अरे तृष्णा और भी बढ जायेगी । गरीबीमे अपना दाल रोटी खूब खाते थे तो वही तक मनका प्रसार था, उतनेमे ही सन्तुष्ट होता था । अब पहुच जाय मिठाइयो तक तो अब कल्पनाओका प्रसार और बढ जाता है । कहाँ तो गरीबीमे सूखी रोटी भाजीमे ही सन्तोष मानता था और अब मिठाइयोके बीचमे भी सन्तुष्ट नही हो पाता । और, भी कुछ वैभव बढ जाय, अनेक प्रकारके साधन बन जाये तो जितना कुछ मिलता जायेगा उतना ही असन्तोष बढता जायेगा । इस आत्माकी रक्षा करने वाला बाहर मे कहाँ कौन है ? किसका सहयोग हमे मिल सकता है ? कोई हम पर प्रसन्न भी हो जाय तो वह अपने ही मनमे तो कुछ विचार बनायेगा, मेरा क्या करेगा ? पृथक् पृथक् सर्व पदार्थ है, किसीसे मेरेमे कुछ नही आता है । जब आशासे मन भरा हुआ है तो वह स्थिर हो ही नही सकता और आशावश पुरुषोके ये इन्द्रियरूपी हस्ती ये विषयविकारको छोड नही सकते, मदोन्मत्त रहकर अपने विषयोमे प्रवृत्ति करते है, और जब आशा है तब सभी प्रकारकी कषाय अग्नि इसकी बढ जाती है । आशासे क्रोध भी बढता है । उस आशामे किसी ने बाधा डाल दी तो उसमे वह क्लेश मानता है । उससे फिर उसकी क्रोधाग्नि और बढ जाती है, उस आशानुसार कुछ बात बन जानेसे उसके घमड बढता है, और जब उस आशाकी सिद्धि न चले तो वह मायाचार भी करेगा, और लोभका रग तो है ही । तो आशा-

वान पुरुषोकी कषायाग्नि शान्त नही हो सकती। जिन पुरुषोंने निराशताका आलम्बन लिया है उनका मन स्थिर होगा, कषाये शान्त होगी। इन आशावोको दूर करना चाहिए, आशाये दूर होगी ज्ञानसे। अतएव वस्तुस्वरूपके ज्ञानका हमे अधिकाधिक यत्न करना चाहिए।

किमत्र बहुनोक्तेन यस्याशा निधनं गता।
स एव महता सेव्यो लोकद्वय विशुद्धिदे ॥८७४॥

आशारहित प्राणियोंकी ही सेवनीयता—अधिक कहनेसे क्या लाभ ? जिस पुरुषकी आशा निधनको प्राप्त हो गई है वह बडे-बडे पुरुषोके द्वारा सेवनीय होता है। वे बडे बडे पुरुष उसकी इसीलिए सेवा करते है कि अपना यह लोक भी विशुद्ध बने और परलोक भी विशुद्ध बने। जीव यह स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप है। जो स्वभाव जिसमें नही होता वह अनेक उपाय करनेपर भी प्रकट नही हो सकता। जैसे गेहूँवोमे चनेके अकुर बननेकी शक्ति नही है तो कितने ही साधन मिल जाये लेकिन उनसे चनेके अंकुर न बन जायेगे। जिस पदार्थका जो स्वभाव है वही प्रकट हो सकता है। आत्मा आनन्दमय हो जाता है और कुछ न कुछ अब भी आनन्दका विकास बनाये रहते है। तो आत्मामे आनन्दका स्वभाव है तब उसका विकास होता है। आत्मा स्वय आनन्दमय है। इसके आनन्दका विघात एक आशा परिणाम ने किया है, परतत्त्वमे आकर्षणकी बुद्धि होनेसे जो परका भार रहता है उस आशा परिणामने जीवके आनन्दस्वरूपका घात किया। जिन संतोने इस आशापर विजय प्राप्त की उनके चरणोकी सेवा बडे बडे पुरुष भी भक्तजन दोनो लोकोकी सिद्धिके लिए किया करते हैं, वे ही महान पुरुष है जिनकी आशा विनाशको प्राप्त हुई।

आशा जन्मोग्रपङ्काय शिवायाशाविपर्यय।
इति सम्यक् समालोच्य यद्धितं तत्समाचार ॥८७५॥

आशाके परित्यागमें ही हितलाभ—संसाररूपी कर्दममे फँसाने वाली यह आशा है और आशाका अभाव हो तो वह मोक्षको उत्पन्न करने वाला है। आशा है ससारकी जनक और आशाका अभाव हो तो संसारका अर्थात् विकारपरिणामका अभाव हो जाता है तो इस आशासे जन्म मरणकी परम्परा चलती है और आशाके अभावसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है। अब तू इन दोनो बातोका भली प्रकार विचार कर, जिसमे अपना लाभ हो उसका आचरण कर। यदि जन्म मरणमे लाभ समझा हो तो अच्छी तरह विचार लेना अर्थात् पशु पक्षी मनुष्य कीडा मकौडा पेड इत्यादि इन जीवोमे शरीर धारण कर करके मरते रहना फिर जन्म लेना ऐसा यदि इष्ट हो तब तो इस आशाका आदर करो, आशा परिणामको ही अपना सर्वस्वस्वरूप समझो और यदि इस बातमे लाभ जचा हो कि समग्र जन्म मरणके सकट दूर हो और केवल मैं अपने स्वरूपमे ही मग्न रहू, विशुद्ध आनन्दस्वरूप रहू,

तो इस आशाके अभाव करनेका प्रयत्न कर। आशाके अभाव करनेका प्रयत्न यही है कि आशा रहित और आशा जैसे अनेक समस्त विकारोसे रहित अपने आपके स्वरूपके कारण जो एक विशुद्ध ज्ञान परिणमन है उस ज्ञानमात्रको अपनी प्रतीतिमे लें, ऐसा निर्णय करे कि मैं समस्त विकारोसे रहित केवल जाननहारस्वरूप हू, इस शुद्ध प्रतीतिके बलपर इन समस्त आशा आदिक विकारोका अभाव हो जायगा। भेदविज्ञान बिना विकार नही मिट सकते हैं, सो भेदविज्ञानके उपायसे आशाके अभावको करे, इसमे ही अपना विशुद्ध लाभ है।

न स्याद्विक्षिप्तचित्ताना स्वेष्टसिद्धिः क्वचिन्नृणाम्।
कथ प्रक्षीणविक्षेपा भवन्त्याशाग्रहक्षता ॥८७६॥

आशापिशाचपीड़ित पुरुषोंके स्वेष्टसिद्धिका अभाव—जो आशारूपी पिशाचसे पीडित हैं वे पुरुष विक्षिप्त चित्त है और जिनका चित्त विक्षिप्त है उनको इष्टसिद्धि कही नही है। इष्टसिद्धि है जगतके किसी पदार्थको इष्ट न माना जाय और परमइष्ट जो अन्तःस्वरूप है उसमे अनुभव जगे वही वास्तविक इष्टसिद्धि है, ऐसी इष्टसिद्धिको वे कायर लोग कैसे प्राप्त कर सकते है जो आशारूपी पिशाचसे पीडित हैं? आशाका परिणाम होनेसे मन चचल होता है, और मनकी स्थिरता न रहनेसे परमशरणभूत जो निज अतस्तत्त्व है उसकी दृष्टि नही बनती। अत सर्व कल्याण चाहनेके लिए आशाका अभाव करना एक प्रथम कर्तव्य है और आशाके अभावके लिए सर्वप्रथम कर्तव्य भेदविज्ञानकी भावना है, मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र हू, मैं अनेक भौतिक पदार्थोंका सचय भी कर लूं तो भी उससे होता क्या है? यह मैं केवल ज्ञानस्वरूप हू सो प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावमात्र रहा करते है। यह मैं अपने स्वभावमात्र ही रहूँगा। यहाँ हू तो स्वभावमात्र हू और इस भवको छोडकर कही भी जाऊँगा तो वहाँ भी अपने स्वभावमात्र रहूँगा। समस्त विभावोसे भिन्न अपने आपको निरखने वाले सत पुरुष आत्मध्यान करते है। आत्मध्यानके प्रकरणमे पचपापोके निषेधकी बात चलती रहती है। जो पुरुष आत्मध्यान करना चाहता है उसकी चर्या कैसी हो जिससे कि वह आत्मध्यानका पात्र रह सके? उसके वर्णनमे ५ महाव्रत बताये गए कि ५ पापोका सर्वथा त्याग होना चाहिए और परिग्रहत्याग महाव्रतमे अपनी प्रगति और वृत्ति करनेके लिए अपने आपको निष्परिग्रह अनुभव करते रहनेके लिए कर्तव्य है कि इस आशाका विनाश करें।

विषयविपिनवीथीसकटे पर्यटन्ती, झटिति घटितवृद्धि क्वापि लब्धावकाशा।
अपि नियमिनरेन्द्रानाकुलत्व नयन्ती, छलयति खलु किं वा नेयमाशापिशाची ॥८७७॥

आशा पिशाचीका उपद्रव—विषयरूपी बनकी गलियोमे फिरते हुए और तत्काल बढते हुए जहाँ तक बेरोकटोक स्वच्छन्द होकर विचरने वाले सयमी मुनियोको आकुलित करने वाली यह आशा किसीको नही छोडती है अर्थात् सभी मनुष्योको यह आशा धोखा

देती है। स्वप्नकी तरह इन बाह्य पदार्थोंकी आशा लगायें, उनके प्रति चिन्ता करे तो यह कोई अच्छी बात नही है। ऐसा विशुद्ध ज्ञान पाकर यदि इसका सदुपयोग न किया जा सका, अपने अतस्तत्त्वकी भावना न की जा सकी तो समझ लीजिए कि ये सब विकार, आशाएं स्वच्छन्द होकर बढती चली जायेंगी और फिर इस विशाल संसारमे जन्म मरणके चक्र और भी बढते चले जायेगे। इस आशाके वश हुआ प्राणी धोखा ही खाता हैं। जैसे बहुत-बहुत संग्रह किया, समागम किया, अन्तमे यह जीव पछताता हुआ जाता है। सब कुछ देखता हुआ मरण करता है, हाय मैंने इतनी कठिनाईसे इतना वैभव कमाया और आज यह सब यो ही छूटा जा रहा है। मैं लाखो करोडोकी सम्पदाका स्वामी था, मैं एक धनिक कहलाता था। मेरे दस्तखत मात्रसे लाखो करोडोकी बाकी निकालना, जमा करना सारी बाते रहती थी। अब यह मैं इतना विवश हो गया साथमे एक छदाम भी नही जा रहा। बडी पीडा मानता है वह मोही पुरुष जो आशाके वश होता है। इस आशा ने बडे बडे सयत सतोको भी आकुलित कर रखा है। यह पिशाची किसीको नही छोडती। क्षण तो वह ही सफल है जिसमे सर्वसे विविक्त केवल ज्ञानमात्र अपने आपके सहजस्वरूपकी दृष्टि बना दी जाती है और उसकी उपासना की जाती है और उसकी ओर अपना उपयोग रहता है, जितने क्षण यह बन सकता है वह क्षण सफल है और उतने ही क्षण भी बने तो उनमे यह सामर्थ्य है कि अविशिष्ट दिन रातकी अनेक क्षणोमे भी यह पुरुष विचलित रहा आया लेकिन कुछ क्षणोको यह आत्मध्यान उन सब अपराधोको शान्त कर देता है। आत्मविजय का केवल एक यह ही साधन है। हमारी रात दिनकी चर्यावोमे जो क्षोभ जगा, मोह बना उन सब अपराधोके क्षय करनेकी सामर्थ्य इस क्षणमात्रके आत्मध्यानमे पडी हुई है। जैसे लोग प्राय कहते है कि यह मोह बडा बलवान है, इस मोहने बडे बडे बलवान मनुष्यो को भी सता रखा है, विवश कर रखा है, किंकर्तव्यविमूढ कर दिया है, बडे-बड़े महापुरुष सेठ-सलाका पुरुष भी इस मोहके वश होकर कहीसे कही अपनी स्थिति बना डालते है। इस आशाने किस किसको धोखा नही दिया अर्थात् आशाके वश होकर दु.खी होना मात्र हाथ रहता है। किसी बाह्य वस्तुसे इस आत्माको लाभ नही होता है। अतएव आशाके ऐसे विकट छलपूर्ण स्वरूपको जानकर इससे हटनेका हमारा यत्न होना चाहिए।

अथ अष्टादश प्रकरणम्

महत्त्वहेतोर्गुणिभि श्रितानि महान्ति मत्त्वा त्रिदशैर्नुतानि।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि महाव्रतानीति सता मतानि ॥८७८॥
आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्त प्रसाधयत्यर्थम्।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥८७९॥

महाव्रतोंका महत्त्व—यह ग्रन्थ आत्मध्यानका है। इसमे आत्मध्यानके सब उपायो को बताया जायेगा। चूँकि ध्यानका वर्णन बहुत विस्तार और स्पष्ट रीतिसे इस ग्रन्थमे किया गया है। तो बहुत-बहुत विचार तो इसीमे लग रहा है कि आखिर आत्मध्यानका पात्र कौन हो सकता है, अभी आत्मध्यानकी बात नही आयी है। कुछ समय बाद यह प्रकरण आयेगा। अब तक तो यह बताया जा रहा है कि जिस पुरुषको आत्मध्यान करने की रुचि जगी हो उसे अपना जीवन, अपनी चर्या परिणति कैसी रखना चाहिए और उस पात्रताके वर्णनमे मुख्य तीन बाते बताई है। प्रथम तो इस जीवको सम्यग्दृष्टि होना चाहिए। यथार्थ श्रद्धान हो। यह आत्मा वास्तविक ज्ञानानन्दस्वरूप है और इस ही से विशुद्ध पूर्ण विकास कल्याण है, ऐसी मेरी दृढ श्रद्धा होना चाहिए और फिर इस ही आत्मतत्त्वके बारे मे हमारे सम्यग्ज्ञान रहना चाहिए। और, तीसरा बताया सम्यक्चारित्र। हमारी चर्या ५ पापोके त्यागरूप होना चाहिए। तब इस आत्मामे आत्मध्यान करने की पात्रता जगती है। हम आचरण तो करते रहे विपरीत, पापोसे सम्बन्ध रखते हुए और आशा रखे कि हमे आत्मध्यान बने, मोक्षमार्ग हमारा चले तो यह बात कैसे बन सकती है? हमारी चर्या निष्पाप हो तो हम मोक्षमार्गमे आगे बढ सकते है, जो पुरुष क्रोधी रहता है, परजीवोंके विरोधमे, विघातमे ही जिसका सकल्प बना रहता है उसे निज विशुद्ध आत्मतत्त्वका ध्यान कैसे बनेगा? जो पुरुष असत्य बर्ताव करता है, असत्य सम्भाषण करता है, आत्माके प्रति-कूल वचनोमे बना रहता है ऐसे परोपकारी परसमय मिथ्यादृष्टि जीवके आत्मध्यान कहाँसे जग सकेगा। चोरी, कुशील पापोमे जिनकी आसक्ति रहती है उन पुरुषोको आत्मध्यानकी बात कहो तो व्यर्थ जैसी है। वह इसका पात्र नही है और परिग्रहका जो अपने चित्तमे आकर्षण बना रहता है, परिग्रहके सचयकी कोशिश करते है यह भावना भी यह परिग्रहका सम्बन्ध रखते है ऐसे पुरुषो को भी आत्माके ध्यानकी पात्रता कहाँ हो सकती है? अतएव इस सत्पुरुषको जो आत्मध्यानका अभिलाषी है, पचपापोका परित्याग कर देना चाहिए। दो बाते एक साथ कैसे सम्भव है, एक तो लोकेषणाकी बात बनी रहे और एक आत्मध्यानकी बात जगे इन दो बातोमे तो परस्पर विरोधी जानवरो जैसा विरोध है। जैसे सर्प और नेवला, मूसक और बिलाव, ये जन्मजात विरोधी हैं, इनका एक साथ सम्बन्ध कैसे बनेगा? इसी तरह लोकेषणाके कार्योंमे लोकके भावोका और ज्ञानमात्र आत्मपरिणमनका कैसे सहयोग बन सकता है? पचपापोका परित्याग करना आत्मध्यानाभिलाषीको अत्यन्त आव श्यक है।

महाव्रत नामकी सार्थकता—उन ही ५ महाव्रतोके सम्बन्धमे इन छदोमे यह बतला रहे हैं कि उनका नाम महाव्रत क्यो रखा? यद्यपि झूठ चोरी, कुशील, और परिग्रह इन ५ पापो

के सर्वथा त्यागका नाम बताया है, तो इसका नाम महाव्रत क्यो रखा ? उसके उत्तरमे कह रहे है कि इसके तीन कारण है—प्रथम तो यह महाव्रत महत्त्वके कारण है। महाव्रतका पालन करनेसे जीवका महत्त्व बढता है, इसीसे सर्वकल्याणार्थी पुरुष इस महाव्रतका आश्रय लेते है। यह व्रत स्वय महान है, पवित्र है, पापोसे दूर है। ये पच महाव्रत अहिंसामहाव्रत, सत्यमहाव्रत, अचौर्यमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत और परिग्रहत्यागमहाव्रत ये पच महाव्रत स्वय महान है। देवतावोने भी इन महाव्रतोको नमस्कार किया है, इनकी पूजा की है। रत्नत्रय पूजामे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी पूजा है ना। तो सम्यक्चारित्रकी पूजा तेरह अगरूप भी है। उन अगोमे प्रथम ५ महाव्रत कहे गए हैं, तो ये महाव्रत स्वय महान हैं, इस कारण इन्हे महाव्रत कहते है और, तीसरा कारण यह है कि ये महाव्रत महान अतीन्द्रिय सुख और ज्ञानके साधन है, अर्थात् महाव्रतोका पालन करने वाले साधु सत पुरुष आत्मध्यानमे बढकर ऐसी निर्विकल्प स्थिति प्राप्त कर लेते है कि जिसके प्रसादसे अतीन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थात् केवलज्ञान और अनन्त आनन्दकी प्राप्ति होती है। तो ये महाव्रत महान अतीन्द्रिय सुख और ज्ञानके कारण है, इस कारण सत्पुरुषोने इन महाव्रतोको माना है।

महाव्रतविशुद्ध्यर्थं भावना पञ्चविंशति ।
परमासाद्य निर्वेदपदवी भव्य भावय ॥८८०॥

महाव्रतसाधनाके लिये भावनायें—आचार्य महाराज कहते है कि हे भव्य जीव! पच महाव्रतोकी विशुद्धिके लिए २५ भावनाओको अगीकार करो और अपने वैराग्यको उत्तरोत्तर बढावो। भावनाओमे बडा बल है, भावनासे ही यह ससार बना है और भावनासे ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है। इस जीवको अपने आपके अन्तरङ्गमे इस ही ज्ञानकी तो भावना करना है कि यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा जगतके समस्त पदार्थोसे और उन पदार्थोके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए भावोसे, कर्मोसे भी अत्यन्त पृथक् हू, स्वतत्र हू, ऐसा पार्थक्य केवल रूप अपने आपकी भावनाभर ही तो करना है जिसके प्रसादसे परम निर्वाणकी प्राप्ति होती है। धर्म करना है ऐसी अभिलाषा हो तो अतरग भावोंपर जोर देना चाहिए। विषय कषायोके भाव उत्पन्न न हो, यही तो धर्मपालनकी स्थिति है। और, चूंकि चिरकालसे यह चित्त विषय साधनोकी ओर लगा रहता था तो इसका उपयोग बदलनेके लिए शारीरिक शुभ प्रवृत्तियो का एक आश्रय भर लेना है। प्रभुपूजा करें, सत्सग निवास करे, और और भी ज्ञानार्जन आदिक साधन बनाये, ये सब प्रवृत्तिया इसलिए है कि जो विषय कषायोकी वासना सस्कार प्रवृत्तिया चली आयी थी उनका मूलसे विनाश हो जाय उसके लिए उपयोग बदला है और वह उपयोग बदला है इस ढगसे कि जिसमे इस ज्ञानभावनाकी पात्रता बनी रहे। तो

भावना ही यह पुरुष करता है, भावनामे ही इसके भवितव्यका निर्णय है।

पञ्च महाव्रतोंकी भावनायें—पच महाव्रत जो बताये है उनमे प्रथम व्रत है अहिंसा महाव्रत, अहिसा महाव्रतके निर्दोष पालनेके लिए हमे इन ५ भावनाओको धारण करना चाहिए—सत्यव्रतकी भावनामे बताया है क्रोधका त्याग करना। यह भावना बनी रहना चाहिए कि मेरेमे क्रोध न वसे, क्योकि क्रोधमे यह जीव असत्य भी बोल देता है। जो बात सही नही है केवल दूसरेका अहित करने की वासना जगी है, क्रोध बना है अतएव असत्य भी बोलेगा। तो क्रोधरहित अपनी परिणति बने यह भावना होना चाहिए। लोभवश भी असत्य बोला जाता है। तो इस लोभका भी त्याग करे उसके सत्यव्रतका धारण कहलाता है। भयशील होकर भी यह पुरुष कुछसे कुछ बोल जाता है। जिसे शुद्ध महाव्रतोकी रक्षा करना हो उसे इस भीरुत्वका भी त्याग करना होगा। हँसीमजाक अधिक बोलचाल ये भी सत्य महाव्रतके घातक हैं। आगम विरुद्ध कुछ भी बोलना यह भी सत्य महाव्रतका घातक है। ऐसी ५ भावनाएँ रहे तो सत्यमहाव्रतको साधना रहती है।

अचौर्यमहाव्रतमे सूने घर रहना, एकान्त घर निवास होना, जहा कुछ चीज ही न पडी हो। कोई भी वहा न रहता हो, निर्जन स्थानमे मेरा निवास हो ऐसी भावना करना जो किसीके स्वामित्वमे नही है, छूटा हुआ घर है वहा निवास करनेकी भावना हो, जहा स्वय रहते हो वहा दूसरेको मैं न रोकूं, जो चाहे रहे ऐसी बुद्धि बने क्योकि दूसरेको कोई रोके तो उसमे किसी न किसी प्रकारकी चोरीकी बात होगी। तो इस चोरी सम्बधी बात भी न करेगे ऐसी भावना हो। एक ऐसी भावना हो कि विधिवत आगमके अनुकूल मेरे आहार की शुद्धि रहे, सधर्मीजनोसे विवाद न करें क्योकि थोडा विवाद हो और वह विवाद बढ चला तो उस विवादमे फिर यह भावना बनने लगती कि मैं इसको कैसे नुक्सान पहुचा दू ? और, किसी नुक्सान पहुचानेकी भावनासे चोरी करने तककी नौबत आ सकती है। ब्रह्मचर्य-महाव्रतकी साधनाके लिए ये ५ भावनाएँ होनी चाहिएँ—स्त्रीमे राग पहुचे ऐसी कहानी कथनोका परित्याग होना, उनके मनोहर अगोको न निरखना, पूर्वमे भोगे हुए भोगोका स्मरण न करना, स्वादिष्ट रसीले उत्तेजक, बलबर्द्धक पदार्थ न खाना, अपने शरीरका सस्कार न करना, ऐसी भावना बनी रहे तो इससे ब्रह्मचर्यमहाव्रतकी भली-भाँति साधना होती है। और, परिग्रहत्यागमहाव्रतकी साधनाके लिए यह सकल्प बना रहे कि इष्ट विषयोको मैं प्रीति-पूर्वक न देखूं, इष्ट विषयोमे राग न करूँ और जो अनिष्ट विषय हो उनमे मैं द्वेष न करूँ ऐसी भावना रहे तो परिग्रहत्याग महाव्रतकी साधना बनती है।

भावनाओंका प्रभाव—भावनासे परिणामोमे निर्मलता जगती है, और जो व्रत धारण किया है उस व्रतमे कदाचित भी दोष न आये, इसके लिए हमे उसके साधककी भी भावना

करना है और उससे बढकर भावोकी भी भावना करना है। इन भावनाओको साधुजन करते है और श्रावकजन भी करते है। भावनाकी ही तो बात है। वैसे तो वह श्रावक श्रावक ही नही है जो अपने आपमे मुनि होनेकी वाञ्छा न रखता हो। अपने अन्तरङ्गमे जब श्रद्धामे यह बात आये कि अत्यन्त नि संगतासे ही हमारा उद्धार होगा तो क्या उसे निःसंग होनेकी चाह नही है? भले ही चाहे इस भवमे निष्परिग्रह न बन सके, उमग तो सत्य धर्मधारण करनेकी होनी ही चाहिए। तो जो नि सग धर्मधारण करनेके उद्यमी है वे पुरुष धर्मको भली भाँति पाल लेते है। ऐसे ही इन पच महाव्रतोकी इन भावनाओके भाते रहनेसे ये महाव्रत निर्दोष रीतिसे विशुद्ध पालनेमे आते हैं। और, जहाँ ऐसी निष्पाप अपनी जीवन वृत्ति रहती हो वहाँ आत्माको ध्यानमे लेते रहनेकी पात्रता बनी रहती है। सब जगह ढूंढ लो, अपने मनके द्वारा सब पदार्थोका ससर्ग बनाकर देख लो आखिर सब छलपूर्ण घटनाएँ मिलेगी। आत्माको शरणभूत वास्तविक आनन्दप्रद कोई साधन है तो वह है केवल अपने आपके सहजस्वरूपका ध्यान। मै सबसे न्यारा ज्ञानमात्र हू। इस भावनासे वे समस्त गुण प्रकट होते है जिन गुणोमे आनन्द बढा करता है।

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसञ्ज्ञका ।
सद्भि समितय पञ्च निर्दिष्टा सयतात्मभि ॥८८१॥

साधुत्वसाधनामें पञ्च समितियोंका स्थान—लोकमे अपने आत्माके सहज विशुद्ध स्वरूपका ध्यान करना ही शरण है। उस आत्मध्यानकी पात्रताके लिए मनुष्यको किस आचरणसे रहना चाहिए, उसका यह वर्णन चल रहा है। वही मनुष्य आत्मध्यानका पात्र होता है जो अपनी जीवनचर्या ऐसी विशुद्ध रखता हो कि जिसमे अन्य तत्त्वोमे इसकी वासना न रहे। वह चर्या है उत्कृष्ट ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिरूप। साधु सतजन जिन्हे न किसी जीवको सतानेसे प्रयोजन है, न कही असत्य सम्भाषणसे प्रयोजन है और न खाने पीनेकी ऐसी आसक्ति है कि जैसा च हे विधि अविधि न्याय अन्यायका भी भोजन कर सके और न ऐसी असावधानी है जिससे कि उनके व्यवहारमे किसी वस्तुके धरने उठानेमे कभी अचौर्यव्रतका भग हो और वे परम अतस्तत्त्व ब्रह्ममे आचरण करनेका निरन्तर ध्यान रखते है। परिग्रहका कुछ प्रयोजन ही नही है, ऐसी ५ महाव्रतोके पालनहारे योगीश्वरोकी यदि परिणति बने तो किस प्रकार परिणति बने, उसका वर्णन ५ समितियोके रूपमे कहा जा रहा है। समिति शब्दका अर्थ है जो सम कहो भली प्रकार और इति कहो गमन कराना। वे परिणति जो अपने आत्मतत्त्वकी ओर गमन करायें उनका नाम है समिति। वे समितियां ५ है—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और उत्सर्गसमिति। इन ५ समितियोके साथ ३ गुप्ति और जोडनेसे यह ८ प्रवचनमालिका कहलाने लगता है।

इसका वर्णन आगे आयगा। तीन गुप्तिया क्या है, इसका वर्णन अब अगले छदमे कर रहे है।

वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकम् ।
त्रियोगरोधन वा स्याद्यत्तद्गुप्तित्रय मतम् ॥८८२॥

साधुत्वसाधनामें गुप्तियोंका स्थान—मन, वचन, कायसे उत्पन्न अनेक पापोसहित जो परिणतिया है उन परिणतियोका जो प्रतिषेध करें अथवा मन, वचन, कायको रोके सो वे तीन गुप्तिया कहलाती है। गुप्तिका अर्थ छुपाना, दबाना यह अर्थ करते है, पर गुपू रक्षणे धातुसे गुपू शब्द बना है जिसका अर्थ है रक्षा करना। जैसे कि रक्षा छुपनेसे ही होती है अतएव गुप्त शब्दका रक्षा करनेमे तो व्यवहार नही रहा और छुपानेमे व्यवहार हो चला। कोई चीज यदि स्वरक्षित रखाई जाय तो किन उपायोसे रखते है—सदूकमे रख दे, पेटीमे बन्द कर दें तो चीजकी रक्षा होती है, अर्थात् अन्य कोई विरोधी पुरुष इसे न उठा ले जाय अथवा न नष्ट कर दे ऐसे उपायका नाम है गुप्त करना। मन, वचन, कायको गुप्त करना अर्थात् इसका निरोध करके जिससे कि आत्मा स्वरक्षित रह सके उन सब प्रवर्तनोका नाम है तीन गुप्तिया। इन ही पाँच समितियोका और आगे चलकर तीन गुप्तियोका वर्णन किया जायगा। जिनमे इस समय ईर्यासमितिका वर्णन कर रहे है।

सिद्धक्षेत्राणि सिद्धानि जिनबिम्बानि वन्दितुम् ।
गुर्वाचार्यतपोवृद्धान् सेवितु व्रजतोऽथवा ॥८८३॥
दिवा सूर्यकरै स्पष्ट मार्गं लोकातिवाहितम् ।
दयार्द्रस्याङ्गिरक्षार्थं शनै सश्रयतो मुने ॥८८४॥
प्रागेवालोक्य यत्नेन युगमात्राहितेऽक्षिण ।
प्रमादरहितस्यास्य समितीर्या प्रकीर्तिता ॥८८५॥

ईर्यासमितिमें सयमन—ईर्याका अर्थ है चलना। परमार्थमे तो भाव यह लीजिये कि अपने आपके विशुद्ध आत्मतत्त्वमे चलना सो ईर्या है और व्यवहारमे यह अर्थ लीजिये कि देखकर जमीनपर गमन करना सो ईर्या है। व्यवहार चूंकि परमार्थकी याद दिलाता है और परमार्थका साक्षात् विरोध कर दे ऐसा व्यवहार नही हुआ करता है, अतएव रास्ता चलनेमे भी आत्माकी याद कैसे बनायी जाती है और आत्मस्मरण सहित वह पथ गमन होता। इन सबका समन्वय देखना होगा। प्रथम तो मुनिजन अच्छे कामके लिए चलें तब ईर्यासमिति कहलायेगी। कोई पुरुष किसी दूसरेको मारनेके लिए तो चले और चार हाथ आगे जमीन देखकर चले, चीटी न मर जाय, इस तरह बडा शोधकर जाय तो क्या उसे ईर्यासमिति कहते है? केवल एक ऊपरी पालनसे ही धर्म तो नही लगता। कोई सत सिद्ध

क्षेत्रमे वन्दनाके लिए अथवा जिन-प्रतिमाकी वन्दनाके लिए या गुरु आचार्य तपस्वी जो अपने आप है, जिनसे अपने हितकी दिशा मिल सकती है उन गुरुजनोकी सेवा करनेके लिए यदि गमन किया जा रहा हो तो उसके ईर्यासमिति होती है। कोई साधु मोहवश अपने गावके लिए, परिजनोसे मिलनेके लिए या अन्य अन्य किन्ही कार्योके लिए गमन करे तो उसके ईर्यासमितिका उद्देश्य न रहनेसे परमार्थ ईर्याका विरोध हो जानेसे ईर्यासमिति नही होती है। जब संतजन सिद्ध क्षेत्रकी वन्दनाके लिए चलते हैं तो उनका आत्मस्मरण भी साथ चलता रहता है। मैं अमुक सिद्ध क्षेत्रपर जाऊँगा जहाँसे असख्यात मुनिराज सिद्ध हुए है। उन्होने अपने आत्मस्वभावका दर्शन करके अपने आपमे निर्विकल्प निस्तरग भव्यता प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त की है, मैं उस स्थानपर जाऊँगा जहाँ मैं ऐसे सिद्ध भगवन्तोकी स्वरूपपरिणतिका स्मरण करूँगा, यह उसका भाव है, अथवा जिनमन्दिरकी वन्दनाके लिए जा रहा हू तो वहाँ भी उसका आत्मस्मरण ही प्रयोजन है। जिनबिम्बके दर्शन करके ज्ञानी पुरुष सीधा अपना ध्यान उन प्रभुकी ओर ले जाते हैं जिनकी बिम्बमे स्थापना की है। कोई पुरुष अपने गुरुकी फोटो लिए हुए हो तो उस फोटोका आदर जो करता है, उसे खूब सम्हालकर रखता है और कभी कभी अपने मस्तकके निकट भी ले जाता है तो क्या उस कागजका, उस स्याहीका, उस पिण्डका वह आदर करता है? देखनेमे तो ऐसा ही लग रहा है लेकिन जिसका फोटो है उसके गुणोका विशेष स्मरण हो रहा है। उस गुणस्मरणसे प्रेरित होकर उस फोटोका भी आदर करता है। तो ऐसे जिनबिम्बको निरखकर जिन तीर्थंकरोकी स्थापना की है उनका चरित्र, तपश्चरण भी सब ध्यानमे आ रहा है तो आत्मस्मरण होता है। सर्वपरिणतिया आत्मस्मरणमे सफल होती है। धर्मके नामपर कुछ भी किया जाय, यदि आत्मस्मरण नही होता, निज अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि नही जगती तो वह विचित्र आनन्द जो आत्मामे स्वभावत मौजूद है, स्वरूप ही जो है उसकी झलक भी नही हो पाती। तो ईर्यासमितिका परमार्थ तो यह भाव है कि अपने आपके परमात्मतत्त्वमे गमन करना और जब व्यवहारिक अर्थ है, परिणतिरूप अर्थ है—तो यहाँ इस ईर्यासमितिके स्वरूपमे सबसे प्रथम यह नियत्रण बताया है कि अच्छे कार्योके लिए जाय तो ईर्यासमिति है। दूसरी बात—दिन मे जब कि सूर्यकी किरणोसे रास्ता स्पष्ट दिखता हो, बहुत लोग जिसमे गमन करते हो ऐसे मार्गमे दयालुचित्त होकर जीवोकी रक्षा करते हुए जो धीरे-धीरे गमन करे उस मुनिके ईर्यासमिति होती है। दूसरी बात यह बतायी गयी है कि दिनमे चलना चाहिए। जब कि सूर्य की किरणोसे स्पष्ट प्रकाश नजर आ रहा हो, कोई साधु सिद्धोकी वन्दनाके लिए भी जाय किन्तु चले रात्रिको जैसे कि शिखर जी की वन्दना करने वाले लोग डेढ बजे रात्रिसे ही चलते है तो साधुके लिए वह योग्य काम नही बताया है। वह साधुकी ईर्यासमिति न मानी

जायगी। तीसरी बात—ऐसे मार्गसे चलना चाहिए जिस मार्गसे अनेक लोग चलते हो। कोई तीर्थवन्दनाके लिए भी जाय, दिनमे भी जाय लेकिन अटपट मार्गसे जाय जिससे कोई जाता न हो, जो मार्ग प्रासुप नही हुआ है, गीला है, वफूडा है, जमीनपर बहुतसे फूल है ऐसे मार्गसे जाय तो उसकी ईर्यासमिति न कहलायेगी। तो तीसरी बात यह है कि ऐसे मार्ग से गमन करना चाहिए जो मार्ग अनेक पुरुषोके द्वारा चला गया हो, प्रासुप हो गया हो। चार बाते है—चार हाथ आगे जमीन निरखकर चले तब वह ईर्यासमिति है, दिनमे भी चले, अच्छे कामके लिए भी चले, प्रासुप मार्गसे भी चले, पर सिर ऊँचा उठाकर चले, चार हाथ जमीन आगे निरखता हुआ न जाये तो इसके ईर्यासमिति नही होती है। ५ वी बात यह लगा ले कि खोटे भावो सहित जाये तो भी ईर्यासमिति नही होती है। जैसे कोई पुरुष गुरुवन्दनाके लिए भी जाय, दिनमें जाय चाहे रात्रिमे जाय, चार हाथ आगे जमीन देखकर जाय किन्तु क्रोधपूर्वक जाय, अभिमानपूर्वक जाय या आफत सी पड गयी, जाना ही पडेगा नही तो लोग क्या कहेगे, यो लाजवश जाय तो चूकि किसी शुद्ध भावसहित गमन नही किया, अतएव वहाँ भी ईर्यासमिति नही हुई। इस तरहकी प्रकृति वाले पुरुषोके प्राय आत्म-कल्याणकी सिद्धि नही होती है। जो पुरुष आत्मकल्याणके इच्छुक हैं उन्हे एक इस आत्मतत्त्वकी ही धुन लगी रहती है, सो जहाँ भी जायेगे, इस आत्मतत्त्वकी सिद्धिके लिए ही जायेंगे।

धूर्तकामुकक्रव्यादचौरचार्वाकसेविता।
शङ्कासकेतपापाढ्या त्याज्या भाषा मनीषिभि ॥८८६॥
दशदोषविनिर्मुक्ता सूत्रोक्ता साधुसम्मताम्।
गदतोऽस्य मुनेर्भाषा स्याद्भाषासमिति परा ॥८८७॥

साधुत्वसाधनासे भाषासमितिका स्थान—इन दो श्लोकोमे भाषासमितिका वर्णन किया है। मनुष्यकी एक भाषा ही सर्वस्व मान्यतारूप धन है, यो भी कह लीजिये। लोग कैसे जानें कि यह मनुष्य वास्तवमे धनिक है? धनसे मतलब नही, किन्तु आत्मामे गुणोका धन उसके पास है, तो लोगोके जाननेका उपाय उनके वचन हैं। वचनोसे ही यह ज्ञात होता है कि अमुक मनुष्य किस प्रकारका है, भला है, बुरा है, छली है, सरल है, सब कुछ बोध भाषासे होता है। जिसकी भाषा धूर्तता भरी है, मायाचारसहित है, जिसकी भाषा कामुकतासे परिपूर्ण है, जो मासभक्षी पुरुष है, चोर है, नास्तिक मति वाला है, उसकी अयोग्य भाषा है, तो ऐसे पुरुषको इन सारी भाषावोका परिहार करना चाहिए। धूर्तताके लक्षण अनेक होते है जिसमे मुख्य लक्षण यही है कि दूसरोको आपत्ति आये तो उसमे खुशी माने। तो वह पुरुष महाधूर्त है जो दूसरोकी आपत्तिमे खुशी मानता है, ऐसे धूर्त पुरुषोसे व्यवहार की

की जाने वाली भाषा वचन ये स्वय वक्ताको भी किसी आपत्तिमे डाल सकते है । ऐसी भाषा का साधु सतजन कभी प्रयोग नही करते । मासभक्षरा करने वाले लोग उनसे व्यवहारमे लायी हुई भाषा भी त्याज्य है ।

साधु सतजनोको ऐसा क्या प्रयोजन पडा है जो मासभक्षी मनुष्योसे अपना व्यवहार बनायें । यद्यपि उपदेश तो दिया जा सकता है और मुनि सतोने दिया है । मासभक्षी मनुष्यो को, पशुवोको हितकी बात वे बताते है लेकिन एक ऐसा व्यवहार रखना मित्रता जैसा अथवा उनसे घनिष्टता रखना यह बात युक्त नही है । जिस मनुष्यके विषयमे यह मालूम हो कि यह मांस खाता है तो उससे बात करनेको विवेकी गृहस्थ भी नही चाहता । भले ही कोई मान- सिक कठिनाई आ जाय, कोई ऐसी बात फँस जाय जिससे बोलना ही पडे । कोई अफसर है, जज है जो माँसभक्षी है उसके सामने जाना ही पडे तो उससे बोलना पड़ता है पर वह विवेकी गृहस्थ भी उस माँसभक्षी पुरुषसे बात करना भी पसद नही करता । उस मासभक्षी पुरुषके प्रति उस विवेकी पुरुषका भी भाव सद्भाव नही रहता है, उत्साह नही रहता बोलने का । साधु सतजन तो मासभक्षियोसे अपना वचनव्यवहार ही क्या करेगे ? जो पुरुष चोर है, दूसरेके धनको चुराते है ऐसे पुरुषोसे किसकी मित्रता होती, किसका व्यवहार बढेगा ? जो स्वय सदोष है, चोर है वही तो चोरोसे अपना बर्ताव बढायेगा । जो पुरुष नास्तिकमति है, चारवाक आदिक जो न आत्माको मानते, न परमात्माको मानते किन्तु जिनका एक सिद्धान्त बना हुआ है कि जब तक जियो खूब सुखसे जियो और चाहे कितना ही कर्ज बन जाय, क्या परवाह है, मगर घी दूध खूब पीते रहो, ऐसी जिनकी रीति है, नीति है, जो यह नही मानते कि जो हम करते है उसका फल हमे भोगना पडेगा, याने जो आत्माका अस्तित्व ही नही मानते ऐसे नास्तिकमति पुरुषोसे बहुत व्यवहारमे की जाने वाली भाषा भी त्याज्य भाषा है । ऐसी भाषा जो सन्देह उत्पन्न करे वह भाषा भी त्यागने योग्य है । इन भाषावोसे दूर रहकर जो हितमित प्रिय वचन बोले जाते है उसे ही भाषासमिति कहते है । भाषा- समितिमे साधु पुरुषोको १० प्रकारकी दोष देने वाली भाषावोका निषेध किया है । वे १० प्रकारकी कौनसी भाषाये है जिन्हे साधु संतजन नही कहते ?

कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी ।
छेद्याङ्कुरा मध्यकृशा मानिन्यतिभयंकरी ॥८८८॥
भूतहिसाकरी चेति दुर्भाषा दशधा त्यजेत् ।
हितं मितमसंदिग्ध स्याद्भाषासमितिर्मुने ॥८८९॥

त्याज्य दशविध वचन—कर्कश वचन जो बडे कठोर है, सुननेमे भी बडे बुरे लगते है और जो मर्मको भी छेद दे, अपने प्राणोको भी दु खा दे ऐसे कर्कश वचन साधुसंत मुनि-

जनोके नही होते। कुछ लोगोकी एक प्रकृति बन जाती, बोलचालमे एक कठोर व्यवहार रखते है तो कभी कोई उन्ही कठोर वचनोके माध्यमसे कलह और विवाद बहुत अधिक बढ जाते है, बिना विचारे हुए वचन, अविवेकपूर्ण वाणी और ऐसे कि कुछ प्रयोजन नही, बिना ही प्रयोजन दूसरेको सतानेकी वाणी बोलना ये सब त्याज्य भाषा है।

एकने कथा सुनाया था कि एक पुरुष किसी तीर्थयात्रामे गया, मान लो हरिद्वार गया, अकेला ही गया। वहाँ उसे लगने लगे दस्त, बीमार हो गया, बडी तकलीफ पायी तो एक बुढियाने उसे कहा बेटा तुम दुखी मत हो, तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नही है, तुम इसी झोपडीमे रहो, हम तुम्हे खिचडी बनाकर खिला दिया करेंगे, यही खावो और रहो। उसने कहा अच्छा माँ। रहने लगा, पर वह बोलने वाला बहुत अधिक था और बोले भी अटपट। बैठा बैठा क्या बात करे बुढियासे ? बात किये बिना चैन न पडे, ऐसे भी लोग होते है। तो वह कहता है-बुढिया मा ! तुम यहाँ अकेली रहती हो, तुम्हारा पेट कौन भरता है ? वह बुढिया बोली कि हमारा एक बेटा अमुक शहरमे रहता है वह रुपये भेज देता है। उससे अपना काम चलाती हू। तो फिर वह पुरुष बोला—अगर वह बेटा मर गया तो फिर कौन देगा ? भला बतलावो यह भी कहनेकी कोई बात है ? खैर उसने सुन कर गम खा लिया, फिर वह पुरुष बोला—तुम यहाँ अकेली रहती हो, तुम्हारा मन भी न लगता होगा, हमारे साथ चलो तुम्हारी शादी करा देंगे। इतनी बात सुनकर उसे क्रोध आया और कल्छुली उठाकर कहा—जा तेरा यहाँ गुजारा नही है, जहाँ जाना हो जा। तो बिना ही प्रयोजन ऐसे कर्कश वचन कहना यह तो अशोभनीय और अहितमयी भाषण है। दूसरेके चित्तको क्लेश पहुंचे, ऐसे कठोर वचन हो, दूसरे को भी क्रोध उत्पन्न करा देने वाले वचन हो वे सब त्यागने योग्य है। कोई लोग ऐसे मायावी होते है कि बोलेंगे बडी शान्ति के ढगसे और ऐसी बात बोलेंगे कि जिसमे दूसरे को क्रोध उत्पन्न हो जाय, ये सब विवेक-रहित भाषाये है। जो अपना अभिमान उत्पन्न करायें, दूसरेको भय उत्पन्न करदे, अनेक जीवोकी हिंसा कराये वे सब दुर्भाषायें है, इन दुर्भाषावोको त्यागकर ऐसे वचन बोलना चाहिए जो दूसरोका और अपना हित करे। इसके लिए पहिले तो यह अभ्यास बनाना होगा कि कोई आवश्यक काम हो, बोलनेकी जहाँ आवश्यकता ही हो, जब बोलना आवश्यक हो तभी बोले, वह तो स्वपर हितकारी वचन बोल सकेगा। जो भाषा बोले वह परिमित हो। दूसरे असदिग्ध हो अर्थात् ऐसे वचन बोले जिनमे कुछ सन्देह न हो। जिसे बोलते हैं दुहरे अर्थ वाली भाषा जिसका कोई कुछ अर्थ लगा सकता, कोई कुछ अर्थ लगा सकता। जैसे ज्योतिषियोसे कोई पूछे, क्यो जी लडका होगा या लडकी ? तो वह लिख देता है किसी पर्चेमे और कह देता है कि इसे अभी खोल कर न देखना, बिल्कुल सत्य निकलेगा। लिख

दिया—लडका होगा नही लडकी, इसमे विराम कही नही लगाया। जब लडका हो गया तो कहते है—देखो लिखा था ना कि लडका होगा, नही लडकी। और, जो लडकी हो गयी तो कहते है देखो ना उसने लिख दिया था लडका होगा नही, लडकी। ऐसे ही ज्योतिषीसे पूछे कि आज दिन कैसा रहेगा ? तो वह कह देता खूब घमाघम। अगर तेज धूप रही तो लोग कहते—देखो कहा था ना कि खूब घमाघम रहेगा और यदि खूब पानी बरष गया तो लोग कहते—देखो वह कहता था ना कि खूब घमाघम आज रहेगा। तो कुछ ऐसे वचन होते है जो सदेहपूर्ण होते है, ऐसी सदिग्धभाषा भी न बोलना चाहिए। वचन ऐसे हो जो, हितकारी हो, परिमित हो, जिनमे सन्देह न हो, स्पष्ट अर्थ आये। जो साहित्य, सस्कृत, दर्शनशास्त्र आदिक जानते है वे यह देखेगे कि दि० जैन वीतराग ऋषियोने कितना स्पष्ट सरल भाषामे दर्शन जैसे कठिन तत्त्वोका वर्णन किया है। भले ही जिन्होने कुछ अध्ययन नही किया उन्हे तो इन सरल ग्रन्थोका भी समझना बडा कठिन है, लेकिन उस विषयके अन्य अन्य ग्रन्थोको तो देखिये, कभी देखा होगा किसीके ऐसे भी लेख छपते है पत्रिकावोमे कि उन्हे पढते जाइये, बहुत पढ गए, पर अर्थ वहाँ कुछ न निकलेगा। शब्दोका आडम्बर बहुत है और सुनने वालोको भी सौम्य और शृङ्गारकी बात अधिक मिलेगी, पर अर्थ उसका क्या निकला इसका कुछ पता नही रहता ? और, किसीके लेख इतने स्पष्ट होते है कि जितने वाक्य पढते जाइये, पढते ही सब अर्थ स्पष्ट विदित हो जाता है। तो जैन ऋषियोने दर्शन जैसे कठिन ग्रन्थोको लिखा तो एकदम सीधी बात तुरन्त चित्तमे समाती जाय, स्पष्ट हो जाय, ऐसे वचनोसे उनका विवरण किया है। तो जो सन्देहरहित भाषा हो, सीधी और स्पष्ट भाषा हो ऐसी वाणी बोलना चाहिए। तो जो हितकारी, परिमित, सन्देहरहित प्रिय वचन बोले जाते हैं उसका नाम है भाषासमिति। ऐसी प्रवृत्ति करने वाले योगीश्वर आत्मध्यानके पात्र होते है।

उद्गमोत्पादसञ्ज्ञैस्तैर्धूमाङ्गारादिगैस्तथा।
दोषैर्मलैर्विनिर्मुक्त विघ्नशङ्कादिवर्जितम् ॥८९०॥
शुद्ध काले परैर्दत्तमनुद्दिष्टमयाचितम्।
अदतोऽन्न मुनेर्ज्ञेया एषणासमिति. परा ॥८९१॥

साधुकी एषणासमितिमें उद्दिष्टनामका दोष—मुनिके एषणासमितिका इसमे वर्णन किया है। एषणाका अर्थ है खोजना। अपना शुद्ध आहार विधिपूर्वक खोजना इसका नाम है एषणासमिति। जो १६ प्रकारके उद्गम दोष, १६ प्रकारके उत्पादन दोष, १० प्रकारके एषणा दोष और ४ प्रकारके मोहविकारके दोष, ऐसे ४६ दोष रहित ठीक समयपर दूसरेके द्वारा दिया गया याचनारहित आहार करना सो एषणासमिति है। उद्गम दोष श्रावकके

आधीन है। जैसे उद्दष्ट दोष एक साधुके लिए बनाया गया आहार उद्दष्ट दोष वाला कहलाता है। ऐसा आहार साधु नही करते और न साधुको ऐसा आहार देना चाहिए। जो आहार केवल साधुके लिए बने जैसे कि और तो सब लोग अशुद्ध खायें और एक पावभरके आटेका साधुको बना दिया भोजन तो वह भोजन साधुके लिए योग्य नही है। भले ही कोई गृहस्थ रोज-रोज अशुद्ध खा रहा था लेकिन एक दिन भी सब घरके लिए शुद्ध भोजन बना ले और उसमे साधुका भी ख्याल रखे कि मैं साधुको भी भोजन कराऊँगा तो वहाँ यह दोष न लगेगा। केवल साधुके लिए अथवा किसी भेष वाले गृहस्थके लिए या ऐसा सोचकर कि जो कोई साधु पाखण्डी आयेंगे उनके लिए बनाया है तो ऐसे साधुवोका जो भोजन बनता है उसे उद्दष्ट दोष कहते है। इस उद्दष्ट दोपसे मुनिके आरम्भमे अनुमोदनाका दोष लगता है। जो श्रावक सब घरके लिए या अपने कुछ लोगोके लिए भोजन बनाये उसमे से साधुको आहार देना चाहिए। जैसे कुछ लोग यो करे कि यह तो साधुके लिए है और साधु न आये तो वह भोजन घर वाले न खायें, सोचे कि यह तो निर्माल्य हो गया है, इसे हम लोग न खाये, औरो को दे दे, इस तरहका जो भोजन हो तो उसमे उद्दिष्टका दोष है।

ऐषणासमितिमें परिहार्य साधिक, पूति, मिश्र व प्राभृतक दोष—दूसरा दोष है साधिक दोष। दातार अपने लिए भोजन बना रहे थे। इतने मे सुन लिया कि कोई साधु आ रहे हैं या बीचमे ध्यान आया कि मैं साधुको भी खिलाऊँ तो कुछ ज्यादा आटा चावल डाल दें यह है साधिक दोष। बना रहे थे आधासेर आटाकी रोटी और उसमे एक पाव आटा और मिला दिया या आधासेर चावल पका रहे थे उसमे एक पाव चावल और डाल दिया तो यह दोषी भोजन हो गया। इसमे भी साधुके निमित्तका दोष आता है। एक दोष है पूति दोष। प्रासुपवस्तुमे गैर प्रासुप चीज मिला देना अथवा ऐसा सकल्प करना कि इस बर्तनके द्वारा जब हम साधुको भोजन दे लें या इस बर्तनमे बचे हुए भोजनको पहिले साधुको दे दें तब फिर हम इस बर्तनमे खायेंगे, ऐसा ख्याल करके बनाये तो उसमे भी दोष है। एक मिश्र दोष है। प्रासुक भी आहार है तो भी अन्य लोग खायेंगे, हम सब भी खायेंगे और उनके साथ-साथ साधुवोको भी भोजन देगे ऐसा विचार करके जो भोजन दिया जाय वह है मिश्र दोषका भोजन। एक प्रभृत दोष है। कोई ऐसा सकल्प कर ले कि मैं अमुक दिन अमुक तिथिको नियमसे मुनियोको दान करूँगा और फिर उस दिन न करके अन्य दिन करे तो इसमे भी दोष है। जैसे लोग पूजाकी बारी बाँध लेते है कि हम इतवारको पूजा करेगे तुम सोमवारको करोगे तो वह भगवत्पूजा है, यो ही कोई श्रावक नियम कर ले कि हम तो सोमवारके दिन साधुको आहार देंगे और फिर उसमे कभी ऐसा सोच ले कि क्या है, और किसी दिन कर लेंगे तो उसमे दोष है क्योकि वह अपने लिए हुए नियमसे डिगा।

एषणासमितिमें परिहार्य बलि, न्यस्त, प्रादुष्कृत, क्रीत व परिवर्तित दोष—एक बलिदोष है, जैसे किन्ही देवतावोके लिए, यक्ष आदिकके लिए आहार बनाया जाय और उसमे बचा हुआ आहार उन साधुवोको दे तो वह भी दोषी है। एक न्यस्त दोष है, जिस बर्तनमे भोजन बनाया है उसमेसे निकाल कर किसी कटोरीमे सजाकर भोजन दे या उस वर्तनसे भोजन निकालकर अलग रख दे, फिर उसमे दे तो वह आहार दोषीक है। जिस बर्तनमे बना है उसीमे भोजन देना चाहिए। एक प्रादुष्कृत है। दोष साधुके घर आ जानेपर फिर भोजनके बर्तन चौकी वगैरहको एक जगहसे दूसरी जगह धरना, उठाना, ले जाना सो प्रादुष्कृत दोष है। जैसे कुछ मण्डप वगैरह सजा हुआ था या राख वगैरह रखी हुई थी, बर्तन साफ करने लगे, दिया जलाने लगे, विशेष बात करने लगे साधुके घरपर आ जानेपर तो वह प्रादुष्कृत दोष है। एक क्रीत दोष है। जब साधु भिक्षाके लिए घरपर आये, तब कोई बाजारसे कोई चीज खरीदकर साधुको खिलानेके लिए मगवाये तो वह चीज साधुके ग्रहण करने योग्य नही है। हाँ पहिलेसे जो कुछ हो सो ठीक है। एक प्राभित दोष होता है, उधार लाकर तैयार किया गया आहार साधुको देना इसमे प्राभित दोष है। जब साधु भिक्षाके लिए घर पर आये तो कही पास पडोसके किसीसे कोई चीज बदलकर फिर उसे साधुको दे तो यह परिवर्तित दोष है। जैसे भाई तुम सेब ले लो सतरा हमे दे दो—इस तरहसे बदलकर लाई हुई चीज साधु को देना यह परिवर्तिन दोष है। ये सब इसलिए दोष है कि ऐसा करनेमे श्रावकको सक्लेश है। कुछ उसने कष्ट तो उठाया, कोई नई बात की, अतएव ये सब दोष माने गए है।

एषणासमितिमें निषिद्ध, अपहृत, उद्भिन्न, आच्छेद्य, मालारोहण दोष—एक है निषिद्ध दोष, जैसे रसोईमे दो चार लोग बैठे ही रहते है तो कोई चीज दे रहा हो, दूसरा मना कर दे यह न दो, इससे जुखाम होता है, यह न दो इससे नुक्सान होता है, चाहे दुर्भाव से कहा हो, पर एक बार निषेध किया जानेपर साधुको आहार दिया जाय तो वह निषिद्ध दोष हुआ। ऐसा निषिद्ध भोजन अगर साधु ग्रहण करे तो उसमे दीनताका दोष आता है। एक आदमी मना कर रहा है और फिर भी साधु उसे ले तो न लेना चाहिए। एक दोष अपहृत है। दूसरे मोहल्लेसे, दूसरे गाँवसे लाया हुआ भोजन साधुको दे तो वह अपहृत दोष है। अपहृत दोषमे ईर्यापथ सिद्ध नही होता। बहुत दूरसे कोई भोजन लाये, दूसरे मोहल्लेसे दूसरे मोहल्लेमे ले जाय तो वह आहार न लेना चाहिए। एक उद्भिन्न दोष है। घी, मुनक्का, किसमिस आदिक कोई वस्तु डिब्बेमे भरी धरी हो, शील बन्द हो और साधुके घर आनेपर उसे खोलकर दिया जाय तो यह उद्भिन्न दोष है। एक आच्छेद्य दोष है। राजा मंत्री आदिक बडे पुरुषके भयसे कोई श्रावक साधुको आहार दे तो वह आहार दोषीक है। क्योकि वह जबरदस्तीका आहार है। श्रावकने अनुरागसे नही दिया, बडे आदमियोके डरसे

दिया। एक मालारोहणदोष है। नसैनीपर चढ़कर ऊपरसे कोई चीज लाकर साधुको दी जाय तो वह मालारोहण दोष है। क्योंकि ऐसा करनेमे एक तो शुद्धि नही रहती, उसमे जल्दबाजी है, उस जल्दबाजीमे कही कोई सीढीसे गिर जाय तो फिर क्या हो ? तो ये १६ प्रकारके उद्गम दोष है, जो कि श्रावकके आधीन है। वास्तविक विधिसे इन दोषोको टालें तो टाल सकते है।

उत्पादन दोषोंमें धातृदोष, दूतदोष, निमित्त व वनीपक दोष—१६ उत्पादन दोष हैं जो कि साधुके आधीन है, जैसे एक धातृदोष है। गृहस्थके बालकके प्रति कोई ऐसा उपदेश दे कि बालकको यो सजावो, यो खिलावो, यो रखो, फिर उस गृहस्थके घर भोजन करे तो इसमे धातृदोष है, क्योंकि उसमे लिप्साका दोष लग गया। पहिले गृहस्थको प्रसन्न कर दिया, गृहस्थ समझ गया कि साधु महाराज हमारे बच्चेसे बडा प्यार करते है तो इस तरह गृहस्थको प्रसन्न करे फिर उसके यहाँ बने हुए आहारको ग्रहण करे तो इसमे धातृदोष है। यह दोष यो लगा कि पहिले तो रूखा सूखा भोजन मिलता था, अब सरस भोजन प्राप्त करने का यह उपाय किया है। एक दूतदोष है। किसी गाँवसे चलकर किसी दूसरे गाँवमे साधु पहुचा तो वहाँ जाकर किसीका किसीसे सन्देशा कहे और फिर उसके यहाँ आहार ले तो यह है दूतदोष। तुम्हारे मौसाने यो कहा है, तुम्हारे फलाने ने यो कहा है ऐसा सन्देशा सुना दिया ताकि श्रावक खुश होकर आहार दे, तो ऐसा आहार करनेमे साधुको दूतदोष लगता है। एक दोषका नाम है निमित्तदोष। कोई साधु किसीका हाथ देखे, कुछ बाते बताये या गडे हुए धनको बताये, और ये बातें बताकर फिर उसके यहाँ आहार ग्रहण करे तो उसमे निमित्तदोष लगता है। एक वनीपक दोष है। गृहस्थ जैसी बात सुनना चाहते हैं वैसी ही बातें सुनाकर उन्हे सन्तुष्ट कर दे, जैसे कोई गृहस्थ पूछे कि कौवा कुत्तोको आहार दान देनेमे पुण्य है या नही ? तो उनका मतलब पुण्य सुननेका था तो साधुने कह दिया—हाँ उससे खूब पुण्य है, इस तरहके वचन बोलकर फिर उनके यहाँ आहार लेना सो यह वनीपक दोष है।

एषणासमितिमें परिहार्य आजीव, क्रोध, मान, माया, लोभ नामके दोष—एक आजीव दोष है, अपनी जाति कुलकी प्रशसा करना, मैं बडे वशका हू, बडे घरानेका हू, इस प्रकारसे अपनी बडाई प्रकट करना, अपनी चतुराई प्रकट करना फिर लोगोके यहाँ आहार ग्रहण करना यह आजीव दोष है। जैसे गृहस्थ लोग तो रोजिगार करके करते है इसी तरह उस साधुने अपनी आजीविका बना ली तो उसमे दीनता है, लिप्सा है, इस कारण यह दोष है। एक क्रोध दोष है। क्रुद्ध होकर आहारका प्रबध करवा लेना। इस गाँवमे कोई श्रावक नही है, सब तुच्छ है, यो क्रोध करना और फिर उनके यहा आहारका प्रबध करवाकर

आहार ग्रहण करना यह क्रोधदोष है। इसमे संयमकी हानि है। एक मान दोष है। अभिमानके वश होकर आहार ग्रहण करना सो मान दोष है। या आहार ग्रहण करनेमे अभिमान उत्पन्न कर लेना यह अभिमान दोष है, मान दोष है। छलकपट करके, मायाचार करके भोजनादिक ग्रहण करे सो माया दोष है। एक लोभ दोष है। लुब्धपरिणाम रखकर, आसक्तिके परिणाम रखकर फिर आहार ग्रहण करना इसका नाम लोभ दोष है।

एषणासमितिमें परिहार्य पूर्वस्तुति, चिकित्सा, विद्यादोष, मंत्रदोष चूर्ण एवं वश्य दोष – एक है पूर्वस्तुति दोष। किसी दातार की बडाई करना, फिर उसके यहाँ यहाँ ग्रहण करना यह पूर्वस्तुति दोष है। एक है पश्चात् दोष। आहार ग्रहण करनेके बाद फिर उस दातारकी प्रशसा करना सो पश्चात् दोष है। एक चिकित्सादोष है। किसीको कोई चिकित्सा बतलाकर फिर उसके यहाँ आहार ग्रहण करे तो वह चिकित्सा दोष है। एक है विद्या दोष। किसीको कोई विद्या बताकर या कोई अपना विद्याका चमत्कार दिखाकर, फिर उन श्रावकोके यहाँ आहार ग्रहण करे तो इसमे विद्यादोष है। कोई मत्रकी बात बताकर, किसी देवको मत्रके द्वारा बुलाकर लोगोको मत्रकी बात बताये, फिर उनके यहाँ आहार ग्रहण करे तो यह मत्र दोष है। एक होता है चूर्ण दोष। कोई चूरण या अंजन या शृङ्गार साज के चूर्ण तैयार करके, बता करके फिर लोगोके यहाँ आहार ग्रहण करे सो चूर्ण दोष है। एक होता है वश दोष। जो जिसके वश न हो उसे वश करनेका उपाय बताकर वशीकरण मत्र देकर या उसे वशमे कराकर, पुरुष स्त्रीको मिलाकर ऐसा उपाय बताकर भोजन ग्रहण करे सो वश दोष है। ये सब दोष साधु खुद उत्पन्न करता है अतएव इनका नाम उत्पादन दोष है।

एषणासमिति परिहार्य शंकित, पिहित, म्रक्षित, निक्षिप्त, छोटित, अपरिणत व व्यवहरण दोष––उत्पादनदोष जिस भोजनमे आये वह भोजन न ग्रहण करना चाहिए। जैसे किसी भोजनमे शका हो गई कि यह भोजन करने योग्य है या नही करने योग्य है और फिर उसे करे तो यह शकितदोष है। अप्रासुक वस्तु या वजनदार प्रासुक वस्तुसे ढके हुए भोजनको उघाडकर दिया जाय तो वह पिहितदोष है। घी तैल आदिसे चिकने हाथ या वर्तनोसे भोजन दिया जाय तो वह म्रक्षित दोष है। सचित्त या त्रस जीवपर रखे हुए भोजनको लेना सो निक्षिप्त दोष है। कुछ भोजनको गिराकर या छोडकर इष्ट आहारके ग्रहण करनेको छोटित दोष कहते हैं। जिसका रूप रस गध न पलटा हो ऐसे अपरिणत जलके ग्रहण करनेको अपरिणतदोष कहते है। दातार अपने लटके हुए वस्त्रको खीचकर या बर्तन चौकी आदि घसीटकर आहार दे उस आहारके लेनेमे व्यवहरण दोष आता है।

एषणासमितिमें परिहार्य दायक, लिप्त व मिश्रदोष––अयोग्य दातारसे आहार ग्रहण

करनेमे दायकदोष लगता है। अयोग्य दायक कुछ इस प्रकार है—मद्यपायी, रोगपीडित, मूर्च्छित, रजस्वला स्त्री, ४० दिन तक प्रसूता स्त्री, वमन करके आया हुआ व्यक्ति आडमे खडा व्यक्ति, पात्रके स्थानसे नीचे या ऊँचा खडा व्यक्ति, जातिच्युत नपुंसक अतिबाला, वृद्धा, ५ माहसे ऊपरकी गर्भवती स्त्री, अग्नि जलाने वाला, अग्नि बुझाने वाला, अग्निको भस्मसे ढाकने वाला, अग्नि घिट्टने वाला व्यक्ति इत्यादि दायक आहार देनेके लिये निषिद्ध है। भीगे हुए हाथोसे या वर्तनोसे आहार ग्रहण करनेको लिप्त दोष कहते है। सचित्त या जीवित त्रससे मिले हुए भोजनको मिश्रदोषमे दूषित कहते हैं। साधु सन्त जन उक्त उद्गम, उत्पादन व भोजन दोषोको टालकर आहार ग्रहण करते है।

एषणासमितिमें परिहार्य चार महाविकृति दोष—उद्गम, उत्पादन दोषके अतिरिक्त चार अन्य महादोष है जिन्हे महाविकृति दोष कहते है, इन्हे भी टालकर साधु आहार ग्रहण करते है। एषणा समितिके वर्णनमे निर्दोष आहारका विवरण चल रहा है। आहारके चार महादोषोको भी टालकर साधु आहार लेते हैं। एक तो अङ्गार अर्थात् यह वस्तु अच्छी है, स्वादिष्ट है, कुछ और मिले, इस तरह आसक्तिपूर्वक भोजन करनेका नाम अगार दोष है। दोष तो परिणामोसे है ना ? शुद्ध आहार भी होना चाहिए। और, अशुद्ध परिणामसे भोजन करे तो एषणासमिति नही रहती। भले ही आहार बहुत प्रासुप है, मर्यादित है लेकिन खाने वाला यदि अशुद्ध भाव रखकर खाये तो उसे एषणा समिति न कहेगे। दूसरा है धन दोष। यह वस्तु अच्छी नही, अनिष्ट है ऐसी ग्लानि रखते हुए भोजन करना सो धन दोष है। तीसरा है सयोजन दोष। गर्म ठडा मिलाकर, चिकना रूखा मिलाकर, परस्पर विरुद्ध बात मिलाकर खाये सो सयोजन दोष है। और, चौथा दोष है अतिमात्र। भोजनका जो प्रमाण बताया है उस प्रमाणसे अधिक आहार करना अतिमात्र दोष है आहारका प्रमाण बताया गया है कि आधा पेट तो भोजन करे और चौथाई पेट जलसे भरे, चौथाई पेट खाली रखे, यह है आहारका प्रमाण। उस प्रमाणको भग करके अधिक भोजन कर लेना सो आहारका अतिमात्र दोष है। यो समस्त दोषोको टालकर और अतरायोको भी टालकर भोजन करना सो एषणासमिति है।

एषणासमितिमें परिहार्य अन्तराय—अतरायोमे सक्षेपसे ऐसा समझिये कि आहार चर्यामे या आहारके समय साधुके शरीर पर कोई कौवा आदिक बीट कर दे तो वह अन्तराय है। आहारको जाते हुए या खडे हुए साधुके किसी पैर घुटने आदिमे विष्टा आदिक अशुचि पदार्थका स्पर्श हो जाय तो अमेद्ध दोष है। चलते हुएमे कोई विष्टासे पैर भिड गया तो फिर अतराय हो जाता है। एक है छर्दी अतराय। किसी कारण साधुको भोजन करनेके बीच वमन हो जाय तो वह छर्दी नामक अतराय है। एक है रोधन अतराय। कोई यदि

रोक दे कि आज भोजन न करना, चाहे कोई वैद्य ही कह दे तो भी अतराय हो जाता है। अच्छे परिणामसे कहे या बुरे परिणामसे। शोकसे अपना अश्रु बह जाये या किसीका ऐसा रोना सुने कि जिसमे खुदके अश्रु वह जायें तो वह अश्रुपात अन्तराय है। यदि खुद नीचेके भागका स्पर्श हो जाय तो वह भी अन्तराय है। जैसे साधु स्वय अपने पैर छू लेवे तो वह अन्तराय हो जाता है। घुटनेसे ऊपर कोई रास्तेमे लाठी लगी हो या ऊँचा पत्थर हो उसे लाँघकर जाय तो अतराय है, साधु फिर आहारको न जायगा। कोई जगह ऐसी हो कि नाभिमे नीचे अपने शरीरको करके द्वार वगैरहसे निकलना पडे तो भी अंतराय है। त्यागी हुई चीज खानेमे आ जाय तो वह भी अन्तराय है। यदि अपने सम्मुख कोई चूहा बिल्ली कुत्ता आदिकका घात करे तो अन्तराय है। आहार कर रहे है, कोई कौवा चील आदिक जानवर हाथपरसे ग्रास ले जाये उडते हुएमे तो अन्तराय है। यदि साधु के हाथसे कोई ग्रास गिर जाय तो अन्तराय है। भोजन करते हुए साधुके हाथपर कोई जीव स्वय आकर मर जाय तो अन्तराय है। भोजन करते हुए साधुको माँस मद्य आदिक दिख जाय तो वह भी अन्तराय है। भोजन करते समय यदि किसीके द्वारा उत्पात हो जाय तो भी उपसर्ग अन्तराय है। भोजन करनेके लिए जा रहे हो, आहारके समय खडे हुए पैरोके वीचसे कोई पञ्चेन्द्रिय जीव निकल जाय तो वह अन्तराय है। साधुको आहार देने वालेके हाथसे याने दातारके हाथसे कटोरा आदिक बर्तन नीचे गिर जाय तो अन्तराय है। भोजन को जाते हुए या आहार करते हुए साधुको कुछ साधारणसी दस्त बाधा हो जाय तो अन्तराय है। साधुको आहार करते हुएके बीचमे या आहारको जाते हुएके बीचमे लघुशकाकी बाधा हो तो अन्तराय है। साधु तो चर्या करता है ना और वह आगन तक जा भी सकता है, यदि किसी चाण्डाल आदिकके घरमे उनका प्रवेश हो जाय तो फिर आहार न लेगे। साधुको स्वयं कोई मूर्छा हो जाय, भूमिपर गिर जाय तो अंतराय है। यदि किसी कारणवश साधु भूमिपर गिर जाय तो अन्तराय है। उनका तो चर्याके लिए चलना और खडे आहार लेना बताया है। भिक्षाके लिए जा रहे हो या आहार कर रहे हो कोई कुत्ता बिल्ली आदिक जानवर साधुको काट ले तो भी अतराय है। आहार करते समय साधुको कफ थूक नाक आदिक निकल आये तो अन्तराय है। यदि किसी द्वारसे पेटका कीडा निकल आये तो भी अन्तराय है। दातारके दिये बिना ही कोई भोजन औषधि ग्रहण कर ले या संकेत करके भोजन ले तो वह भी अन्तराय है। अपने निकटमे ही कही किसीका प्रहार हो जाय, शस्त्रघात या विकट लड़ाई हो जाय तो अन्तराय है। यदि किसी पास वाले घरमें आग लगी हो तो अन्तराय है। यदि किसी वस्तुको पैरोसे उठाकर ग्रहण कर ले तो अन्तराय है। किसी वस्तुको भूमिपरके हाथसे उठाकर ग्रहण कर ले तो अन्तराय है। इस

तरह अनेक अन्तराय है। उन्हे पालकर निर्दोष विधिसे भोजन करना सो साधुकी एषणा-समिति है।

शय्यासनोपधानानि शास्त्रोपकरणानि च।
पूर्वं सम्यक् समालोच्य प्रतिलिख्य पुन पुन ॥८९३॥
गृह्णतोऽस्य प्रयत्नेन क्षिपतो वा धरातले।
भवत्यविकला साधोरादानसमिति स्फुटम् ॥८९४॥

साधुत्वसाधनामें आदाननिक्षेपणसमितिका स्थान--यह आदाननिक्षेपणसमितिका स्वरूप है। साधु किसी चीजको धरे अथवा उठाये तो ठीक ठीक निरखकर पीछीसे पीछेसे पोछकर धरे उठाये सो आदाननिक्षेपणसमिति है। मुनियोको अन्य वस्तुवोके धरने उठानेकी तो नौबत है ही नही। एक सैया आसन, शास्त्र, उपकरण, कमण्डल इनको भली प्रकार देखकर फिर उठाये और रखें, यो यत्नसे ग्रहण करे तो साधुके आदाननिक्षेपणसमिति बनती है। उसमे भी बहुत जल्दी उठाने धरनेमे दोष है, भले ही पीछीसे पोंछकर उठाये किन्तु झटककर प्रमादवश उठाया धरा गया है तो उसमे दोष है। वैसे तो गृहस्थोको भी इस आदाननिक्षेपणसमितिपर ध्यान देना चाहिए। किसी भी चीजको धरते उठाते समय यह निरख तो लेना चाहिए कि कोई जीवजन्तु तो नही है, जब किवाड लगाये तो कोनोमे देख लेना चाहिए कि कोई जीवजन्तु तो नही है, अगर जीवजन्तु है और जल्दीसे किवाड लगा दिया तो उन जीवोका घात हो जाता है। तो यथासम्भव गृहस्थोको भी आदाननिक्षेपणकी सावधानीपर ध्यान रखना चाहिए।

विजन्तुकधरापृष्ठे मूत्रश्लेष्ममलादिकम्।
क्षिपतोऽतिप्रयत्नेन व्युत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥८९५॥

साधुत्वसाधनामें प्रतिष्ठापनासमितिका स्थान--५ वी समिति है प्रतिष्ठापनासमिति। मल मूत्र, कफ, थूक आदिकका क्षेपण निर्दोष जीवजन्तुरहित जमीन पर करे तो उसके उत्सर्गसमिति होती है। यदि कदाचित देख लो कि कोई दूसरी मंजिलपर साधु बैठा है और वहीसे ऐसा थूके कि जमीनपर नीचे गिरे तो समझ लो कि कोई यत्नाचार नही है। एक मोटीसी बात है। साधुके तो प्रतिष्ठापनासमितिमे यह बताया है कि पहिले जीवजन्तुरहित जमीन देखे, यदि उस स्थानपर जीवजन्तु हो तो वहाँ मल, मूत्र, थूक आदिक का क्षेपण न करें, रात्रिके समय कही लघुशंका को जाना है तो पहिले दिनको तीन जगह देख आते हैं कि यदि रात्रिको लघुशकाकी बाधा हुई तो हम इस जगह बाधा मिटायेंगे। तीन जगह निर्दोष जीवरहित देख लेते है। फिर रात्रिको यदि बाधा हुई, अंधेरा होता ही है तो उस जगह वे औंध औंध करके उस जमीनको धीरेसे निरखेंगे कि कोई जीवजन्तु तो नही है। यदि उन्हे

जन्तु मालूम पड़े तो फिर दूसरे स्थानपर उसी तरह निरखेंगे। कदाचित् वहाँ भी जन्तु मालूम पडे तो फिर विवशता है, तीसरी जगह अपनी बाधा मिटायेंगे और बाधानिवृत्तिमे प्रायश्चित्त तो हमेशा करते ही है। चाहे शोध करके बाधानिवृत्ति की हो, ९ बार कायोत्सर्ग मत्र पढते है, यह सब प्रायश्चित्तरूप ही तो है।' विशेष दोष लगे तो उसका वे प्रायश्चित्त लेते है। तो निर्दोष जन्तुरहित पृथ्वीपर मलका बडी सावधानीसे क्षेपण करने वाले मुनिके कायोत्सर्गसमिति होती है।

विहाय सर्वसकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान्।
स्वाधीन कुरुते चेत समत्व सुप्रतिष्ठितम् ॥८९५॥
सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतोऽथवा।
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिण ॥८९६॥

साधुत्वसाधनामें मनोगुप्तिका स्थान—यह साधुवोका सम्यक्चारित्र कहा जा रहा है। उसमे ५ महाव्रत और ५ समितिका वर्णन हुआ, अब गुप्तियोमे मनोगुप्तिका वर्णन किया जा रहा है। मनोगुप्ति उस साधुके होती है जो रागद्वेषसे अवलम्बित समस्त सकल्पो को छोड दें, जिन सकल्पोमे रागद्वेषका सम्बन्ध भरा पडा है उन सकल्पोको छोडकर जो अपने मनको स्वाधीन करता है, समताभावमे स्थिर करता है और सिद्धान्तसूत्रकी रचनामे निरन्तर मन प्रेरित रहता है उस मुनिके मनोगुप्ति होती है। इसमे इतनी बाते कही है कि प्रथम तो रागद्वेष भरा सकल्प छोड दें और फिर अपने मनको रागद्वेषसे रहित करके स्थिर बनायें। जैसे कोई बडा भक्त सेवक हो तो जब उसे जिस काममे लगा दो वह तुरन्त काममे लग सकता है। इसी तरह इस मनको जब जिस जगह लगाना चाहिए तुरन्त लगा सके ऐसा जिसका मन स्वाधीन बन गया है और जो रागद्वेषरहित समतापरिणाममे स्थिर रहा करता है और जो ग्रन्थोकी सिद्धान्तोकी रचना करनेमे अपना मन लगाये रहता है ऐसे मुनिके मनो गुप्ति पूर्णतया सिद्ध हो जाती है। जब तीन गुप्तिया सिद्ध हो जाती है तो उस मुनिको अवधिज्ञान नियमसे हो जाता है और मन पर्ययज्ञान भी हो जाता है। तभी तो जब श्रेणिक ने जैन साधुवोकी परीक्षाके लिए एक जगह हड्डिया नीचे गडवाकर वहाँ एक कमरा खडा कराकर चेलनासे वहाँ रसोईके लिए कहा गया तो चेलनाने रसोई उसी जगह बनाया, पर पडगाहते समय यो कहा कि हे तीनो गुप्तियोके धारी महाराज तिष्ठ तिष्ठ, तो वहाँसे जो भी साधु निकले वह सोचे कि इसने तो तीन गुप्तियोके धारीके लिए कहा है, हम अभी त्रिगुप्तिधारी हैं नही, किसीको मनोगुप्ति न थी, किसीको वचनगुप्ति न थी और किसीको कायगुप्ति न थी, तो सभी मुनि यो ही चले जाये। और, उनमेसे कोई तीन गुप्तियोके धारी मुनि थे। तो उन्होने अपने अवधिज्ञानके बलसे जान लिया कि इस स्थानपर हड्डियां गडी है और

इस इस प्रकारसे यह प्रसग छिडा है, तो वह मुनि भी वहाँ न रुके। अन्तमे श्रेणिक राजा पूछता है कि मुनिवर तो तुम्हारे यहाँ नही आये, पर यहाँ कोई रुका भी नही तो इसमे बात क्या है ? तो चेलनाने बताया कि हमने त्रिगुप्तिधारक कहकर पुकारा था, इससे नही आये। फिर सारी कथा सुननेके लिए उन मुनियोके पास गये तो मुनियोके द्वारा पता चला कि किसी मुनिके मनोगुप्ति न थी, किसीके पास वचनगुप्ति न थी और किसीके पास कायगुप्ति न थी। इन गुप्तियोका बहुत बडा प्रभाव है। आत्मा आत्मामे मग्न हो जाय, अपने शान्त सुधा रसका निरन्तर पान करते रहे, यह बात तब सम्भव है जब मन पूर्ण वश हो, वचन भी पूर्ण वश हो। भीतर भी जो वचन उठते रहते है विचाररूपमे वे अन्तर्जल्प न उठे और शरीर स्थिरतासे रहे तो इन गुप्तियोके प्रभावसे आत्मा आत्मस्वरूपमे निस्तरग मग्न हो जाता है। यहाँ मनोगुप्तिका स्वरूप कहा गया है कि जिन्होने अपने मनको स्वाधीन कर लिया, समस्त सकल्पोको छोड दिया, समतापरिणाममे ही रहने का जो यत्न रखते हैं, सिद्धान्त सूत्र ग्रन्थोमे जिनका मन लगा रहता है उन मुनियोके मनोगुप्ति होती है।

साधुसवृतवाग्गुप्तेमौनारूढस्य वा मुने ।
सज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्ति स्यान्महामुने ॥८९७॥

साधुत्वसाधनामें वाग्गुप्तिका स्थान—वचन गुप्ति उन महामुनियोके होती है जिन्होने वचनोकी परिणतिका सम्वरण किया है, मौनसे रहते हैं और समस्या आदिकका त्याग करके पूर्ण मौनसे जो आरूढ होते हैं उन महामुनियोके वचनगुप्ति होती है। जो कम बोलता है उसके ही वचनोमे एक बहुत बडी विशेषता झलकती है। अधिक बोलने वालेके वचन कभी न कभी ऐसे अनर्थरूप निकल जाते हैं कि पीछे अपनी मूर्खता पर बोलने वाले को पछतावा होता है। तो वचनोका जो अधिकाधिक सम्वरण करते हैं, मौनसे रहते हैं और समस्या आदिकका भी त्याग करते है, हाथसे सकेत करने या लिखकर देना आदिका भी त्याग करके जो मौनमे आरूढ रहते हैं उन महामुनियोके वचनगुप्ति होती है।

स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यङ्कसस्थितस्य वा ।
परीषह प्रपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुने ॥८९८॥

साधुत्वसाधनामें कायगुप्तिका स्थान—काम गुप्ति है शरीर को स्थिर रखना। जिन्होने शरीरको स्थिर किया है, जिनपर कोई परीषह आ जाय तो भी अपने आसनसे न डिगे ऐसे मुनियोके कायगुप्ति होती है। कायको वश करना सो कायगुप्ति है। यहाँ तक कि एक वार एक मुनि श्मशानभूमिमे ध्यानमग्न था और लेटे हुए ही ध्यान कर रहा था, निश्चल दशामे था। वहाँ कोई व्यक्ति अपना मत्र सिद्ध करनेकी इच्छासे आया तो उसका खोपडियो पर कुछ भोजन वनाकर खानेका विधान था। सो एक आदमीकी खोपडी उस

मुनिकी खोपडीके पास रखा और दोनो खोपडियोके बीचके स्थानको चूल्हा जैसा बनाकर उसमे आग जलाया और उसमे खिचडी पकाना शुरू किया। कुछ देर तक तो वह मुनि उस परीषहको सहता रहा पर, अन्तमे जब न सहा गया तो उस मुनिका मस्तक हिल गया। फिर तो सारा खेल ही समाप्त हो गया, वह मुनि उठकर बैठ गया और वह मंत्र सिद्ध करने वाला पुरुष भग गया। तो वह मुनि भी थे उस चेलनाके पडगाहने के समय जब कि चेलने ने कहा था हे त्रिगुप्तिधारी स्वामिन्! अत्र तिष्ठ तिष्ठ। तो उन मुनिने बताया था कि मेरे कायगुप्ति न थी जिससे मैं पडगाहने मे न गया था। तो ऐसी भी स्थितिया आ जाये कि लोग मुर्दाकी खोपडी समझ कर उस पर आग जलाये या घसीटे तब भी शरीर वशमे रहे, शरीरमे तरग न उठे सो यह कायगुप्ति है। मनको वश करना सो मनोगुप्ति है, वचनको वश करना सो वचनगुप्ति है, कायको वश करना सो कायगुप्ति है। यों ५ समिति और ती गुप्ति इन ८ नियमोको अष्टप्रवचनमालिका कहते है। कोई साधु अधिक पढा लिखा भी नही है, कोई भेदभाव भी विशेष नही जानता, लेकिन पाँच समिति ३ गुप्ति यदि भली प्रकार निभ रही है, इनका ज्ञान है तो इतने ही ध्यानके द्वारा वह साधु अपने मोक्षमार्गको बना लेता है और निर्वाण प्राप्त कर लेता है। यो सम्यक्चारित्रमे तेरह प्रकार का चारित्र बताया है, ऐसे चारित्रधारी ऋषि सत आत्मध्यानके पात्र होते है, जिस आत्म-ध्यानके प्रसादसे निर्वाण प्राप्त होता है।

जनन्यो यमिनामष्टौ रत्नत्रयविशुद्धिदा।
एताभी रक्षित दोषैर्मुनिवृन्दं न लिप्यते ॥८९९॥

प्रवचनमातृका संकेत--५ समिति ३ गुप्ति यह आठ प्रवचनमात्रिका संयमी पुरुषोकी रक्षा करने वाली माता है। इन आठका नाम प्रवचनमात्रिका है। रत्नत्रयकी विशुद्धि देने वाली है और इससे रक्षा किये हुए मुनियोका समूह दोषोसे लिप्त नही होता है। ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति ये १३ चारित्रके अग है। इन १३ प्रकारके चारित्रोको निर्दोष पालने वाले मुनि दोषोसे लिप्त नही होते। और, जो निर्दोष है वे आत्मध्यानी बनते है और आत्मध्यानसे ही निर्वाण मिलता है, अतएव जिसे मुक्तिकी चाह है उसे पापोसे दूर रहना चाहिए और आत्मतत्त्वके ध्यानमे यत्न करना चाहिए।

इति कतिपयवर्णैश्चर्चित चित्ररूपम्,
चरणमनघमुच्चैश्चेतसा शुद्धिधाम।
अविदितपरमार्थैर्यन्न साध्य विपक्षै--
स्तदिदमनुसरन्तु ज्ञानिन शान्तदोषा ॥९००॥

अज्ञानियों द्वारा चारित्रकी अशक्यता—कितने ही अक्षरोंके द्वारा वर्णन किया गया

जो अनेकरूप निर्दोष चारित्र है सो ऊँचे चित्त वालोका तो शुद्धताका मन्दिर है और जिसके परमात्मतत्त्व नही जगा है ऐसे पुरुषोके द्वारा यह अराध्य है। यह निर्दोष चारित्र जो ऊँचे चित्त वाले है, जिनको कल्याणकी विशुद्ध भावना जगी है उनके लिए तो शुद्धताका मन्दिर है, वे तो शुद्धि प्राप्त कर लेते है और जिन्हे इस यथार्थतत्त्वका भान नही हुआ ऐसे पुरुषोके द्वारा यह चारित्र धारण नही किया जा सकता। जो लोग विषयोके प्रेमी हैं उनसे यह चारित्र कैसे निभ सकता है ? और, विषयोकी रति तब ही मिटती वास्तविक मायनेमे जब विषयकषायके विकारोसे रहित केवल चैतन्यस्वरूपमात्र आत्मतत्त्वका भान हो। जो लोग इस विषयरहित ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव नही करते और फिर भी लोकलाजसे या लौकिक बडप्पनसे या अन्य-अन्य सत्संगोके कारण विषयोसे दूर रहते हैं, फिर भी वे मूलसे निर्विषय नही बन पाते है, क्योकि उनके यह भाव नही होता कि मेरा आत्मा विषयविकारोसे रहित केवल जाननहार है, उस कारण सही मायनेमे विषयोकी निवृत्ति नही होती है। इसी प्रकार पापोसे रहित मेरा आत्मा केवल ज्ञानमात्र है ऐसा अनुभव जगे बिना वास्तविक मायनेमे पापोसे दूर भी नही हो सकते। तो इन अक्षरोके द्वारा जो कुछ चारित्रका वर्णन किया गया वह चारित्र ज्ञानियोके द्वारा तो धारण किया जा सकता है और जिन्हे अपना स्वरूप न विदित हो उनके लिए यह अशक्य है। ऐसे इस चारित्रको निर्दोष ज्ञानी पुरुष धारण करते हैं।

सम्यगेतत्समासाद्य त्रयं त्रिभुवनार्चितम्।
द्रव्यक्षेत्रादिसामग्र्या भव्यः सपदि मुच्यते ॥६०१॥

द्रव्यक्षेत्रादिसामग्री द्वारा रत्नत्रयकी सम्यक् साधना—तीनो लोकसे पूज्य रत्नत्रयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीके अनुसार अगीकार करके भव्य जीव शीघ्र ही कर्मोसे छूट जाते है। अब रत्नत्रयकी महिमा बतायी जा रही है। इससे पहिले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका वर्णन किया। ये आत्मध्यानके अग हैं। अन्य लोग ध्यानके साधन प्राणायाम करना, कोई वस्तुका त्याग करना, प्रत्याहार करना, नियम सकल्प आदि करना मानते है। यहाँ आत्मध्यानका साधन बताया है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। अब इस रत्नत्रयकी महिमा गा रहे है। जो पुरुष इस रत्नत्रयको अपनी शक्तिके अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी सामग्रीसे धारण करता है वह कर्मोसे छूट जाता है। जिस क्षेत्रमे जितनी शक्तिसे चारित्र धारण किया जा सकता हो, जिस परिस्थितिमे, जिस समयमे जिस प्रकार सम्यक्चारित्र अधिकाधिक धारण किया जा सकता हो ऐसी भावना होना चाहिए। दर्शनविशुद्धि आदिक १६ कारणोमे एक कारण बताया है शक्तित त्याग। इसका अर्थ कुछ लोग यो कर देते है कि शक्तिके अनुसार त्याग करे, अधिक न करें, शक्तिके अनुसार तप करे, शक्तिसे ज्यादा न बढें। क्योकि शक्तिके अनुसार बताया है। तो

केवल एक दृष्टिका फेर है। बात वही है। उसका अर्थ यह लेना कि अपनी शक्ति न छिपाकर जितनी भी शक्ति अपनेमे है सारी शक्ति लगाकर त्याग करे। समस्त शक्तिपूर्वक तप करे। यद्यपि अर्थ वही आया लेकिन इस अर्थमे उत्साह भरा हुआ है और उस अर्थमे शिथिलता बसी हुई है। तो ऐसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है।

एतत्समयसर्वस्वं मुक्तेश्चैतन्निबन्धनम्।
हितमेतद्धि जीवानामेतदेवाग्रिम पदम् ॥१०२॥

रत्नत्रयकी श्रेयप्रधानता—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यही सिद्धान्त का सर्वस्व है, मुक्तिका कारण है। जैसा अपना आत्मस्वरूप है वैसा श्रद्धान् आ जाय इसका नाम है सम्यग्दर्शन। जैसे मै केवल ज्ञानस्वरूप हू, रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित हू, शरीर मैं नही हू, शरीरसे विविक्त एक परम ज्योति हू। इस प्रकार अपने आपका परिचय बने और ऐसा ही ख्याल बनाकर जब ऐसा ही ज्ञानस्वरूपका अनुभव जगे तो उसे कहते है सम्यग्दर्शन। और, ऐसा ही फिर उस आत्माका ज्ञान बनाये रहना। कभी भी इस प्रकारकी प्रतीति न जगे कि मेरा सुख किन्ही बाह्यपदार्थोसे आयगा। एक यह दृढ निर्णय रहे कि मैं ज्ञानरूप हू। मेरा ज्ञान मेरेसे अपने आप प्रकट होता है। विषयकषायोके परिणाम इस ज्ञान मे बाधा डालते है। यदि ये विषय आदिक परिणाम न हो तो यह ज्ञान अपने आप अधिकसे अधिक विकसित हो जायगा। ज्ञान कमानेके लिए हमे अन्य श्रम न करना पडेगा, पर विषयकषायोके परिणाम दूर हो तो यह ज्ञान अपने आप पूर्ण विकसित होगा। मान लो कि किसी परिस्थितिमे यह ज्ञान बहुत थोडा है। जो लौकिक कलाये है उनका ज्ञान नही है, तो नही है न सही, लेकिन यह ज्ञानी विरक्त होकर जब केवल अपने ज्ञानस्वरूप आत्माका ध्यान बनायेगा तो कर्मोका क्षय होकर इसे केवलज्ञान उत्पन्न हो जायगा और केवलज्ञानसे फिर लोकालोकका कोई पदार्थ अज्ञात नही रहता। जब हम किसी भी दूसरे पुरुषमे जीवमे परिवारमे मित्रमे स्नेह न बसाये, किन्ही दूसरे जीवोमे अपने यशकी वाञ्छा न करें, लोकेषणा न करें तो ऐसी स्थितिमे एक बडा विश्राम मिलता है। यह जीव दुखी है केवल दूसरे जीवोके स्नेह से। लोकेषणाका, यशकीर्तिका, सर्वपरका स्नेह हटे तो अपने आत्माको अपने आपमे ही एक अपूर्व विश्राम मिलता है और उस उस विश्रामके बलपर इसे शुद्ध आत्मीय आनन्दका अनुभव होता है। तब इस ही प्रकार ज्ञानस्वरूप अपने आपका आलम्बन निरन्तर बनाये रहे तो कर्मोका क्षय होकर वह आनन्द सदाके लिए प्राप्त हो जाता है। तो यह रत्नत्रय ही मुक्तिका कारण है और यही जीवोका हित है और यह रत्नत्रय ही एक प्रधान साधन है। इस जगतमे हम किसकी शरण गहे जिससे हमको निराकुलता प्राप्त हो ? यह सारा ससार मायारूप है। हम आप सभी जीव अनादिकालसे नाना शरीरोको धारण करते हुए भटकते

चले आये है और ऐसे ही ससार आगे अनेक जीवोका चलता रहेगा, उसमे सारभूत शरण-भूत कोई भी पदार्थ नही है। आज जो कुछ पासमे है वह जब तक है तब तक भी सुखका कारण नही है, और अन्तमे विछोह नियमसे होगा। तो जगतमे किसका शरण गहे कि शान्ति प्राप्त हो? एक अपने आपका ही शरण सच्चा शरण है। और, प्रभुका शरण भी हमे अपने आपकी शरण पा लेनेका एक कारण है। अत प्रभुका ध्यान भी शरण है। प्रभु-भक्ति, आत्माकी उपासना इन दो कार्योंके अलावा कोई भी काय इस जीवको शान्ति उत्पन्न नही कर सकता। तो यह रत्नत्रय ही इस जीवका प्रधानपद है।

न याता यान्ति यास्यन्ति यस्मिन पदमव्ययम्।
समाराध्यैव ते नून रत्नत्रयखण्डितम् ॥६०३॥

रत्नत्रयमें अव्ययपदलाभकी कारणता—निश्चय करके इस रत्नत्रयसे परिपूर्ण होकर संयमी मुनि पूर्वकालमे मोक्ष गए है, वर्तमानमे जाते है और भविष्यमे जायेंगे। मोक्ष नाम है निराकुल दशाका। जहाँ रच भी आकुलता नही है उसका नाम है मोक्ष। अब सोचिये—हम आपको जो यह शरीर मिला है यह क्या निराकुलताका स्थान है? सारी आकुलताएँ इस शरीरके कारण ही लगी हुई है। प्रथम तो इस जीवको इस शरीरमे मोह उत्पन्न होता है, यह शरीर मैं हू इसको ही लक्ष्यमे लेकर मैं माना जा रहा है तब इसका साधन बनानेके लिए यत्न करेगे। पर, कोई परपदार्थ इसके आधीन है नही, प्रत्येक पदार्थकी परिणति अपने आपमे है, तो परपदार्थमे अनुकूल परिणमन न देखकर आकुलित तो होगे ही। जब इस शरीरको माना कि यह मैं हू तो फिर यह भाव बनेगा कि मैं इस जगतमे श्रेष्ठ कहलाऊँ। अरे किसकी निगाहमे तुम श्रेष्ठ बनना चाहते हो? सभी जीव जो ससारमे दिख रहे हैं, ये सब कर्मोंके प्रेरे है, इस शरीरका भार लादे है, कुछ समय बाद ये सब यहाँसे विदा हो जायेंगे। किनसे यहाँ बडप्पन चाहते हो? ये जो सम्मान अपमानकी बातें यहाँ चल रही हैं इनसे अनेक प्रकारके मानसिक क्लेश उत्पन्न होते हैं। इस शरीरके कारण क्षुधा, तृषा, ठड, गर्मी आदि अनेक प्रकारके क्लेश चलते रहते हैं। यह शरीर जिसको यह जीव सर्वस्व मानता है, इस ही के कारण यहाँके सारे क्लेश हैं, और जब यह शरीर मिला है तो इसका वियोग अवश्य होगा। जब वियोग होगा तब इसके क्लेश अधिक होता है। यों ही यहाँके सारे प्राप्त समागमोका विछोह अवश्य होगा। उनमे ममताका परिणाम बसानेसे अन्तमे विछोहके समय बडा क्लेश होगा। यहाँ कौनसी सारभूत चीज है सो तो बतावो? सारभूत चीज है केवल रत्नत्रयका अखण्ड परिपालन। अपने आपके श्रद्धानमे कभी भी दोष न जगे, यह श्रद्धानपूर्ण दृढ रहे, मैं शरीरसे भी न्यारा, कर्मोंसे भी न्यारा, रागद्वेष विकारोसे भी न्यारा एक ज्ञानज्योतिस्वरूप हू। ऐसा श्रद्धान इसका दृढ़ रहे तो इसे शान्तिका पथ मिलेगा।

यही धर्मपालन है। लोग धर्मपालनके लिए बडे-बडे कष्ट सहते है, बडे बडे खर्चे करते है, पर अपने आपका सही श्रद्धान बनाये विना धर्म नही हो सकता। अपने आपका ऐसा ध्यान बनना चाहिए कि मैं सबमे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हू, जब मेरा स्वभाव आनन्द है तो परवस्तुवोसे मेरा क्या प्रयोजन ? मैं स्वय ही आनन्दघन हू, एक रागद्वेष करके हमने अपने आनन्दका घात किया है। ऐसा रागद्वेष आज ही मिटे तो वही परिपूर्ण आनन्द हमारे पास है, ऐसा अखण्ड सम्यग्दर्शन बने और फिर इस ही की जानकारीके लिए चित्त चाहे। मुझे अन्य पदार्थकी जानकारी बनाये रहनेसे कुछ न मिलेगा। मै अपने आपके स्वरूपकी जानकारी निरन्तर बनाये रहूँ तो मेरे कर्म कटेंगे, मोक्षका लाभ होगा। धर्मपालन मोहके त्यागनेसे शुद्ध ज्ञानरूप अनुभव करनेसे हुआ करता है। सयमी मुनि जितने भी अब तक मोक्ष गए हैं और जा रहे हैं और भविष्यमे जायेंगे वह सब रत्नत्रयका प्रताप है। अपने आपको ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभव किया जाय, ऐसा ही अपनी ज्ञानदृष्टिमे लिया जाय और परपदार्थमे कुछ परिणति न करके केवल ऐसा अनुभव करनेमे लग जाय, यही है रत्नत्रयका पालन, इसके प्रतापसे ही समस्त सकट दूर होते है।

साक्षादिदमनासाद्य जन्मकोटिशतैरपि।
दृश्यते न हि केनापि मुक्तिश्रीमुखपङ्कजम् ॥६०४॥

रत्नत्रयलाभ बिना मुक्तिलाभकी नितान्त असंभवता—इस रत्नत्रयको प्राप्त न होकर जीव करोडो जन्म धारण करने पर भी मुक्तिको प्राप्त नही होता। जैसे जिस कलपुर्जेसे जो इजन चलता वह उसी पुर्जेसे चलेगा, अन्य पुर्जेसे वह इंजन नही चल सकता। इसी प्रकार जिस कार्यकी जो विधि है वह कार्य उसी विधिसे होगा अन्य विधिसे न होगा। मोक्ष किसे होना है, किससे होना है इसका पहिले श्रद्धान तो करें। मोक्ष होना है आत्माको, मोक्ष होना है कर्मोंके बन्धनसे। मोक्ष कहते है छुटकारा अर्थात् छुट्टी पा जानेको। जैसे स्कूलमे ४ बजे जब बच्चे लोग छुट्टी पाते हैं तो कितना उछलते कूदते, हँसते खेलते हुए वहाँसे अपना पाटी बस्ता लेकर भागते है। तो वह किस बातकी उन्हे खुशी हुई ? कुछ खाने पीनेको उन्हे मिल गया क्या ? अरे उन्हे छुट्टी मिल गई स्कूली कामोसे इस बातकी उन्हे खुशी है, इसी प्रकार समझ लो अभी यह आत्मा कर्मोंके विकट बन्धनमे है। जिस कालमे यह आत्मा इन कर्मबन्धनोसे छूट जाएगा अर्थात् इन कर्मोंसे छुटकारा मिल जाएगा उस कालमे यह आत्मा मुक्त हो जायगा। तो किसे छुटकारा चाहिए, किससे छुटकारा चाहिए, इस बातका पहिले यथार्थ बोध होना चाहिए। आत्मा क्या चीज है, कर्म क्या चीज है इसका पहिले निर्णय करें। ये कर्म नोकर्म पौद्गलिक हैं, बन्धनरूप है, अचेतन है और जिसे छुटकारा दिलाना है वह मै आत्मा चेतन हू, केवल ज्ञानान्दस्वरूप हू। मेरे स्वभावमे सर्व परपदार्थ छूटे हुए है। बाह्यपदार्थ

कोई भी मेरे स्वभावमे नही पडा है। यदि मेरे स्वभावमे ये विकार अथवा ये बाह्यपदार्थ पडे होते तो करोडो यत्न करनेपर भी छूट नही सकते थे। ये सब औपाधिक है, मायारूप है, इनसे भिन्न अपनेको निरखे तो अवश्य इनसे छुट्टी मिलेगी। जैसे कोई पुरुष किसी दुष्ट मित्रसे फस गया हो, उससे यदि छुटकारा पाना है तो पहिला तो यह कर्तव्य है कि दुष्ट मित्र की सारी दुष्टताका परिचय कर ले, क्या क्या छल किया करता है, उस परिचयसे उसकी उपेक्षा हो जायगी। किसीकी दोस्ती भग करनेका उपाय है उपेक्षा कर देना, उससे बोलचाल न रखना, अपने कार्यसे प्रयोजन रखना, स्नेह न रखना। हमे इन-कर्मोसे और शरीरसे छूटना है तो पहिले हम यह समझें कि मेरा सर्वस्व केवल ज्ञानमात्र है और यह कर्मोसे, शरीरसे छूटा हुआ है। यो सर्व विविक्त ज्ञानमात्र अपने आपकी श्रद्धा हो तो नियमसे शरीरसे छुटकारा कभी न कभी हो ही जायगा। अपनेको ऐसा अनुभव करना चाहिए परिवारके बीच रहकर भी, वैभवके बीच रहकर भी कि मैं इस परिवार और वैभवसे न्यारा केवल एक ज्ञानरूप सत्पदार्थ हू, ऐसा अनुभव बने तो यह बहुत ऊँचा तपश्चरण है। अपना ज्ञान सही रहे, विषयकषायोको न चाहे तो यह एक बहुत ऊँचा आन्तरिक तपश्चरण है। आत्माका परिचय इस ही तपश्चरणसे होता है।

दृग्बोधरणान्याहु स्वमेवाध्यात्मवेदिन ।
यतस्तन्मय एवासौ शरीरी वस्तुत स्थित ॥६०५॥

आत्माकी दर्शनज्ञानचारित्रात्मकता—जो अध्यात्मतत्त्वके जानने वाले है वे सत्य ज्ञान और चारित्रको एक ही आत्मारूप देखते है। जैसे यह दीपककी ज्योति जल रही है तो इसमे कई तत्त्व नजर आ रहे है, यह गर्म है, यह प्रकाशरूप है, यह दाहकतारूप है। पर ये तीनो क्या इस दीपकमे अलग-अलग पडे है ? ये तो एक ही रूप है। तो जैसे व्यवहारमे भेद करके हम इसे तीन रूपोमे निहारते हैं ऐसे ही यह आत्मा तो जिस रूप है उस ही रूप है पर इसे पिछाननेके लिए हम कहते है कि इसमे श्रद्धान है, ज्ञान है और चारित्र है, पर श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र ये अलग-अलग वस्तु नही है, क्योकि परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा उन तीनोमे तन्मय है, न श्रद्धानसे अलग, न ज्ञानसे अलग, न चारित्रसे अलग। तीनो मय ही यह मैं आत्मा हूँ, यद्यपि भाव और भावनाके भेदसे भेद है फिर भी वास्तवमे एक है। मैं एक आत्मा हू और मेरा भाव है श्रद्धा करना, ज्ञान करना, आचरण करना, ये तीनो मुझसे अलग कुछ नही है। मेरेमे तो एक परिणति होती रहती है, उस एक परिणतिको ही समझानेके लिए हम तीन रूपमे बताते हैं। मैं क्या करता हूँ ? किसी न किसी रूपमे विश्वास बनाये रहता हू। मैं क्या करता हूँ ? अपना और परपदार्थका ज्ञान किया करता हू, और, क्या किया करता हू ? किसी न किसी तत्त्वमे चाहे परमे, चाहे स्वमे अपने

को रमाये रहता हू, लगाये रहता हू, ऐसी हममे तीन कला है। जब ये तीन तत्त्व मेरे आत्माके लिए ही लग जाये अर्थात् मैं अपने स्वरूपका श्रद्धान करूँ, अपने ही स्वरूपका ज्ञान करूँ और अपने ही स्वरूपमे रम जाऊँ, जब मैं ऐसा यत्न करूँगा तो एक निर्विकल्प दशा बनेगी, उससे कर्म कटेंगे, मुक्ति प्राप्त होगी। तो सर्वसंकटोसे छूटनेका उपाय है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इसके ही प्रतापसे आत्माका वह उत्कृष्ट ध्यान बनता है जिस ध्यानसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। ऐसा जानकर एक निर्णयपूर्वक हमे यह उद्यम करना चाहिए कि हमारा श्रद्धान, ज्ञान और आचरण सही बने। मेरा चारित्र रहेगा तो मेरा सब कुछ है, मैं अपने स्वरूपसे गिर जाऊँगा तो मेरे लिए जगतमें कुछ भी हितरूप नही है। ऐसा अनुभव करनेके लिए और कुछ विशेष साधना न बने तो थोडा बहुत ज्ञान तो यह है ही कि मैं सबसे न्यारा हू, तो ऐसा ही ज्ञान करके परपदार्थोका उपयोग छोड दे और अपनेमे विश्राम पाये तो यो स्वय अपनेमे अपनी ज्योतिकी झलक बन जायगी।

निर्णीतेऽस्मिन्स्वयं साक्षान्नापर कोऽपि मृग्यते।
यतो रत्नत्रयस्यैष प्रसूतेरग्रिम पदम् ॥९०६॥

रत्नत्रयका अग्रिम पद—इस आत्माके स्वयं निर्णय किए जानेपर अन्य और कुछ भी यहाँ ढूंढनेमे नही मिलता है। जब अपने ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि होती है तो यहाँ अन्य कुछ नही मिलता है। देखिये इसी दृष्टिका हठ करके कोई तो यह कहते है कि यह आत्म-तत्त्व सर्वत्र एक ही है। क्योकि यहाँ कुछ नही मिला। तो कोई कहते है कि केवल एक ज्ञानमात्र ही दुनिया है। इस दुनियामे अजीव पदार्थ कुछ है ही नही, कोई कहते है कि यह दुनिया बस शून्य ही शून्य है। क्योकि अपने आत्मामे आपका सही निर्णय करनेपर यहाँ कुछ नही मिला ना तो ऐसी चर्या सुनकर कल्याणप्रेमीजन कुछसे कुछ अपना निर्णय बना सकते है, पर स्याद्वादसे इन सबका सही निर्णय होता है। जो लोग कहते है कि यहाँ और कुछ भी नही है, सब शून्य ही तत्त्व है तो उसका अर्थ है कि एक आत्मतत्त्वके सिवाय और सब शून्य है एक आत्मानुभवकी स्थितिमे। तो जब स्वय आप ही आत्माका साक्षात् निर्णय करते है तो केवल यह आत्मा ही प्रतीत होता है और रत्नत्रयकी उत्पत्तिका मुख्य पद भी यह आत्मा ही है। सम्यग्दर्शन इस आत्मतत्त्वकी दृष्टिसे उत्पन्न होता है। सम्यग्ज्ञान इस ज्ञान-मात्र आत्मतत्त्वके अवलम्बनसे विकसित होता है। और, सम्यक्चारित्र इस ज्ञानमात्र आत्म-तत्त्वमे ज्ञानरूपसे बने रहनेका नाम है। यो रत्नत्रयका उत्पादक भी यह आत्मतत्त्व है।

जानाति य स्वयं स्वस्मिन्स्वस्वरूपं गतभ्रम।
तदेव तस्य विज्ञान तद्वृत्त तच्च दर्शनम् ॥९०७॥

वास्तविक दर्शन ज्ञान चारित्रका अधिकारी—जो पुरुष अपनेमे अपने ही से अपने

निजरूपको भ्रम छोडकर जानता है वही उसका विशिष्ट ज्ञान है, वही सम्यक्चारित्र है और वही सम्यग्दर्शन है। जैसे छहढालामे भी कहा है—परद्रव्य तै भिन्न आपमे रुचि सम्यक्त्व भलो है। परद्रव्योमे भिन्न निज आत्मतत्त्वमे रुचि जग । सो सम्यग्दर्शन है और इस आत्म-स्वरूपका ज्ञान होना सो सम्यग्ज्ञान है और इस आत्मस्वरूपमे ही स्थिर होना सो सम्यक्-चारित्र है। तीनो कुछ जुदे जुदे नही है, किन्तु जब हम व्यवहारके उपायसे जानना चाहते हैं तो यह भेद उत्पन्न होता है। इन तीनको हम अनेक सकलोमे निरख सक्ते हैं। इस रत्न-त्रयको हम उत्पादव्ययध्रौव्यके रूपमे भी निरख सकते हैं। जैसे कि पुरुषार्थसिद्धिमे कहा है कि विपरीत अभिप्रायको दूर करके अपने आत्मतत्त्वको भली प्रकार निश्चय करके आत्मामे स्थिर हो जानेका नाम है पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय। इसमे सम्यग्दर्शनको व्ययरूपमे देखा है, सम्यग्ज्ञानको उत्पादरूपमे देखा और सम्यक्चारित्रको ध्रौव्यरूपमे देखा। विपरीत अभि-प्रायके विनाशका नाम है सम्यग्दर्शन क्योकि सम्यक्त्वके लक्षणमे हम कुछ भी शब्द कहे तो वे उतने निर्दोष न बन पायेगे कि जिससे सम्यग्दर्शनका ही बोध हो, और कुछ न आये। जैसे आत्माका अनुभव करना लो यह तो ज्ञान बन गया। जितने भी अनुभवन हैं वे ज्ञानकी पर्याय हैं। आत्माकी रुचि करना लो यह चारित्र बन गया, अनुराग करना, रुचि करना यह चारित्रका अग है। आत्माकी प्रतीति, प्रत्यय, अवबोध ये सब एकार्थक है। तब विपरीत अभिप्रायके विनाश होनेका नाम सम्यग्दर्शन है। इस लक्षणमे अव्याप्ति अतिव्याप्ति जैसे दोष नही आ पाते। यद्यपि सम्यग्दर्शनके लक्षण रुचि प्रतीति अनुभूति अनुभूति इन शब्दोसे भी कहे गए हैं और चूंकि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र एक आत्माके ही परिणमन है अत सूक्ष्मतया अव्याप्ति अतिव्याप्तिपर दृष्टि न देना चाहिए। फिर भी आचार्य अमृतचन्द्र सूरि एक सूझकी बात कह रहे हैं कि विपरीत अभिप्रायको निर्जन कर देनेका नाम है सम्यग्दर्शन। अब विपरीत अभिप्रायरूप होनेसे क्या बात प्रकट होती है, उसको सम्यक्त्व शब्दसे कह सकेंगे। सम्यक्त्व मायने स्वच्छता सम्यक् स्वच्छ ये एकार्थक शब्द हैं। सम्यग्दर्शनमे क्या रहता है ? एक स्वच्छ परिणति रहती है। सम्यग्ज्ञान आत्मतत्त्वका भली प्रकार निर्णय करके यह उत्पादरूप है और फिर उस ही आत्मतत्त्वमे स्थिर हो जाना यही सम्यक्चारित्र है। तो ये तीनोके तीनो आत्मरूप है। जो पुरुष अपने आपको अपने ही द्वारा भ्रमरहित होकर अपनेमे निरखता है, जानता है, रमता है वही रत्नत्रयमय है।

स्वज्ञानादेव मुक्ति स्याज्जन्मबन्धस्ततोऽन्यथा।
एतदेव जिनोद्दिष्ट सर्वस्व बन्धमोक्षयो ॥६०८॥

बन्ध मोक्षका सर्वस्व मर्म—आत्माके ज्ञानसे ही मुक्ति होती है और आत्मामे ज्ञान बिना संसारका बन्धन होता है। जिनेन्द्रदेवने बन्ध और मोक्षके सम्बन्धमे यह सर्वस्व प्रति-

पादित किया है। मुक्तिका अर्थ है छूटना। छूटकर क्या बना जायगा और छूटना किसे है, और छुडाना क्या है, ये तीन बातें जिनके स्पष्ट रहती है उन्हे ही मुक्तिमार्गकी सिद्धि होती है। छूटना किसे है ? एक ज्ञानस्वरूप अहं प्रत्ययबोध इस सत्को छूटना है। किससे छूटना है ? इस ज्ञानमात्र मुझ आत्माको अपने ही सत्त्वके कारण सहज जो भी बात इसमे हुआ करती है, उससे अतिरिक्त उससे विलक्षण जितने भी भाव है, विभाव हैं, विकार है उनसे छूटना है। छूटकर स्थिति क्या बनेगी ? एक स्वच्छ ज्ञानप्रकाशरूप परिणमन रहेगा। इन तीनका निर्णय बसा हो तो मुक्तिका मर्म जान सकते है। यह बात अन्य लौकिक स्थितियोकी भी है। लोकव्यवहारमें भी जब छूटना कहा जाय तो उसमे भी ये तीन बातें निहित रहती हैं। छूटना किसे है, छूटना किससे है और छूटकर स्थिति क्या बनेगी ? जैसे कोई विद्यार्थी स्कूलसे छुट्टी पाकर खुश होता है तो उसमे भी यही तीन बातें गर्भित हैं। छूटना किसे है ? उस विद्यार्थीको। छूटना किससे है ? उस स्कूलके कार्योसे और छूटकर स्थिति क्या होगी ? स्कूलके सारे बखेडोसे अलग होकर खेलेगे, कूदेंगे, घूमेंगे। यही बात जेलसे छुट्टी पाने वाले की है। जेलसे छूटना किसे है ? जो जेलमे बन्द है उसे। छूटना किससे है ? जेलके सारे ददफदो से। छूटकर स्थिति क्या बनेगी ? जेलके सारे कष्टोसे छुट्टी मिल जायगी। तो इसी प्रकारसे मुक्तिका मर्म जो जानते है उन्हे भी इन तीन बातोका निर्णय होता है। यह मुक्ति किसे प्राप्त होगी ? आत्माको। किससे मुक्ति प्राप्त होगी ? सर्व कर्मजालोसे। स्थिति क्या होगी ? जैसा स्वयं आनन्दस्वरूप है वैसा प्रकट हो जायगा। जो व्यक्ति मुक्तिका मम जानते हैं उन्हे यह अन्त प्रतीति रहती है कि यह मुक्ति तो आत्मज्ञानसे ही बनेगी। आत्मज्ञान न बननेके कारण ही इस संसारमे आवागमनका चक्र लगा हुआ है। जो अपने मुक्त स्वरूपको नही समझ सकते उनकी दृष्टि परपदार्थोमे पहुंचेगी और उसके फलमे इस संसारमे जन्ममरणके क्लेश सहन करने होगे। आत्मज्ञानसे ही मुक्ति होती है और आत्मज्ञानके विना इस संसारका बन्धन होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने बँध मोक्षके स्वरूपमें मौलिक बात बताया है।

आत्मैव मम विज्ञानं दृग्वृत्त चेति निश्चय ।
मत्त' सर्वेऽप्यमी भावा वाह्या सयोगलक्षणा ॥६०६॥

ज्ञानीका निश्चय–मेरा आत्मा ही विज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही चारित्र है ऐसा मेरा निश्चय है। इसके अतिरिक्त अन्य समस्त ये सब भाव वाह्य है और सयोग-स्वरूप है। जिसे हटना है, जिससे हटना है उन दोनोका यथार्थस्वरूप कोई जाने तब वह हट सकता है। कोई वाहरमे ही ऐसा सोचे कि मुझे इस घरसे हटना है, इनके नियत्रणसे हटना है, इस शरीरसे हटना है यहाँ तक भी कोई परसे हटनेकी बात सोचे तो उसे वह झलक नही मिल सकती, वह भेदविज्ञान नही मिलता जिसके प्रतापसे मुक्ति होती है, ये भी

परतत्त्व है, परपदार्थ है, इनसे भी न्यारा होना है लेकिन साक्षात् भेदविज्ञान तो अपने स्वभाव और औपाधिक विकारोके बीच करना है। भेदविज्ञान जगे तो ये तो सब भेदविज्ञान होगे ही। पर बाह्यके इन आकार वाले पदार्थोंसे हम अपनेको भिन्न निरख ले उसके साथ नियम नही है कि अपने शुद्धस्वरूपको यथार्थ भिन्न परख सकू। मैं घर वैभवसे न्यारा हू ऐसा भेद करके भी कोई यह समझ सकता है कि मैं तो यह हू, जो यह शरीर है और मैं तो यह हू जो ऐसी पोजीशन बनाता है, ऐसा मौज लेता है। जैसा परिणमन है उस परिणमनरूप अपनेको मानते हुए घर मकानसे भी न्यारा समझ सकता है, लेकिन भेदविज्ञान नही जगा। यो तो अनेक लोग द्वेषवश होकर घर भी छोड देते हैं, घरसे भाग जाते है तो क्या वह भेदविज्ञानकी बात हुई ? अरे भेदविज्ञानकी बात तो तब हो जब सर्वसे विविक्त अपने आत्मतत्त्वको निरख ले। इस आत्मतत्त्वका परिचय होनेपर फिर अन्तरगसे कोई आकाक्षा नही रहती है। सबसे बेढगी आकाक्षा मन वाले जीवोमे लोकयशकी हुआ करती है। लेकिन जिसे ऐसे विशुद्ध निज अन्तस्तत्त्वका परिचय होता है वह ऐसी बेढगी अटपट आकाक्षाएँ नही करता है। क्या होगा यशसे ? यह तो स्वप्नवत बात है। किन्ही स्वार्थी लोगोने प्रशसा कर दी तो उससे इस आत्माको क्या लाभ मिलता है ? वह आत्मपरिचयी पुरुष समझता है कि मैंने यदि अपने अन्तस्तत्त्वसे विलग होकर बाह्यमे यश की चाह की तो इसके फलमे क्लेश भोगना होगा। ये जगतके कोई भी मनुष्य मेरे साथी नही हो सकते। जिसे अपने शुद्ध स्वरूपका परिचय हुआ है वह बेढगी आकाक्षायें नही करता है। ये सब केवल सयोगरूप है।

इच्छादिकोंकी संयोगलक्षणता होनेसे बाह्यरूपता—जैसे चूल्हे पर बटलोही रखा दिया तो पानी गरम हो गया। यदि यह पूछा जाय कि पानीमे जो गर्मी है वह सयोगरूप है या तादात्म्यरूप है तो अब देखिये इसका उत्तर। एक दृष्टिसे तो यह उत्तर मिलेगा कि पानीमे स्पर्श गुण है और वह गुण इस समय गर्मीरूप भी है, वह गरम जलका तादात्म्य रखता है लेकिन जब एक दृष्टिसे निरखते है तो यदि यह गर्मी जलमे तादात्म्यरूप हो तो जल तब भी है और जब तक रहे तब तक यह गर्मी रहना चाहिए, और, चूंकि जलमे यह गर्मी अग्निका सयोग पाकर हुई है अतएव गर्मीका जलमे सयोग है-तादात्म्य नही है। यद्यपि दोनो दृष्टियोसे दोनो बातें निरखी जा सकती है फिर भी रुचि भेदसे क्या समझना चाहिए, यह उनकी अलग अलग बात बन जाती है। जैसे जो स्वर्णका शुद्ध स्वरूप जानता है वह किसी मलिन गहनेको कसौटीपर कसकर समझ तो सही जाता है, इसमे यह है स्वर्ण, इतनी मलिनता है, एक यो बोलता है, और जिसे शुद्ध स्वर्णकी रुचि तीव्र है और उसके ही मनमे एक आस्था तीव्र बनी हुई है तो वह उसे कसकर शीघ्र यह कह देगा कि यह क्या पीतल

लाये हो ? इसी प्रकार जिस ज्ञानीको आत्माके उस शुद्ध ज्ञानस्वरूपमे तीव्र रुचि जगी है वह पुरुष इन क्रोधादिक कषायोको जो कि एक दृष्टिसे देखनेपर जीवमे तादात्म्यरूपसे रह रहे है फिर भी वह एकदम कह देगा कि ये सब तो परभाव है । इनका मुझमे संयोगमात्र है इनका तादात्म्य नही है । क्या क्रोधादिक विकारोका आत्मामे तादात्म्य नही है ? एक दृष्टिसे तादात्म्य है, जीवके जीवत्वमे ही वे क्रोधादिक परिणमन है पर एक दृष्टिसे चूंकि वे जीवके साथ सदैव नही रहते है और कर्मरूप परद्रव्योंका निमित्त पाकर होते हैं इस कारण जीवमे नही हैं, ये संयोगभाव है, ऐसी ही दृष्टिको रखकर समयसार जीव अजीवाधिकारमे बहुत विस्तारके साथ आचार्यदेवने खूब बताया है शरीर मैं नही, कषाये मैं नही, यहाँ तक कि सयोगके स्थान मैं नही, विशुद्धिका स्थान भी मै नही, अध्यात्म स्थान भी मैं नही, उन सबको अजीव ठहराया है, जीव तो यह मैं एक शुद्ध ज्ञानभाव हू ।

आत्मतत्त्वका परमार्थ स्वरूप – समयसारमे जहाँ ज्ञायक आत्माका लक्षण पूछा कि आत्माका शुद्ध स्वरूप क्या है ? तो कहा गया कि आत्मा न प्रमादसहित है न प्रमादरहित है, न कषायसहित है, न कषायरहित है किन्तु वह तो वही है जो ज्ञात होता है । जिसे यदि व्यवहार भाषामे कहते है तो वह तो ज्ञातामात्र है, ज्ञायकस्वरूप है, आत्माके शुद्ध स्वरूपपर कितनी अभिरुचि है ऐसी दृष्टि रखने वाले की अन्यथा जब कोई सुनेगा कि यह कह रहे है कि आत्मा न तो कषायसहित है और न कषायरहित है तो एकदम शंका दौड उठेगी कि कषायसहित नही है यह तो ठीक है पर कषायरहित भी नही है यह तो ठीक नही है । आत्मा तो कषायरहित है लेकिन किसी भी वस्तुके स्वरूपको समझना हो तो विधिपूर्वक ही समझा जायगा, निषेधपूर्वक नही । आत्मा कषायरहित है ऐसा यदि निर्णय करते हो तो कषायरहित तो अनेक चीजें हो सकती है । पुद्गल कषायरहित है, धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि भी कषायरहित है, उससे जीवकी क्या पहिचान हुई ? जैसे किसी पुरुषकी पहिचान करना हो और परिचय देने वाला निषेध निषेधकी बात कहे, यह मामा भी नही, फूफा भी नही, व्यापारी भी नही, यो अनेक बातोको मना करता रहे तो मना मना कर रहनेसे उस पुरुषका परिचय नही हो पाया । यद्यपि वे भी परिचयके साधक है, मगर सीधा परिचय नही होता । तो आत्मा न कषायसहित है और न कषायरहित है किन्तु वह तो जो ज्ञात हो सो ही है अथवा कह लीजिए कि वह ज्ञानमात्र है । अब इस सम्बन्धमे कुछ और दृष्टिसे भी विचारिये । आत्मा कषायसहित तो है ही नही, पर कषायरहित यदि कह दिया जाय तो इसमे यह भाव आया कि पहिले आत्मामे कषायें थी और अब दूर हो गयी । तो जब कषायें थी तबका आत्मा तो टूट गया ना इस ज्ञानधारामे । तो ऐसा खण्डित आत्मा नही है । आत्मा केवल ज्ञानमात्र है । तो मेरा आत्मा ज्ञानरूप है, दर्शनरूप है, यह एक स्वच्छस्वरूप है

चारित्र है तो उसका निश्चय है ऐसी सब बातें मुझसे बाह्य है, सयोगरूप हैं, ऐसा अनुभव करनेसे फिर रत्नत्रयमे और आत्मामे कोई भेद नही रहता है, वह रत्नत्रय जिसके प्रकट हो वह आत्माके ध्यानका पात्र होता है।

अयमात्मैव सिद्धात्मा स्वशक्त्यापेक्षया स्वयम् ।
व्यक्तीभवति सद्ध्यानवह्निनाऽत्यन्तसाधित ॥६१०॥

ध्यानाग्निसे साधित होनेपर आत्माके सिद्धात्मत्वकी व्यक्ति—यह आत्मा ससार अवस्थामे भी अपनी शक्तिकी अपेक्षासे सिद्ध स्वरूप है। सिद्धका स्वरूप जैसा कि गतिरहित, इन्द्रियरहित, कायरहित, योगरहित, वेदरहित, कषायरहित, केवल ज्ञानमय जैसा व्यक्त है वैसा होता है। हम आप संसारी जीवोमे भी वह शक्ति है, अत शक्तिकी अपेक्षासे यह ससार अवस्थामे भी सिद्धस्वरूप है। और समीचीन ध्यानरूपी अग्निसे उसकी साधना की जाय तो व्यक्तरूप सिद्ध होता है। जैसे जो स्वर्णकी खान है उन खानोमे स्वर्ण मौजूद है अपने ढगसे शक्तिरूप मौजूद है। जब उस मिट्टीको भट्टीमे डालते है या और और उपायोसे उसे पोछते है तो उसमे स्वर्ण व्यक्त हो जाता है इसी प्रकार कर्म और शरीरके बन्धनमे पडा हुआ यह ससारी जीव है तो भी इसमे शक्ति सिद्धके समान ही है। यदि स्वय अपने आपमे वह गुण न होता तो अनेक उपाय किए जाने पर भी वह गुण प्रकट नही हो सकता। जैसे गेहुवोमे चनेके पेड होनेकी शक्ति नही है तो कितने ही उपाय किये जायें पर गेहू बोकर चनेके अकुर उत्पन्न नही किए जा सकते। तो इन समस्त आत्मावोमे वही शक्ति है जो सिद्धप्रभुमे है और इतना ही नही अभव्य जीव भी हो तो भी शक्ति उसमे वही है जो सिद्धमे है। शक्तिके व्यक्त होनेको योग्यता नही है। तो सिद्ध स्वरूप ही ये समस्त संसारी जीव शक्ति अपेक्षा है और जब अष्टकर्मका विनाश होता है तो व्यक्त रूपमे सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

एतदेव पर तत्त्व ज्ञानमेतद्धि शाश्वतम् ।
अतोऽन्यो य श्रुतस्कन्ध स तदर्थं प्रपञ्चित ॥६११॥

समस्त श्रुताध्ययनका प्रयोजन ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वका परिचय—यह आत्मा ही परमतत्त्व है, यही शाश्वत ज्ञान है और जितने भी श्रुत है, द्वादशाग शास्त्र है समस्त शास्त्र-रूप रचना इस आत्माको ही जाननेके लिए विस्तृत हुई है। जैसे लौकिक विद्यावोका सीखना एक आजीविकाके लिए और आसपासके जनसमूहमे कुछ प्रशसा बने केवल इसके लिए है, और जिसे ये दोनो बातें प्राप्त हो जायें तो वह भी अनुभव करता, और लोग भी कहते हैं कि विद्याका अच्छा लाभ उठाया। उस स्थितिपर पहुचनेपर फिर लौकिक विद्याके सीखनेकी जरूरत नही रहती। उसका फल ही पा लिया। ऐसे ही जितने भी शास्त्राभ्यास

है, ज्ञानार्जन हैं, शास्त्रोका स्वाध्याय है ये सब एक आत्मतत्त्वको जानेके लिए ही हैं। इससे आगे और कुछ फल नही चाहता। फिर तो इस आत्मज्ञानके प्रतापसे उसका फल जो निर्वाण है उसकी प्राप्ति होगी। तो यह ही आत्मा एक तत्त्व है और यही शाश्वत ज्ञान समस्त शास्त्राभ्यासोका फल है। शास्त्रका ज्ञान शास्त्रकी पक्ति रटनेके लिए नही है। इसी प्रकार शास्त्रका स्वाध्याय केवल नियमपालनके लिए नहीं है अथवा उसमे कुछ जानकारी कर ले नई बातमे उससे दिल खुश होना इसके लिए भी नही है किन्तु उस समस्त ज्ञानसे इस आत्मतत्त्वका परिचय पा ले, अनुभव कर ले यह प्रयोजन होना चाहिए। और, शास्त्रके विषयमे भी यह एक सक्षेपमे बात है कि जीव और पुद्‌गलका स्वरूप विस्तार जान जाय और साथ ही यह समझ ले कि जीव और पुद्‌गल न्यारे-न्यारे तत्त्व है। पुद्‌गलसे जीव जुदा है, इसके लिए शास्त्रज्ञान है और भेदविज्ञान इस विशुद्ध सहज स्वरूप आत्मतत्त्वके अनुभव लिए है यह बात पायी जाती है तो शास्त्रका फल पाया। यही एक सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है। यह सारा ससार स्वप्नवत है, मायाजाल है, यहाँ केवल निज आत्मतत्त्वका ज्ञान बने, उसकी ही धुन बन जाय, वह ही चित्तमे समा जाय, उसकी ओर ही झुकाव बना रहे ऐसी बात यदि बन सकती है तो भले ही लौकिक जन इसे मूर्ख कहे, अथवा यो कहे कि यह बडे कष्टो मे है पर वह तो निराकुलताका अनुभव किया करता है, यही आत्मतत्त्वका अनुभव सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है।

अपास्य कल्पनाजाल चिदानन्दमये स्वयम्।
य स्वरूपे लय प्राप्त स स्यादरत्नत्रयास्पदम् ॥९१२॥

रत्नत्रयास्पद आत्मा—जो मुनि कल्पनाजालको दूर करके चिदानन्दस्वरूप निज अंतस्तत्त्वमे लयको प्राप्त हो जाता है वही निश्चय रत्नत्रयका स्थान है। धर्म और धर्मी कही अलग नही पाये जाते। जैसे कोई पूछे कि जैनधर्म क्या है और जैनधर्मके मानने वाले यदि शान्त है, न्यायप्रिय है, हितकारी वचन बोलने वाले है तो उनको ही दिखा दीजिए, लो यह है जैनधर्म, और लोग भी धर्मात्मावोके व्यवहारसे धर्मकी परख करते है और फिर निश्चय मार्गमे तो धर्म धर्मी जुदे तत्त्व कही नही है। एक ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि होना यह तो है धर्म और ज्ञानस्वरूपका जो द्रष्टा है वह है धर्मी। यह धर्मभाव उस धर्मात्मा पुरुषसे कही जुदा नही है। वही निश्चयरत्नत्रयका स्थान है जो कल्पनाजालको दूर करके अपने चिदानन्द-स्वरूप आत्मतत्त्वमे लयको प्राप्त होता है। कल्पनाजालका अर्थ है मोह रागद्वेष भावसे प्रेरित होकर जो ज्ञानकी वृत्तिया चलती है वे सब कल्पनाएँ हैं। ज्ञान तो अपना काम करता ही रहता है, उसके साथ रागद्वेषका पुट हो तो वे ज्ञानवृत्तियाँ कल्पनावोका रूप रख लेती

है और वहाँ भी विश्लेषण करके देखो तो ज्ञानका जानन कार्य है, वह ज्ञानरूप ही है और वहाँ जो कुछ भी बिगाड आया है, विकार आया है, वह सब रागद्वेषकी चीज है। कल्पना-जाल छूटे अर्थात् रागद्वेषकी वासना छूटे तो इसके फलस्वरूप अपने उस शुद्ध ज्ञानमात्र चित्स्वभाव चित्प्रकाशमात्र अन्तस्तत्त्वमे मग्नता बने तो वही पुरुषार्थी पुरुष निश्चय रत्नत्रय का पात्र होता है। जिसके ऐसे निश्चयरत्नत्रयका लाभ होता है उसके आत्माका परमध्यान बनता है और आत्माके उत्कृष्ट ध्यानके प्रसादसे ससारके समस्त सकट दूर हो जाते है।

सुप्तेष्वक्षेषु जागर्ति पश्यत्यात्मानमात्मनि ।
वीतविश्वविकल्पोऽसौ स स्वदर्शी बुधैर्मत ॥९१३॥

आत्मदर्शी आत्मा—जो मुनि इन्द्रियके सोते हुएमे तो जागता है और आत्मामे ही आत्माको देखता है और समस्त विकल्पोसे रहित है उसको ही विद्वान पुरुषोने आत्मदर्शी माना है। इन्द्रिया सो रही है और आत्मा जाग रहा है अर्थात् जहा इन्द्रिया अपने विषयमे प्रवृत्त नही होती—जो कि इन्द्रियके विषय कहे जाते हैं,—स्पर्शनका विषय स्पर्शन, रसनाका विषय अनेक प्रकारके रसोका स्वाद लेना, गंधका विषय सुगध लेना और नेत्रका विषय मन को हरण करने वाले सुन्दर रूपोको निरखना और कर्णका विषय जो रागको विषयको पोषण करें ऐसे वचनोका सुनना इन पञ्चेन्द्रियके विषयोमे जो सोता है अर्थात् विषय जिनके जागृत नही हैं, ऐसा आत्मा जाग रहा है, ज्ञानतत्त्व जागृत है वह मुनि आत्मदर्शी कहा जाता है। आत्मा तो एक उपयोगमात्र है, वह उपयोग करता रहता है। अब वह उपयोग यदि इन्द्रियके विषयोमे बनता है तो बस आत्मा जन्ममरणमे गया, मोक्षमार्गसे विलग हुआ और उसे शुद्ध निराकुलता उत्पन्न भी नही होती। उसे आनन्दका अनुभव भी नही होता। विषयो की प्रीतिसे किसीने आनन्द पाया भी है आज तक? जिस विषयमे प्रीति हुई प्रथम तो उसकी आधीनता आ जाती है, जिनसे मोह जगा उन जीवोमे आकर्षण बना तो वह परा-धीन बन गया। अब अपने आपको वह विषयाभिलाषी पुरुष अनेक विपत्तियोमे डाल लेगा। जिस किसीपर भी विषय प्रेम हुआ हो उसके आधीन बन जाता है। प्रथम आपत्ति तो यह है और जहाँ परकी आधीनता बनी वहाँ इसका सारा आनन्द समाप्त हो गया। रातदिन शल्य बनी रहेगी, चित्तमे प्रसन्नता न रहेगी, अच्छा सत्सग भी न रुचेगा। सारे अनर्थ विषया-भिलाषी पुरुषके लग जाते है। जिसने इन इन्द्रियोको सुला दिया वह कभी विषयोमें प्रवृत्त नही होता और उसका ज्ञान जागृत रहता है।

आत्मदर्शीकी अभयता—जो अपने सही स्वरूपके निकट बना रहे "मैं यह हू" यो प्रतीति रखे वह पुरुष आत्मदर्शी है। आत्मदर्शी अपनेको अभय अनुभव करता है। उसे अब

कोई पीडा कर सकने वाला नही है, ऐसे ही यह आत्मज्ञानी पुरुष ज्ञानान्दस्वरूप निज सहज आत्मतत्त्वकी गोदमे बैठ जाता है, उसके निकट रहता है, अपनेको एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है इसके फलमे वह अभय हो जाता है। उसे अब जगतमे कोई शका नही रही। शंका काहेकी ? शंका दो बातोमे होती है--एक तो धन वैभवकी आशा रखी हो तो उसके लाभमे कमी न हो जाय अथवा लाभ न रुक जाय ऐसी शल्यमे शका रहती है और दूसरे—जीवनकी यदि आशा हो तो कही मैं मर न जाऊँ ऐसे भयके कारण शंका रहती है, किन्तु ज्ञानी पुरुष जिसको कि सही मायनेमे अपने ज्ञानस्वरूपमे रुचि जगी है और इस ही आत्म तत्त्वके निकट बने रहनेकी जिसकी धुन बनी है जिसके प्रसादसे यह सारा दृश्यमान जगजाल मायारूप दिखता है, कही अन्यत्र चित्त नही जाता, धन वैभवकी प्राप्तिसे वह अपनेको लाभ नही समझता और मरण हो जाय तो इसमे भी अपना विनाश नही समझता वह पुरुष आत्मदर्शी है। लोकमे भी बहुतसे गृहस्थजन ऐसे मिलते है जिनको लालच कम होता है, सन्तुष्ट रहते हैं। एक गरीबीके कारण कोई चारा नही होता, सन्तुष्ट रहते ऐसी बात नही कह रहे किन्तु ऐसे पाये जाते है कि जिनकी यह चाह है कि मुझे वैभव बढानेसे क्या लाभ है ? वैभव बढानेकी चित्तमे चाह नही रहती है। चूंकि गृहस्थी है इसलिए साधारण गुजारा चलानेका साधन बनाये रहते है और सत्सगकी ओर, ज्ञानार्जनकी ओर उनकी प्रगति चलती है ऐसे लोग अब भी पाये जाते है। तो ऐसा यहाँ भी भेद नजर आ रहा है। कोई लोग विषयोमे कम रुचि रखते है, विषय साधन एक विपदासा उन्हे जचते है ऐसे गृहस्थजन भी आजकल मिलते है, फिर जिनमे एक उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान जग गया ऐसे साधु सतोको तो वह आत्मा अति निकट है, उनके इन्द्रिय विषय सोये हुए है और ज्ञानोपयोग जाग रहा है जिसके कारण अपने आत्मामे ही अपने आत्माको देखते है और निर्विकल्प स्थितिका अनुभवन किया करते है ऐसे पुरुष आत्मदर्शी हैं।

निःशेषक्लेशनिर्मुक्तममूर्तं परमाक्षरम्।
निष्प्रपञ्चं व्यतीताक्षं पश्य स्वं स्वात्मनि स्थितम् ॥९१४॥

अपनेको निःसंकट अविनाशी देखनेका उपदेश--हे आत्मन् ! तू अपने आत्मामे ही रहता हुआ अपनेको सब क्लेशोसे रहित अमूर्तिक परम अविनाशी विकल्पोसे रहित इन्द्रियसे दूर अतीन्द्रियस्वरूपको देख। तू अपने आपको ही निरख कि मुझे कोई क्लेश नही है। देखिये यह बहुत बडे कामका विचार है। कोई पुरुष किसी भी स्थितिमे हो, जिससे वह खुद भी समझे कि हम बडी आपत्तिमे है, लोग भी जाने कि यह बडे सकटमे फसा है ऐसी भी परिस्थितिमे हो, कोई और वह चाहे तो वहाँ भी अपनेको यो समझ सकता है कि मुझे कोई

क्लेश ही नही है। क्लेश तो लोग कल्पनाएँ करके बना डालते है, जिसकी जो भी परिस्थिति हो उस ही परिस्थितिमे उसे यो निरखना चाहिए कि मैं तो क्लेशरहित हू, यहाँ किस बात का क्लेश मानना ? धन वैभवकी हानि हो गयी तो उससे मेरा क्या बिगाड हो गया, वे तो परपदार्थ है। यह मै तो पूराका पूरा हूँ, और यहाँ तो मेरी कुछ भी हानि नहीं हुई है ऐसा जो पुरुष समझता रहता है उसे किसी भी परिस्थितिमे क्लेशका अनुभव नही होता है। यो तो अच्छी स्थितिमे रहता हुआ भी कोई अपनेको दु खी अनुभव कर सकता है।

तो हे आत्मन् ! प्रथम तो तू अपने आत्मामे रहता हुआ अपनेको समस्त क्लेशोसे रहित अनुभव कर क्योकि तू तो एक अमूर्तिक पदार्थ है, एक ज्ञानप्रकाशमात्र है। इसका किसी भी परपदार्थसे कोई सम्बन्ध नही जुडा हुआ है। अपने उस अमूर्त स्वरूपको देख जो कि परम अविनाशी है, जिसका कभी भी विनाश न होगा। जिसमे कोई इन्द्रिया ही नही हैं, वह तो एक ज्ञानपुञ्ज है, आकाशवत् निर्लेप है, आकाश अचेतन है और यह ज्ञानपुञ्ज है। जैसे हम आकाशके स्वरूपका विवरण करना चाहे तो क्या विवरण करे ? है आकाश और अपना कोई अनिर्वचनीय स्वरूप रखे हुए है, वहाँ कुछ पकडनेका, देखनेका, सूँघनेका कुछ पाया जाता हो आकाशमे तो उसका कुछ ब्योरा बनाये। सही मायनेमे जब हम आकाशके स्वरूपका निर्णय करते हैं तो यह देखते है—है तो वह और अनिर्वचनीय अमूर्तिक है। यो ही जब हम आत्मतत्त्वके विशेषणमे चलते हैं तो ज्ञात होता है कि हू तो यह मैं केवल ज्ञानपुञ्ज। जो जानता है बस वही मैं आत्मतत्त्व हू, अपने को ऐसा अमूर्तिक और अविनाशी अनुभव कर। हे आत्मन् ! तेरा स्वरूप तो ज्ञानमात्र है। विकल्प तेरे स्वरूपमे नही है, इन्द्रिया तेरे स्वरूपमे नही हैं ऐसा तू अपनेको एक अतीन्द्रिय ज्ञानमात्र अनुभव कर। इस आत्मध्यानके प्रसादसे कर्म क्लेश दूर होगे, जन्ममरणकी परम्परा मिटेगी, निर्वाण की प्राप्ति होगी।

नित्यानन्दमय शुद्ध चित्स्वरूप सनातनम्।
पश्यात्मनि पर ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम् ॥६१५॥

अपनेको नित्यानन्दमय शुद्ध ज्योतिस्वरूप देखनेका उपदेश—हे आत्मन ! तू अपने आत्मामे ही अपने को इस प्रकार टिका हुआ देख कि मैं नित्य आनन्दमय हू, जैसा मेरा ज्ञानस्वरूप है इसी प्रकार मेरा आनन्दस्वरूप है। जैसे हम ज्ञानके लिए कुछ अपनी समझ बनाते है कि हाँ मैं हू तो एक जाननरूप इसी प्रकार हम आनन्दस्वरूपको समझनेके लिए समझ बनायें तो केवल एक यही पायेंगे कि इसमे आकुलता नही है। बस इसीको ही आनन्द कह लो। एक सद्भूत अनिर्वचनीय परम आल्हादरूप कोई परिणति होती है आत्मा

की। यह तो एक निषेध रूपमे वर्णन है कि आकुलता नही है, यही आनन्द है। यो आकुलताये तो पुद्गलमे भी नही है। आनन्दका कोई क्या सद्भूत स्वरूप नही है आत्मामे? केवल निराकुलताका नाम आनन्द नही किन्तु आनन्द उत्पन्न होना है वह आनन्द नामक स्वभाव कोई न होता तो सुख दुख भी उत्पन्न न होते। इस आनन्दस्वभावके ही विकार सुख दुख है। तो यह सुख दुख होना यह साबित करता है कि कोई गुण है आत्मामे जो गुण आज सुख रूपमे व्यक्त है, दुखरूपमे व्यक्त है पर ये सुख और दुख दोनो औपाधिक है, परके आश्रयसे उत्पन्न होते हैं, अतएव ये मिट जाते है और उस समय आनन्दगुणका शुद्ध परम आल्हादरूप परिणमन हो जाता है जो कि निराकुल है। हे आत्मन्! तू अपने को नित्य आनन्दमय निरख। तू सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूप मात्र है ऐसा अपने आपको देख। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, अनादि अनत हूँ, अविनश्वर हूँ, परमज्योति स्वरूप हूँ, ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, अद्वितीय हू, मैं जो हू सो हू। मुझमे कोई दूसरा नही है, और मेरा कायरहित भी स्वरूप नही है, नित्यपरिणमनशील हू, पूर्वपर्यायको विलीन करता हू और उत्तर पर्याय को उत्पन्न करता हू। यो समस्त पर्यायोमे एक ज्ञानस्वरूप बना रहता हू। ऐसा अपने आपको नित्य आनन्दमय निरख। इस निरखसे तू अपने आपकी शुद्ध ज्ञानज्योतिका अनुभवन करेगा और यही उत्कृष्ट ध्यान तेरे क्लेशसमूहको दूर करेगा और एक परम शुद्ध निर्विकल्प निर्वाणकी अवस्था प्राप्त हो जायेगी।

यस्या निशि जगत्सुप्त तस्या जागर्ति सयमी।
निष्पन्न कल्पनातीतं सवेत्त्यात्मानमात्मनि ॥६१६॥

रत्नत्रयसम्पन्नतासे ही आत्माका वास्तविक जागरण—जिस रात्रिमे सारा संसार सोता है, मनुष्यजन सोते है उसमे संयमी मुनि जागते है और अपने आत्मामे ही अपनेको निष्पन्न स्वय सिद्ध कल्पनारहित जानते है। यहाँ रात्रिसे मतलब रातसे नही है। अज्ञानका नाम रात्रि है और सयमका नाम जागरण है। मोही जन अज्ञानरूपी निशामे सोते रहते है और सयमी जन ज्ञानपूर्वक संयमसहित अपने आचरणमे सावधान रहते है। जो रत्नत्रयमे सावधान हो वह पुरुष तो जागता समझिये और जो रत्नत्रयसे विमुख है, मिथ्यात्व, अज्ञान और मिथ्याचरणमे रत है वह मनुष्य सोया हुआ समझिये। जैसे सोया हुआ पुरुष बेहोश रहता है इसी प्रकार उस मोहमे सोया हुआ पुरुष बेहोश रहता है। अपना कुछ पता ही नही है। यदि आत्मपरिचय हो तो यह कही भी न असहाय है, न आकुलित है, झट अपने आपके परमात्मस्वरूपके निकट पहुचे और वहाँ आनन्दका अनुभव करे। आकुलताएँ सब दूर हो जाती है। अपना जो वास्तविक सहाय है वह मिल जाता है। लोकमे तो बाहर कोई सहाय

भी बने और निष्छल भी सहाय बने तब भी वह परमार्थसे सहाय नही है, उसका यह सहाय होना एक विनश्वर है, कुछ समयके लिए है। सदा तो संयोग होता ही नही है, पर अपने आपके प्रभुस्वरूपके निकट पहुचे यही है वास्तविक सहाय-होना। जो मुनि अपने आत्माका यथार्थ श्रद्धान रखता है उस ही आत्माकी जानकारी बनाये रखता है, उस ही आत्मतत्त्वमे लीन रहा करता है वह मुनि निराकुल है, प्रभुवत है, जिनेश्वरका लघुनन्दन है। ऐसा ही पुरुष आत्माका ध्यान करता है जिसके प्रसादसे परमनिर्वाणकी प्राप्ति होती है।

या निशा सर्वभुतेषु तस्या जागर्ति सयमी।
यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥६१७॥

अज्ञानी और मुनिकी निशाकी विभिन्नता--सर्वप्राणियोमे जो रात्रि मानी जाती है उसमे तो सयमी पुरुष जागता है और जिसमे समस्त प्राणी जागते रहते हैं वह मुनिके लिए निशा है, अंधकार है, रात्रि है। प्राणी किसमे सोते रहते है? प्राणी किसमे रात्रि मानते हैं? अपने स्वरूपका उन्हे प्रतिभास नही है इस कारण उनको यह अज्ञान बना रहता है, यही रात्रि है अर्थात् उनके लिए आत्मस्वरूप अंधेरेमे पडा हुआ है। इसमे सयमी मुनि जागते रहते हैं। सच्चा शरण आत्माको अपने आत्मस्वरूपका मिलता है, और वह आत्मा पवित्र है, महान है, सुखका पात्र है, सच्चा है जिसे अपने आत्मस्वरूपकी धुन है और अपना यथार्थस्वरूप समझता है और उसके ही निकट बसे रहनेका यत्न करता है। तो जो तत्त्व मोही जीवोके लिए रात्रिकी तरह है उसमे सयमी मुनि जागृत रहते हैं, और जिसमे ससार के प्राणी जागृत होते है वह मुनिके लिए निशाकी तरह है। जगतके प्राणी किसमे जागते हैं? अज्ञानमे जागते हैं। अज्ञान मुनिके लिए रात्रि है अर्थात् मुनियोके अज्ञान होता ही नही है। धन कन कचन राजसुख ये सब लौकिक वैभव है, ये सब सुलभ हैं अर्थात् उनका कुछ महत्त्व नही है, लेकिन अपने आपके यथार्थ स्वरूपका बोध हो जाना यह बडे महत्त्वकी चीज है।

बडे बडे अधिकारी भी हो, राजा महाराजा भी हो, बडे ऊँचे नेता हो, करोडोका धन हो, सब तरहसे लोकवैभवमें बढे चढे हो और एक अपने आपके आत्मस्वरूपका परिचय न हो तब सोच लीजिए कि उनकी दृष्टि किस जगह रहा करती होगी? कुछ लौकिक वैभव पाकर थोडा मौज भी मान लिया उसमे भी उन्हे क्षोभ लगा रहता है, शान्ति नही मिलती। शान्तिका जो स्थान है सहज ज्ञायकस्वरूप उसका उन्हे परिचय ही नही है। शान्ति कहाँसे मिले? जिसे लोग (वैभववान) शान्ति समझते है वह शान्ति नही है, किन्तु एक काल्पनिक मौज है अथवा यो कहो कि बडा क्लेश नही रहा ऐसी स्थिति पायी तो उसे वे

शान्ति समझ लेते है। जैसे किसी को १०० डिग्री बुखार है उतरकर ९८ डिग्री रह गया तो जब कोई पूछता है कि कहो भाई अब तबियत कैसी है ? तो वह कहता है कि ठीक है। अरे कहाँ ठीक है, अभी तो दो डिग्री बुखार है। लेकिन बहुत बडा बुखार था अब कुछ कम हो गया तो उसको अच्छा मानते हैं, उसमे राजी होते रहते है, ऐसे ही जगतमे अनेक कष्ट है, वे कष्ट कुछ कम हो जाये तो यह जीव राजी होता है, अपनेको सुखी मानता है, अब मुझे शान्ति मिली है ऐसा समझता है। अरे शान्ति कहाँ मिली, उसमे भी परपदार्थो की कल्पनाएँ है तो क्षोभ वहाँ भी पडा हुआ है और थोडी देर बाद शान्ति सब गायब हो जाती है, मानो वह शान्ति कुछ थी भी नही, फिर एकदम आकुलित हो जाते है।

आत्मस्वरूपके परिचय बिना शान्तिकी असंभवता—इस आत्मस्वरूपका परिचय मिले बिना शान्ति हो ही नही सकती है। तो सर्वप्राणी चाहे वे बडे पुण्यवान हो, बडा बडा वैभव भी हो लेकिन आत्मस्वरूपका परिचय नही है, इस ओरसे बेहोशसे हो रहे है तो उनका जीवन कोई जीवन नही है। और एक सयमी मुनि जो अपने निकट निरन्तर रहा करते है वे निकट कालमे ही कर्मोका विनाश करके परमात्मस्वरूप पा लेंगे। सबसे बडा काम है यह कि अपना ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वके निकट बना रहे। कितनी पवित्र स्थिति है यह, और सत्य आनन्द ही यहाँसे झरता है। इतनी बात यदि कोई कर सकेगा तो समझ लीजिये कि जीवन सफल हो गया। अनादिकालसे जो रुलते चले आ रहे थे, जन्म मरण करते आ रहे थे और इस शरीर सम्बन्धके कारण अनेक प्रकारके कष्ट सहते रहते थे उन सबका विनाश हो सकता है तो एक तत्त्वज्ञानके उपायसे हो सकता है। वैभवका क्या, आज है कल रहे अथवा न रहे, जितने समय साथ है उतने समय भी उस वैभवके कारण शान्ति कहाँ मिलती है ? सभीकी स्थितिया देख लो जिसे जो कुछ मिला है वह उसे न कुछ समझता है, उससे अधिककी चाह करता है, तो मिले हुए का भी सुख उसे नही मिलता है। सभी धनिकोकी ओर देख लो, सबकी यही स्थिति है, सुखसे खा नही सकते, सुखसे रह नही सकते, सत्सगमे, धर्मध्यानमे, ज्ञानार्जनमे समय नही दे सकते वह जिन्दगी क्या जिन्दगी है ? जिसका धर्ममे और ज्ञानार्जनमे समय न लगे, रुचि न जगे, प्रयत्न न बने तो वह जीवन क्या जीवन है ? यो तो सभीकी जिन्दगी गुजरती है। एकने मान लो कुछ लौकिक जनोमे अपना प्रभाव डालते हुए जिन्दगी गुजारा तो भी उससे क्या होगा। यह तो ससार मायारूप है, किसे क्या दिखाना है। क्या कोई यहाँ मेरा प्रभु है जिसे कि यहाँ दिखा दूं कि मैं कितना महान हू, कितना सुन्दर हू, कैसी कला वाला हू, किसे दिखायें। और, जितना ज्ञान की ओर रहे, यहाँ आत्माका रमण बना रहे तो यही है आन्तरिक सच्चा तपश्चरण।

इसके प्रभावसे इस लोकमे भी सुख शान्तिके साधन मिलते रहेगे। मोही पुरषोमे और ज्ञानी साधु सतजनोमे एक बहुत बडा अन्तर है। एकका मुख है वैभवकी ओर और एकका मुख है आत्मतत्त्वकी ओर। यो समझ लीजिये कि दोनोके मुख बिल्कुल विपरीत दिशामे है। जो पुरुष आत्मतत्त्वके निकट हैं, रत्नत्रयकी साधनामे है वे पुरुष तो आत्मध्यान प्राप्त कर लेंगे। और संसारके सकटोसे सदाके लिए छूट जायेंगे। और, जो इन विषयोके निकट हैं उनका उपयोग गदा रहेगा। जिसके कारण उन्हे इस ससारमे जन्म मरण करते रहना पडेगा। तो विवेक इसमे है कि हम अपनी ऐसी सद्बुद्धि बनाये कि हमारी विषयकषायोमे आसक्ति प्रवृत्ति न हो और मैं अधिकाधिक अपने ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी ओर रहा करूँ, ऐसी भावना और कोशिश होना चाहिए।

यस्य हेय न वाऽऽदेय निःशेष भुवनत्रयम्।
उन्मूलयति विज्ञान तस्य स्वान्यप्रकाशकम् ॥६१८॥

ज्ञानका विशुद्ध अभ्युदय प्राप्त होनेपर हेय आदेयके विकल्पोंका भी अभाव—जिस मुनिके ये तीनो लोक हेय भी नही, उपादेय भी नही उस मुनिके स्व और परका यथार्थ निर्णय कराने वाले ज्ञानका उदय होता है क्योंकि जब तक हेय और उपादेय बुद्धिमे रहेगा तब तक ज्ञान निर्मलतासे फैल नही सकता है। जीवोके उत्थानके क्रमसे सोपान है। सर्व-प्रथम तो यह जीव कुछ भी जाने बिना अपने कुलके सस्कारसे या किसी सत्सगसे सद्व्यवहार मे लगता है। सत्सग, देवदर्शन, पूजन विधान इन सबमे लगता है और इसके पश्चात् फिर वह ज्ञान उत्पन्न करता है। मै पूजन कर रहा हू तो किसका कर रहा हू? प्रभुका क्या स्वरूप है, सो ज्ञान करके प्रभुके स्वरूपमे उसकी भक्ति बढती है। पहिले भक्ति व्यवहारकी थी, अब गुणोकी भक्ति करने लगा है यह भक्त, फिर और ज्ञान बढा, तत्त्वनिर्णय किया, आत्मस्वरूप परिचय किया, जब उसका ज्ञान और निर्मल बना तो इस ज्ञानकी स्थितियोमे पहिले कुछ हेय समझता था, कुछ उपादेय समझता था पर ज्यो और ज्ञानकी स्थिति निर्मल होने लगी तो जिन्हे पहिले हेय समझता था उन्हे तो हेय ही समझता रहेगा, किन्तु जिन्हे उपादेय समझता था उनमेसे अनेक अश अब उसे हेय लगने लगते है। ज्यो ज्यो ज्ञान बढता है त्यो हेयकी कोटि बढती जाती हैं और उपादेय इसके निकट आता रहता है। जब परिपक्व ज्ञान हो जाता है उस समय जगतके किसी भी पदार्थमे अथवा अपनी किसी ही प्रवृत्ति मे हेय और उपादेयकी बुद्धि नही रहती। जैसे प्रथम वचन सत्सग ये सब उपादेय हैं और जब ऐसी स्थिति आ जाती है कि जहाँ ज्ञानका अनुभव होने लगता है, ज्ञान ज्ञानको जानकर एक अनुभवरूप बन जाता है तो वहाँ फिर ये सब न हेय रहते है, न उपादेय रहते है। एक

निर्विकल्प ज्ञानका अनुभव चलता रहता है। तो जब ऐसी ऊँची परिणति हो जाती है कि ये तीनो ही लोक और अपने आपकी ये समस्त औपाधिक परिणतियां चाहे वे विशुद्ध रूप हो, चाहे संक्लेशरूप हो, चाहे धर्ममे लगानेके विकल्प हो या अन्य कुछ हो, वे सबके सब एक अपेक्षा बन जाते है, अब वे न हेय रहे, न उपादेय रहे, हेय और उपादेयका विकल्प जहां टूट जाता है ऐसे विज्ञानी मुनिके अपना और परका प्रकाश करता हुआ उदित होता है और जब तक इस जीवके हेय और उपादेयकी बुद्धि रहती है, यह हेय है इसे छोडो, यह उपादेय है इसे ग्रहण कर लीजिए यो छोडने और ग्रहण करनेमे जिनका चित्त लगा रहता है उनके ज्ञानका पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। जिन भी पुरुषोको ज्ञानका पूर्ण प्रकाश हुआ है, अरहंत अवस्था प्राप्त हुई है उनको एक निर्विकल्प ज्ञानानुभवके उपायसे ही मिली हुई है। निर्विकल्प ज्ञानानुभवमे हेय और उपादेयका भाव नही चलता, अमुक हेय है और अमुक उपादेय है। जब हेय और उपादेयके विषयसे भी परे हो जाते है फिर तो ज्ञान पूर्ण विकसित हो जाता है। रागद्वेष विकल्पोके दूर होनेपर ज्ञानके विकासको कौन रोके, अथवा रोकनेकी क्या पडी ? ज्ञानका विकास तो अभीष्ट है, होने तो दीजिये विकास। तो सर्वप्रकारके विकल्प जब दूर हो जाते है तो अपने आपमे आपका विकास होने लगता है।

दृश्यन्ते भुवि किं न तेऽल्पमतय' सख्याव्यतीतासश्चिरम्।
ये लीला परमेष्ठिनो निजनिजैस्तन्वन्ति वाग्भि परम्।
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशि पुन—
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति सहसा धन्यास्तु ते दुर्लभा ॥६१६॥

परम हितमय तत्त्वके अनुभवीकी विरलता—वे पुरुष धन्य है और इस पृथ्वीपर वे पुरुष विरले हैं, कठिनाईसे उनका सग मिलता है जो पुरुष अपने वचनोसे परमेष्ठियोंके बहुत काल पर्यन्त गुणानुवाद करते रहते है। प्रभु भजन एक बहुत धन्य और पवित्र काम है। प्रभु का स्वरूप अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्ति सम्पन्न है। अरहत अवस्थामे उनके शरीर तो है पर वह निर्दोष है, परमौदारिक शरीर है। ऐसे पवित्र शरीरमे वे यद्यपि ठहरे हुए है तो भी वे असंसारी ही कहलाते, निकटससारी नही कहलाते, जीवनमुक्त कहलाने लगते है। ऐसा परमेष्ठीके स्वरूपका जो ध्यान करता है वह भक्त भी बड़ा पवित्र हृदय है। प्रभुभक्तिका बहुत बडा महत्त्व है। प्रभुभक्ति निश्छल हो, गुणोकी रुचि सहित हो तो उस भक्तके चित्तमे विषयकषायोके मलिन परिणाम, दु खकारी अहितकारी भाव फिर नही ठहरते है, और विषयकषायोके भाव न रहे, आत्मामे तो यही एक सर्वसुख मिल गया समझिये। विषयकषायोंके परिणाम आत्माको क्लेश ही उत्पन्न करते है। आकुलतावोसे ही

विषयकषायके भाव बनते है, उनकी पूर्तिकी आरम्भमे भी आवश्यकता रहती है। और, जब उनमे प्रवृत्ति है तब भी आकुलता है, और की तो बात क्या, विषयकषाय अनुभवनके पश्चात् भी इसे महान क्लेश रहता है, जिसे मानो हमने अपना सब कुछ खोया पाया कुछ नही। कषायें करते है, उन कषायोके कर गुजरनेके बाद फिर बुद्धि चूंकि स्वच्छ होती है तब पछतावा होता है। अहो ? मैंने क्या किया ? अपना खोया है सब कुछ, लाभ कुछ नही पाया। तो ये विषयकषायके परिणाम आत्माको क्लेशके ही कारण है। इन विषयकषायोने अत्यन्त-रहित केवल ज्ञानकी मूर्ति परमात्मस्वरूपका जो विकासपूर्वक आदर करते है वे पुरुष धन्य है। ऐसे पुरुष यद्यपि है विरले, मगर उन महापुरुषोकी सख्याके सामने बहुत अधिक सख्या वाले है। किन्तु महापुरुषोके सामने जो नित्य परम आनन्दके स्वरूपका अनुभव करते हैं-और ससारके क्लेशोको दूर कर देते है ऐसे महापुरुष इस पृथ्वीपर अत्यन्त दुर्लभ हैं। प्रथम तो प्रभु भजन भी करने वाले इस लोकमे अत्यन्त विरले है। मनुष्योकी सख्या देख लीजिये और उनके कितने मनुष्य प्रभुको मानने वाले हैं उनकी सख्या देखिये और फिर स्वच्छ हृदयसे छलरहित प्रभुके गुणोमे रुचि करने वाले कितने लोग है उनकी सख्या देख लीजिए। ये फिर भी असख्यात मिलेंगे, किन्तु जो एक तत्त्वज्ञानसे ही रुचि रखते हैं और जो ज्ञानस्वरूप मे ही अपना उपयोग बनाये रहते है ऐसे ज्ञानपुञ्ज साधु सतजन जो ससारके परिभ्रमण को शीघ्र दूर कर देते है वे महाभाग इस पृथ्वीपर बहुत दुर्लभ है।

ध्यानकी प्रधान सामग्रीका आलम्बन लेकर नित्यानन्दमय मोक्षका लाभ लेनेका अनुरोध—इस स्थलमे एक रत्नत्रयका वर्णन किया है। रत्नत्रयका स्वरूप कहा, रत्नत्रयके धारियोकी महिमा कही गयी। उससे हमे यह शिक्षा लेना है कि ध्यानके अङ्गोमे प्रधान अ येग तीन हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ये तीन निश्चयरूप और व्यवहाररूप है। अथवा यो समझिये कि ये तीन निश्चयकी शैलीसे और व्यवहारकी शैलीसे प्रकाशमान होते हैं, जो निश्चयरूप और व्यवहाररूप रत्नत्रयको जानकर भली प्रकार स्वीकार करता है उसके ही मोक्षके कारण जो आत्मस्वरूपका ध्यान है उसकी सिद्धि होती है। आत्मध्यानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, और आत्मध्यान उनके ही बनता है जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको अगीकार करते है। अन्य लोग तो इनका अनेक प्रकारसे ध्यान करते हैं और ध्यानकी सामग्रीका स्वरूप बताते हैं, उनके कदाचित-विनिश्चय लौकिक चमत्कारकी सिद्धि भी हो जाय पर अष्टकर्मोसे रहित होकर पवित्र केवल अन्तस्तत्त्व ही रह जाय, जिनके ज्ञान और आनन्दका अनन्त विकास है ऐसी स्थितिकी सिद्धि उनके कभी नही हो सकती जो रत्नत्रयसे तो दूर है और ध्यानकी साधनामे बहुत बहुत अपने

शारीरिक उपाय बनाये रहते है—जैसे प्राणायाम करके अपने शरीरके भीतरके अङ्गोकी शुद्धि कर लेना, और यहाँ तक निपुण हो जाते है कि नासिकाके द्वारसे कपडेकी पतली चिट मुँहसे निकाल लेते हैं और फिर नासिकाको साफ कर लेते है, यहाँ तक अङ्गशुद्धि कर लेते है, और-और भी जितनी आसनसिद्धिया है उन्हे भी कर लेते है और कुछ लौकिक चमत्कार भी बन जाते है, कदाचित आश्चर्यजनक काम भी कर डालते है लेकिन एक लौकिक सिद्धि तक ही रह जाते है, मोक्षकी सिद्धि नही रहती है क्योकि मुक्त स्वरूप सहज ज्ञानभावमात्र अन्तस्तत्त्वका उनके परिचय ही नही है, उस परमसिद्धिका कारण तो सत्य आत्मध्यान है और उस आत्मध्यानकी प्राप्ति होती है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप होने से । उसके सिलसिलेमे इस स्थलमे रत्नत्रयका वर्णन किया है । जो रत्नत्रय सम्पन्न है वह ध्यानका पात्र होता है । यहाँ तक ध्यान ध्याता ज्ञानके उपाय इन सबका वर्णन किया है । इसके पश्चात् फिर कषाय और विषयोके जीतनेका उपाय कहा जायेगा और फिर उस स्थलके बाद फिर ध्यानका सीधा वर्णन चलेगा कि ध्यान किस तरह किया जाता है ? लोग कैसे ध्यान करते हैं, कैसे करना चाहिए ? ध्यानकी विधिका सीधा वर्णन चलेगा ।

॥ ज्ञानार्णव प्रवचन एकादश भाग समाप्त ॥

मुद्रक—मैनेजर, जैनसाहित्य प्रेस, १८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ ।

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

❀ शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ❀

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावा, प्राप्स्यन्ति चापुरचलं सहजं सुशर्म।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमंत्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतन्त्रम्।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम्।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरसमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम्।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम्।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम्।
आनन्दशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमिं, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम्।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः।
यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः।
सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति ॥